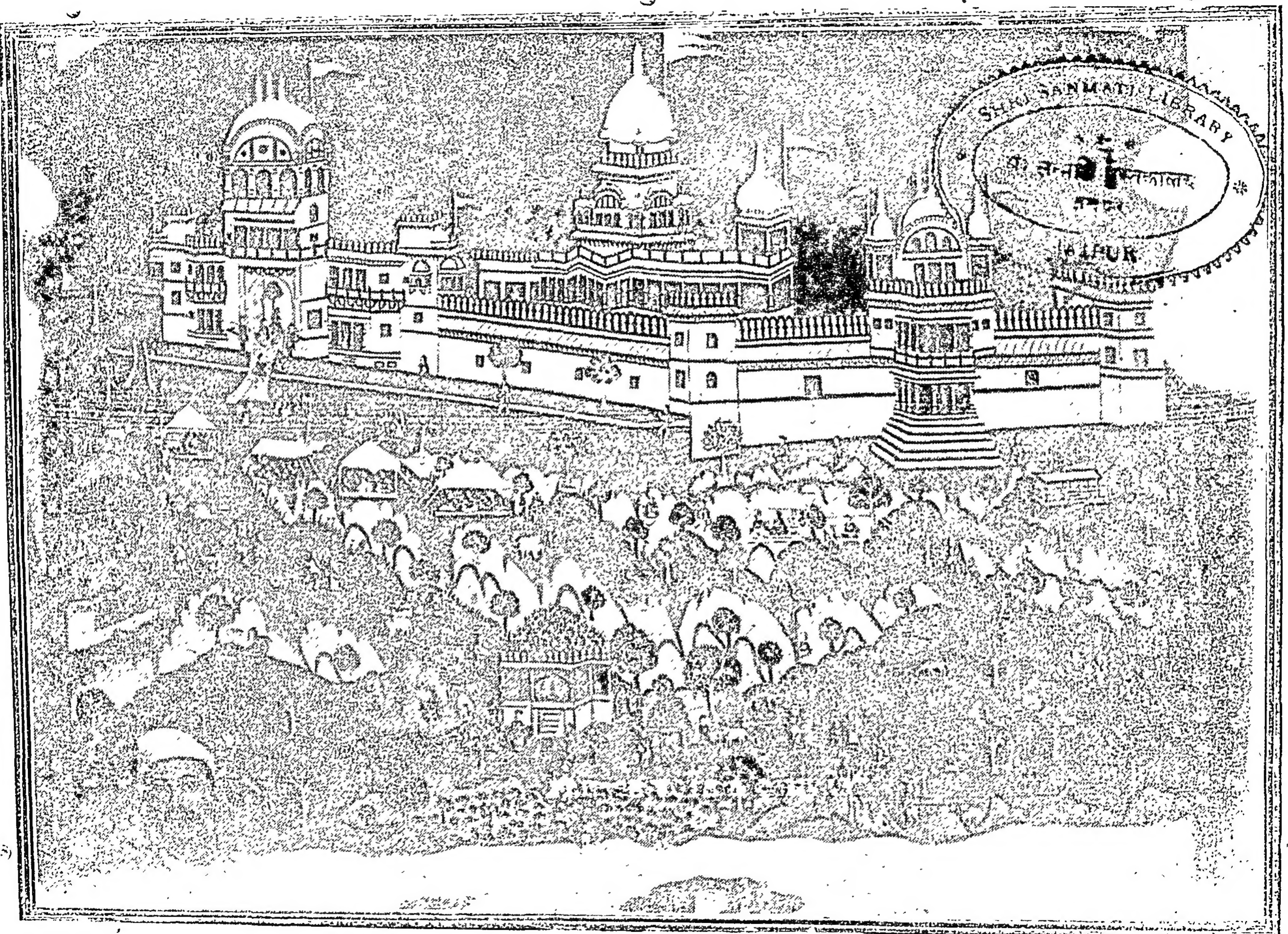
शुद्धिपत्र ।

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१६	११	कुन्दकुन्द	कुलभद्र
१७	६	नयका	भयका
,,	१३	अथ लोपितं	अर्थ लोपितं
१८	१	सागरसे	सागसे
४७	४	शासन	शमन
५२	१९	अव्यवहार	व्यवहार
५५	१४	चेतन	तन
,,	१६	दष्ट	इष्ट
६८	२	सामायिक	स्वाभाविक
७२	१२	तीव्र	तीन
७२	१७	केवलज्ञानके	केवलज्ञानका साधक है अवधि मनःपर्यय
७१	अंतिम,	त्यक्तरूपेण	व्यक्त रूपेण
७६	१२	निकंदवं	निकंदनं
७७	अंतिम,	न व्रत	रहते हैं, माया मिथ्या सहित न व्रत

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
९७	१७	सम्य	सत्
११४	१०	वीजे	वीते
११५	अंतिम	मुक्तं	भुक्तं
११८	११	भावे	भाषे
१२१	२१	सवको	वस्तुको
१२४	१६	पहचानता	न पहचानता
१२६	अंतिम,	रन्येषु	नन्येषु
१५०	४	लोभनल	लोभानल
,,	२०	रोगके	रागके
१६९	१६	भाव कषाय	मान कषाय
१७२	४	यस्पंते	पस्पंते
१७७	९	कार्य भी	काय भी
१९१	१४	सोलह व्रतों	सोलह पत्तों
२०१	१२	दोष सर्व	शेष सब
२०४	१२	सम्पत्त	सम्मत्त
,,	१६	निर्मलता	निर्बलता
२४२	९	बहुत लोभ	बहुत लाभ
२४३	१७	अमुकको	अमुकको न



श्री १००८ तीर्थक्षेत्र श्री निसहजी–मल्हारगढ़, ग्वालियर स्टेट (श्री तारणतरणस्वामीका समाधिस्थान)।



भूमिका ।

यह श्रावकाचार ग्रन्थ किसी विशेष भाषामें नहीं है। इसमें संस्कृत प्राकृत देश भाषाके मिश्रित शब्द हैं। किसी खास व्याकरणके आधार पर रचित नहीं है। इसकी भाषा टीका लिखते समय हमारे पास चार प्रतियें थीं-तीन सागरकी व एक ललितपुरकी। सागरकी एक प्रति प्राचीन लिखी अन्य दोकी अपेक्षा शुद्ध है। ललितपुरकी प्रति सबसे शुद्ध है। श्रावकाचार ग्रन्थ इस प्रतिमें संवत १६९४ कार्तिक सुदी १२ का लिखा हुआ प्राचीन है। यथाशक्ति शब्द शुद्ध करके अर्थको समझकर भाव लिखा गया है। इस ग्रन्थमें यद्यपि पुनरुक्ति कथन बहुत है तथापि सम्यग्दर्शन तथा शुद्धात्मानुभवकी दृढ़ता स्थान स्थान पर बताई है। कोई कथन श्री कुन्दकुन्दाचार्य व श्री उमास्वामीके दिगम्बर जैन सिद्धांतके प्रतिकूल नहीं है। प्राचीन दिगम्बर जैन शास्त्राधारसे ही ग्रंथ संकलित किया गया है। हमने भावोंको समझकर भाव दिखानेका प्रयत्न किया है। शब्द शुद्धिका विचार यथासंभव किया गया है। अबतक जो दिगम्बर जैनसमाजमें श्रावकाचार प्रचलित हैं उनमें मात्र व्यवहारनयका ही कथन अधिक है परन्तु इस ग्रन्थमें निश्चयनयकी प्रधानतासे व्यवहारका कथन है। पढ़नेसे पदपद पर अध्यात्मरसका स्वाद आता है। इसके कर्ता अध्यात्म शास्त्र व व्यवहार शास्त्रके अच्छे मर्मी थे। यह बात ग्रंथको आद्योपांत पढ़नेसे विदित होजायगी। वे सिद्धांतके ज्ञाता थे इसके प्रमाणमें कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं—

त्रिविधि पात्रं च दानं च, भावना चिन्त्यते बुधैः। शुद्ध दृष्टि रतो जीवः, अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं ॥ २६७ ॥
नीच इतर अप तेजं च, वायु पृथ्वी वनस्पती। विकलत्रयं च योनी च, अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं ॥ २६८ ॥

भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टी तीन पात्रोंको दानकी भावना करे व शुद्धात्मामें रत हो वह ८४ लाख योनियोंमेंसे ५८ लाख योनियोंमें कभी पैदा नहीं होगा। नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनमें प्रत्येकमें सात सात लाख। तथा प्रत्येक वनस्पतिके १० लाख, विकलत्रयके ६ लाख—कुल ४२+१०+६=५८ लाख—योनियोंमें सम्यग्दृष्टी नर तिर्यंच नरक आयु बांधनेपर भी कभी नहीं जायगा। मात्र पंचेन्द्रिय उत्पन्न होगा। यह बड़ी विद्वत्ताका नमूना है। साधुका स्वरूप लिखा है—

ज्ञानचारित्र सम्पूर्णं, क्रिया त्रेपण संयुतं। पंचव्रत पंच सामितिं, गुप्ति त्रयप्रतिपालनं ॥ ४४६ ॥
सम्यग्दर्शनं ज्ञानं, चारित्रं शुद्ध संयमं। जिनरूपं शुद्ध द्रव्यार्थं, साधओ साधु उच्यते ॥ ४४८ ॥

भावार्थ—जो ज्ञान चारित्रसे पूर्ण हों, श्रावककी ५३ क्रियासे संयुक्त हों, पांच महाव्रत पांच समिति व तीन गुप्तिके

पालक हों व जो शुद्ध संयमको व रत्नत्रय धर्मको व अरहंतके स्वरूपको व शुद्ध द्रव्यको साधते हों वह साधु हैं। यह साधुका बहुत बढ़िया स्वरूप है। भोजन शुद्धिपर लिखा है—

स्वादं विचलितं येन, सन्मूर्छनं तस्य उच्यते। जे नरा तस्य भुक्तं च, तिर्यंचं नर संति ते ॥२१०॥
फलस्य संपूर्ण भुक्तं, सम्मूर्छन त्रस विभ्रमः। जीवस्य उत्पादनं दृष्टं, हिंसानंदी मांस दूषनं ॥२१२॥

भावार्थ—जिसका स्वाद चलायमान होजावे उसमें सन्मूर्छन त्रस पैदा होते हैं। जो मानव भक्षण करते हैं वे पशु समान हैं। किसी फलको पूरा विना देखे तोड़े न खाना चाहिये, उसमें सन्मूर्छन त्रसोंके उपजनेकी शंका है। जो विना तोड़े खाते हैं वे हिंसानंदी हैं व मांसके दोषको पाते हैं।

अविरत शुद्ध सम्यक्ती ५१ क्रियाओंमेंसे अठारह पालता है। शेष ३१ की भावना करता है। ऐसा बड़ा ही मार्मिक व चारित्रकी वृद्धिकारक कथन तारण स्वामीने किया है। वे श्लोक हैं—

जघन्यं अव्रतं नाम, जिनउक्तं जिनागमं। साधं ज्ञानमयं शुद्धं, क्रिया दस अष्ट संजुतं ॥ १९८ ॥
सम्यक्तं शुद्ध धर्मस्य, मूलं गुणं च उच्यते। दानं चत्वारि पात्रं च, साधं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ १९९ ॥
दर्शन ज्ञानचारित्रैः, विशेषितं गुण पूजयं। अनस्तामितं शुद्ध भावस्य, फासूजल जिनागमं ॥ २०० ॥
एतत्तु क्रिया संजुत्तं, शुद्ध सम्यग्दर्शनं। प्रतिमाव्रततपश्चैव, भावना कृत सार्धयं ॥ २०१ ॥

भावार्थ—जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टी ५३ क्रियाओंमेंसे १८ पालता है। आठ मूलगुण + चार दान + सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रकी भावना + रात्रि भोजन त्याग + पानी छानकर पीना + समताके लिये जिनागम पठन = १८ क्रियाएं हैं तथा १२ व्रत + १२ तप + ११ प्रतिमा = ३५ क्रियाओंकी भावना रखता है।

अध्यात्मज्ञान व नयोंद्वारा शास्त्रज्ञानका नमूना यह है—

शुद्धं धर्मं च प्रोक्तं च, चेतनालक्षणो सदा। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन, धर्मं कर्म विमुक्तयं ॥ १३८ ॥

भावार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे शुद्ध धर्म चेतनाका गुण है तथा कर्मरहित आत्माका स्वभाव है।

इस ग्रन्थके कर्ता श्री तारणतरण स्वामी थे। यह दिगम्बर जैन मुनि थे ऐसा किनहीका कहना है, किनहीके विचारसे यह ब्रह्मचारी थे। इसमें संदेह नहीं कि यह एक धर्मके ज्ञाता आत्मरमी महात्मा थे। इनके कथनसे प्रगट है कि यह श्री कुन्दकुन्दाचार्यके शास्त्रोंके ज्ञाता थे। इनका जीवनचरित्र जो कुछ मिला है वह बहुत संक्षेपसे यहां दिया जाता है—

जैनहितैषी अंक ४ वीर सं० २४३९ को देखकर व सागरके भाइयोंसे मालूम कर लिखा जाता है। इसमें जो ऐतिहासिक

अनुमान व हमारा निजका विचार दिखलाया गया है उसके लिये हम स्वयं जिम्मेदार हैं। तारणतरण समाजके भाई उसके लिये जिम्मेदार नहीं हैं।

पुष्पावती नगरमें इनके पिता गढ़ासाहु रहते थे। यह परवार सेठ थे, तथा दिहलीके बादशाहके यहां किसी कामपर नियत थे। पुष्पावती नगरी पेशावरको कहते हैं, पेशावरको पुष्कलावती या पुष्पावती पहले कहते थे। मालूम होता है कि गढ़ासाहुके आधीन कोई महान् काम बादशाहकी तरफसे पेशावरमें होगा। गढ़ासाहुजीकी धर्मपत्नी वीरश्री थी। ग्रंथकर्ता होनहार पुत्र वि० संवत १५०५ (व सन् १४४८) अगहन सुदी ७ को जन्मे थे। जब दिहलीमें सन् १४४८ में अलाउद्दीन सय्यद राज्य करते थे फिर सुलतान वहलोल लोधी सन् १४५० में बादशाह हुए जब यह पांच वर्षके थे। इसके पिताके ऊपर कोई कर्मके उदयसे आपत्ति आई तब यह अपना सब सामान लेकर मालवा देशमें आये। और गढ़ौला (जिला सागर खुरई तहसील खिमलासेके पास) में आकर डेरा किया।

वहां एक श्रुतमुनि विराजमान थे। उनका दर्शन करके साहुजी व सेठानी व यह पुत्र बड़े आनंदित हुए। मुनि महाराजने पुत्रको देखकर आशीर्वाद दिया व उनके पिताको शिक्षा दी कि यह एक महात्मा है, इसको शास्त्रज्ञान व विद्या भलेप्रकार पढ़ाई जावे। वहांसे चलकर टोंक राज्यके सेमरखेड़ी (वासौदा स्टेशनसे सिरोंज होकर) स्थानके पास ग्राममें वसे। वहां एक धनाढ्य जैन सेठकी सहायतासे व्यापार करने लगे और पुत्रको विद्या पढ़ाने लगे। यह बड़े चतुर थे। यथायोग्य विद्या लेते हुए जैन शास्त्रोंका स्वाध्याय करने लगे। इनको छोटी वयसे ही वैराग्य होगया। ऐसा मालूम होता है कि इन्होंने विवाह नहीं कराया, बहुत काल तक घरमें ही श्रावक व्रत पालते रहे और सेमरखेड़ीमें (जहां अब जंगल है व नशियां बनी है) एकांतमें बैठ ध्यान लगाते रहे। कुछ काल पीछे इन्होंने घर त्याग दिया तब या तो ब्रह्मचारी रहे या मुनि होगये। तथा मल्हारगढ़ (ग्वालियर स्टेट मुँगावली स्टेशनसे तीनकोस) में ठहरकर अधिक ध्यानका अभ्यास करने लगे। और उन्होंने यत्रतत्र विहारकर अपने अध्यात्म गर्भित उपदेशसे जैनधर्मका प्रचार किया। ऐसा कहते हैं कि उनके उपदेशसे ५५३३१९ जनोंने जैनधर्म ग्रहण किया। ये हर-एकको जैनी बनाते थे।

इनके शिष्य कई प्रसिद्ध हैं—लक्ष्मण पांडे, चिदानन्द चौधरी, परमानन्द विलासी, सुरुपसाह तेली, लुकमानशाह मुसलमान। इन्होंने मल्हारगढ़से वि० सं० १५७२ ज्येष्ठ वदी ६ शुक्रवारको समाधिमरण करके सुगति धाम प्राप्त किया। उस समय सन् १५१५ था, दिहलीमें सिकन्दर लोधीका राज्य था जो १४८९ पर गद्दीपर बैठे थे। सुलतान वहलोल लोधीसे गढ़ासाहकी नहीं बनी होगी ऐसा झलकता है। इनके उपदेशके अनुयायी तारणतरण समाज कहलाते हैं। वर्तमानमें इस समाज-

भूमिका ॥ ३ ॥

वालोंके घर मिरजापुर, बांदा, मध्यप्रांत, मध्य भारतमें फैले हुए करीब २००० होंगे व १०००० मानव होंगे। ये चैत्यालयके नामसे सरस्वती भवन बनाते हैं, वेदीपर शास्त्र विराजमान करते हैं, शास्त्रकी भक्ति करते हैं, शास्त्रके सामने जिनेन्द्रदेवकी भी भक्ति करते हैं। दिगम्बर जैन शास्त्रोंको पढ़ते हैं व विराजमान करते हैं। जिनेन्द्र प्रतिमाके रखनेका व पूजनेका रिवाज नहीं है तथापि ये लोग तीर्थयात्रा करते हैं। मंदिरोंमें यत्रतत्र प्रतिमाओंके दर्शन करते हैं। तारणतरण स्वामी रचित जो शास्त्र हैं उनमें भी प्रतिमाका खण्डन नहीं है।

मालूम होता है उन्होंने उस समयकी परिस्थितिको देखते हुए प्रतिमा स्थापनको गौण कर दिया था। वह मुसलमानी समय था, मूर्ति खण्डनका जगह २ उपदेश होता था। लोगोंको मुसलमानी धर्ममें जानेसे बचानेके लिये उस समय ऐसा किया होगा।

उस समय अहमदाबादमें श्वेतांबर जैनियोंके भीतर एक लोंकाशाह हुए थे जिन्होंने भी वि० सं० १५०८ में ढूँढ़ियापंथकी स्थापना की थी। ये भी मूर्तिको नहीं पूजते हैं। सिखधर्मके स्थापक नानक पंजाबमें सन् १४६९ से १५३० तक हुए व कबीर शाह भी इसी समय सन् १४४६ से १५०८ में हुए हैं। इन सबोंने मूर्ति पूजाको गौण किया था। तारणस्वामीका स्वर्गवास सन् १५१५ में हुआ था।

पाठकगण देखेंगे कि लोंकाशाह, कबीर, नानक, तारणस्वामी करीब २ समकालीन हुए हैं। भारतकी दशा उस समय अच्छी नहीं थी। मुसलमानी धर्म जोर जुलमसे फैलाया जाता था। जब ये धर्मप्रचारक हुए तब सिकन्दर लोधीका राज्य था। इसके सम्बन्धमें विंसेन्ट स्मिथ इतिहासकार लिखते हैं कि—

" He enterely ruined the shrines of Mathura, converting the buildings to Muslim use & generally was extremely hostile to Hindism. "

इसने मथुराके मंदिरोंका विध्वंस किया। मकानोंको मुसलमानी बना लिया। यह हिंदुधर्मका कट्टर शत्रु था। मूर्ति पूजाका घोर विरोध किया जाता था। हिंदुओंको लोभसे या भयसे मुसलमान बनाया जाता था। ऐसे समयमें ही गढ़ासाह भागकर मालवाकी तरफ आए। संभव है अपने धर्मकी रक्षार्थ ही आए होंगे। उनके विचारशील पुत्रको यह बात खटकी होगी तब तारणतरणने दिगम्बर जैनधर्मकी रक्षार्थ वही काम किया जो लोंकाशाहने श्वेतांबर धर्मकी व नानक व कबीरशाहने हिंदु धर्मकी रक्षार्थ किया। अवसर पाकर मूर्तिपूजाको गौण कर शास्त्रपूजा व गुरुपूजाकी मुख्यता की। इससे साफ झलकता है कि तारणतरण स्वामी बड़े ही प्रभावशाली वक्ता व अपने समयके अध्यातम रसिक जैन महात्मा होंगे, जिन्होंने मुसलमान होनेवाले जैनियोंको रक्षित किया तथा स्वयं मुसलमानों तकको जैनधर्ममें दीक्षित किया। इनकी ग्रंथ रचनामें आत्मानुभवकी स्थान२ पर प्रेरणा है।

तारणतरणस्वामी रचित १४ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। उनका विवरण नीचे प्रकार है—

भूमिका
॥ ४ ॥

१–श्रावकाचार—श्लोक ४६१ । २–मालारोहण—श्लोक ३२ ।
३–पंडित पूजा— „ ३१ । ४–कमलबत्तीसी—श्लोक ३२ । ५–उपदेश शुद्धसार—श्लोक ५८८ ।
इसमें भी अध्यात्मीक उपदेश है, पांच ज्ञानका स्वरूप है, रत्नत्रयका स्वरूप है ।

६–ज्ञान समुच्चयसार—९०८ ।

इसमें छः द्रव्य, सात तत्त्व, १४ गुणस्थान, पांच महाव्रत, सम्यग्दर्शन आदिका अच्छा निरूपण है । उसीमें दिगम्बर मुनिका स्वरूप है—

ये पंच चेल उक्तं त्यक्तं, मन वचन काय सद्भावं । विज्ञान ज्ञान शुद्धं, चेल त्यक्तंति निव्वुए जंति ॥ ४०० ॥
दिगम्बर नयन उत्तं, दसदिशा अंवरेण सद्भावं । अम्बरं चेल विमुक्तं, दिगम्बरं ज्ञान सहकारं ॥ ४०२ ॥

भावार्थ—जो पांच प्रकार आच्छादन अर्थात् रोमके, चमड़ेके, वरकलके, रुईके व रेशमके इनसे रहित हो, विज्ञान व ज्ञानमें शुद्ध हो । ऐसे वस्त्र रहित अचेलक ही निर्वाण जाते हैं । दिगम्बर शब्द बताता है जिनको १० दिशा ही कपड़ा हो । जैसे आकाश वस्त्र रहित है । यह दिगम्बरपना ज्ञानका सहकारी है ।

७–ममल पाहुड़ या अमल पाहुड़—३२१३ श्लोक, इसमें ३२, २५, १६, १९ आदि श्लोकोंके छोटे २ खण्ड रूपसे अध्यात्मीक भजन हैं । एक अध्याय ३४ अतिशयका है, जिनको निश्चयनय प्रधानसे बताया है । गगन गमनपर लिखा है—

गगन सुनन्तानन्त जिनय जिन, गम्य अगम्य परिणाम ध्रुवं ।
नन्त रमन सुहज्ञान गगन जिन, गम्य अगम्य अइसय ममलं ॥ १८ ॥

भावार्थ–आकाश अनंतानंत है उसको जीतनेवाले जिन हैं अर्थात् लोकालोकके ज्ञाता हैं । गम्य–कथन योग्य, अगम्य–न कथन योग्य जो परिणमन सदा हुआ करता है उस सबके ज्ञाता हैं, अनंतज्ञानमें रमन करनेवाले श्रुतज्ञानके प्रकाशक आकाशके समान निर्मल जिन हैं । यही निर्मल अतिशय है जो गम्य अगम्यके ज्ञाता हैं । आकाश गमन अर्थात् निर्मल आकाश समान अनंतानंत ज्ञानमें जिनका गमन है परिणमन है सो आकाश गमन अतिशयके धारी है । बड़ा ही सुन्दर विवेचन है ।

तेरा प्रकार चारित्रको कथन करते हुए १६ श्लोक हैं । इनमें भी निश्चयनयका प्रधान कथन है । जैसे आदान निक्षेपण समितिको इस तरह कहा है जिसका अर्थ व्यवहारमें है कि हरएक वस्तुको देखकर उठाना रखना—

आद सहावेन ज्ञान रय रमनं, निक्षिपिय कम्म जिनरंज सुयं ।
ज्ञान विज्ञान सु अमल रमन जितु, भय शल्य शंक विलयंतु सुयं ॥ ९४ ॥

भावार्थ—अपने आत्माके स्वभावके द्वारा ज्ञानमें रमन करना सो आदान है। कर्मोंका क्षय करना सो निक्षेपण है। इस तरह जिनेन्द्रमें रञ्जायमान होनेवाला श्रुत है जिसका आलम्बन करनेसे ज्ञान विज्ञानमय निर्मलभावमें रमन होता है। जिस भावश्रुतमें रमन करते हुए भय, शल्य व शंका सब विला जाती है। अर्थात् आत्मस्वभावमें लीनता ही आदाननिक्षेपण समिति है। बहुत ही बढ़िया तत्त्व विचार है।

८—चौवीस ठाण—गद्य पद्य सहित पत्रे १०, इसमें निश्चयनयको लेकर गोमट्टसारकी चर्चाका कुछ भाग है। एक स्थानमें ६६३३६ क्षुद्र भवोंका विवरण यथार्थ गोमट्टसारके अनुसार है। जैसे—

एकेंद्रियके—	६६१३२	भव	अन्तर्मुहूर्तमें
द्वेन्द्रियके—	८०	,,	,,
तेन्द्रियके—	६०	,,	,,
चौन्द्रियके—	४०	,,	,,
पंचेन्द्रियके—	२४	,,	,,
कुल	६६३३६	एक	अन्तर्मुहूर्तमें

जिनकी आयु श्वासके अठारहवें भाग होती है।

९—त्रिभंगीसार—श्लोक ७१ इसमें तीन२ के समूह बहुतसी बातें हैं। जैसे—

१—देव गुरु शास्त्र	५—आशा स्नेह लोभ
२—दर्शन ज्ञान चारित्र	६—माया मोह ममता
३—क्षायिक शुद्ध ध्रुव	७—रूपातीत स्वधर्म आकाश
४—कृतकारित अनुमत	८—नंद आनंद सहजानंद

इसमें भी बुद्धिमानी व विद्वत्ता झलकती है।

१०—खातिका विशेष—२ पत्रे गद्य व्यवहारपल्य, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी कालप्रमाण कुछ निश्चयनय प्रधान कथन भी है

११—सिद्ध स्वभाव—१ पत्रा निश्चय प्रधान गद्यमें कुछ कथन है।

१२—शून्य स्वभाव	२ पत्रे गद्य।
१३—नाममाला	९ पत्रे गद्य।
१४—छद्मस्थ वानी	९ पत्रे गद्य।

इन १४ ग्रन्थोंमें श्रावकाचार, पंडितपूजा, मालारोहणका उलथा मेरे द्वारा हुआ है। कमलबत्तीसीका उलथा बाबू जगरूपसहाय बी० ए०, एल० एल बी० वकील एटा (यू० पी०) द्वारा हुआ है।

इनमेंसे प्रथम उपदेश शुद्ध सार तथा ज्ञान समुच्चयसारका उलथा होना योग्य है। ये दोनों बहुत उपयोगी उपदेशी ग्रन्थ हैं। ममल पाहुड ग्रन्थ उच्च श्रेणीके आध्यात्मरसिक महात्माओंके ही आनंदकी वस्तु है। इसकी टीका बुद्धिमानोंके लिये आतमविचारमें उपयोगी होगी। चौबीस ठाणको विचार करके गोम्मटसारसे मिलाकर शुद्ध करके व और विषय जोडकर प्रकाश योग्य है। त्रिभंगीसार भी उपयोगी है, बुद्धिमत्ताके साथ अर्थ करना योग्य है। खातिका स्वभाव, सिद्ध स्वभाव, शून्य स्वभावमें विषय बहुत अल्प है। आध्यात्मीक भावसे विचारने योग्य है। नाममाला और छद्मस्थ वाणी स्वयं तारणतरण स्वामी रचित नहीं मालूम होती हैं, पीछेसे रचित हैं। कुछ कथन ऐसा भी है जो प्राचीन दि० जैन सिद्धांतसे नहीं मिलता है।

श्री तारणतरण स्वामीका समाधिस्थान मल्हारगढ़ वेतवा नदीके तटपर बहुत ही रमणीक व ध्यानयोग्य है। यहां मकान भी सुन्दर बने हुए हैं।

फुटनोट—हमने स्वयं इस स्थानका दर्शन दो दफे किया है। अन्तमें ता० १९ मार्च १९३३ को किया है, वेतवानदीसे १ मील किलेके समान बृहत् भवन कोट सहित है, मध्यमें जिनवाणी चैत्यालय है, चारों ओर यात्रियोंके ठहरनेका स्थान हैं, चारों ओर जंगल है। वेतवा नदीके तटपर तारण स्वामीका एक सामायिक करनेका पक्का दालान पाषाणका बना हुआ है। नदीके मध्यमें तीन चबूतरे हैं, एक वह है जिसपर बैठकर तारणस्वामी ध्यान करते थे। भवनके पीछे लोकमान शाहके रहनेका झोपड़ा व ध्यानका चबूतरा है। इस स्थानसे १ मील मल्हारगढ़ ग्राम है, किला है व सरोवर है। ग्राममें कुछ परवार जैनोंके घर हैं, दि० जैन मंदिर है उसमें पार्श्वनाथकी प्राचीन दो प्रतिमाएं दर्शनीय हैं। ध्यानके अभ्यास करनेवालोंके लिये मल्हारगढ़का तारणस्वामी महाराजका स्थान बहुत ही उपयुक्त है। नदीके मध्यमें व तटपर भी ध्यानका साधन होसक्ता है।

दूसरा तपस्थान सेमरखेड़ी है। इन दोनों स्थानोंपर वर्षमें एक दफे तारणसमाज प्रायः एकत्र भी होती है। जिन ग्रन्थोंकी भाषा टीका होजावें उन्हें हरएक जैनीको पढ़ना चाहिये। तत्वज्ञान होनेमें सहायता मिलेगी। तथा दूसरे दिगम्बर जैन आचार्योंके रचित नीचे लिखे ग्रंथोंको भी पढ़ना चाहिये जिससे धर्मका बोध होकर आत्माका कल्याण हो—

भूमिका ॥ ७ ॥

(१) रत्नकरण्ड श्रावकाचार—समंतभद्राचार्य कृत।
(२) श्रावकाचार—अमितगति कृत।
(३) पद्मनंदी पंचविंशतिका—पद्मनंदि कृत।
(४) अर्थप्रकाशिका—पं० सदासुखजी कृत।
(५) सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद आचार्य कृत।
(६) गोमटसार जीवकांड कर्मकांड–नेमिचन्द्र सि॰ चक्रवर्तीकृत
(७) परमात्माप्रकाश—योगेन्द्राचार्य कृत।
(८) ज्ञानार्णव—शुभचन्द्राचार्य कृत।
(९) पंचास्तिकाय—कुंदकुंदाचार्य कृत।
(१०) प्रवचनसार—कुन्दकुन्दाचार्य कृत।
(११) समयसार ,,
(१२) नियमसार ,,
(१३) मूलाचार—वट्टकेर स्वामी कृत।
(१४) स्वामी कार्तिकेयानुपेक्षा—मुनि कार्तिकेय कृत।
(१५) राजवार्तिक—अकलंकदेव आचार्य कृत।
(१६) समाधिशतक—पूज्यपाद आचार्य कृत।
(१७) इष्टोपदेश— ,, ,,

धर्मका वास्तविक स्वरूप रत्नत्रय धर्म है। निश्चय रत्नत्रय अपने ही शुद्धात्माका सम्यक्श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् आचरण या आत्मानुभव है। इसीका साधक परम्परा निमित्त व्यवहार रत्नत्रय है। जिसमें जीवादि सात तत्वोंका ज्ञान श्रद्धान जरूरी है। व्यवहार चारित्र मुनि व श्रावकका उभय रूप है, पांच महाव्रत मुनिका चारित्र है, पांच अणुव्रत श्रावकका धर्म है। श्रावकोंको देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान इन छः कर्मोंका साधन श्रद्धापूर्वक करना चाहिये व मिथ्यात्वसे बचना चाहिये। सम्यक्तके २५ दोष बचाने चाहिये, सात व्यसन द्यूत रमनादिसे बचना चाहिये, शुद्ध भोजन करना चाहिये, पानी छानकर पीना चाहिये, रात्रिको भोजन यथाशक्ति बचाना चाहिये, मुख्यतासे आत्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये। श्रावककी ग्यारह प्रतिमा हैं उनके द्वारा बाह्य अभ्यंतर चारित्रकी उन्नति करनी चाहिये। इस श्रावकाचारमें इन ही बातोंका विशेष वर्णन है। इस ग्रंथका प्रचार हर जगह होना चाहिये। पाठकोंको विशेष लाभ होगा।

सागर
आश्विन सुदी १०
वीर सं० २४५८
ता० ९–१०–१९३२

—ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।



श्री तारणतरण श्रावकाचार।

मंगलाचरण।

ऋषभदेवसे वीर लों, चौवीसों जिनराय।
मन वच काय नमायके, वंदहु वर वृषदाय॥
स्याद्वाद वाणी नमो, सत्य अर्थ भंडार।
परम तत्त्व आरूढ़ कर, करत भवोदधि पार॥
ग्रंथ रहित आतम रमी, वैरागी व्रत पूर्ण।
परम साधु गुरु वंदऊँ, होत विघ्न सब चूर्ण॥
तारण स्वामी रचित जो, ग्रंथ श्रावकाचार।
हिन्दी भाषामें लिखूँ, उत्था जन उपकार॥

अब श्री तारणतरण रचित श्रावकाचारका भाव हिन्दी भाषामें लिखा जाता है—

मंगलाचरण।

श्लोक—देव देवं नमस्कृतं, लोकालोकप्रकाशकं।
त्रिलोकं अर्थ ज्योतिः, ऊंवंकारं च वंदते॥ १॥

अन्वयार्थ—(देव देवं) चार प्रकार देवोंके देव अर्थात् इन्द्रादि द्वारा (नमस्कृतं) नमस्कार करने योग्य (लोकालोकप्रकाशकं) लोक और अलोकके प्रकाशक (त्रिलोकं) तीन लोकके (अर्थं) पदार्थोंके लिये (ज्योतिः) ज्योति रूप ऐसे (ऊंवंकारं) ॐ को (च वंदते) ही वन्दना करता हूं।

विशेष—तारण स्वामी रचित ग्रंथ उस समयकी उनकी ही भाषामें हैं, उनमें न तो मात्र संस्कृत है न प्राकृत न ठेठ हिंदी है। स्वामी जिस भाषामें कहते थे वही रचना लिखित मिलती है। दीर्घ कालके लेख प्रतिलेख होनेसे अक्षरोंका व्यतिक्रम होना संभव है। यहां मात्र भाव ग्रहण कर पाठकोंके लाभार्थ दिखलाया जाता है। ॐ शब्दको ॐकार या ऊंवंकार कहनेका रिवाज था ऐसा मालूम होता है। ॐ शब्दमें जैनियों द्वारा मान्य पांच परमेष्ठी गर्भित हैं। हरएक प्रथम अक्षरको लेकर यह शब्द बना है। जैसे—

अरहंतका–अ
सिद्ध या अशरीरका–अ
आचार्यका–आ
उपाध्यायका–उ
साधु या मुनिका–म्

इस तरह अ+अ+आ+उ+म्=ओम् या ॐ बन जाता है। इन पांचोंमें अरहंत जीवन्मुक्त परमात्मा शरीर सहितको व सिद्ध शरीर रहित शुद्ध परमात्माको कहते हैं। दोनों सर्वज्ञ तथा वीतराग हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु तीन प्रकार परमगुरु सम्यग्दृष्टी अंतरात्मा हैं, जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग ऐसे पांच महाव्रतोंको व ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना ऐसी पांच समितियोंको व मन वचन काय गुप्ति ऐसी तीन गुप्तियोंको इस तरह तेरह प्रकार चारित्रको पालते हैं। निश्चयसे शुद्धात्म रमण रूप चारित्रमें आरूढ़ होते हैं। जो साधु दिक्षा शिक्षा दाता हैं वे आचार्य हैं। जो विशेषज्ञ शास्त्र पाठ देते हैं वे उपाध्याय हैं। जो मात्र साधन करते हैं वे साधु हैं। चार हाथ प्राशुक भूमि देखकर दिनमें चलना ईर्या समिति है, शुद्ध प्यारी भाषा कहना भाषा समिति है, शुद्ध भोजन भिक्षासे अपने उद्देश्यसे न बनाया हुआ लेना एषणा समिति है। पीछी कमंडल शास्त्र व अपने शरीरको देखकर रखना उठाना आदाननिक्षेपण समिति है। निर्जंतु भूमिपर मल मूत्र करना प्रतिष्ठापना समिति है।

जगतमें ये पांच पद ही श्रेष्ठ हैं। क्योंकि ये संसारको पीठ देकर मोक्ष रूप या मोक्षमार्गी हैं–

आत्मीक आनन्दके विलासी हैं? इंद्रिय सुखसे अत्यन्त वैरागी हैं। निश्चयसे पांचों ही आत्माएं हैं। इसलिये लोकालोक प्रकाशक हैं व तीन लोकमें भरे हुए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्योंको व उनके गुणोंको व उनकी पर्यायोंको दीपकके प्रकाशकी तरह झलकानेवाले हैं। लोकमें १०० इन्द्र प्रसिद्ध हैं। भवनवासी देवोंके ४० इन्द्र, व्यंतर देवोंके ३२ इन्द्र, स्वर्गवासी देवोंके २४ इंद्र, ज्योतिषी देवोंके २ इंद्र, चन्द्रमा और सूर्य, मनुष्योंमें चक्रवर्ती, पशुओंमें अष्टापद ये सब अपने मन वचन कायसे इन पांच पदवी धारकोंको नमस्कार करते हैं। व्यवहार नयसे लोकालोक प्रकाशकपना अरहंत व सिद्धोंके हैं। आचार्य उपाध्याय साधुको भेदविज्ञान है। श्रुतज्ञानके द्वारा लोकालोकके प्रकाशक हैं। केवलज्ञानके सन्मुख हैं। भावी नैगमनयसे ये तीनों भी परमात्मा कहे जासक्ते हैं। ग्रंथकी आदिमें इनको भावपूर्वक नमन करनेसे भक्तका भाव निर्मल होजाता है। उसके भावोंसे सांसारिक विकार निकल जाता है, परिणामोंकी विशुद्धि होती है, जिससे पापोंका क्षय होता है। पुण्यका लाभ होता है। इसी कारण सज्जन पुरुष किसी भी कार्यकी आदिमें इष्टदेवका स्मरण रूप मंगलाचरण करते हैं। जिससे कार्यमें विघ्नकारक कारण शमन होसकें।

भावार्थ–यहां इन्द्रादिसे पूज्य, सर्वज्ञमई परमात्माको नमस्कार किया गया है जो ॐ शब्दमें गर्भित है।

श्लोक—ऊं वं ह्रियं श्रियं चिंते, शुद्धसद्भावपूरितं।
संपूर्ण सुयं रूपं, रूपातीत विंदसंयुतं ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्धसद्भावपूरितं) शुद्ध सत्तामई भावसे भरे हुए (संपूर्ण सुयं रूपं). संपूर्ण श्रुत रूप (रूपातीतं) अमूर्तीक ऐसे (विंदुसंयुतं) बिंदु सहित (ऊं वं ह्रियं श्रियं) ॐ, ह्रीं, श्रींको (चिंते) चिंतवन करता हूँ।

विशेष—ॐ ह्रीं श्रीं ये तीन मंत्र पद हैं—ॐमें ऊपर लिखे प्रमाण पाच परमेष्ठी गर्भित हैं। ह्रींमें चौवीस तीर्थंकर गर्भित हैं। ह से चार तथा र से दोका बोध होता है, बाएंसे लिखनेसे २४का ज्ञान होता है। श्री लक्ष्मीको कहते हैं। आत्माके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि स्वभावको ही आत्माकी लक्ष्मी कहते हैं। इस लक्ष्मीके धारी परमात्माको भी श्री कहते हैं।

ग्रंथकारका लक्ष्य एक शुद्ध आत्माकी ओर भक्तिपूर्ण है। इसलिये उसने शुद्ध आत्माको ही

चिंतवन किया है। आलम्बनके लिये ॐ ह्रीं श्रीं तीन मंत्र पद कहे हैं। शुद्ध आत्मामें सदा ही स्वभावोंकी सत्ता रहती है। जैसे मिश्री मिष्ठतासे, नीम कटुकतासे, खटाई आम्लपनेसे, लवण खारपनेसे परिपूर्ण भरा है वैसे ही आत्मा अपने ज्ञानादि स्वभावोंसे परिपूर्ण भरा है। यही शुद्ध आत्मा संपूर्ण श्रुतज्ञान रूप इसी लिये कहा गया है कि सम्पूर्ण श्रुतज्ञानका सार आत्माका ज्ञान है। अथवा ज्ञान ज्ञानी आत्मासे अलग नहीं है। जो श्रुतज्ञानको जानता है वह आत्माको जानता है। जो आत्माको जानता है वह सर्व श्रुतज्ञानको जानता है। ऐसा ही कथन परम अध्यात्म समुद्रके पारगामी श्री कुंदकुंद महाराजने श्री समयसारजीमें किया है—

जो हि सुदेणभिगच्छदि, अप्पाणमिणंतु केवलं सुद्धं। तं सुद केवलिभिसिणो, भणंति लोगप्पदीवयरा ॥ ९ ॥
जो सुदणाणं सव्वं, जाणदि सुदकेवली तमाहु जिणा। सुदणाण माद सव्वं, जम्हा सुदकेवली तम्हा ॥ १० ॥

भावार्थ-जो कोई निश्चयसे भावश्रुतके द्वारा इस आत्माको असहाय और शुद्ध जानता है उसको लोक स्वरूपके प्रकाशक परम ऋषि श्रुतकेवली कहते हैं। जो कोई सर्व द्वादशांग श्रुतज्ञानको जानता है उसको जिनेन्द्रदेव (व्यवहार नयसे) श्रुतकेवली कहते हैं। क्योंकि सर्व ही श्रुतज्ञान आत्मामें है व आत्मारूप है। इसी लिये आत्मज्ञानी ही श्रुतकेवली हैं या श्रुतकेवली आत्मज्ञानी हैं। शुद्ध आत्मामें पौद्गलिक कोई विकार व कोई संयोग नहीं है इसलिये वह रूपातीत अर्थात् अमूर्तीक है। ग्रंथकारने भावोंकी शुद्धिके लिये ही इस श्लोकमें भी अपने ही आत्माके शुद्ध स्वभावका स्मरण किया है।

श्लोक—नमामि सततं भक्त्या, अनादि सादि शुद्धये।
प्रतिपूर्ण अर्थ शुद्धं, पंचदीप्ति नमाम्यहं ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (सततं) निरन्तर (भक्त्या) भक्ति पूर्वक (प्रतिपूर्णं) पूर्ण और (शुद्धं) शुद्ध (अर्थं) पदार्थको (पंचदीप्ति) जो पांच परमेष्ठी पदोंमें प्रकाशमान होरहा है (अनादि सादि शुद्धये) प्रवाहकी अपेक्षा अनादि, बंधने छूटनेकी अपेक्षा सादि ऐसे कर्मोंसे शुद्ध होनेके लिये (नमामि नमामि) वार वार नमन करता हूं।

विशेष—यहां भी अरहंत आदि पांचों पदोंके भीतर निश्चय नयसे जो एक रूप ही शुद्ध आत्मा

है उसीको नमस्कार किया गया है। वह परिपूर्ण है । अपने सम्पूर्ण गुण व पर्यायोंको लिये हुए पूर्ण कुंभकी तरह भरा हुआ है। उसमें कोई अपूर्णताके कारक कर्मोंके विकार नहीं हैं। वह रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्मसे रहित है। इसीसे वह शुद्ध है। वह अभावरूप नहीं है, किंतु सद्भाव रूप है। स्वानुभवसे निश्चय किया जाता है इसीसे वह अर्थ है। गुणोंमें तल्लीनता-रूप भावरूप भक्ति है। वचनरूप व काय नमनरूप द्रव्यभक्ति है। दोनोंसे मैं वारवार नमन करता हूं। ऐसा कहकर ग्रंथकारने अपनी गाढ़ श्रद्धा परमात्माके तत्वमें झलकाई है। कोई भी कार्य हो किसी भी हेतुसे किया जाता है। ग्रंथकारने बताया है कि मैंने जो शुद्धात्माका स्मरण किया है व उसके स्वरूपमें अपने उपयोगको जोड़ा है वह इसी प्रयोजनसे है कि मेरे आत्माके साथ बंधरूप कर्मोंका नाश होजावे। उनसे मैं शुद्ध होजाऊं। कर्म सूक्ष्म पुद्गल स्कंध हैं। संसारी जीवोंके साथ प्रवाहकी या संतानकी अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है। कभी आत्मा कर्म रहित संसारमें न था। तथापि कर्मका संयोग एक तरहका नहीं चला आरहा है। कर्मोंका संयोग या बंध कुछ कालके लिये होता है। आठ कर्मोंमें मोहनीय कर्मकी स्थिति सबसे अधिक है। मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरकी है। मोहनीय कर्मके स्कंध बंधनके पीछे इतने कालके भीतर सब अवश्य झड़ जायगे। इस अपेक्षा विचार किया जावे तो कर्मोंका सम्बन्ध आदि सहित भी है।

ग्रन्थकारने जैन सिद्धांतका यथार्थ भाव अनादि व सादि शब्दोंको देकर बता दिया है। यदि एकांतसे अनादि सम्बन्ध माना जाय तो वह कभी छूट नहीं सक्ता। यदि एकांतसे सादि सम्बन्ध माना जावे तो यह मानना पड़ जायगा कि कभी आत्मा शुद्ध था फिर यह अशुद्ध हुआ। दोनों दोषोंका निराकरण इन दो शब्दोंके द्वारा होजाता है। यही वस्तुका स्वरूप भी है। अनादि जगतमें अनादिसे ही बीज वृक्षकी तरह जीव और कर्मका सम्बन्ध है जैसे-किसी बीजसे वृक्ष होता है। उस वृक्षसे फिर बीज होता है फिर बीजसे वृक्ष होता है। यद्यपि नवीन नवीन बीज व वृक्ष होता है। तथापि यह कार्य बराबर सदासे चला आता है। यदि हम कहें कि पहले वृक्ष ही था या पहले बीज ही था तो बाधा आती है कि बीज विना वृक्ष कैसे या वृक्ष विना बीज कैसे। बीज वृक्षका सम्बन्ध अनादि भी है सादि भी है। इसी तरह जीवोंके अशुद्ध भावोंसे कर्मका संयोग होता है। कर्मसंयोगसे अशुद्ध

भाव होते हैं यह कार्य सदासे होरहा है इसलिये अनादि सम्बन्ध है। परन्तु पुराना कर्म झड़ता है नया आता है इसलिये सादि सम्बन्ध है। इसीसे शुद्धता भी होसक्ती है। जब नवीन कर्मबन्धके कारण रागद्वेष मोहको न किया जावे तब नया बन्ध न होगा व पुराना बंध वीतरागताके प्रभावसे नष्ट होजायगा फिर आत्मा शुद्ध होजायगा। तत्वार्थसारमें अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं:—

दग्धेवीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥ ७ ॥

भावार्थ—बीज तथा वृक्षके अनादि सम्बन्ध चले आनेपर भी यदि बीजको जला दिया जावे तो फिर उससे वृक्षका पैदा होना बंद होजायगा इसी तरह कर्मोंके बीजोंको जला देने पर फिर संसारका कारणभूत रागद्वेष मोहरूपी अंकुर नहीं पैदा होगा।

ग्रंथकारने दिखलाया है कि शुद्धात्माकी भक्ति, किसी विषय व कषायकी पुष्टिके लिये या लौकिक धन पुत्रादिके लिये नहीं करनी चाहिये। मात्र कर्मबंध काटनेके लिये व स्वयं शुद्ध होनेके लिये ही करनी चाहिये। जैसा कि तत्वार्थसूत्रकी आदिमें मंगलाचरण है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृतां। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥

भावार्थ—मैं मोक्षमार्गके नेता, कर्म पर्वतोंके चूर्ण कर्ता व सर्व तत्वोंके ज्ञाता परमात्माको उन ही गुणोंकी प्राप्तिके लिये अर्थात् कर्म क्षय करके शुद्ध होनेके लिये नमन करता हूं।

श्लोक—परमेष्टी परं ज्योति, आचर्नतचतुष्टयं।
ज्ञानं पंचमयं शुद्धं, देवदेवं नमाम्यहं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (परमेष्टी) परम पदमें रहनेवाले (परं ज्योति) परम ज्योति स्वरूप (आचनंत-चतुष्टयं) अनंत चतुष्टयमें आचरण करनेवाले (पंचमयं ज्ञानं) पंचम केवलज्ञानमई (शुद्धं) शुद्ध वीतराग (देवदेवं) देवोंके देव परमात्माको (नमामि) नमस्कार करता हूं।

विशेषार्थ—यहां भी परमात्माको ही नमस्कार किया गया है। जो उत्कृष्ट पद मोक्षमें विराजमान हैं, अपने स्वपर प्रकाशक ज्ञानसे जो दीपककी ज्योतिकी तरह चमक रहे हैं जो केवलज्ञानमई हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान क्षयोपशम रूप विभाव ज्ञान है जब कि केवलज्ञान

शुद्ध स्वभावरूप ज्ञान है। रागद्वेषादि व ज्ञानावरणादि कर्मोंसे रहित शुद्ध हैं। तथा जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इन चार मुख्य गुणोंमें सदा परिणमन कर रहे हैं। इसमें अरहंत तथा सिद्ध दोनोंको स्मरण किया गया है।

श्लोक—अनंत दर्शनं ज्ञानं, वीर्जनंत अमूर्तयं।
विश्वलोकं सुयं रूपं, नमाम्यहं ध्रुवशाश्वतं ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (अनंत दर्शनं) अनंत दर्शनमई (ज्ञानं) अनंत ज्ञानमई (अमूर्तयं) अमूर्तीक (विश्वलोकं) सर्वको देखने वाले (सुयं रूपं) श्रुतज्ञान मई अर्थात् श्रुतज्ञानके कर्ता अथवा श्रुतज्ञान द्वारा अनुभव करने योग्य (ध्रुव) अविनाशी (शास्वतं) अनंतकाल रहनेवाले परमात्माको (नमामि) नमस्कार करता हूं।

विशेष—यहां भी परमात्माको नमस्कार करके व उनके गुणोंको स्मरण करके यह बताया है कि वे ध्रुव हैं, कभी उनका क्षय नहीं होगा तथा शास्वत हैं अनंत काल तक एक रूप रहेंगे, उनमें कोई स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जो पुद्गलके गुण हैं वे नहीं हैं इसीसे वे अमूर्तीक हैं। वे अनंत दर्शन व अनंत ज्ञानके धारी हैं। एक ही कालमें हो सामान्य विशेष रूप सर्व पदार्थोंके ज्ञाता दृष्टा हैं स्व पर प्रकाश करते हुए व आत्मीक आनन्दका विलास करते हुए कभी भी उनको निर्बलता नहीं होती है इसीसे वे अनंत वीर्य स्वरूप है। हम अल्पज्ञानी श्रुतज्ञानके द्वारा उनको पहचान करके व भेदज्ञान द्वारा परसे भिन्न अपने ही आत्माको शुद्ध द्रव्यरूप देख करके उनका अनुभव कर सक्ते हैं इसलिये वे श्रुतरूप हैं अथवा सम्पूर्ण श्रुतके कर्ता वे ही अरहंत भगवान हैं इसलिये श्रुतरूप हैं। वास्तवमें जो अपने आत्माको पहचानता है वही अरहंत तथा सिद्ध परमात्माको जान सक्ता है। जैसे कर्दमसे मिले हुए जलमें भी जलका स्वभाव यदि देखा जावे तो निर्मल ही झलकता है उसी तरह शरीर व कर्म मलके भीतर रहे हुए भी अपने आत्माको यदि आत्मारूप शुद्ध दृष्टिसे देखा जावे तो यही शुद्ध आत्मा या परमात्मा झलकता है।

श्लोक—नमस्कृत्वा महावीरं, केवलं दृष्टि दृष्टितं।
व्यक्तरूपं अरूपं च, शुद्धं सिद्धं नमाम्यहं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (महावीरं) चौवीसवें तीर्थंकर श्री महावीर भगवानको (नमस्कृत्वा) नमस्कार करके (केवलं दृष्टि दृष्टितं) केवलज्ञान रूपी नेत्रोंके द्वारा प्रत्यक्ष देखे हुए (व्यक्तरूपं) प्रकट प्रकाशमान आत्मस्वरूप धारी (च अरूपं) और अमूर्तीक (शुद्धं) व शुद्ध रागादि रहित (सिद्धं) सिद्ध भगवानको (नमामि) नमस्कार करता हूँ।

विशेष—इस श्लोकमें प्रथम तारणस्वामीने उस समय जिनका शासन वर्त रहा था ऐसे श्री महावीर भगवानको नमस्कार किया है। श्री महावीर स्वामीने अपनी दिव्यध्वनिसे मोक्षका यथार्थ स्वरूप व मोक्षका यथार्थ मार्ग झलकाया है जिसको श्रुतज्ञान द्वारा भव्य जीव जानकर व अपने आत्माका अनुभव करके परम आनन्द पाते हैं। उनका उपकार कभी भुलाने योग्य नहीं है। वे महावीर इसी लिये है कि राजकुमार होते हुए भी राज्यके प्रपंचमें न फंसे। दीक्षा लेकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी खड़गसे उन्होंने मोहरूपी वैरीको संहार किया फिर ज्ञानावरणादि तीन घातीय कर्मोंका नाश किया तथा कर्मविजयी हो अपना महावीरपना साक्षात् प्रगट किया।

ग्रंथकर्ताका लक्ष्य वारवार शुद्ध आत्माकी तरफ जाता है इसलिये उन्होंने आठ कर्म रहित श्री सिद्ध भगवानको नमन किया है। जो सर्व परद्रव्योंसे व परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले रागादि विकारोंसे व सर्व भेदोंसे रहित अभेद एक रूप शुद्ध हैं। यद्यपि वे पुद्गलकी तरह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण धारी नहीं है इसलिये इन्द्रियोंके द्वारा देखने योग्य नहीं है। तथापि वे अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टी महात्माओंके अनुभवमें व्यक्तरूप हैं। श्रुतज्ञानके बलसे स्वसंवेदनमें आजाते हैं अथवा उनके आत्माका स्वरूप सर्व कर्मोंके आवरणोंसे रहित प्रकाशमान है। तथा उन सिद्ध भगवानका प्रत्यक्ष दर्शन केवलज्ञानरूपी नेत्रके ही द्वारा होता है। पांच ज्ञानोंमें मतिश्रुत सो आत्मा आदि अमूर्तीक पदार्थोंको परोक्ष रूपसे जान सक्ते हैं अवधि व मनःपर्यय ज्ञान अमूर्तीक शुद्ध पदार्थको जान नहीं सक्ते, मात्र केवलज्ञानमें ही ऐसी शक्ति है जो आत्माको शुद्ध जैसाका तैसा प्रत्यक्ष देख सके। भावार्थ यह है कि जिस शुद्ध आत्माको केवलज्ञानी प्रत्यक्ष देखते हैं उसी शुद्ध आत्माको अल्पज्ञानी श्रुतज्ञानसे प्राप्त भेद विज्ञान रूपी नेत्र द्वारा देखें, जाने और उसका अनुभव पाकर स्वात्मानंद भोगें। शुद्धात्माका ध्यान, मनन, चिंतवन ही वीतरागताको बढ़ानेवाला है व रागद्वेष विभाव भावोंको मिटानेवाला है।

श्लोक—केवलीनंत रूपी च, सिद्धचक्रगणं नमः।
वोच्छामि त्रिविधं पात्रं, केवलि दृष्ट जिनागमं ॥७॥
साधओ साधुलोकेन, ग्रंथ चेल विमुक्त यं।
रत्नत्रयं मयं शुद्धं, लोकालोक विलोकितं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(केवलीनंत रूपी च) और अनंत केवलज्ञानादि गुण स्वभावके धारी (सिद्धचक्रगणं) सिद्ध चक्रोंके समूहको (नमः) नमस्कार हो। (त्रिविधं) तीन तरहके (पात्रं) धर्मके पात्र हैं उनका स्वरूप (वोच्छामि) कहूँगा। वे तीन हैं (केवलि) प्रथम तो केवली भगवान अरहंत सिद्ध, (दृष्ट जिनागमं) दूसरे केवली भगवान करके देखा हुआ व कहा हुआ जिन आगम, (साधुलोकेन) तीसरे साधु महाराज जिन्होंने (ग्रंथ चेल विमुक्त यं) परिग्रह और वस्त्र रहित हो, (लोकालोक विलोकितं) लोक और अलोकको देखनेवाले (शुद्धं) शुद्ध वीतराग (रत्नत्रयं मयं) रत्नत्रयमई धर्मको (साधओ) साधन किया है।

विशेषार्थ—यहां फिर भी ग्रंथकारने भक्तिसे भरपूर हो अनत ज्ञान सुख वीर्यादि पवित्र गुणधारी अनंत सिद्धोंको नमस्कार किया है। जैन सिद्धांतका यह भाव है कि जो कोई आत्मा कर्म बंधनोंको काटकर व सर्व विकारोंसे छूटकर शुद्ध आत्मा होजाता है—पुद्गलके बंधसे रहित हो केवल आत्मद्रव्य मात्र रह जाता है। मल रहित सुवर्णके समान स्वच्छ होजाता है वही परमात्मा आराधन करने योग्य होता है। अनत जगतमें ऐसे अनंत जीव सिद्ध परमात्मा होचुके हैं। वे सब गुणोंमें समान होनेपर भी सत्ताकी अपेक्षा व अपने अपने पृथक् २ आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्न २ हैं। मुक्त होनेपर वे एक दूसरेमें समाकर अपनी सत्ता नहीं खो बैठते हैं। इसतरह अनंत सत्ताधारी सिद्धोंको यहां नमन किया गया है। फिर ग्रंथकार यह प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं पहले तीन तरहके धर्मधारी पात्रोंका स्वरूप कहूंगा। पात्र वरतनको कहते हैं। देव धर्मके पात्र हैं। शास्त्र धर्मका पात्र है क्योंकि उसमें धर्मका वर्णन है। गुरु धर्मके पात्र हैं क्योंकि वे धर्मका साधन करते हैं। केवलज्ञानी अरहंत व सिद्ध देव धर्म पात्र हैं। अरहंतका कहा हुआ जिन आगम शास्त्र धर्म पात्र है। सर्व परिग्रह रहित वे वस्त्र रहित अचेल काया निर्ग्रंथ साधु जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रमई धर्मका साधन

करते हैं वे गुरु धर्म पात्र हैं। यह धर्म व्यवहार नयसे तीन रूप है, निश्चय नयसे शुद्ध अभेद एक निज आत्माकी परिणति है। वह परिणति लोकालोकके छः द्रव्योंको परोक्ष रूपसे जानने वाली है। क्योंकि श्रुतज्ञानमें सर्व पदार्थोंका स्वरूप है। उस श्रुतको जाननेवाला साधुका आत्मा है। इसलिये रत्नत्रय मई आत्मा ज्ञानसे भरपूर पूर्ण संतुष्ट है। इस शुद्ध आत्मीक भावको मोक्ष साधक ज्ञानके साधन करनेवाले साधु होते हैं यही गुरु हैं। प्रयोजन यह है कि श्रावक धर्मका लाभ करना चाहें उनको प्रथम ही सच्चे देव शास्त्र गुरुपर श्रद्धा लानी चाहिये।

श्लोक—सु सम्यक्तं ध्रुवं दृष्टं, शुद्ध तत्त्व प्रकाशकं।
ध्यानं च धर्म शुक्लं च, ज्ञानेन ज्ञानलंकृतं ॥ ९ ॥
आर्त्तरौद्र परित्याज्यं, मिथ्यात्त्रय न दृष्टते।
शुद्ध धर्ममयं भूत्वा, गुरुं त्रैलोक्यवंदितं ॥१०॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध तत्त्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्म तत्वको प्रगट करनेवाला (ध्रुवं) अविनाशी (सु सम्यक्तं) निर्मल सम्यक्दर्शन (च) और (ज्ञानेन) आत्मज्ञानके द्वारा (ज्ञानलंकृतं) ज्ञानकी शोभा बढ़ानेवाला (धर्म शुक्लं च ध्यानं) धर्म तथा शुक्लध्यान (दृष्टं) जिनके द्वारा अनुभव किया गया। (आर्त्त रौद्र परित्याज्यं) आर्त्त तथा रौद्र ध्यान छोड़ दिया गया। (मिथ्यात्त्रय) तीन प्रकार मिथ्यादर्शन अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्त्व (न दृष्टते) जिनमें नहीं दिखलाई पड़ता है। (शुद्ध धर्ममयं भूत्वा) जो शुद्ध आत्मधर्म स्वरूपमयी होगये हैं (त्रैलोक्यवंदितं) ऐसे तीन लोकसे वंदना योग्य (गुरुं) गुरु होते हैं।

विशेषार्थ—यहां साधु महाराजकी विशेष महिमा बताई है। उनमें निश्चय सम्यग्दर्शन होता है जो शुद्ध आत्माके तत्वको सर्व परद्रव्योंसे भिन्न प्रकाशित करता है। सम्यक्तके विना बाहरी चारित्र पालनेपर भी साधुपना नहीं होसक्ता है। फिर वे धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानका आराधन करते हैं, ये दोनों ध्यान मोक्षके साधक हैं। साधुओंके सात गुणस्थान होते हैं। छठे तथा सातमें गुणस्थानमें तो धर्मध्यान होता है। फिर आठवेंसे बारहवें तक शुक्लध्यान होता है। आत्मज्ञानमें थिर

ताको ही ध्यान कहते हैं। जहां आत्माका ज्ञान ज्ञानसे ही अलंकृत होता है। जहां आत्माका ज्ञान ज्ञान चेतना रूप परिणमन करता है वहीं धर्म तथा शुक्लध्यान होता है। धर्मध्यानमें कुछ सरागता है। शुक्लध्यानमें ऐसी निर्मलता है कि साधुको कोई रागका विकल्प नहीं होता है। बुद्धिपूर्वक चंचलता भी नहीं है। प्रथम शुक्लध्यानमें जो योग, शब्द व ध्येय पदार्थकी पलटना होती है वह अबुद्धिपूर्वक पूर्व अभ्याससे होजाती है। ध्याता मुनिका उपयोग तो शुद्ध आत्माकी परिणतिकी तरफ ही रहता है। यद्यपि साधुका आहार विहारादि छठे गुणस्थानमें होता है इसलिये सराग भाव छठेमें है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें वीतराग भावकी मुख्यता है तथापि आठवेंके मुकाबलेमें वहां अल्प वीतरागता या कुछ सरागता है। दूसरे शुक्लध्यानमें चंचलता नहीं है। इसीसे केवलज्ञानका लाभ होता है। साधुके संसारका कारण आर्त व रौद्रध्यान नहीं होना चाहिये। शोक व दुःख भावरूप आर्तध्यान है उसके चार भेद हैं-इष्ट वियोगसे, अनिष्टके संयोगसे, किसी पीड़ासे, व भोगोंकी आगामी प्राप्तिकी चिन्तासे। यह संक्लेशभाव चार तरहका है। दुष्ट भावको रौद्रध्यान कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी व परिग्रहमें आनन्दित होना चार प्रकारका रौद्रध्यान है। साधुमें तीन प्रकारका मिथ्यात्व न होना चाहिये। जिससे बिलकुल मिथ्या श्रद्धा हो वह मिथ्यात्व है। जिससे सच्ची झूठी मिली हुई श्रद्धा हो वह सम्यक् मिथ्यात्व है। जहां सम्यक्तमें मात्र दोष या अतीचार लगे वह सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व है। गुरु महाराज शुद्ध तत्त्वके अनुभवमें ऐसे मगन रहते हैं मानो उन रूप ही होगए हैं। ऐसे धर्मके पात्र गुरु, इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि सर्व तीन लोकके बड़े २ पुरुषों द्वारा वन्दनीक हैं। श्रावकको उचित है, कि ऐसे निर्ग्रंथ गुरुकी भक्ति करें तथा उनसे सत्य उपदेशका लाभ करें।

श्लोक—सार सारस्वती दृष्टं, कमलासने संस्थितं।
ॐ वं ह्रियं श्रियं सुयं, ति अर्थ प्रति पूर्णितं ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(कमलासने) अर्हंत भगवानके हृदय कमलरूपी आसनमें (संस्थितं) भलेप्रकार विराजित (ॐ वं ह्रियं श्रियं) ॐ, ह्रीं, श्रीं (ति अर्थ) इन तीन अर्थोंसे (प्रतिपूर्णितं) परिपूर्ण (सुयं) ऐसी श्रुतज्ञान मई (सार सारस्वती) उत्तम सरस्वती या जिनवाणी (दृष्टं) देखने योग्य है।

विशेषार्थ—जिनवाणी वही ज्ञान है जो अर्हंत भगवानके भीतर शोभायमान है। लोकमें कमलके मध्यमें सरस्वतीको विराजमान करते हैं यहां उसी अलंकारको लेकर यह कहा गया है कि अर्हंतके हृदयरूपी कमलमें यह जिनवाणी विराजित है। ॐ ह्रीं श्रीं ये तीनों ही मंत्र पंच परमेष्ठी, चौवीस तीर्थंकर तथा केवलज्ञानादि लक्ष्मीके क्रमसे वाचक है जैसा पहले कहा है। इन तीनोंके भावोंको वह जिनवाणी भलेप्रकार दिखलाने वाली है। यह वाणी सार है क्योंकि सार तत्त्व जो आत्मा है उसको झलकाने वाली है। भगवत् द्वारा प्रकाशित ध्वनिको सुनकर गणधर देवादि उस ध्वनिके भावको धारण करते हैं। उसीसे द्वादशांग रचना होती है। उसीका सार परंपरा जिन आगमसे आया हुआ अब तक आचार्यकी परम्परासे मिलता है। ऐसी सरस्वती या जिनवाणी ही जैन शास्त्र मानने योग्य है।

श्लोक—कुज्ञानं त्रि विनिर्मुक्तं, मिथ्या छाया न दृष्टते।
सर्वज्ञं मुखवाणी च, बुधप्रकाशं शास्वती ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(कुज्ञानं त्रि) तीन अज्ञान कुमति, कुश्रुत, कुअवधिसे अथवा संशय, विमोह, विभ्रमसे (विनिर्मुक्तं) रहित है। (मिथ्या छाया) मिथ्यादर्शनकी छाया (न दृष्टते) जहां नहीं दिखलाई पड़ती है (सर्वज्ञं मुखवाणी च) तथा वह वाणी सर्वज्ञके मुखसे प्रकट हुई है, (बुधप्रकाशं) व गणधर देवादि बुधजनोंके द्वारा प्रकाशित होती है (शास्वती) तथा नित्य प्रवाहरूप सदासे चली आरही है।

विशेषार्थ—केवलज्ञान द्वारा जिन पदार्थोंको सर्वज्ञ भगवानने देखा है उनहीका प्रकाश उनकी दिव्य ध्वनिके द्वारा होता है। उसको सुनकर गणधर देव द्वादशांग रचना करते हैं उसीके अनुसार अन्य बुद्धिमान आचार्य और शास्त्र रचते हैं, इसतरह वह ज्ञान अबतक प्रकाशित होता रहा है। जो सर्वज्ञका ज्ञान है उसमें कुमति, कुश्रुत व कुअवधि पना बिलकुल नहीं है क्योंकि तीनों ही कुज्ञानोंमें मिथ्यात्वकी छाया पड़ती है। सर्वज्ञके ज्ञानमें मिथ्यादर्शनकी छाया नहीं दिखलाई पड़ती है उसी तरह जिस ज्ञानको शास्त्रोंमें भरा जाता है वह श्रुतज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है। उसमें भी मिथ्यात्वकी छाया नहीं है और न उसमें ज्ञानके तीन दोष हैं-संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय। यह वस्तु ऐसी है कि नहीं है यह संशय है। वस्तुको कुछका कुछ निश्चय कर लेना विपर्यय है। वस्तुके

ज्ञाननेमें आलस्य अनध्यवसाय है। तथा यह श्रुतज्ञान प्रवाहकी अपेक्षा नित्य है, सदा ही केवलज्ञानियोंके द्वारा प्रगट होता रहा है और विद्वान आचार्यों द्वारा शास्त्रोंमें गूंथा जारहा है। विदेह क्षेत्रमें नित्य ही रहता है क्योंकि वहा सदा ही तीर्थंकरोंका अस्तित्व रहता है। केवलज्ञान यद्यपि एकाकी है तथापि उसमें अन्य चार मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय सम्यग्ज्ञानोंका विषय गर्भित है परंतु तीन कुमति आदि कुज्ञानोंका विषय नहीं है क्योंकि वहां केवलीकी आत्मामें क्षायिक सम्यक्त है, मिथ्यात्वका अंश मात्र भी नहीं है। जो जिनवाणी सर्वज्ञ मुखसे प्रगट है व गणधरादि द्वारा प्रकाशित होती रहती है वही प्रमाणभूत है।

श्लोक—कुज्ञानं तिमिरं पूर्णं, अंजनं ज्ञानभेषजं।
केवली दृष्ट स्वभावं च, जिनसारस्वती नमः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(कुज्ञानं) मिथ्याज्ञान रूपी (तिमिरं) अंधकारसे (पूर्णं) पूर्ण जो भाव है उसको मिटानेके लिये (ज्ञानभेषजं) ज्ञानरूपी औषधि (अंजनं) अंजनके समान है। (केवलि दृष्टं स्वभावं च) केवली द्वारा देखे हुए स्वभावोंको प्रकाश करनेवाली ऐसी (जिन सारस्वती) जिनेश्वरकी वाणी सरस्वती देवीको (नमः) नमस्कार हो।

विशेषार्थ—जिनवाणी वही सच्ची है जो उन ही पदार्थोंको वैसा ही प्रकाश करे जैसा केवलज्ञानीने जाना है। यह वाणी ज्ञानकी स्थापना रूप है। शब्दोंमें ज्ञान भरा जाता है। यह श्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान उन व्यक्तियोंके लिये अंजनरूप औषधि है जिनके भीतर कुज्ञानका अंधेरा छाया हुआ है। जिनवाणीको ध्यानसे पढ़नेसे, विचारनेसे, अनुभव करनेसे अज्ञान मिट जाता है, सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होजाता है। जैसे आंखमें रोग हो, धुंधलापन हो जिससे पदार्थ ठीक न दिखता हो या औरका और दिखता हो तब चतुर वैद्य द्वारा डाला हुआ अंजन उस दोषको मेट देता है तब पदार्थ ठीक २ जैसाका तैसा दिखलाई पड़ता है। इसी तरह अज्ञानियोंके हृदयमें जो संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रूप दोष है वह जिनवाणीके यथार्थ अभ्याससे मिट जाता है तब जो एकांतरूप पदार्थका ज्ञान था वह अनेकांतरूप पदार्थका ज्ञान होजाता है। हरएक पदार्थ अनेक

स्वभावोंको रखनेवाला है। जिस पदार्थके जो जो यथार्थ स्वभाव हैं वे मालूम पड़ जाते हैं। मोक्ष-मार्गमें सहकारी आत्माका यथार्थ ज्ञान है। यह आत्मा सर्व अनात्मासे-पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाशसे, रागादि कर्मजनित भावोंसे व अन्य आत्माओंसे भिन्न अपने ही निज शुद्ध स्वभावरूप है। यह स्वसंवेदन रूप ज्ञान मोक्षका उपाय है वह ज्ञान जिस जिनवाणीसे मिलता है उसको हमारा नमस्कार हो।

श्लोक—देवं श्रुतं गुरुं वन्दे, ज्ञानेन ज्ञानलंकृतं।
वोच्छामि श्रावकाचारं, व्रतं सम्यग्दृष्टितं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानेन) आत्मज्ञानके द्वारा (ज्ञानलंकृतं) जहां ज्ञानकी शोभा होरही है ऐसे (देवं) सर्वज्ञदेवको (श्रुतं) उनकी जिनवाणीको (गुरुं) उसके अनुसार चलनेवाले गुरुको (वंदे) नमस्कार करता हूं। (व्रतं सम्यग्दृष्टितं) बारह व्रत और सम्यग्दर्शन रूप (श्रावकाचारं) श्रावकोंके आचारको (वोच्छामि) कहूंगा।

विशेषार्थ—ग्रंथकारने देव, शास्त्र, गुरुको वंदना करके अपनी गाढ़ श्रद्धा झलकाई है, उनको स्मरण करते हुए उनमें आत्मज्ञानकी शोभा पर ही लक्ष्य दिया है। वास्तवमें तत्व खोजी अरहंत सिद्धमें भी शुद्ध आत्माको देखता है, शास्त्रोंके भीतर भी शुद्ध आत्माका ही दर्शन करता है व गुरु महाराजके भीतर भी शुद्ध आत्माको देखता है अथवा उनके द्वारा शुद्ध आत्माका बोध प्राप्त करता है। इस वंदनासे यह बात बताई है कि मैं सम्यक्दर्शन तथा व्रत रूप जो श्रावकोंका-गृहस्थियोंका आचरण है, उसको व्याख्यान करते हुए वही कहूंगा जो देव, शास्त्र, गुरुके द्वारा प्रकाशित है व जिसको सुनकर व जिसको समझकर जिसपर आचरण करनेसे मुमुक्षु जीवको आत्मज्ञान सहित पञ्चम देशविरति गुणस्थानका लाभ होजावे-वह सच्चा जैनी श्रावक होजावे।

श्रावकाचारका प्रारम्भ ।

(संसार-शरीर-भोगका स्वरूप)

श्लोक—संसारे भय दुःखानां, वैराग्यं येन चिंतये ।
अनृतं असत्यं जानंते, असरनं दुःखभाजनं ॥१५॥

अन्वयार्थ—(भय दुःखानां) भय और दुःखोंसे भरे हुए (संसारे) संसारमें (येन) उस मुमुक्षु द्वारा (वैराग्यं) वैराग्यभाव (चिंतये) चिंतवन किया जाता है (अनृतं) यह संसार मिथ्या है (असत्यं) असत्य है, (असरनं) अशरण है, (दुःखभाजनं) दुखोंका भाजन है ।

विशेषार्थ—जो कोई अपना हित करना चाहे उसको पहले यह विचारना चाहिये कि मेरी वर्तमान दशा कैसी है । यदि यह बुरी है तो इसको दूर करना ही चाहिये । वह स्वहित प्रेमी विचारता है कि मैं संसारी हूं । जिस संसारमें भ्रमण कर रहा हूं वह सदा भय रूप है । हरएक शरीरमें रहते हुए मरणका भय व दुःखोंके आनेका भय, रोगी होनेका भय, सुखके माने हुए साधक स्त्री पुत्रादि धन लक्ष्मीके छूट जानेका भय लगा रहता है । तथा यह संसार दुःखोंसे भरा हुआ है । शारीरिक व मानसिक अनेक दुःख ही दुःख हैं । चिंता व इच्छा व तृष्णाका दाह बड़ा भारी दुःख है । अज्ञानी प्राणी जिन विषय भोगोंके द्वारा इस तृष्णाके दाहको मिटाना चाहता है उतना अधिक वह तृष्णाके दाहको बढ़ा लेता है । जन्म, जरा, मरण, शोक, क्लेश व क्रोधादि कषाय आदि द्वारा संसारमें सदा दुःख ही दुःख है । अनेक व्याधियोंके होनेपर यदि कोई रोग कुछ देरके लिये कम होजाता है उसको सुख मान लिया जाता है परंतु वह सुख नहीं है किंतु दुःखकी कुछ कमी मात्र है । यह विषयसुख आगामी दुःख बढ़ानेका कारण है । कर्मोंकी पराधीनताका संसारमें बड़ा दुःख है । इसीलिये चाहा हुआ काम नहीं होता । होते हुए सुखोंमें बाधा आजाती है । इच्छित पदार्थ नहीं मिलते । वे सदा एकसे नहीं रहते, यह उनको एकसा रखना चाहता है, तब बहुत क्लेशित होता है । स्त्री पुत्रादि जब इच्छानुकूल नहीं चलते हैं तब वज्रके प्रहारवत् दुःख होता है । नरक व

पशु व मानवगति तो दुःखरूप हैं ही। देवगतिमें मानसिक दुःख अधिक है। ईर्षाभाव व वियोग-भाव कृत शोक है। इसको असत्य स्वप्नसम देखना चाहिये जैसे सोतेमें स्वप्न देखा जाता है, जागने पर कुछ नहीं रहता वैसे किसी शरीरमें रहते हुए जिन २ चेतन व अचेतन पदार्थोंका सम्बन्ध होता है उनके वियोग होनेपर व अपना मरण आनेपर उनका संयोग स्वप्नके समान होजाता है। यह संसार असत्य इसलिये है कि जिन २ को अपनाया जाता है वे सब पर हैं। स्वार्थवश परस्पर कुछ स्नेह करते हैं। यदि अपने स्वार्थमें हानि आती है तो उसी समय वैरी होजाते हैं। संसारमें जो कुछ दिखलाई पड़ता है वह सब पर्याय है, अवस्था है, जो अवश्य बदलने वाली है। उसको स्थिर मानना यही असत्य है। धन, जीतव्य, कुटुम्ब, राज्य, रूप, बल, यौवन, आदि सदा बना रहेगा, यह बुद्धि बिलकुल मिथ्या है। सूर्यकी धूप व छायाको एक स्थल पर थिर मानना मात्र भ्रम है असत् है। फिर यह संसार अशरण है। मरणसे कोई बचा नहीं सक्ता। तीव्र कर्मके उदयसे कोई रक्षित नहीं कर सक्ता। अकेला ही मरना पड़ता है, अकेला ही रोगी, धनहीन व कुटुम्बहीन होना पड़ता है। इसतरह संसारका स्वरूप विचार कर इससे वैराग्य चिंतवन करना चाहिये तब ही श्रावक धर्मके साधनमें प्रीति होसकेगी। श्री कुन्दकुन्द आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

जीवितं विद्युतातुल्यं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः। सन्ध्यारागसमः स्नेहः शरीरं तृणबिन्दुवत् ॥ १९० ॥

शक्रचापसमा भोगाः सम्पदो जलदोपमाः। यौवनं जलरेखेव सर्वमेतदशाश्वतम् ॥ १९१ ॥

भावार्थ—यह जीवन विजलीके समान क्षणभंगुर है, स्त्री पुत्रादिका संयोग स्वप्नके समान है, मित्रादिसे स्नेह सन्ध्या समयकी लालीके समान नाशवंत है। शरीर तृणपर रक्खी हुई जलकी बूंदके समान पतन होनेवाला है, कामभोग इन्द्र धनुषके समान क्षणिक हैं। सम्पदाएं मेघोंके समान विला जानेवाली हैं। युवानी जलकी रेखा समान मिट जाती है। यह सर्व पदार्थ अनित्य हैं। ऐसे अनित्य संसार-चरित्रमें लुभाजाना मूर्खता है, यही मूर्खता महान दुःखोंका हेतु है। इसलिये बुद्धि-वानको इनसे वैराग्यका चिन्तवन करना चाहिये।

श्लोक—असद् शाश्वतं दृष्टं, संसारं दुःख भीरुदं।
शरीरं अनित्यं दृष्टं, अशुच्यमेध्यपूरितं ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(संसारं) इस चतुर्गति भ्रमण रूप संसारको (असत्) असत्य-अयथार्थ कल्पित (अशाश्वतं) क्षणभंगुर-नाशवंत व (दुःखभीरुदं) दुःख तथा भयको देनेवाला (दृष्टं) देखना चाहिये। (शरीरं) इस शरीरको (अनित्यं) न रहनेवाला-क्षणिक, (अमेध्यपुरितं) मल मूत्रादिका भरा हुआ (अशुचि) अपवित्र (दृष्टं) देखना चाहिये।

विशेषार्थ—जो अपना सच्चा हित चाहैं उन ज्ञानी जीवोंको विचारना चाहिये कि यह संसार जैसे असत्य, अनित्य व दुःख और भयका ठिकाना है वैसे यह शरीर भी अनित्य और अपवित्र मलादिका भरा हुआ है। संसारमें वास आकुलता देनेवाला है, निरन्तर क्लेशित व भयवान रखनेवाला है तथा यह मानवका शरीर जिसमें यह मानव रहकर जीवनके दिन पूर्ण करता है, बिलकुल अनित्य है, आयुकर्मके आधीन है, आयुकर्मके खिर जानेसे छूट जायगा तथा पापके उदयसे रोगी व निर्बल होजाता है तथा दिनपर दिन पुराना पड़ता है, इसमें बुढ़ापा आजाता है। अकाल मृत्युके कारण मिलनेपर शीघ्र ही छूट जाता है तथा यह अपवित्र भी है। माताके रुधिर व पिताके वीर्यसे इसकी उत्पत्ति हुई है तथा यह दो आंख, दो नाक छिद्र, मुँह, दो कान व दो मध्यके उपंग इन नव द्वारोंसे निरन्तर मल ही वहाता है। इसके करोड़ों रोओंसे भी मल ही निकलता है; भीतर हड्डी, चरबी, रुधिर, मांस, कीड़े आदिसे व मल मूत्रसे भरा हुआ है। यदि बाहरकी खालका ऊपरका भाग निकाल डाला जावे, तो यह शरीर ऐसा घिनावना होजायगा कि आप ही अपने तनको न देख सकेगा तथा उसे काकादि व मक्खी आदि नोच २ कर खालेंगे। ऐसे नाशवत, गलनशील तथा महा अपवित्र शरीरमें राग करके आत्माका अहित न करना चाहिये। यह शरीर फिर न प्राप्त हो ऐसी मुक्तिका यत्न करना चाहिये। सारसमुच्चयमें कहा है:—

सर्वाशुचिमयं काये नश्वरे व्याधिपीड़िते। को हि विद्वान् रतिं गच्छेद्यस्याऽस्ति श्रुतसङ्गमः ॥ १५२ ॥

भावार्थ—यह शरीर पूर्णपने अपवित्र है, नश्वर है-रोग पीडित है, जो शास्त्रज्ञ है वह विद्वान् ऐसे शरीरमें किस तरह स्नेह करेगा ?

श्लोक—भोगं दुःखं अतीदुष्टं, अनर्थं अथलोपितं।
संसारे स्रवते जीवः, दारुणं दुःखभाजनं ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(भोगं) पांचों इन्द्रियोंके भोग (दुःखं) आकुलता रूप दुःखहीके कारण हैं, (अतीदुष्टं) अती दुष्ट स्वभाववाले हैं। (अनर्थं) जीवका बुरा करनेवाले हैं (अर्थलोपितं) आत्माके सच्चे कार्यको लोप करनेवाले हैं। इन्हींके कारण (संसारे) चार गतिरूप संसारमें (जीवः) यह जीव (दारुणं) भयानक (दुःखभाजनं) दुःखोंका पात्र होकर (स्रवते) भ्रमण किया करता है।

भावार्थ—पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त बुद्धि अज्ञानी जीवोंके होती है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि इन भोगोंके कारण प्राणीको आकुलतामई दुःख ही होता है। उनकी प्राप्तिके लिये दुःख, प्राप्त होनेपर भोगनेकी तृष्णारूप दुःख, भोगकर तृष्णा बढ़ानेका दुःख, भोग्य वस्तुओंके छूट जाने पर उनके वियोगका दुःख, इसतरह ये भोग रोगके समान दुःखरूप ही हैं, तथा ये अति दुष्ट स्वभावधारी हैं, जो इन भोगोंसे अधिक राग करते हैं वे भोगोंके लिये अन्याय कार्य करके-अन्यायसे धनादि सामग्री एकत्र करके महान पाप कर्म बांधते हैं। पापके फलसे घोर दुःख उठाते हैं, कभी २ अन्यायका फल राज्यदंडादि यहां भी पालेते हैं। जिससे प्रेम करो वही दुःखमें डाले यही दुष्टकी दुष्टता है। ये भोग तृप्ति तो देते नहीं, उल्टी तृष्णाकी दाह बढ़ाकर जीवको महान अनर्थ करते हैं तथा जो इनके मोहमें अंधा होजाता है वह अपने आत्माके कार्यको लोप कर देता है। वह कभी धर्ममें दिल नहीं लगाता है। उसे आत्माकी बात भी नहीं सुहाती है। वह मोक्षमार्गका साधन न करके मानव जन्मको विफल खोता है। इन भोगोंकी आसक्तिसे तीव्र कर्म बांधकर जीव निगोद, नर्क व एकेन्द्रियादि तिर्यंच पर्यायोंमें उत्पन्न होकर अति भयानक चिन्तवनमें न आवें ऐसे कष्टोंको भोगता है। सारसमुच्चयमें कहते हैं—

वरं हालाहलं भुक्तं विषं तद्भवनाशनं। न तु भोगविषं भुक्तमनन्तभवदुःखदं ॥ ७६ ॥

इन्द्रियप्रभवं सौख्यं सुखाभासं न तत्सुखं। तच्च कर्म विबन्धाय दुःखदानैकपण्डितम् ॥ ७७ ॥

भावार्थ—हालाहल विष खालेना अच्छा है, उससे इसी जन्मका नाश होगा, किन्तु इन्द्रियभोगोंकी आसक्तिरूप विषका सेवन ठीक नहीं, क्योंकि इससे अनन्त भवोंमें दुःख उठाना पड़ता है इन्द्रियोंके भोग द्वारा होनेवाला सुख सुखाभास है, सुखसा दिखता है वह सच्चा सुख नहीं है उससे तो ऐसा कर्मबंध होता है जो महान दुःखरूप फलता है, ऐसा विचारकर ज्ञानीको भोगोंसे वैराग्य रखना चाहिये।

संसारका कारण।

श्लोक—अनादी भ्रमते जीवः, संसारे सारवर्जिते।
मिथ्यात्त्रितय संपूर्ण, सम्यक्तं शुद्धलोपनं ॥१८॥

अन्वयार्थ—(सारवर्जिते) सार रहित असार (संसारे) संसारमें (अनादी) अनादि कालसे (जीवः) यह जीव (सम्यक्तं शुद्धलोपनं) शुद्ध सम्यग्दर्शनको लोप करनेवाले (मिथ्यात्त्रितय संपूर्ण) तीन प्रकार मिथ्यात्वसे भरा हुआ (भ्रमते) भ्रमण करता रहता है।

विशेषार्थ—ऊपर दिखाया है उसतरह यह संसार जो दुःखरूप है जिसमें क्षणिक व अशुचि शरीर प्राप्त होता है व जिसको इन्द्रियोंके भोग दुःखके कारण हैं, बिलकुल सार रहित है। अर्थात् इसमें रमण करनेसे कोई स्थिर सुख व शान्ति नहीं प्रा होती है। जैसे केलेके खम्भेको छीलनेसे पत्ता ही पत्ता मिलता है-सार अर्थात् गूदा नहीं मिलता है। चाहे कितनी भी गूदेके पानेकी आशा की जावे। उसी तरह इस संसारमें सर्वत्र आकुलता व क्लेश ही मिलता है, कहीं भी सुख शांति नहीं मिलती, चाहे कितनी भी सुख शांति पानेकी आशा की जावे। इस असार संसारमें अनादि कालसे यह जीव मिथ्यात्वके उदयसे भ्रमण कर रहा है। मिथ्यात्व कर्म सम्यक्तका विरोधी है। शुद्ध आत्मप्रतीति रूप सम्यग्दर्शनको मिथ्यात्वने छिपा रक्खा है। इस मिथ्यात्व रूपी दर्शनमोहके नशेमें यह प्राणी भूला हुआ सच्चे सुखको नहीं पहचान सक्ता, न अपने आत्माके असली स्वरूपको जानता है। भ्रमसे त्यागने योग्य संसारको ग्रहण करने योग्य मानता रहता है, विषयकी लालसासे दारुण कष्ट पाते हुए पड़ा रहता है। अनादिकालीन जीवके साथ तो एक मिथ्यात्वका ही संसर्ग है। परंतु जब किसी जीवको एक दफे उपशम सम्यग्दर्शन होजावे और फिर वह छूट जावे तब उसकी सत्तामें तीन प्रकारका मिथ्यात्व या दर्शनमोह हो जाता है-मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व, क्योंकि वे तीनों ही शुद्ध सम्यक्त या क्षायिक सम्यक्तके घातक हैं इसलिये ग्रंथकर्त्ताने सामान्यसे कह दिया है कि इन तीन शत्रुओंके कारण यह जीव सम्यक्तका प्रकाशन करके भ्रमण करता रहता है।

श्लोक—मिथ्यादेवं गुरुं धर्मं, मिथ्या माया विमोहितं ।
अनृतमचेतरागं न, संसारे भ्रमणं सदा ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यादेवं गुरुं धर्मं) मिथ्या देव, मिथ्या गुरु, मिथ्या धर्म, (मिथ्या) मिथ्यात्व भाव व (माया) मायाचार इन दोनोंसे (विमोहितं) अचेतपना, (अनृतं) मिथ्या वचन (अचेतरागं न) और अचेत अर्थात् जो चैतन्य नहीं है अनात्मा है उसमें रागभाव इनके कारण (सदा) अनादिसे अनंतकाल तक (संसारे) संसारमें (भ्रमणं) जीवोंका भ्रमण हुआ करता है।

विशेषार्थ—यहां बताया है कि इस संसारमें जीवोंके भ्रमण होने व कष्ट उठानेका क्या क्या मूल कारण है। धर्ममें प्रेरक सच्चे देव, गुरु, धर्म हैं वैसे ही अधर्ममें प्रेरक मिथ्या देव, गुरु, धर्म हैं। रागी, द्वेषी, संसार कार्योंमें आसक्त, जिनमें न सर्वज्ञपना है न वीतरागता है, वे सब ही मिथ्या देव हैं, विषय कषायोंकी पुष्टि करनेवाले व अपनेको महत मानके पुजानेवाले, भक्तोंके मन प्रसन्न रखनेवाले, आत्मज्ञान शून्य, आरम्भ परिग्रहमें लीन सर्व ही मिथ्या गुरु हैं। वीतराग विज्ञान या आत्मज्ञान और वैराग्यसे विरुद्ध रागद्वेष व हिंसा पोषक श्रद्धान ज्ञान आचरण सब मिथ्या धर्म है। इनकी श्रद्धा व भक्ति मोक्षमार्गसे दूर रखती है, इसी तरह अनादिसे चला आया हुआ अग्रहीत मिथ्यात्व भाव कि मैं पशु हूं, मनुष्य हूं, देव हूं, नारकी हूं, इत्यादि अहंकार भाव तथा मेरा तन है, मन है, मेरी स्त्री है, मेरे पुत्र हैं, मेरा राज्य है इत्यादि ममकार भाव संसारमें फंसानेवाले हैं। मायाचार भी जीवको अचेत रखता है। विषयभोगकी तृष्णामें फंसा हुआ जैसे मकड़ी जंतुओंको फंसानेके लिये जाल बनाता है इसी तरह रात दिन दूसरोंको ठगनेके लिये संसारी प्राणी मायाचार करते रहते हैं। माया उनकी प्रकृतिही होगई है। मिथ्यात्वभाव व मायाचारने परिणामोंको मूढ़ व मोही बना रक्खा है। अपना इष्ट प्रयोजन सिद्ध करनेको मिथ्यावचनोंका कहना व मिथ्या उपदेश देना, अपनेको व दूसरोंको गुमराह कराने वाला है। आत्माके शुद्ध स्वरूपके सिवाय जितना भी अचेत भाव या अनात्मभाव है अर्थात् अशुद्ध आत्मपरिणति, लोभ व मानकी पुष्टि, कामभाव, व्यवहार धर्म जैसे पूजा पाठ, जप, तप, गृही या साधुका धर्म इत्यादिमें राग अचेतराग है। आत्माके शुद्ध प्रेमसे बाहर है। ये सब कारण इस जीवको चार गति व संसारमें भ्रमण करानेवाले हैं।

श्लोक—अनृतं विनाशी चित्ते, असत्ये उत्साहं कृतं ।
अज्ञानी मिथ्या सहियं, शुद्धबुद्धं न चिंतए ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(अनृतं) मिथ्या वचन या मिथ्या उपदेश (चित्ते) चित्तमें भरा हुआ (विनाशी) आत्माका घात करने वाला ह । इससे (असत्ये) मिथ्या मार्गमें (उत्साहं कृतं) उत्साह होजाता है । (मिथ्या सहियं) मिथ्या धर्मको रखन वाला (अज्ञानी) ज्ञान शून्य प्राणी (शुद्धबुद्धं) शुद्ध बुद्ध परमात्माको (न चिंतए) नहीं चिन्तवन करता है ।

विशेषार्थ—मिथ्यादेवके आश्रयसे व मिथ्या गुरुके द्वारा जो मिथ्यात्वका उपदेश मनमें भर जाता है वह उपदेश आत्माके भावोंको ऐसा विपरीत बना देता है जिससे उसका संसार बढ़ता जाता है, वह आत्मज्ञानको न पाता हुआ आत्माको राग द्वेष मोहमें फंसाए रखता है जिससे आत्माका बहुत बुरा होता है । वह भवभवमें भटककर जन्म जरा मरणकी घोर वेदनाएं सहन करता है । जो उपदेश यथार्थ आत्माको बताकर रागद्वेष मोह छुड़ानेवाला व आत्माके शुद्ध स्वभावकी तरफ ले जानेवाला हो तथा अहिंसाकी तरफ प्रेरक हो वह तो सत्य है, इसके विरुद्ध जो कुछ उपदेश है वह असत्य है । वस्तु कथंचित् नित्य कथंचित् अनित्य, कथंचित् अभेद कथंचित् भेद इत्यादि अनेक रूप है । वस्तु सदा स्वभावको न त्यागनेकी अपेक्षा नित्य है । सदा परिणमनशील होनेकी अपेक्षा अनित्य है । दोनों ही स्वभाव वस्तुमें हैं । वस्तु अपने गुण व पर्यायोंका अखण्ड पिंड है इससे अभेद है । गुणोंकी व पर्यायोंकी भिन्नताकी अपेक्षा भेद रूप है । इस तरह यथार्थ वस्तुको बतानेवाला उपदेश सत्य है । इसके सिवाय एक ही पक्षका आग्रह करनेवाला उपदेश असत्य है । मिथ्यात्व पांच तरहका है इन पांचों तरहके मिथ्यात्वका पोषक सर्व उपदेश व वचन असत्य है ।

(१) एकांत मिथ्यात्व—अनेक स्वभाव वस्तुमें होते हुए भी उसे एक स्वभाव रूप ही मान बैठना कि वस्तु नित्य ही ह अथवा अनित्य ही है इत्यादि ।

(२) विपरीत मिथ्यात्व—वस्तुका स्वरूप उलटा मान लेना जैसे-हिंसा करनेमें, पशुबलिमें, विषय कषाय पोखनेमें जो अधर्म है उसमें धर्म मान लेना ।

(३) संशय मिथ्यात्व—पदार्थ कैसा है उसका निर्णय न करके शंकाशील रहना कि आत्मा है या नहीं, परलोक है या नहीं, पुण्य पाप है या नहीं।

(४) विनय मिथ्यात्व—सत्य असत्यकी परीक्षा न करके सर्व ही देवोंकी, सर्व ही गुरुओंकी, सर्व ही धर्मोंकी भक्तिमें भाव रखना। मूढतासे यह समझना कि हम सबको मानेंगे इससे हमारा हित होगा। मूढ़ भक्तिको ही हित मानना।

(५) अज्ञान मिथ्यात्व—धर्मको जाननेका उत्साह न रखके मूर्ख रहना व देखादेखी बिना समझे हुए किसी भी क्रियाको करते हुए धर्म मान लेना।

इन पांच तरहके मिथ्यात्वोंका पोषक वचन सर्व आत्माका घातक है। इनहीके कारण असत्य मार्गमें शिष्योंका उत्साह बढ़ जाता है। वे विचारे मिथ्यात्व सहित होकर सम्यग्ज्ञानको न पाते हुए अज्ञानी रहते हैं उनको कभी यह चिंतवन नहीं होता कि मैं तो वास्तवमें शुद्ध बुद्ध स्वभाव हूं, मैं ज्ञाता दृष्टा वीतराग हूं। तथा कर्ममैलसे मैं अशुद्ध होरहा हू। परमात्मा कर्म मैल रहित शुद्ध बुद्ध परम आनंदमई हैं। मुझे भी अपने आत्माको ऐसा ही विश्वासमें लाकर अंतरात्मा होना चाहिये और परमात्माका आराधन करके परमात्मा होजाना चाहिये। यह बुद्धि विपरीत कारणोंके होनेसे नहीं जगती है।

श्लोक—मिथ्यादर्शनं ज्ञानं, चरनं मिथ्या उच्यते।
अनृतं रागसंपूर्ण, संसारे दुःखबीजकं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(रागसंपूर्ण) संसारके रागसे भरा हुआ (अनृतं) मिथ्या भाव (मिथ्यादर्शनं ज्ञानं) मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान तथा (मिथ्याचरनं) मिथ्या चारित्र (उच्यते) कहा जाता है। ये ही (संसारे) संसारमें (दुःखबीजकं) दुःखोंके उत्पन्न करनेवाले बीज हैं।

विशेषार्थ—संसार असार है, शरीर अपवित्र है, इन्द्रियोंके भोग अतृप्तिकारी व नाशवंत हैं। इनमें वैराग्यभावको न लाकर असर इनहीमें राग होना सो राग संपूर्ण मिथ्याभाव है। विषयभोगोंके लालचसे आत्माके आनन्द देनेवाले धर्मकी श्रद्धा न करके उससे उल्टे धर्मकी श्रद्धा करना मिथ्यादर्शन है।

इस मिथ्यादर्शनकी संगतिमें जितना भी ज्ञान होता है वह सब ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यदि कोई ग्यारा अंग नौ पूर्वका पाठी बड़ा भारी जैन शास्त्रका ज्ञाता भी हो परंतु अंतरंगमें मिथ्यादर्शन हो, भोगोंकी तरफ आस्था हो, वीतरागता पूर्व शुद्ध-आत्मीक भावकी रुचि न हो तो उसका सर्व ज्ञान वस्तुस्वभावको शास्त्रके आश्रयसे (अनुभवसे नहीं) ठीक बताने पर भी उसके लिये मिथ्याज्ञान ही होरहा है। जैसे दूध लाभकारी मीठा होता है परंतु यदि कड़वी तुंबीमें रख दिया जाय तो अहितकारी होजाता है उसी तरह वह ज्ञान मिथ्यात्वकी संगतिमें मिथ्याज्ञान ही कहा जाता है। संसार वर्द्धक विषयभोगोंकी अंतरंग तृष्णावश आत्मज्ञान व वैराग्य शून्य जो कुछ भी साधु व गृहस्थका धर्माचरण है-तप, जप, व्रत है वह सब मिथ्या चारित्र है। ये ही तीन घोर पाप कर्मके बंधके कारण हैं। उनहीसे जीव एकेन्द्रियादिमें जन्म लेकर अज्ञानतममें बेखबर सोया पड़ा रहता है। चारों गतियोंमें भ्रमण करानेके ये ही तीन मूल बीज हैं। जन्म, मरण, रोग, शोक, वियोग आदि दुःखोंके ये ही कारण हैं। सच है जिसके साथ प्रीति होगी उसीका संसर्ग रहेगा। संसारकी प्रीति ससार वर्द्धक है। संसारसे वैराग्य संसार नाशक है।

समाधिशतकमें पूज्यपादस्वामी कहते हैं—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना। बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

भावार्थ—इस शरीरमें आत्माकी भावना ही वारवार शरीर पानेका बीज है। जब कि आत्मामें ही आत्माकी भावना देह रहित होनेका बीज है।

संसारके कारण ये ही तीन हैं। स्वामी समंतभद्राचार्यने रत्नकरंडश्रावकाचारमें कहा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः, यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको धर्मके स्वामियोंने धर्म कहा है। इनके विपरीत मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान व मिथ्याचारित्र संसारकी परिपाटी बढ़ानेवाले हैं।

मिथ्यात्वका स्वरूप ।

श्लोक—मिथ्या संयमं हृदये, चित्ते मिथ्या तप सदा ।
अनंतानंत संसारे, भ्रमते नादिकालिय ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(हृदये) मनमें (मिथ्यासंयमं) मिथ्यात्व सहित संयमका पालना (चित्ते) चित्तमें (मिथ्या तप) मिथ्यात्व सहित तपका आचरना (सदा) सदा ही (अनादिकालियं) अनादिकालसे (अनंतानंतसंसारे) इस अपार अनंतानंत संसारमें (भ्रमते) भ्रमण कराने वाले हैं।

विशेषार्थ—मिथ्या चारित्रके भीतर मिथ्या संयम व मिथ्या तप भी गर्भित हैं। तथापि शिष्योंको विशेष बोध होनेके लिये अलग कहा गया है। सयम महाव्रत और अणुव्रत रूपसे दो प्रकार है। अहिंसादि पांचों व्रतोंको पूर्ण पालना महाव्रत है। इसको आचरनेवाले साधु होते हैं। इनहीको अपूर्ण अपनी शक्तिके अनुसार पालना अणुव्रत है। तथा संयमके इंद्रिय संयम व प्राण सयम ऐसे दो भेद भी हैं। स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोंको व मनको वश रखना इन्द्रिय संयम है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस इस छः प्रकारके संसारी जीवोंकी रक्षा करना प्राणि संयम है। बारह प्रकारका तप है-छः बाहरी, छः अंतरंग। १ उपवास, २ ऊनोदर, ३ भिक्षाको जाते हुए प्रतिज्ञा-वृत्तिपरिसंख्या, ४ रस त्याग, ५ विविक्तशय्यासन=एकांतमें शयन व आसन रखना, ६ कायक्लेश अर्थात् शरीरका सुखियापना मिटानको कठिन २ तप करना, ये छः बाहरी तप हैं। १ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैय्यावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग (ममता त्याग), ६ ध्यान, ये ६ अंतर तप हैं। जो कोई साधु साधुका संयम पाले, बारह प्रकारका तप तपे अथवा श्रावक अपने योग्य संयम पाले व यथाशक्ति तप तपे परंतु चित्तमें सम्यक्त न हो मिथ्यात्व हो तो वह सब सयम मिथ्या सयम है व सब तप मिथ्या तप है। यदि अभिप्राय आत्मशुद्धिका है तब तो संयम व तप सम्यक्त सहित होनेसे यथार्थ हैं। यदि अभिप्राय किसी प्रकारकी आशाका है; ख्याति, लाभ, पूजा, बड़ाईकी चाह है, स्वर्गादि सम्पदा चक्रवर्ती आदिके क्षणिक सुख पानेकी अभिलाषा है तो बाहरसे ठीक पाला हुआ भी संयम व तप मिथ्या संयम व तप है। मिथ्यात्वके विना त्यागे संयम व तप

जिसके वशीभूत हो यह प्राणी ऐसा अंधा होजाता है कि अपने प्रियजनोंको भी प्राण रहित करनेको तय्यार होजाता है। दूसरेका सर्वस्व नाश किये विना चैन नहीं पाता है। घोर हिंसामें प्रवृत्ति कर बैठता है। क्रोधकी आगसे दीर्घकालसे पाला हुआ धर्म नष्ट होजाता है। द्वीपायन मुनिने क्रोधके आवेशमें द्वारकाको भस्म करके अपने आपके धर्मका भी विनाश किया। वैरी द्वारा कष्ट दिये जाने पर जो साधु क्रोधकी अग्नि भड़का लेते हैं वे धर्मको जला बैठते हैं। क्रोधके आवेशमें बड़ा भारी क्लेश होता है, मन क्लेशित व मैला होजाता है, वचन कठोर व अविचार पूर्ण निकलते हैं, काय कांपने लग जाती है, शरीरका रुधिर सूखने लगता है, परका घात करते हुए व अपना अपघात करते हुए भी नहीं रुकता है, शास्त्रज्ञानको भूल जाता है, ज्ञानका लाभ, ध्यानका उद्योग नहीं कर सक्ता है, आत्माको तीव्र कर्मबंधसे जकड़ता है, दीर्घकालसे पालन पोषण किया हुआ धर्मवृक्ष क्रोधकी आगसे क्षणमात्रमें भस्म होजाता है। अमितगति महाराज कहीं कहते हैं—

वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति, रूपं विरूपयति निन्द्यमतिं तनोति।
दौर्भाग्य मानयति शातयते च कीर्ति, रोषोऽत्र रोषसदृशो नहि शत्रुरस्ति॥

भावार्थ—यह क्रोध वैरको बढ़ा देता है, मित्रताको नाश कर देता है, शरीरके रूपको बिगाड़ देता है, बुद्धिको निंदनीय व हिंसक बना देता है, दुर्भाग्य या पापको लाकर खड़ा कर देता है, यशको मिटा देता है। यहां क्रोधके समान कोई शत्रु नहीं है।

श्लोक—मानं च अनृते रागं, माया विनाश दृष्टते।
अशाश्वतं भावं वृद्धिः, अधर्मं नरयं पतं॥ २६॥

अन्वयार्थ—(अनृते) मिथ्या अवस्थाओंमें (रागं) राग करना (मानं) मान होनेका (माया) व मायाचार होनेका कारण है। इन दोनों कषायोंसे (विनाश) आत्माका नाश (दृष्टते) दिखलाई पड़ता है। (अशास्वतं भावं) पर्याय बुद्धिक क्षणिक भाव (वृद्धिः) बढ़ता जाता है (अधर्मं) अधर्म होता है (नरयं पतं) व नरकमें पतन होता है।

विशेषार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपके सिवाय शेष सर्व पर्यायें नर पशु देव नारक सम्बन्धी अंत-

साधन करते हुए भी यह जीव अनादिकालसे अनंत संसार करता चला आरहा है व संसार अनंत-काल तक करता रहेगा। सम्यक्‌दर्शनके विना संसारका क्लेश मिट नहीं सक्ता।

श्लोक—मिथ्यात्व दुष्टसंगेन, कषाये रमते सदा।
लोभं क्रोधं मयं मानं, गृहीतानंत बंधनं ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्व दुष्टसंगेन) मिथ्यादर्शन रूपी दुष्ट वैरीकी संगतिसे यह जीव (सदा) सदा (कषाये) कषायके भीतर (रमते) रंजायमान होता है। वे कषायें (गृहीतानंत बंधनं) अनंतकाल तक बंधकी परम्परा चलाने वाली अथवा मिथ्यात्वके बंधनको पकड़े रहने वाली चार हैं (लोभं क्रोधं मयं मानं) क्रोध, मान, माया और लोभ।

विशेषार्थ—मिथ्यादर्शन जीवका महान वैरी है। इसकी संगतिसे यह संसारी जीव कषायके उदयमें तन्मय होकर रंजायमान होजाता है। क्रोधके उदयमें मैं क्रोधी, मानके उदयमें मैं मानी, मायाके उदयमें मैं मायावी, लोभके उदयमें मैं लोभी ऐसा मानता रहता है कभी भी उसके भीतर यह बुद्धि नहीं होती है कि ये कषाय मेरा स्वभाव नहीं हैं, यह कर्मकृत विकार है, या रोग है इसका प्रसंग त्यागने योग्य है क्योंकि उस अज्ञानीको अपने शुद्ध आत्मद्रव्यकी बिलकुल खबर नहीं है। रमनेका भाव यही है कि जब जिस कषायका जोर होता है तब उसीके अनुसार कार्य भी करने लग जाता है। क्रोधके कारण वैर बांधकर दूसरेकी बुराई करनेमें ही हर्ष मानता है। मानके कारण अपनी महत्ता प्रगट करनेमें व दूसरोंको नीचा दीखानेमें ही राजी रहता है। मायाके कारण अपने विश्वासपात्र मित्रोंको भी ठग लेता है। लोभके वशीभूत हो न्याय अन्यायका विचार छोड़कर धन एकत्र करता है। इंद्रियोंकी भोग सामग्री जमा करता है। अंधा हो भोग लिप्त होजाता है। मांसाहारमें, मदिरापानमें तन्मय रहता है, शिकार खेलनेमें हर्ष मानता है, चोरी, ठगाई, लूटपाट करके अपनी चतुराई मानता है, जूआ रमणकर कभी हर्ष कभी विषाद करता है, हार जीतके मदमें धर्म कर्म भूल जाता है, स्वच्छन्द हो वेश्यागामी व परस्त्री रत होजाता है। मिथ्यादृष्टीके अनंतानु-बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका उदय प्रायः सदा ही रहता है। ये कषायें जो अनंत मिथ्यात्व

उसको पुष्ट करनेवाली हैं व उसके पीछे२ रहनेवाली हैं तथा ऐसा कर्मका बंध करानेवाली हैं जिससे बंधकी परम्परा दीर्घकाल तक चली जावे, कठिनतासे छूटे। ये अनंतानुबंधी कषायें जीवको अन्यायसे ग्लानि मिटा देती हैं। ये सम्यक्‌दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र दोनोंको घात करनेवाली हैं। यद्यपि सासादन गुणस्थानमें मिथ्यात्वका साथ कुछ देरके लिये नहीं रहता है परंतु ये कषायें तुरत मिथ्यात्वको बुला लेती हैं। सम्यक्तसे गिरते हुए अधिकसे अधिक छः आवली कालतक ही सासादन गुणस्थान रहता है फिर तुर्त मिथ्यात्व गुणस्थान मिथ्यात्वके उदयसे आजाता है कभी अनंतानुबंधीको अन्य कषायरूप करनेवाला अर्थात् विसंयोजन करनेवाला जीव ग्यारम गुणस्थान तक चढ़के यदि मिथ्यात्वमें आता है तो एक आवली तक अनंतानुबंधीका साथ नहीं रहता है, मिथ्यात्व अकेला ही उदयमें रहता है परंतु आवली पीछे उदय होने लगता है। इसलिये ये कषाय मिथ्यात्वको साथी बना लेते हैं। या मिथ्यात्व इनको अपना साथी बना लेता है। सम्यक्तभाव पानेके लिये इन कषायोंका मिथ्यात्वके साथ दमन करना जरूरी है।

कषायोंका स्वरूप।

श्लोक—लोभं कृतं अशुद्धस्य, शाश्वतं दृष्टते सदा।
अनृते कृत आनंदं, अधर्म सारभंजनं ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(लोभं कृतं) लोभको करनेवाला जीव (सदा) सदा (अशुद्धस्य) अशुद्ध भाव या पर्यायको (शाश्वतं) नित्य रहनेवाली (दृष्टते) देखता है। (अनृते) मिथ्या मन वचन कायकी प्रवृत्तिमें (कृत आनंदं) आनन्द मानता रहता है (अधर्मं) यह लोभ अधर्म है-पाप है (सारभंजनं) सार जो आत्मधर्म है उसको खंडन करनेवाला है।

विशेषार्थ—यहां अनन्तानुबन्धी लोभका स्वरूप बताया है। इस लोभके उदयसे यह प्राणी जो अशुद्ध क्षणभंगुर पर्याय है उसके लिये मानता है कि सदा बनी रहे। जीतव्य, यौवन, धन, स्त्री, पुत्र, बल, रूप, अधिकार, इंद्रिय भोग इत्यादि अशुद्ध कर्मजनित संयोगोंको तथा अशुद्ध राग-

भावको, कामभावको-विषयलम्पटताको, मानभावको-अपनी प्रतिष्ठाको इत्यादि सर्व ही अशुद्ध भावोंको नित्य रखना चाहता है। ये अनित्य हैं ऐसी समझको भूल जाता है। तथा मिथ्यात्वके उदयसे जो मन वचन कायकी मिथ्या प्रवृत्ति करता है जैसे मिथ्यादेवोंकी आराधना, मिथ्यागुरुकी सेवा, मिथ्याधर्मका पालन, हिंसादि विशेष आरंभकी प्रवृत्ति, युद्धादि क्रिया, परका बिगाड़, परिग्रह संचन, परको ठगना, परस्त्री भोग, अभक्ष्य भक्षण आदि। उनमें आनन्द मानता रहता है। वास्तवमें यह लोभ महान अधर्म है। सर्व ही पापोंका यही मूल कारण है। राज्यके लोभमें पुत्र पिता तकका घात कर डालता है। इंद्रियविषयके लोभसे घोर पापोंकी प्रवृत्तिमें फंस जाता है। यह लोभ ही सार जो धर्म है व सार जो आत्मीक सुख है उसको नाश करता है। एक शास्त्रज्ञाता भी आत्महितको समझता हुआ भी गृहस्थीके लोभमें पड़ा हुआ संयमको गृहण नहीं कर पाता है। लोभके समान कोई वैरी नहीं है। श्री अमितगति आचार्य सुभाषित रत्नसंदोहमें कहते हैं-

दुःखानि यानि नरकेष्वतिदुःसहानि, तिर्यक्षु यानि मनुजेष्वमरेषु यानि।
सर्वाणि तानि मनुजस्य भवन्ति लोभा, दित्याकलय्य विनिहन्ति तमत्र धन्यः ॥ ८० ॥

भावार्थ—नरकमें जो अति दुःसह दुःख होते हैं व तिर्यंचोंमें, मानवोंमें व देवोंमें जो जो कष्ट होते हैं वे सब लोभ कषायके कारण होते हैं ऐसा समझकर जो लोभको मारता है वही धन्य है।

श्लोक—कोहाग्निः जलते जीवः, मिथ्यात्त्वं घृत तेलयं।
कोहाग्नि कोपनं कृत्वा, धर्मरत्नं च दग्धये ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(कोहाग्निः) क्रोधकी आग (जीवः जलते) जब जीवके भीतर जल उठती है तब (मिथ्यात्वं) मिथ्यात्व भाव (घृत तेलयं) घी और तेलके समान पड़कर (कोहाग्नि कोपनं कृत्वा) क्रोधकी अग्निको बढ़ा देता है तब यह क्रोधकी आग (धर्मरत्नं च) धर्मरूपी रत्नको भी (दग्धये) जला देती है।

विशेषार्थ—यहां अनंतानुबंधी क्रोधका स्वरूप बताया है। यह क्रोध जब उदय हो उठता है तब मिथ्यात्वका भाव उस क्रोधकी आगको भड़कानेके लिये घृत या तेलका काम करता है। जैसे आगपर घी या तेल डालनेसे आग बढ़ जाती है ऐसे ही मिथ्यात्वभाव क्रोधको प्रबल कर देता है

जिसके वशीभूत हो यह प्राणी ऐसा अंधा होजाता है कि अपने प्रियजनोंको भी प्राण रहित करनेको तय्यार होजाता है। दूसरेका सर्वस्व नाश किये विना चैन नहीं पाता है। घोर हिंसामें प्रवृत्ति कर बैठता है। क्रोधकी आगसे दीर्घकालसे पाला हुआ धर्म नष्ट होजाता है। द्वीपायन मुनिने क्रोधके आवेशमें द्वारकाको भस्म करके अपने आपके धर्मका भी विनाश किया। बैरी द्वारा कष्ट दिये जाने पर जो साधु क्रोधकी अग्नि भड़का लेते हैं वे धर्मको जला बैठते हैं। क्रोधके आवेशमें बड़ा भारी क्लेश होता है, मन क्लेशित व मैला होजाता है, वचन कठोर व अविचार पूर्ण निकलते हैं, काय कांपने लग जाती है, शरीरका रुधिर सूखने लगता है, परका घात करते हुए व अपना अपघात करते हुए भी नहीं रुकता है, शास्त्रज्ञानको भूल जाता है, ज्ञानका लाभ, ध्यानका उद्योग नहीं कर सक्ता है, आत्माको तीव्र कर्मबंधसे जकड़ता है, दीर्घकालसे पालन पोषण किया हुआ धर्मवृक्ष क्रोधकी आगसे क्षणमात्रमें भस्म होजाता है। अमितगति महाराज कहीं कहते हैं—

वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति, रूपं विरूपयति निन्द्यमतिं तनोति।
दौर्भाग्य मानयति शातयते च कीर्ति, रोषोऽत्र रोषसदृशो नहि शत्रुरस्ति॥

भावार्थ—यह क्रोध वैरको बढ़ा देता है, मित्रताको नाश कर देता है, शरीरके रूपको बिगाड़ देता है, बुद्धिको निंदनीय व हिंसक बना देता है, दुर्भाग्य या पापको लाकर खड़ा कर देता है, यशको मिटा देता है। यहां क्रोधके समान कोई शत्रु नहीं है।

श्लोक—मानं च अनृते रागं, माया विनाश दृष्टते।
अशाश्वतं भावं वृद्धिः, अधर्मं नरयं पतं॥ २६॥

अन्वयार्थ—(अनृते) मिथ्या अवस्थाओंमें (रागं) राग करना (मानं) मान होनेका (माया) व मायाचार होनेका कारण है। इन दोनों कषायोंसे (विनाश) आत्माका नाश (दृष्टते) दिखलाई पड़ता है। (अशास्वतं भावं) पर्याय बुद्धिक क्षणिक भाव (वृद्धिः) बढ़ता जाता है (अधर्मं) अधर्म होता है (नरयं पतं) व नरकमें पतन होता है।

विशेषार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपके सिवाय शेष सर्व पर्यायें नर पशु देव नारक सम्बन्धी अंत-

रंग और बहिरंग मिथ्या हैं, स्वप्नसम हैं, परिवर्तनशील हैं, अज्ञानी जीवोंका उनहीमें राग होता है, वे राज्य, धन, कुटुम्ब, अधिकार, भोगादिके तीव्र अभिलाषी होते हैं। इन पदार्थोंके स्वामित्वमें उनको अभिमान होता है। वे दूसरोंको तुच्छ दृष्टिसे देखते हैं तथा इनहीके बढ़ाने, प्राप्त करने, रक्षा करने आदिके लिये ही उनको मायाचार करना पड़ता है। अनेक प्रकार प्रपंच रचकर दूसरोंको ठगनेमें प्रवृत्त होना पड़ता है। ये कषायें आत्माके भावोंका ऐसा बिगाड़ कर देती हैं कि उसके भीतर पर्याय बुद्धिका भाव बढ़ता जाता है। जो पदार्थ नित्य नहीं रहनेवाले हैं उनको नित्य बनाए रखनेका रागभाव बढ़ता जाता है। वृद्ध होनेपर भी उनसे ममता नहीं छूटनी है। अनित्य पदार्थोंमें इस तरह मोह करनेसे धर्मको भूल जाता है, अधर्ममें रत होजाता है, अन्याय कार्य करने लग जाता है। जिससे तीव्र कर्म बांधकर नरकमें पतन होजाता है। इन दोनों कषायोंका दृष्टांत रावणका जीवन है। रावणने मायाचारसे सती सीताको हरण किया। उत्तम राग करके अनेक प्रपंच किये। अहंकार करके रामचंद्रसे युद्ध किया। फल यह हुआ कि वह नर्क चला गया।

सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है—

नीतिं निरस्यति विनीतिमपाकरोति। कीर्तिं शशांकधवलां मलिनी करोति ॥
मान्यान्न मानयति मानवशेन हीनः। प्राणीति मानमपहन्ति महानुभावः ॥ ४४ ॥

भावार्थ—हीन बुद्धिधारी प्राणी मानके वशमें पड़कर नीतिको तोड़ देता है, अनीतिको पुष्ट करता है, चंद्रमा समान निर्मल यशको मेला कर देता है, मान्य महापुरुषोंको भी नहीं मानता है। ऐसा जानकर महान पुरुष मान नहीं करते हैं।

शीलव्रतो यम तपः, शम संयुतोऽपि। नात्राश्नुते निकृति शल्यधरो मनुष्यः ॥
आत्यन्तिकीं श्रियमवाध सुखस्वरूपां। शल्यान्वितो विविध धान्य धनेश्वरो वा ॥ ९८ ॥

भावार्थ—शील, व्रत, उद्यम, तप, शांतभावसे संयुक्त होनेपर भी मायाचारी मानव इस जगतमें बाधा रहित मोक्षका आनन्द नहीं भोग सक्ता है उसी तरह जिसतरह नानाप्रकार धन धान्यसे पूरित मानव कांटा लगनेपर दुःखी रहता है।

तीन मूढ़ताका स्वरूप ।

श्लोक—मिथ्या मायादि संपूर्णः, लोकमूढ़रतो सदा ।
लोकमूढ़स्य जीवस्य, संसारे भ्रमनं सदा ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यामायादि सम्पूर्णः) मिथ्या पर्यायोंके सम्बन्धसे या मिथ्यात्वके उदयके साथ २ जो माया, मान, क्रोध, लोभ, कषाय होते हैं उनसे पूर्ण यह जीव (सदा लोकमूढ़रतः) सदा जगत सम्बन्धी मूढ़ता या मोहमें रत रहा करता है । (लोकमूढ़स्य जीवस्य) लोककी मूढ़तामें फंसे हुए जीवका (सदा) हमेशा ही (संसारे) इस संसारमें (भ्रमनं) भ्रमन रहता है ।

विशेषार्थ—मिथ्यात्वके साथ होनेवाले अनंतानुबन्धी कषायोंके साथ यह जीव जगतकी विनाशीक पर्यायोंमें रागी द्वेषी मोही होता हुआ लोकमें मूढ़ बना रहता है । जो आत्महितके कार्य हैं उनसे विमुख रहता है, संसार वर्द्धक कार्योंमें लवलीन रहता है । धर्मकी वृद्धि व सच्चे परोपकारमें धन नहीं खरचता है । नामवरीके लिये व विषय कषायकी पुष्टिके लिये धनको बहुत जल्द खरचता है । अध्यात्म विषयसे रुचि न करके अन्य कथाओंमें फंसा रहता है । ऐसा मूर्ख मोही प्राणी अनंतानुबंधी और मिथ्यात्वके कारण चारों गतिमें भ्रमण कराने वाले कर्मोंको बांधकर लेश्याके अनुसार नीची ऊंची गतिमें जाकर हरएक शरीरमें इन्द्रियोंकी इच्छाओंमें फंसा हुआ घोर कष्ट उठाया करता है । जबतक इस मूढ़ताको न छोड़े तबतक संसारसे पार होनेका मार्ग नहीं मिलता है । यही मोही जीव लोकमूढ़तामें भी फंस जाता है । लोगोंकी देखादेखी अधर्मको धर्म मानकर सेवन करने लगता है और उससे लौकिक लाभकी कामना करता है ।

लोकमूढ़ताका स्वरूप रत्नकरंडश्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् । गिरिपातोग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

भावार्थ—धर्म समझकर नदी या समुद्रमें स्नान करना, वालू पाषाण आदिका ढेर करना, पर्वतसे गिरना, अग्निमें जलकर मरना लोकमूढ़ता कही जाती है । जो विधवा स्त्री पतिके साथ आगमें जलकर पतिव्रत धर्म मानती है वह भी लोकमूढ़ता ही है । यदि वृथा प्राण न देकर पतिके

गुणोंको स्मरण करते हुए धर्म, समाज व जातिकी सेवा करे। संतोषसे ब्रह्मचर्य व्रत पाले तो उसका सतीपन यथार्थ है। जिन लौकिक क्रियाओंसे कोई वीतराग आत्मा सम्बन्धी भावोंका स्मरण न हों वे सब लोकमूढ़तामें गर्भित हैं।

श्लोक—लोकमूढ़रतो येन, देवमूढस्य दिष्टते ।

पाषंडी मूढ़संगेन, निगोयं पतितं पुनः ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(लोक मूढ़ रतः) जो लोकमूढ़तामें फंसा हुआ जीव है (येन) उसके (देवमुढस्य) देव मूढ़ता (दिष्टते) दिखलाई पड़ती है (पुनः) तथा (पाषंडी मूढ़संगेन) पाषंडी मूढ़ताके संगसे (निगोयं) निगोदमें (पतनं) वह जीव गिर जाता है।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टीके तीन मूढ़ता पाई जाती है। वह मूढ़तासे किसी लौकिक आशाके कारण रागी द्वेषी देवोंको पूजने लग जाता है तथा जो साधु सचे साधु नहीं हैं उनकी मान्यता करने लग जाता है। तीव्र कषायके कारण वह निगोदमें चला जाता है। पंचेन्द्रियसे एकेन्द्री साधारण वनस्पतिमें जाकर जन्म लेलेता है। इसीको निगोदमें जन्म लेना कहते हैं, जहां ज्ञान बहुत अधिक ढका हुआ होता है। उस निगोदसे निकलना फिर अनंतकालमें दुर्लभ होजाता है। जो मूर्खता करे वह ज्ञानको बिगाड़कर अज्ञानी होजावे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यहां यह दिखलाया है कि हे भव्य पुरुषों! यदि वृक्षादिकी पराधीन पर्यायोंमें जानेसे बचना हो तो लोक मूढ़ताके साथ२ देवमूढता व पाखंडि मूढताको भी त्यागो। इनका स्वरूप रत्नकरण्डमें ऐसा कहा है—

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसाः । देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

भावार्थ—सांसारिक सुखकी आशा करके किसी वर पानेकी इच्छासे राग द्वेषसे मलीन देवताओंकी जो पूजा करता है वह देवमूढता कही जाती है। वीतराग सर्वज्ञ अरहंत और सिद्ध भगवानके सिवाय और सर्व ही सराग व अल्पज्ञ हैं उनको पूज्यनीय मानकर इस भावसे भक्ति करना कि ये देवी देवता प्रसन्न होकर हमारा इच्छित काम कर देंगे, देवमूढ़ता है। आत्मसिद्धिके लिये व अपने आत्माके भावोंको शुद्ध करनेके लिये कोई भी बुद्धिमान रागी द्वेषी देवी देवताओंकी उपासना

नहीं करता है। जो कुछ भी पूजा पाठ इनका लोकमें देखा जाता है वह सब लौकिक आशासे ही देखा जाता है। कोई धनकी, कोई पुत्रकी, कोई अधिकारकी, कोई जय पानेकी इत्यादि भिन्न २ इच्छाओंके वशीभूत हो मूढ़ लोग ऐसी मानता मांगते हैं कि यदि हमारा काम सिद्ध होजावेगा तो हम यह चढ़ावेंगे या इस तरह भक्ति करेंगे। कदाचित् अपने पुण्यके उदयसे कार्य सिद्ध होजाता है तो यह अज्ञानी ऐसा मान लेता है कि देवी देवताकी कृपासे ही मेरा काम हुआ है, बस, उसकी देवमूढता और बढ जाती है। वह और अधिक कुदेवोंका भक्त बन जाता है। सम्यक्तीको न तो लौकिक कार्योंकी इच्छा ही होती है और न वह इस इच्छासे किसी रागी द्वेषी देव देवीकी पूजा भक्ति करता है। जो अपना कल्याण चाहे उसको कभी भी रागी द्वेषी देवोंकी उपासना न करनी चाहिये। यदि कदाचित् कोई इन्द्र धरणेन्द्र यक्ष-यक्षिणी आदि साक्षात् सामने आजावें तो सम्यक्ती जीव उनके साथ वैसा ही योग्य वर्ताव करेगा जैसा साधर्मी मानवोंके साथ करता है। जितने इन्द्रादि देव देवी होते हैं, वे चौथे गुणस्थानसे अधिक नहीं चढ़ सक्ते। इसलिये उनके साथ वही वर्ताव करना उचित होगा जो चौथे गुणस्थान सम्बन्धी श्रद्धावान मानवके साथ होगा। यथायोग्य आसन दान आदि करेगा उनको उस तरह कभी पूजेगा नहीं जिस तरह श्री वीतराग भगवानकी पूजा उपासना की जाती है। रागी द्वेषी देवोंकी मूर्ति बनाकर पूजना बिलकुल देवमूढ़ता है। ऐसी मूढ़तासे वह मूढ़ प्राणी वीतराग देवकी उपासनामें शिथिल होजाता है।

पाषंडी मूढताका स्वरूप रत्नकरंडमें कहा है—

सग्रन्थारंभहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्, पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥ २४ ॥

भावार्थ—परिग्रह आरंभ तथा हिंसा कर्ममें लीन संसारके भंवरमें घूमनेवाले भेषी साधुओंकी पूजा व भक्ति करना पाषण्ड मूढता जानना चाहिये। निर्ग्रंथ दिगम्बर जैन साधुके सिवाय अन्य परिग्रह सहित साधुओंकी भक्ति करना मूढता है। मोक्षमार्गमें सहकारी निर्ग्रंथ आत्मरमी जैन साधु है उनहीकी भक्ति मुमुक्षु जीवको करनी चाहिये। व किसी भी प्रयोजनसे उनके सिवाय अन्य आरंभी परिग्रहवान साधुओंकी भक्ति न करनी चाहिये। ये तीन मूढताएं जीवको निगोदमें डालनेवाली हैं।

सम्यक्तके २५ दोष।

श्लोक—अनायतन मदाष्टं च, शंकादि अष्ट दूषनं।
मलं संपूर्ण जानंतं, सेवनं दुःखदारुणं ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(अनायतन) छः अनायतन (च) और (मदाष्टं) आठ मद (शंकादि अष्टदूषनं) शंका आदि आठ दोष (संपूर्ण मलं) इनमें तीन मूढताको मिलाकर सर्व पचीस मल (जानंतं) जानना चाहिये (सेवनं) इन पचीस मलोंका सेवना (दारुणं दुःख) भयानक दुःखोंका कारण है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टीको सच्चे देव, शास्त्र, गुरुमें भक्ति रखते हुए सम्यक्तको मलीन करनेवाले पचीस दोषोंको बचाना चाहिये। उनमें तीन मूढ़ता पहले कह चुके हैं। छः अनायतन हैं वे धर्मके स्थान नहीं हैं। वे छः हैं-कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरु और इन तीनोंके भक्त इन छहोंकी संगति-परिणामोंको सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धासे गिरानेवाली है। इसलिये श्रद्धाकी रक्षाके हेतु रागी, द्वेषी देव तथा उनके भक्तोंकी संगति, भेषी साधु व उनके भक्तोंकी संगति, मिथ्यात्व पोषक शास्त्र व धर्माचरण व उनके कहनेवालोंकी संगति ऐसी नहीं करनी चाहिये जिससे लाचार होकर कुदेव, कुधर्म व कुगुरुकी भक्ति करनी पड़े। लौकिक व्यवहार मनुष्यताकी दृष्टिसे हरएक मानवसे रक्खा जासक्ता है। परंतु मिथ्याभाव पोषक व संसारवर्द्धक प्रवृत्तिमें सहयोग करना मिथ्याभावकी अनुमोदना करना है। इससे अपना भी बिगाड़ है व उनका भी बिगाड़ है। सत्यका अनुयायी स्वयं रहना चाहिये व सत्यकी ही अनुमोदना करनी चाहिये। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि हम दूसरे धर्मवालोंसे प्रेम न रक्खे। साधारण प्रेम सर्व मानवोंसे रखते हुए जिन धार्मिक प्रवृत्तियोंके सहयोगसे आत्मकल्याण हो उनसे सहयोग करते हुए जिनसे विषय कषायकी पुष्टि हो व मिथ्यात्वमें व अन्यायमें प्रवृत्ति हो उनसे अलग रहते हुए मध्यस्थभाव रखना चाहिये। द्वेषभाव कभी भी किसीसे नहीं रखना चाहिये।

आठ प्रकारका मद करना भी सम्यक्तमें दोष है। वे आठ मद हैं। जैसा रत्नकरंडमें कहा है—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः। अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २६ ॥

५

भावार्थ—मदनाशक सर्वज्ञदेवने कहा है कि ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर रूप, इन आठोंके आश्रयसे मान करना आठ मद हैं।

सम्यक्ती संसार शरीर भोगोंसे अत्यन्त उदास रहता है, वह मोक्षका व आत्मीक परमानन्दका प्रेमी है इसलिये वह कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हुई अवस्थाओंसे अपनेको बड़ा नहीं मानता है। इसलिये वह आठ तरहका मद नहीं करता है। मैं बहुत शास्त्रका जाननेवाला हूं ऐसा घमंड करना ज्ञान मद है। मैं बहुत अधिकार रखता हूं, प्रतिष्ठित हूं ऐसा घमंड करना पूजा मद है। मैं ऊंचे वंशका हूं, मेरे पिता, महा पिता ऐसे हैं यह घमंड करना कुल मद है। मेरी माता पक्षके मामा, नाना ऐसे ऐसे हैं यह घमंड करना जाति मद है। म बड़ा बलवान हूं, चाहे जिसे वश कर सक्ता हूं यह घमंड करना बल मद है। मैं बड़ा धनवान हूं, इसतरह गरीबोंको तुच्छ दृष्टिसे देखकर धनका घमंड करना ऋद्धि मद है। मैं बड़ा तपस्वी हूं, बहुत व्रत उपवास करता हूं ऐसा मद करना तप मद है। मैं बहुत रूपवान सुंदर हूं ऐसा घमंड करना शरीर मद है। ज्ञानी जीव धनादिकी शक्ति होनेपर उसे परोपकारमें खर्च करता है तथा जैसे वृक्षपर जितने अधिक फल आते हैं वह नम्रीभूत होजाता है उसी तरह जितनी भी शक्ति विद्या, धन आदिकी ज्ञानीमें बढ़ती जाती है उतना ही वह अधिक नम्र व विनयवान होजाता है। और उस शक्तिसे स्वपरका उपकार करता है।

सम्यक्ती शंका आदि आठ दोष अपनेमें नहीं लगाता है। वे आठ दोष हैं:—

(१) शंका—जैनके तत्वोंमें शंका रखना-जैनधर्मके तत्वोंमें दृढ़ श्रद्धानी होता हुआ शंका नहीं रखता है। यदि कोई बात समझमें नहीं आती है तो विशेष ज्ञानीसे पूछकर निर्णय करता है तथा सम्यक्ती निर्भय रहता है। धर्मसाधनको किसीके भयसे छोड़ता नहीं है। भय सात तरहका होता है—

१-इहलोक भय—इस लोकमें लोग मुझे निंदेगे या मेरी हानि होजायगी ऐसा भय।
२-परलोक भय—परलोकमें मैं नर्क, पशु आदि दुर्गतिमें चला जाऊंगा ऐसा भय।
३-वेदना भय—मुझे रोगादि होजायंगे तो क्या करूंगा ऐसा भय।
४-अरक्षा भय—मेरा कोई रक्षक नहीं है, सकटोंसे कौन बचाएगा ऐसा भय।

५-अगुप्त भय—मेरा माल कोई चोरी लेजायगा तो क्या करूंगा ऐसा भय।

६-मरण भय—मेरा मरण न होने पावे ऐसा भय।

७-अकस्मात् भय—कोई अकस्मात् आपत्ति मेरेपर न आजावे ऐसा भय।

सम्यक्ती वीर सिपाहीके समान इस संसारमें निर्भय रहता है। रोगादिसे बचनेका यथार्थ उपाय तो करता है जैसे सिपाही युद्धमें अपनेको बचानेका उपाय रखता है परन्तु सिपाही भयवान व कायर नहीं होता है इसी तरह सम्यक्ती अपना भाव साहस पूर्ण रखता है। रोग मरण द्रव्य हरणादि आपत्तिको कर्मजनित फल जानकर संतोष रखता है। इस तरह निःशंकित अंग पालता है।

(२) कांक्षा—भोगोंकी इच्छा-इंद्रिय भोगोंको अथिर व अतृप्तिकारी जानकर उनकी इच्छा नहीं रखता है न उनमें सुख पानेकी श्रद्धा रखता है। आत्मीक सुखको सुख जानता है। इस तरह निःकांक्षित अंग पालता है।

(३) विचिकित्सा-घृणा—सम्यक्ती रोगी शोकी, क्षुधातुर किसी भी मुनि, श्रावक व अन्य प्राणीको देखकर उनसे घृणा नहीं करता है किंतु दया भाव लाकर उनकी सेवा करता है। मल-मूत्रादिका भी स्वरूप जानकर उनसे बचता तो अवश्य है, परन्तु ग्लानि भाव नहीं रखता है। इस तरह निर्विचिकित्सित अंग पालता है।

(४) मूढदृष्टि—मूढताईसे श्रद्धा रखना-सम्यक्ती लोगोंकी देखादेखी मूर्खतासे किसी देव, गुरु, शास्त्र या धर्मको नहीं मानता है, अमूढदृष्टि अंग पालता है।

(५) अनुपगूहन—दूसरोंके दोष निन्दाभावसे प्रगट करना। सम्यक्ती परके दोषोंको प्रगट करनेकी आदत नहीं रखता है। वह जानता है कि प्रमाद व कषायके उदयसे प्राणियोंसे दोष बन जाया करते हैं। इससे दयाभाव [illegible] दोष छुड़ानेका यत्न करता है, उपगूहन अंग पालता है।

(६) अस्थितीकरण—धर्ममें अपने व दूसरोंको स्थिर न करना-सम्यक्ती अपने मनको समझाकर सदा उसे धर्ममें दृढ़ रखता है वैसे ही वह अन्य स्त्री व पुरुषोंको भी धर्मसाधनमें दृढ़ रहनेका उपाय करता रहता है-स्थितीकरण अंग पालता है।

(७) अवात्सल्य—साधर्मी भाई बहनोंसे प्रेम न रखना-सम्यक्ती सर्व साधर्मियोंको इस

प्रेमभावसे देखता है जिस तरह गाय अपने वत्सको देखती है-प्रेमालु होकर उनके कष्टोंमें सहाई होता है, वात्सल्य अंग पालता है।

(८) अप्रभावना—धर्मकी प्रभावना न करना-सम्यक्ती सदा ही धर्मकी उन्नति चाहता है। जिस तरह बने अज्ञानको मिटाकर जैन शासनका महात्म्य प्रकाशित करता है, प्रभावना अंगको पालता है।

इस तरह तीन मूढता, छः अनायतन, आठ मद, आठ शंकादि दोष इन २५ दोषोंके स्वरूपको भले प्रकार जानता है तथा समझता है कि इनके सेवनसे ऐसा पाप कर्म बंध होगा जिससे भयानक दुःख भोगना पड़ेगा। निर्मल सम्यक्त इस लोक व परलोकमें सुखी रखनेवाला है।

मिथ्यात्वके त्यागका उपाय ।

श्लोक—मिथ्यामतिरतो येन, दोषं अनंतानंत यं ।
शुद्ध दृष्टि न जानंतः, सेवते दुःख दारुणं ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यामतिरतः) जो मिथ्यात्व भावमें व मिथ्या ज्ञानमें लवलीन है वह (येन) इस मिथ्या मतिके कारण (अनंतानंत यं दोषं) अनंतानंत दोषका भाजन है। (शुद्ध दृष्टि) शुद्ध आत्मदृष्टिको व सम्यग्दर्शनको (न जानंतः) न जानता हुआ (दारुणं दुःख) भयानक दुःखोंको (सेवते) भोगता है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि जगतमें जितने भी दोष हैं उन सबसे बड़ा दोष मिथ्यात्वका है, इसके बराबर कोई पाप नहीं है। मिथ्यात्वी जीव अनगिनती दोषोंका पात्र बन जाता है व अनंत दोषरूप भावोंको किया करता है। इसे अपने शुद्ध आत्मीक भावकी श्रद्धा नहीं होती है। यह अपनेको रागी, द्वेषी, मोही जाना करता है व कर्मजनित भावोंमें लीन होकर महान घोर कर्मका बंध करता है, नरक निगोदका पात्र होता है, दीन दुखी पशु व मानव पैदा होता है व नीच देव होजाता है। मिथ्यात्व इतना बड़ा दोष है कि इसके साथमें स्वर्गमें रहना भी बुरा है।

सारसमुच्चयमें कहते हैं—

बरं नरकवासोपि सम्यक्त्वेन समायुक्तः । न तु सम्यक्तहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥ १९ ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सहित नरकमें रहना भी ठीक है किन्तु सम्यक्त विना मिथ्यात्व सहित स्वर्गमें रहना भी ठीक नहीं है। और भी लिखा है—

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मनः । तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥ १२ ॥

भावार्थ—इस भयानक दुष्ट संसारका सबसे बड़ा बीज मिथ्यात्व है इसलिये जो मोक्षके सुखकी इच्छा रखता हो उसे उचित है कि इसका त्याग करदे।

श्लोक—वैराग्य भावनां कृत्वा, मिथ्या त्यक्तं त्रिभेदयं ।
कषायं त्यक्त चत्वारि, प्राप्यते शुद्ध दृष्टितं ॥ ३१ ॥
मिथ्या सम्यक् मिथ्यात्वं, सम्यक्प्रकृतिर्मिथ्ययं ।
कषायं चत्वनंतानं, त्यक्तते शुद्धदृष्टितं ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(वैराग्ये) संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यकी (भावनां) भावनाको (कृत्वा) करते हुए (त्रिभेदयं) तीन भेदरूप (मिथ्या) मिथ्यात्व (त्यक्तं) छोडना चाहिये तथा (चत्वारि) चार (कषायं) कषायको (त्यक्त) तजना चाहिये। तब (शुद्ध दृष्टितं) शुद्ध दृष्टिको या सम्यग्दर्शनको (प्राप्यते) प्राप्त किया जासकेगा। (मिथ्या) मिथ्यात्व (सम्यक् मिथ्यात्वं) सम्यक् मिथ्यात्व (सम्यक्प्रकृति मिथ्ययं) सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व। ये तीन प्रकारका मिथ्यात्व (अनंतानं) अनंतानुबन्धी (चतु) चार (कषायं) कषाय (त्यक्तते) इन सातोंको त्याग करदेने पर (शुद्ध दृष्टितं) शुद्ध दृष्टि या सम्यग्दर्शन होता है।

विशेषार्थ—इन दो श्लोकोंमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उपाय बताया गया है। सम्यग्दर्शन आत्माका एक विशेष गुण है। उसकी प्रगटतासे आत्माको अपने असली शुद्ध स्वरूपका सच्चा ज्ञान श्रद्धान व उसके अनुभव करनेकी या ध्यान करनेकी शक्ति पैदा होजाती है। जैसे तेलीको तिलोंमें तेल, धान्यमें कृषकको चावल, खानसे निकले हुए माणकके पत्थरमें जौहरीको माणिक रत्न, सोने चांदीके मिले हुए आभूषणमें सर्राफको सोना, दूध पानीके मिश्रणमें हंसको दूध, मटीले

पानीमें विवेकीको निर्मल पानी, सरोवरमें जलसे पृथक् कमल, व्यंजनमें खागरसे भिन्न निमक, नाटकमें भेषी पात्रके भीतर ज्ञाताको उसका असली मनुष्यपना, मैले कपड़ेमें विवेकीको असली कपड़ा मैलसे अलग दिखता है ऐसे सम्यग्दर्शनके प्रतापसे ज्ञानीको अपना आत्मा सर्व अनात्मासे, रागद्वेषोंसे, संकल्प विकल्पोंसे, शरीरादिसे व अन्य लोकके द्रव्योंसे पृथक् ही दिखता है। इस सम्यक्दर्शनको रोकनेवाले सात कर्म हैं। चार अनंतानुबन्धी कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ और तीन प्रकारका दर्शन मोहनीय कर्म मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व। अनादिकालसे जिसको सम्यक्त नहीं हुआ है उसके सम्यक्तको रोकनेवाले मात्र पांच ही कर्म हैं। दो अंतके दर्शनमोह नहीं हैं। परन्तु जिसके सम्यक्त हो चुका है और छूट गया है उस सादि मिथ्यादृष्टीके सम्यक्तको रोकनेवाले सातों ही कर्म होसक्ते हैं। उपशम सम्यक्त होते हुए मिथ्यात्व कर्मके तीन भाग होजाते हैं।

जो आत्माके सच्चे स्वरूपको औरका और झलकावे व जिससे जीवादि सात तत्वोंके स्वरूपका सच्चा भाव न प्रगटे वह मिथ्यात्व कर्म है। जिसके उदयसे जीवादि तत्वोंका व आत्माका सच्चा व झूठा मिला हुआ श्रद्धान हो वह सम्यग्मिथ्यात्व है। जिसके उदयसे या असरसे जीवादि तत्वोंका व आत्माका सच्चा श्रद्धान तो रहे परंतु उस श्रद्धानमें चल, मल, अगाढ तीन प्रकारके दोष लगें उसको सम्यक्मिथ्यात्व कहते हैं—

चल दोष यह है कि अरहंत, सिद्ध आदि परमात्माओंका स्वभाव एक होनेपर भी किसीसे अधिक व किसीसे कम लाभ जाने। जैसे यह विश्वास रक्खे कि शांति लाभ करनेमें शांतिनाथजी अधिक उपकारी होंगे। रक्षा करनेमें पार्श्वनाथजी अधिक लाभकारी होंगे।

जिसप्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मलके निमित्तसे मलिन कहा जाता है उसी तरह सम्यक्त प्रकृतिके उदयसे जिसमें पूर्ण निर्मलता न हो वह मलदोष है। मल अतीचारको कहते हैं। पांच प्रकारका अतीचार कभी २ लग सक्ता है। १–किसी तत्वमें शंका होजाना, २–भोगाभिलाष होजाना, ३–रोगी आदि देखकर ग्लानि हो उठना, ४–मिथ्यादृष्टिकी मिथ्या क्रियाकी महिमा मनमें करने लगना, ५-मिथ्यादृष्टिकी मिथ्या क्रियाकी वचनसे प्रशंसा करने लगना।

अगाढ दोष यह है कि सर्व धर्मके स्थान चैत्यालयादि बराबर होनेपर भी अपने बनाए हुएमें अधिक राग करना, अन्यमें कम करना इत्यादि।

ये मात्र स्थूल दृष्टांत हैं। सूक्ष्म चल व अगाढ दोष अनुभवगम्य हैं—

पत्थरकी लकीर समान न मिटनेवाला क्रोध, पत्थरके खंभ समान न नमनेवाला मान, बांसकी जड़के समान तीव्र तम टेढापन माया, मजीठके रंग समान न मिटनेवाला लोभ, अनंतानुबन्धी चार कषायके दृष्टांत हैं। इन सम्यग्दर्शनके बाधकोंके दूर करनेका उपाय वैराग्यकी भावना है। यह भावना कि एक शुद्ध आत्मा ही सार है उपादेय है, मोक्ष ही सार है, संसार असार है। भोग रोगके समान शरीरोंका सम्बन्ध कारावासके समान है। प्रथम तो मुमुक्षुको सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर पक्का श्रद्धान लाना चाहिये। उनहीकी भक्ति करनी चाहिये। प्राण कंठगत होनेपर भी कुदेवादिकी भक्ति न करनी चाहिये। फिर इनकी भक्तिमें चार काम करने चाहिये।

(१) श्री जिनेन्द्रदेव—अरहंत सिद्धकी गाढ भक्ति, उनके गुणोंकी स्तुति, (२) शास्त्रकी भक्तिमें शास्त्रका भलेप्रकार नित्य अभ्यास करते हुए शास्त्रके अर्थोंका धारण, मनन, विचार, (३) आत्मज्ञानी गुरुओंकी संगति—उनसे तत्वोंका स्वरूप समझना, (४) एकांतमें बैठकर नित्य प्रातःकाल व सायंकाल सामायिक करते हुए आत्माको सबसे भिन्न विचार करना। इन चार उपायोंको बराबर करते रहना चाहिये।

शास्त्रके द्वारा जीवादि सात तत्वोंका ठीक २ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये क्योंकि इनका स्वरूप ज्ञान सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें परम उपकारी है। सात तत्वोंके व्यवहारज्ञानके लिये श्री उमास्वामी कृत तत्वार्थसूत्र और निश्चयज्ञानके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पंचास्तिकाय, प्रवचनसार तथा समयसार ग्रंथोंका भलेप्रकार अभ्यास करना चाहिये। यहां प्रकरण पाकर सात तत्वोंका कुछ स्वरूप कहा जाता है—

(१) जीव तत्व—यह जीव ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणधारी अमूर्तीक है। प्रत्येक जीवकी सत्ता भिन्न २ है, यह अनादि अनंत अविनाशी है। स्वभावसे यह रागादिका व कर्मबंधका न कर्ता है, न उनके फलका भोक्ता है। मात्र अपनी वीतराग परिणतिका कर्ता व आत्मीक आनंदका भोक्ता

है। जब संसारमें कर्मबंध सहित होता है तब यह कर्मोंके उदयसे राग, द्वेष, मोहमें परिणमन करके कर्मोंका बंध करता है और उनका फल सुख दुःख स्वयं भोगता है। यह जीव अपनी उन्नति व अवनतिमें स्वयं स्वतंत्र हैं। यदि यह पुरुषार्थ करे तो कर्म काट सक्ता है। अशुद्ध भावोंसे आप ही बंधता है, शुद्ध भावोंसे आप ही निर्वाणरूप होजाता है। हरएक शरीरमें शरीराकार रहता है यद्यपि इसमें लोकप्रमाण फैलनेकी शक्ति है। इसीसे इसके प्रदेश असंख्यात कहलाते हैं।

(२) अजीव तत्व-जीवपना, चेतनपना जिनमें न हो ऐसे पांच द्रव्य अजीवतत्वमें गर्भित हैं।

(१) पुद्गल-जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाया जाता है। यह परमाणु व स्कंधरूपसे जगतमें व्यापी है। जिन कर्मोंका बंध होता है वे भी पुद्गल हैं। यह स्थूल शरीर भी पुद्गल है। इन्द्रियगोचर शब्दादि सब पुद्गल हैं।

(२) धर्मास्तिकाय-यह एक अमूर्तीक लोकव्यापी अखंड द्रव्य है। जीव पुद्गल जब स्वयं गमन करते हैं तब यह उदासीन रूपसे सहायता करता है।

(३) अधर्मास्तिकाय-यह एक अमूर्तीक लोकव्यापी अखंड द्रव्य है। जीव पुद्गल जब स्वयं ठहरते हैं तब यह उदासीन रूपसे सहायता करता है।

(४) कालद्रव्य-अमूर्तीक अणुरूप द्रव्य संख्यामें असंख्यात हैं, लोकव्यापी हैं। इनकी सहायतासे सब द्रव्योंमें परिणमन या अवस्थासे अवस्थांतर होता है।

(५) आकाशद्रव्य-जो अनंत है, यह सब द्रव्योंको अवकाश देता हैं। जहां तक अन्य पांच द्रव्य भरे हैं उसको लोक या लोकाकाश कहते हैं। इसके बाहर अनंत आकाशको अलोक या अलोकाकाश कहते हैं।

(३) आस्रवतत्व-कर्म पुद्गलोंका आत्माके पास खिंचकर आनेको आस्रव कहते हैं। मन, वचन, कायकी क्रिया करते हुए आत्मामें चंचलता होती है इसीसे कर्मका आस्रव होता है। यदि शुभ मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति होती है तो मुख्यतासे पुण्यकर्मका और यदि अशुभ मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति होती है तो पापकर्मका आस्रव होता है।

(४) बंध तत्व-आए हुए कर्म पुद्गलोंका जीवके प्रदेशोंके साथ कुछ कालके लिये ठहर जाना

बंध है। कषाय अधिक होती है तो अधिक कालके लिये, कषाय कम होती है तो कम कालके लिये ठहरते हैं। इसीके भीतर भीतर अपना फल दिखाकर कर्म झड़ जाते हैं।

(५) संवर तत्व-आने वाले कर्म पुद्गलोंको रोक देना संवर है, जिन २ मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्म पुद्गल आते हैं उन २ को रोकनेसे कर्म पुद्गल नहीं आते हैं। मिथ्यात्वभावके रोकनेके लिये सम्यग्दर्शन, अविरत भावके रोकनेके लिये अहिंसादि पांच व्रतोंका पालन, प्रमाद रोकनेके लिये अप्रमादभाव, कषाय रोकनेके लिये वीतराग परिणति, योगोंको रोकनेके लिये मन, वचन, कायकी गुप्ति संवरके करनेवाले हैं। जब कर्म आएंगे नहीं तो उनका बंध नहीं होगा।

(६) निर्जरा तत्व-कर्म पुद्गलोंको जो बंध हुए हैं उनको शीघ्र ही आत्माके पाससे दूर कर देना-निर्जरा है। यह निर्जरा तपके द्वारा किये हुए आत्मध्यानके बलसे जो वीतरागता पैदा होती है उससे होती है। आत्मध्यानसे भवभवके बांधे कर्म एकदम गिरने लगते हैं। इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। जो कर्म अपने समयपर पक करके फल देते हैं उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं।

(७) मोक्ष तत्व-नए कर्मोंको रोकते हुए, पुराने कर्मोंको दूर करते हुए व बंधके कारण भावोंका निरोध होते हुए सर्व कर्मोंसे जीवका रहित होजाना मोक्ष तत्व है।

इन सात तत्वोंमें व्यवहार नयसे जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ग्रहण करने योग्य है परंतु निश्चय नयसे इनमेंसे अपने एक शुद्ध आत्माको ही ग्रहण करना चाहिये, अन्य सर्वको त्याग करने योग्य मानना चाहिये। ऐसा निश्चयमें लाकर जब ऊपर लिखित चार उपायोंको नित्य करता रहेगा-अधिक ध्यान सामायिकमें लगाएगा व वैराग्यकी भावना भाएगा कि सिवाय मेरे शुद्ध आत्माके और सब मेरा नहीं है, संसार असार है, शरीर अशुचि है, भोग रोगके समान है, आठ कर्मका संयोग संसारमें जन्म मरणादि दुःखोंका कारण है, तब भावना भाते भाते मुख्यतासे आत्माका चिंतवन करते करते एक समय ऐसे भाव चढ़ जाते हैं कि उनके प्रभावसे सम्यग्दर्शनके विरोधक ऊपर लिखित सात या पांच प्रकृतियोंका उपशम होकर सबसे प्रथम उपशम सम्यग्दर्शनका लाभ होता है। तब अपने शुद्ध स्वरूपका सच्चा भान होजाता है। सच्चा अनुभव होजाता है। आत्माका आनंद झलक जाता है कि जो आत्महित करना चाहें उनको उचित है कि वे सत्यकी प्राप्तिके लिये तत्वोंके मननका पुरुषार्थ सदा करते रहें।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप।

श्लोक—सप्तप्रकृतिविच्छेदात, शुद्धदृष्टिश्च दृष्टते।
श्रावकं अव्रतं जैनः, संसारदुःखपरान्मुखं ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(सप्त प्रकृति) ऊपर लिखित सातों प्रकृतियोंके (विच्छेदात्) सर्वथा क्षय या नाश होजानेसे (शुद्धदृष्टिश्च) शुद्ध आत्मदृष्टि ही अर्थात् शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन ही (दृष्टते) आत्मामें दिखलाई पड़ता है। (श्रावकं अव्रतं) वह अविरति श्रावक होता है (जैनः) वही जैनी है (संसार दुःख परान्मुखं) वही संसारके दुःखोंसे विपरीत सुखका भोगनेवाला है।

विशेषार्थ—सबसे पहले उपशम सम्यक्त होता है। इसकी स्थिति अंतर्मुहूर्त काल है। फिर यदि सम्यक्प्रकृतिका उदय हो आता है तो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होजाता है। इसकी स्थिति अधिकसे अधिक छ्यासठ सागर है। जब अधिक वैराग्य भावना होती है व केवली या श्रुतकेवलीका समागम होता है तब सातों प्रकृतियोंके नाशसे क्षायिक सम्यक्त पैदा होजाता है। सम्यक्ती जीव चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानमें रहता हुआ यद्यपि व्रतोंका आचरण नहीं कर पाता है तथापि भावोंमें इसके वैराग्य, व धर्म प्रेम, श्रद्धा व दया यथार्थ होती है। प्रशम (शांतभाव), संवेग (वैराग्य), आस्तिक्य (श्रद्धा), अनुकम्पा (दया) ये इसके लक्षण बाहर प्रगट रहते हैं। इसको संसारके दुःख नहीं होते हैं। यह अशुभ कर्मोंका बंध नहीं करता है। यदि पहले अन्य आयु नहीं बांधी हो तो देव आयु ही बांधकर स्वर्गमें उत्तम देव होता है। तथा यह क्षायिक सम्यक्ती जीव तीसरे भव या चौथे भवमें अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। क्षायिक सम्यक्तकी अपूर्व महिमा है। अन्य दो सम्यक्त यद्यपि छूटनेवाले हैं तो भी एक दफे जिसको उपशम सम्यग्दर्शन होजाता है वह अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन कालसे अधिक संसारमें नहीं रहता है। सम्यक्तका लाभ होना मोक्षकी कुंजी हाथमें आजाना है।

श्लोक—सम्यकदृष्टिनो जीवः, शुद्धतत्त्वप्रकाशकः।
परिणामं शुद्धसम्यक्तं, मिथ्यादृष्टि परान्मुखं ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्दृष्टिनो जीवः) सम्यग्दर्शनका धारी जीव (शुद्धतत्वप्रकाशकः) शुद्ध आत्मतत्वका प्रकाश करनेवाला होजाता है । (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शन (शुद्ध परिणामं) आत्माका शुद्ध स्वभाव है या शुद्ध परिणाम है (मिथ्यादृष्टिपरान्मुखं) जो मिथ्यादर्शनसे विपरीत है ।

विशेषार्थ—उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक कोई भी सम्यक्त हो । जो महात्मा सम्यग्दर्शनको प्रगट कर देता है वह शुद्ध आत्माका सच्चा श्रद्धान-ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त कर लेता है । आत्म-दर्शन करनेका जो नेत्र मुदित था सो खुल जाता है। यह सम्यग्दर्शन आत्माका एक मुख्य गुण है। मिथ्यादर्शनके उदयसे अन्यथा परिणमन कर रहा था सो उसके न उदय होनेसे यथार्थ चमक जाता है । अंधकार और प्रकाशका जैसा विरोध है वैसा मिथ्यात्व और सम्यक्तका विरोध है। मिथ्यादृष्टि संसारासक्त है तब सम्यक्दृष्टि स्वाधीनता प्रेमी होजाता है । आत्मानंदका स्वादी होजाता है ।

श्लोक—सम्यक्देव गुरुं भक्तः, सम्यक्धर्म समाचरः ।
सम्यक्तं तु वेदंते, मिथ्या त्रिविध मुक्तयं ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्देवं गुरुं भक्तः) सच्चे देव व सच्चे गुरुका भक्त व (सम्यक्धर्म समाचरः) सच्चे धर्मका आचरण करनेवाला सम्यक्दृष्टी जीव (मिथ्या त्रिविध) तीन प्रकार मिथ्यात्व (मुक्तयं) छूटा हुआ (सम्यक्तं तु) सम्यक्दर्शनका ही (वेदंते) अनुभव करता है ।

विशेषार्थ—सम्यक्दृष्टि जीव सम्यक्त पाकर मात्र संतोषी व आलसी नहीं होजाता है । वह निरंतर श्री अरहंत व सिद्ध परमात्माकी भक्ति करता रहता है। निर्ग्रंथ दिगम्बर गुरुकी सेवा करके उनसे सच्चा उपदेश सुनता रहता है। सच्ची आत्मबोध कारक धर्म क्रियाओंका आचरण करता रहता है । स्वाध्याय सामायिकका अभ्यास करता रहता है । जिन २ निमित्त व आलम्बनोंसे परिणाम अशुभसे बचकर शुभमें वर्ते जिससे शुद्ध आत्माके चिंतवनका अवसर मिले ऐसा उद्यम सदा करता रहता है । वह सम्यक्ती अंतरङ्गसे आत्मीक शुद्ध भावका ही अनुभव चाहता है। संसार सुखका प्रेमी नहीं रहा है ।

श्लोक—सम्यक्दर्शन शुद्धं, ज्ञानं आचरणसंयुक्तं ।
सार्द्ध त्रिति संपूर्ण, कुज्ञानं त्रिविधि मुक्तयं ॥ ३६

अन्वयार्थ—(सम्यग्दर्शन शुद्धं) शुद्ध सम्यग्दर्शन (संयुक्तं) सहित (ज्ञानं) ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। उसीके (सार्द्ध) साथ (आचरण) चारित्र सम्यग्चारित्र है (त्रिति संपूर्ण) तीनोंकी पूर्णता या एकता ही मोक्षमार्ग है (त्रिविधि) तीन प्रकार (कुज्ञानं) कुज्ञान अर्थात् संशय विमोह विभ्रम (मुक्तयं) रहित है।

विशेषार्थ—जब सम्यक्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान होजाता है तब न तो कोई संशयका कुज्ञान है न विपरीतपनेका है और न विभ्रम या अनध्यवसाय या ज्ञानमें आलस्यका कुज्ञान है। इन तीन ज्ञानके दोषोंसे रहित सम्यग्ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित चारित्र ही सम्यग्चारित्र है। विना आत्मश्रद्धा प्राप्त हुए अनेक शास्त्रोंका ज्ञान रखते हुए भी मिथ्याज्ञान कहलाता है। इसी तरह आत्मानुभवके विना सर्व ही मुनि व श्रावकका व्यवहार चारित्र है, वह मिथ्या चारित्र कहलाता है। मोक्षमार्ग रत्नत्रय स्वरूप है। जहां सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्रकी एकता प्राप्त होजाती है वही अभेद या निर्विकल्प अनुभव ही वास्तवमें मोक्षमार्ग है। सम्यक्तकी प्राप्तिके समय सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण चारित्र भी होता ही है। फिर आगे आत्मानुभवके प्रतापसे चारित्र बढते २ यथाख्यात चारित्र होजाता है। तथा ज्ञान बढते २ केवलज्ञान होजाता है। सम्यक्त विना सब शून्य ही है।

श्लोक—सम्यक्तं संयमं दृष्टं, सम्यकतप सार्द्धयं ।
परिणै प्रमाणं शुद्धं, अशुद्धं सर्व तिक्तयं ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्तं संयमं) सम्यक्दर्शन सहित संयम सम्यग्संयम (दृष्टं) देखा गया है। (सार्द्धयं) उसीके साथ तप (सम्यग्तप) सम्यक्तप है। तब ही (सर्व अशुद्धं) सर्व अशुद्ध ज्ञानको (तिक्तयं) छोड़कर (शुद्धं प्रमाणं) शुद्ध प्रमाणरूप ज्ञान (परिणै) परिणमन करता है।

विशेषार्थ—संयम सम्यक्तकी उपस्थितिमें ही सम्यक्संयम नाम पाता है। यदि सम्यग्दर्शन न हो और संयम नियम व्रत प्रतिज्ञा कितनी भी की जावे सब मिथ्या संयम नाम पाता है।

किंतु यदि संयम आचरण करते हुए सम्यग्दर्शन होगा तो वह संयम सम्यक् संयम होगा। इसी तरह १२ प्रकारका तप ध्यानादि तब ही अपने नामको रखते हैं जब उनके साथ सम्यग्दर्शन हो। प्रमाण नयका ज्ञान यदि मिथ्यादर्शन सहित है, आत्माकी यथार्थ श्रद्धा रहित है तो वह कुज्ञान या अशुद्ध ज्ञान है। परंतु सम्यग्दर्शनके साथ वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि दोनों मतिश्रुतज्ञानसे कदाचित् पदार्थोंको एकसा जानते हैं तौभी मिथ्या अभिप्राय जो संसारकी रोचकता उस सहित सर्व ज्ञान कुज्ञान है। परंतु सम्यक् अभिप्राय सहित सर्व ज्ञान सुज्ञान है।

श्लोक—षट्कर्म शुद्ध सम्यक्तं, सम्यक्तं अर्थ शाश्वतं।

सम्यक् शुद्धं ध्रुवं सार्द्ध, सम्यक्तं प्रति पूर्नितं ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध) शुद्ध भावनाके साथ (षटकर्म) मुनि या श्रावकके छः कर्म (सम्यक्तं सार्द्ध) सम्यग्दर्शन सहित ही होते है। (शाश्वतं) अविनाशी (अर्थ) पदार्थ (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शन है। (सम्यक्) सम्यक्त (शुद्धं) शुद्ध है (ध्रुवं) व ध्रुव है (सम्यक्तं) यही सम्यक्त (प्रति पूर्नितं) संपूर्ण व यथार्थ सम्यक्त है।

विशेषार्थ—यहां बताया है कि निश्चय सम्यग्दर्शन आत्माका एक शुद्ध अविनाशी गुण है इस भावको लिये हुए ही सम्यग्दर्शन परिपूर्ण है। इस निश्चय सम्यक्तमें शुद्ध आत्माकी ओर लक्ष्य रहता है। इस लक्ष्यमें ही शुद्ध भावना होती है। सम्यक्त रहित सर्व भावना अशुद्ध कहलाती है। जहां शुद्ध आत्मतत्वकी भावना है वहीं मुनि या श्रावकके नित्य छः कर्म यथार्थ कहे जाते हैं। उन कर्मोंके करनेका फल मुनि या श्रावक किसी अशुद्ध लौकिक लाभको नहीं चाहता है। उसके यही भावना रहती है कि इनके द्वारा शुद्ध आत्मामें ध्यान चला जावे। मुनियोंके छः नित्यकर्म हैं।

१–प्रतिक्रमण–पिछले दोषोंको दूर करनेकी सच्ची भावना, २–प्रत्याख्यान–आगामी दोषोंसे बचनेकी भावना, ३–संस्तुति–तीर्थंकरादिकी स्तुति करना, ४–वन्दना–किसी एककी मुख्यता करके नमस्कार करना, ५–सामायिक–समताभाव पानेको ध्यान करना, ६–कायोत्सर्ग–शरीरसे ममत्व त्यागना। श्रावकके छः कर्म हैं–देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, तप या सामायिक, संयम, और दान। तात्पर्य यह है कि मुनि हो या श्रावक सबको अपने २ नित्य कर्म मात्र शुद्ध आत्माकी भावनाके हेतुसे ही करने चाहिये। तबही वे सम्यक हैं।

श्लोक—सम्यक् देव उपासंते, रागद्वेष विमुक्तयं ।
अरूपं शाश्वतं शुद्धं, स्वयं आनंदरूपयं ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—सम्यक्दृष्टी जीव निश्चयसे (रागद्वेष विमुक्तयं) रागद्वेषादि भावोंसे रहित परम वीतराग (अरूपं) वर्णादि रहित अमूर्तीक (शाश्वतं) अविनाशी (शुद्धं) कर्मादि मल रहित शुद्ध (आनंदरूपयं) आनंदरूप (स्वयं) जो आप स्वयं है ऐसे (सम्यक् देव) यथार्थ परमात्माकी (उपासंते) सेवा करता है ।

विशेषार्थ—यहां बताया है कि यद्यपि सम्यक्दृष्टी जीव व्यवहार नयसे अरहंत सिद्धको पूज्यनीय देव मानता है तथापि निश्चयसे अपने आपको देव मानकर उसीकी आराधना करता है । यह आत्मा जो शरीरमें वस रहा है वह निश्चयसे भावकर्म रागद्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि आठ कर्म, नोकर्म शरीरादिसे भिन्न है । स्पर्श, रस, गंध व वर्ण रहित अमूर्तीक है । अनादिसे अनंतकाल रहनेवाला अविनाशी है तथा सदा ही आनन्दरूप है। वास्तवमें जो अपने आत्माको यथार्थ जैसाका तैसा द्रव्य रूप, सर्व परद्रव्योंसे व परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे भिन्न अनुभव करता है वही सम्यग्दृष्टि है ।

श्लोक—देवं देवाधिदेवं च, नंत चतुष्टे संजुतं ।
ॐकारं च वेदंते, तिष्ठतं शाश्वतं ध्रुवं ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—(च) तथा (देवाधिदेवं) देवोंका देव जो (नंत चतुष्टे संजुतं) अनंत चतुष्टय सहित है (शाश्वतं) अविनाशी है (ध्रुवं) द्रव्य अपेक्षा एकरूप है (ॐकारं च तिष्ठतं) जो ॐ शब्दमें भी विराजित है ऐसे (देवं) परमात्माको (वेदंते) अनुभव करता है ।

विशेषार्थ—सम्यक्ती यह भी अनुभव करता है कि ॐ शब्दमें जो अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पांच परमेष्ठी हैं उनके भीतर भी निश्चयसे वही शुद्धात्मा है जैसा कि मेरे शरीरके भीतर शुद्धात्मा है । द्रव्य दृष्टि करके देखा जावे तो कोई भेद नहीं है । द्रव्यार्थिक नयसे सदा ही एकरूप टंकोत्कीर्ण रहनेवाला है । सदा ही उसमें अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य ये चार अनंत चतुष्टय विराजमान हैं । शुद्ध निश्चयनयकी मुख्यतासे देखने

हुए सर्व ही आत्माएं सर्व ही अवस्थाओंमें एक शुद्ध निर्विकार देखनेमें आती हैं। इस दृष्टिमें नर नारक तिर्यंच देवके सब भेद, संसारी सिद्धके भेद, गुणस्थान व मार्गणाके सब भेद लोप होजाते हैं यही दृष्टि समताभाव जागृत करती है। शत्रु मित्र, स्वामी सेवक, पूज्य पूजक, ध्याता ध्येयका विकल्प मिटाती है। वीतरागताका आदर्श जमाती है। सर्व क्लेशोंका शासन करती हैं।

योगसारमें योगेन्द्राचार्य कहते हैं—

सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमपि वियाणि। मोक्खह कारण जाइया णिच्छइ एउ वियाणि ॥ २० ॥

भावार्थ—शुद्ध आत्मामें और जिनेन्द्रमें भेद कुछ भी न जानो। हे योगी! निश्चयनयसे यही भाव मोक्षका कारण है ऐसा समझ।

श्लोक—ॐकारस्य ऊर्धस्य, अर्घ सद्भाव तिष्टते।
ॐ वं ह्रियं श्रिय वंदे, त्रिविधिअथ च संजुतं ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(ऊर्धस्य) श्रेष्ठ (ॐकाराय) ॐ मंत्रके भीतर (अर्घ) श्रेष्ठ (सद्भाव) सत्तारूप पदार्थ शुद्ध आत्मा (तिष्ठते) विराजमान है। वह (ॐ ह्रियं श्रियं) ॐ ह्रीं श्रीं (त्रिविधि अर्थ व संजुतं) इनके तीन प्रकार भावोंको लिये हुए हैं उसको (वंदे) नमस्कार करता हूं।

विशेषार्थ—तीन लोकमें परम पद अरहंतादि पांच ही हैं जिनको सर्व इन्द्रादि चक्रवर्ती आदि पुनः पुनः नमस्कार करते हैं उनहीका वाचक णमोकार मंत्र है व उनहीका वाचक यह ॐ मंत्र है। इसलिये यह ॐ महामंत्र है, सर्व मंत्रोंमें श्रेष्ठ है। इसके भीतर जो पांच परमेष्ठी गर्भित हैं उन पांचोंहीके भीतर परम पदार्थ शुद्धात्मा शोभायमान होरहा है। ॐ का अर्थ जैसे इस पदार्थमें गर्भित है वैसे ही ह्रीं व श्रीं का भी है। ह्रीं से चौवीस तीर्थंकरोंका संकेत है, इनके भीतर भी वही शुद्धात्मा है-तथा श्रीं से अनंतचतुष्टय लक्ष्मीका बोध होता है। वह लक्ष्मी इस ही शुद्धात्मामें विद्यमान है। इसलिये मैं ॐ मंत्रसे जानने योग्य अपने ही भीतर विराजित परम पदार्थ सत्तारूप शुद्ध आत्माको वन्दना करता हूं अर्थात् उसीमें तन्मय होकर अनुभव करता हूं। यही भाव वन्दना परम मंगलरूप व मोक्षहेतु है।

श्लोक—देवं च ज्ञानरूपेण, परमेष्ठी च संजुतं ।
सो अहं देहमध्येषु, यो जानाति स पंडितः ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानरूपेण) परम सहज स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानकी अपेक्षा (परमेष्ठी च संजुतं) अरहंतादि पाच परमेष्ठी सहित (च देवं) जो कोई परमात्मा देव है (सो) वही (अहं) मैं (देहमध्येषु) इस अपने शरीरके मध्यमें तिष्ठता हूं । (यो) जो कोई सम्यक्दृष्टी (जानाति) ऐसा अनुभव करता है (स) वही (पंडितः) पंडित है ।

विशेषार्थ—पंडा अर्थात् प्रज्ञा या विवेकबुद्धि जिसके हो वह पंडित कहलाता है । जो पंडित है वही सम्यग्दृष्टि है, जो सम्यग्दृष्टी है वही पंडित है, अन्य कोई व्याकरण न्याय साहित्य छंद अलंकारका ज्ञाता महावादी शास्त्रज्ञ पंडित नहीं है । यदि धुरंधर शास्त्रज्ञ होते हुए वह सम्यग्दृष्टी है, आत्मज्ञानी है तो वह सच्चा पंडित है। यदि अनात्मानुभवी है तो वह शास्त्रज्ञ है तौ भी अपंडित है । सम्यग्दृष्टीकी दृष्टि द्रव्यकी ओर मुख्यतासे रहती है वह जब स्वाभाविक ज्ञान आदि गुणोंकी अपेक्षा आत्मा पदार्थका अवलोकन करता है तो उसे अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय व साधु इन पाच परमेष्ठियोंके भीतर जो शुद्धात्मा दिखलाई पड़ता है वैसा ही शुद्धात्मा उसे अपने इस शरीरमें विराजित दिखलाई पड़ता है, जो शरीरमें तिष्ठे हुए अपने आत्माको ही द्रव्य दृष्टिसे परमात्मा रूप देखता है इसमें और पांच परमेष्ठीकी आत्माओंमें कोई भेद नहीं देखता है। समानताका भाव पाता है वही यथार्थ ज्ञानी सम्यग्दृष्टी मोक्षमार्गी है ।

योगसारमें कहते हैं—

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु । इउ माणेविणु जोइआ अण्ण न करहु वियप्पु ॥ २२ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा है सो ही मैं हूं, जो मैं हूं सो ही परमात्मा है ऐसा समझकर हे योगी! और दूसरा कोई भेद विकल्प तू न कर । वास्तवमें सोहं मंत्रका भाव इस श्लोकमें बताया गया है । साहका जप व सोहंका ध्यान परमात्मा और देहमें विराजित आत्मामें एकता करा देता है और शुद्ध साम्यभावमें लेजाता है ।

श्लोक—कर्म अष्ट विनिर्मुक्तं, मुक्तिस्थाने य तिष्ठते ।

सो अहं देहमध्येषु, यो जानाति सः पंडितः ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(अष्टकर्म विनिर्मुक्तं) आठों कर्मोंसे रहित सिद्ध भगवान (मुक्तिस्थाने य) सिद्धक्षेत्रमें (तिष्ठते) विराजते हैं (सो) वही (अहं) मैं (देहमध्येषु) इस शरीरके बीचमें हूं (यो) जो तत्वज्ञानी (जानाति) ऐसा पहचानता है (सः) वही (पंडितः) पंडित है ।

विशेषार्थ—द्रव्यार्थिक नयसे देखा जावे तो सर्व ही आत्माएं समान गुणधारी शुद्ध हैं । यद्यपि प्रदेशोंकी अपेक्षा या व्यक्तिपनेकी अपेक्षा हरएक आत्मद्रव्यकी सत्ता भिन्न२ रूप है तथापि गुण व स्वभावोंकी अपेक्षा सब एक रूप हैं । इसी दृष्टिसे जब ज्ञानी देखता है तो सिद्ध भगवानमें और अपने शरीरमें विराजित आत्मामें कोई भेद नहीं देखता है । सिद्ध भगवानका आत्मा ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके बन्धनसे रहित शुद्ध है वैसे ही यह आत्मा जो कर्म संयोगकी अपेक्षा संसारी झलकता है वही द्रव्य दृष्टिसे कर्मोंसे भिन्न सिद्धवत् शुद्ध प्रतीतिमें आता है । सिद्ध भगवानका निवास लोकाकाशके अग्रभागमें तनुवातवलयके भीतर है वहां वे पुरुषाकार चैतन्यमई अपने आपमें मगन परम गम्भीर आत्मरस वेदन करते हुए परम कृतकृत्य समदर्शी विराजमान हैं । इस अपने आत्माका निवास उस आकाशमें है जो इस शरीरसे व्याप्त है । सिद्धक्षेत्र भी आकाश है । शरीरका क्षेत्र भी आकाश है । इस कारण यदि शरीरको ही शुद्धात्माका सिद्धक्षेत्र कहें तो कोई आपत्ति नहीं । स्वरूपसे वह आत्मा जैसा शरीरमें है वैसा सिद्धक्षेत्रमें है । शुद्ध सुवर्णकी डली रतन-पिटारीमें रक्खी हुई जैसी है वैसे ही वह कीचड़में सनी हुई है । वह कीचड़में पड़ी हुई सुवर्णपनेको कभी खोती नहीं । वैसे यह आत्माराम कार्मण, तैजस, औदारिकादि शरीरोंके भीतर रहता हुआ भी अपने आत्मद्रव्यके स्वभावको कभी त्यागता नहीं है । इस तरह जो सिद्धवत् अपने आत्माको अपनी देहके भीतर अनुभव करता है वही पंडित है । अन्य कोई मात्र शब्दोंका ज्ञाता पंडित नहीं है किंतु जड़ मूर्ख है । योगसारमें कहते हैं—

सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति । तिह कारण ऐ जीव फुडु ण हु णिव्वाण लहंति ॥ ५२ ॥

भावार्थ—जो कोई आत्माको नहीं पहचानते हैं वे शास्त्रोंको पढ़ते हुए भी जड़ हैं। इसी कारणसे वे शास्त्रज्ञानी ग्यारह अंग नौ पूर्वके पाठी तक भी निर्वाणको नहीं पासक्ते हैं।

श्लोक—परमानंद संदृष्टाः, मुक्तिस्थाने य तिष्ठते।
सो अहं देहमध्येषु, सर्वज्ञं शाश्वतं ध्रुवं ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(परमानन्द संदृष्टाः) परम आनन्दको अनुभव करनेवाले सिद्ध भगवान (मुक्तिस्थाने य) मोक्षक्षेत्रमें (तिष्ठते) विराजमान है (सो) उसीके समान (अहं) मैं (सर्वज्ञ) सर्वका जाननेवाला (शाश्वतं) अविनाशी (ध्रुवं) अपने स्वभावको स्थिर रखनेवाला (देहमध्येषु) अपनी देहके मध्यमें हूं।

विशेषार्थ—सिद्ध भगवान निरंतर परमानन्दका अनुभव करते रहते हैं और सिद्धालयमें विराजमान हैं उसी तरह मेरा यह आत्मा यद्यपि कर्मोंके बन्धनके कारण पर्याय संसारी रख रहा है और पराधीन है तथापि जब मैं इस अपने आत्माको भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे देखता हूं तो इसमें व सिद्धमें कोई अन्तर नहीं पाता हूं। सिद्ध भी सर्वके ज्ञाता दृष्टा हैं, मैं भी सर्वका ज्ञाता दृष्टा हूं। सिद्ध भी अविनाशी हैं मैं भी अविनाशी हूं। सिद्ध भी ध्रुव हैं मैं भी ध्रुव हूं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी अपने आत्मामें सर्व ही आत्मीक गुणोंका विलास देखकर परम संतोष पाता है और पुनः पुनः देहके भीतर ही देखकर अपने आत्मा देवका आराधन करता है।

श्लोक—दर्शनज्ञान संयुक्तं, चरणं वीर्य अनन्त यं।
अमूर्तं ज्ञानसंशुद्धं, देहे देवलि तिष्टते ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनज्ञान संयुक्तं) अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान सहित (चरणं वीर्य अनन्त यं) अनन्त वीर्य तथा वीतराग चारित्र सहित (अमूर्त) अमूर्तीक (ज्ञान) ज्ञानाकार (संशुद्ध) परम शुद्ध देव (देहे देवलि) देहरूपी मंदिरमें (तिष्टते) विराजमान हैं।

विशेषार्थ—इस शरीररूपी मंदिरके भीतर जो आत्मा है वही निश्चयसे परमात्मा देव है। उसमें अनंतदर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, सुख आदि सर्व गुण जो सिद्धोंमें प्रगट हैं सो सब विराजमान हैं। यह परमात्मा देव यद्यपि कर्मोंकी वर्गणाओंसे हरएक प्रदेशमें छाए हुए होनेके कारण मूर्तीकसा होरहा

है तथापि स्वभावसे देखा जाय तो इसके साथ पौद्गलिक कर्मोंका कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तो रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित अमूर्तीक है। यह शरीरके आकार है परंतु ज्ञानाकार है। मूर्तीके आकार रहित है। ज्ञानी महात्मा अपने ही शरीरको मंदिर मानकर उसमें परमात्माकी परम शांत ज्ञानमई स्फटिक मूर्तिवत् आकृतिका दर्शन करके परम संतोषित होते हैं। उसकी भावना भाते भाते कभी उसी स्वरूपमें एकाग्र होजाते हैं और स्वानुभवका आनन्द लेते हैं। यही मोक्षका उपाय है।

योगसारमें कहते हैं—

अप्पसरूवह जो रमइ छंडवि सहुववहारु। सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥ ८८ ॥

भावार्थ—जो सर्व व्यवहार छोड़कर अपने आपके शुद्ध स्वरूपमें रमण करता है वही सम्यग्दृष्टी जीव शीघ्र ही संसारसे पार होजाता है।

श्लोक—अर्हंतदेव तिष्टंते, ह्रींकारेन शाश्वतं।
ॐवं ऊर्ध सद्भावं, निर्वानं शाश्वतं पदं ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ—(ह्रींकारेन) ह्रीं इस मंत्र पदमें (शाश्वतं) सदा ही (अरहन्तदेव) अरहन्तदेव चौवीस तीर्थंकर स्वरूप (तिष्टंते) विराजमान हैं। (ॐ वं) ॐ इस मंत्र पदके भीतर (ऊर्ध) श्रेष्ठ (सद्भावं) सत्तारूप आत्मा पदार्थ (निर्वानं) निर्वाण स्वरूप या सिद्ध स्वरूप (शाश्वतं पदं) अविनाशी पद धारी विराजमान हैं।

विशेषार्थ—यहां फिर भी यह स्मरण कराया है कि ॐ ह्रीं मंत्र पदोंका ध्यान आत्माकी भावनाके लिये उपयोगी है। पहिले कहा जाचुका है कि ह्रीं में चौवीस तीर्थंकर व ॐ में अरहन्तादि पांचो परमेष्ठी गर्भित हैं। इन सबमें यदि निश्चयसे देखा जावे तो एक अविनाशी मोक्षपदका धारी सत्तारूप पदार्थ शुद्ध आत्मा विराजमान है। तात्पर्य यह है कि इन मंत्र पदोंका आश्रय लेकर हमको सर्व विकार रहित शुद्ध आत्माका ही चिंतवन, मनन व अनुभव करना चाहिये। निर्वाण कोई पर वस्तु नहीं है जिसे कहींसे प्राप्त करना है, निर्वाण न कोई पर क्षेत्र है जहां कहीं इसे जाना है। निर्वाण तो इस अपने आत्माका ही स्वयं स्वभाव है व आत्मा ही निर्वाणक्षेत्र है। व्यवहारसे

सिद्ध परमात्माको निर्वाण स्वरूप कहते हैं व सिद्धक्षेत्रको निर्वाणपुर कहते हैं। परंतु निश्चयसे देखा जावे तो यह आत्मा आप ही निर्वाण स्वभाव है व आप ही निर्वाणका क्षेत्र है। ज्ञानी सम्यक्तीको सर्व संकल्प विकल्प त्यागकर निश्चिंत हो भीतर प्रवेश करके आप अपने ही आत्माका पवित्र दर्शन करके सच्ची भक्तिमें लगे रहना चाहिये। तो शीघ्र ही वह सम्यक्ती निर्वाणपुरमें चला जाता है।

आत्माके तीन भेद।

श्लोक—आत्मा त्रिविधि प्रोक्तं, परु अंतर्बहिरप्ययं।
परिणामजं च तिष्ठंते, तस्यास्ति गुणसंयुतं ॥ ४७ ॥
आत्मा परमात्मतुल्यं च, विकल्पं यन्न क्रीयते।
शुद्धभाव थिरीभूतं, आत्मानं परमात्मनं ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (त्रिविधं) तीन प्रकार (प्रोक्तं) सिद्धांतमें कहा गया है (परु) परमात्मा (अंतर) अंतरात्मा (बहिरप्ययं) बहिरात्मा। ये तीनों भेद (परिणामजं) परिणमन या पर्यायोंके द्वारा (तिष्ठंते) होते हैं। (तस्य) इनमेंसे जो (गुणसंयुतं) सर्व आत्मीक गुणोंसे पूर्ण है, जहां (आत्मा च परमात्मा) आत्मा और परमात्मा (तुल्यं) शुद्ध निश्चय नयसे बराबर हैं (यत् विकल्पं) ऐसा विचार या भेद (न) नहीं (क्रियते) किया जाता है। (शुद्ध भाव) शुद्ध स्वभावमें (थिरीभूतं) थिरता व मग्नताको प्राप्त (आत्मानं) आत्माको (परमात्मनं) परमात्मा कहते हैं।

विशेषार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे या शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे यदि देखा जावे तो सर्व ही सिद्ध या संसारी आत्माएं एक समान शुद्ध ही देखनेमें आएगी। परंतु यदि भिन्न २ अवस्था जो आत्माके साथ संयोग प्राप्त कर्मोंके निमित्तसे होरही है उसकी अपेक्षासे देखा जावे तो इस अशुद्ध निश्चय नय अथवा अव्यवहार नय या पर्यायार्थिक नयसे जगतके भीतर आत्माकी तीन अवस्थाएं दिखलाई पड़ेंगी। परमात्मा, अंतरात्मा और बहिरात्मा। शुद्ध सिद्ध कृतकृत्य आत्माको परमात्मा कहते हैं। जो अंतरंगमें आत्माको आत्मा, आत्माके साथ संयोग प्राप्त द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मको अनात्मा

अनुभव करता है ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव तत्वज्ञानी अंतरात्मा है। जो आत्मा और अनात्माकी यथार्थ भेद बुद्धिसे रहित है। संसारके विषयोंमें तन्मय है। शुद्ध आत्माके अनुभवसे शून्य है। आत्माके स्वभावसे विपरीत किंचित् भी विभावको या परमाणु मात्र भी पर वस्तुको आत्माकी जो मानता है वह बहिरात्मा अज्ञानी मिथ्यादृष्टी है। चौदह गुणस्थानोंकी अपेक्षा विचार किया जावे तो तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली और अयोगकेवली अरहंत भगवान परमात्मा हैं। अविरत सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे लेकर क्षीण मोह बारहवें गुणस्थान पर्यंत अंतरात्मा हैं। इन-मेंसे अविरत सम्यग्दृष्टी जघन्य अंतरात्मा हैं, देशविरत व प्रमत्तविरत दो गुणस्थान धारी मध्यम अंतरात्मा हैं, सातवेंसे बारहवें तक शुद्धोपयोगी उत्कृष्ट अंतरात्मा हैं। गुणस्थानोंसे बाहर श्री सिद्ध-भगवान तो साक्षात् शरीरादि रहित परमात्मा हैं। आत्मामें परिणमन शक्ति है। सर्वथा कूटस्थ नित्य नहीं है। आत्मामें वैभाविक शक्ति भी है जिससे यह कर्मके उदयके निमित्तसे स्वभावसे विभावरूप परिणमन कर जाता है। जैसे जलमें उष्णरूप होनेकी शक्ति है। अग्निका निमित्त मिलने पर उष्णरूप परिणमन कर जाता है। निमित्त न हो तो स्वभावमें शीतल ही बना रहता है। अना-दिकालसे संसारमें संसारी आत्माएं कर्मोंके साथ दूध पानीके समान मिली हुई चली आरही हैं। कर्मोंके उदय जनित भावोंका परिणमन होता रहता है। जहांतक मिथ्यात्व कर्मका, अनंतानुबंधी कषायका व सम्यक् मिथ्यात्वका उदय है ऐसे मिथ्यात्व, सासादन व मिश्र गुणस्थानोंमें शुद्ध स्वभा-वमें रंचमात्र भी परिणमन नहीं है, अशुद्ध या मिश्रित भावोंमें परिणमन है। अतएव इन तीन गुणस्थान वालोंको बहिरात्मा कहते हैं। जहां सम्यग्दर्शनका लाभ होगया वहां शुद्ध स्वभावमें परिणमनकी शक्ति प्राप्त होगई परंतु चारित्र मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अंतराय कर्मके उदयसे यथाख्यात चारित्र तथा केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ वहांतक अंतरात्मा रूप परिणमन है। चार घातीय कर्मोंके नाश होनेपर आत्मा भावोंकी अपेक्षा सर्वज्ञ वीतराग आनन्दमय होजाता है तब आत्माका परमात्मा रूप यथावत् परिणमन है। इसे परमात्मारूप परिणमन कहते हैं।

परमात्मा सम्पूर्ण आत्मीक गुणोंसे परिपूर्ण है। साधक अवस्थामें छठे गुणस्थान पर्यंत यह विचार किया जाता था कि मेरा आत्मा शुद्ध निश्चयनयसे परमात्माके तुल्य है। अब जब परमात्म

पद प्राप्त होगया तो वहां यह विकल्प बिलकुल भी नहीं रहा। निर्विकल्प वीतराग परमानन्दमय शुद्ध स्वभावमें जो स्थिर होगया है उसे ही परमात्मा कहते हैं।

समाधिशतकमें पूज्यपादस्वामी कहते हैं—

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः। चित्तदोषात्म विभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः ॥ ५ ॥

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः। परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिसकी शरीर आदिमें अर्थात् सर्व आत्माके सिवाय अन्य पदार्थोंमें या भावोंमें आत्मापनेकी भ्रांति है वह जीव बहिरात्मा है। जिसके भीतरसे यह भ्रांति निकल गई है कि चित्तके दोष रागादि आत्मा हैं अर्थात् जो कर्म सम्बन्धी रचनासे आपको भिन्न अनुभव करता है वह अंतरात्मा है। जो अति पवित्र कर्म कलंक रहित आत्मा है वह परमात्मा है। परमात्माके अनेक नाम हैं-कर्ममल रहित है इससे निर्मल है, सर्व कर्म रहित है इससे केवल है, परम शुद्ध स्वभावको सिद्ध कर लिया है इससे सिद्ध है, सर्व कर्मादिसे जुदा है इससे विविक्त है, आप आपका स्वामी स्वाधीन है इससे प्रभु है; कभी स्वभावसे रहित न होगा इसीसे अक्षय है, उत्कृष्टादि पदमें विराजित है इससे परमेष्ठी है, संसारी जीवोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट है इससे परात्मा है या परमात्मा है। इन्द्रादिको असम्भव ऐसे अतरंग और बहिरंग परम ऐश्वर्य सहित है इससे वह ईश्वर है, आत्माके शत्रु रागादि व कर्मबन्धको जिसने जीत लिया है। इसलिये वह जिन है। प्रयोजन यह है कि मुमुक्षु जीवको बहिरात्म बुद्धि त्यागकर अंतरात्मा होकर परमात्माका ध्यान करना योग्य है।

श्लोक—विज्ञानं यो विजानन्ते, अप्पा परपरीक्षया।
परिचये अप्प सद्भावं, अन्तरात्मा परीक्षयेत् ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(यो) जो कोई (अप्पापर) आत्मा और परकी (परीक्षया) परीक्षा करके (विज्ञानं) दोनोंके विशेष ज्ञानको अर्थात् भेदविज्ञानको (विजानन्ते) विशेष सूक्ष्मतासे जनता है। तथा तथा (अप्प सद्भावं) आत्माके सत्तारूप शुद्ध स्वभावका (परिचये) परिचय पाता है। (अंतरात्मा) वही अंतरात्मा है ऐसा (परीक्षयेत्) पहचानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहां अंतरात्माका स्वरूप बताया है। आत्मा और कर्म पुद्गल शरीरादि दूध पानीकी तरह मिल रहे हैं या पानी और मिट्टीके समान एकमेक हो रहे हैं। लक्षणभेदसे दोनोंको भिन्न२ पहचानना चाहिये। आत्माका निज स्वभाव ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय अमूर्तीक पवित्र है तथा कर्म आदि पुद्गल सब मूर्तीक स्पर्श, रस, गंध, वर्णमय चेतनता रहित हैं व रागद्वेषादि विकारके कारण हैं। इस तरह अपनी बुद्धिसे प्रमाण ज्ञानसे व नयके द्वारा दोनोंको भिन्न२ कर जो आत्मा नहीं है सो मैं नहीं हूं इस तरह परसे उदासीन होकर जो अपने आत्माके यथार्थ शुद्ध स्वरूपको पहचानता है और उसीके स्वादकी रुचि प्राप्त करता है उसे अंतरात्मा जानना चाहिये।

श्लोक—बहिरप्पा पुद्गलं दृष्ट्वा, रचनं आनंद भावना।
परपंचं येन तिष्ठंते, संसारे स्थितिवर्द्धनं ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(बहिरप्पा) बहिरात्मा (पुद्गलं) पुद्गलको (दृष्ट्वा) देखकर (आनन्द भावना) आनन्दकी भावनाको (रचनं) रचता है (येन) इस जड़में मग्नताकी भावनासे (परपंचं) जगतका प्रपंच (तिष्ठंते) बना रहता है तथा (संसारे स्थिति) संसारमें उसकी स्थिति (वर्द्धनं) बढ़ती जाती है।

विशेषार्थ—शरीर पुद्गल है, पांच इंद्रियोंके द्वारा भोगने योग्य विषय, स्त्रीका तन, भोजन, सुगंध, सुन्दर चेतन व अचेतन पदार्थ, नानाप्रकारके मनोहर गान आदि सब पुद्गल हैं। इंद्रियोंके द्वारा यही पदार्थ देखनेमें जाननेमें आते हैं इनको मनोज्ञ देखकर मनमें रंजायमान होजाता है और अमनोज्ञ देखकर मनमें क्लेशित होजाता है। तब जो २ पदार्थ इस अज्ञानीको इष्ट लगते हैं उनकी प्राप्तिके लिये और जो २ अनिष्ट लगते हैं उनसे बचनेके लिये नानाप्रकार मायाचार व आरंभ व हिंसादि पापोंमें फंसा रहता है। विषयलम्पटी होकर अन्याय सेवन करता है, अभक्ष्य भक्षण करता है, रागी द्वेषी देवोंकी आराधना करता है। दूसरोंको घोर कष्ट पहुंचा करके व ठग करके भी अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, घोर पापोंमें मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति होनेसे वह दीर्घ स्थितिवाले कर्मोंको बांधता रहता है जिससे उसके संसारकी स्थिति बढती जाती है।

श्लोक—बहिरप्पा परपंचार्थं, त्यक्तंति प्रविचक्षणाः ।
अप्पाधर्म पयं तुल्यं, देवदेवं नमस्कृतं ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(बहिरप्पा) बहिरात्मा (परपंचार्थं) जगतके प्रपंचके कारण (पयं तुल्यं) दूधके तुल्य (अप्पा धर्मं) आत्म स्वभाव रूपी धर्मको (देवदेवं नमस्कृतं) जिसको देवोंके देव इन्द्रादि नमस्कार करते हैं (त्यक्तंति) छोड़ बैठते हैं ।

विशेषार्थ—बहिरात्मा अज्ञानी इतने मूर्ख होते हैं कि अपने हितकारी धर्मकी ओर पीठ देकर उसको छोड़ बैठते हैं । जैसे कोई मूर्ख पुष्टिकारक दूधको जो पीनेको मिल रहा है छोड़कर चला जाय तथा काकके समान अशुद्ध मलके स्वादमें रंजायमान होजावे वैसे ही यह आत्मीक स्वभावरूप जो अभेद रत्नत्रयमई धर्म है उसकी तरफसे बेखबर रहता है । यह धर्म वह है कि जो इसको धारते हैं वा जो इसके स्वामी हैं ऐसे अरहंत सिद्धको व साधुओंको इन्द्रादि देव नमन करते हैं, जो सम्यक्दृष्टी श्रावक हैं या अव्रती हैं उनकी भी भक्ति या सेवा इन्द्रादि देव करते हैं। जिस आत्मीक धर्मसे संसारके क्लेश मिट जाते हैं व आत्मा परमात्मा होजाता है व जिससे इस जन्ममें भी सुख शांति मिलती है उसको छोड़कर मलके समान विषयोंके जालमें बहिरात्मा पड़ जाता है । उसको जगतका प्रपंच ही अच्छा लगता है । वह इंद्रियोंके भोगोंमें व स्त्री पुत्रादिमें व लोगोंसे प्रतिष्ठा पानेमें व स्वार्थ सिद्ध करनेमें ही मगन रहता है। ज्ञान वैराग्यकी बात उसको विष तुल्य भासती है। संसारीक विकथा उसको अमृत समान मालूम होती है ।

सुदेव कुदेवका स्वरूप ।

श्लोक—कुदेवं प्रोक्तं जैनैः, रागादिदोषसंयुतं ।
कुज्ञान त्रिति संपूर्ण, ज्ञानं चैव न दिष्टते ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ—(रागादि दोष संयुतं) जो राग द्वेष आदि दोषोंसे पूर्ण हैं (कुज्ञान त्रिति संपूर्ण) व तीन

कुज्ञानके धारी हैं जिनमें (ज्ञानं चैव) सम्यग्ज्ञान भी (न विद्यते) नहीं दिखलाई पड़ता है उनको (जैनैः) जैनोंने या जैनाचार्योंने (कुदेवं) कुदेव (प्रोक्तं) कहा है।

विशेषार्थ—वीतराग सर्वज्ञ देव अरहंत तथा सिद्ध हैं उनके सिवाय जगतकी मायामें लिप्त लोगोंने अनेक रागी द्वेषी यक्ष, क्षेत्रपाल, चंडिका, काली, पद्मावती, भूत, पिशाच, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवोंको देव मानके पूजना प्रारंभ कर दिया है। ये सब संसारी प्राणी हैं। इनमें प्रायः सम्यग्दर्शन नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टी मरकर इनमें पैदा नहीं होता है। किसीको वहां सम्यक्त हो वा न हो। अधिकतर वे सब देव भाव मिथ्यात्वी होनेसे कुमति, कुश्रुति व कुअवधि तीन कुज्ञानके धारी हैं। उनमें सम्यग्ज्ञान नहीं दिखलाई पड़ता है। जगतके प्राणी किसी वरकी इच्छासे ही इन देवोंकी स्थापना करके पूजा करते हुए अपने अनादि अगृहीत मिथ्यात्वको दृढ़ करते हैं। यदि इनमें कोई सम्यग्दृष्टी भी हो तौ भी उसको साधर्मी भाई या बहनके समान सन्मान देना चाहिये। दीन होकर परमात्माके तुल्य किसी भी रागी द्वेषी देवकी या इन्द्रकी या अहमिंद्रकी पूजा करना मिथ्यादर्शन है। श्री अमितगति आचार्य श्रावकाचारमें कुदेवोंको कहते हैं—

रागवंतो न सर्वज्ञा यथा प्रकृतिमानवाः। रागवंतश्च ते सर्वे न सर्वज्ञास्ततः स्फुटम् ॥ ७२–४ ॥

आश्लिष्टास्तेऽखिलैर्दोषैः कामकोपभयादिभिः। आयुधप्रमदाभूषा कमंडल्वादियोगतः ॥ ७३ ॥

भावार्थ—राग सहित हैं वे सर्वज्ञ नहीं, वे संसारी मनुष्योंके समान हैं। जो कल्पित रागी द्वेषी देव हैं वे सर्व सर्वज्ञ नहीं हैं यह प्रगट है। जो कोई आयुध, स्त्री, आभषण, कमंडल आदि उपकरण रखते हैं वे अवश्य काम, क्रोध, भय आदि मल सहित हैं अतएव कुदेव हैं। बहिरात्मा इनकी सेवा करता रहता है और धन, पुत्र आदिकी कामनामें व्याकुल रहता है। उसे वीतराग मार्ग नहीं सुहाता। इसीसे वह वीतराग सर्वज्ञकी भक्ति कदाचित् देखादेखी करता भी है तो उतनी भक्तिसे नहीं करता है जितनी भक्ति कुदेवोंकी करता है।

श्लोक—मायामोह ममत्वस्थाः, अशुभभाव रताश्च ये।
तत्र देवं हि जानंते, यत्र रागादि संजुतं ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ—(माया मोह ममत्वस्थाः) जो अज्ञानी बहिरात्मा मायाचार, मोह व ममत्वमें लीन हैं (च ये) और जो (अशुभभाव रताः) अशुभ भावोंमें रंजायमान हैं वे (यत्र) जिनमें (रागादि संजुतं) राग आदिका संयोग है (तत्र) उनको (हि) निश्चयसे (देवं) अपना देव (जानंते) जानते हैं।

विशेषार्थ—अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीव संसारके मोहसे व ममत्वसे पागल होकर मायाचार करनेमें तत्पर रहते हैं व हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, क्रोधादि कषायके अशुभ भावोंमें रंगे रहते हैं उनको वे ही देव पसंद आते हैं जो रागद्वेषसे परिपूर्ण हैं। वे उनसे अपनी मनोकामनाकी सिद्धि चाहते हैं वे उनको खूब मिठाई आदि चढ़ाते हैं। घंटों उनके सामने नाक रगड़ते हैं कि उनका काम होजावे। उनको लक्ष्मी पुत्र आदिकी आशा होती है जिस आशाको ये रागी द्वेषी देव पूर्ण कर देंगे ऐसा विश्वास उन अज्ञानी जीवोंको रहता है। इससे वे कुदेवोंकी भक्तिमें राजी रहते हैं। वीतराग सर्वज्ञ भगवानकी भक्तिमें दिल नहीं लगाते हैं। वे इस बातको भूल जाते हैं कि धन, पुत्र आदिका लाभ विना पुण्य कर्मकी सहायताके नहीं होसक्ता है। कोई भी रागी द्वेषी देव किसीको पुण्य नहीं देसक्ता। उनकी भक्ति वृथा ही मिथ्यात्वके पापमें फंसाने वाली है। प्राणियोंको लौकिक धनादिके लिये बाहरी उपाय योग्य उद्यम आदि करना चाहिये व अंतरंग उपाय पापके क्षय करनेके लिये वीतराग सर्वज्ञ देवकी भक्ति करना चाहिये।

श्लोक—आर्त्तरौद्रं च सद्भावं, माया मद क्रोध संयुतं।
करनं अशुद्ध भावस्य, कुदेवं अनृतं परं ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(कुदेवं) रागी द्वेषी देव देवी आदि (आर्त्तरौद्रं च सद्भावं) आर्तध्यान व रौद्रध्यानसे पूर्ण रहते हैं। (माया मद क्रोध संयुतं) माया, अहंकार तथा क्रोध सहित होते हैं। (अशुद्ध भावस्य करनं) शुद्ध भावनाको न पाकर निरंतर अशुद्ध भाव किया करते हैं। (परं अनृतं) इन कुदेवोंका पूजना महान मिथ्यात्व है।

विशेषार्थ—जिन देवोंमें मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषायका उदय है ऐसे कुदेव कषाय वासनासे वासित होते हैं। इष्ट देवी आदिका व अपनी विभूतिका मरते समय वियोग होनेपर बड़ा

भारी आर्तध्यान करते हैं। दूसरोंके पास अधिक सम्पत्ति देखकर उनको अनिष्ट संयोग जनित आर्तध्यान होता है। बड़े देवोंके द्वारा सेवा दिये जानेपर उनका वाहन आदि बननेपर उसको मानसिक पीड़ा रूपी आर्तध्यान होता है। विषयभोगकी चाहसे जलते रहते हैं व सदा भोग चाहते हैं इससे निदान आर्तध्यान भी होता है। अपने पास प्राप्त सम्पत्तिमें मगनता होनेसे परिग्रहानंदी रौद्रध्यान करते हैं। किसीसे पूर्वजन्मका वैर हो तो हिंसानंदी चौर्यानंदी ध्यान द्वारा उसको छिपाकर कष्ट देना चाहते हैं। कौतुकके लिये ये व्यंतरादि असत्य व हंसीके वचनोंको कहकर मृषानंदी रौद्रध्यान करते हैं, अन्य मानवोंको दुःखित करके सुख मानते हैं। संक्लेश भावधारी असुरकुमार देव तीसरे नरक तक जाकर नारकियोंको आपसमें लड़ाकर प्रसन्न हो हिंसामें ही ध्यान करते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषायोंके धारी हैं। शुद्ध भावकी प्राप्ति उनको स्वप्नमें भी नहीं होती है क्योंकि जिनके निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं हैं उनको आत्म परिणमन रूप शुद्ध भाव हो नहीं सक्ता है। वे निरंतर रागद्वेष, मोहरूप अशुद्ध भावको ही किया करते हैं। अतएव ये कुदेव, मिथ्यादेव हैं, उनकी आराधना मिथ्यादर्शन है। महान पापबंधका कारण है। मोक्षमार्गसे दूर रखनेवाली है।

श्लोक—अनन्तदोषसंयुक्तं, शुद्धभावं न दिष्ठते।
कुदेवं रौद्र आरूढं, आराधे नरयं पतं ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(कुदेवं) रागीद्वेषी कुदेव (अनन्त दोष संयुक्तं) अनन्त दोषोंको रखनेवाले हैं। वहां (शुद्ध भावं) शुद्ध भाव (न दिष्टते) नहीं दिखलाई पड़ता है वे (रौद्र आरूढं) रौद्रध्यानमें आरूढ हैं। (आराधे) उनकी भक्ति करनेसे (नरयं पतं) नरकमें गिरना होगा।

विशेषार्थ—रागी द्वेषी देव संसारी साधारण मानवोंके समान अनंत दोषोंसे परिपूर्ण है। जिनमें मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय हो उनमें दूषित भाव अनेक प्रकारके होसक्ते हैं। वहां शुद्ध आत्मीक अनुभव रूप भाव किस तरह होसक्ता है। वे परिग्रहमें मगन हैं, रातदिन विषयोंमें लीन हैं। अतएव रौद्रध्यानमें आरूढ़ हैं। ऐसे कुदेवोंकी भक्ति जो करते हैं वे तीव्र लोभी होते हैं। तीव्र ममता होनेसे वे नर्क आयुको बांधकर नर्क चले जाते हैं। कुदेवोंकी आराधना यहां तो कुछ फल

देती नहीं। उल्टा पापको बंध करती है, मनको मैला बनाती है, सच्चे देवोंकी आराधनासे विमुख रखती है, परलोकमें यह दीन हीन दशामें पटक देती है, जिससे नरक निगोद व पशु गतिके घोर दुःख सहने पड़ते हैं। जो संसारके महान कष्टोंसे बचना चाहें उनको कुदेवादिकी भक्ति न करनी चाहिये।

श्लोक—कुदेवं ये हि पूजते, वंदनाभक्ति तत्पराः।
ते नरा दुःख सहंते, संसारे दुःखभीरुहे ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—(ये हि) जो कोई (कुदेवं) कुदेवोंको (वन्दनाभक्ति तत्पराः) उनकी वंदना व भक्तिमें लीन होकर (पूजंते) पूजते हैं (ते नराः) वे मानव (दुःखभीरुहे) दुःख और भयको उत्पन्न करनेवाले (संसारे) संसारमें (दुःख) दुःखोंको (सहंते) सहन करते हैं।

विशेषार्थ—रागी, द्वेषी, देवी, देव आदिकी वंदना, भक्ति करना, शीरनी चढाना, आरती उतारना, पूजा करनी, आदि सब क्रिया करने वालेके अनंतानुबंधी कषायके कारण तीव्र पापका बंध होता है। एकेंद्रियादि, कीटादि, पशु पर्यायमें, दीन हीन मानवमें, दीन देवोंमें, या दुःख भाजन नरकके जीवोंमें उत्पन्न होनेके योग्य पापकर्मका बन्ध होजाता है। दुर्गतिमें जाकर महान् कष्ट भोगना पड़ता है। संसार तो क्लेश और भयका भरा हुआ है। ये अज्ञानी प्राणी जब उसीमें तन्मय हैं तब इसे दुःख ही दुःख मिलें इसमें क्या आश्चर्य है। मिथ्यात्वके फलसे ही नीच अवस्था होती है। अतएव जो इस भयानक दुःखी समुद्रमें क्लेश उठाना नहीं चाहते हैं किंतु सुख शांति पाना चाहते हैं उनको उचित है कि वे भूलकर भी रागी द्वेषी देवोंकी भक्ति न करें।

श्लोक—कुदेवं ये हि मानंते, कुस्थानं येऽपि जायते।
ते नरा भयभीतस्थाः, संसारे दुःखदारुणे ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ—(ये हि) जो कोई (कुदेवं) रागी द्वेषी देवोंको (मानंते) मानते हैं। (येऽपि) जो कोई (कुस्थानं) कुदेवोंके स्थानोंमें–मंदिर मठ आदिकोंमें (जायंते) भक्तिके लिये जाते हैं या संगति करते हैं (ते नरा) वे मानव (दुःखदारुणे) अत्यन्त दुःखमई (संसारे) संसारमें (भयभीतस्थाः) भयभीत रहते हैं।

विशेषार्थ—कुदेवोंकी भक्ति श्रद्धापूर्वक करना या श्रद्धाके विना भी देखादेखी करना या उन कुदेवोंकी भक्ति योग्य स्थानमें जाकर बैठना–संगति करना परिणामोंमें मिथ्यात्वको दृढ़ करनेवाला है तथा निर्विकल्प आत्मसमाधि मई रत्नत्रय धर्मसे व परम वैराग्यमय मोक्षमार्गसे दूर रखनेवाला है, संसारके मोहमें पटकने वाला है, तीव्र धनादि परिग्रहसे राग बढ़ाकर तीव्र पापका बन्ध कराने-वाला है, अतएव जो बहिरात्मा अज्ञानी मानव ऐसी मूढ़ता करते हैं वे इस चार गतिमई अनेक शारीरिक व मानसिक दुःखोंसे भरे हुए संसारमें सदा भयको पाते हैं। उनको सदा ही मरण भय, रोग भय, जरा भय, परलोक भय आदि अनेक प्रकार भय रहते हैं। वे पर्याय बुद्धि शरीरमें आपा मानने वाले मत कदाचित् शरीर छूट जावे, बिगड़ जावे, धन चला जावे, स्त्री कहीं न मर जावे, कहीं पुत्रका वियोग न होजावे, कहीं रोग न होजावे, कहीं अपमान न होजावे, कहीं समाजके लोग अप्रसन्न न होजावे, कहीं राजा रुष्ट न होजावे, कहीं अकस्मात न आजावे इत्यादि भयसे आकुल-व्याकुल रहते हुए जीवन विताते हैं।

श्लोक—मिथ्यादेवं च प्रोक्तं च, ज्ञानं कुज्ञान दृष्टते।
दुर्बुद्धिः मुक्तिमार्गस्य, विश्वासं नरयं पतं ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यादेवं च) मिथ्यादेवोंका या कुदेवोंका स्वरूप (प्रोक्तं च) इसतरह कहा गया। (ज्ञानं) इनको सुदेव रूपसे जानना (कुज्ञानं) कुज्ञान (दृष्टते) कहा जाता है। (मुक्तिमार्गस्य) मोक्षके मार्गकी ओर (दुर्बुद्धिः) मिथ्यबुद्धि इनके कारण होती है (विश्वासं) इनका विश्वास करना (नरयं पतं) नरकमें डालने वाला है।

विशेषार्थ—वीतराग सर्वज्ञका विशेषण जिनमें न प्राप्त हो वे सर्व ही पूज्यनीय देव नहीं हैं। वे सर्व ही रागी द्वेषी संसारी है। उनका स्वरूप यहां संक्षेपमें कहा गया है। इनको सुदेव समझना, पूज्य मानना, मिथ्याज्ञान है। इस ज्ञानके कारण मोक्षमार्गकी तरफ बुद्धि नहीं दौड़ती है। मोक्ष-मार्ग वीतराग विज्ञानमय है जिसमें अपने शुद्ध आत्माकी दृढ़ श्रद्धा तथा अतीन्द्रिय आनन्दकी श्रद्धा और विषयसुखकी अश्रद्धा होना आवश्यक है। कुदेवोंकी भक्ति प्रायः संसारिक प्रयोजन

वश ही की जाती है। संसारके विषय-सुखमें जो आसक्त हैं वे इन्द्रिय भोगने योग्य पदार्थोंको स्थिर रखनेके लिये व उनके साधक धनके समागमके लिये व उनके विरोधक कारणोंको मिटानेके लिये निरंतर आकांक्षावान होते हैं। वे नानाप्रकारके जगतमें प्रचलित कुदेवोंको इन लौकिक विभूतिका देनेवाला मानकर पूजते हैं। उनपर दृढ़ विश्वास लाते हैं उनमें परिग्रहका तीव्र मोह होता है इसलिये वे नरकआयु बांधकर नरकमें जाकर तीव्र दुःख उठाते हैं।

श्लोक—सुदेवं न उपासंते, क्रियते लोकमूढयं।
कुदेवे याहि भक्तिश्च, विश्वासं नरयं पतं ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थ—(सुदेवं) जो सच्चे देव श्री वीतराग सर्वज्ञ भगवानको (न) नहीं (उपासंते) पूजते हैं व (लोकमूढयं) लोकमूढ़ता करते हैं। (कुदेवे) रागी द्वेषी देवोंमें (याहि भक्तिश्च) जो कुछ भी उनकी भक्ति है या (विश्वासं) विश्वास है वह (नरयं पतं) नरकमें डालनेवाला है।

विशेषार्थ—जो अज्ञानी, बहिरात्मा है उनको आत्माकी चर्चा ही नहीं रुचती है। वे विषयासक्त हैं उनको विषयवासनाका त्याग करानेका उपदेश देनेवाले अरहंत भगवानके वाक्योंमें श्रद्धा नहीं आती है। इसलिये वे कभी सच्चे देवोंकी आराधना नहीं करते हैं। यदि देखादेखी करते भी हैं तो श्रद्धा विना वह भक्ति परिणामोंमें संसारसे वैराग्य व मोक्षमें प्रीतिभाव नहीं पैदा कर सक्ती है। वहां भी लौकिक प्रयोजनकी आकांक्षा करते हुए ही भक्ति करते हैं। उनके भावोंमें वीतरागताकी गंध भी नहीं होती है। ऐसे मूढ प्राणी लोकमूढतामें फंसे रहते हैं, इस जगतकी अवस्थाको थिर रखना चाहते हैं। स्वप्नमय संसारको सच्चा समझ लेते हैं। क्षणिक पदार्थोंकी तीव्र वांछा करके उनकी प्राप्ति कुदेवोंसे होंगी ऐसा मानकर कुदेवोंकी खूब भक्ति करते हैं, उनमें दृढ विश्वास रखते हैं। यही गृहीत मिथ्यात्त्व तीव्र पापबंध कराकर नरकमें डालनेवाला है—

श्लोक—अदेवं देव उक्तं च, अंधं अंधेन दृष्यते।
मार्गं किं प्रवेशं च, अंध कूपे पतंति ये ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ—(अदेवं) जिनमें देवपना बिलकुल नहीं है ऐसोंको (देवं) देव (उक्तं च) कहा जाता

है उनको देव मानना ऐसा है जैसे (अंधं) अन्धेको (अंधेन) अंधे द्वारा (दृष्यते) मार्ग दिखाया जावे (किं) किसतरह (मार्गं) मार्गमें (प्रवेशं च) प्रवेश होसकेगा ? (ये) ये अदेव तो (अंधकूपे) अंधे कूपमें (पतंति) डाल देते हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि कुदेवोंके भीतर अदेव भी गर्भित हैं। तथापि जिनमें देवपना, दीप्तमानपना, व देवगतिपना विद्यमान है वे देव हैं उनमें वीतराग सर्वज्ञपना न होनेसे वे रागी द्वेषी देव हैं अतएव कुदेव हैं। इनके सिवाय जिनमें देवपना बिलकुल भी न हो उनको कुदेव कहते हैं जैसे तिर्यंचगति वाले प्राणियोंको देव मान लेना जैसे–गौको देव मानना, मोरको पूजना, हाथी घोड़ा पूजना, पीपल पूजना, बड़ पूजना, तुलसी वृक्ष पूजना, अग्नि पूजना, समुद्र पूजना, नदी पूजना, वायुको देव मानना, आदि। तथा जो मात्र जड़ अचेतन हैं जिनसे देवपनका कुछ भी बोध नहीं होता है उनको देव मानके पूजना जैसे कलम, दावत, थैली, घरकी व दूकानकी देहली व कहीं इधर उधर पड़े हुए पत्थरको देव मानके पूजना, तलवारको पूजना, चक्की चूल्हा पूजना, चाक पूजना, घड़ोंको पूजना। इत्यादि सर्वको देव मानना, ये सर्व अदेव हैं। क्योंकि इनमें न रागद्वेष सहित कुदेवोंका भाव है और न वीतराग सर्वज्ञके स्वरूपका झलकाव है; ये तो मात्र कल्पना किये हुए देव हैं। इन अदेवोंकी भक्ति करना व इनसे सुख होना मानना ऐसी ही मूढता है कि जैसे कोई अंधा हो और वह मार्ग भूल जावे तब दूसरा अंधा कहे कि चलो मैं मार्ग बता दूंगा। अंधा अंधेको ले चला। उस बतानेवाले अंधेको भी मार्ग नहीं मालूम था। ऐसा अंधा मार्गप्रदर्शक उस दूसरे अंधेको लेजाकर आगे एक अंध कूपमें गिरा देता है व आप भी गिर जाता है। मार्गको न जाननेवाले अंधेसे अंधेको मार्ग किस तरह मिल सक्ता है। ये पशु व वृक्ष आदि व अचेतन जड़ आदि जिनसे सुदेव पनेका किंचित् भी बोध नहीं होता है स्वयं अज्ञानी हैं व ज्ञान रहित हैं। स्वयं संसारमें पड़े हैं, दुःख उठा रहे हैं या बिलकुल अचेतन हैं उनकी भक्ति सिवाय भक्तको अंधा रखनेके और क्या लाभ देसक्ती है। जो लोग संसाराशक्त हैं वे इन अदेवोंको भी धनकी, पुत्रकी, जयकी, निरोग होनेकी इत्यादि लालसाके वशीभूत हो पूजते हैं और अपने मिथ्यात्वको दृढ़ करते हैं।

श्री अमितगति महाराजने श्रावकाचारमें अदेवोंका कुछ स्वरूप बताया है:—

मूशलं, देहली चुल्ली पिप्पलश्चंपको जलम् । देवा यैरभिदीयंते वर्ज्यन्ते तैः परेऽत्रके ॥ ९६ ॥

भावार्थ—मूसल, देहली, चूल्हा, पीपल, चंपा, जल आदिको जो देव कहते हैं जिनमें देवपना किसी भी तरह नहीं है उनको भी जो देव मानके पुजते हैं वे चाहे जिसको देव मानलें उनसे कोई बचा नहीं है । तात्पर्य यह है कि अदेवोंको देव मानना बिलकुल ही अंधपना है ।

श्लोक—अदेवं देव दृष्टंते, मानंते मूढ संगतेः ।
ते नरा तीव्रदुःखानि, नरयं तिर्यंच पतं ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ—(मूढसंगतेः) मूढ मिथ्यादृष्टियोंकी संगतिसे जो (अदेवं) अदेवोंको (देवं) देव (दृष्टते) देखते हैं व (मानंते) मानते हैं (ते नरा) वे मानव (नरयं) नरकके (तिर्यंचं) व तिर्यंच गतिके (तीव्र-दुःखानि) तीव्र दुःखोंको (पतं) पाते हैं ।

विशेषार्थ—बहुधा जगतमें देखादेखी व कुल परम्परासे मूढ भक्ति चल पड़ी है । लोकमें यह मूढता है कि यदि जलको या नदीको पूजेंगे व उसमें स्नान करेंगे तो हमारे पाप धुल जायंगे । अग्निको पूजेंगे तो दुःख जल जायंगे, रुपयोंको पूजेंगे तो रुपया मिलेगा, बहीखाता पूजेंगे तो बहुत हिसाब किताब लिखा जायगा, बहुत धनका लाभ होगा, पीपल पूजेंगे पति जीवित रहेगा इत्यादि मूढ़ताके भाव जमाकर चाहे जिसको पूजना यह लोगोंकी मूढ़ता जगतमें फैली है । देखा-देखी दूसरे भी मानने लग जाते हैं । एक ब्राह्मण फूलोंको लिये हुए नदी स्नान करने जाते थे । मार्गके एक तरफ दुर्गंधकारक मल पड़ा था । मलकी ओर दृष्टि न पड़े इसलिये उस ब्राह्मणने कुछ फूल उसपर डाल दिये और आगे चला गया । पीछेके आने वालोंने देखा कि ब्राह्मणने यहां फूल चढ़ाए हैं, तब उन्होंने भी उसपर फूल चढ़ा दिये । फूलोंका ढेर देखकर जो कोई उधर आवे वह फूल चढ़ावे और मान्यता मांगे । कुछ आदमियोंमेंसे किसीकी मान्यता उसके पुण्यके उदयसे होगई तब वह मूढ मानने लगा कि इसी फूल देवताने हमारा काम पूर्ण किया है वह उसका और भी दृढ़ श्रद्धालु होजाता है और अपना अनुभव मित्रोंको कहता है । उसके इस मूढ उपदेशसे और भी अधिक भक्त फूल देवताके बढ़ गए । किसी समझदारने एकांतमें फूल हटाकर देखा तो

वहां मलको देखा और मूर्खतापर पछतावा किया। इसी दृष्टांतसे जगतमें कुदेव या अदेव पूजा चल पड़ी है। देखादेखी लोग अदेवका देव मान लेते हैं और पूजते हैं। इस अंधभक्तिसे घोर पापकर्म बांधते हैं जिससे नरकमें या तिर्यंचगतिमें जाकर स्वयं नारकी होजाते हैं या पीपल, नीम, करोंदा, आमके वृक्ष होजाते हैं। जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक पृथ्वीकायिक जीव होजाते हैं। फिर पतंगादि व भेड़, बकरी आदि होकर घोर दुःखको भोग सहन करते हैं। अतएव अदेवोंकी भक्ति नहीं करनी चाहिये।

श्लोक—अनंतकाल भ्रमनं च, अदेवं देव उच्यते।
अनृतं अचेत दिष्टंते, दुर्गतिगमनसंजुतं ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—जो (अदेवं) अदेवोंको (देव) देव (उच्यते) कहते हैं उनका (अनंतकाल) अनंतकाल तक (भ्रमनं) संसारमें भ्रमण होगा। यह अदेव (अनृतं) मिथ्यारूप माने हुए देव हैं (अचेत) सम्यग्ज्ञानसे रहित जड़ हैं (दिष्टंते) ऐसे दिखलाई पड़ते हैं (दुर्गतिगमनसंयुतं) इनकी भक्ति खोटी गतिमें गमनका कारण है।

विशेषार्थ—जो मिथ्या उपदेशके देनेवाले ऐसा उपदेश करते हैं कि गौ, हाथी, घोड़ा, आदि पशुको देव मानके पूजो, या पीपल, वर्गत, तुलसी आदि वृक्षोंको देव मानके पूजो, या चाकू, मूसल, चूल्हा, देहली, तलवार, कलम, दावात, बही, आदि, व कंकड़ पत्थर आदिको देव मानकर पूजो वे मिथ्यात्वमें फंसानेवाले अनंत संसारके कारण हैं। जिनके देखनेसे व जिनके गुणोंसे वीतराग भाव नहीं झलकता है वे सब आकृतियें अदेवोंमें गर्भित हैं। जो सच्चे देवकी ओर जानेसे रोकनेवाले हैं वे अदेव हैं, उनकी भक्तिका जो उपदेश देते हैं वे मिथ्यात्वके प्रचार करनेसे अनंतकाल तक संसारमें भ्रमण करेंगे। इनमें किसी भी तरह देवपना नहीं है। इनको देव मानना मिथ्या है। इन माने हुए देवोंमें अर्थात् पशु आदि पीपलादिमें तो सम्यग्ज्ञान नहीं है, यद्यपि अपने योग्य मति श्रुतज्ञान है। तथा कलम, दावात, तलवार, कागज आदिमें ज्ञानकी शून्यता ही है, वे जड़ हैं। इनकी भक्ति मात्र अंध भक्ति है; निरर्थक है, तथा पाप बंध कराकर दुर्गतिमें ले जानेवाली है।

श्लोक—अनृतं तु सत्य मानंते, विनाशं यत्र जायते ।
ते नरा थावरं दुःखं, इन्द्रियाधीन भाजनं ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहां (विनाशं) नाश (जायते) होता है ऐसे (अनृतं तु) मिथ्याको ही जो (सत्य) सच (मानंते) मान बैठते हैं (ते नरा) वे मानव (थावरं) स्थावरकाय सम्बन्धी (इन्द्रियाधीन) एक स्पर्शनेन्द्रियके आधीन (दुःखं) क्लेशोंके (भाजनं) पात्र होते हैं ।

विशेषार्थ—मिथ्याको सच मान लेना बड़ा भारी अज्ञान है । इसीसे प्राणीका नाश होता है । यदि कोई रज्जूको सर्प माने तो वृथा भयभीत हो दुःख उठावे । जो संसारिक क्षणिक सुखको सुख माने वे भी अज्ञानसे दुःख उठावे, जो मिथ्यादेवोंको, कुदेवोंको तथा अदेवोंको देव माने उनका इस जन्ममें भी नाश होगा, वे धर्मसे वंचित रहेंगे तथा परलोकमें दुर्गतिके महान दुःख प्राप्त होंगे। क्योंकि अज्ञानकी सेवा अज्ञानरूप ही फलती है । इसलिये ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टी एकेंद्रिय जाति नामा कर्म बांधकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ऐसी एकेन्द्रिय स्थावर पर्यायमें चले जाते हैं जहां स्पर्शनेन्द्रियके विषयके आधीन रहते हुए अत्यन्त पराधीन रहते हैं । चलने फिरनेकी शक्ति न होनेसे वे शरदी गरमी, तेज पवन, पाला, वर्षा आदिके निमित्त मिलनेपर बहुत वेदनाको पाते ह । वृक्षोंको कोई काटता है, छीलता है, नोचता है । उनको परकृत घोर वेदना सहनी पड़ती है, वे मूक हैं अपने दुःखको कह नहीं सक्ते। घोर अज्ञानमें जीवन विताते हैं। मिथ्यात्वकी तीव्रतासे ऐसे निमित्तमें पहुंच जाते हैं कि स्थावर कायसे त्रस होना, द्वेन्द्रियादिसे पंचेन्द्रिय होना, पंचेंद्रियसे मानव होना अत्यन्त दुर्लभ है । अतएव जो स्थावरोंके कष्टोंमें आत्माको नहीं डालना चाहते हैं उनको भूलकर भी अदेवोंकी भक्ति नहीं करनी चाहिये । न कुदेवोंकी भक्तिसे रागद्वेषको बढ़ाना चाहिये । जो संसारके भीतर रहते हुए साताकारी सम्बन्ध चाहते हैं उनको उचित है कि सर्वज्ञ वीतराग भगवानको छोड़कर अन्य किसी कुदेव या अदेवकी उपासना या भक्ति न करें ।

श्लोक—मिथ्यादेवं अदेवं च, मिथ्यादृष्टी च मानते ।
मिथ्यात्वी मूढदृष्टिश्च, पतितं संसार भाजनं ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यादृष्टी च) मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा हो (मिथ्यादेवं) रागीद्वेषी कुदेवोंको (च) और (अदेवं) अदेवोंको (मानते) मानता है। (मिथ्यात्वी) मिथ्यादृष्टी (मूढदृष्टिश्च) मूढताके भावोंमें फंसा हुआ (संसारभाजनं) संसाररूपी कूपमें (पतितं) पडा रहता है।

विशेषार्थ—अनंत संसारके भ्रमणका कारण मिथ्यात्व है। जो संसारमें आसक्त है वही संसारमें भ्रमण करता है। जो शरीरका रागी है, विषय भोगोंका लोलुपी है वह रात दिन विषयकी तृष्णामें फंसा हुआ विषय सामग्री मिलनेपर हर्ष व वियोगपर विषाद किया करता है। वह इंद्रिय सुखको ही अमृत समझता है। जैसे मृग मृगतृष्णामें चमकती हुई रेतको भ्रमसे जल समझकर आकुल व्याकुल होता है, प्यास बुझानेके स्थानपर अधिक बढ़ा लेता है ऐसे ही यह मूढ प्राणी आत्माधीन अतीन्द्रिय सुखको न पहचानकर इंद्रिय सुखोंमें तन्मय होता हुआ दुःख भोगता हुआ तृष्णाकी दाह बढ़ा लेता है। यह मूर्ख प्राणी दुःख व आकुलता व बंधके कारण इंद्रिय सुखको सुख मानकर उसीके कारण नाना प्रकार उपाय करता है। बहुतसे मिथ्या उपाय भी करता है। उन ही मिथ्या उपायोंमें कुदेवोंका व अदेवोंका पूजन है। इस भक्तिमें अपनी शक्तिको व अपने धनको वृथा खोता है और बहुत पाप संचय करता है। नर्क निगोद, पशुगतिमें व दीन हीन मनुष्य गतिमें व कांति हीन छोटे देवोंमें पैदा हो अनेक शारीरिक और मानासिक दुःख उठाता है। जैसे अंधकूपमें गिर जानेसे निकलना बडा कठिन है वैसे भयानक ससारमें पतन होनेसे इससे निकलनेका साधन जो सम्यग्दर्शन है उसका पाना कठिन है, ऐसा जानकर कुदेवोंकी व अदेवोंकी भक्ति कभी नहीं करनी चाहिये।

सुगुरु कुगुरुका स्वरूप।

श्लोक—सम्यकुगुरु उपासंते, सम्यक्तं शाश्वतं ध्रुवं।
लोकालोकं च तत्वार्थं, लोकितं लोकलोकितं ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ—ऊपर मिथ्यादेवोंका स्वरूप बताकर सच्चे देव श्री अरहंत सिद्ध भगवानकी भक्ति

करनेकी प्रेरणा की है। अब सच्चे गुरुका स्वरूप कहते हैं। (सम्यक्) सच्चा (गुरु) गुरु (शाश्वतं) अविनाशी (ध्रुवं) न अन्यरूप होनेवाले सामायिक (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शनको (च) और (लोकलोकितं) लोकमें प्रकाशित या प्रसिद्ध परम उपयोगी (लोकालोकं) लोक व अलोक स्वरूप (तत्वार्थं) सर्व तत्वार्थको (उपासंते) भलेप्रकार धारण करते हैं।

विशेषार्थ—सच्चा गुरु वही है जो सम्यग्दृष्टी व सम्यग्ज्ञानी हो। स्वाभाविक अविनाशी सम्यग्दर्शन आत्माका एक वचन अगोचर परिणति है या आत्माका एक विशेष गुण है। जिसके प्रगट होनेसे आत्माका अनुभव होजाता है। यह गुण सदा ही आत्मामें रहता है परंतु दर्शनमोह और चारित्रमोहके आवरणसे ढका हुआ होता है। यह कभी मिटता नहीं। ऐसे निश्चय सम्यग्दर्शनका लाभ जिनको हो वे ही सच्चे गुरु हैं तथा जो जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सातों तत्वोंको यथार्थ जानकर श्रद्धान करने वाले हों इनका श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है क्योंकि सात तत्वोंके मननसे ही निश्चय सम्यक्तकी प्रगटता होती है। ये सात तत्व सर्व लोकालोकका स्वरूप बता देते हैं। लोकालोक जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश इन छः द्रव्योंका समुदाय है इनका सच्चा स्वरूप ज्ञानी गुरु जानते हैं। सर्व सिद्धोंका स्वरूप पहचानते हैं। सर्व संसारी जीवोंके आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष कैसे होती है इस सर्व भेदको जानते हैं। ये ही सच्चे तत्व हैं जिनको सर्वज्ञ भगवानने प्रतिपादन किया है। ये ही सर्व बुद्धिमान लौकिक जनोंको माननीय हैं। इन तत्वोंके भीतरसे सद्गुरु शुद्ध आत्मतत्वको भिन्न पहचानकर उसीका अनुभव करनेवाले हैं।

श्री समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्डमें गुरुका स्वरूप बताया है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

भावार्थ—जो सच्चे सम्यक्ती साधु इंद्रिय विषयोंकी तृष्णासे शून्य हैं, आरंभ व धनधान्यादि परिग्रहके त्यागी हैं, ज्ञानमें, आत्मध्यानमें व तप करनेमें लीन हैं, बड़े तपस्वी हैं वेही गुरु मानने योग्य हैं।

श्लोक—ऊर्ध अधो मध्यं च, ज्ञानदिष्टि समाचरेत्।
शुद्ध तत्त्व स्थिरी भूत्वा, ज्ञानेन ज्ञानलंकृतं ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—वे सच्चे गुरु (ऊर्ध) ऊपर सुमेरु पर्वतके ऊपरसे सिद्ध लोक व अलोकाकाश तक (अघो) नीचे सुमेरु पर्वतके नीचेसे सात नर्क व लोकांत व अलोकाकाश तक (मध्यं च) तथा मध्य-लोकमें जितनी सुमेरु पर्वतकी ऊंचाई है। इस तरह तीन लोक और अलोकमें (ज्ञानदृष्टि) सम्यग्ज्ञान या भेदज्ञानकी दृष्टिका (समाचरेत्) व्यवहार करते हैं। व (शुद्ध तत्त्व) शुद्ध आत्मीक तत्त्वमें (स्थिरी भूत्वा) निश्चल रमण करते हुए (ज्ञानेन) आत्मज्ञानके द्वारा (ज्ञान) ज्ञानकी (लंकृतं) शोभा बढ़ाते हैं।

विशेषार्थ—यहां भी गुरु महाराजका स्वरूप बताया है। वे गुरु व्यवहार और निश्चयनयसे लोक व अलोकको ऊपर नीचे मध्यमें सर्व ओर देखने वाले हैं। व्यवहार नयसे छः द्रव्योंकी शुद्ध तथा अशुद्ध पर्यायोंको देखते हैं और निश्चय नयसे छः द्रव्योंके द्रव्य स्वभावको भिन्न २ यथार्थ रूपसे जानते हैं, उनमें अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप पहचानते हैं। और अपने शुद्ध आत्मीक स्वभावमें स्थिर होजाते हैं। आत्माके ज्ञानसे अपने सर्व ज्ञानको सुशोभित करते हैं। अर्थात् सर्व संकल्प विकल्पको त्याग कर व सर्व ज्ञानके भेदोंको गौण कर मात्र शुद्ध आत्मीक परिणति रूप ही परिणमते हैं। स्वानुभव द्वारा आत्माका ही अद्वैत भाव पाते हैं, ऐसे गुरु मानने योग्य हैं।

श्लोक—शुद्धधर्मं च सद्भावं, शुद्ध तत्त्व प्रकाशकं।
शुद्धात्मा चेतनारूपं, रत्नत्रयालंकृतं ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्धधर्मं च) तथा शुद्ध आत्मीक धर्म (सद्भावं) सत्तारूप भाव है। शुद्ध आत्माकी परिणति विशेष है (शुद्ध तत्त्व प्रकाशकं) यही शुद्ध आत्माके स्वरूपको झलकानेवाला है। (शुद्धात्मा) शुद्ध आत्मा (चेतनारूपं) चेतनारूप है (रत्नत्रयालंकृतं) और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन रत्नत्रयोंसे विभूषित है।

विशेषार्थ—जिस शुद्ध तत्वका अनुभव श्री सद्गुरु करते हैं उसको यहां बताया है। सम्यग्दर्शन आत्माका स्वभाव है, सम्यग्ज्ञान आत्माका स्वभाव है, सम्यक्चारित्र आत्माका स्वभाव है। जब आत्मा राग, द्वेष, मोह त्यागकर व मन, वचन, कायके व्यापारोंसे हटकर निर्विकल्प वीतराग समाधिमें जम जाता है तब वहां ये तीनों निश्चय रत्नत्रय शोभा बढाते हैं। इस अवस्थाको ज्ञान

चेतना कहते हैं। अर्थात् यहां शुद्ध आत्माके स्वभावका ही स्वाद लिया जारहा है, कर्मके स्वादका लेना बंद है, यही शुद्धात्माका स्वरूप भीतर झलकता है। यही शुद्ध धर्म या निश्चय धर्म है जिसको धारनेसे ही जीव उत्तम सुख व मोक्षको पाता है, यह धर्मपर धर्म नहीं है, आत्माका सत्तारूप भाव है। आत्माका अमिट स्वभाव है। इस तरह जो सर्व प्रपंचजालसे उदास रहते हुए आत्मीक शुद्ध परिणतिमें रमण करते हैं वे ही श्रीगुरु हैं।

श्लोक—ज्ञानेन ज्ञानमालम्व्यं, कुज्ञानं त्रिविधि मुक्तयं।

मिथ्या माया न दिष्टंते, सम्यक्तं शुद्ध दिष्टते ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानेन) आत्मज्ञानके द्वारा (ज्ञानं) ज्ञानको (आलम्व्यं) आलम्बन करते हुए (कुज्ञानं त्रिविधि) तीन कुज्ञान संशय, विमोह, विभ्रम या कुमति, कुश्रुत, कुअवधि (विमुक्तयं) छूट जाते हैं। तब (मिथ्या माया) मिथ्यात्वभाव व मायाचार या संसारका ममत्व (न दिष्टंते) नहीं दिखलाई पड़ता है किन्तु (शुद्ध सम्यक्तं) शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन (दिष्टते) दिखलाई पड़ता है।

विशेषार्थ—श्रीगुरुकी आत्मानुभवकी परिणतिकी महिमा बताई है कि जब आत्माका यथार्थ ज्ञान ज्ञानको ग्रहण कर लेता है अर्थात् सर्वांग शुद्ध आत्माका ही स्वाद आता है तब वहां कोई संशय या विपरीतता या अनध्यवसाय (ज्ञानमें वेपरवाही) ये तीन दोष नहीं रहते हैं न ऐसे आत्मानुभवीके भीतर कुमति, कुश्रुति व कुअवधि ये तीन मिथ्या ज्ञान रहते हैं। उस समय मिथ्या दर्शनका नाम तक नहीं है न वहां कोई ममता है न कोई प्रकारका मायाचार है। वहाँ शुद्ध या यथार्थ सम्यग्दर्शन दिखलाई पड़ता है। तब ही वह साधु शुद्ध आत्मीक तत्वमें जमा हुआ होता है। वास्तवमें संसारसे पार करनेवाली शुद्ध आत्माकी दृष्टि है। जिसने भेद विज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सर्व अन्य आत्माओंसे व परमात्माओंसे तथा अन्य पुद्गलादि पांच अजीव द्रव्योंसे व उन औपाधिक भावोंसे जो मोहनीय कर्मके द्वारा होते हैं भिन्न जानकर अनुभव किया है, उसीने ही शुद्ध आत्मीक भाव पानेका मंत्र पा लिया है। जो श्रीगुरु इस तरह आत्मीक शुद्ध परिणतिके व उसीके भीतर दूसरोंको भी लगानेवाले हैं वे ही सच्चे गुरु मानने योग्य हैं।

श्लोक—संसारे तारने चिंते, भव्यलोकैक तारकः ।
धर्म्मस्य अप्पसद्भावं, प्रोक्तिं जिनउक्तितं ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—(भव्यलोकैक तारकः) भव्य जीवोंके एक मात्र अद्वितीय उपकारी संसार तारक गुरु (संसार तारने) संसारी प्राणियोंको तारनेका उपाय (चिंते) विचारते रहते हैं व (जिन उक्तितं) श्रीजिनेंद्र भगवानने जैसा कहा है वैसा (अप्पसदभावं) आतमाका शुद्ध स्वभावरूप (धर्मस्य) धर्मका (प्रोक्तितं) विशेष व्याख्यान करते हैं।

विशेषार्थ—यहांपर भी सच्चे गुरुका स्वरूप बताया है। सच्चे गुरु भव्यजीवोंको सच्चा मार्ग बतानेवाले जहाजके समान होते हैं। जैसे जहाज आप तरता है तथा दूसरोंको तारता है वैसे ही आत्मज्ञानी गुरु तरन-तारन होते हैं। वे दया बुद्धि लाकर जब शुभोपयोगमें होते हैं तब यही विचारते रहते हैं कि ये संसारके प्राणी संसारमें मग्न होते हुए रात दिन दुःख उठा रहे हैं। जन्म मरण, जरा, रोग, शोक, वियोगसे व तृष्णाकी महान् ज्वालासे पीड़ित हैं, उनका उद्धार कैसे हो। उन्होंने मिथ्यात्वरूपी मदिरा पी रक्खी है इससे उन्मत्त होकर आत्माके बोधसे विमुख है। क्षण-भंगुर जगतकी मायामें मोहित हुए सच्चे सुखका भोग नहीं पारहे हैं। आकुलता व चिंतासे तड़फ रहे हैं। इनको किसतरह सम्यग्दर्शन रूपी औषधि पिलाई जावे जिससे इनकी मूर्छा दूर होजावे। जब कभी ऐसे गुरु अवसर पाते हैं, व्यवहारधर्मके साथ साथ निश्चय धर्मका भी उपदेश करते हैं क्योंकि विना निश्चयको जाने कभी भी आतमाके शुद्ध स्वरूपका बोध नहीं होसक्ता और बोध हुए विना सम्यक्त प्रगट नहीं होसक्ता। परंतु वे श्रीगुरु श्री अर्हंत भगवानके उपदेशके परम श्रद्धावान हैं। जैसा उन्होंने आत्माका सचा स्वरूप बताया है उसी तरह वे श्रीगुरु आत्माका शुद्ध स्वरूप भव्य जीवोंको समझाते हैं। अर्थात् यथार्थ धर्म बताते हैं। व्यवहारधर्म मात्र निश्चय धर्मकी प्राप्तिके लिये निमित्त कारण हैं। धर्म तो वास्तवमें आत्माका स्वभाव है और वह अभेद रत्नत्रय स्वरूप, शुद्धोपयोग है, आत्मानुभव है, ज्ञानानंदका भोग है, सहज समाधि है, मन व वचनके अगोचर एक स्वसंवेदन ज्ञान है।

धन्य हैं ऐसे श्रीगुरु जो आत्मज्ञानामृतका स्वयं पान करते हुए भव्य जीवोंको भी उसी अमृतका पान करानेका मार्ग बताते हैं।

श्लोक—ज्ञानं त्रितय उत्पन्नं, ऋजु विपुलं च दिष्टते।
मनपर्ययं च चत्वारि, केवलं शुद्ध साधकं ॥ ७० ॥

अन्वयार्थ—श्रीगुरुओंके (ज्ञानं त्रितय) सुमति, सुश्रुत, सुअवधि ये तीन सम्यग्ज्ञान (उत्पन्नं) पैदा होजाते हैं। तथा (ऋजु विपुलं च) ऋजु मनःपर्यय ज्ञान और विपुल मनःपर्यय ज्ञान भी (दिष्टते) दिखलाई पड़ता है। उनके कभी (मनःपर्ययं च) मनःपर्यय ज्ञानको लेकर (चत्वारि) चार ज्ञान भी दिखलाई पडते हैं। वे श्रीगुरु (शुद्ध केवलं) शुद्ध क्षायिक केवलज्ञानके (साधकं) साधनेवाले होते हैं।

विशेषार्थ—यहां श्रीगुरुके अनेक भेद झलका दिये हैं। इसके पहले यही बताया था कि श्रीगुरु सर्व तत्वोंके यथार्थ ज्ञाता सम्यग्दृष्टी, आत्मानुभवी व सत्य धर्मके उपदेश देनेवाले होते हैं। अर्थात् मतिश्रुत सम्यग्ज्ञानके धारक होते हैं। कोई कोई परम गुरु तप व ध्यानके बलसे अवधिज्ञानको उत्पन्न करके तीन सम्यग्ज्ञानके धारी होजाते हैं। अथवा अवधिज्ञानको न पाकर ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानको पाकर मतिश्रुत, मनःपर्यय ऐसे तीन ज्ञानके धारी होते हैं। कोई कोई अवधि और मनःपर्यय दोनों ऋद्धियोंको पाकर चार ज्ञानके धारी होजाते हैं। श्रीगुरु अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान पानेकी भावना नहीं करते हैं, तप द्वारा ये स्वयं झलक जाते हैं—वे तो मात्र शुद्ध केवलज्ञानके साधक होते हैं, जो केवलज्ञान आत्माका स्वभाव है और ज्ञानावरणीय कर्मसे ढका हुआ है। श्रीगुरुकी दृष्टि शुद्ध आत्मस्वरूप पर रहती है। शुद्धात्मानुभव ही वास्तवमें केवलज्ञानके साधक नहीं है क्योंकि ये मात्र रूपी पदार्थको ही जान सक्ते हैं।

पांच इंद्रिय और मनके द्वारा जो पदार्थोंका सीधा ज्ञान अपनी शक्ति अनुसार परोक्ष होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं। जैसे शब्द सुनना, सुगन्ध जानना, घटको देखकर जानना इत्यादि।

मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थके सम्बन्धसे दूसरे पदार्थको जानना वह श्रुतज्ञान है जैसे जीव शब्द सुनकर व लिखा देखकर जीव पदार्थका बोध होना।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा लिये पुद्गलोंका व संसारी जीवोंका स्वरूप विना इंद्रिय तथा मनकी सहायताके प्रत्यक्ष जान लेना अवधिज्ञान है। जैसे किसीके पिछले अगले जन्मकी बातोंका प्रत्यक्ष देख लेना।

किसीके मन, वचन, काय द्वारा किये हुए कार्यको व विचारको जो कोई अपने मनमें चिंतवन कर रहा हो व कर चुका हो व करेगा उस सर्व विषयको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादासे आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष जान लेना मनःपर्यय ज्ञान है। जैसे कोई साधु श्री रामचन्द्रका चारित्र चिंतवन कर रहा हो, मनःपर्यय ज्ञानवाला साधु उस साधुके चिंतवन किये हुए विषयको मनःपर्यय ज्ञानसे जान सक्ता है। इस ज्ञानका विषय परके मनोगत पदार्थ ही हैं। केवलज्ञान शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान है जो सर्व द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको एक समयमें यथार्थ प्रत्यक्ष जान सक्ता है।

चार ज्ञान तक साथ होसक्ते हैं। केवलज्ञान अकेला ही होता है। चार ज्ञानधारी तकको गुरु कहते हैं। श्री तीर्थंकर भगवानके जितने गणधर होते हैं वे चार ज्ञानधारी होते हैं। श्री महावीर भगवानके ११ गणधरोंमें श्री गौतमस्वामी मुख्य थे, इन गणधरोंसे लेकर मात्र दो ज्ञान मतिश्रुतधारी तक जितने आरम्भ परिग्रह त्यागी, आत्मज्ञानी आत्मध्यानी, शुद्ध तत्वके अनुभव कर्ता व यथार्थ धर्मके उपदेष्टा साधु हैं वे सर्व गुरु पूजने योग्य, भक्ति करने योग्य हैं। गुरुपदमें आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी गर्भित हैं—

श्लोक—रत्नत्रय स्वभावं च, अरूपी ध्यानसंयुतं।
साक्षस्य व्यक्तरूपेन, केवलं पूतं ध्रुवं ॥ ७१ ॥
कर्मत्रिविधि निर्मुक्तं, व्रततप संयम युतं।
शुद्धतत्त्वं च आराध्यं, दृष्टं सम्यकदर्शनं ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ—वे सच्चे गुरु (रत्नत्रय स्वभावं च) रत्नत्रय स्वभावमई (शुद्धतत्त्वं च) शुद्ध आत्मतत्वका ही (आराध्यं) आराधन, मनन या अनुभव करते हैं। (अरूपी ध्यानसंयुतं) जहां रूपातीत ध्यान होरहा है (साक्षस्य) जहां आत्माका (व्यक्तरूपेन) प्रगट रूपसे स्वसंवेदन है, (केवलं) वह तत्व

परके सहाय रहित केवल है (पुतं) पवित्र है, (ध्रुवं) अविनाशी है (कर्म त्रिविधि) तीन प्रकार कर्म द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्मसे (निर्मुक्तं) रहित है, (व्रत तप संयम युतं) वहां व्रत, तप व संयम भी है व जहां (दृष्टं) साक्षात् (सम्यग्दर्शनं) सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—श्री गुरु शुद्ध आत्मतत्वका ध्यान करते हैं। उसीका अनुभव करते हैं। उसीकी भावना भाते हैं। उसीका पाठ करते हैं। क्योंकि शुद्ध आत्माकी ओर दृष्टि वीतराग भावको उत्पन्न करनेवाली है। रागद्वेष मैलको काटनेवाली है। कर्मकी निर्जरा करनेवाली है। यही तत्व साक्षात् मोक्ष साधक है, शुद्ध आत्मतत्वका अनुभव रूपातीत ध्यानसे होता है जहां सिद्ध स्वरूपको अपने आत्मामें धारण किया जाता है व आपको सिद्धरूप अनुभव किया जाता है व आपको सिद्ध रूप अनुभव किया जाता है वहीं रूपातीत ध्यान है, इस अनुभवके समय आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूपसे व्यक्त है। इस समय उपयोग पांच इंद्रिय तथा मनसे बाहर होकर आत्मस्थ होजाता है, इसीको आपसे आपका ज्ञान या स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं। वहां मात्र केवल एक आपका ही अनुभव है। पर पदार्थकी ओर किंचित् भी ध्यान नहीं है। यह आत्मतत्वका अनुभव पवित्र है। रागद्वेष मलसे रहित है तथा ध्रुव है, सदा चला जानेवाला है। यदि कोई साधु शुद्धोपयोगमें जमकर क्षपकश्रेणी चढ़े तो फिर अनंतकाल तक यह स्वानुभव बना रहता है। जहां शुद्धात्माका अनुभव है वहां साक्षात् सम्यक्दर्शन है। उपयोगमय सम्यग्दर्शन है। जब कभी कोई सम्यग्दृष्टी अन्य कार्योंकी तरफ उपयोगवान होता है, आत्माकी तरफ उपयोगवान नहीं होता है। तब उसके सम्यग्दर्शन लब्धिरूपसे रहता है, द्रव्यनिक्षेप रूप रहता है, भाव निक्षेपरूप नहीं होता है। स्वानुभवमें भाव निक्षेप रूप है। जिस आत्मतत्वकी आराधना की जाती है वह ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म, रागद्वेषादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीन कर्मसे रहित शुद्ध है। व जब साधु इस तत्वका अनुभव करते हैं तब उनकी आत्मामें निश्चयसे व्रत है तप है तथा संयम है। इससे यह दिखलाया है कि जहां निश्चय रत्नत्रय होता है वहां व्यवहार रत्नत्रय स्वयं प्राप्त है। व्यवहार रत्न-त्रयके द्वारा ही निश्चय रत्नत्रय प्राप्त होता है। शुद्धात्मा ही उपादेय है यह निश्चय सम्यग्दर्शन है। शुद्धात्माहीका यथार्थ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। शुद्धात्माहीमें तन्मयता निश्चय सम्यक्चारित्र है।

शुद्धात्माके अनुभवमें तीनों अभेदरूपसे हैं तब वह साधु यद्यपि विकल्प रहित है तौ भी उसकी धारणामें सात तत्वका, देव, गुरु शास्त्रका सच्चा विश्वासरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन है। व इनही तत्वोंका यथार्थ ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान है। तथा अहिंसादि पांच महाव्रतोंमें आरूढ़पना है। इच्छा निरोधरूपी तप है तथा सामायिक नामका संयम है। आत्मध्यान करते हुए व्यवहार व निश्चय दोनों रत्नत्रयका लाभ होरहा है ऐसा ही द्रव्यसंग्रहमें श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती कहते हैं—

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा। तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ ४७ ॥

भावार्थ—दोनों ही प्रकारके मोक्षमार्गको मुनि नियमसे ध्यान करते हुए पालेता है इसलिये तुम लोग प्रयत्न चित्त होकर ध्यानका भले प्रकार अभ्यास करो। आत्मध्यानीको व्रतादिमें आरूढ रहना चाहिये। जैसा वहीं कहा है—

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जह्मा। तह्मा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

भावार्थ—क्योंकि तप करनेवाला, शास्त्रज्ञानी तथा व्रतवान आत्मा ध्यानरूपी रथकी धुरीको चलानेवाला होता है इसलिये ध्यानकी सिद्धिके लिये इन तीनोंमें रत सदा रहना योग्य है।

श्लोक—तस्य गुणं गुरुश्चैव, तारनं तारकं पुनः।
मान्यते शुद्ध दृष्टिश्च, संसारे तारनं सदा ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस शुद्ध आत्मीक तत्वकी आराधनाका (गुण) फल यह है कि (गुरुश्चैव तारनं) वह उस अनुभव करनेवाले गुरुको भी संसारसे तार देता है (पुनः) तथा इसी तत्वके धारी गुरु (तारकं) अन्य भव्य जीवोंको संसार-समुद्रसे तारनेको जहाजके समान होजाते हैं (मान्यते) वे ऐसा मानते हैं कि (शुद्ध दृष्टिश्च) कि शुद्ध आत्मतत्वकी दृष्टि ही (सदा) सदा ही (संसारे तारनं) संसारसे पार उतारनेवाली है।

विशेषार्थ—श्री गुरु तरनतारन कहाते हैं। व आप भी संसार-समुद्रसे तरते हैं व दूसरोंको भी तारते हैं। वह जहाज जिसपर चढ़कर वे आप तरते हैं व दूसरोंको भी लेजाते हैं एक शुद्ध आत्मीक तत्वका अनुभव है। उसीमें यह गुण है कि जो उसका शरण ले वह कर्मोंको काटकर, विघ्नोंका

नाशकर सीधा मोक्ष द्वीपको चला जावे। श्रीगुरुको यह दृढ़ श्रद्धान है कि मात्र निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध आत्मतत्वकी दृष्टि ही, व उसीका स्वसंवेदन ज्ञान व साक्षात्कार ही संसार-समुद्रसे तारनेकी शक्ति रखनेवाला एक अनुपम जहाज है, इसके सिवाय और कोई जहाज या उपाय हो नहीं सक्ता है। वे श्रीगुरु इसी तत्वकी आराधनाका शिष्योंको उपदेश करते हैं, सच्चा मोक्षमार्ग बताते हैं, व आप भी इसीका अनुभव करते हुए वीतरागी होजाते हैं और यदि तद्भव मोक्ष होनेकी योग्यता हुई व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हुआ तो मुक्त हो परमात्मापदपर पहुंच जाते हैं। यहां यह दिखाया है कि ऐसे आत्मानुभवी महाव्रतोंके धारी, तपस्वी, संयमी गुरुको ही सच्चा गुरु मानो। इसी गुरुकी सेवा भक्ति करो तब ही सच्चा आत्मधर्म मिलेगा व मोक्षमार्गपर गमन होसकेगा। अन्य किसी संसारासक्त ख्याति लाभ पूजादिकी चाह धारी आत्मानुभव रहित साधुको कभी सुगुरु नहीं मानना चाहिये।

श्लोक—यावत् शुद्ध गुरुं मान्यो, तावत् विगतविभ्रमः।
शल्यं निकंदवं येन, तस्मै श्री गुरुभ्यो नमः॥ ७४॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जबतक (शुद्धगुरुं) शुद्ध आत्माके अनुभवी चारित्रसे शुद्ध ऐसे गुरुकी (मान्यः) मान्यता रहेगी, भक्ति, पूजा व प्रतिष्ठा, संगति कीजायगी (तावत्) तबतक (गतविभ्रमः) कोई मिथ्याभाव नहीं रहेगा (येन) जिस गुरुने (शल्यं) माया, मिथ्या, निदान तीन शल्योंको (निकंदनं) नष्ट कर दिया है। (तस्मै) उस (श्री गुरुभ्यो) श्री गुरुको (नमः) नमस्कार हो।

विशेषार्थ—जो कोई भव्यजीव चारित्रवान, व्रत, तप, संयमके धारी, शुद्ध आत्माके अनुभवी गुरुकी सेवा करेगा उनहीको सच्चा तरनतारन गुरु मानेगा, वह सदा संसारके मोहसे दूर रहेगा। जबतक वह ऐसे सद्गुरुका भक्त होगा तबतक वह अवश्य मिथ्यामार्गसे बचा रहेगा, उसको आत्मतत्वमें व मोक्षमार्गमें कोई भ्रम या शंका नहीं पैदा होगी। श्रीगुरुका उपदेश शंकाको निवारनेवाला सदा मिलता रहेगा। जो कोई ऐसे सच्चे गुरुका शरण छोडेगा वह संसारमार्गी होकर भ्रममें पड़ जायगा, शंकाशील होजायगा, मोहमें फंस जायगा। यह सच्चे गुरु शल्य रहित होते हैं। मायाचार करके कभी कोई मन, वचन, कायकी क्रिया नहीं करते हैं। जो साधुके अठाईस मूलगुण

प्राचीन दिगम्बर जैन आचार्योंने बताए हैं उनको भलेप्रकार पालते हैं वे २८ मूलगुण श्री वट्टकेर-स्वामीने मूलाचारमें इस भांति कहे हैं—

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा। पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो ॥ २ ॥

अचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव। ठिदि भोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥ ३ ॥

भावार्थ—श्रीगुरु नीचे प्रकार साधुके २८ मूलगुण पालते हैं—

५—महाव्रत-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग।

५—समिति-ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना।

५—इंद्रियोंका निरोध।

६—आवश्यक नित्यकर्म-सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग।

१—केशोंका लोंच-अर्थात् मस्तक दाढ़ी मूछोंके बालोंको हाथोंसे ही नोंच डालना।

१—अचैलक-वस्त्रादि कोई आवरण शरीरपर न रखकर नग्न रहना।

१—अस्नान-जलादिसे स्नान नहीं करना।

१—क्षितिशयन-पृथ्वीपर शयन करना।

१—अदंतघसन-दांतोंको घसनेके लिये दंतवन न करना।

१—स्थिति भोजन-खड़े होकर भोजन हाथोंमें करना।

१—एकभुक्त-२४ घंटोंमें दिनमें एक वार भोजन करना।

२८ मूल गुण साधुके।

श्रीगुरु व्रत तप संयम सहित होते हैं। यह बात ऊपरके श्लोकोंमें कही है इसीसे यह २८ मूलगुण रूप साधु व्रतके धारी होते हैं। अनशनादि बारह प्रकारका तप पालते हैं व मुख्यतासे सामायिक रूप आत्मसंयममें व व्यवहारमें इंद्रिय व मनका निरोध रूप तथा छः कायके प्राणियोंकी दयारूप संयममें प्रवर्तते हैं। ऐसे निर्ग्रंथ आत्मरमी साधु ही परम गुरु मानने योग्य हैं। उनके चारित्रमें कोई मायाचारका भाव नहीं होता है न कोई मिथ्याभाव होता है। वे पूर्ण श्रद्धा सहित न व्रत पालते हैं न कोई निदान करते हैं, न कोई भोगाभिलाष है, न स्वर्गादि अहमिंद्रादिकी चाह है,

न मोक्षकी चाह रखकर आकुल होते हैं-परम निस्पृह हैं। आत्मानुभवके आनंदके लिये ही ध्यान करते हैं। किसी तरहका प्रशस्त या अप्रशस्त निदान नहीं करते हैं कि हमारे साधनका यह फल होना ही चाहिये। तत्वार्थसूत्रमें श्री उमास्वामी महाराजाने कहा है-"निःशल्यो व्रती"-१८-७ व्रती तीन शल्यसे रहित होता है। शल्य कांटेके समान चुभती है। निर्मल व्रतको नहीं पालने देती है। जो शल्य रहित व्यवहार व निश्चय रत्नत्रयके पालक हैं वे ही सच्चे सद्गुरु हैं, उनके चरणोंको वार वार नमस्कार हो।

श्लोक—कुगुरुं अगुरुं प्रोक्तं, मिथ्यारागादिसंयुतं।
कुज्ञानं प्रोक्तं लोके, कुलिंगी अशुभभावना ॥७५॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यारागादिसंयुतं) मिथ्यात्व तथा राग द्वेषादि भावोंको धरने वाले (कुगुरुं) कुगुरुको (अगुरु) यथार्थ गुरु नहीं ऐसा (प्रोक्तं) कहा गया है। उनके भीतर (लोके) लोकके सम्बन्धमें (कुज्ञानं) मिथ्याज्ञान है ऐसा (प्रोक्तं) कहा गया है। वे (कुलिंगी) जिन मुनिके यथार्थ भेषको छोड़कर अनेक अयोग्य भेषोंको रखनेवाले हैं। (अशुभ भावना) उनकी भावना अशुभ रहती है।

विशेषार्थ—अब यहां कुगुरु या अगुरुका स्वरूप कहना प्रारंभ किया है। जो लक्षण सुगुरुके पहले बता चुके हैं वे लक्षण जिनमें न हों वेही कुगुरु हैं तथा वेही अगुरु हैं, वे गुरु मानने योग्य नहीं हैं। क्योंकि उनके भीतर व्यवहार व निश्चय दोनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शन नहीं है। वे अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व व गृहीत मिथ्यात्वसे ग्रसित हैं। जो भक्ति व पूजा करे उस पर राग करनेवाले जो भक्ति व पूजा न करे उसपर द्वेष करनेवाले हैं। तीन लोक जीवादि छः द्रव्योंका समुदाय है। इस सम्बन्धमें उनका ज्ञान ठीक नहीं है तथा वे संसारको त्यागने योग्य-दुःखरूप नहीं समझते हैं, वे मोक्षको उपादेय तथा सुखरूप नहीं जानते हैं। अपनी बड़ाई, महिमा, मिष्ट खानपान आदि भावोंमें तल्लीन हैं। शुद्ध आत्मीक आनन्दका स्वाद नहीं पारहे हैं। उनके भावना शुद्ध स्वरूपकी नहीं है और न शुभोपयोग ही है। क्योंकि जो शुभ भाव शुद्धोपयोगकी श्रद्धा रहित है वह शुभोपयोग वास्तवमें नहीं है, सम्यग्दृष्टीके ही असली शुभोपयोग होता है। मिथ्यादृष्टीका

शुभ भाव मिथ्यात्वकी कालिमाको लिये हुए हैं, संसारका कारण है। इसलिये उसको वास्तवमें अशुभ उपयोग कहते हैं। कुलिंगी भेषधारी साधुओंके संसारकी ही व कषायपुष्टिकी ही भावना है इसलिये उनमें गुरुपना रंच मात्र भी नहीं है ऐसा जानना योग्य है।

श्लोक—कुगुरुः रागसम्बन्धः, मिथ्यादृष्टी च दिष्टते ।
रागद्वेषमयं मिथ्या, इन्द्रियविषयसेवनं ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—(कुगुरुः) कुगुरु (रागसम्बन्धः) रागभावोंसे अपना सम्बन्ध रखता है तथा (रागद्वेषमयं) रागद्वेषसे पूर्ण (मिथ्या) असत्य (इन्द्रियविषयसेवनं) पांच इन्द्रियोंके विषयोंकी सेवा किया करता है (च) इसी लिये (मिथ्यादृष्टी) मिथ्यादर्शन सहित (दिष्टते) दिखलाई पड़ता है।

विशेषार्थ—सुगुरु जब अपना प्रेम व अपना कर्तव्य वैराग्य चिंतवन तथा आत्मविचारमें रखते हैं तब कुगुरु अपना प्रेम रागवर्द्धक कार्योंमें रखते हैं। सुगुरु जब पांच इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होते हैं तब कुगुरु इन्हींमें अनुरक्त होते हैं। स्पर्शनेन्द्रियके वशीभूत हो सुन्दर गद्दे तकिये वस्त्रोंका स्पर्श व कामके वशीभूत हो सुन्दर स्त्रियोंका स्पर्श करते हैं, रसना इंद्रियवश बहुत ही इष्ट अनेक प्रकार खाद्यको भक्षण करते हैं, घ्राण इंद्रियके वश हो, अत्तर फूलेल लगाते हैं, पुष्पमालाओंसे अपने अंगको सज्जित रखते हैं। चक्षु इंद्रियके वशीभूत हो, रागभाव साधक स्त्री आदि व सुन्दर नगरादि व उपवनादिका दर्शन करते हैं, श्रोत्र इंद्रियके वशीभूत हो मनोहर गान वादित्र सुनते रहते हैं। ये इंद्रियोंके विषयसेवन इसलिये मिथ्या हैं कि इनसे सुख व तृप्ति होनेके स्थानमें तृष्णाकी दाह और आकुलता बढ जाती है तथा वे रागद्वेषको बढा देते हैं, मनोज्ञ विषयोंमें राग बढता है तब जो उनके बाधक हैं उनसे द्वेष होता है–साधकोंसे राग होता है। जिनके संसारके क्षणिक पदार्थोंमें व झूठ इंद्रिय सुखमें रंजायमान पना होगा वे किस तरह सच्चे तत्वके श्रद्धालु होसक्ते हैं। वास्तवमें वे सम्यग्दृष्टी नहीं हैं किंतु मिथ्यादृष्टी हैं।

श्लोक—मिथ्यासमय मिथ्या च, प्रकृतिमिथ्या प्रकाशए ।
शुद्धदृष्टिं न जानंते, कुगुरुसंग विवर्जए ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—कुगुरु (मिथ्यासमय) मिथ्या आगमको (च) तथा (मिथ्याप्रकृति) मिथ्या वस्तुके स्वभावको (मिथ्या) मिथ्या वचनों द्वारा (प्रकाशए) प्रकाशते रहते हैं। (शुद्धदृष्टिं) शुद्ध आत्माके तत्वको (न जानंते) नहीं जानते हैं नहीं अनुभव करते हैं। (कुगुरुसंग) ऐसे कुगुरुओंका संग (विवर्जए) दूरसे छोड़ देना चाहिये।

विशेषार्थ—वास्तवमें स्याद्वाद नय गर्भित अनेकांत ही आगम है। जिसमें वस्तुको अनेक स्वभाव रूप जैसी कि वह है दिखलाया गया हो। वस्तु किसी अपेक्षा नित्य है किसी अपेक्षा अनित्य है, किसी अपेक्षा एक है किसी अपेक्षा अनेक है इत्यादि अनेक स्वभावोंको रखनेवाला पदार्थ हुआ करता है, उस पदार्थको यथार्थ अपेक्षासे यथार्थ जो कहे तथा जिसमें आत्माकी शुद्धिका व अहिंसाका व मोक्षका व मोक्षमार्गका यथार्थ स्वरूप दिखलाया गया हो तथा जो प्रमाणसे अबाधित हो, वैराग्यसे पूर्ण हो वही सच्चा आगम या समय है। इसके विपरीत एकांत वस्तुको कहनेवाला, मिथ्या संसारके पूजा पाठमें फंसानेवाला, आत्माके अनुभव व वैराग्यसे दूर रखनेवाला, हिंसाके कार्योंमें धर्म बतानेवाला, मोक्ष व मोक्षमार्गसे विपरीत कथन करनेवाला जो प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाणसे बाधाको प्राप्त हो-रागवर्द्धक हो सो सब मिथ्या आगम हैं। कुगुरु ऐसे ही आगमका व्याख्यान करते हैं, मनोरंजक कथाओंसे श्रोताओंको राजी करके उनके अनुकूल कथन करके उनसे विषयोंकी प्राप्तिरूप स्वार्थको सिद्ध करना चाहते हैं। वस्तुका स्वभाव मिथ्या कहते हैं। उनकी सर्व वाणी मिथ्यात्वरूप होती है क्योंकि उनके भीतर मिथ्यातत्वोंकी श्रद्धा है व वे स्वयं मिथ्यात्वसे ग्रसित हैं, विषयानुरागी हैं, आत्मानंदके स्वादसे रहित हैं, शुद्ध आत्माके तत्वको जानते ही नहीं हैं, अनुभव करना तो दूर रहो। ऐसे संसारासक्त कुगुरुओंकी संगति करना उचित नहीं है।

श्लोक—कुगुरुं कुज्ञानं प्रोक्तं, शल्यं त्रिदोषसंयुतं।
कषायं वर्धनं नित्यं, लोक मूढस्य मोहितं ॥ ७८ ॥

विशेषार्थ—(कुगुरुं) कुगुरुको (कुज्ञानं) मिथ्याज्ञान धारी (शल्यं त्रिदोष संयुतं) तीन शल्यरूपी दोष सहित (नित्यं) सदा (कषायवर्धनं) कषायोंको पोषनेवाले (लोकमूढस्य) लोक मूढतामें (मोहितं) मोहित (प्रोक्तं) कहा गया है।

विशेषार्थ—कुगुरुके सम्यक्तके अभावमें सच्चा ज्ञान नहीं होता है वे मिथ्या मति व मिथ्या श्रुतके धारी होते हैं। यदि कदाचित् सर्वज्ञ कथित जिन आगमको भी जानते हैं तौभी शुद्ध आत्माकी श्रद्धा विना उनका ज्ञान मिथ्या ही होता है। वे स्वयं अपने ज्ञानसे अपना भला नहीं कर सक्ते हैं। और वे सर्वज्ञ प्रणीत आगमको नहीं जानते हैं-एकांत आगमके ज्ञाता हैं, उनके तो व्यवहारमें भी मिथ्या तत्वोंका ज्ञान होता है। कुगुरुके तीन शल्य पाई जाती हैं जो महा दोषयुक्त हैं। माया, मिथ्या, निदान ये तीन कांटे हैं। जैसे कांटा चुभ जावे तो शरीरमें चैन नहीं पड़ती है वैसे ये तीन कांटोंमेंसे एक भी कांटा हो तो धार्मिक क्रिया फलदाई नहीं होती है। माया शल्यके वशीभूत हो कुगुरु मात्र अपना महत्व जमानेके लिये धार्मिक क्रियाओंको करते हैं। शुद्धात्माके प्रकाशके लिये नहीं करते हैं। भीतरसे तो वैराग्य नहीं है न आत्मरंजक भाव है परंतु बाहरसे लोगोंको कुछ साधुपना दिखलाते हैं वे वास्तवमें नटके समान प्रदर्शक हैं, साधक नहीं। मिथ्या शल्यके वशीभूत हो यथार्थ रुचिके विना धार्मिक क्रियाओंको कर लेते हैं। जैसे रुचि विना भोजन लाभकारी नहीं होता है वैसे मिथ्या रुचि सहित धर्मका कार्य आनन्दप्रद व परिणामोंको शुद्धतामें बढ़ानेवाला नहीं होता है। देखादेखी क्रिया करना मिथ्या शल्यके दोषसे पूर्ण है। निदान शल्यके वशीभूत हो आगामी भोगाभिलाष, स्वर्गप्राप्तिकी भावना होती है-स्वात्माधीन अतीन्द्रिय अनंत सुखरूप मोक्षकी भावना नहीं होती। जिनके हृदयमें ये तीन या दो या एक भी शल्य हो वे व्रती नहीं हो सक्ते हैं। श्री अमितगति महाराजने श्रावकाचारमें शल्योंका स्वरूप कहा है—

निकर्तितुं वृत्तवनं कुठारी, संसारवृक्षं सवितुं धरित्री। बोधप्रभां ध्वंसयितुं त्रियामा, माया विवर्ज्या कुशलेन दूरं ॥ ४९-७ ॥

भावार्थ—माया शल्य चारित्र वनके काटनेको कुल्हाड़ी समान है। संसाररूपी वृक्ष उपजानेको पृथ्वी समान है। ज्ञानरूपी प्रकाशके नाशनेको रात्रिके समान है। जो अपना हित चाहे उसको मायाशल्य दूरसे ही छोडना चाहिये। बहुधा-किसी असत्य पक्षके चलानेको मायाचारसे धर्मक्रियाएं कीं व कराई जाती हैं जिनको करना उचित नहीं है। उनकी पुष्टि मायाशल्यसे की जाती है। भीतर जानता है कि ये अयोग्य है, शास्त्रोक्त नहीं है, फिर भी पक्षके मोहवश उनकी पुष्टि करता है यह मायाशल्यका नमूना है। मिथ्या शल्यका स्वरूप इस भांति कहा है—

न बुध्यते तत्त्वमतत्वमंगी, विमोह्यमानो रभसेन येन । त्यजंति मिथ्यात्वविषं पटिष्ठाः, सदा विभेदं बहुदु खदायि ॥१९-७॥

भावार्थ—इस मिथ्यात्व विषके वशमें पड़कर यह जीव तत्व कुतत्वकी परीक्षा नहीं करता है। मोहित होता हुआ, अतिशय करके मिथ्या तत्वोंका ही पक्षपाती रहता है । यह मिथ्यात्व अनेक भेदरूप है व बहुत दुःखोंका देनेवाला है। आत्महितैषी पंडितोंको उचित है कि इस मिथ्यात्वके विषको त्याग देवें । निर्मल बुद्धि करके तत्वको समझकर सच्ची रुचि सहित धर्मको पालें ।

प्रशस्तमन्यच्च निदानमुक्तं, निदानमुक्तैर्व्रतिनामृषीन्द्रैः । विमुक्तिसंसारनिमित्तभेदाद्, द्विधा प्रशस्तं पुनरभ्युदायि ॥२०-७॥

भावार्थ—निदानके त्यागी मुनिराजोंने व्रती भव्योंके लिये निदानके दो भेद कहे हैं-एक प्रशस्त दूसरा अप्रशस्त । जो मोक्षके लिये वांछा वह एक तरहका प्रशस्त है व जो संसारके निमित्तोंकी वांछा है वह दूसरी तरहका प्रशस्त है । मेरे कर्मोंका अभाव हो, मैं मुक्तिको शीघ्र जाऊँ यह मुक्ति निमित्त प्रशस्त निदान है । मुझे धर्मके साधक कुल, जाति, देश, शरीर धनादि मिलें यह संसार निमित्त प्रशस्त निदान है ।

अप्रशस्त निदान भोगोंकी व मान पानेकी इच्छाको कहते हैं । ये खोटा निदान तो व्रतीको छोड ही देना चाहिये । प्रशस्त निदान विकल्प अवस्थामें कदाचित् होसक्ता है, परन्तु निर्विकल्प अवस्थाका बाधक जानके यह भी त्यागने योग्य है। व्रतीको किसी प्रकारकी इच्छा न करके समभावसे चारित्र पालना चाहिये । सम्यग्दृष्टी मुक्तिको अपने पास ही समझता है । उसको दूरसे लाना नहीं है । इसलिये उसकी भी चाह नहीं करता है तब शुभ गतिकी चाह भी क्यों ? करेगा भोगोंकी चाह करना तो महान विपरीत निदान शल्य है । कैसे हैं भोग, वहीं कहा है—

ये पीड़यंते परिचर्यमाणाः, ये मारयंते बत पोष्यमाणाः । ते कस्य सौख्याय भवंति भोगा, जनस्य रोगा इव दुर्निवाराः ॥ २७-७ ॥

भावार्थ—इन भोगोंको सेवन करनेसे ये पीड़ा पैदा करते हैं । इनको पुष्ट करनेसे ये अपना घात करते हैं, ये भोग नहीं मिटने वाले रोगके समान हैं । इनसे किसी भी मनुष्यको सुख नहीं होसक्ता है । भोगका निदान आत्माका महान बुरा करनेवाला है ।

उन कुगुरुओंके मिथ्याज्ञानके कारण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंकी वृद्धि नित्य होती रहती है । साधुपना कषायोंके घटानेके लिये धारण किया जाता है परंतु अज्ञानी साधु उल्टी

अपनी कषाय बढ़ा लेते हैं। यदि कोई विनय नहीं करे व आज्ञाके अनुसार पदार्थ न लावे तो उनको क्रोध आजाता है। जैसे जैसे उनकी भक्ति मूढ़ लोग करते हैं वैसे वैसे उनका मान बढ़ता जाता है। विषयभोग और मान पानेका लोभ भी बढ़ता जाता है। इस मान व लोभके वशीभूत हो माया कषायका प्रयोग भी बढता जाता है। ये कुगुरु लोककी मूढतामें फंसे रहते हैं। जैसे मूढ जीव स्त्री पुत्रादिमें आसक्त हैं वैसे वे अपनी गद्दी, अपने शिष्य, अपने मानमें आसक्त हैं। प्रशंसाके भूखे हैं। साधारण जनताको अपना भक्त जानकर उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। ऐसे कुगुरु दूरसे ही छोड़ने लायक हैं।

श्लोक—इन्द्रियाणां मनो नाथः, प्रसरंतं प्रवर्तते।
विषयं विषम दिष्टं च, तन्मतं मिथ्याभूतयं ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(मनः) मन (इंद्रियाणां) पाचों इंद्रियोंका (नाथः) नाथ है। (प्रसरंतं) जितना इसे फैलाया जाय यह (प्रवर्तते) वर्तता है या दौडता है (विषम) भयानक व कठिन (विषयं) विषयोंको (दिष्टं च) देखा करता है (तत्) इस मनको (मिथ्याभूतयं) मिथ्याभूत या मिथ्या काम करनेवाला (मतं) कहा गया है।

विशेषार्थ—जिनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरणकी शक्ति नहीं है उनका मन जगत पदार्थोंमें मोही होता हुआ रात दिन दौडा करता है। मनवाले प्राणियोंके मन ही मुख्य स्वामी कार्य करनेवाला है। मनकी प्रेरणासे इंद्रियाँ काम करती हैं। यह मन ऐसा चंचल या अनर्थ काम करनेवाला है कि बडे बडे कठिन इंद्रियोंके विषयोंकी तरफ अपनी दृष्टि डालता है। उनको प्राप्त करनेकी व उनको भोगनेकी चाहना किया करता है। यदि इस चचल घोडेपर लगाम न हो तब तो यह कहां २ जाता है इसकी कोई मर्यादा नहीं। यह इन्द्रकी सम्पदा चाहता है, इन्द्राणी व अप्सराओंके साथ भोग चाहता है, स्वर्गके रत्नमयी महलोंका निवास चाहता है, इन्द्रकी सभा चाहता है जहां अनेक देव देवी प्रणाम कर रहे हों। अनेक देवियोंसे अपनी सेवा कराना चाहता है, चक्रवर्ती नारायण प्रतिनारायणकी विभूति चाहता है, राजा महाराजोंकी, सेठ साहूकारोंकी विभूति देखकर अपनाना

चाहता है, सुन्दर सुन्दर स्त्रियोंको देखकर उनको भोगना चाहता है। अच्छे २ महल बाग बगीचे देखकर सुनकर व बड़े२ नगरोंकी रमणीकता जानकर व सुनकर उनमें सैर करना चाहता है। बड़े २ धनिकोंकी विभूति अपने पास होजाय ऐसा विचारा करता है। मैं सबपर आज्ञा करने लगूं ऐसा प्रभुत्व चाहता है। मैं कभी बूढ़ा न होऊं, मरूं नहीं, रोगी न होऊं, वियोगी न होऊं, मेरी स्त्री सदा आज्ञाकारिणी रहे, बहुतसे पुत्र पुत्री होवें, खूब धन कमाऊं, उनके विवाहमें खर्च करके, खूब अपना नाम करूं इत्यादि बे गिनती हवाई भावोंको बनाया करता है। तीन लोकमें बेधड़क पहुंच जाता है। तीन लोकके इंद्रिय विषयोंको अपनाना चाहता है। अपनी शक्ति व योग्यताका कुछ भी विचार न करके अपनेको दौड़ाया करता है। इसका सारा विचार स्वप्न समान मिथ्या होता है। वृथा ही अपध्यान करके यह परिणामोंको रागी द्वेषी बना देता है जिससे वृथा ही पापकर्मका बंध होता है। इस मनको ज्ञानियोंने नपुंसक व अनर्थकारी व मिथ्यारूप तथा एक प्रकारका मोह ग्राह कहा है। बृहत् सामायिकपाठमें श्री अमितगति आचार्य मनका चरित्र कहते हैं—

मनसि दिविनयोषा यासि पातालमंग। भ्रमसि धरणिपृष्ठं लिप्स्यसे स्वांतलक्ष्मीन् ॥
अभिलषसि विशुद्धां व्यापिनीं कीर्तिकांतां। प्रशमसुखसुखाब्धिं गाहसे त्वं न जातु ॥ २८ ॥

भावार्थ—हे मन! तू देवियोंको भोगना चाहता है, कभी पातालमें जाता है, कभी सारी पृथ्वीपर घूमता है, मनमानी लक्ष्मी चाहता है, जगतव्यापिनी निर्मल कीर्ति चाहता है, तू चाहकी दाहमें ही जला करता है किंतु सुख शांतिमय समुद्रमें कभी भी गोता नहीं लगाता है।

श्लोक—उत्साहं मिथ्या कृत्वा, अभावं असुखं परं।
माया मोह असत्यस्य, कुगुरुः संसारभाजनं ॥८०॥

अन्वयार्थ—(कुगुरुः) कुगुरु मनके द्वारा (मिथ्या) झूठा (उत्साहं) उत्साह (कृत्वा) करके (अभावं) इच्छानुकूल पदार्थको न पाते हुए (परं) घोर (असुखं) दुःखको भोगते हैं (माया मोह असत्यस्य) माया, मोह, असत्यके भाजन होते हुए (संसारभाजनं) संसारके ही पात्र बने रहते हैं।

विशेषार्थ—ऊपरके श्लोकमें जो मनका स्वरूप बताया है उस प्रकारके मनके धारी कुगुरु होते

हैं। मनमें अति दुर्लभ उत्साह होता है कि ऐसी २ वस्तु प्राप्त होवें। जब वह नहीं मिल सक्ती हैं तो बडा भारी कष्ट भोगता है, चिंतामें फंसा रहता है, मिथ्यादर्शनके कारण कुगुरुमें मायाचार मोह व असत्य धर्मका वास होता है। न तो वे तत्वको निर्णय करते हैं न संसारके मोहको हटाते हैं, मिथ्या तत्वकी श्रद्धा करते हुए, विषयोंकी वांछा रखते हुए, मायामें फंसे हुए, ऐसे कुगुरु संसार हीमें भ्रमण किया करते हैं। ऐसे कुगुरु पाषाणकी नावके समान हैं-आप भी डूबते हैं व औरोंको भी डुबाते हैं। जबतक अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यादर्शन रूपी विषका वमन न किया जावे तबतक संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य तथा आत्म रुचि नहीं पैदा होती है। इसीलिये मन चंचल रहकर विषयोंके वनमें भ्रमण करता रहता है। वे कुगुरु बाहरी दिखावटी धर्मको ही अपनी इच्छाकी पूर्तिका साधन बना लेते हैं। जो अपना हित चाहें उनको उचित है कि ऐसे कुगुरुओंकी भक्ति व संगति न करें।

श्लोक—आलापं असुहं वाक्यैः, आर्तिरौद्र समाचरेत्।
क्रोधमायामदं लोभं, कुलिंगी कुगुरुं भवेत् ॥८१॥

अन्वयार्थ—(कुलिंगी) खोटे भेषधारी (कुगुरुं) कुगुरु (असुहं वाक्यैः) अशुभ या न सुहाने योग्य वचनोंसे (आलापं) बात करते हैं। (आर्तिरौद्र) आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका (समाचरेत्) व्यवहार करते हैं (क्रोधमायामदं लोभं) क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें (भवेत्) कुगुरुमें होती हैं।

विशेषार्थ—कुगुरु भेषधारी साधुओंके भीतर आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान बर्ता करता है क्योंकि जब उनको शुद्ध आत्मीक तत्वकी प्रतीति नहीं होती है तथा अतीन्द्रिय सुखका अनुभव नहीं होता है तब वहां धर्मध्यान असंभव है। धर्मध्यानके अभावसे दो खोटे ध्यान किसी न किसी रूपमें रहते हैं।

इष्ट परिग्रह, विषय, दास आदिके वियोगमें उनको इष्टवियोग आर्तध्यान होजाया करता है मनके अनुकूल न चलनेवाले व मनके अनुसार न वर्तनेवाले शिष्योंके कारण व अनिष्ट स्थान भोजन पान वस्त्रादिके लाभसे उनको अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान होता है। शरीरमें रोगादि होनेपर तीव्र पीड़ाकी चिंतामें पड़ जाते हैं व इससे पीड़न चिंतवन आर्तध्यान होता है। पाच इंद्रियोंके भोगोंकी

इच्छा रहती है कि आगामी इस लोक व परलोकमें मनोज्ञ इन्द्रियोंके भोगने योग्य पदार्थ प्राप्त हों। इसतरह निदान आर्तध्यान रहता है। जीवदया न होनेसे प्रमाद सहित आचरण करते हुए या अपना कोई मनोरथ परकी हिंसा करके या परको बाधा देकर भी सिद्ध होता जाने तो गुरुके हिंसानंदी रौद्रध्यान होजाता है। अपना स्वार्थ सिद्ध करनेको मिथ्या वचन बोलते हुए व उससे काम सिद्ध होते हुए मृषानंदी रौद्रध्यान होजाता है। कुगुरु बहुधा गुप्त रीतिसे इंद्रियोंके विषय सेवन करते हैं इससे चौर्यानंदी रौद्रध्यान होजाता है। परिग्रहमें अनुरागी, मोही होनेसे अपने पास परिग्रह बढता हो व दूसरोंके धनादिकी वृद्धि होरही है ऐसा देखकर परिग्रहानंद रौद्रध्यान होजाता है।

कुगुरु साधुओंका वचन स्वार्थको लिये हुए अशुभ ही होता है। उनका उपदेश जीवोंको मोक्षमार्गमें लगानेके स्थानमें संसारमार्गमें लगा देता है। क्रोधादि चारों कषायोंकी प्रबलता इनके होती है। ऐसे गुरु कुगुरु हैं।

श्लोक—कुगुरु पारधी सदृशं, संसार बन आश्रयं।
लोक मूढस्य जीवस्य, अधर्मं, पासिबंधनं ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थ—(कुगुरु) खोटे गुरु (पारधी) पक्षी पकडनेवालेके (सदृशं) समान होते हैं जो (संसार बन आश्रयं) संसार रूपी वनमें आश्रय करनेवाले (लोक मूढस्य) लोक मूढतामें फँसे (जीवस्य) जीवोंको (अधर्मं) मिथ्या धर्मरूपी (पासिबंधनं) जालमें फाँसकर बांध लेते हैं।

विशेषार्थ—जैसे पक्षी पकडनेवाले चिडीमार जंगलमें पक्षियोंको पकडनेके लिये जाल बिछाकर उसमें उनको खींचनेवाला अन्नादि पदार्थ डाल देते हैं, उसके मोहसे पक्षीगण अपना स्वार्थ सधेगा इस भावसे विश्वास करके जालके भीतर आजाते हैं और तुरन्त फंस जाते हैं, निकल नहीं सक्ते-बन्धनमें पडकर पराधीन हो कष्ट सहते हैं। इसी तरह कुगुरु संसार वनमें घूमनेवाले भ्रमनेवाले अज्ञानी प्राणियोंको अधर्म रूपी जालमें फंसानेके लिये मीठे २ वचनोंसे संसार वर्द्धक, विषय कषाय पोषक उपदेश देकर उनको फंसा लेते हैं। वे और भी पराधीन हो संसारमें दीर्घकाल घूमकर कष्ट उठानेवाले होजाते हैं। यदि कोई ऐसा उपदेश करदे कि पशुओंकी बलि देवताओंको चढानेसे

देवता प्रसन्न होते हैं बलि देकर मांसका प्रसाद खाने व बांटनेसे पुण्य होता है, लौकिक काम सिद्ध होजाते हैं, प्राणी स्वर्गमें जाते हैं, तौ वह कुगुरु प्राणियोंको अधर्मके जालमें फांस देते हैं। कोई यदि ऐसा उपदेश करदे कि गंगा यमुनामें स्नान करने मात्रसे पाप धुल जाते हैं। अज्ञानी लोग ऐसा मानकर स्नानमें ही धर्म समझने लगते हैं। अपनी सर्व शक्ति लगाकर दूर दूरसे स्नान करने आते हैं। जल स्नान एक आरंभका कार्य है। जिसमें स्थावर व त्रस जीवोंकी हिंसा होती है, इसमें धर्म मानना भूल है। स्नान करके परमात्माका भजन किया जाय तो धर्म होसक्ता है। परंतु इस बातको न समझकर स्नानसे ही धर्म मानकर रूढिके वशमें पड़ जाते हैं, इसी तरह यदि कोई उपदेश करदे कि अग्निमें जल जानेसे सतीपना होता है या अग्नि जलाकर कायको क्लेश मात्र देनेसे धर्म व तप होता है तो यह उपदेश मिथ्या है। जीते हुए शीलव्रत पालना सती धर्म है। पांच इन्द्रियोंको जीतकर आत्मध्यान करना धर्म व तप है। इस सत्यको न पाकर लोग मिथ्या क्रियामें फंस जाते हैं। सती होनेवालीके वस्त्राभूषण उनके गुरुओंको मिल जाते हैं। लोभके वशीभूत हो कुगुरु ऐसा उपदेश कर देते हैं जो अपने पिताके नामसे श्राद्ध करे, उस दिन गुरुओंको सोना, चांदी, जवाहरात दे तो उसके पिताको परलोकमें यह सब मिल जाता है। इत्यादि कषायवश बहुतसे ऐसे मार्ग कुगुरु चला देते हैं जिसमें अधर्म होता है परंतु धर्म मान लिया जाता है। रागी द्वेषी देवोंकी आराधना कुगुरुओंके उपदेशसे ही चल पड़ी है। उनका उपदेश होता है कि इन कुदेवोंकी मान्यता करो, प्रसाद चढाओ, इनको आभूषण चढाओ, सोना चांदी चढाओ तो बड़ा भारी कष्ट दूर होता है, खेती फलती है, पुत्र होता है, आदि २ अनेक लोभोंमें फंसाकर जगतके प्राणी मार्गच्युत कर दिये जाते हैं। यह सब कुगुरुओंके उपदेशका कुफल है।

श्लोक—पतंते ते बने जीवाः, पारधी वृषजालकं।
विश्वासं अहं बन्धेः, लोकमूढः न पश्यति ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ—(ते जीवाः) वे भोले प्राणी (बने) इस संसार वनमें (पारधीवृषजालकं) कुगुरु पारधीके धर्मके नामसे फलाए हुए अधर्मके जालमें (विश्वासं) विश्वास करके (पतंते) गिर जाते हैं (अहं बंधेः) मैं बंध जाऊंगा, इस बातको (लोकमूढः) संसारासक्त प्राणी (न पश्यति) नहीं देखता है।

विशेषार्थ—जैसे पारधीके जालमें पक्षी निवास करके फंस जाते हैं वैसे मूढ प्राणी कुगुरु पारधीके अधर्मरूपी जालमें विश्वास करके फंस जाते हैं। उनको मूढताके वश यह ध्यान नहीं आता है कि यह धर्म नहीं है यह तो अधर्मका जाल है, यहां जावेंगे तो बंध जांयगे।

मूढ लोग रातदिन धनकी, पुत्रकी, यशकी, रोग रहित रहनेकी, न मरनेकी चिंतामें लगे रहते हैं। उनको आत्माके कल्याणका बिलकुल खयाल नहीं होता है। लौकिक पूजनके सिद्ध करनेके लिये वे कुगुरुओंकी बातोंमें फंस जाते हैं। उनपर विश्वास करके कुदेवोंको मानने लगते हैं। अधर्मको आचरने लगते हैं। मिथ्या तप करके घोर कष्ट उठाते हैं। विषयोंके भोगकी तृष्णाको बढ़ा लेते हैं। इष्टके वियोगमें घोर आकुलता करते हैं। हिंसाकारी अनेक यज्ञोंको रचाते हैं। घोर आरम्भ करते हैं। वैराग्यमई पूजा पाठको छोडकर रागवर्द्धक पूजा पाठ व लीलामें फंस जाते हैं। इंद्रियोंको प्रिय ऐसे नाचने गानेमें धर्म मान लेते हैं। युद्धादिकी कथाओंको पढकर रंजायमान होनेमें ही धर्म समझ लेते हैं। वीतराग विज्ञानमय शुद्ध आत्माकी परिणति धर्म है इस बातका न उपदेश पाते हैं न इस तरफ मन, वचन, कायको लेजाते हैं। यह सब कुगुरुके उपदेशका प्रताप है।

श्लोक—कुगुरुं अधर्म विश्वस्ताः, अदेवं कृतताडनं।
विकहा रागमय जालं, पाश विश्वास मूढयं ॥ ८४ ॥
वने जीवा रुदन्त्येवं, अहं बद्धं एक जन्मयं।
अगुरुं लोक मूढस्य, बन्धनं जन्म जन्मयं ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ—(कुगुरुं) खोटे गुरुका व (अधर्म) खोटे धर्मका (विश्वस्ताः) विश्वास करते हुए (अदेवं) कुदेवोंके द्वारा (कृतताड़नं) ताडन किए हुए अर्थात् कुदेवोंको भक्तिमें भयके कारण लगे हुए (विकहा) विकथा (रागमय) का राग स्वरूप (जालं) जाल, जिसकी (विश्वासमूढयं) विश्वास मूढतारूपी (पाश) रस्सी है उसमें फँसे हुए (लोकमूढस्य) लोक मूढताके कारण (अगुरं) कुगुरुओंके द्वारा (जन्म जन्मयं) जन्म जन्ममें (बंधनं) घोर बंधन प्राप्त करते हैं जब कि (वने) वनमें (जीवा) पक्षीगण या मृगगण (अहं बद्धं) हम बंध गए हैं (एवं) ऐसा (एक जन्मयं) एक जन्ममें ही (रुदन्ति) रुदन करते हैं।

विशेषार्थ—यहां दिखलाया है कि पारधीके जालमें फंसकर पशुओंको एक जन्ममें ही रुदन कर करके दुःख उठाना पडता है, परन्तु जो कुगुरु पारधीके जालमें फंस जाते हैं वे जन्म जन्ममें दुःख उठाते हैं। मूढ प्राणी संसार शरीर भोगोंके लोलुपी होते हुए कुगुरुके अधर्ममय उपदेशका और कुगुरुका विश्वास कर लेते हैं। अनेक कुदेवोंको व अदेवोंको पूजते फिरते हैं। भय यह रखते हैं कि यदि उनको न मानेंगे तो ये हमसे नाराज होकर हमारा अनिष्ट कर देंगे। इस तरह कुदेव, कुगुरु, कुधर्मको मानते हुए चार विकथाओंके रागमें फंसे रहते हैं। विकथाओंका राग जाल है। उसमें मूढताईसे विश्वास करना यही इस जालकी रस्सी है जिसमें मूढ प्राणी फंस जाते हैं। धर्म कथाकी रुचि न रखते हुए स्त्री कथा, भोजन कथा, चोर कथा, व राज कथा आदि अनेक मिथ्या पापयुक्त कथाओंके पढने सुननेमें लग जाते हैं। अधर्म पोषक अनेक कथाओंपर विश्वास कर लेते हैं। कुगुरु जन मूढ लोगोंको अधर्ममें फंसानेके लिये ऐसी राग वर्द्धक व भय देनेवाली कथाएं रच देते हैं जिससे उनको यह भय होजाता है कि यदि हम इस मार्गपर न चलेंगे तो हमारा बहुत अहित होगा।

वास्तवमें जिन कथाओंसे आत्म परिणति आत्माकी शुद्धिके मार्गमें लग जावे-संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यरूप होजावे, जीवदया, परोपकार व चारित्रमें दृढ होजावे, हिंसादि पापोंसे विरक्त होजावे, स्नेहके जालसे निकलनेका भाव दृढ कर सके; मानव जीवनको सफल कर सके वे तो यथार्थ कथाएं हैं। इनके सिवाय सर्व विकथाएं हैं। विकथाओंका विश्वास करके मिथ्यात्वका आराधन यहां करके घोर पाप बांधते हैं, मर करके दुर्गतिमें जाते हैं, महान कष्ट उठाते हैं। मिथ्यात्वके समान कोई बंधन नहीं है, कोई जाल नहीं है। इस जालमें फंसा प्राणी भव भवमें कष्ट पाता है फिर उस भोले जीवको मनुष्य जन्म अनेक जन्मोंमें भी मिलना दुर्लभ होजाता है। तथा सच्चे गुरुका समागम तो बड़ा ही कठिन होजाता है।

प्रयोजन यह है कि जो अपना हित करना चाहें वे कुगुरुओंकी संगतिसे अपनी रक्षा करें।

श्लोक—अगुरुस्य गुरुं मान्याः, मूढ दृष्टिं च संगताः।
ते नरा नरयं यांति, शुद्ध दृष्टि कदाचन ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ—(अगुरस्य) मिथ्या गुरुको (गुरुं) गुरु (मान्याः) माननेवाले (मूढदृष्टि च संगताः) मिथ्यादृष्टिपनेकी संगति करनेवाले (ते नरा) जो मनुष्य हैं वे (नरयं) नरक (यांति) जाते हैं उनको (शुद्धदृष्टि) शुद्ध सम्यक्‌दृष्टि (कदाचन) कभी भी नहीं होती है। अर्थात् उन्हें सम्यग्दर्शनका लाभ कठिन है।

विशेषार्थ—ऊपर जो कुछ कुगुरुका स्वरूप कहा गया है इस तरहके जो कुगुरु संसारमें फंसानेवाले हैं उनकी जो भक्ति करते हैं, उनके मिथ्या उपदेशको मानके मूढताईसे कुदेवोंकी व कुधर्मकी आराधना करते हैं वे बहु आरम्भ व बहु परिग्रहके आसक्तवान जीव नरक आयु बांधकर नरक जाते हैं। उनको सम्यग्दर्शनका लाभ मिलना ऐसा दुर्लभ है कि मानों कभी होगा ही नहीं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनको सम्यग्दर्शन कभी न होगा। परन्तु यह तात्पर्य है कि उनको सम्यक्‌का लाभ बहुत दुर्लभ है। उनके तीव्र मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषायका बंध पड़ जाता है जिससे एक तो उनको सच्चे आत्मतत्वके उपदेश पानेका अवसर नहीं मिलता। यदि कदाचित् अवसर भी मिले तो उनका भाव नहीं जमता। गाढ मिथ्यात्वभाववालेको धर्मोपदेश उस तरह कटुक भासता है जैसे पित्तज्वर वालेको मीठा भोजन कडुआ मालूम होता है। ऐसा जानकर मिथ्या देव गुरु धर्मका आराधन कभी करना योग्य नहीं है।

श्लोक—अनृतं अचेतं प्रोक्तं, जिनद्रोही वचलोपनं।
विश्वासं मूढजीवस्य, निगोयं जायते ध्रुवं ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ—(वचलोपनं) जिनेन्द्रकी आज्ञाको छिपाकर उपदेश करना (अनृतं) मिथ्या (अचेतं) अज्ञानरूप (जिनद्रोही) जिनेन्द्रसे विपरीत (प्रोक्तं) कहा गया है। (विश्वासं) उसपर विश्वास करनेवाले (मूढजीवस्य) मूर्ख बहिरात्माको (ध्रुवं) निश्चयसे (निगोयं) निगोदमें (जायते) जन्म लेना पड़ता है।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवानने जैसा अनेकांत स्वरूप वस्तुको बताया है व शुद्धोपयोगको धर्म बताया है, संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य सिखाया है, अहिंसा पालनेका मुख्य कर्तव्य समझाया है। इत्यादि श्री जिनका जो उपदेश है उस उपदेशको लोपकर जैन गुरु नाम धराकर जो ऐसे गुरु द्वारा उससे विपरीत रागद्वेष वर्धक व मिथ्यात्व पोषक उपदेश किया जाना वह मिथ्या है, अज्ञानरूप

है और श्री जिनेन्द्र भगवानके साथ मानों द्वेष करना है। मूढ जीव उन गुरुओंके कथनपर विश्वास कर लेते हैं और उनके अनुसार चलने लगते हैं। अज्ञानरूप धर्मकी क्रियासे वे घोर ज्ञानावरणी कर्मका बंध करते हैं और ऐसी पर्यायमें चले जाते हैं जहां लब्ध्यपर्याप्त अवस्थामें अक्षरके अनंतवें भाग अति तुच्छ ज्ञान रह जाता है। इस पर्यायको निगोद कहते हैं। निगोदमें चले जानेपर फिर वहांसे निकलना बहुत दुर्लभ होता है। जैसे–मकान, मठ, खेत, बाग आदिको रखते हुए, शय्या, गद्दी, तकिये आदिपर शयन करते हुए, अतर फुलेल लगाते हुए, पुष्प-मालाओंको सूंघते हुए, राग वर्द्धक कथा संलाप करते हुए, पालकीपर चढकर चलते हुए भी अपनेको दिगम्बर जैनका गुरु मानकर लोगोंसे उसी समान भक्ति करवाना, अपनेको आचार्य समझना, अपने आडम्बरके लिये लोगोंको तंग करके पैसा लेना आदि क्रियाएं श्री जिन वचनको उल्लंघन करनेवाली हैं। जिनवाणीमें परिग्रह आरम्भ रहित परम वैराग्यवान इंद्रिय विजयी शुद्ध आत्मरमीको जिन साधु कहा है यह अपनेको जैन साधु मानकर जिन आज्ञा लोपकर विपरीत कहता, मानता व चलता है व भक्तोंको भी यही विश्वास कराता है। ऐसे जिन द्रोही मिथ्यावादी कुगुरु पाषाणकी नौका समान स्वयं भी भवसागरमें डूबते हैं व भक्तोंको भी डुबाते हैं–निगोदमें उनको जन्म लेना पडता है।

श्लोक—दर्शनभ्रष्ट गुरुश्चैव, अदर्शनं प्रोक्तं सदा।
मान्यते मिथ्यादृष्टिः, शुद्ध दृष्टिः न मान्यते ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनभ्रष्ट) सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट (गुरुश्चैव) गुरुके ही (सदा) नित्य (अदर्शनं) मिथ्यादर्शन (प्रोक्तं) कहा गया है। ऐसे मिथ्यात्व सहित गुरुको (मिथ्यादृष्टिः) मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा (मान्यते) मानता है (शुद्ध दृष्टिः) सम्यग्दृष्टी (न मान्यते) नहीं मानता है।

विशेषार्थ—जो जिन आज्ञाको उल्लंघन करके औरका और जाने माने व उपदेश करे उसके जिन वचनोंपर श्रद्धा न होनेसे वह व्यवहार सम्यग्दर्शनसे भी रहित है, निश्चय सम्यग्दर्शन तो उसके पास हो ही नहीं सक्ता। वे कुगुरु सदा ही मिथ्यादर्शन रूपी घोर मैलसे लिप्त रहते हैं। उनको जिनेन्द्रके उपदेशका भय नहीं रहता है। वे मनमानी चलते हैं, स्वच्छंद वर्तन करते हैं।

कभी २ ऐसे गुरु निश्चयनयके एकांतको पकडकर अपनेको तत्वज्ञानी, शुद्धोपयोगी, बंध व मोक्षसे रहित मान बैठते हैं और मन, वचन, कायकी क्रियासे आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा निश्चयसे मानकर व्यवहार मार्गमें चलते हुए व्रत, तप, शील आदिकी कुछ भी परवाह नहीं रखते हुए मनमाना आचरण करके अपना संसार बढाते हैं। जिनेन्द्रकी आज्ञा तो यह है कि स्वानुभवके लिये निश्चय दृष्टिसे जगतको देखो तब अपना व परका आत्मा शुद्ध एकाकार दीखेगा। इससे साम्यभाव आयगा। समाधिका लाभ होगा। परन्तु जब स्वानुभव नहीं हो और व्यवहार मार्गका आलम्बन लेना पडे, व्यवहारमें वर्तांव करना पडे तब निश्चयनयको गौण कर व्यवहारनयकी मुख्यतासे व्यवहार करना चाहिये। अपने पाप कर्मका बंध भी देखना चाहिये। अरहंत व सिद्धोंको बंध रहित देखना चाहिये। उनकी भक्ति करनी चाहिये। अशुभ भावोंसे बचनेके लिये शील व व्रत पालना चाहिये, संयमसे रहना चाहिये, जिन आज्ञाके अनुसार व्यवहार चारित्र यथोचित पालना चाहिये, तथापि दृष्टि निश्चयनयपर रखते हुए शुद्ध भावोंमें जमनेका उद्यम रखना चाहिये। व्यवहार मार्गका एकांत भी मिथ्यात्व है, निश्चय नयका भी एकांत मिथ्यात्व है। दोनों नयोंको जानकर उनका प्रयोग यथा अवसर जो लेता है वही यथार्थ जिन आज्ञाका माननेवाला है, वही सच्चा सम्यग्दृष्टी जैन साधु हैं, वही शुद्ध आत्मध्यानसे कर्मोंकी निर्जरा करता है। जो ऐसा तो करे नहीं, सामायिक व ध्यानका अभ्यास करे नहीं व अपनेको परमात्मावत् मानके संतुष्ट होजावे और स्वछंदरूपसे इंद्रियोंके विषयोंमें वर्ते और माने कि मेरे इस रागरूप वर्तनसे कुछ भी बंध न होगा वह जिनआज्ञालोपी है क्योंकि जैनसिद्धांतमें कहा है कि जहांतक सूक्ष्म लोभका भी उदय दसवें गुणस्थान तक है वहांतक कर्मका बंध होता है। कषायोंसे रंजित परिणाम होते हुए-कृष्ण, नील, कापोत, पीत व पद्म लेश्या सम्बन्धी राग भाव होते हुए अपनेको व्यवहार नयसे या पर्याय दृष्टिसे बंध न मानना श्री जिनेंद्रकी आज्ञाको प्रगट रूपसे अमान्य करके विपरीत श्रद्धान रखके मिथ्यात्वको ही पोषण करना है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य समयसार कलशमें कहते हैं—

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्यादित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥६-७॥

भावार्थ—जो रागी होते हुए भी ऐसा माने कि मैं तो सम्यग्दृष्टी हूँ मुझे तो कभी बंध हो ही नहीं सक्ता और मुँह फुलाए रहकर घमंडमें रहे और चाहे जैसा आचरण करे अथवा बाहरसे ईर्या आदि पांच समितिको भी पाले तौभी वह पापी ही है, सम्यक्तसे खाली है क्योंकि उसको आत्मा व अनात्माका सम्यक् भेदज्ञान नहीं हुआ है।

मोक्षमार्गी स्याद्वादी है जो ज्ञान और क्रिया दोनोंके साथ यथासम्भव मैत्री रखता हुआ चलता है। वहीं कहा है—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां, यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।

ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री–पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥ २१–११ ॥

भावार्थ—जो स्याद्वादमें चतुर है व संयममें निश्चल है और उपयोगवान होकर निरंतर आत्माकी भावना करता है वह ज्ञान दृष्टि व क्रिया दृष्टि इनमें परस्पर तीव्र मैत्री रखता हुआ इस मोक्ष-मार्गकी भूमिको आश्रय करनेवाला है। वही आचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहते हैं—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २११ ॥

भावार्थ—जितने अंश परिणामोंमें सम्यग्दर्शन है उतने अंश बंध नहीं होता है। जितने अंश रागभाव है उतने अंश बंध होता है। इस बातको सम्यक्ती भलेप्रकार जानता है व उसी प्रकार आचरण करता है, रागादिके निमित्तोंसे भी बचता है, वीतरागमय रहनेका ही पुरुषार्थ करता है। जो ऐसा स्वयं रहे, ऐसा कहे वही सच्चा गुरु है। इससे विपरीत कुगुरु है। मूढ़ लोग ऐसे कुगुरुको गुरु मान करके ठगाए जाते हैं परंतु सम्यग्दृष्टी ज्ञानी ऐसेको कभी गुरु नहीं मानते हैं।

श्लोक—कुगुरुं संगते येन, मान्यते भय लाजयं।
आशास्नेहलोभेन, ते नरा दुर्गतिभाजनं ॥ ८९ ॥
कुगुरुं प्रोक्तं येन, वचनं तदविश्वासनं।
विश्वासं ये च कुर्वंति, ते नरा दुर्गतिभाजनं ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ—(येन) जो कोई (कुगुरुं) कुगुरुकी (संगते) संगति करते हैं। तथा (भय लाजयं) भय

लाज (आशा) आशा (सस्नेहं) प्रेम (लोभेन) व लोभके कारण (मान्यते) उनकी प्रतिष्ठा करते हैं (ते नरा) वे मनुष्य (दुर्गति भाजनं) कुगतिके पात्र हैं । (कुगुरुं) कुगुरु द्वारा (येन प्रोक्तं) जो कुछ कहा गया (तत् वचनं) वह वचन (अविश्वासनं) विश्वास करने योग्य नहीं है (ये च) और जो कोई (विश्वासं) उनका विश्वास (कुर्वंति) करते हैं (ते नरा) वे मनुष्य (दुर्गति भाजनं) कुगतिके पात्र हैं ।

विशेषार्थ—जिन कुगुरुओंका स्वरूप ऊपर कहा गया है वे सब मोक्षमार्गके सच्चे स्वरूपके न स्वयं श्रद्धावान हैं और न उसको यथार्थ कहते हैं। किन्तु एकांत, विपरीत, संशय व अज्ञान व विनय मिथ्यात्वके पोषक उनके वचन होते हैं, वे वचन विश्वास करने योग्य नहीं हैं। जो कोई मूढ मनुष्य कुगुरुको कुगुरु मानते हुए भी किसीके भयसे व कोई लाजसे या कोई आशासे व किसीके स्नेहवश या लोभके कारण उनकी भक्ति करते हैं, उनको मानते हैं व उनकी संगति करते हैं या उनके वचनोंपर विश्वास करते हैं वे मानव मिथ्यात्वकी पुष्टि या अनुमोदनाके दोषी होते हुए घोर पाप बांधकर नरक निगोद पशु गति आदिमें जाकर कष्ट पाते हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी रत्नकरण्डमें कहा है—

भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागमलिंगिनाम् । प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ १० ॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी भय, आशा, स्नेह, लोभसे भी कभी कुदेव, कुशास्त्र, व कुगुरुको प्रणाम व विनय नहीं करेगा।

सम्यग्दृष्टी वही है जो परिणामोंसे उज्वलता रक्खे, जो जैसा हो उसको वैसा माने पूजे। सम्यक्ती धर्मका प्यासा है। जहां सच्चा धर्म मिलेगा वहां उसका आदर होगा। जहां इसके विपरीत धर्मका भाव है वहां उसकी भक्ति कभी हो नहीं सक्ती है, क्योंकि वह धर्म, अधर्मको पहचानता है। सम्यक्‌दृष्टीको लोभी, भयवान आदि नहीं होना चाहिये। कभी १ कोई २ यह विचारते हैं कि हम अमुक राजा या सेठके यहां काम करते हैं, ये जिस देवताकी भक्ति करते हैं यदि हम नहीं करेंगे तो ये हमारी आजीविका हर लेंगे अथवा अमुक राजाकी यह आज्ञा है कि अमुक कुदेवको जो नहीं मानेगा उसको दण्ड मिलेगा तो सम्यक्ती प्राण जानेके भयसे या आजीविका जानेके भयसे कभी भी अपनी श्रद्धासे विपरीत देव या गुरुकी भक्ति नहीं करेगा। यदि दस ऐसे आदमियोंके

साथमें है जो कुदेवोंके भक्त हैं वे कुदेवोंकी पूजा भक्ति कर रहे हैं उस समय यह सोचे कि मैं यदि नहीं करूंगा तो मैं निर्लज्ज कहलाऊँगा। इसलिये लाजके भयसे करने लग जावे, ऐसा सम्यक्ती नहीं करेगा। यदि कोई कुगुरु ऐसी आशा दिलावे कि जो कोई मेरी भक्ति करेगा वह शीघ्र बहु धन कमावेगा तौभी वह सम्यक्ती धनकी आशासे ऐसी मूढ़ता नहीं करेगा। किसी मित्रके साथ बहुत स्नेह है वह कुदेवका भक्त है वह जब कुदेवोंकी भक्ति कर रहा है तब यह सोचे कि यदि मैं भी भक्ति न करूंगा तो मित्रका स्नेह कम होजायगा, इस स्नेहके वश श्रद्धा न होते हुए भी कुदेवकी पूजा करने लग जावे, सम्यक्ती ऐसा नहीं करेगा।

स्वर्गादि व पुत्रादिके लोभसे भी सम्यक्ती कुगुरु आदिकी भक्ति नहीं करेगा। सम्यग्दृष्टी जौहरी है, वह रत्न परीक्षक है। जहां रत्न सच्चा होता है वहीं वह सच्चा रतन मानता है व वहीं वह उसकी वैसी प्रतिष्ठा करता है।

लौकिक व्यवहार धार्मिक व्यवहारसे भिन्न है। धार्मिक व्यवहारमें सम्यक्ती धर्म पद्धतिसे व्यवहार करेगा। परंतु लौकिक व्यवहारमें लौकिक रीतिसे व्यवहार करेगा। लौकिक व्यवहारको लौकिक मानते हुए व लोकमें प्रचलित लौकिक विनय करते हुए सम्यक्तीको श्रद्धानमें कोई दोष नहीं आसक्ता। जैसे राजा, हाकिम, बड़े नगरसेठ आदिके पास जाते हुए व उनके अपने यहां आते हुए वह यथायोग्य विनय प्रणाम करेगा। यदि लौकिक विनय न की जाय तो लोक व्यवहार बिगड जायगा। लौकिक विनय करनेसे धार्मिक श्रद्धामें बाधा नहीं आती है। हनूमान, सुग्रीव, आदि बड़े पुरुषोंने राजाओंके दरबारमें जाते हुए यथायोग्य विनय किया था। व्यवहारमें कटुकता व द्वेष न फैल जाय ऐसी सम्हाल सम्यक्ती रखता है। परस्पर प्रेम, विनय जो लोकप्रसिद्ध है उसको वह करता हुआ सर्वको सुखदाई व हितकारी रहेगा। जहां धर्मकी दृष्टिसे कुदेव, कुगुरु व कुशास्त्र व कुधर्मकी विनयका भाव आयगा उसको वह नहीं करेगा। किसी भय व आशा व लाज व स्नेह व लोभके वशमें नहीं पड़ेगा। जो शिथिल श्रद्धालु हो मिथ्यात्वकी अनुमोदना करेंगे वे अवश्य मिथ्यात्वका बंध करके दुर्गतिके पात्र होंगे।

कुधर्मका स्वरूप ।

श्लोक—कुगुरुं ग्रंथसंयुक्तं, कुधर्मं प्रोक्तं सदा ।
असत्यं सहितं हि सः, उत्साहं तस्य कीयते ॥९१॥
तत् धर्मं कुमति मिथ्यात्वं, अज्ञानं रागबंधनं ।
आराध्यं येन केनापि, संसारे दुक्खकारणं ॥९२॥

अन्वयार्थ—(ग्रंथसंयुक्तं) परिग्रहधारी (कुगुरुं) कुगुरुने (सदा) सदा (कुधर्मं) कुधर्मको (प्रोक्तं) कहा है (सः हि) वह कुधर्म निश्चय करके (असत्यं सहितं) असत्यसे मिला हुआ है (तस्य) इसमें असत्यका (उत्साहं) उत्साह या प्रेरकपना (कीयते) किया गया है। (तत् धर्मं) ऐसा धर्म (कुमति) मिथ्यामति ज्ञान (अज्ञानं) मिथ्या श्रुतज्ञान रूप (मिथ्यात्वं) मिथ्यादर्शन है (रागबंधनं) रागके बंधन स्वरूप है (येन केनापि) जिस किसीने भी (आराध्यम्) ऐसे कुधर्मका आराधन किया (संसारे) वह संसारमें (दुःखकारणं) दुःखोंका भाजन होगया ।

विशेषार्थ—अब कुधर्मका स्वरूप कहते हैं-संसारवर्द्धक धर्मके स्वरूपके उपदेशदाता कुगुरु ही होते हैं जो अंतरंग, बहिरंग, परिग्रहके धारी हैं। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये १४ प्रकार अंतरंग परिग्रह व क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े वर्तन ये १० प्रकार बाहिरंग परिग्रह। इन २४ प्रकार परिग्रहके धारी तथा इनकी समताके फंदेमें फंसे हुए कुगुरुओंका उपदेश किया हुआ धर्म कभी सत्य नहीं होसक्ता। वह बाहरसे सत्यसा दीखनेपर भी असत्यसे मिला हुआ होता है। जबतक धर्मका उपदेष्टा वैराग्यवान निस्पृही व यथार्थ ज्ञाता तथा सर्वज्ञ वीतरागकी परम्परासे कहे हुए तत्वोंका मनन करनेवाला न होगा तबतक वह वीतराग विज्ञानमई शुद्ध आत्मतत्व बोधक-कषाय विध्वंसक उपदेश दे नहीं सक्ता। ऐसे उपदेशे हुए धर्ममें असत्यकी ही तरफ प्राणियोंको उत्साहित किया जाता है। सत्य एक शुद्धात्मा स्वरूप मोक्ष है। वह कुधर्म मोक्षसे विपरीत संसारकी तरफ

ले जानेवाला है। कुमति कुश्रुतमई मिथ्याज्ञानसे वह पूर्ण है। वह सम्यग्दर्शनसे विपरीत मिथ्यादर्शनका वर्द्धक है। वीतरागताको उत्पन्न करनेकी अपेक्षा वह रागद्वेषके बंधनमें फंसानेवाला है। ऐसा कुधर्म जो कोई भी है उसकी सेवा जो कोई करेंगे वे अवश्य संसारमें दुःख उठावेंगे।

श्लोक—अधर्मं धर्म संप्रोक्तं अज्ञानं ज्ञान उच्यते।
अनित्यं शाश्वतं वदते, अधर्मं संसार भाजनं ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—(अधर्मं) जो धर्म वास्तवमें नहीं है उसे (धर्मं) धर्म (संप्रोक्तं) बताता है, (अज्ञानं) जो वास्तवमें यथार्थ ज्ञान नहीं है उसको (ज्ञानं) ज्ञान (उच्यते) कहता है (अनित्यं) जो नित्य नहीं है उसको (शाश्वतं) नित्य (वदते) कहता है (अधर्मं) ऐसा मिथ्याधर्म (संसार भाजनं) संसारका बढानेवाला है।

विशेषार्थ—अहिंसा धर्म है हिंसा अधर्म है यह बात सर्व ज्ञानियोंको मान्य है तथापि इस कुधर्ममें हिंसाको धर्म बता दिया गया है पशुओंकी बलि चढानेसे देवता प्रसन्न होंगे, पुण्य बंध होगा, ऐसा कह दिया गया है। यथार्थ ज्ञान वस्तुका अनेकांत स्वरूप है। वस्तु किसी अपेक्षा नित्य किसी अपेक्षा अनित्य, किसी अपेक्षा एक किसी अपेक्षा अनेक, किसी अपेक्षा सत् किसी अपेक्षा असत् है। कभी वस्तुका नाश नहीं होता है इस अपेक्षा नित्य है। अवस्थाओंका परिणमन उत्पाद व्यय रूप होता है इससे वस्तु अनित्य है, वस्तु अनेक गुणोंका अखण्ड पिंड है इससे एक रूप है। सर्व गुण वस्तुमें सर्वत्र व्यापक हैं इससे वस्तु अनेक रूप है। वस्तु अपने स्वभावकी अपेक्षा सत्य है उसमें परके स्वभावोंका अभाव है इस लिये असत् है। ऐसा होते हुए भी जो धर्म एकांत ही माने, नित्य ही माने, अनित्य ही माने, एक रूप ही माने या अनेक रूप ही माने इत्यादि मान्यताको सत्य नहीं कहा जासक्ता। वह कुधर्म एकांत ज्ञानका पोषक है। अथवा परमात्मा कृतकृत्य सर्वज्ञ वीतरागी है ऐसा कहते हुए भी उसको जगतका निर्माता व जगतका संहार कर्ता व दुःख सुखका दाता कहना प्रगट अयथार्थ ज्ञान है। जो नित्य आनन्दरूप कृतकृत्य होगा वह संसारकी रचना करने व बिगाडनेमें अपनेको नहीं फंसा सक्ता है। यह सब मिथ्याज्ञानका प्रकार है। संसारमें जितनी कर्म जनित अवस्थाएं हैं वे अनित्य हैं, नित्य मात्र एक निर्वाण है,

जहांसे फिर कभी आत्माका पतन नहीं होता है। ऐसा होते हुए भी अनित्य ऐसा जो स्वर्गवास, व भोगोंका समागम आदि उसको नित्य कहना, यह सब कुधर्म है। जो ऐसे धर्मके श्रद्धावान हैं वे पत्थरकी नौकामें चढ़ते हुए संसारमें डूबते हैं-वे पार नहीं पासक्ते हैं।

श्लोक—कुगुरुं अधर्म प्रोक्तं, कुलिंगी अधर्मे स्थितं।
मान्यते अभव्यजीवेन, संसारे दुक्खकारणं ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ—(कुगुरुं) कुगुरुके (प्रोक्तं) कहे गये (अधर्म) अधर्मको व (अधर्मे) कुधर्ममें (स्थितं) चलनेवाले (कुलिंगी) मिथ्याभेषी साधुको (अभव्य जीवेन) अभव्य जीव (मान्यते) श्रद्धान करके पूजता है। यह मान्यता (संसारे) इस संसारमें (दुक्खकारणं) दुःखोंका कारण है।

विशेषार्थ—यहां अभव्य जीवसे प्रयोजन उस जीवकी तरफ है जो मूढ बुद्धि है, संसार रोचक है, विषय कषायोंका प्रेमी है, ऐसा जीव ऐसे ही धर्मको चाहता है जिससे अपना लौकिक प्रयोजन सिद्ध होसके। धन पुत्रादिकी वृद्धि हो, जगतमें यश हो, विषयभोगोंके पदार्थोंका सम्बन्ध हो उसे आत्मानुभवरूप शुद्ध धर्म नहीं रुचता है। इसलिये ऐसा मूढ प्राणी असत्य धर्मकी व ऐसे अधर्मके उपदेश दाता कुलिंगी गुरुकी श्रद्धा कर लेता है और बड़ी भक्तिसे उनकी आराधना करता है जिससे पाप बांधकर संसारमें उस पापका फल दुःख भोगता है। जगतमें देखा जावे तो करोडों प्रकारके देवी देवताओंका स्थापन कुलिंगी गुरुओंने नाना नामोंसे कर रक्खा है। उनके द्वारा नानाप्रकारके लौकिक फलोंके पानेका लोभ दिया जाता है। मूर्ख प्राणी उस लाभकी आशासे कि हमारे लौकिक स्वार्थ सिद्ध होंगे, उन स्थापनाओंकी बड़ी भक्ति करते हैं। व उनके उपदेश दाताओंकी बड़े भावसे प्रतिष्ठा करते हैं। दूर दूर देशांतरसे इसी लोभमें आते हैं। बड़ा भारी परिश्रम उठाते हैं। संसारकी कामनामें फंसे हुए संसारकी ही सेवा करते हुए वे अपने संसारको बढ़ा लेते हैं, कुगतिमें जाकर दुःख उठाते हैं।

श्लोक—अधर्म लक्षणश्चैव, अनृतं असत्यं श्रुतं।
उत्साहं सहितं हिंसा, हिंसानंदी जिनागमे ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(जिनागमे) श्री जिन आगममें (अधर्मं) कुधर्मका (लक्षणश्चैव) लक्षण यही है (अनृतं) मिथ्यात्वरूप हो (असत्यं श्रुतं) असत्य शास्त्रसे प्रतिपादित हो (उत्साहं सहितं हिंसा) जिसमें उत्साह सहित हिंसाकी पुष्टि हो अर्थात् (हिंसानंदी) हिंसामें आनन्द माननेवाला हो।

विशेषार्थ—कुधर्मका स्वरूप यही जैन शास्त्रमें है कि जो मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान, और मिथ्या चारित्ररूप हो। आत्मा और अनात्माका न जिसमें सच्चा श्रद्धान हो, और न सच्चा ज्ञान हो। तथा जो अहिंसाके स्थानमें हिंसाकी पुष्टि करता हो। हिंसाके होनेमें धर्म मानकर आनन्द मनाया जाता हो वह सब कुधर्म है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। यदीय प्रत्यनीकानि भवंति भवपद्धतिः ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको तीर्थंकरोंने धर्म कहा है तथा इनके उल्टे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्रको कुधर्म या अधर्म कहा है। क्योंकि ये ही संसारकी परिपाटीको बढानेवाले हैं।

सर्वज्ञ वीतरागको देव मानना, परिग्रह आरम्भ रहित ज्ञान ध्यानमें लीन निर्ग्रंथ साधुको गुरु मानना, आत्मोन्नति कारक अहिंसामय धर्मको धर्म मानना जब सम्यग्दर्शन है तब इनसे विरोध रूप राग द्वेष सहित अल्पज्ञानीको देव, परिग्रह धारी संसारासक्त साधुको गुरु, आत्माके रागद्वेष वर्द्धक व हिंसा पोषक मतको धर्म मानना मिथ्यादर्शन है। जीवादि सात तत्वोंका सच्चा श्रद्धान सम्यग्दर्शन है तब उनसे विपरीत तत्वोंमें श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है। आत्माके अशुद्ध होने व उसके शुद्ध होनेका उपाय इन सात तत्वोंमें भलेप्रकार बताया है। इनको न जानकर औरका और तत्वका श्रद्धान मिथ्यादर्शन है। देव गुरु धर्म तथा सात तत्वोंको यथार्थ न जानना मिथ्याज्ञान है। अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग इन महाव्रतोंके विरुद्ध हिंसादि पोषक जो कुछ भी चारित्र है वह मिथ्याचारित्र है। निश्चयनयसे शुद्धात्मानुभवरूप परिणति धर्म है। इसके विपरीत जो परिणति है वह कुधर्म है। इसतरह कुधर्मको हानिकारक व संसारवर्द्धक जानकर श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान द्वारा प्रणीत धर्ममें दृढ श्रद्धान रखना चाहिये। यही श्रावकका मुख्य कर्तव्य है।

श्लोक—हिंसानंदी मृषानंदी, स्तेयानंद अबंभयं ।
रौद्रध्यानं च संपूर्ण, अधर्म दुःखदारुणं ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ—(हिंसानंदी) जो हिंसामें आनंद माननेवाला हो (मृषानंदी) जो मिथ्याशादमें व मिथ्या तत्वोंमें रंजायमान होनेवाला हो (स्तेयानंद) जो चोरीमें आनंद माननेवाला हो (अबंभयं) जो अब्रह्म या कुशील पोषक हो (रौद्रध्यानं च संपूर्णं) ऐसे रौद्रध्यानसे पूर्ण हो वह (दुःखदारुणं) घोर दुःख देनेवाला (अधर्म) अधर्म है ।

विशेषार्थ—चार प्रकारका रौद्रध्यान जिस धर्ममें भरा हो व जिसके पालनेसे चार प्रकारका रौद्रध्यान हो वह अधर्म है क्योंकि रौद्रध्यान नर्कगतिके बंधका कारण है। धर्म वह है जो उत्तम सुखमें धारण करे। अन्य शास्त्रोंमें चौथा रौद्रध्यान परिग्रहानंद है जब यहां अब्रह्मचर्यको कहा है कोई बाधा नहीं है। क्योंकि अब्रह्मके निमित्तसे ही धनादि स्त्री आदि पदार्थोंका मुख्यतासे संग्रह किया जाता है। धर्म वही है जहां शांत भाव होसकें। जहां शुद्धात्मापर लक्ष रखते हुए पूजा पाठ जप तप आराधन होगा वहीं शांत भाव प्राप्त होगा। रौद्रध्यानमें शांत भाव नहीं होसक्ता। हिंसा करने, कराने व उसकी अनुमोदनामें आनन्द मानना हिंसानंद है। मिथ्या कहने, कहलाने व उसकी अनुमोदनामें आनंद मानना मृषानंद है। चोरी करने, कराने व उसकी अनुमोदनामें आनंद मानना स्तेयानंद है। ब्रह्मचर्यके घात करने, कराने व अनुमोदनामें आनंद मानना व परिग्रहके संग्रह करने, कराने व अनुमोदनामें आनंद मानना परिग्रहानँद रौद्रध्यान है। जिस धर्मका उपदेश रौद्रध्यानकी पुष्टि करता हो वह कभी धर्म नहीं होसक्ता है। जैसे शृङ्गार करनेमें, युद्धादि क्रिया दिखानेमें, पशुबलि करनेमें, जल स्नान करनेमें, रागद्वेष वर्द्धक आकारोंको पूजनेमें, रात्रिको आहार करनेमें, कंदमूल खानेमें, संसारासक्त परिग्रहधारी विषयलम्पटी महन्तको दान देनेमें, वेश्यानृत्य करानेमें, जुआ खेलनेमें, वृक्षादि पूजनेमें, हाथी घोड़ा आदिके दान करनेमें, जो प्रेरक होकर इनको ही धर्म बतावे वह कुधर्म है। जहां विषयोंकी पुष्टि हो, राग बढ़ाया जावे, मानादि कषाय पोषण किया जावे, परको कष्ट देकर धर्म माना जावे वह सब अधर्म है, पापवर्द्धक है। उसके फलसे जीवको संसारमें घोर दुःख सहना होगा।

श्लोक—आरति रौद्रसंजुक्तं, धर्मं अधर्मं प्रोक्तं ।
रागादि भावसंपूर्णं, अधर्मं संसारभाजनं ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ—(आरति रौद्र संजुक्तं) आर्त्त और रौद्रध्यान सहित (धर्मं) धर्मको (अधर्मं) अधर्म (प्रोक्तं) कहा है। (रागादि भाव संपूर्णं) रागद्वेषादि भावोंसे पूर्ण (अधर्मं) अधर्म (संसार भाजनं) संसारका भ्रमण करानेवाला है।

विशेषार्थ—रौद्रध्यान पहले चार प्रकारका कह चुके हैं। आर्तध्यान भी चार प्रकारका है। इष्टके वियोग होनेकी वारवार चिन्ता करना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है। अनिष्टके संयोग होनेपर उसके वियोगकी वारवार चिंता करना अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। शरीरमें पीडा होनेपर उसके कारण घोर क्लेशका विचार करते रहना पीडा चिंतवन आर्तध्यान है। आगामी भोगोंकी इच्छा करके मनमें निरन्तर भावना करनी, निदान आर्तध्यान है। जिस धर्ममें ऐसे आर्तध्यानका व रौद्रध्यानका समावेश हो वह अधर्म है। कोई कोई धर्मवाले किसी पिछले मरण प्राप्त बडे पुरुषकी याद करके छाती कूटते व रोते पीटते हैं, उसमें धर्म मानते हैं। कोई मृगया (शिकार) करनेमें धर्म मानते हैं, कोई रोगादिसे पीडित होनेपर उसके लिये चिंतित रहकर देवी दिहाडी पूजनेसे रोग दूर होगा व उसके सामने रोनेसे वह दया कर देगी ऐसा मानते हुए धर्माचरण समझते हैं। कोई नाना प्रकारकी सांसारिक चाह करके पूजा दानादि करनेमें ही धर्म जानते हैं। कोई हास्य ठट्ठा करनेमें, दुर्वचन बोलनेमें, होली जलानेमें, कुचेष्टा करनेमें धर्म मान लेते हैं। कोई परिग्रह धारी महंतको विशेष धन देनेमें ही धर्म जानते हैं इत्यादि। जगतमें वे सब क्रियाएं जिनसे आर्तध्यान व रौद्रध्यान थोडा या बहुत आता है या राग द्वेषादि भावोंकी वृद्धि होती हो वह सब कुधर्म है, संसारका बढानेवाला है। धर्म तो मात्र एक वीतराग विज्ञान मय शुद्ध आत्माका भाव है या शुद्ध आत्माकी ओर उपयोगको ले जानेवाली पूजा, पाठ, जप, तप आदि क्रियाएं हैं। श्री पद्मनंद मुनिने धम्मरसायणमें कहा है—

जत्थ वहो जीवाणं भासिज्जइ जत्थ अलियवयणं च। जत्थ परदव्वहरणं सेविज्जइ जत्थ परयाणं ॥ १९ ॥

बहुआरंभपरिग्गहगहणं संतोसवज्जियं जत्थ। पंचुंबरमहुमांसं भक्खिज्जइ जत्थ धम्मम्मि ॥ ११ ॥

डंभिज्जइ जत्थ जणो पिज्जइ मज्ज च जत्थ बहुदोसं । इच्छंति सो वि धम्मो केइ य अण्णाणिणो पुरिसा ॥१७॥
जइ एरिसो वि धम्मो तो पुण सो केरिसो हवे पावो । जइ एरिसेण सग्गो तो णरयं गम्मए केण ॥ १८ ॥
जो एरिसियं धम्मं किज्जइ इच्छेइ सोक्ख भुंजेऊं । वावित्ता णिंबतरुं सो इच्छइ अंबफलाइं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिस धर्ममें पशुओंका व मानवोंका व अन्य जंतुओंका वध हो, जहां मृषा कटुक हास्यादि वचन कहा जाय, जहां परद्रव्यको हरण किया जाय व परस्त्रीका सेवन किया जाय, जहां बहुत आरम्भ व परिग्रहकी वृद्धि हो, जहां सन्तोषका नाश हो, जहां मधु व मांस खानेमें व पीपल, वड, गूलर, पाकर, अंजीर ऐसे जंतु सहित फलोंके खानेमें धर्म माना जावे, जहां मानवोंको ठगा जावे, जहां मदिरा पीनेमें धर्म माना जावे, वहां अज्ञानी पुरुष ही धर्म मानते हैं। जो यह सब भी धर्म होजावे तो पाप किसको कहना। जो ऐसे धर्मसे स्वर्ग जावे तो नरकमें किससे जायगा ? जो ऐसे धर्म करके सुख चाहते हैं वे नीमका वृक्ष बोकर आमफल खाना चाहते हैं।

चार विकथाका स्वरूप।

श्लोक—विकहा राग सम्बन्धं, विषय कषायं सदा।
अनृतं राग आनन्दं, धर्मश्चाधर्ममुच्यते ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ—(धर्म च) जो धर्म (विकहा राग सम्बन्धं) विकथाओंके रागसे सम्बन्ध रखता है व (सदा) हमेशा (विषय कषायं) विषय व कषायको बढाता है (अनृतं राग आनन्दं) मिथ्यात्वके रागमें आनन्द मानता है सो (अधर्म) अधर्म (उच्यते) कहा जाता है।

विशेषार्थ—मोक्षमार्गसे विमुख करनेवाली व संसारके भ्रम जालमें फंसानेवाली कथाओंको विकथा कहते हैं। वे चार हैं-स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा या चोर कथा तथा राजकथा। स्त्रियोंके हाव भाव विलास, लावण्य व उनके विषय भोगकी कथा जिसके सुननेसे काम भावकी तीव्रता बढ जावे सो स्त्री कथा है। आहारके रसोंकी मनोज्ञताकी कथा। कौन २ सा भोजन कैसा कैसा स्वाद युक्त होता है व किस तरह प्राप्त होता है या बनता है इसकी कथा इस तरह करना

जिससे भक्ष्य अभक्ष्यका विचार भी जाता रहे और आहारके भीतर लालसा बढ जावे सो भोजन-कथा है। अब्रह्मके सिवाय चार इंद्रियोंके भोगकी कथा भी आहार कथामें गर्भित है। देशमें क्या २ सुन्दरता है, किस तरह सुन्दर सडकें व मकान व गली आदि बनती हैं, कौनसा देश बडा सुहावना देखने योग्य खेल, कूद, तमाशेसे भरा हैं, कौनसा देश विषयभोगकी सामग्री आदिसे भरपूर है, ऐसी कथा इस तरह करना जिससे कहनेवाले सुननेवालेके परिणाममें देश दर्शनका राग बढ जावे-या चोरोंकी ऐसी कथाएं करना जिसके सुननेसे चोरोंसे भय पैदा होजावे सो सब देश कथा या चोर कथा है। राजाओंके धन, सम्पदा, सेना, स्त्री आदिकी, उपवन आदिकी, आभूषण आदिकी, ऐसी कथा करना जिससे राज्यभोगमें तृष्णा बढ जावे सो सब राज कथा है, जिस धर्मके वर्णनसे व पालनसे इन कथाओंसे राग बढ जावे, सो कुधर्म है। कहीं २ धर्मके नामसे सैकडों मिठाइया बनाकर खानपान करके, नाच कूद करा करके, अतर फुलेल, गुलाल अबीर लगा करके, भांग आदि नशोंको पान करके, हमने धर्म साधा ऐसा समझ लेते हैं, सो सब संसार राग वर्द्धक अधर्म है। जिन २ धर्मकी क्रियाओंसे इंद्रियोंका संयम न रखकर इंद्रियोंमें लीनता हो, क्रोधादि कषाय दमन न होकर उनकी वृद्धि हो वह धर्म सब अधर्म है। जिस धर्मसे मिथ्यात्वका राग बढ जावे व मिथ्यात्वमें आनन्द मनाया जावे जैसे-कुदेवोंकी व कुगुरुओंकी भक्तिमें धनादि खर्च करके ही आनन्द मनाया जावे सो सब अधर्म कहा जाता है।

श्लोक—विकहा प्रमाणं असुहं, नंदितं असुहभावना।
ममता कामरूपेण, कथितं वर्णविशेषितं ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ—(विकहा प्रमाणं) विकथा सम्बन्धी जो ज्ञान है वह (असुहं) अशुभ है। (नंदितं) विकथाओंमें आनन्द मानना (असुहभावना) अशुभ भावना है। (कामरूपेण) भोगोंकी इच्छाके रूपसे (वर्णविशेषितं) अनेक तरहके भेदोंकी या वर्णनकी विशेषतासे (कथितं) विकथाओंका कहना (ममता) उनमें ममता बढा लेना है।

विशेषार्थ—ऊपर लिखित चार विकथाओंको विकथा रूपसे कहने व विचारनेकी कला अशुभ विद्या है। बहुतोंको कहानी, किस्से, उपन्यास रचनेकी एक खास चतुराई या विद्या आती है

जिससे वे बड़ी मनोरंजक कथाएं व नाटक व खेल, व गान व उपन्यास बनाते हैं, जिनके पढने, सुनने देखनेसे वैरागीका मन भी रागी होजावे सो सब अशुभ प्रमाण या ज्ञान है। विकथाओंको बनाकर, पढकर, सुनकर आनन्द मानते रहना अशुभ भावना है, अशुभ उपयोग है, जो पापका बंध करनेवाला है। जिनको पढकर या सुनकर कामभोगकी इच्छा बढ जावे, पांचों इंद्रियोंकी तृष्णा अधिक होजावे, इस तरहसे उन विकथाओंको मनोरंजक बनाकर नानाप्रकारके रसोंसे भरकर कथन करना विकथाओंमें ममता बढाकर विषय कषायोंमें ममत्व बढानेवाला है। जिस धर्मके भीतर ऐसे विकथाओंकी प्ररूपणा हो उन कथाओंको कह सुनकर रंजायमानपना किया जाता है वह धर्म संसार राग बढानेके कारण अधर्म है।

श्लोक—स्त्रियः कामरूपेण, कथितं वर्णविशेषितं।
ते नरा नरयं यांति, धर्मरत्नं विलोपितं ॥ १०० ॥

अन्वयार्थ—(वर्णविशेषितं) अनेक तरहके वर्णनकी विशेषतासे (कथितं) जिनका कथन होसके ऐसी (स्त्रियः) स्त्रियां होती हैं (कामरूपेण) जिनके निमित्तसे कामभावकी प्राप्ति होजाती है। जो मानव इन स्त्रियोंकी कथाओंमें रंजायमान होजाते हैं वे कामभावको बढ़ाकर (धर्मरत्नं) धर्मरत्नको (विलोपितं) गमा बैठते हैं (ते नरा) वे मानव (नरयं) नरकको (यांति) जाते हैं।

विशेषार्थ—यहा स्त्री कथाका मुख्यतासे वर्णन है। स्त्रियोंके रूपोंका व उनके चरित्रका अनेक तरहसे ऐसा वर्णन किया जासक्ता है जिससे कामभावका उद्वेग बढ जाता है। उस उद्वेगसे आकुलित हो अज्ञानी प्राणी स्व स्त्री व परस्त्रीका विचार छोडकर अनेक तरहसे कामभोगमें फंस जाते हैं। धर्मके सच्चे उपदेशको भूल जाते हैं, धर्म रत्नको खो बैठते हैं और पापोंमें फंसकर नर्क चले जाते हैं। रावण सीताजीके रागके कारण राज्यपाट खोकर अपने वंशको नष्ट कराकर-घोर अपमान पाकर अंतमें नर्कका पात्र होजाता है। स्त्रियोंके मोहमें स्त्री कथासे अंधपना आजाता है। जिस धर्मकी पुस्तकोंमें ऐसी स्त्री राग बढानेवाली मनोहर कथाओंका संग्रह हो व ऐसी लीलाएं बताई हों जिससे महापुरुषोंको भी परस्त्री भोग करनेका दोष लगाया हो सो धर्म कुधर्म ही है— आत्माको संसार सागरमें डबोनेवाला है।

श्लोक—राज्यं रागं उत्पादी, ममतां गारवस्थितं ।
रौद्रध्यानस्य आनन्दं, राज्यं वर्णविशेषितां ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थ—(गारवास्थितं) गौरवमें स्थित (राज्यं) राज्य (रागं) रागको व (ममतां) ममत्वको (उत्पादी) पैदा करनेवाला है (राज्यं वर्णविशेषितं) अनेक तरहके वर्णनकी विशेषतासे राज्यका कथन करना (रौद्रध्यानस्य) रौद्रध्यानका (आनन्दं) आनन्द बढ़ानेवाला है ।

विशेषार्थ—यहां राज्य कथा, देश कथा या चोर कथाकी तरफ लक्ष्य दिया है । जिस देशमें गौरवपना हो, ऐश्वर्य हो, धन धान्यसे पूर्णता हो व जो देश सुन्दर स्त्रियोंसे भरपूर हो, सुन्दर गाने बजाने नाच कूदसे पूर्ण हो, खेल तमाशोंका घर हो, ऐसा राज्य वास्तवमें अज्ञानी प्राणियोंको राग व ममताको बढानेवाला होता है । वे ऐसे देशमें व राज्यमें जाना चाहते हैं, सैर करना चाहते हैं । धर्म कार्यकी हानि करके भी उनकी बुद्धि देशकी सुन्दरताको देखनेके लिये लालायित होजाती है । ऐसे देशकी कथा नानाप्रकार मनोज्ञ वर्णनके साथ करना, सुननेवालेके परिणाममें परिग्रहानन्द व हिंसानन्द व मृषानन्द आदि रौद्रध्यानको उत्पन्न कर देती है। जिस धर्मकी पुस्तकोंमें ऐसी राग बढानेवाली देश या राज्योंकी कथा हों जिसके सुननेसे मन राज्य या देश लोभी बन जावे, राज्य सम्पदाको चाहे, निर्वाणके अनुपम राज्यसे विमुख होके संसारके मायाजालको अभिलाषा करने लग जावे ऐसा धर्म जीवोंको बुरा करनेवाला है तथा कुधर्म है ।

श्लोक—हिंसानंदी च राज्यं च, अनृतानंद अशाश्वतं ।
कथितं असुहभावेन, संसारे भ्रमनं सदा ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(असुहभावेन) अशुभ भावोंके द्वारा (अशाश्वतं) क्षणभंगुर (राज्यं) राज्यकी (कथितं) कथा करना (हिंसानंदी) हिंसानंदी (च) तथा (अनृतानंद) मृषानंदी रौद्रध्यान है (च) और (सदा) सदा ही (संसारे) संसारमें (भ्रमनं) भ्रमण करानेवाला है ।

विशेषार्थ—वास्तवमें राज्य सम्पदा सब नाशवंत है, आज किसीके पास है कल नहीं है, इसका स्वामित्व कुछ कालके लिये ही होसक्ता है । कोई मनुष्य सदा जीवित रहकर राज्यका भोग नहीं

कर सक्ता। ऐसे विनाशीक राज्यमें लुभानेवाली कथा इस भावसे करना कि सुननेवालोंका मन रंजायमान हो, विकथा है। राज्यका वर्णन करते हुए युद्धादिका वर्णन आता है। राजाओंके कपट व मिथ्या वचन व मिथ्या आचरणका भी वर्णन आता है। ऐसी कथा सुनी जानेपर सुननेवालेका मन अनुमोदना करता हुआ हिंसानन्द व मृषानन्द रौद्रध्यानमें फँस जाता है। यदि देश या राज्यकी कथा पुण्यका फल दिखलानेके लिये व वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये की जावे, व राज्य-भोगके दोषोंको बतानेके लिये की जावे व परोपकारके हेतुसे की जावे, परिणामोंमें देश सेवाके भावको उत्पन्न करनेके लिये की जावे तो वह अशुभ भावसे नहीं की गई है किंतु शुभ भावसे की गई है इसलिये ऐसी राज्य कथा व देश कथा हिंसानंद व मृषानंद ध्यान न पैदा करके परोपकार-भाव व प्रजाको पीड़ासे छुड़ानेका भाव पैदा करनेवाली होगी। परंतु अशुभ भावसे की गई राज्य कथा परिणामोंमें चारों ही प्रकारका रौद्रध्यान पैदा कर देगी। उस रागमें फंसा हुआ प्राणी अशुभ कर्म बांधकर नर्क निगोदका पात्र होकर संसारमें दीर्घकाल घुमनेवाला होजायगा। जिस धर्ममें ऐसी विकथाकी पुष्टि है वह कुधर्म है।

श्लोक—भयस्य भयभीतस्य, अनृतं दुखभाजनं।
भावः विकलितं याति, धर्मरत्नं न दिष्टते॥ १०३॥
चौरस्य उत्पाद्यते भावः, अनर्थं सो संगीयते।
तिष्ठते अशुद्ध परिणामं, धर्मभावं न दिष्टते॥ १०४॥

अन्वयार्थ—(भयभीतस्य) भयसे डरे हुए मानवको (भयस्य) भय देनेवाला (अनृतं) मिथ्या वचन (दुखभाजनं) दुःखका बढ़ानेवाला होता है। (भावः) भाव (विकलितं) आकुलित (याति) होजाता है (धर्मरत्नं) धर्मरूपी रत्न (न दिष्टते) नहीं दिखलाई पड़ता है। (चौरस्य भावः) चोर सम्बन्धी भाव (उत्पाद्यते) उत्पन्न कराया जाता है (सो) वह (अनर्थं) व्यर्थ (संगीयते) कहा गया है। (अशुद्धपरिणामं) जिससे मलीन भाव (तिष्ठते) स्थिर होजाता है (धर्मभावं) धर्मभाव (न दिष्टते) नहीं दिखलाई पड़ता है।

विशेषार्थ—यहां चोर कथाकी ओर लक्ष्य देकर कहा गया है कि चोरोंकी कथाएं भय-

भीत प्राणीको और भी अधिक भयमें डालनेवाली होजाती हैं। साधारण रूपमें सर्व प्राणियोंको अपनी सम्पत्तिके सम्बन्धमें यह भय लगा रहता है कि कहीं कोई चोर न लेजावे। और जब उनको ऐसी विकथाएं सुननेको मिलें जिनमें चोरोंने माल चुराया हो तब उनके मनमें भय अधिक हो जाता है। यह चोर कथा यद्यपि सच्ची भी हो तौभी इसे मिथ्या कहा गया है। क्योंकि जो वचन अहितकारी हो, दुःखका बढानेवाला हो, कषायकी वृद्धि करता हो वह सत्य होनेपर भी निरर्थक है इसीलिये मिथ्या है। जैसे-किसीके पुत्रका वियोग होगया है। इसे कुछ काल वीत गया है फिर भी किसीने उसके पुत्रकी स्मृति इन शब्दोंमें करादी जिससे उसके भीतर शोक उमड आये तो उसका यह सत्य वचन भी मिथ्या ही है क्योंकि वृथा ही परिणाम विचलित व विह्वल करानेवाला वह वचन होगया। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्री अमृतचन्द्र आचार्यने अप्रिय वचनका मिथ्या वचनमें गिना है और उसका लक्षण यह बताया है—

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं। यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयं ॥ ९८ ॥

भावार्थ—जो वचन दूसरेके मनमें अरति भाव पैदा करदें उसे कुछ सुहावे नहीं ऐसा उदास भाव करदें, भयको बढादे, खेद करदे, वैर भाव किसीकी तरफ उत्पन्न करदे, शोकमें डालदे, लड़ाई झगडा करादे या और भी किसी तरहका दुःख पैदा करादे वह सर्व वचन अप्रिय जानना योग्य है। इसी लिये चोरोंकी कथा वृथा ही डरानेवाली होती है, परिणामोंमें मलीनता व घबड़ाहट आ जाती है तब शुद्ध आत्मीक भाव रूपी रत्न नहीं सूझता है, धार्मिक भाव नहीं दिखलाई पडता है। परिग्रहमें ममता ही भयके उपजनेका कारण है। यह चोर कथा परिग्रहकी ममताके साथ २ भयको बढ़ा देती है। उस समय यह सम्यक्त भाव कि मेरा परिग्रह नहीं है, यह सब पर है, छूटनेवाला है, मेरी आत्मीक ज्ञानदर्शन सम्पदा ही मेरी है, नहीं रहता है।

इसी कारण यह चोर कथा विकथा है, अनर्थकारी है तथा धर्मरूप न होकर कुधर्म है।

श्लोक—चौरस्य भावना दिष्टा, आरति रौद्र संयुतं।
स्तेयानंद आनंदं, संसारे दुःखदारुणं ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थ—(चौरस्य भावना) चोरी करनेकी भावना (आरति रौद्र संयुतं) आर्त तथा रौद्रध्यान सहित (दिष्टा) चोर कथाके कारण दिखलाई पड़ती है। (स्तेयानंद) सो चौर्यानंद रौद्रध्यानमें (आनंदं) आनन्द मानना (संसारे) संसारमें (दुःखदारुणं) भयानक दुःखोंका देनेवाला है।

विशेषार्थ—चोरोंकी विकथासे सुनने पढ़नेवालोंके मनमें चोरी करनेकी भावना इस कारण हो उठती है कि चोरी करनेसे जब प्रचुर धनका लाभ होना तथा उस धनसे अन्यायके विषय-भोग करना सुनाई देता है तब अज्ञानीके मनमें यह भाव पैदा होजाता है कि हम भी चोरी करके धन संग्रह करें और मनमाने विषयभोग करें तो बहुत अच्छा है। इस भावका फल यह होता है कि वह निदान नामके आर्तध्यानमें तथा हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी चारों ही रौद्रध्यानोंमें उलझ जाता है। जब ऐसी भावना दृढ होजाती है तब चोरी करनेमें प्रयत्न भी हो जाता है। इस तरह घोर पाप कमाकर संसारमें घोर दुःखोंको उठाता है। चोरी करना, कराना व उसकी अनुमोदना तीनों ही हिंसाके पापमें गर्भित हैं क्योंकि परको पीडा पहुंचानेका विचार होता है इसलिये ऐसी विकथा न कभी करनी चाहिये और न कभी सुननी चाहिये।

श्लोक—चोरीकृतं व्रतधारेन, जिनउक्तं पद लोपनं।
अशाश्वतं अनृतं प्रोक्तं, धर्मरत्न विलोपितं ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थ—(व्रतधारेन) व्रतोंको धारते हुए (चोरीकृतं) जो चोरी की जावे वह (जिन उक्तं पद) जिनेन्द्रके कहे हुए वचनोंका (लोपनं) लोप करना है उसका ऐसा करना (अशाश्वतं) सनातन नहीं है (अनृतं) मिथ्या है ऐसा (प्रोक्तं) कहा गया है, (धर्मरत्नं) धर्मरूपी रत्नको (विलोपितं) चुराना है।

विशेषार्थ—यहांपर उन लोगोंको लक्ष्यमें लेकर कहा गया है जो शास्त्रकी आज्ञाको लोपकर शास्त्रानुसार व्रतोंका नियम न लेकर मनमानी क्रिया पालते हैं तथा शास्त्राज्ञाको लोपकर शास्त्रके विरुद्ध आचरण करते हैं तौभी अपनेको श्रावक व्रती या साधु महाव्रती कहते हैं। यह भी चोरी ही है। क्योंकि जिनेन्द्रके कहे हुए वचनोंको छिपाया जाता है। यह महान झूठ है तथा यह सनातनके मार्गसे विपरीत है। जिस धर्मरत्नसे आत्मकल्याण होता उसको इसने चुरा लिया, छिपा

लिया, अधर्ममें फंस गया, धर्मका चोर बन गया। धर्मात्माको उचित है कि वह शुद्ध मनसे जितना आचरण अपनेसे पलता जावे उतना आचरण पालनेकी प्रतिज्ञा ले और शुद्ध मनसे उतने आचरणको पाले। महा व्रती साधु होकर परिग्रह रखना, रुपया पैसा रखना, खेती कराना, लेनदेन करना, वस्त्रादि रखना, पालकी पर चढ़ना आदि सब क्रिया मुनिधर्मको लोप करनेवाली हैं। ऐसी क्रियाओंको करते हुए अपनेको साधुपदमें कहना मुनिधर्मको लोप करके धर्मकी चोरी करना है। श्रावकोंकी ११ ग्यारह प्रतिमाओंमें जो २ आचरण जिस २ प्रतिमाके योग्य है उसको भले प्रकार न पालकर औरका और पालना व अपनेको व्रती श्रावक मानना धर्मरत्नको चुराना ही है। यहां यह प्रयोजन है कि हरएक प्राणीको शुद्ध मनसे धर्माचरण शास्त्रकी आज्ञानुसार यथार्थ पालना चाहिये जिससे जिनाज्ञा लोपका कोई दोष न लगे।

सात व्यसनोंका स्वरूप।

श्लोक—विकहा अधर्म मूलस्य, व्यसनं अधर्म संस्थितं।
ये नरा भाव तिष्ठंते, दुःखदारुण पुनः पुनः ॥ १०७॥

अन्वयार्थ—(विकहा) विकथा तो (अधर्म मूलस्य) अधर्मकी मूल है। (व्यसनं) सात व्यसन (अधर्म संस्थितं) अधर्मका ठिकाना है (ये नरा) जो मानव (भाव) अपने भावोंमें (तिष्ठन्ते) उन विकथाओंको तथा व्यसनोंको धारते हैं उनको (पुनः पुनः) वारवार (दुःख दारुणं) भयानक दुःखोंकी प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ—चारों विकथाएं प्राणियोंके मनके भीतर अधर्मका बीज बो देती है। स्त्री कथासे कामी, भोजन कथासे जिह्वा लोलुपी, देश कथासे तथा राजा कथासे हिंसानन्दी, परिग्रहानन्दी हो जाता है। इसी तरह सात व्यसन अधर्ममें दीर्घकाल तक स्थापित रखनेवाले हैं। जो व्यसनोमें फंस जाता है उसके मनके भीतर ऐसी दृढता होजाती है-उसको ऐसी बुरी आदत पड जाती है कि फिर उसके भावोंसे व्यसन सेवनकी रुचि नहीं जाती है। व्यसन बुरी आदतको कहते हैं व व्यसन आपत्तिको भी कहते हैं। जिन बुरी आदतोंसे मानव आसक्त होजावे व जिनके सेवनसे इस

लोकमें धन हानि, यश हानि, शरीर हानि, धर्म हानि उठाता है, परलोकमें तीव्र पाप बांधकर नर्क आदिके दुःख उठाता है सो भी एकवार नहीं वारवार दुःखोंको भुगतनेवाली पर्यायोंमें जन्मना पड़ता है, ऐसे व्यसन सात हैं।

दोहा—जूआ खेलन मांस मद, वेश्या व्यसन शिकार। चोरी पररमनी रमन, सातों व्यसन निवार ॥

भावार्थ—जूआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्या सेवन, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना, ये सात व्यसन महान अन्याय हैं। जो धर्मकी प्राप्ति करना चाहें उनको यहां यह शिक्षा दी है कि वे स्त्री, भोजन, देश व राजाकी राग द्वेष बढानेवाली कथाओंको कहें व सुने नहीं तथा वे इन सात व्यसनोंकी रुचि न पैदा करें। जो इनमेंसे एक भी व्यसनमें फंस जाता है वह अपना जीवन विगाड़ देता है। आत्माकी शुद्धोपयोग परिणतिको धर्म कहते हैं। उस धर्मका लाभ व्यसनासक्तको अत्यन्त दुर्लभ है। अतएव हितैषीको इन सातों बुराइयोंसे अपनेको बचाना चाहिये।

श्लोक—जूआ अशुद्ध भावस्य, जोदतं अनृतं श्रुतं।
परिणए आर्तिसंयुक्तं, जूआ नरयभाजनं ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थ—(जूआ) जूआ खेलना (अशुद्ध भावस्य) अशुद्ध भावोंको (जोदतं) उत्पन्न करनेवाला है (अनृतं) मिथ्या (श्रुतं) वाणीरूप है (आर्तिसंयुक्तं) आर्तध्यान सहित (परिणए) परिणामोंको कर देता है। (जूआ) यह जूआ (नरयभाजनं) नरकका लेजानेवाला है।

विशेषार्थ—यहां पहले द्यूत व्यसनका कथन किया है कि सात व्यसनोंका सर्दार जुआ खेलना है। जूआरीके भावोंमें भारी अशुद्धता आजाती है। वह तीव्र लोभ व मायाके वशीभूत होजाता है। मिथ्या व कठोर वचनोंका प्रयोग भी जूएमें होजाता है। परिणामोंमें धन पानेकी तीव्र लालसा हो जाती है। यदि धन हाथसे निकल जाता है तो उसके चले जानेकी घोर चिंता दिलमें आजाती है। यदि कहीं जीत होजाती है तो अभिमान बढ़ जाता है तथा और अधिक जूए खेलनेके भाव होजाते हैं। जुआरीके भाव तीव्र तृष्णामें फंस जाते हैं। यदि आयुबंधका अवसर आजावे तो उसको नरक आयु बांधकर नरक जाना पड़ता है। जूएकी धुनमें जुआरी धर्म कर्म न्याय अन्याय सर्व भूल जाता

है। हारता है तो धन कर्ज लेकर, गहना बेचकर फिर जूएमें लगाता है। यदि जीतता है तो जीता हुआ धन शीघ्र ही न करने योग्य विषयभोगोंमें, मित्रोंके व्यवहारमें खर्च होजाता है। जूआरी कुसंगतिमें पडकर नशा पीने लग जाता है, मांस खाने लग जाता है, वेश्या व परस्त्रीगामी होजाता है। शिकारकी भी आदत पड जाती है, चोरी करनेमें ग्लानि चली जाती है, दूसरे छः व्यसन शीघ्र ही जुआरीके पास आजाते हैं, जुआरीका मन न्याय पूर्वक आजीविका करनेसे हट जाता है, उसके धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष चारों ही पुरुषार्थ बिगड़ जाते हैं।

श्री अमितगति आचार्य सुभाषित-रत्नसंदोहमें कहते हैं—

तावदत्र पुरुषा विवेकिनस्तावति प्रतिजनेषु पूज्यता। तावदुत्तमागुणा भवन्ति च यावदक्षरमणं न कुर्वते ॥ ६२२ ॥

सत्यमस्यति करोत्यसत्यतां दुर्गतिं नयति हन्ति सद्गतिं। धर्ममांचिं वितनोति पातकं द्यूतमत्र कुरुतेऽथवा न किम् ॥६२४॥

भावार्थ—जबतक ये मानव जूआ नहीं खेलते हैं तबतक वे विवेकी होते हैं, तबतक ही जगतमें उनकी पूज्यता होती है, तबतक ही उत्तम गुण उनमें वास करते हैं। यह जूआ सत्यसे गिरा देता है, असत्यमें फंसा देता है, सद्गतिका नाशकर दुर्गतिमें पटक देता है, धर्मसे परिणामोंको हटा देता है, पापका भाव फैला देता है। यह जूआ मानवका क्या क्या बिगाड़ नहीं करता है? हरएक पुरुषको योग्य असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या कर्म इन छः मार्गोंसे न्यायपूर्वक अपनी २ योग्यता व स्थितिके अनुसार आजीविका करके गृहस्थका पालन करना चाहिये। जूएके पैसेकी बिलकुल भी चाह नहीं करना चाहिये। रुपया पैसेकी हार जीत करके जूआ खेलना तो महा बुरा है ही। मात्र वचनोंकी हार जीतका भी जूआ एक समयको सदुपयोग करनेवाले विवेकी गृहस्थको नहीं खेलना चाहिये। जो लोग ऐसा कहते हैं कि दिवालीमें व अन्य किसी अवसरपर जूआ खेलना धर्म है, न खेलनेसे पाप होता है, वे वास्तवमें अधर्मके प्रचारको कराके मानवोंको घोर पापमें फंसानेकी शिक्षा देते हैं। वर्षमें एक दिन भी जूआ खेलना हानिकारक है। ऐसे लेनदेन जिनमें मात्र वचनोंके द्वारा हजारों व सैकडोंके दाव इधर उधर होजावें जूएके समान ही दुःखदाई हैं। वे प्राणीको घोर आकुलतामें पटक देते हैं। शीघ्र ही मानव धनिकसे कंगाल होकर कष्ट पाता है। ऐसे लेन-देनसे कईएक मानव कभी धन अधिक एकत्र कर पाता है किंतु अनेक अधिक हानिसे बिलबिलाते

हैं, वह अधिक धन पानेवाला भी कालांतरमें धन गमाकर पछताता है। जिसमें नीतिपूर्वक थोडा लाभ व थोडी हानि हो कि जिसको सह सक्ता हो, आकुलता न हो ऐसा ही व्यापार व लेनदेन ग्रहस्थोंको करना योग्य है।

वचनोंकी हारजीतके फँदेमें फंसे हुए मानव तास, चौपड़, सतरंज आदि खेल करते हुए प्रतिदिन जीवनका अमूल्य समय घंटों नाश कर देते हैं। तथा हारके भय व जीतके तीव्र लोभमें पड़े हुए कषाय भावोंसे उतनी देर पापका ही बंध करते हैं। इस चाटका भी चटोरा धर्म कर्म व खानपान समय पर करना भूल जाता है। जीवनका समय अमूल्य है। उसे उपयोगी कामोंमें न लगाकर जूए आदि व्यसनोंमें लगाना अमृतको पैर धोनेमें खर्च कर देना है, जीवनके समयको वृथा नाश करना है। अतएव जो श्रावकोंका आचार उत्तम प्रकारसे पालना चाहें उनको हरतरहकी हारजीतका जूआ नहीं खेलना चाहिये। अशुद्ध भावोंसे अपना विगाड नहीं करना चाहिये।

श्लोक—मांसं रौद्रस्य ध्यानस्य, सम्मूर्छन यत्र दिष्टते।
जलं कंदस्य मूलस्य, साकं सन्मूर्छनं तथा ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थ—(मांसं) मांस खाना (रौद्रस्य ध्यानस्य) रौद्रध्यानका कारण है। (यत्र) जहा (सम्मूर्छन) सम्मूर्छन त्रस जंतु (दिष्टते) दिखलाई पडते हैं (तथा) उसी तरह (जलं) अनछना जल लेना (कंदस्य) कंदका खाना (मूलस्य) मूलका खाना (साकं) शाक-भाजी (सन्मूर्छनं) तथा अन्य पदार्थ जिसमें सन्मूर्छन जंतु उत्पन्न हो, खाना है।

विशेषार्थ—यहां दूसरे व्यसन मांस खानेका निषेध किया गया है। मांस बहुधा पशुओंके घातसे होता है। जो मांसाहारी होता है उसके दिलमें पशु हिंसासे आनन्द भाव पैदा होता है। इसलिये उसके निरन्तर हिंसानन्दी रौद्रध्यान रहता है। दयावान प्राणी किसी भी तरह भूलकर भी मांसका ग्रहण नहीं करता है। जब जगतमें अन्न, फल, दूध, घी, मेवा आदि मांसकी अपेक्षा अधिक पौष्टिक पदार्थ मिलते हैं तब उनको ही खाकर जीवन यात्रा करना मानवका कर्तव्य है। प्राणीघातक मांसको लेकर तडफते हुए पशुओंकी कसाईखानोंमें हिंसा कराना उचित नहीं है।

मानवका मृतक शरीर जैसे अशुद्ध है वैसे ही पशुका मृतक शरीर अशुद्ध है। जैसे मुरदेके भीतर अंतर्मुहूर्त पीछे अनगिनती मानव जातिके सन्मूर्छन जंतु पैदा होते हैं वैसे ही पशु मांसमें पशु जातिके सन्मूर्छन जंतु पैदा होते हैं। यदि विना मारे हुए ही स्वयं मरे हुए पशुका भी मांस मिल जावे तो भी नहीं खाना चाहिये। क्योंकि वह भी अनगिनती सन्मूर्छन पैदा होनेवाले त्रस जंतुओंका ढेर है। उसमें वारवार अनेक जंतु पैदा होते हैं तथा मरते हैं। इसीसे मांसकी दुर्गंध कभी नहीं जाती।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्री अमृतचंद्र महाराज कहते हैं—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु। सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्। स निहन्ति सततनिचितं पिंडं बहुजीवकोटीनां ॥१८॥

भावार्थ—कचे, पके हुए, पकते हुए मांसके टुकडोंमें निरंतर इसी जातिके सम्मूर्छन जंतुओंकी उत्पत्ति होती रहती है-जो कचे या पके मांसकी डलीको खाता है या छूता है सो कोटानुकोटि निरंतर एकत्र हुए जंतुओंकी हिंसा करता है। सुभाषितमें अमित० कहते हैं—

येऽन्नाशिनः स्थावरजंतुघातान्मांसाशिनो येऽत्र सजीवघातान्। दोषस्तयोः स्यात्परमाणुमेर्वोर्यथान्तरं बुद्धमतेतिवेद्यम् ॥१३०॥
अश्नाति यः संस्कुरुते निहन्ति ददाति गृह्णात्यनुमन्यते च। एते षडप्यत्र विनिन्दनीया भ्रमन्ति संसारवने निरंतरं ॥१३९॥

भावार्थ-जो कोई कहे कि अन्नादि फलादि खानेमें भी तो स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है उसका समाधान यह है। अन्नादिके व्यवहारमें मात्र स्थावर जीवोंकी हिंसा है जब मांसाहारमें त्रस जंतुओंकी इतनी अधिक हिंसा है कि दोनोंकी हिंसामें परमाणु और मेरु पर्वतके समान अन्तर बुद्धिमानको जानना चाहिये। अधिक हिंसासे वचना ही बुद्धिमानी है। जो कोई मांस खाता है, पकाता है, पशुको मारता है, दूसरेको देता है, हाथमें लेता है, व उस मांस खानेको अच्छा समझता है ये छहों ही निंदनीय हैं। वे छहों ही पाप बांधकर निरन्तर संसार वनमें भ्रमते हैं। यहांपर ग्रन्थकर्ताने श्रावकोंको दूसरी वस्तुओंकी तरफ भी ध्यान दिलाया है जिनमें मांसकासा दोष आता है उनमें एक जल भी है।

जल छाननेकी विधि-विना छना हुआ पानी त्रस जंतुओं सहित है, उसमें निरंतर त्रस जीव पैदा होते हैं, इसलिये जलको दोहरे गाढे छन्नेसे छानकर उसकी जिवानी जहांसे भरा हो

वहीं पहुंचा देनी चाहिये। ऐसा छना जल दो घड़ी या ४८ मिनिट तक काममें लेना चाहिये। फिर वह छानने लायक होजाता है। पानी छाननेके सम्बन्धमें दौलतरामजी क्रियाकोषमें कहते हैं—

रंगे वस्त्र नहि छानो नीरा, पहरे वस्त्र न गालो वीरा ॥२४४॥
नाहिं पातरे कपड़े गालो, गाढ़े वस्त्र गालि अघ टालो। रेजा दिढ़ अँगुल छतीसा, लम्बा अर चौड़ा चौवीसा ॥२४५॥
ताको दो पुड़ताकर छानो, याहि नातणाकी विधि जानो। जल छानत इक बूँदहिं धरती, मति डारहु भाषे महावरती ॥२४६॥
एक बूँदमें अगणित प्राणी, यह आज्ञा गावे जिनवाणी। गलना चिहुँटी धरि मत दावो, जीवदयाको जतन धरावो ॥२४७॥
छाणे पानी बहुते भाई, जल गरणा धोवे चित लाई। जीवाणीको जतन करो तुम, सावधान हो विनवें क्या हम ॥२४८॥
राखहु जलकी किरिया सुद्धा, तब श्रावक व्रत लहो प्रबुद्धा। जा निवाणकी ल्यावो वारी, ताही ठौर जिवाणी डारी ॥२४९॥
द्वै घटिका वीते जो जाको, अनछानाको दोष जु ताको। तिक्त कसाय भेलि किये फासु, ताहि अचित्त कहें श्रुत भासू ॥२५३॥
पहर दोय बीजे जो भाई, अगणित त्रस जीवा उपजाई। ड्योढ तथा पौने दो पहरा, आगे मति वरतो बुधि गहरा ॥२५४॥
भात उकाल उष्ण जल जो है, सात पहर ही लीनू सो है। वीते वसू जाम जल उष्णा, त्रस मरिया इह हैं जु विष्णा ॥२५५॥

भावार्थ—गाढेका नया छन्ना कमसेकम ३६ अंगुल लम्बा व २४ अंगुल चौडा लेकर दोहरा करके जल छाने। छानकर छने पानीसे जीवानी एकत्र करके यातो उसी समय या फिर पानी भरते समय वर्तनमें डालकर कूएमें पहुंचादे। यह पानी दो घडी चलता है। यदि कषायला द्रव्य लौंग, इलायची, निमक, मिर्च आदि डालकर प्राशुक किया जाय तो छः घंटेके भीतर२ वर्त लेवे फिर त्रस जंतु पैदा होजायंगे। यदि औटाले तो ८ पहर या २४ घंटे पानी चलेगा उसके भीतर वर्तले, फिर त्रस जंतु पैदा होजायंगे। मात्र उकाला नहीं परंतु खूब उष्ण हो तो शामतक चल सक्ता है ऐसा प्रसिद्ध है। श्रावककी क्रियामें छना पानी अति आवश्यक है। मर्यादाके भीतरका पानी नहीं पीनेसे बहु त्रस घातका दोष होता है। यदि वर्तनका मुंह बड़ा हो तो दोहरा करनेपर वर्तनके मुंहसे तिगुणा कपड़ा होना चाहिये। जिससे अनछना जल वर्तनमें न पड़े। दयावानोंको तो स्नान भी पानी छान-कर करना चाहिये। पानीके छाननेसे अपने शरीरकी भी रक्षा होती है। बहुतसे महीन जंतु रोगोंको पैदा कर देते हैं। जिस तालाव या कूएका पानी वर्तावमें नहीं आता है उसको छानकर औटाकर ही पीना उचित है जिससे शरीरमें रोग न हो।

कंदमूलके दोष ।

कंदमूल—जो फल भूमिके भीतर फलकर गड़े हुए निकलते हैं व जड आदि व वृक्षका धड जो जड़से मिला हो सो सब कंदमूलमें हैं । जैसे आलू, सुरण, घुइयां, शकरकंदी, मूली, गाजर, अदरक आदि । इन सबमें यद्यपि त्रस जंतुका घात नहीं है परंतु अनंत एकेंद्रिय स्थावर जीवोंका घात हो-जाता है । यहां ग्रंथकर्ताने उनकी हिंसाका दोष त्रस हिंसाके समान गिनकर मांसके दोषोंमें मना किया है । पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

एकमपि प्रजिघांसुः निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् । करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥ १६२ ॥

भावार्थ—जिस एकको घात करनेसे अनंत स्थावर जीवोंका घात होता है इसलिये अनन्तकाय-वाली साधारण वनस्पतियोंको सर्व प्रकार त्याग कर देना चाहिये ।

कंदमूल प्रायः इस ही दोषमें है । अतः त्यागना ही उचित है ।

शाक व फूलका दोष ।

शाक—शाक भाजी पत्ती पत्तेवालीका भी यहां मना किया है उसमें भी साधारण वनस्पतिका सम्बंध विशेष रहता है तथा प्रायः छोटे २ त्रस जीव भी बैठे रहते हैं । तथा फूलोंमें भी यही बात है इसी लिये दौलतरामजी कहते हैं—

पत्र फूल कन्दादि भखें जे, साधारण फल मूढ चखे जे । ते नहिं जानो जैनी भाई, जीभलम्पटी दुर्गति जाई ॥ २०१ ॥

इसी तरह और भी वे पदार्थ जिनमें सन्मूर्छन त्रस जंतु पैदा हो, खाना उचित नहीं है ।

उनको कुछ आगे कहते हैं—

सन्मूर्छन त्रस जन्तु ।

श्लोक—स्वादं विचलितं यस्य, सन्मूर्छनं तस्य उच्यते ।
ये नरा तस्य भुक्तं च, तिर्यञ्चाः नर संति ते ॥ ११० ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस भोजन या फल या रसका (स्वादं) स्वाद (विचलितं) बिगड जावे (तस्य) उसके भीतर (सन्मूर्छन) सन्मूर्छन त्रस पैदा होनें लगते हैं ऐसा (उच्यते) कहा जाता है। (ये नरा) जो मानव (तस्य भुक्तं) ऐसी वस्तुको खाते हैं (ते नर) वे मानव (तिर्यंचाः) पशु समान अविवेकी (संति) हैं।

विशेषार्थ—मांसके दोषोंको बचानेके लिये यह बात बहुत जरूरी है कि जिस किसी वस्तुमें सन्मूर्छन त्रस जन्तु पैदा हो उसको न खाना चाहिये। हरएक भोजन जो बना हुआ ताजा होगा वह अपने स्वादमें रहेगा, वासी होनेपर रस चालित होजायगा। जो फल सड जावे गल जावे वह रस चलित होगा, जो घी या तेल अपने असली स्वादमें न होगा रस चालित होगा, ऐसें पदार्थोंको खाना श्रावकको उचित नहीं है।

भोज्य पदार्थोंकी मर्यादा क्या है।

दौलतरामजी कहते हैं—

अब सुनि चून तनी मर्याद, भाषें श्रीगुरु जो अविवाद। शीतकालमें सात हि दिना, ग्रीषममें दिन पांच हि गिना ॥१०७॥
वर्षारितु माहीं दिन तीन, आगे संधाणा गण लीन। मर्यादा वीते पकवान, सौ नहिं भक्ष्य कहे भगवान ॥१०८॥
जामें अन्न जलादिक नाहिं, कछु सरदी जामाहीं नाहिं। बूरो और बतासा आदि, वहुरि गिदौड़ादिक जु अनादि ॥११०॥
ताकी मर्यादा दिन तीस, शीतकालमें भाषी ईश। ग्रीषम पंदरा वर्षा आठ, यह धारो जिनवाणी पाठ ॥१११॥
अर जो अन्न तनो पकवान, जलको लेश जु माहे जान। आठ पहर मरजादा तास, भाषे श्रीगुरु धर्मप्रकाश ॥११२॥
जल वर्जित जो चूनहितनो, घृत मीठो मिलिके जो बनो। ताकी चून समान हि जान, मरजादा जिन आज्ञा मान ॥११३॥
भुजिया बड़ा कचौरी पुवा, मालपुवा घृत तेलहि हुवा। इत्यादिक हैं अवरहु जेह, लुचई सोरी पूरी येह ॥११४॥
ते सब गिनो रसोई समा, यह उपदेश कहें प्रति रमा। दारि भात कडही तरकारि, खिचड़ी आदि समस्त विचारि ॥११५॥
दोय पहर उनकी मर्याद, आगे श्रीगुरु कहें अस्वाद ॥११६॥

भावार्थ—भारतवर्षकी ऋतुके अनुसार भोजनकी मर्यादा यह है कि आटा पिसा हुआ जाड़ेमें सात दिन, गरमीमें पांच दिन, वर्षामें तीन दिनका लेना योग्य है। जिसमें अन्न व जलादि न हो ऐसा

बूरा, बतासा, सूखा गिंदौडा शीतमें एक मास, गर्मीमें पंद्रह दिन व वर्षामें आठ दिन चल सक्ता है। अन्नके पकवानमें जिसमें कुछ जलका अंश हो जैसे सुहाल, मठरी, लाडू, वर्फी, पेंडा, गुलाबजामन आदि आठ पहर या चौवीस घंटेके भीतरके खाने चाहिये। जलको न डालकर घी मीठा व अन्न मिलाकर जो लाडू बने इसकी मर्यादा आटेके समान है। भजिया, बडा, कचौरी, पूरी घीकी तली हुई व तेलकी बनी हुई दिनभर चल सक्ती है, रातवासी नहीं। दाल, भात, कडी, पतली तरकारी दो पहर या छः घंटोंके भीतर खाना योग्य है। दूधको थन धोकर निकालकर अंतर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनटके भीतर२ गर्म करने रख दे, औंट जानेपर वह चौवीस घंटे काममें आसक्ता है। इसी दूधको जमाकर दही बनावे। वह भी २४ घंटेके भीतर२ खालेना चाहिये। आजका घना दूसरे दिन तक। छाछ उसी दिनकी खानी चाहिये। कच्चा पानी यदि डाले तो दो घड़ी भीतर ही लेनी योग्य है। घी, तेलकी मर्यादा वहींतक है जहांतक उसका स्वाद नहीं बिगडे। मक्खनको न खाकर तुर्त उसको दो घडीके भीतर गर्म करके घी बना लेना चाहिये। उसे रस चलित होनेपर कभी नहीं खावे। पापड, वडी, मंगौडी उसी दिनकी खानी चाहिये। यदि खूब सूख जावे तो दूसरे दिनतक २४ घंटेके भीतर२ खालेवे।

जो नरनारी मर्यादाका ध्यान न रखकर कई दिनोंके पापड, वडी, मिठाई आदि खाते हैं वे मांसके दोषके भागी होते हैं तथा सन्मूर्छन जंतुओंका कलेवर उदरमें जानेसे रोगोंकी भी उत्पत्ति होती है। इसलिये विचारवानको सदा शुद्ध भोजन करना चाहिये। वींधा अन्न नहीं खाना चाहिये। दिन प्रतिदिन अन्न शोधकर शुद्ध स्थानमें रसोई बनवाकर जीमना चाहिये।

विदल संधाना व पूर्णफल खानेका दोष।

श्लोक—विदल संधान बंधानं, अनुरागं यस्य गीयते।
मनस्य भावनं कृत्वा, मांसं तस्य न मुच्यते ॥ १११ ॥
फलस्य संपूर्ण भुक्तं, सन्मूर्छन त्रस विभ्रमं।
जीवस्य उत्पादनं दिष्टं, हिंसानंदी मांसदूषनं ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थ—(विदलं) दो दाल जिसकी हो ऐसेका दहीके साथ खाना (संघानमंघानं) अचार मुरब्बा बना हुआ (यस्य) जिस किसीके (अनुरागं) इनका राग (गीयते) पाया जावे (मनस्य भावनं कृत्वा) उसके मनसे मासकी भावना की गई होनेसे (तस्य) उसके (मांसं) मांस (न मुच्यते) नहीं छोडा गया है (संपूर्ण फलस्य भुक्तं) पूरे फलको विना देखे खाना (सम्मूर्छन त्रस विभ्रमं) उसमें सम्मूर्छन त्रस जंतुके होनेकी शंका रहती है। उनमें (जीवस्य) जंतुओंका (उत्पादनं) पैदा होना (दिष्टं) देखा जाता है। जो खाता है वह (हिंसानंदी) हिंसामें आनंद मानता है। उसे (मांसदूषनं) मांसका दूषण आता है।

विशेषार्थ—इन दो श्लोकोंमें ग्रंथकर्ताने मांसके दोषोंमें विदल, संधान, विना तोड़ा फल खाना मना किया है। दौलतरामजी उस सम्बन्धमें कहते हैं—

अन्न मसूर मूंग चणकादि, तिनकी दालि जु होय अनादि। अर मेवा पिस्ता जु बदाम, चारौली आदिक अति नाम ॥१३५॥
जिन जिन वस्तुनिकी है दाल, सो सो सब दधि भेला टालि। अर जो दधि भेली मिष्ठान, तुरत हि खावो सूत्र प्रवाण ॥१३६॥
अंतर्मुहूर्त पीछे जीव, उपजें यह गावें जग पीव। ताते मीठा युत जो दही, अंतर्मुहूर्त पहले गही ॥१३७॥
दधि गुड खावो कबहि न जोग, वरजें श्रीगुरु वस्तु अजोग। फुनि तुम सुनहु भिन्न इक बात, राई लूण मिले उतपात ॥१३८॥
तातें दही महीमें करे, तजो रायता कांजी वरे ॥१३९॥

भावार्थ—विदलका स्वरूप यह है कि जिस किसी अन्नकी या मेवाकी दो दालें होजाती हों उसको दहीके साथ मिलाकर व दहीके साथ उनकी कोई चीज बनाकर न खावे। दहीके साथ शक्कर मिलाकर दो घडीके भीतर २ खावे, परन्तु गुडको दहीमें न मिलाना चाहिये। राई, लोण, दही व छाछमें रायता बनाकर व कांजीके वडे बनाकर खाना योग्य नहीं है।

संघाणा दोषीक विशेष, सो भव्यो छाडो जो असेस ॥ १०१ ॥
अत्थाणा संधान मथान, तीन जाति इनकी जु वषानि। राई लूण कलुँजी आदि, अम्बादिकमें डारें वादि ॥१०२॥
नाखि तेलमें कर हिं अथाण, या सम दोष न सूत्र प्रमाण। त्रस जीवां तामें उपजंत, भखियां आमिष दोष लहंत ॥१०३॥
नींबू आम्रादिक जो फला, लूण माहि डारे नहि भला। याको नाम होय संधान, त्यागे पंडित पुरुष सुजाण ॥१०४॥
अथवा चलित रसा सब वस्तु, संधाणा जानो अप्रशस्त। बहुरि जलेबी आदिक जोहि, डोहा राव मथाणा होय ॥१०५॥
लूण छाछ माहीं फल डार, केर्यादिक जे खाहिं संवार। तेहि बिगाड़े जन्म स्वकीय, जैसे पापी मदिरा पीय ॥१०६॥

भावार्थ—संधान तीन प्रकारका होता है। अथाणा, संधान, मथान। जिसमें राई, लोण, आम, नींबू व तेल डालकर बनाते हैं सो अथाना है। इनमें त्रस जीव पैदा होते हैं, नहीं खाना योग्य है। नींबू व आम आदिको लूणमें डालकर संधाना बनता है। जलेबी व राब आदि जिसमें खमीर उठे सो मथाणा है। इन तीनोंको खाना उचित नहीं है। कहीं२ अग्निसे पके हुए आचार व मुरबेको १४ घण्टे व कहीं कहीं १२ घण्टेके भीतर खाना योग्य है ऐसा कहा जाता है।

किसी भी फलको तोडकर खाना उचित है, क्योंकि उसके भीतर त्रस जंतु पैदा होनेकी संभावना है। चने, बादाम, सुपारी, जामफल, आम आदिके भीतर कभी २ कीडा निकल पडता है। अच्छी तरहसे देखे विना कोई फल नहीं खाना चाहिये। जो विना देखे खाते पीते हैं वे हिंसाकी परवाह नहीं करते हैं। वे हिंसामें आनन्द मानते हैं उनको मांसका दोष आता है। प्रयोजन यह है कि जिस चीजमें सन्मूर्छन त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होगई हो व होनेकी संभावना हो उस वस्तुको दयावान मांसाहार त्यागीको नहीं खाना चाहिये। शुद्ध रसोई खानपान करनेसे ही श्रावक यथार्थमें मांसके सर्व दोषोंसे बच सक्ता है।

श्लोक—मद्ये ममता भावेन, राज्यं आरूढ चिंतनं।
भाषाशुद्धि न जानाति, मद्ये वित्तस्य संचितं ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थ—(मद्ये) मद्य व्यसनके भीतर (ममताभावेन) ममताभावके द्वारा (राज्यं आरुढ़) मैं राज्य कर रहा हूं ऐसा (चिंतनं) विचार होता है (भाषाशुद्धि) भाषाकी शुद्धि (न जानाति) नहीं जानता है। (मद्ये) मद्यमें (वित्तस्य) धनका (संचितं) संचय किया जाता है।

विशेषार्थ—यहां तीसरे व्यसनका स्वरूप है। मदिरा पीना प्राणीको अचेत कर देता है। वह हित अहितको भूल जाता है, मदिरा अनेक जंतुओंके घातसे सडाकर बनती है, स्पर्श योग्य नहीं है, यह उदरमें जाकर अंग उपांगको आकुलव्याकुल कर देती है, तब मूढ प्राणी अपनी पुत्री तकको स्त्री मानके कुचेष्टा करने लग जाता है, यद्वा तद्वा बकता है, अधिक नशा चढा तो बेहोश हो पड़ जाता है। रास्तेमें मोरियोंमें पड जाता है, मानवको बावला अज्ञानी बनानेवाली यह मदिरा किसी भी तरह पीने योग्य नहीं है। सुभाषित रत्नसंदोहमें कहा है—

प्रचुरदोषकरीमिह वारुणीं पिबति यः परिगृह्य धनेन ताम्। असुहरं विषमुग्रमसौ स्फुटं पिबति मूढमतिर्जननिन्दितम्॥ १११॥
प्रचुरदोषकरीं मदिरामिति द्वितयजन्मविबाधविचक्षणम्। निखिलतत्वविवेचकमानसाः परिहरन्ति सदा गुणिनो जनाः॥ ११२॥

भावार्थ—जो कोई धन खरचकर महान दोषकारी मदिराको पीते हैं वे मूढमति अति निन्दित भयानक प्राणहारी विषका ही पान करते हैं। यह मदिरा इस जन्मको और परभवको दोनोंका विगाड करनेवाली है। तत्वके विचारमें चतुर गुणीजन इससे सदा ही बचते हैं। मदिराके पीनेकी आदतसे गरीब आदमी अपनी कमाई इसीमें खो देता है। कुटुम्बके लिये भोजन वस्त्रका भी प्रबन्ध नहीं होने पाता है। मदिरा पीनेवाला बहुतसे राज्यदंड योग्य पाप कर लेता है। उसके शरीरमें रोग भी अनेक प्रकारके होजाते हैं। मदिराका व्यसन बहुत ही बुरा है। जो विवेकी श्रावक हैं उनको मदिराके सिवाय और भी कोई वस्तु जो मनको मूढ बनादे, नशा पैदा करदे, कभी न लेनी चाहिये जैसे-गांजा, चरश, भंग, तम्बाकू, अफीम आदि। कोई भी नशा बुद्धिको विपरीत कर देता है व उसका खुमार जबतक जोरसे चढ़ा रहता है तबतक यह प्राणी अपने जीवनका समय वृथा खोता है। जो कोई वृक्षकी पत्ती आदि हो व जिसमें हिंसा न हो वह वस्तु किसी औषधके काममें तो ली जासक्ती है परंतु मद्यके रूपमें कभी न ग्रहण करना चाहिये। मदिराका सेवन तो औषधिमें भी लेना उचित नहीं है। क्योंकि यह प्राणियोंके बहुघातसे तैयार होती है। जिन औषधियोंमें मदिरा पडी हो, विचारवानको पीना योग्य नहीं है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहते हैं—

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं। विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंकमाचरति॥ ६२॥

भावार्थ—मद्य मनको मोहित कर देती है, मोही चित्त धर्मको भूल जाता है। धर्मको भूला हुआ जीव निडर होकर हिंसा करने लगता है, अपना व परका घात व कष्ट प्रदान करने लगता है।

यहां ग्रन्थकर्ताने भीतरी धनादिके मद्यकी तरफ लक्ष्य देकर लिखा है कि जिसके तीव्र ममत्व संसारसे है वह भी मद्य पीनेवाला है। वह यदि राज्य करता हुआ हो तो घोर अभिमानमें होकर यही विचारता रहता है कि मैं राज्य आरूढ हूं, यदि राज्य नहीं हुआ तो राज्य स्वामी होकर अभिमान करूं, खूब स्वार्थ सिद्ध करूं, ऐसा विचारता रहता है। मदिरा पीनेवालेकी जैसे भाषा बिगडी हुई निकलती है वैसे धनादिके नशेमें चूर प्राणीकी भाषा मानसे भरी हुई कठोर निकलती है। वह

सबको छोटी दृष्टिसे देखकर निरादरके वचन कहता है। धनके मदमें प्राणी धनका ही संचय करता रहता है। उसे धनका नशा चढ़ जाता है। जितना धन होता है उतना अधिक मद होता है। वह धनको शुभ कार्यमें नहीं लगाता। मात्र मैं बडा हूं इस भावकी ही पूजा करनेमें लगा रहता है।

श्लोक—अनृतं सत्यभावं च, कार्याकार्यं न सूच्यते।
ये नरा मद्यपा होंति, संसारे भ्रमणं सदा ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थ—(ये नरा) जो मानव (मद्यपा) मदिरा पीनेवाले होते हैं या धनादिका मद करते हैं वे (अनृतं सत्यभावं) झूठ व सत्य पदार्थको (च) और (कार्याकार्यं) कर्तव्य व अकर्तव्यको (न सुच्यते) नहीं देखते हैं (संसारे) इस संसारमें (सदा) हमेशा (भ्रमणं) उनका भ्रमण होगा।

विशेषार्थ—जो मानव मदिरा पीते हैं या मदमें गृसित हैं उनकी विवेकबुद्धि नष्ट होजाती है, वे सत्य व जूठकी परीक्षा नहीं कर सक्ते हैं न यह विचारते हैं कि क्या काम करना चाहिये व क्या काम न करना चाहिये। वे स्वार्थके अंधे होकर धर्मको छोड बैठते हैं। अपना धनादि वढानेके लिये असत्य बोलते हैं, मायाचार रचते हैं, दूसरोंको ठगते हैं, अन्यायसे धन एकत्र करते हैं, अंध हो विषय-भोगोंमें धन खरचते हैं, नामवरीके भूखे रहते हैं, दूसरेसे इर्षा करके प्रचुर धन खरच करके भीतर धन रहित होते हुए भी अपना नाम करना चाहते हैं-जिन कुरीतियोंसे या व्यर्थ व्ययसे अपना बुरा या समाजका बुरा होता है उनको अभिमानवश नहीं छोड़ते हैं। हम अपने बड़ोंकी रीतिपर चलेंगे नहींतो हम छोटे होजायंगे। धन, धर्म, सुयशका नाश करके भी अंध हो व्यर्थके काम किया करते हैं। इन कठोर चित्तवालोंके भीतर दया नहीं रहती है। वे रौद्रध्यानी होजाते हैं, नर्क आयु बांधकर नर्क जाते हैं फिर संसारमें अनेक पशु आदिके दीन हीन जन्म पापाकर भ्रमते रहते हैं, धर्मरत्नका मिलना काठिन होजाता है इसलिय विचारवानको न तो कोई नशा पीना चाहिये और न धनादिका मद करना चाहिये। वे सर्व पदार्थ अनित्य हैं ऐसी भावना भाना चाहिये।

श्लोक—जिन उक्तं न श्रद्धते, मिथ्यारागादि भावनं।
अनृतं ऋत जानाति, ममत्वं मानभूतयं ॥११५॥

अन्वयार्थ—मद्यमें फंसा हुआ अभिमानी पुरुष (जिन उक्तं) जिनेन्द्रके कहे हुए उपदेशका (न श्रद्धते) श्रद्धान नहीं करता है (मिथ्यारागादि भावनं) मिथ्यात्व व राग द्वेषकी भावना सदा किया करता है। (अनृतं) जो झूठ है कल्पित है उसे (ऋत) सच्चा (जानाति) जान लेता है (ममत्वं) ममता व (मान) अभिमानका (भूतयं) भूत उसपर चढ़ा रहता है।

विशेषार्थ—जैसे मदिरा पीनेवाला मदके नशेमें चूर होकर अपनी सुधबुध भूलकर पशुसे भी बुरा होजाता है वैसे ममता और मानका भूत जिसपर चढ़ जाता है ऐसा मोही प्राणी जिनेंद्रके उपदेशको एकतो सुनता नहीं है। यदि सुनता है तो ग्रहण नहीं करता है। यदि ग्रहण भी करता है तो इसपर विचार नहीं करता है और न उसपर अपना श्रद्धान जमाता है। मिथ्यात्वमें फँसा हुआ, संसारासक्त बना हुआ, कुदेवादिकी भक्ति किया करता है, रागद्वेष करता हुआ किसीसे अति प्रेम व किसीसे अति द्वेष कर लेता है। कषायकी पुष्टिमें लगा रहता है। जिसपर द्वेष होजाता है उसका सत्यानाश करता है, जिससे प्रेम होजाता है उसके लिये धन लुटा देता है। वह अंधा होकर कुमार्गमें चलता है। जो बात सच्ची है, कल्याणकारी है उसे तो झूठ जानता है और जो झूठी है उसे सच्ची समझ लेता है। यह संसार असार है, दुःखका घर है। यह शरीर अपवित्र है, क्षणभंगुर है। ये भोग तृष्णावर्द्धक अतृप्तिकारी हैं। ये कुटुम्बादि सब स्वारथके सगे हैं ऐसा वस्तु स्वरूप होनेपर भी यह मूढ प्राणी संसारको सुखकारी, शरीरको सदा बने रहनेवाला, भोगोंको तृप्ति देनेवाला, कुटुम्बादिको अपने सहाई व उपकारी समझ लेता है। इस तरह उल्टा मानके यह पदार्थको संचय करते हुए मान व मोहमें फंसता हुआ अपनेको और अधिक अंधबुद्धिके जालमें फंसा लेता है। धिक्कार हो मदिराको। धिक्कार हो धनादिके मदको। दोनों ही इस लोक व परलोक बिगाडनेवाले हैं, ज्ञानीको कभी भी अभिमानके नशेमें चूर न होना चाहिये।

श्लोक—शुद्ध तत्त्वं न वेदंते, अशुद्धं शुद्ध गीयते।
मद्ये ममताभावेन, मद्यदोषं तथा बुधैः ॥ ११६ ॥

अन्वयार्थ—जो कोई (शुद्ध तत्त्वं) शुद्ध आत्मतत्त्वको (न वेदंते) नहीं अनुभव करता है किंतु (अशुद्धं) रागादि सहित अशुद्ध आत्माको (शुद्ध गीयते) शुद्ध है ऐसा गाता है वह प्राणी (मद्ये)

मद्यके समान संसारमें (ममताभावेन) ममताभाव रूपसे वर्त रहा है। (तथा बुद्धैः) तैसे ही बुद्धिमानोंके द्वारा (मद्यदोषं) मदिराका दोष कहा गया है।

विशेषार्थ—यहांपर यह बताया है कि जो कोई निश्चय नयके द्वारा अपने आत्माको शुद्ध रागादि रहित जानकरके एकांती होजावे अर्थात् वर्तमानमें पर्याय अपेक्षा आत्माके कर्म बंध हैं, उसके राग द्वेष है, पुण्य या पापके फलका भोग है, इस बातको न मानता हो और अपने ही अशुद्ध आत्माको शुद्ध है ऐसा गाता हो, किन्तु रागादि छोडकर एकाग्र होकर आत्मध्यान करके शुद्ध आत्माको कभी अनुभवमें न लेता हो, व्यवहारमें रात दिन फंसा रहकर संसारी कार्योंमें लिप्त रहे और यह माने कि इन कार्योंसे मुझे बंध नहीं होता है–मात्र शुष्कज्ञानमें जो वास्तवमें एकांत है मिथ्यात्व है संतोष मान लेता है। आत्माकी शुद्धिका यत्न नहीं करता है वह निश्चयाभासी एकांती मिथ्यात्वी है। उसे भी एक प्रकारका मद चढ़ गया है। मैं परमात्मा रूप हूं इस मदमें लीन होकर मन, वचन, कायको स्वच्छंद वर्ताता है, प्रमादी होरहा है, भ्रममें पड़कर अशुद्धको शुद्ध मान रहा है। वास्तवमें दृष्टि दो हैं–एक द्रव्यदृष्टि, एक पर्याय दृष्टि। द्रव्य दृष्टिसे या द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यका असली स्वरूप जाना जाता है, पर्यायार्थिक नयसे उसकी अवस्थाओंका ज्ञान होता है। अपने आत्माको दोनों नयोंसे ठीकर जाने तब सम्यग्ज्ञान होगा कि यह द्रव्यके स्वभावसे तो शुद्ध है परन्तु अनादि कर्म बंधकी अपेक्षा यह अशुद्ध है। इसमें राग द्वेष मोह हैं इसको मेटकर वीतराग परिणति करनी है। ऐसा जो जानेगा वह अपनी अशुद्धता मेटनेके लिये आत्मध्यानका साधन करेगा, अशुभ भावोंसे बचेगा, शुद्ध भावोंमें रमेगा। जब शुद्ध भावोंमें न रमा जायगा तब शुभ भावोंमें रहनेका सहारा लेगा। इसतरह जो साधन करेगा वही समझदार सम्यग्दृष्टी है उसीको ही मिथ्यात्वका नशा नहीं है। परंतु जो एक पक्ष पकडकर सर्व साधन छोड़ बैठेगा वह मतवालेके समान अपने आपका बुरा करेगा। जैसे मिथ्यात्व मदका गृसित प्राणी सबको वास्तविक न जानकर औरका और जानता है वैसे ही मदिराका पीनेवाला वस्तुको औरका और जानकर दुःख उठाता है।

निश्चयका एकांत पकडनेवाला भी मतवाला है, वैसे ही व्यवहारधर्मका एकांत पकडनेवाला भी मतवाला है। दोनों ही भवमें डूबते हैं। ऐसा ही समयसारकलशमें अमृतचंद्राचार्य कहते हैं—

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यन्मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदति स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ॥
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं । ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥ १२-४ ॥

भावार्थ—जो मात्र क्रियाकांडके पक्षका ही आलम्बन लेते हुए आत्मज्ञानको नहीं अनुभव करते हैं वे संसारमें डूबते हैं तथा जो ज्ञानको चाहते हुए भी आत्मानुभवके लिये अत्यन्त मंद उद्यमी हैं व स्वच्छन्द व्यवहारमें प्रवर्तते हैं वे भी संसारमें डूबते हैं। वे ही इस संसारसे पार हो-सकेंगे जो आत्माका यथार्थ ज्ञान स्वयं रखते हुए कदाचित् क्रियाकांडमें लीन न होते हुए प्रमादके वश नहीं होते हैं-सदा आत्मानुभवके उत्साही रहते हैं। प्रयोजन यह है कि जैसे मदिरा पीना छोड़ना चाहिये वैसे एकांत मिथ्यात्वकी मदिराको भी त्यागना चाहिये।

श्लोक—जिनोक्तं शुद्धतत्वार्थं, न साधयन्त्यव्रतीव्रती ।
अज्ञानी मिथ्याममत्त्वस्य, मद्ये आरूढते सदा ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थ—(अव्रती) व्रत रहित हों या (व्रती) व्रतधारी हों जो (जिनोक्तं) जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए (शुद्धतत्वार्थं) शुद्ध आत्म पदार्थको (न साधयन्ति) नहीं साधन करते हैं वे (अज्ञानी) ज्ञान रहित हैं और (सदा) सदा ही (मिथ्याममत्त्वस्य) मिथ्यात्वकी ममतारूपी (मद्ये) मदमें (आरूढते) आरूढ़ हैं।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि कोई व्यवहार सम्यक्तको रखता हुआ सच्चे देव, शास्त्र गुरुको मानता हुआ, सात तत्वोंका श्रद्धान रखता हुआ व्रत रहित हो अथवा श्रावक या मुनिके व्रत रहित हो और शुद्ध आत्माके असली स्वरूपको पहचानता हो और न कभी शुद्धात्माका ध्यान करता हो न शुद्धात्माकी भावना भाता हो और अपनेको यह माने कि मैं सम्यक्ती हूँ, मैं चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानका धारी हूँ या मैं पंचम गुणस्थानका धारी श्रावक हूँ या मैं छठे, सातवें गुणस्थानका धारी मुनि हूं तो वह शुद्ध आत्माको अनुभव न करनेसे मिथ्याज्ञानी ही है। उसने व्यवहारको ही निश्चय मोक्षमार्ग मान लिया है। बंध कार्यको ही निर्वाणका मार्ग निश्चय कर लिया है। इसलिये वह मिथ्यात्व सहित है, परन्तु उसको यह नशा चढा है कि मैं सम्यक्ती हूं, मैं मोक्ष-मार्गी हूं, ऐसा अज्ञानी भी सदा मदिरा पीनेवालेके समान ही उन्मत्त है, असत्यको सत्य जानता हुआ उन्मत्तवत् चेष्टा कर रहा है।

श्लोक—वेश्या आसक्त आरक्तः, कुज्ञानं रमते सदा ।
नरयं यस्य सद्भावं, वेश्या तद्भावदिष्टितं ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थ—(वेश्या आसक्त) जो वेश्याके व्यसनमें (आरक्तः) लवलीन है वह (सदा) सदा (कुज्ञानं) मिथ्या ज्ञानमें (रमते) रंजायमान होता है। (यस्य) जिसको (नरयं) नरककी (सद्भावं) प्राप्ति होगी (वेश्या) वेश्या (तद्भाव) उसी नरक सम्बन्धी भावमें लीन (दिष्टितं) दिखलाई पडती है।

विशेषार्थ—यहां वेश्या व्यसनको कहते हैं। जो अज्ञानी विषय-लम्पटी, कामी, वेश्यासेवनकी महान खोटी आसक्ततामें फंस जाता है वह हमेशा मिथ्या सुखमें सुख जानकर भूलता है। वेश्याकी प्रीति पैसेसे होती है, जैसे नारकी अपनी नरककी अवस्थामें रमते नहीं, प्रेम नहीं करते हैं वैसे वेश्या मात्र द्रव्यका लोभ रखती है, उस द्रव्यदाता पुरुषमें प्रेम नहीं रखती है। यह समझता है कि वेश्या प्रेम करती है इसी धोखेमें यह वेश्यालम्पटी प्रचुर धन ला लाकर वेश्याको सौंप देता है। जब धन रहित होजाता है तब वेश्या तुरत निकाल देती है फिर बात भी नहीं करती है। यह मूर्ख वेश्याके जालमें फंसकर नष्ट होजाता है। वेश्याका अँग महान अशुचि स्पर्शने योग्य नहीं होता है। क्योंकि वह मांसाहारी, मद्यपायी, दुराचारी आदि पुरुषोंके साथ अधिक रमण करती है। वेश्याके अँगमें अनेक रोग भी पैदा होजाते हैं। वे रोग वेश्या प्रसंग करनेवालेके पीछे लग जाते हैं। जो वेश्या व्यसनका मोही होजाता है वह धर्म प्रीति, गृहस्थ प्रीति, लौकिक-पुरुषार्थ-साधन प्रीतिको गमा बैठता है। अपने जीवनको बेकार बना लेता है। वेश्याके पास कभी आना जाना भी व संगति भी नहीं करनी चाहिये। उसकी दृष्टि सदा धन लूटनेकी व अपने मोहमें फंसानेकी रहती है। यह व्यसन भी वेश्या लम्पटीको मांस, मद्य, परस्त्री, चोरी आदि व्यसनोंमें फंसा देता है। तीव्र लोभ जनित कृष्णादि लेश्याके वशीभूत हो वह प्राणी नरक आयु बांध लेता है और महान दुःखोंसे पूर्ण नर्क धरामें चला जाता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

तावदेव पुरुषो जनमान्यस्तावदाश्रवति चारुगुणश्रीः। तावदामनति धर्मवचांसि यावदेति न वशं गणिकायाः ॥ ६०८ ॥

मन्यते न धनसौख्यविनाशं नाभ्युपैति गुरुसज्जनवाक्यं। नेक्षते भवसमुद्रमपारं दारिकार्पितमना गतबुद्धिः ॥ ६०९ ॥

भावार्थ—जबतक वेश्याके वशमें नहीं होता है तब ही तक पुरुष माननीय होता है तब ही तक उत्तम गुणरूपी लक्ष्मी उसका आश्रय करती है तब ही तक धर्मके वचनोंको मान्य करता है। जब मन वेश्यामें फँस जाता है, तब बुद्धि चली जाती है, धनका व सुखका नाश होजाता है, गुरुजनोंके व सज्जनोंके वाक्योंको ध्यानमें नहीं लेता है और न अपार संसार-समुद्रकी तरफ देखता है कि मैं इसमें डूब रहा हूं-कैसे पार जाऊंगा। आत्मशुद्धि रूपी धर्म भावसे यह वेश्यासेवन अति दूर रखनेवाला है। बुद्धिमानोंको इससे बचकर रहना ही उचित है।

श्लोक—पारधी दुष्टसद्भावं, रौद्रध्यानं च संयुतं।
आरत ध्यान आरक्तं, पारधी दोषसंयुतं ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थ—(पारधी) शिकार खेलनेवाला (दुष्ट सद्भावं) दुष्ट भावोंको रखता है। (रौद्रध्यानं च संयुतं) व रौद्रध्यानका धारी होता है (आरत ध्यान) आर्तध्यानमें (आरक्तं) फंसा रहता है। (पारधी) शिकारी (दोष संयुतं) अनेक दोषोंका पात्र है।

विशेषार्थ—यहां आखेट व्यसनको कहते हैं-मृगया या शिकार खेलना बहुत बड़ी पापरूप हिंसा है। शिकारीके परिणाम सदा ही दुष्ट रहते हैं, वह अपने रागके कारण पशु पक्षीको ढूँढ ढूँढकर उनके पीछे दौडकर उनका घात करता है। हिंसानन्दी रौद्रध्यानमें प्रवर्तता है। जब शिकार हाथ नहीं आता है या आकरके निकल जाता है तब इष्टवियोगरूप आर्तध्यान करता है या कहीं सिंह आदिसे आक्रमण किया जाता है तो अनिष्ट संयोगमें पड जाता है। इंद्रियविषयकी लंपटतारूपी भावकी आशामें रहनेसे निदानरूप आर्तध्यान करता रहता है। शिकारी अनेक दोषोंका पात्र होता है। अपने किंचित् राग भावके कारण मृग आदि पशुओंको हननकर उनके बच्चोंको अनाथ बनाता है। शिकारी मांसाहार, वेश्या सेवन आदि व्यसनोंमें सुगमतासे फंस जाता है। हिंसानन्दी खोटे परिणामोंसे नरक गतिको बांध लेता है और दुर्गतिमें जाकर घोर कष्ट पाता है।

आत्मानुशासनमें कहते हैं—

भीतमूर्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तिका। दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा ॥ २९ ॥

भावार्थ—शिकारी जन ऐसे निर्दयी होते हैं कि जो मृगी भयभीत रहती है, जिसका कोई रक्षक नहीं है, जो कोई अपराध नहीं करती है, जिसके शरीर मात्र धन है, जो तृणको खानेवाली है ऐसी मृगीको भी मार डालते हैं तब अन्य पशुओंकी तो बात ही क्या है। एक शिकारी अपने जीवनमें हजारों पशुओंका घातक होकर घोर पापबंध करता है। किसी भी मानवको शिकारके व्यसनमें नहीं पडना चाहिये। यह व्यसन धर्मको नाश करनेवाला है।

श्लोक—मान्यते दुष्ट सद्भावं, वचनं दुष्टरतो सदा।
चिंतनं दुष्ट आनंदं, पारधी हिंसानंदितं ॥ १२० ॥

अन्वयार्थ—(दुष्ट सदभावं) दुष्ट भावोंकी (मान्यते) जो मान्यता करता है। (सदा वचनं दुष्टरतः) जो सदा दुष्ट वचनोंमें रत है व (दुष्ट चितनं आनन्दं) दुष्ट चिंतवनमें आनंद मानता है सो (पारधी) पारधीके समान (हिंसा नंदितं) हिंसामें आनन्द माननेवाला है।

विशेषार्थ—जो दूसरोंके साथ दुष्टता करता है वह भी पारधीके समान है ऐसा बताते हैं। जो मानव, दुष्ट दुर्जन परका बिगाड़ करनेवाले खोटे मानवोंकी प्रतिष्ठा करता है, उनके साथ मित्रता करता है तथा जो सदा हिंसाकारी कठोर पापमय वचनोंको बोलता है, जिसके चित्तमें सदा ही दूसरेको ठगनेका, दूसरेका बुरा करनेका विचार रहता है वह हिंसानंदी मानव पारधीके समान है। जैसे शिकारी पशुओंके घातमें विचारता रहता है, उद्यमी होता है वैसे दुष्ट मानव अपने द्रव्यादिक स्वार्थवश दुष्टोंकी संगतिमें रहता है, स्वयं व उनकी सहायतासे दूसरोंको ठगनेके लिये मायाचारी, पूर्ण घातक, देखनेमें प्रिय परन्तु भीतरसे गला काटनेवाले वचनोंको कहता है। मायाचारसे ठगकर अपनी चतुराई पर बड़ा अभिमान करता है व आनन्द मानता है। कोई २ दुष्टतासे किन्हीं भोले जीवोंको किसी झूठे मुकदमेमें फंसा देते हैं और उनसे धनकी लूट करते हैं। यहां कहनेका मतलब यह है कि केवल पशुका शिकार ही मृगया नहीं है परंतु जो मानव मानवोंका शिकार करते हैं, उनको सताकर उनको विश्वास दिलाकर उनके धन धान्यको हर लेते हैं। दूसरोंका नाश करके, दूसरोंमें परस्पर मतभेद कराकर, उनको मुकदमा लड़ाकर अपना स्वार्थ साधते हैं वे भी शिकारके ही करनेवाले पापी हैं।

श्लोक—विश्वासी पारधी दुष्टः, मनकूटं वचकूटितं ।
कर्मना कूटकर्तव्यं, पारधी दोष संयुतं ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थ—(विश्वासी) जो दूसरेको अपना विश्वास दिलाता है ऐसा (दुष्टः) दुष्ट (पारधी) पारधीके समान ठगनेवाला है उसके (मनकूटं) मनमें मायाचार रहता है (वचन कूटितं) वचनोंमें मायाचार रहता है (कर्मना) कायकी क्रियासे (कूटकर्तव्यं) मायाचार व ठगाईके काम किया करता है। (पारधी) ऐसा शिकारी (दोषसंयुतं) महा दोषोंको रखनेवाला है।

विशेषार्थ—यहां विश्वासघाती, मायाचारी पुरुषको भी शिकारीकी उपमा दी है। शिकारी तो पशुओंको छिप छिप करके कष्ट देकर मारता है किन्तु यह विश्वासघाती जनोंको विश्वास दिलाकर ठगता है। शिकारी जैसे शिकारका चिंतवन मनमें करके हिंसानंदी रौद्रध्यान करता है वैसे यह भोले जीवोंको अपने फंदेमें फंसाकर ठगनेका सदा विचार किया करता है अतएव हिंसानंदी रौद्रध्यानमें फंसा रहता है। वचनोंमें विष भरा हुआ होता है, ऊपरसे प्यारे लगते हैं। मायाचारी वचनोंसे विश्वास दिलाकर ठगता है। तथा अपने शरीरसे ऐसी क्रियाएं करता है जिनका हेतु मायाचार है। कोई १ प्राणी परको ठगनेके अभिप्रायसे ब्राह्मण, साधु व शास्त्रीका रूप बनाकर ठगते हैं। कोई २ बाहरी जप, तप, पूजा, पाठ आदि धर्मक्रिया अपनेको धर्मात्मापनेका विश्वास जमानेके लिये करते हैं किन्तु भीतर ठगनेका भाव होता है। कुटिल मन, वचन कायकी प्रवृत्ति अतुल दोषोंको उत्पन्न करनेवाली है। अल्प क्षणिक धनादिके लिये मायाचार करके दूसरोंको ठगना वैसा ही दोषपूर्ण है जैसे मृगोंका वनमें शिकार करना।

श्लोक—जे जीवा पंथ लागंते, कुपंथं जेन दिष्टते ।
विश्वासं दोष संगानि, ते पारधी दुःखदारुणं ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (जीवा) जीवोंको (विश्वासं) विश्वास दिलाकर (पंथ) कुमार्गमें (लागंते) लगाते हैं। (जेन) जिनके द्वारा (कुपंथं) कुमार्ग (दिष्टते) दिखलाया जाता है (ते पारधी) वे पारधीके समान (दुःखदारुणं) भयानक दुःख उठाते हैं।

कि क्रोधादि कषाय दुर्गुण हैं। जिस धर्मके
समान कोई जाल नहीं है। जगतमें यह बात प्रगट है कि क्रोधादि कषाय दुर्गुण हैं। जिस धर्मके
आचरण करनेसे कषाय कम होनेकी अपेक्षा बढ़ जावें, राग द्वेषकी वृद्धि हो, संसारमें अधिक
आसक्त होजावे, वीतराग विज्ञानमय धर्मसे बाहर रहे, हिंसामें मग्न रहें, खेल कूद लीलामें मग्न रहें,
हास्य कौतूहलमें लीन रहें, जिह्वाकी लंपटता पोखे, नेत्र इंद्रियका व घ्राण इंद्रियका विषय पोखे,
मनको मोहजालमें भ्रमावे या इंद्रिय भोगोंकी तृष्णा करके तप भी करे, शरीर भी सुखावे, कदा-
चित् जैन शास्त्रानुसार धर्म भी पाले, परन्तु शुभोपयोगको मोक्षमार्ग जानकर वर्ते। शुद्धोपयोगरूप
सत्य मार्गको न जाने तो वह सब विचारे मिथ्यात्वकी कीचमें फंसकर संसार-सागरमें गोते ही खाते
रहेंगे, पुनः पुनः जन्म मरण करेंगे, संसार तारक मार्गका मिलना दुर्लभ होजायगा। अतएव अधर्मसे
बचना उचित है तथा अधर्मका उपदेश देना शिकारीसे भी कोटिगुणा पापका संचय करना है।
इस पारधीपनसे बचना योग्य है।

श्लोक—मुक्ति पंथं तत्वसार्द्धं च, मूढलोकै न लोकितं।
पंथभ्रष्टं अचेतस्य, विश्वासं जन्म जन्मयं ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थ—(मूढलोकैः) अज्ञानी लोगोंके द्वारा (तत्वसार्द्धं च) तत्व सहित (मुक्तिपंथं) मोक्षका मार्ग (न लोकितं) नहीं देखा जाता है। वे (पंथभ्रष्टं) मार्गसे विपरीत (अचेतस्य) अज्ञानमई धर्मका (विश्वासं) विश्वास (जन्म जन्मयं) जन्म जन्ममें करते रहते हैं

विशेषार्थ—मोक्षका मार्ग तो आत्मतत्वकी यथार्थ प्रतीति सहित, ज्ञान सहित व चारित्र सहित है। वह तो अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्माकी एक शुद्ध परिणति विशेष है। संकल्प विकल्पसे रहित मात्र अनुभव गोचर है। इस परमानंदमय सच्चे मोक्षमार्गका जिनको ज्ञान व श्रद्धान नहीं होने पाता है, वे अज्ञानमई मिथ्या मार्गका विश्वास करके ठगे जाते हैं। मिथ्यात्वके विषको पीते हुए उससे ऐसे मूर्छित होजाते हैं कि अज्ञानमय पर्यायोंको—निगोद कीसी अवस्थाओंको, एकेन्द्रियादिमें जन्मको पुनः पुनः धारण करते हैं। उनको पंचेन्द्रिय सैनीकी पर्याय मिलना अतिशय कठिन होजाता है। कदाचित् पाले भी हैं तो उत्तम क्षेत्रमें धर्मका संयोग मिलना कठिन होजाता है। वे जन्म जन्ममें अज्ञान मिथ्यात्वके वशीभूत होते हुए वचनातीत कष्टको पाते हैं, पर्यायबुद्धि रहकर विषयसुखकी

तृष्णामें ही तड़फड़ाते रहते हैं-चाहकी दाहमें ही जलते रहते हैं-उनको सत्य धर्मका लाभ होना बहुत ही दुर्लभ होजाता है। इसी लिये सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

अतीव रुष्टो न च शत्रुरुद्धतो यमुग्रमिथ्यात्वरिपुः शरीरिणां ॥१४१॥
करोति दोषं न तमत्र केशरी न दन्दशूको न करी न भूमिपः।

भावार्थ—इस जगतमें अति भयानक मिथ्यात्वरूपी शत्रु शरीरधारी प्राणियोंको जैसा दुःख देता है व जैसा बुरा करता है वैसा बुरा तो अतिशय क्रोधमें आया हुआ न तो सिंह करता है न नाग करता है, न हाथी करता है, न राजा करता है और न कोई दुष्ट शत्रु ही करता है। मिथ्यात्वके समान कोई शत्रु नहीं है जो अनेक जन्मोंमें कष्टप्रद होता हो।

श्लोक—पारधी पासि जन्मस्य, अधर्म पासि अनंतयं ।
जन्म जन्मं च दुष्टं च, प्रापितं दुःखदारुणं ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थ—(पारधी) शिकारी तो (जन्मस्य पासि) एक जन्मकी ही फांसी है किन्तु (अधर्म) मिथ्याधर्म (अनंतयं) अनंत जन्मोंकी (पासि) फांसी है। इसके कारण (दुष्टं च) महान दोषपूर्ण (जन्म जन्म च) जन्म जन्ममें (दुःखदारुणं) भयानक दुःख (प्रापितं) प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—यदि कोई शिकारी अपना जाल डाले तो उसमें पक्षी या पशु फंस जावे या मरकर प्राण गमावें, ऐसा शिकारीका जाल प्राणीको एक जन्ममें ही दुःख देता है। परन्तु कुगुरु द्वारा या मिथ्या उपदेशक द्वारा दिखाया हुआ अधर्मका जाल ऐसा दोषप्रद है कि जिससे अनन्त जन्मोंमें खोटे खोटे अशुभ भव प्राप्त होते हैं। उनमें जो जो दुःख प्राप्त होते हैं उनका वर्णन मुखसे हो नहीं सक्ता है। इससे विवेकवान प्राणीको उचित है कि धर्मको परीक्षा करके ग्रहण करे या किसी परीक्षावान विश्वासपात्रकी आज्ञानुसार धर्मको पाले। जिससे संसारसमुद्रसे तिरना होसके वही तीर्थ है, वही धर्म है। वह धर्मरूपी जहाज रागदोषरूपी छिद्रोंसे रहित होना चाहिये। पूर्ण वीतरागतारूपी अभेद्पना उसमें होना चाहिये तब ही तो वह जहाज मोक्षद्वीपमें लेजायगा। राग द्वेषके छिद्र सहित धर्मरूपी जहाज स्वयं डूबेगा व उसपर जानेवालोंको भी डुबोएगा। जहां वीतरागता है, अहिंसा है, आत्मानुभव है वहीं धर्म है। इसकी पोषक सब क्रियाएं धर्म हैं। राग द्वेष पोषक सब क्रियाएं अधर्म हैं, ज्ञानी ऐसा मानता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है—

विरागसर्वज्ञपदाम्बुजद्वये यतौ निरस्ताखिलसंगसगंतौ । वृषे च हिंसारहिते महाफले करोति हर्षं जिनवाक्यभावितः ॥१५८॥

भावार्थ—जिनेन्द्रके वाक्योंको माननेवाला वीतराग सर्वज्ञ भगवानके चरणकमलोंमें आनन्द सहित भक्ति करता है, सर्व परिग्रहकी संगतिसे रहित गुरुके चरणोंमें नमन करता है, महा फलदाई अहिंसा धर्ममें हर्ष मानता है, इनके विपरीत जो कुछ है वह संसारमें निगोद नरकादि पर्यायोंमें पटकनेवाला अधर्म है, ऐसा मानता है।

श्लोक—जिन लिंगी तत्त्व वेदंते, शुद्ध तत्व प्रकाशकं ।
कुलिंगी तत्त्व लोपंते, परपंचं धर्म उच्यते ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थ—(जिन लिंगी) जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार जिनके भेषके धारी भावलिंग सहित निर्ग्रंथ द्रव्यलिंग धारी गुरु (शुद्ध तत्व प्रकाशकं तत्त्व) शुद्ध आत्माके स्वरूपको प्रकाश करनेवाले तत्वको (वेदंते) अनुभवमें लेते हैं ।(कुलिंगी) जो जिनाज्ञा विरुद्ध भावलिंग रहित द्रव्यलिंग धारी हैं वे (तत्त्व) तत्वको (लोपंते) छिपा देते हैं (परपंचं) बाहरी प्रपंचरूप क्रियाकांडको (धर्म) धर्म (उच्यते) कहते हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें मुख्यतासे द्रव्यलिंगी द्वारा दिखाए हुए मात्र व्यवहार धर्मका निषेध किया है। जो निर्ग्रंथ गुरु व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंसे जीवादि तत्वोंको जानते हैं तथा उपादेय रूप ध्यान करने योग्य एक अपने निर्विकल्प वीतराग आत्मसमाधिरूप भावको ही मानते हैं वे स्वयं भी शुद्धात्माके अनुभवसे आत्मानन्द पाते हैं व दूसरोंको भी इसी हेतुसे धर्मका उपदेश देते हैं। जो भव्यजीव ऐसे आत्मज्ञानी गुरुओंके द्वारा धर्मका लाभ करते हैं वे अपना कल्याण कर लेते हैं। जो आत्म तत्वको न पहचाननेवाले द्रव्यलिंगी मात्र हैं, बाहरी भेष तो साधुका है परन्तु भीतर मोक्ष साधक नहीं हैं, शुभ क्रियाकांडको ही मोक्षमार्ग मानते हैं उसीपर बडी दृढतासे चलते हैं, कभी शुद्ध आत्म तत्वपर लक्ष्य नहीं देते हैं, उनका उपदेश भी तत्वको लोपनेवाला होता है, वे व्यवहार प्रपंच क्रिया आचरणको ही एकांतसे मोक्षमार्ग उपदेश कर देते हैं, निश्चय नयका उपदेश ही नहीं देते हैं, आत्माकी तरफ लक्ष्य ही नहीं कराते हैं। उनके उपदेशसे अनेक प्राणी भी व्यहार धर्ममें ही अंध हो चलने लगते हैं, वे कभी भी निश्चय सम्यक्तको न पाते हुए संसारहीमें रुलेंगे।

विशेषार्थ—यहांपर ग्रन्थकर्ताने मिथ्या उपदेशकोंके ऊपर लक्ष्य दिया है। जगतमें मिथ्या मार्गके प्रचारक भी पारधीके समान हैं। जो प्राणियोंको सुख पानेका व पुण्य कमानेका विश्वास दिलाते हैं और वीतराग विज्ञानमय मार्गसे छुडाकर रागद्वेष पूर्ण कुमार्गमें लगा देते हैं, मिथ्या देवोंकी आराधनामें, पशु बलिमें, शृँगार रसमें फँसा देते हैं। तथा जो द्यूत रमण आदि व्यसनोंमें फँसा देते हैं। लाखों ही प्राणी मोक्षमार्गसे विरुद्ध उपदेशके द्वारा कुमार्गमें अपनी श्रद्धा करके अधर्ममें धर्म मानकर अपना अहित करते हैं। बहुतसे कुगुरु साक्षात् जानते हैं कि रागद्वेष वर्द्धक मार्ग कुमार्ग है फिर भी वे अपना स्वार्थ साधनके लिये, भक्तोंसे धन लेनेके लिये, अपने विषयोंकी कामनाकी तृप्तिके लिये कुमार्गका उपदेश देकर पत्थरकी नौकाका सा काम करते हैं। वे आप भी संसारमें डूबते हैं और औरोंको भी डुबाते हैं। धनकी तृष्णा मानवोंको अंध बना देती है। इसके लिये मानव क्या क्या कुकर्म नहीं करता है। जो ऐसा कुमार्ग चलाते हैं वे घोर पापका बंध करते हैं। अपना संसार अनन्त काल तक दृढ करते हैं। वे निगोदमें, कीटादि विकलत्रयोंमें, दीनहीन पशु पर्यायोंमें, दीन मानवोंमें, नर्कमें वारवार उपज कर कष्ट भोगते हैं और अज्ञान व तृष्णामें पडे हुए रात दिन चाहकी दाहमें दहते रहते हैं।

श्लोक—संसार पारधि विश्वासं, जन्ममरणं च प्राप्यते।
जे जीव अधर्म विश्वासं, ते पारधी जन्म जन्मयं ॥१२३॥

अन्वयार्थ—(संसार पारधि) लौकिक शिकारीका (विश्वासं) विश्वास करनेसे (जन्म मरणं च) इस एक जन्ममें ही मरण (प्राप्यते) होता है। (जे जीव) जो जीव (अधर्म पारधी) मिथ्या धर्मरूपी पारधीका (विश्वासं) विश्वास करते हैं (ते) वे जीव (जन्म जन्मयं) अनेक जन्मोंमें मरण करते हैं।

विशेषार्थ—जो पशु या पक्षी पारधी द्वारा बिछाए हुए जालमें हमें सुख मिलेगा ऐसा विश्वास करके आते हैं और फिर अपने प्राण गमाते हैं। यह शिकारी तो एक ही जन्ममें मारता है परन्तु जो मूढ प्राणी अधर्मको धर्म मानकर उसकी सेवा करते हैं उनको मिथ्यात्व कर्मका ऐसा बंध होता है कि जिसका छूटना कठिन होता है। वे पुनः पुनः दुर्गतिमें पड़कर अशुभ कष्टदायक जन्म धारते हैं और मरते हैं। जो कुगुरु मिथ्या धर्मका उपदेश देते हैं वे बड़े भारी निर्दयी पारधी हैं। मिथ्यात्वके ॥१२९॥

समान कोई जाल नहीं है। जगतमें यह बात प्रगट है कि क्रोधादि कषाय दुर्गुण हैं। जिस धर्मके आचरण करनेसे कषाय कम होनेकी अपेक्षा बढ़ जावें, राग द्वेषकी वृद्धि हो, संसारमें अधिक आसक्त होजावें, वीतराग विज्ञानमय धर्मसे बाहर रहे, हिंसामें मग्न रहें, खेल कूद लीलामें मग्न रहें, हास्य कौतूहलमें लीन रहें, जिह्वाकी लंपटता पोखे, नेत्र इंद्रियका व घ्राण इंद्रियका विषय पोखे, मनको मोहजालमें भ्रमावे या इंद्रिय भोगोंकी तृष्णा करके तप भी करे, शरीर भी सुखावे, कदाचित् जैन शास्त्रानुसार धर्म भी पाले, परन्तु शुभोपयोगको मोक्षमार्ग जानकर वर्ते। शुद्धोपयोगरूप सत्य मार्गको न जाने तौ वह सब विचारे मिथ्यात्वकी कीचमें फंसकर संसार-सागरमें गोते ही खाते रहेंगे, पुनः पुनः जन्म मरण करेंगे, संसार तारक मार्गका मिलना दुर्लभ होजायगा। अतएव अधर्मसे बचना उचित है तथा अधर्मका उपदेश देना शिकारीसे भी कोटिगुणा पापका संचय करना है। इस पारधीपनसे बचना योग्य है।

श्लोक—मुक्ति पंथं तत्वसार्द्धं च, मूढलोकै न लोकितं।
पंथभृष्टं अचेतस्य, विश्वासं जन्म जन्मयं ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थ—(मूढलोकैः) अज्ञानी लोगोंके द्वारा (तत्वसार्द्धं च) तत्व सहित (मुक्तिपंथं) मोक्षका मार्ग (न लोकितं) नहीं देखा जाता है। वे (पंथभृष्टं) मार्गसे विपरीत (अचेतस्य) अज्ञानमई धर्मका (विश्वासं) विश्वास (जन्म जन्मयं) जन्म जन्ममें करते रहते हैं

विशेषार्थ—मोक्षका मार्ग तो आत्मतत्वकी यथार्थ प्रतीति सहित, ज्ञान सहित व चारित्र सहित है। वह तो अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्माकी एक शुद्ध परिणति विशेष है। संकल्प विकल्पसे रहित मात्र अनुभव गोचर है। इस परमानंदमय सच्चे मोक्षमार्गका जिनको ज्ञान व श्रद्धान नहीं होने पाता है, वे अज्ञानमई मिथ्या मार्गका विश्वास करके ठगे जाते हैं। मिथ्यात्वके विषको पीते हुए उससे ऐसे मूर्छित होजाते हैं कि अज्ञानमय पर्यायोंको-निगोद कीसी अवस्थाओंको, एकेन्द्रियादिमें जन्मको पुनः पुनः धारण करते हैं। उनको पंचेन्द्रिय सैनीकी पर्याय मिलना अतिशय कठिन होजाता है। कदाचित् पाते भी हैं तो उत्तम क्षेत्रमें धर्मका संयोग मिलना कठिन होजाता है। वे जन्म जन्ममें अज्ञान मिथ्यात्वके वशीभूत होते हुए वचनातीत कष्टको पाते हैं, पर्यायबुद्धि रहकर विषयसुखकी

श्लोक—ते लिंगी मूढदृष्टी च, कुलिंगी विश्वासं कृतं ।
दुर्बुद्धि पासि बंधंते, संसारे दुःखदारुणं ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थ—(ते लिंगी) वे भेषधारी (मूढदृष्टी च) जो मिथ्यादृष्टी हैं (कुलिंगी) कुलिंगी हैं। (दुर्बुद्धि) बुद्धि रहित प्राणी (विश्वासं कृतं) उनका विश्वास करके (पासि) जालमें (बंधंते) बंध जाते हैं और (संसारे) इस संसारमें (दुःखदारुणं) भयानक दुःख उठाते हैं।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि जिन किन्हीं भेषधारियोंको चाहे वह जैन भेष हो या अजैन भेष हो सम्यग्दर्शन नहीं है-मिथ्यादर्शन है, वे सब कुलिंगी हैं। यद्यपि भाव सम्यग्दर्शन रहित मात्र व्यवहार सम्यक्त्वीको भी द्रव्यलिंगी कहा है तथापि जिसके व्यवहार सम्यक्त है वह जीवादि तत्वोंका देव गुरु शास्त्रका स्वरूप अन्यथा प्ररूपण नहीं करता है। उसको मात्र अनुभव नहीं है इसलिये स्वानुभव पूर्ण उसका कथन नहीं होता है। परन्तु आगमसे विरुद्ध वह कुछ नहीं कहता है। इसलिये उनको छोड़कर जो अपनेको जैन साधु व अजैन साधु मानकरके व्यवहार तत्वोंका उपदेश औरका और देते हैं, सर्वज्ञके आगमके प्रतिकूल कहते हैं, उनका उपदेश वीतराग मार्गका पोषक न होनेसे विश्वास करने योग्य नहीं होता है। परंतु रागी पुरुषोंको यही सुहाता है कि रागकी पुष्टि हो और धर्मका नाम भी होजावे इसलिये ऐसे मूढबुद्धि लोग रागवर्द्धक धर्मको भ्रमसे अपना हितकारी समझकर उसीपर विश्वास कर लेते हैं। बस, वे अधर्मके जालमें बंध जाते हैं और संसारमें गहन कष्ट पाते हैं।

श्लोक—पारधीपासिमुक्तस्य, जिन उक्तं सार्थं ध्रुवं ।
शुद्धतत्वं च सार्द्धं च, अप्प सद्भाव चिन्हितं ॥१२८॥

अन्वयार्थ—जो कोई (जिन उक्तं) जिनेन्द्र कथित (ध्रुवं) अविनाशी (सार्थं) पदार्थोंको (अप्प सद्भाव चिह्नितं) आत्माकी सत्तासे लक्षण मय (शुद्धतत्वं च सार्द्धं च) शुद्ध तत्व सहित श्रद्धान करता है वह (पारधीपासिमुक्तस्य) पारधी जो अधर्म है या अधर्म उपदेष्टा साधु है उसके जालसे मुक्त होजाता है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि अनादि कालसे फंसे हुए अगृहीत मिथ्यात्वके जालमेंसे व

सादिकालसे फंसे हुए गृहीत मिथ्यात्वके जालमेंसे निकलनेका उपाय क्या है। वह उपाय एक स्याद्वाद नयसे अनेकांत स्वरूप बतानेवाली जिनवाणीकी शरण है। इस जिनवाणीके मूल उपदेशक आप्त श्री अरहंत भगवान हैं जिन्होंने इस लोकमें ध्रुव रूपसे पाए जानेवाले छः छः द्रव्योंका स्वरूप बताया है व जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा काल इन छः द्रव्योंसे लोक भरा है। जिनवाणीने यह भी बताया है कि जीव और अजीवकी प्रवाह रूप अनादिकी व मिलते विछुडनेकी अपेक्षा सादि संगतिके कारण जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्व और पुण्य तथा पाप मिलाकर नौ पदार्थ बन जाते हैं। जो कोई इन छः द्रव्य व सात तत्व व नौ पदार्थोंका भलेप्रकार श्रद्धान करता है, साथमें अपने शुद्ध आत्म तत्वका भी श्रद्धान करता है जिसमें ज्ञान चेतना लक्षण झलक रहा है, ऐसा सम्यक्ती जीव, आत्मानंदका रसिक वीतरागताका प्रेमी अधर्मके जालसे छूट जाता है। सम्यग्ज्ञानकी अपूर्व महिमा है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है—

यथा यथा ज्ञानबलेन जीवो जानाति तत्त्वं जिननाथदृष्टं। तथा तथा धर्ममतिप्रसक्तः प्रजायते पापविनाशशक्तिः ॥ १९० ॥

भावार्थ—जैसे जैसे ज्ञानके बलसे यह जीव जिनेन्द्र कथित तत्वको जानता जाता है तैसे तैसे पापके विनाशकी शक्ति होती जाती है और धर्ममें बुद्धि आसक्त होती जाती है। जिनवाणीका अभ्यास व मनन परम शरण है।

श्लोक—स्तेयं अनर्थमूलं च, विटंबं असुह उच्यते।
संसारे दुःखसद्भावं, स्तेयं दुर्गतिभाजनं ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थ—(स्तेयं) चोरी (अनर्थमूलं च) आपत्तिका मूल है (विटंबं) आकुलतारूप (असुहं) अशुभ काम (उच्यते) कहा जाता है। इससे (संसारे) इस लोकमें (दुःखसद्भावं) दुःखोंकी प्राप्ति होती है तथा यह (स्तेयं) चोरीका व्यसन (दुर्गतिभाजनं) दुर्गतिमें पटकनेवाला है।

विशेषार्थ—अब यहां छठे व्यसन चोरीके सम्बन्धमें कहते हैं। यह चोरी महा भारी पाप है। यह घोर हिंसानंदी विचार है। परके प्राणोंको हरनेके समान दूसरेके धनादिको हरना है। चोरोंके

भावोंमें सदा ही आकुलता रहती है, वे भयभीत रहते हैं, वे सुखकी नींद नहीं सो सक्ते, धर्म कर्म तो उनसे दूर भाग जाता है, वे इस जगतमें राजा द्वारा तीव्र कष्ट पाते हैं, अशुभ परिणामोंसे कुगतिका बंध कर मरकरके कष्टमय गतिके पात्र होते हैं। चोरीकी आदत एक पलकी भी अच्छी नहीं। जैसे मदिरा पीनेकी आदत पड जाती है तो वह बढती जाती है छूटना कठिन होजाता है उसी तरह चोरीकी आदत बढती चली जाती है, छूटना कठिन होजाता है। चोर स्वयं दुःखमें रहता है और हजारोंके परिणामोंको भय और दुःखोंके उत्पन्न करनेका कारण होजाता है। जो इस व्यसनमें फंस जाता है वह मानवजन्मको शीघ्र ही खो देता है, जगतमें महान अपयशका पात्र होजाता है। कुछ भी परोपकार व जगतहित नहीं कर सक्ता है। शुद्ध आत्मिकतत्वका ज्ञान तो उसकी मलीन बुद्धिमें अतिशय कठिन होजाता है, वह तीव्र विषयभोगोंका लोभी होजाता है। इस घोर लोभसे घोर पापकर्म बांधता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

दुःखानि यानि नरकेष्वतिदुःसहानि। तिर्यक्षु यानि मनुजेष्वमरेषु यानि।
सर्वाणि तानि मनुजस्य भवन्ति लोभादित्याकलय्य विनिहन्ति तमत्र धन्यः ॥ ८० ॥

भावार्थ—जो जो असहनीय दुःख नरकोंमें होते हैं व जो २ भारी कष्ट तिर्यंच योनिमें नर भवमें या देवगतिमें होते हैं वे सब इस मानवको लोभसे होते हैं। ऐसा जानकर जो लोभको नाश करता है वही धन्य है। चोरीका व्यसन महान लोभको बढ़ानेवाला है ऐसा जानकर इसके पास भी नहीं जाना चाहिये। चोरोंकी संगतिसे बचकर रहना चाहिये। न्यायका प्राप्त किया हुआ धन ही परिणामोंको निर्मल रखता है, अन्यायका धन महान अनर्थकारी होता है।

श्लोक—मनस्य चिंतनं कृत्वा–स्तेयं दुर्गति भावना।
कृतं अशुद्ध कर्मस्य–कूटभावरतो सदा ॥ १३० ॥

अन्वयार्थ—(मनस्य) मनके द्वारा (स्तेयं) चोरीका (चिंतनं कृत्वा) चिंतवन करनेसे (दुर्गतिभावना) दुर्गतिकी भावना हुआ करती है। जो (अशुद्ध कर्मस्य) इस मैले कामको (कृतं) करते हैं वे (सदा) हमेशा (कूटभावरतः) मायाचारीके भावोंमें फंसे रहते हैं।

विशेषार्थ—चोरी ऐसा बुरा पाप है कि जो मनमें चोरी करनेका विचार भी किया जाय, तो चौर्यानंद रौद्र ध्यानका भागी होकर नर्कायुके बंध होने लायक भावनाको करनेवाला होजाता है। जिसका विचार भी बुरा है उस चोरीके दुःखदायक अशुचि काममें जो प्रवृत्ति करते हैं वे तो निरंतर मायाचारीके कुभावोंमें लीन रहते हैं, कपटके जाल बिछाए विना चोरी नहीं होसक्ती है। चोरी महा अनर्थका मूल है। मायाचार और लोभ कषायोंके फंदोंमें उसका मन रात दिन लटका रहता है। वह सुखसे न खाता है न पीता है न शयन करता है, उसके परिणामोमें सदा ही आकुलता बनी रहती है। किसीको विश्वास दिलाकर उसके मालको हर लेना यह भी चोरी है। भोले भाई बहनोंको फुसलाकर उनका माल छीन लेना भी चोरी है। भय दिखाकर माल लेलेना, डाका डालना-गिरी पडी भूली वस्तुको उठा लेना आदि चोरी है। भीख मांगकर पेट भर लेना अच्छा है परन्तु चोरी कभी नहीं करनी चाहिये।

श्लोक—स्तेयं अदत्तं चिंतेय-वचनं अशुद्धं सदा।
हीन कृत कूटभावस्य-स्तेयं दुर्गतिकारणं ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थ—(स्तेयं) चोरी व्यसनमें फंसा हुआ जीव (अदत्तं) विना दी हुई वस्तुको लेना (चिंतेय) चाहता है। (सदा) निरंतर (अशुद्धं वचनं) मायाचारीसे पूर्ण मलीन वचनोंको कहता है (कूटभावस्य) मायाचारीके भावोंसे (हीन कृत) नीच काम परधन हरण आदि किया करता है ऐसा यह (स्तेयं) चोरीका व्यसन (दुर्गतिकारणं) दुर्गतिका कारण है।

विशेषार्थ—यह चोरीका व्यसन मन वचन काय तीनोंकी प्रवृत्तिको महान मायाचारीसे पूर्ण बना देता है। जैसे मार्जार मूषककी चिंतामें नित्य रहता है वैसे यह चोरीका करनेवाला दूसरेके मालको किसतरह अपना करूं-किसतरह हरूं इस चिंतामें विचार करता हुआ पापका बंध किया करता है। क्योंकि परिणामोंके अनुसार बंध होता है। तथा जब उसकी भावना चोरीकी रहती है तब वह अपने वचनोंसे दूसरोंको विश्वास दिलाकर उनका माल किसतरह हाथ लगे ऐसे मायाचारपूर्ण वचनोंको कहता है। उसकी कायाकी प्रवृत्ति भी हीन होती है। चोरी करनेके सिवाय वह

वेश्यासक्त, परस्त्री व्यसन, मदिरापान, आदि अशुभ कामोंमें फंसा रहता है। चोरका जीवन उसकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा महान अशुभ नारकी समान होजाता है। वह घोर पापका बंध करके दुर्गति जाता है।

श्लोक—स्तेयं दुष्टप्रोक्तं च, जिनवचनं विलोपितं।
अर्थं अनथ उत्पादी, स्तेयं व्रतखंडनं ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थ—(दुष्टप्रोक्तं च) दुःखकारी हितकारी वचनोंका कहना भी (स्तेयं) चोरी है। (जिनवचनं विलोपितं) जिनेंद्रके वचनोंका लोप करना भी चोरी है (अर्थ अनर्थ) अर्थका अनर्थ (उत्पादी) करना भी चोरी है। (व्रतखण्डनं) व्रतोंका खण्डन करना भी (स्तेयं) चोरी है।

विशेषार्थ—यहांपर ग्रंथकर्ताने चोरीका दोष जिन २ बातोंमें आता है उनका यहां खुलासा किया है। ऐसे वचनोंका कहना जो दुष्टता लिये हुए हों, दूसरेका बिगाड़ करनेवाले हों, विश्वास दिलाकर घात करनेवाले हों, हिंसा, मृषा व चोरीसे गर्भित हों वे सब वचन स्तेयमें इसलिये आते हैं कि उनमें दूसरेके हितका नाश करनेका गूढ अभिप्राय छिपा होता है। शास्त्रका उपदेश करते हुए जिन आज्ञाको उल्लंघन करके जो कथन जिन शास्त्रोंमें नहीं है इसको प्रगट करके कहना कि जिन शास्त्रमें है अथवा शास्त्रके मन्तव्यको उल्टा समझाना, कमती बढ़ती बताना, इस तरह जान बूझकर अपना कोई पक्ष पुष्ट करनेको व स्वार्थके साधन करनेको जिन वचनको लोपकर व छिपाकर कहना सो भी चोरी है। क्योंकि यह जिनकी आज्ञाका उल्लंघन किया गया है। जो शब्दोंका अर्थ प्रकरणमें होना चाहिये उसको छिपाकर कुछका कुछ अर्थ किसी स्वार्थवश कर देना यह भी भावको छिपाना है, इसलिये चोरी है। अथवा किसी कार्यको बिगाड़ देना, कोई धर्मकार्य अति लाभकारी होता हो उसको अपने वचनोंसे वा अपनी कृतिसे न होने देना अर्थका अनर्थ करना है इसलिये यह भी चोरी है। जो व्रत या प्रतिज्ञा या नियम लिया हो उसको तोड डालना, जान बूझकर उसमें दोष लगाना, अपनी कही हुई बातका उल्लंघन कर डालना यह भी चोरी है। इस तरह जो चोरीके दोषोंसे बचना चाहें उनको जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार कहना, चलना व व्रत नियम सत्यतासे पालना चाहिये। व ऐसा वचन न कहना चाहिये जिससे दूसरेकी हानि होजाय। सरल सत्य व न्याय रूप

व्यवहार करना, लेन देनमें साफ रहना, मनमें भी किसीको कष्ट देनेका विचार न करना, एक पाई भी किसीकी हरनेका भाव न करना, तब ही चोरीके दोषसे बचा जासकेगा।

श्लोक—सर्वज्ञमुख वाणी च, शुद्ध तत्वं समाचरतु ।
जिन उक्तं लोपनं कृत्वा, स्तेयं दुर्गतिभाजनं ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(सर्वज्ञ) सर्वज्ञ वीतराग अरहंत भगवानके (मुख) मुखारविंदसे प्रगट (वाणी च) वाणीके अनुसार (शुद्ध तत्वं) शुद्ध आत्मीक तत्वका (समाचरतु) अनुभव करो। (जिन उक्तं) जिनेन्द्रके कहे वचनको (लोपनं कृत्वा) जो न माना जायगा तो (स्तेयं) चोरी है सो चोरी (दुर्गति भाजनं) दुर्गतिमें पटकनेवाली है।

विशेषार्थ—यहांपर यह बताया है कि श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान ही यथार्थ तत्वोंके वक्ता आप्त हैं। इनकी परम्परासे चले आए हुए आगमके अनुसार जीव अजीव तत्वका भेद समझना चाहिये। प्रभुने बताया है कि यह संसारी जीव पुद्गल कर्मके साथ अनादिसे दूध पानीकी तरह मिले हुए चले आरहे हैं। जितनी विभाव परिणतियें होती हैं वे सब कर्मकृत विकार हैं। यदि कर्मका सम्बन्ध न हो तो आत्मामें राग, द्वेष, मोह आदि न प्रगटे। आत्माका स्वरूप यदि निश्चयनयसे विचारा जाय तो परम शुद्ध है, वीतराग है, ज्ञान, दर्शनमय ज्योति स्वरूप है, अखण्ड है, अमूर्तीक है। इस तरह भेदज्ञान सर्वज्ञके कथनानुसार प्राप्त करके अजीवसे मोह छोडकर सर्व पर पदार्थोंसे वृत्तिको निरोध कर, पांच इंद्रिय और मनके विषयोंको छोडकर, समताभाव लाकर, निश्चल हो शुद्ध आत्माको ध्याना चाहिये। जैसे प्राचीन कालमें श्री महावीर भगवानने, गौतमस्वामीने, सुधर्माचार्यने, जम्बूस्वामीने ध्याया था व श्री भद्रबाहु श्रुतकेवलीने व श्री कुंदकुंदाचार्यने भाया था। उसी तरह उस शुद्ध आत्मतत्वको सरल भावसे ध्याना चाहिये। जो कोई इस शुद्ध आत्मध्यानमय मोक्षमार्गका उपदेश न देकर मात्र व्यवहार धर्मका ही उपदेश देते हैं व आप भी व्यवहार क्रियाकांडमें मगन रहते हैं व दूसरोंको भी इसीमें लगाते हैं, इसीसे मोक्ष होगी, यही बुद्धि स्वयं रखते हैं व दूसरोंको कराते हैं वे भूले हुए हैं, जिनकी आज्ञाका लोप कर रहे हैं। अतएव चोरीके दोषके

भागी हैं, जिनेंद्रका मुख्य उपदेश शुद्धात्मानुभव है, इसीको लोप कर देना बड़ा भारी दोष है, जीवोंको सम्यक्त होनेका कारण ही यह यथार्थ उपदेश है। केवल पुण्य बंध संसार भ्रमणका ही कारण है। द्रव्यलिंगी साधु शुद्ध आत्मतत्वके अनुभवको न पाते हुए पुण्य बांध स्वर्ग चले जाते हैं फिर वहांसे आकर पशु पर्यायमें भ्रमण करते हैं। संसारसे पार करनेवाला एक सम्यग्दर्शन है, उसके विना सर्व क्रिया व सर्व ज्ञान संसारका ही कारण है, निश्चय सम्यग्दर्शनका छिपाना घोर पाप है, चोरी है, इससे भी बचना योग्य है।

श्लोक—दर्शन ज्ञान चारित्रं, अमूर्तं ज्ञानसंयुतं।
शुद्धात्मानं तु लोपंते, स्तेयं दुर्गतिभाजनं ॥१२४॥

अन्वयार्थ—जो कोई (दर्शन ज्ञान चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमई (अमूर्तं) अमूर्तीक (ज्ञानसंयुतं) ज्ञानमई (शुद्धात्मानं) शुद्ध आत्माको (तु लोपंते) तो नहीं जानते हैं। परन्तु उसके सिवाय किसी धर्मको पालते हैं वे (स्तेयं) चोरीके भागी हैं (दुर्गतिभाजनं) उनका मोक्षसे विपरीत संसारमें ही भ्रमण होगा।

विशेषार्थ—यहां फिर बताया है कि जिस धर्मके स्वरूपमें निश्चय धर्मका लोप किया हो मात्र व्यवहार धर्मका ही प्ररूपण हो, वहांपर भी चोरीका दोष आता है। क्योंकि असली धर्म निश्चयधर्म है, यही मोक्षका साक्षात् कारण है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चयनयसे एक शुद्ध आत्मा स्वरूप है। ये तीनों ही आत्माके गुण हैं, आत्मासे अभेद हैं। शुद्ध आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित अमूर्तीक है तथा ज्ञानाकार है, क्योंकि वह एक अखण्ड पदार्थ है, वह जैसा शरीर होता है उस आकारमें व्याप जाता है, विना आकारके कोई वस्तु नहीं होसक्ती है। वह मूर्तीक जड आकारसे शून्य है। उसका आकार हम अल्पज्ञानियोंके ध्यानमें नहीं आसक्ता है। वह अमूर्तीक अनन्त गुणोंका पुंज है। इनमें ज्ञान सर्वत्र व्यापक है इसलिये उसको ज्ञानाकार कहते हैं। द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, भाव कर्म रागद्वेषादि, नोकर्म शरीरादि, इन सबसे रहित स्वसंवेदन गम्य वह एक अद्भुत पदार्थ है। जहां पांच इंद्रिय और मनसे उपयोगको हटाकर देखा जायगा तो वही अनुभवमें आयगा। इस तरह जहां शुद्धात्मारूप अपने आपका श्रद्धान ज्ञान व चारित्र है वही अभेद रत्नत्रय

मोक्षका साधन है। जितना भी व्यवहार धर्म पाला जाता है वह इस स्वानुभव रूप निश्चय मोक्ष-मार्गके लिये। जहां इसको लोप कर दिया जाय वहां निःसार धर्म रह जाता है। जैसे चावल विना धान्यकी भूंसी, तेल विना तिलकी भूंसी निःसार है। व्यवहार धर्मको निश्चय धर्मकी अपेक्षा विना सेवन करना वालू पेलकर तेल निकालना है। शुद्धात्मानुभव ही साक्षात् उपादेय-आराधने योग्य धर्म है। योगसारमें योगेन्द्रदेव कहते हैं—

जो णिम्मल अप्पा मुणहि छन्डवि सहुववहारु। जिणसामी एहइ भणइ लहु पावहु भवपारु ॥ ३७ ॥

जाम ण भावहु जीव तुहुं णिम्मलअप्पसहाउ। ताम ण लब्भइ सिवगमणु जहिं भावहु तहिं जाऊ ॥ २७ ॥

भावार्थ—जो सर्व व्यवहारको छोडकर निर्मल आत्माका अनुभव करता है। जिनेन्द्र भगवान कहते हैं वही शीघ्र संसारसे पार होजाता है। हे जीव! जबतक तू निर्मल आत्माके स्वभावकी भावना न करेगा तवतक मोक्षमें गमन नहीं होसक्ता, चाहे जहां जाय व चाहे जो कुछ करे।

जो आत्मानुभवकी तरफ लक्ष्य दिलाते हुए व्यवहार क्रियाकांडका उपदेश देते हैं वे ही सचे जिनेन्द्रके तत्त्वको प्रकाश करनेवाले हैं। परन्तु जो मुख्य अंगको छिपाते हैं वे वास्तवमें आत्म हितकारी बातको छिपानेसे चोर हैं। चोरीके व्यसनमें प्रथम तो परकी वस्तुका ग्रहण मना किया है। जो अपने हकका पैसा है व सम्पदा है व पदार्थ है उसीमें हमको संतोष रखना चाहिये। फिर उसके दोष जो जो लगा सकते हैं उनको बताया है। जहां सरल मायाचार रहित परिणाम होगा वहां चोरीका कोई दोष नहीं लग सक्ता है। भावोंकी सम्हाल ही मुख्य धर्म है।

श्लोक—परदाररतो भावः, परपंचं कृतं सदा।
ममत्वं अशुद्ध भावस्य, आलापं कूट उच्यते ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थ—(परदाररतो भावः) परस्त्रीमें आसक्त जिसका भाव है वह (सदा परपंचं कृतं) सदा प्रपंच-जाल करे व करता रहता है (अशुद्ध भावस्य ममत्वं) उसके अशुद्ध भावका मोह है। वह (कूट आलापं) मायाचार सहित वातचीत (उच्यते) कहता रहता है।

विशेषार्थ—अब यहां परस्त्री रमन व्यसनको कहते हैं। वेश्या व्यसनमें अविवाहित व्यभिचा-

रिणी स्त्रीका ग्रहण है, यहां विवाहित व्यभिचारिणी स्त्रीका ग्रहण है। जो कोई परस्त्रीकी वांछा मनमें करते हैं उनको सदा ही मनमें उस परस्त्रीसे सम्बन्ध करनेकी चिंता रहती है। उनसे मिलनेके लिये नाना प्रकार जाल रचा करते हैं। अशुद्ध पापकारी कामके भावोंमें उनकी लीनता रहती है। वे इसी हेतु मायाचार सहित वार्तालाप भी करते हैं। मन, वचन, काय तीनोंकी कुचेष्टा परस्त्रीमें रति भाव करनेसे होने लगती है। परस्त्रीके रागीके धर्म, अर्थ, काम तीनों गृहस्थके पुरुषार्थ बिगड़ जाते हैं। वह गृही धर्मको बिगाड़ लेता है। गृहस्थीको विवाह करनेका यही अभिप्राय है कि यह संतोषी रहे, संतानकी मुख्य भावनासे स्वस्त्रीमें संतोष करे, परस्त्रीकी वांछा न करे। परस्त्रीका लोभ प्राणीको घोर संकटोंमें डाल देता है। इस लोकमें भी अपमान सहता है और परलोकमें भी अधोगतिका पात्र होता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

यो परिचिन्त्य भवार्णवदुःखमन्यकलत्रमभीप्सति कामी। साधुजनेन विनिन्द्यमगम्यं तस्य किमत्र परं परिहार्यम् ॥ ५८८ ॥

दृष्टिचरित्रतपोगुणविद्याशीलदया दमशौच शमाद्यान्। कामशिखी दहति क्षणतो नुर्वह्निरिवेन्धनमूर्जितमत्र ॥ ५९१ ॥

भावार्थ—जो कोई संसारसमुद्रके दुःखोंको चिंतवन करके भी कामी है, परस्त्रीकी इच्छा करता है उसको साधु जनोंने निंदनीय कहा है व अयोग्य बताया है। उसको यहां कुछ भी त्यागने योग्य नहीं रहा। कामकी अग्नि दर्शन, चारित्र, तप, गुण, विद्या, शील, दया, संयम, शौच, शांति आदि गुणोंको क्षणमात्रमें जला देती है जिस तरह अग्निकी शिखा ईंधनके समूहको जला देती है।

जो गृहस्थ श्रावक धर्म पालकर अपना हित करना चाहें उनको उचित है कि अपनी विवाहिता स्त्रीमें सन्तोष रखें और हर तरह परस्त्रीके सम्बन्धसे अपनी रक्षा करे। यह व्यसन भी पीछे पड जानेसे नहीं छूटता है।

श्लोक—अबंभं कूट सद्भावं, मन वचनस्य क्रीयते।
ते नरा व्रतहीनाश्च, संसारे दुःखदारुणं ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थ—(अबंभ) अब्रह्मभाव (मन वचनस्य) मन और वचनमें (कूट सद्भावं क्रीयते) मायाचारको जमा देता है। जो अब्रह्मकी सेवा करते हैं (ते नरा) वे मानव (व्रतहीनाश्च) व्रत रहित ही हैं (संसारे) इस संसारमें (दुःखदारुणं) महान दुःखको पाते हैं।

विशेषार्थ—परस्त्री भोगका भाव मन और वचनको कुटिल कर देता है। जो कोई श्रावकके व्रतोंको पालनेकी प्रतिज्ञा करके भी अब्रह्ममें रत होजाते हैं वे अपना महान् बुरा करते हैं। पांच अणुव्रतोंमें स्वस्त्री संतोष व्रत मुख्य है। जो इस बातको भूलकर पर स्त्रियोंकी संगति करते हैं, उनसे हास्यजनक वार्तालाप करते हैं, वे उनके मोहमें पडकर व्रतका स्वरूप मलीन कर देते हैं। उनके भावोंमें परस्त्रीका रूप बस जाता है। वे उसके देखनेकी, उससे बात करनेकी, उससे मिलनेकी चिंतामें पड जाते हैं। वास्तवमें ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये निमित्तोंके बचानेकी बहुत जरूरत है। स्त्री पुरुषका एकांत निमित्त बडे २ महाव्रती मुनि तकके भावोंमें मलीनता पैदा कर देता है। व्रतीको इसीलिये एकांतमें शय्या व आसन रखनेके लिये कहा गया है। उसको सब ही विकारकारी निमित्तोंसे अपनेको बचाना उचित है। श्रावक धर्मको पालकर जीवन सफल करनेका साधन परस्त्रीके व्यसनसे बचना ही है।

श्लोक—कषायेन हि विकहा स्यात्, चक्रइन्द्र नराधिपाः।
भावनं यत्र तिष्ठंते, परदाररतो नराः ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थ—(परदाररतो नराः) जो मानव परस्त्रीके व्यसनमें लीन हैं उनके भीतर (कषायेन) लोभ कषायके द्वारा (हि) निश्चयसे (विकहा) विकथा (स्यात्) करनेका भाव होता है (यत्र) जिस विकथामें (चन्द्र इन्द्र नराधिपाः) चक्रवर्ती, इन्द्र, तथा राजाओंके पदकी (भावनं) भावनाएं (तिष्ठंते) होती रहती हैं।

विशेषार्थ—चक्रवर्तीके छयानवे हजार स्त्रीका भोग होता है। इन्द्रकी सेवामें भी हजारों देवांगनाएँ होती हैं। बडे २ राजाओंके भी स्त्री भोग प्रसिद्ध है। ऐसी कथाएँ जिनमें इनके कामभोग सम्बन्धी वर्णन आते हैं उन पुरुषोंको बहुत रुचती हैं जो कामी परस्त्रियोंमें रत हैं। इन कथाओंको वे इसी भावसे सुनते या पढते हैं कि कामकी भावनामें रँजायमान हुआ जावे। ये कथाएं उनके मनमें यह भावना जागृत कर देती हैं कि हमको भी चक्रवर्ती व इन्द्रादिके व महाराजाओंके पद प्राप्त हों, जिसमें खूब स्त्रियोंके भोग करनेका अवसर मिले। कोई २ इसी भावनाको मनमें रखकर मुनि व श्रावकके व्रत भी पालने लगते हैं। वे शुद्ध अतीन्द्रिय सुखकी भावनाको भूलकर क्षणिक

इंद्रिय जनित अतृप्तिकारी सुखकी भावना करते हुए अपने मनको अशुभ निदान भावसे मलीन रखते हैं। उनका चारित्र पालन बहुत अल्प पुण्य बांधता है-परम्परा वे संसारके ही मार्गी होते हैं।

प्रयोजन कहनेका यह है कि परस्त्री व्यसनके लोभसे बचना ही हितकर है। जो सम्यक्ती हैं वे तो काम भावको रोग जानते हैं, स्वस्त्रीमें भी भोग करना अपना कर्तव्य नहीं समझते हैं। उसे भी काम रोगका एक दिल बहलानेवाला उपाय समझते हैं, वे पहचानते हैं कि काम भावका नाश आत्मध्यानके वीतरागमय भावके अभ्याससे ही होगा। वे गृहस्थमें रहते हुए नीतिसे चलते हैं, कभी भी परस्त्रीकी वांछा नहीं करते हैं। यह कामकी उत्कट वांछा महान आर्तध्यानमें व विकथाओंमें फंसा देती है और घोर कर्मका बंध कराती है।

श्लोक—कामकथा च वर्णत्वं, वचनं आलापरञ्जनं।
ते नरा दुःख सह्यंते, परदाररता सदा ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थ—(कामकथा च) काम भाव बढानेवाली कथाओंका भी (वर्णत्वं) वर्णन करना तथा (आलापरंजनं वचनं) कामकी चर्चामें रंजायमान करनेवाला वचन कहना। ऐसा जो करते हैं वे (परदाररता जनाः) वे मानव परस्त्री व्यसनमें रत हैं (ते नरा) वे मानव (दुःख सह्यंते) अनेक कष्ट सहते हैं।

विशेषार्थ—परस्त्रियोंकी सुन्दरताकी हावभाव विलास विभ्रमकी, उनके प्रेममें फंस जानेकी, उनको छल लेनेकी, उनके भोग विलासकी कथाएँ मनको शृंगार रसमें फंसानेवाली कहना तथा उनको सुनकर प्रसन्न होना। हांमें हां मिलाना। इत्यादि परस्त्रियोंमें रतिको पैदा करनेवाली जो कुछ भी चर्चा है व वचनालाप है वह सब परस्त्री व्यसनमें गर्भित है, परिणामोंमें कामकी उत्कटता बढानेवाली है। ये अशुभ भाव पाप बन्ध कारक हैं। उन पापोंके उदयसे प्राणीको संसारमें दुःख सहने पडेंगे। यहां भी यदि कोई किसी परस्त्रीकी सुन्दरताकी कथा सुनकर उसपर अपने भाव आसक्त कर लेगा वह रातादिन चिन्ताकी दाहमें जलकर दुःख पावेगा। उसके लिये महान प्रपंच करेगा-असफलतामें प्राण तक गमा बैठेगा। इसलिये गृहस्थ श्रावकको उचित है कि परस्त्री व्यसनके भीतर भयभीत प्रवर्ते इसहेतु कभी कामकी कथाएँ न कहें न सुनें। ऐसे खेल नाटक

तमाशे भी न देखें जो मनको कामके विकारसे आकुलित करदें। वेश्याओंके नाच,गानें भी न सुनें। ब्रह्मचर्यके पालनेके लिये यह आवश्यक है कि भावोंको बिगाडनेवाले निमित्तोंसे बचा जावे। क्योंकि काम भावकी आगका उत्पन्न होना महान संकटोंका कारण है। कुलभद्र आचार्यने सारसमुच्चयमें कहा है—

मदनोऽस्तिमहाव्याधिर्दुश्चिकित्स्यः सदा बुधैः। संसारवर्धनेऽत्यर्थं दुखोत्पादनतत्परः ॥ ९३ ॥

यावदस्य हि कामाग्निर्हृदये प्रज्वलत्यलम्। आश्रयन्ति हि कर्माणि तावदस्य निरन्तरम् ॥ ९४ ॥

संकल्पाच्च समुद्भूतः कामसर्पोऽति दारुणः। रागद्वेषद्विजिह्वोऽसौ वशीकर्तुं न शक्यते ॥ ९७ ॥

भावार्थ—कामभाव महान रोग है बुद्धिमानोंने इसका उपाय बड़ा ही कठिन कहा है, इससे संसार अतिशय बढ़ता है सदा ही दुःख हुआ करता है। जबतक यह कामकी अग्नि चित्तमें जला करती है तबतक निरंतर कर्मोंका बंध हुआ करता है। कामरूपी भयानक सर्प संकल्पसे ही उत्पन्न होता है जिसके राग द्वेषरूपी दो जिह्वा हैं। इसको वश करना बहुत कठिन है।

दुष्टा येयमनङ्गेच्छा सेयं संसारवर्धिनी। दुःखस्योत्पादने शक्ता शक्ता वित्तस्य नाशने ॥ ९८ ॥

भावार्थ—जो यह कामकी इच्छा है वह अति दुष्ट है यह संसारको बढानेवाली है, क्लेशको पैदा करनेवाली है तथा परस्त्री व्यसनमें फंसाकर धनका नाश करनेवाली है। इसलिये कामकी कथाओंसे बचना बहुत जरूरी है।

श्लोक—विकहा श्रुत प्रोक्तं च, कामार्थं श्रुत उक्तयं।
श्रुतं अज्ञानमयं मूढं, व्रतखंडं दार रंजितं ॥१३९॥

अन्वयार्थ—(विकहा श्रुत प्रोक्तयं) स्त्री कथारूपी विकथामें फंसानेवाले शास्त्रोंका व्याख्यान करना या (कामार्थं) काम भावके उत्पन्न करनेके लिये (श्रुत उक्तयं) किसी भी शास्त्रका कहना (अज्ञानमयं मूढं श्रुतं) तथा ऐसा जो अज्ञानमई मूढतासे पूर्ण शास्त्र है (दार रंजितं) वह स्त्रियोंमें रंजायमान करानेवाला है तथा (व्रतखण्डं) ब्रह्मचर्य व्रतका खण्डन करनेवाला है।

विशेषार्थ—चार विकथाओंमें स्त्री कथा बडी खोटी विकथा है, स्त्रियोंके मोहमें फंसानेवाली

है ऐसी कथाओंको व्याख्यान करनेवाले शास्त्रोंका रचना, उनका कहना सुनना व अन्य कोई भी शास्त्र हो, उसके वर्णनको इस तरह कहना कि जिसके सुननेसे काम भाव उत्पन्न होजावे विकथा रूप है। जैसे किसी जैन पुराणमें कहीं स्त्रियोंके शृँगारका वर्णन है उस वर्णनको आचार्यने पुण्यका फल या उसकी क्षणभंगुरता दिखानेके लिये किया है उस वर्णनको कोई व्याख्याता इस रूपमें कहें कि जिससे श्रोताओंका मन कामभावमें लिप्त होजावे, वह विकथाहीमें आजायगा। जहां ऐसा कथन आवे वहां वक्ताको इस तरह उसको समझाना चाहिये, जिससे रागके स्थानमें वैराग्य होजावे, बडे २ काव्य, नाटक, छन्द, अलंकार व कविताएं ऐसी बनाई जाती हैं जिनमें बडी भारी विद्वत्ता है, परन्तु कामभावकी उत्तेजक हैं वे सब ग्रन्थ कुज्ञानमय शास्त्र हैं। वे मूढतासे भरपूर हैं। ऐसे शास्त्रोंके रचने, कहने व सुननेसे स्त्रियोंमें अनुराग बढ जाता है, परस्त्री व वेश्याकी चाहना उठ आती है। परिणामोंमें परस्त्रीकी तरफ आसक्ति आनेसे ब्रह्मचर्य व्रतका खण्डन होजाता है। अतएव ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये स्त्रियोंकी विकथाओंसे वचना हितकर है।

श्लोक—परिणामं यस्य विचलंते, विभ्रमं रूप चिंतनं।
आलापं श्रुत आनन्दं, विकहा परदारसेवनं ॥ १४० ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस विकथाके करनेसे (परिणामं) भाव (विचलंते) डगमगा जाते हैं (विभ्रम) स्त्रियोंके विलास (रूप) व उनके रूप देखनेकी (चिंतनं) चिंता उत्पन्न होजाती है। (आलापं श्रुत आनन्दं) कामभावके गीत व वार्तालाप सुननेमें आनन्द भाव जागृत होजाता है इसीलिये (विकहा) स्त्री कथा करना (परदारसेवनं) परस्त्री सेवनमें गर्भित है।

विशेषार्थ—स्त्रियोंकी कथा जबतक कुकथा रूपमें की जायगी, उसके सुनते सुनते कहते कहते परिणाम शुद्ध ब्रह्मचर्यके भावसे डिगमगा जांयगे। भावोंमें विकार तो हो ही जायगा। तथा यह चिंता होजायगी कि हम स्त्रियोंके रूप देखा करें, उनके वस्त्राभूषण, चलने, फिरने, नाचने, गानेके विलास देखा करें, उनके मनोहर गान सुना करें, उनके साथ वार्तालाप किया करें। इस चिंताके साथ उसको परस्त्रियों या वेश्याओंके साथ वार्तालाप करनेमें व उनके मनोहर शब्द सुननेमें अति रंजायमानपना होजायगा। यदि कोई परस्त्री भोग नहीं भी करे तौ भी यह सब मनकी व वचनकी व कायकी

चेष्टा परस्त्री व्यसनके सदृश भावोंको विकारी बनानेवाली है अतएव परस्त्री व्यसनमें गर्भित है। यहां यही तात्पर्य है कि काम भावोंको उत्पन्न करनेवाली कथाओंको कभी भी सुनना, पढना व रचना न चाहिये। विवेकियोंको शील भाव दृढ करनेवाली कथाओंको सुनना व पढना व रचना चाहिये।

श्लोक—मनादिकाय विचलंति, इन्द्रियविषय रञ्जितं।
व्रतखण्डं सर्व धर्मस्य, अनृतं अचेतं सार्द्धं ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थ—(मनादिकाय) मनको आदि लेकर अर्थात् मन, वचन, काय तीनों (विचलंति) आकुलित होजाते हैं। (इन्द्रियविषय रंजितं) इंद्रियोंके विषयोंमें रंजायमान पना होजाता है। (व्रतखण्डं) ब्रह्मचर्यका खण्डन होजाता है। (सर्व धर्मस्य अनृतं) सर्व धर्ममें मिथ्यापना होजाता है (अचेतं सार्द्धं) साथमें मिथ्याज्ञान भाव दृढ होजाता है।

विशेषार्थ—स्त्री सम्बन्धी विकथाओंके करनेसे मनमें आकुलता होजाती है। राग सहित वचनोंका प्रयोग स्त्रियोंसे करने लग जाता है। स्त्रियोंके अंगादिको स्पर्श करनेकी कुचेष्टा भी कायसे होने लगती है। इस कामकी तीव्रताके वश होकर पांचों इंद्रियोंके विषयोंमें रंजायमान पना हो जाता है। मनोहर वस्त्रादि, पलङ्गादि व परस्त्री वेश्यादिका स्पर्श करनेमें मन राजी रहता है। जिह्वाकी लोलुपता बढ जाती है, मिष्ट व कामोद्दीपक पदार्थ व मादक पदार्थ खानेमें मन प्रसन्नता मानता है। अतर फुलेल लगानेमें व फूलोंकी माला सूंघनेमें अनुरक्त होजाता है। आंखोंमें चंचलता बढ जानेसे निरन्तर मनोहर रूपके देखनेकी कामना दृढ होजाती है। कानोंसे सदा मनोहर गान, सुर ताल सहित सुननेकी तीव्र रुचि होजाती है। इसीसे (व्रतखण्डं) ब्रह्मचर्य व्रतका खण्डन होजाता है। तब जो कुछ अहिंसादि व्रत होते हैं उनका उसके भावोंमें सत्यपना नहीं रहता है। वह अतिरागी होकर अपने शील भावका हिंसक होजाता है। परस्त्रियोंके लिये अभिलाला करके उनकी प्राप्तिकी भावनासे मिथ्या वचन बोलनेमें व गुप्तरूपसे चोरी करनेकी भावना होजाती है। परिग्रहकी लालसा बढ़ जाती है। कुशीलकी अन्याय जनित प्रवृत्तिकी भावनासे सर्व धर्म उसके मिथ्या होजाते हैं। साथमें उसका ज्ञान भी निर्मल नहीं रहता है, मिथ्यात्वका उदय आजाता है और उसका सर्व

शास्त्रज्ञान मिथ्याज्ञानपनेको प्राप्त होजाता है। इसलिये जो ब्रह्मचर्यव्रतको, सर्व देश या एक देश पालना चाहें उनको उचित है कि वे काम कथाके प्रपंचमें न पडे न ऐसी कुसंगति रक्खे जिससे मन भी किसी तरह विचलित होजावे। परिणामोंकी सम्हाल निमित्तोंके बचानेसे होगी। इसलिये ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये तत्वार्थसूत्रमें पांच भावनाएं बताई हैं—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्टेष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंचः ॥ ७ ॥

भावार्थ—(१) स्त्रियोंमें राग बढानेवाली कथाओंका सुनना छोडना चाहिये, (२) उन स्त्रियोंके मनोहर अंगोंके देखनेका त्याग करना चाहिये, (३) पूर्वमें भोगे हुए भोगोंकी स्मृति न करनी चाहिये, (४) कामोद्दीपक पौष्टिक रस न खाना चाहिये, (५) अपने शरीरका शृँगार न करना चाहिये। मनकी चंचलता बडी विचित्र है। जरा भी विपरीत निमित्त होता है तो मन विकारी होजाता है। मनका विकारी होना ही कामदेवका उत्पादक है।

श्लोक—विषये रञ्जितं येन, अनृतानंद संजुतं।
पुण्योत्साहं उत्पादी, दोषे आनंदनं ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(येन विषये रंजितं) जो पांच इंद्रियोंके विषयोंमें रंजायमान होजाता है वह (अनृतानन्द संजुतं) मृषानंद रौद्रध्यान सहित होजाता है या मिथ्यात्वमें आनंदवान होजाता है। (पुण्योत्साहं उत्पादी) वह पुण्य करनेमें उत्साह पैदा कर लेता है। इस तरह (दोषे) जो संसारका कारण दोष है उसमें (आनंदनं कृतं) प्रसन्न होकर तन्मय होजाता है।

विशेषार्थ—स्त्री सम्बन्धी काम कथाका बुरा फल यह होता है कि यह प्राणी मूढ होकर जिन इंद्रियोंकी वांछा एक सम्यग्दृष्टीको नहीं होनी चाहिये उनहीमें यह रंजायमान होने लगता है। बस मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यात्वी होजाता है या सत्य मार्गसे हट जाता है और मिथ्या मार्गमें आनंद मानने लगता है। उसके भीतरसे वीतराग विज्ञानमय सत्य धर्मकी रुचि चली जाती है। ऐसा विषयोंका लोभी मोक्षमार्गको भूलकर पुण्य कर्म करनेमें बडा ही उत्साही होजाता है। अर्थात् पुण्यकी तीव्रता होगी तो मनोवांछित भोग स्वर्गोंमें व राजा महाराओंके पाकर खूब विषयभोग करूँगा, इस

भावनामें लिप्त हो बडे भावसे पूजा पाठ करता है, भजन पढता है, दान देता है, शास्त्र पढता है, नियम संयम पालता है, उपवास करता है, मुनि होकर दिगम्बर साधुका कठिन चारित्र पालता है या श्रावकके व्रतोंको पालता है तौभी मोक्षमार्गसे विपरीत चलता हुआ, भोगोंकी तृष्णाके उद्देश्यको रखता हुआ जो दोष है उसमें आनन्द मान लेता है। वह अपने कठोर चारित्रको विषयरूपी विषके बदलेमें वेच डालता है। जिस चारित्रसे स्वरूपाचरण चारित्र होकर अतीन्द्रिय आनन्दका लाभ होसक्ता था, निर्वाणका शाश्वत सुख प्राप्त होसक्ता था उस चारित्रको उतनी ही मिहनतसे पालता हुआ त्यागने योग्य मिथ्या वस्तुकी चाहमें ही फंसा रहता है, विषयोंकी आशामें आनन्द मानता है। जैसे कोई धनकी प्राप्तिके आनन्दमें तीव्र आतापमें भी नंगे पैर भारी भार लेकर ढोता है, बहुत उपसर्ग सहता है, ऐसे ही अज्ञानी जीव क्षणिक विषयसुखकी आशासे महान मुनिका या श्रावकका चारित्र शास्त्रोक्त पालता है–मिथ्यादृष्टी होता हुआ संसार वर्द्धक दोषकी ही सेवा कर रहा है। इस तरह यहां ग्रन्थकर्ताने परस्त्री व्यसनको बहुत अच्छी तरह बताया है। श्रावक गृहस्थियोंका यह मूल कर्तव्य होना चाहिये कि वे मोक्षकी भावनासे जीवन वितावें। निरंतर संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य भाव रक्खें, निजानन्द पदके गाढ प्रेमी होजावें, ऐसे गृहस्थी पांच इंद्रियोंके भोगोंको बहुत नियामित आवश्यक्तानुसार रोगके इलाजवत् रुचि रहित करते हैं। वे शुद्ध मनसे अपनी विवाहिता स्त्रीमें संतोषित रहते हैं। कामभावकी आग्निको उत्तेजित करनेवाली सर्व मन, वचन कायकी क्रियासें, कुसंगतिसे, कथा आलापसे सबसे बचते हैं। वास्तवमें ये सातों ही व्यसन मानवोंके परम वैरी हैं। जो अपना हित चाहे उनको इनसे बचकर रहना चाहिये तथा उनके सर्व अतीचारोंको भी बचाना चाहिये। इस कथनसे यह बात तत्वज्ञानीको झलक जायगी कि अनंतानुबंधी कषायके भाव किस तरह प्राणीको मिथ्यात्वमें पटक देते हैं अथवा मिथ्या ज्ञानसे किस तरह यह प्राणी व्रत तप करता हुआ अनंतानुबंधी कषायके फेरमें अचेत होजाता है।



आठ मद स्वरूप।

श्लोक—एतत्तु रागबन्धस्य, मद अष्टं रमते सदा।
ममत्त्वं असत्त्य आनंदं, मदाष्टं नरयं पतं ॥१४३॥

अन्वयार्थ—(एतत् तु) इस प्रकारके (रागबन्धस्य) रागसे बंधा हुआ प्राणी (सदा) निरंतर (मद अष्टं) आठ मदोंमें (रमते) रमण किया करता है (ममत्वं) जगतकी ममतामें फंसा रहता है (असत्त्य आनंदं) मिथ्या पदार्थोंमें आनन्द माना करता है। (मदाष्टं) ये आठों मद (नरयं पतं) नरकमें गिरा देते हैं।

विशेषार्थ—ऊपर लिखे हुए द्यूत रमण आदि सातों व्यसनोंके भीतर जो रंजायमान हुआ करता है, जिसको विषय रुचि व सेवन ही सुखरूप भासता है, जिसको आत्माके आनन्दकी खबर नहीं है ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव जाति कुल आदिके आठ प्रकारके घमण्डमें भी सदा रंजायमान रहता है। क्योंकि इससे संसारसे अति ममत्व है, स्त्री पुत्र धनादिके साथ गाढ स्नेह है। इन मदोंको करता हुआ यह अज्ञानी प्राणी मिथ्या जगतकी अवस्थाओंमें जो नाशवंत हैं, आनन्द माना करता है। जब उनका वियोग होजाता है तो अत्यन्त शोक करता है। तीव्र कषायमें ग्रसित होता हुआ यह अज्ञानी प्राणी नरकायु बांध लेता है, नरकमें जाकर घोर कष्ट पाता है। जो वस्तु थिर रहनेवाली नहीं है उनको थिर मानके घमण्ड करना वास्तवमें अज्ञान है। यह सबको प्रगट है कि धनके रहनेका कोई नियम नहीं है, कुछ दिनोंमें एक धनवान निर्धन होजाता है। युवानीके रहनेका नियम नहीं है। युवानसे शीघ्र वृद्ध होजाता है। जीवनके छुट जानेका कोई नियम नहीं है। तृणके ऊपर जल बूंदके समान पतन होजाता है। जगतमें जितने भी पर्याय हैं, स्कन्ध हैं, मिश्रित भाव हैं, औपाधिक परिणाम हैं, वे सब अथिर हैं। कर्मोदयसे उनका संयोग इस संसारी जीवको होता है। कर्मका उदय धूप छायाके समान कभी अच्छा कभी बुरा है। जो कोई धूप वा छायाके एक तरह बने रहनेका मिथ्या मोह करेगा वह अवश्य उनके वियोग पर कष्टका अनुभव करेगा। अतएव मद करना मात्र मिथ्यात्व भाव है और तीव्र कषायका झलकाव है।

श्लोक—असत्त्ये अशाश्वते रागं, उत्साहेन रतो सदा ।
शरीरे रागवर्धन्ते, ते तु दुर्गतिभाजनं ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थ—(असत्त्ये) मिथ्या (अशाश्वते) व अनित्य पदार्थमें (रागं) राग करना व (उत्साहेन) उत्साहके साथ (सदा) निरंतर (रतो) उनमें रति करना (शरीरे) शरीरमें (राग) मोहको (वर्धन्ते) वढा देते हैं । (ते तु) जो ऐसे मोही हैं वे (दुर्गतिभाजनं) अशुभ गतिके भागी होते हैं ।

विशेषार्थ—जगतकी सर्व रचना जो बनती है व बिगडती है वह सब मिथ्या है व नाशवंत है जैसे क्षण क्षणमें समय बीतता जाता है ऐसे ही सर्व अवस्थाएं क्षण क्षणमें बदलती रहती हैं । इन अवस्थाओंमें राग करना व इनके बने रहनेमें उत्साह रखना व रंजायमान होते रहना, प्राणीको शरीरका अतिशय मोही बना देता है, वह आत्माको बिलकुल भूलकर अपनेको शरीर रूप ही माना करता है । मैं नृप हूं, मैं सेठ हूं, मैं बलवान हूं, मैं विद्वान हूं, मैं तपस्वी हूं, मैं सुन्दर हूं, मैं बडे वंशका हूं इत्यादि शरीरकी मूर्छामें मूर्छित होता हुआ तीव्र कर्म बांधकर दुर्गतिमें चला जाता है ।

सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

गलत्यायुर्देहे व्रजति विलयं रूपमखिलं । जरा प्रत्यासन्नीभवति लभते व्याधिरुदयम् ॥
कुटुम्बः स्नेहार्तः प्रतिहतमतिर्लोभकलितो । मनो जन्मोच्छित्त्यै तदपि कुरुते नायमसुमान् ॥ ३३१ ॥
भवन्त्येता लक्ष्म्यः कतिपयदिनान्येव सुखदास्तरुण्यः तारुण्ये विदधति मनः प्रीतिमतुलाम् ॥
तडिल्लोला भोगा वपुरपि चलं व्याधिकलितं । बुधाः संचिन्त्येति प्रगुणमनसो ब्रह्मणिरताः ॥ ३३९ ॥

भावार्थ—यह आयु गलती जाती है, वह सब रूप विलय होता जाता है । जरा निकट आती जाती है । रोगोंका उदय होता रहता है । कुटुम्ब स्नेहमें फंसा हुआ लोभसे जकडा रहता है । तौ भी निर्बुद्धि प्राणी इस मिथ्या व नाशवंत संसारके नाशके लिये कुछ नहीं करता है । ये धन-संपदा कुछ दिनके लिये सुखदाई भासती है, युवती स्त्रियां युवानीमें ही गाढ प्रीतिको विस्तारती है । भोग विजलीके चमत्कारके समान चंचल है । यह शरीर रोगोंसे भरा चलायमान है । गुणवान पंडितजन ऐसा विचार करके अपने शुद्ध आत्मस्वभावमें रमण करते हैं । वास्तवमें इन सांसारिक पदार्थोंके लिये मान व मूर्छा करना मात्र अज्ञानता है ।

श्लोक—जाति कुली सुर रूपं, अधिकारं तपः बलं।
शिलीज्ञानं आरूढं, मदष्टं संसार भाजनं ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थ—(जाति) माताकी पक्षका (कुल) पिताकी पक्षका (ईसुर) धनके स्वामित्वका (रूपं) सुन्दर रूपका (अधिकारं) अधिकार व आज्ञा चलनेका (तपः) तप करनेका (बलं) शरीरके बलका (शिल्पाज्ञानं) शिल्पादि विद्याओंके ज्ञानका (आरूढं) अभिमान करना (मदष्टं) ये आठ मद (संसार-भाजनं) संसारके भाजन हैं।

विशेषार्थ—यहां आठ मदोंके नाम गिनाए हैं। सम्यग्दृष्टी इन मदोंको नहीं करता है। मिथ्यादृष्टी जगतके मोही जीवके भीतर ये आठ मद अपना घर कर लेते हैं। यह मानव मानके पर्वतपर चढा हुआ दूसरोंको अपनेसे तुच्छ देखता है। इन आठ मदोंका स्वरूप इस भांति है—

(१) जातिमद—शरीरको जन्म देनेवाली माता होती है। इससे माताकी पक्षको जाति कहते हैं। जिसकी योनिमें जन्म हो वह माता है। उसके कुटुम्बीजनोंमें यह मान करना कि हमारे मामा, नाना, ऐसे २ हैं। उनके धनादि बलको होते हुए उनको अपना मानकर अहंकार करना जातिमद है।

(२) कुल मद—जिसके वीर्यसे पैदा होता है उसको कुल या वंश कहते हैं। अपने पिता, पितामह, पर पितामह आदिकी सम्पदा आदिका विचार कर उसके बलपर अपना बल मान अहंकार करना सो कुलमद है।

(३) ऐश्वर्य मद—धन सम्पदा-माल मकान, खेती, गहना, सोना, चांदी आदि पास होते हुए उनका मैं स्वामी हूं, अतएव मैं धनिक हूं, मैं सुखी हूं, ऐसा मान निधनोंको तुच्छ दृष्टिसे देखता हुआ अहंकार करना सो धनमद है।

(४) रूप मद—शरीरका आकार सुन्दर सुहावना-आंख, नाक, कान, मुँह, शरीरका रंग शुभ होते हुए अपनेको रूपवान, दूसरोंको सुन्दरता हीन समझकर अपने शरीरके रूपका अहंकार करना रूप मद है।

(५) अधिकार मद—प्रभुताई, बडप्पन, हुकूमत चलते हुए यह मानना कि मैं जो चाहे सो कर सक्ता हूं चाहे जिसे झूठा दोष लगाकर भी दंडित कर सक्ता हूं। कोई साधारण भी अपमान

करे या दोष करे तो अपने अधिकारसे खूब कठोर दण्ड देसक्ता हूं। मेरा कोई क्या बिगाड़ कर सक्ता है ऐसा अहंकार करना सो अधिकार मद है।

(६) तप मद—और मनुष्योंसे न बन सके ऐसा तप, उपवास, रस त्याग, ऊनोदर, कठिन प्रतिज्ञा लेकर आहारको जाना, न मिलनेपर फिर उपवास कर जाना, पर्वत, शिखर, वन, नदीतट, स्मशानभूमि आदि विषम स्थानोंपर जाकर तप करना। भूख प्यास, डांस, मच्छर, गाली आदि परीषहोंका सहना, इत्यादि नानाप्रकार साधु या श्रावककी अवस्थामें रहते हुए तप साधना, परंतु मनमें यह अहंकार कर लेना कि मैं बड़ा तपस्वी हूं-मेरे समान तप किसीसे नहीं बन सक्ता है। यदि कोई प्रतिष्ठा व विनयमें कमी करे तो मानवश क्रोध भाव रखना-ये सब तपका मद है।

(७) बल मद—शरीरमें व्यायामादि करनेसे औरोंसे अधिक बल होनेपर निर्बलोंको तुच्छ दृष्टिसे देखना, अपने बलसे निर्बलोंको सताना, निःशंक हो उनका बिगाड़ करना और यह अहंकार करना कि कोई मेरा क्या कर सक्ता है-मेरा सामना कोई नहीं कर सक्ता है, ऐसा मानके रहना सो बलमद है।

(८) शिल्पज्ञान या विद्या मद—अपनेको चित्रकारी, बढ़ाईका काम, लोहारका काम, यंत्र-विद्या, वस्त्रोंपर बेलबुटे निकालना, कवि कला, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार, तैरना, बजाना, गाना, धर्म-शास्त्रका सूक्ष्म ज्ञान आदि अनेक प्रकार लौकिक और पारलौकिक विद्याओंका स्वामीपना होनेपर अपनेसे औरोंको मूर्ख गिनना, किंचित् अपमानसे क्रोधित होजाना, अपनी पूजा प्रतिष्ठा चाहना, मेरे सामने कोई आ नहीं सक्ता है, मैं सबको कला चतुराईमें परास्त कर सक्ता हूं ऐसा अहंकार रखके मानके नशेमें चूर रहना ज्ञानमद या विद्यामद है। जो शरीर, भोग व संसारका मोही है वही मूर्छावान अज्ञानी प्राणी उन क्षणिक वस्तुओंको अपनी मानके मद करता है-ज्ञानी नहीं करता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

गर्वेण मातृपितृबान्धवमित्रवर्गाः। सर्वे भवन्ति विमुखा विहितेन पुंसः॥
अन्योऽपि तस्य तनुते न जनोऽनुरागं। मत्वेति मानमपहस्तयते सुबुद्धिः॥ ४९॥

भावार्थ—गर्व करनेसे माता पिता भाई मित्र सब मानी पुरुषसे विमुख रहते हैं, अन्य भी कोई मानीसे राग नहीं करता है, ऐसा जानकर बुद्धिवान मानको कभी भी नहीं करते हैं।

श्लोक—जातिं च रागमयं चिंते, अनृतं ऋतमुच्यते।
ममत्वं स्नेहमानन्दं, कुल आरूढ रतो सदा ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थ—जो कोई (जातिं च) अपनी माताकी पक्षरूप जातिको (रागमयं) रागसे बंधा हुआ अपनी (चिंते) मानता है। वह (अनृतं) मिथ्याको (ऋतं) सत्य (उच्यते) कहता है। जो (सदा) निरंतर (कुल आरूढ रतः) कूलके मदमें तल्लीन रहता है वह अपने कुलके जनोंमें (ममत्वं) ममता रखता है (स्नेहं) स्नेह बढाता है तथा (आनन्दं) उनको देख देखकर आनन्द माना करता है।

विशेषार्थ—यह अज्ञानी जिस जातिको अपनी मानता है वह इसकी जाति है ही नहीं। शरीरको जननेवाली माता होती है। शरीरकी जाति माता व उसके भाई पिता आदि हैं। आत्माको कोई जननेवाला नहीं है तब यह शरीरकी जाति अपने आत्माकी कैसे होसक्ती है। यह अज्ञानी मूर्ख प्राणी अपनी असली आत्मारूपी जातिको भूलकर शरीरके सम्बन्धसे शरीरकी जातिको अपनी मान लेता है। यही उसका मिथ्याको सत्य मानना है। इस मिथ्या मान्यतासे अपने नाना मामासे राग करता है व चाहता है कि वे कुछ इसका स्वार्थ साधन करते रहेंगे। इसी तरह यह अज्ञानी प्राणी अपने कुलके मदमें निरन्तर लिप्त हुआ अपने पिता, चाचा, स्त्री, पुत्र, पुत्री, बहिन, आदिसे बडा ही ममत्व करता है। उनके वियोग होनेपर व उनके रोगी होनेपर व परदेश जानेपर बडा ही कष्ट मानता है, शोक करता है, विह्वल होजाता है। उनकी स्नेहकी फांसीमें ऐसा जकड जाता है कि उनके पीछे रातदिन धनकी तृष्णामें फंसा रहता है, धर्म कार्यको भूल जाता है। ध्यान, सामायिक, पूजा पाठकी तरफ उपयोग नहीं लगाता है। वे यदि खाते पीते निरोग दिखते हैं तो बडा आनन्द मानता है। उनहीके होते हुए अपनी जिन्दगीका सुख समझता है। कदाचित् उनमेंसे किसीका वियोग होता है तो बड़ा ही दुःख मानता है। कुलका मद करके यदि अपने पुत्र पुत्री अधिक होते हैं तो बड़ा अहंकार करता है, पुत्र रहितको देखकर पापी और अप-

नेको भाग्यवान समझता है। धिक्कार हो ऐसे जाति व कुल मदको जो जीवनको मोह पाशिमें फंसाकर आत्मकार्यसे विमुख कर देते हैं।

श्लोक—रूपं अधिकारं दृष्ट्वा, रागं वर्धन्ति ये नराः।
ते अज्ञानमये मूढाः, संसारे दुःखदारुणं ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ—(रूपं) सुन्दर रूपको तथा (अधिकारं) अपने अधिकारको (दृष्ट्वा) देखकर (ये नराः) जो मानव (रागं) रागको (वर्धन्ति) बढा लेते हैं। (ते) वे (अज्ञानमये) अज्ञानमई पदार्थमें या भावमें (मूढा) मूर्छित होते हुए (संसारे) इस संसारमें (दुःखदारुणं) भयानक दुःखको उठाते हैं।

विशेषार्थ—मोही प्राणी अपने शरीरका सुन्दर रूप देखकर बडा ही राग बढा लेते हैं। रागके साथ अहंकार भी बढ़ा लेते हैं। वे इस बातको भूल जाते हैं कि जिस शरीरकी ऊपरकी चमड़ी सुन्दर देखकर व आंख नाक मुखका आकार सुडौल देखकर राग या अहंकार किया जाता है वह शरीर तो महान अपवित्र घृणाके योग्य व क्षणभंगुर है। भीतर इसके कृमिकुल, राध आदि भरा है। यदि चमड़ीको अलग कर दिया जाय तो मक्खियोंसे भिनभिनाने लगेगा व अपनेसे भी अपना शरीर देखा नहीं जायगा। जिसके नव द्वारोंसे निरंतर मल बहता है, जो शरीर अचानक भूख प्यासकी अधिक बाधा होनेसे व रोगादि आनेसे व जरा आजानेसे बिगड जाता है—सुरूपसे कुरूप होजाता है, ऐसे मायाजालके समान अथिर रूपका राग करना व अहंकार करना मात्र मिथ्याज्ञान व मूर्खता है।

इसी तरह यदि उसका किसी कारणसे अधिकार है उसकी आज्ञा चलती है वह राजा, महाराजा, मंत्री, प्रधान, कोटवाल, नगरसेठ, चौधरी, हाकिम, जज, मजिष्ट्रेट है तो उसको बड़ा अहंकार होजाता है। वह मदमें कठोर परिणाम रखता है। कठोर वाणीसे छोटोंके साथ व्यवहार करता है। अपने आधीनोंके सुखका, शरीर स्वास्थ्यका ख्याल छोडके उसको अपनी मनमानी आज्ञामें चलाकर उनसे खूब काम लेता है, कहीं वे भूलसे कुछ काम बिगाड़ देते हैं तो विना सोचे समझे क्रोध कर लेता है, मार बैठता है, व दंडित कर देता है, नम्रता व मिष्टवादिता व विनयरूप

व दयारूप वर्ताव उसके पाससे विदा होजाता है। यह अधिकार भी क्षणिक है, जरासी भूल होने पर राज्य चला जाता है व मरण आजाता है तब सब अधिकार चला जाता है। बड़े २ राजा महाराजा थोड़े ही काल अपना अधिकार रख सके हैं, पापका उदय आनेपर शीघ्र ही राजासे रंक होजाता है-बड़ेसे छोटा होजाता है। इसलिये अज्ञानी प्राणी ही इस अज्ञानमें फंसकर मद करता है और मूढ़ मिथ्याती होता हुआ तीव्र कर्म बांधकर संसारमें भयानक दुःख उठाता है।

इस तरह रूपका व अधिकारका मान करना मूर्खता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

नीतिं निरस्यति विनीतिमुपाकरोति-कीर्तिं शशांकधवलां मलिनीकरोति।
मान्याञ्च मानयति मानवशेन हीनः, प्राणीति मानमपहान्ति महानुभावः॥ ४४॥

भावार्थ—यह मान नीति मार्गसे हटा देता है, विनयसे छुटा देता है, चन्द्र सम निर्मल कीर्तिको मैली कर देता है। हीन पुरुष मानके भीतर फंस करके माननीय पुरुषोंको भी नहीं मानता है ऐसा जानकर जो महान उदार प्राणी है वह मान नहीं करता है।

श्लोक—कुज्ञानं तप तप्तानां, रागं वर्धन्ति ते तपाः।
तप्तानि मूढ सद्भावं, अज्ञानं तप श्रुतं क्रिया॥ १४८॥

अन्वयार्थ—(कुज्ञानं) मिथ्या ज्ञान सहित (तप तप्तानां) तप करनेवालोंका (राग) राग (ते तपाः) वे मिथ्या तप (वर्धन्ति) बढ़ा देते हैं उन्होंने (मूढसद्भावं) मिथ्यात्व भावका (अज्ञानं तप श्रुतं क्रिया) व अज्ञानमई तप व अज्ञानमई शास्त्र व अज्ञानमई क्रियाका ही (तप्तानि) तप किया है।

विशेषार्थ—जो लोग आत्मज्ञान व आत्मानुभव न पाकर, आत्म सुखके रसिक न होकर किंतु इंद्रिय जन्य सुखकी लालसा रखकर इस आशासे तप करते हैं कि इसके फलसे स्वर्गादिमें जाकर बहुत सुख पाएंगे, ऐसा अज्ञान तप राग भाव घटानेकी अपेक्षा बढ़ा देता है। क्योंकि वे वीतराग भावकी सेवा नहीं कर रहे हैं, वे तो रागभाव हीकी सेवा कर रहे हैं। जितना अधिक तप करते हैं उतना विशेष राग बढ़ता जाता है कि अधिक सुख मिलेगा, हम इन्द्रादि होजायगे। वास्तवमें ऐसे अज्ञानी प्राणी धार्मिक तप नहीं करते हैं [illegible]

हैं। तथा अज्ञान तपको बढ़ा रहे हैं। उनका कुशास्त्र ज्ञान और मजबूत हो रहा है। उनका मिथ्या आचरण और भी जड पकड रहा है। वास्तवमें जो आत्मोन्नतिके लिये तप किया जावे वही तप है। शेष तो मात्र एक तरहका व्यापार है। जैसे व्यापारी धनके लोभसे अनेक कष्ट सहकर भूख, प्यास, गर्मी, शर्दी सहकर, कठिन स्थानोंमें जाकर बडा भारी परिश्रम करता है वैसे यह कुतपी शरीरको बहुत भारी कष्ट देता है, परीषह सहता है, कठिन २ स्थानोंमें जाकर ध्यान लगाता है। प्रयोजन-विषयभोग पानेका है, संसार बढानेका है, ऐसे मिथ्या तपके तपनेवालोंको ही तपका अहंकार होजाता है। वे मान व लोभके कषायोंको ही बढाते हुए अपना अहित कर रहे हैं। उनका तप गुणकारी नहीं होता है। सुभाषित०में कहा है—

दयादमध्यानतपोव्रतादयो गुणाः समस्ता न भवन्ति सर्वथा। दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो रजोयुतालाबुगतं यथा पयः॥ ११७॥

भावार्थ—जैसे रज सहित तूंबीमें भरा हुआ दूध मलीन होजाता है, पीने योग्य नहीं रहता है वैसे महा मिथ्यात्वकी रजसे मलीन आत्माके द्वारा पाला गया दया, धर्म, संयम, ध्यान, तप, व्रतादि सर्व ही गुणकारी नहीं होते हैं।

श्लोक—अज्ञानं तप तप्तानां, जन्म कोटि कोटि भव।
श्रुतं अनेक जानंते, रागं मूढ़मयं सदा॥ १४९॥

अन्वयार्थ—(अज्ञानं तप तप्तानां) जो प्राणी मिथ्याज्ञान सहित तप करते हैं उनको (कोटि कोटि भव जन्म) करोड़ों भवोंमें जन्म लेना पड़ता है वे (अनेक श्रुतं) बहुत शास्त्रको (जानंते) जानते हैं तौभी (सदा) निरन्तर (मूढ़मयं रागं) मिथ्यात्व सहित रागभाव हीमें लिप्त हैं।

विशेषार्थ—सम्यक्त रहित जैन शास्त्रानुसार व्यवहारमें अनशनादि बारह प्रकारका तप भले प्रकार साधन किया हुआ भी संसारको छेदनकी अपेक्षा संसारको बढ़ा देता है। उनको मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायके उद्वेगसे कोटानुकोट भव ले लेकर जन्म मरणके अपार कष्ट सहने पडते हैं। अधिक काल तिर्यंच गतिमें, उसमें भी एकेंद्रिय पर्यायमें, उसमें भी साधारण वनस्पतिरूपी निगोदमें जन्म लेना पडता है। उनको सम्यक्तकी प्राप्तिका पुनः अवसर बड़ी कठिनतासे आता है।

वे इतना अधिक शास्त्र जानते हों कि ग्यारह अंग और नौ पूर्वके पाठी हों, उनके पढ़ाए हुए अन्य साधु यथार्थ मार्गको पालेवें परन्तु वे मिथ्यात्व भावसे वासित होते हुए वीतरागता मय कभी न होते हुए, अंतरंग विषयानुरागकी भावना हीमें रहते हैं। चाहे वे मोक्षके लिये यत्न कर रहे हों ऐसा मान रहे हों तथापि वे मोक्षको नहीं पहचानते हैं। मोक्षमें भी इंद्रियजन्य सुखकी अनंतता प्राप्त होगी ऐसी आशा भीतर बनी रहती है। क्योंकि उनको आत्मानुभव नहीं हो पाया है। उनको अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद नहीं मिला है। इसीसे वे विषय स्वादके लोलुपी ही भीतर वासनामें होरहे हैं, मिथ्यात्वको ही पुष्ट कर रहे हैं। नौ ग्रैवेयिक कदाचित् चले जाते हैं तो भी संसार हीमें रुलते हैं।

श्लोक—मानं रागसम्बन्धं, तप दारुणं बहुकृतं।
शुद्धतत्वं न पश्यंति, ममता दुर्गतिभाजनं ॥१५०॥

अन्वयार्थ—(रागसम्बन्धं मानं) ऐसे मिथ्या तप करनेवालोंके ऐसे तपमें मोहके कारण यह अहंकार होजाता है कि (तप दारुणं बहुकृतं) हमने बहुत कठिन २ तप बहुत काल तक किया है। वे (शुद्धतत्वं) शुद्ध आत्मीक तत्वको (न पश्यंति) नहीं अनुभव करते हैं। (ममता) उनके भीतर जो मोह है वही (दुर्गतिभाजनं) उनकी कुगतिका कारण है।

विशेषार्थ—लोभ कषायकी वासनाको रखते हुए जो दीर्घकाल तक बहुत कठिन २ तप करते हैं उनके भीतर तपका मद सहजमें होजाता है कि हम बड़े तपस्वी हैं। उनका बहुत परीषह सहन कषायको मेटनेके स्थानमें मान कषायकी तीव्रता कर देता है। खेद है वे शुद्ध आत्मीक तत्वका अनुभव न पाकर उस अमृतके स्वादसे शून्य है। इसीसे वीतरागता सहित निर्विकल्प समाधिको ये नहीं पाते हैं। यद्यपि वे विकल्पोंको मेटकर ध्यान लगाते हैं, परन्तु भीतर रागकी आग जला करती है, इसीलिये यह तप मिथ्या तप कहा जाता है। उनके भीतर जो संसारका ममत्व है वह उनके लिये मोक्षके विपरीत बहुतसी गतियोंमें भ्रमण कराता है। यद्यपि शुक्ल, पद्म या पीतलेश्याके कारण वे उस शरीरसे स्वर्गादि चले जाते हैं, वहांपर जाकर वे विषय-सुखमें अति आसक्त होजाते हैं, सम्यक्त न पाते हुए यदि जिनेन्द्रकी भक्ति करते हैं व जिन अकृत्रिम चैत्यालयोंका दर्शन करते

हैं तथापि विषयकी लोलुपताको न छोड़ते हुए, अन्य अपनेसे अधिक विभूतिवाले देवोंकी सम्पदाको देखकर ईर्षावान रहते हुए, देवांगनाके वियोगसे शोक भाव करते हुए, आयु पूर्ण होते हुए भारी आर्तध्यान करते हुए, यदि सौधर्म ईशान स्वर्गमें हुए तो मरकर एकेंद्रिय वृक्ष आदिमें आकर जन्म पालेते हैं, दीर्घ संसारके भागी होते हैं। इस तरह मिथ्या तप व उसका मद जीवका भारी अहित करता है। इसी तरह और भी मद प्राणीका अहित कारक है। आठों मदोंको विष तुल्य समझकर इनका संसर्ग करना उचित नहीं है। मान कषायको जीतकर विनय व नम्रताको रखते हुए शुद्ध तत्वको जाननेसे ही स्वहित होगा, यह तात्पर्य है।

चार कषायका स्वरूप।

श्लोक—कषायं येन अनंतानं, रागं च अनृतं कृतं।
चित्ते कुबुद्धि विश्वासं, नरयं दुर्गतिभाजनं ॥१५१॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (अनन्तानं) अनन्तानुबन्धी (कषायं) कषाय (च) तथा (अनृतं रागं) मिथ्यात्वसे राग (कृतं) किया है उनके (चित्ते) चित्तमें (कुबुद्धि विश्वासं) मिथ्याज्ञान व मिथ्या विश्वास रहता है जिससे (नरयं दुर्गतिभाजनं) वे नरकादि दुर्गतिके भाजन होते हैं।

विशेषार्थ—ऊपर लिखित सात व्यसनोंमें आसक्ति तथा आठ मदोंमें लीनता उनही प्राणियोंको होती है जो अनन्तानुबन्धी कषायोंके उदयके आधीन है। तथा मिथ्यात्वके उदयसे पर्याय बुद्धि होरहे हैं, जिनको अपने स्वरूपकी कुछ भी खबर नहीं है। मिथ्यात्वकी सहकारी कषायको अनन्तानुबन्धी कहते हैं। इसकी वासना दीर्घ काल तक चली जाती है। अनन्तानुबन्धी भी क्रोध, मान, माया, लोभके चार दृष्टांत हैं। जैसे पाषाणमें रेखा बनाई जावे व बहुत दीर्घकालमें मिटे ऐसा क्रोध जो बहुत कालमें मिटे सो अनंतानुबंधी क्रोध है। पाषाणका खंभा जैसे नमे नहीं खंड होजाय तोभी नमे नहीं ऐसा मान जिसके हो वह अहंकारमें रहे व कभी विनयरूप न प्रवर्ते, दीर्घकाल तक भी नम्र न हो सो अनंतानुबन्धी मान है। बांसका बीडा जैसा कुटिल होता है

वैसा कुटिल व मायाचार जिसका दीर्घकाल तक छिपा रहे उसके अनंतानुबन्धी माया है। जैसे किरमिचका रंग दीर्घकालमें न मिटे ऐसा दीर्घकाल तक न मिटनेवाला लोभ अनंतानुबंधी है। इन कषायोंके कारण व सात तत्वोंकी यथार्थ श्रद्धा न होनेके कारण व आत्मा व अनात्माका भेद न जाननेके कारण मिथ्याज्ञान व मिथ्या विश्वासमें रमता हुआ प्राणी प्रायः नरकगति व नरक आयुको बांधकर नरक जाकर बहुत कष्टोंमें पड जाता है। ये चार कषाय व मिथ्यात्व ये पांचों अनादिकालसे जीवके वैरी होरहे हैं। इन हीके वश अनेक पंच परावर्तन इस जीवने इस अनंत संसारमें किये हैं, विचारवानको इनके क्षयके लिये उद्यम करना योग्य है।

श्लोक—लोभं अनृत सद्भावं, उत्साहं अनृतं कृतं।
तस्य लोभं न शमितं च, तं लोभं नरयं पतं ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थ—(अनृत सदभावं) मिथ्यात्वके साथमें रहनेवाला (लोभं) अनन्तानुबन्धी लोभ (अनृतं उत्साहं कृतं) मिथ्यात्व सेवनका उत्साह करता रहता है। (तस्य) ऐसे जीवका (लोभं) लोभभाव (न शमितं च) ठंडा नहीं होता है। (तं लोभं) वह लोभ (नरयं पतं) नरकमें डाल देता है।

विशेषार्थ—अनन्तानुबन्धी लोभका स्वरूप यहां बताया है कि ऐसे लोभके वशीभूत प्राणी धनकी, पुत्र पौत्रादिकी तृष्णामें फंसा हुआ रात दिन इनहीकी प्राप्तिमें, इनहीके रक्षणमें उत्साह दिखलाता है। धनादि कमानेमें ऐसा तत्पर होजाता है कि धर्मसेवनके लिये समय नहीं निकालता है न नीति अनीतिका खयाल रखता है। उसका मिथ्यात्व भाव जो अनादिकालका अग्रहीत है वह दृढ़ होता जाता है तथा गृहीत मिथ्यात्व भी जड पकड़ लेता है। वह अपने स्वार्थ साधनके लिये कुदेवोंकी मान्यता किया करता है। यदि किसी समय कोई मान्यता उसके पूर्वकृत पुण्य कर्मके उदयसे सफल होजाती है, तो वह किसी कुदेवने ही ऐसा कर दिया ऐसी कल्पना करके कुदेवोंमें और अधिक श्रद्धालु व भक्तिवान होजाता है। उसको जिस किसी पदार्थका लोभ पैदा होजाता है यह दीर्घकालतक मिटता नहीं। जैसे रावणको सीताजीका गाढ़ लोभ पैदा होगया। वह वारवार समझानेपर भी परस्त्री रमणके भावोंसे विरक्त नहीं हुआ। इसीलिये मानी बन गया, युद्धमें अपना

सर्व खोकर नरकका पात्र होगया। लोभ मनकी पवित्रताका नाश कर देता है। लोभ न करने योग्य हिंसा, अनृत, चोरी, कुशील व परिग्रहमें वर्तन कर देता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

शीतो रविर्भवति शीतरुचिः प्रतापी-स्तब्धं नभो जलनिधिः सरिदम्बुतृप्तः।

स्थायी मरुद्विदहनो दहनोऽपि जातु। लोभनलस्तु न कदाचिददाहकः स्यात् ॥ ६३ ॥

भावार्थ—कदाचित् सूर्य तो ठण्डा होजावे और चन्द्रमा तापकारी होजावे, आकाश जड़ होवे, समुद्र नदियोंसे तृप्त होजावे, पवन स्थिर होजावे, अग्नि शीतल होजावे तथापि लोभकी आग कभी शांत नहीं होती है।

स्त्री रागमें, राज्यके रागमें, बड़े२ युद्ध होजाते हैं। सर्वस्व नाश करनेवाला लोभ है जो अंतमें नरकमें डालनेवाला है।

श्लोक—लोभं कुज्ञान सद्भावं, अनादी भ्रमते भवे।
असत्ये लोभ चिंतंते, लोभं दुर्गतिकारणं ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थ—(कुज्ञान सद्भावं) मिथ्या ज्ञान सहित लोभके कारण यह प्राणी (अनादी) अनादिकालसे (भवे) संसारमें (भ्रमते) भ्रमण करता चला आया है। (असत्ये) मिथ्या पदार्थोंमें (लोभ-) राग (चिंतते) का विचार किया करता है (लोभं) यह लोभ (दुर्गतिकारणं) खोटी गतिका कारण है।

विशेषार्थ—जहांतक अनंतानुबंधी लोभ मिथ्यादर्शनके साथमें है वहांतक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्र इन तीनोंकी ऐकतारूप मोक्षमार्गका लाभ नहीं होता है वहांतक यह मिथ्याज्ञानी प्राणी संसारासक्त, पर्याय बुद्धि, विषयोंका लोलुपी बना रहता है इसको अतीन्द्रिय सुखके रसका भान नहीं आता है। इस देह, वचन, मनमें आपा मान लेनेसे यह अनादिकालसे संसारमें भ्रमता आया है व जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होगा भ्रमण करता रहेगा। ऐसा अज्ञानी जीव निरंतर रागके कारणोंकी ही चिंता करता रहता है। धनके संग्रहकी, शरीर बने रहनेकी, स्त्री पुत्रादिके संयोगकी, मनोज्ञ पदार्थोंके लोभकी, अनिष्ट पदार्थोंके वियोगकी, शत्रुओंके नाशकी, विषयमें सहायी मित्रोंके बने रहनेकी, आगामी उत्तमोत्तम भोग पानेकी, इत्यादि रागसे

सनी हुई चिन्ताओंके जालोंमें अटका रहता है। अपनी बढती परकी हानि चाहता है। अनेक प्रकार अपध्यान करता है, परधन व परस्त्रीकी चाह किया करता है, मान पुष्ट करनेकी अनेक बातें विचारा करता है। खेद है इस अपध्यानसे निरर्थक बहुत पाप बांध लेता है। जैसे तंदुल मच्छ महामच्छके उदरमेंसे जीवित मच्छोंको निकालते देखकर यह भाव किया करता है कि यदि मैं होता तो किसीको नहीं छोडता। वह इस निरर्थक अपध्यानके कारण सातवें नरककी आयु बांधकर सातवें नर्क चला जाता है वैसे ही यह अज्ञानी मानव वृथा रागके जालमें उलझा हुआ अनंतानुबंधी लोभके कारण नरक व तिर्यंचकी आयु बांधकर कुगतिमें गिर जाता है। अतएव इस मिथ्याज्ञानका संहार करना उचित है। और सम्यग्दर्शनका प्राप्त करना उचित है जिसके होते ही भावना बदल जाती है, पर पदार्थके स्वागतकी भावना नहीं रहती है।

श्लोक—अशाश्वते भावनं कृत्वा, अनेककष्ट कृतं सदा।
चेतना लक्षणो हीनः, लोभं दुर्गतिबन्धनं ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थ—(आशाश्वते) अनित्य जगतके पदार्थोंमें (भावनं) भावना (कृत्वा) करते करते इस जीवने (सदा) सदा ही (अनेक कष्टं कृतं) अनेक कष्ट पाए हैं। (चेतना लक्षणो हीनाः) चेतना लक्षणधारी होकर भी हीन होरहा है। जिसके कारण यह दशा है ऐसा (लोभं) यह लोभ (दुर्गतिबन्धनं) दुर्गतिका बंध करनेवाला है।

विशेषार्थ—अनंतानुबंधी लोभके कारण यह जीव जिस जिस शरीरमें प्राप्त हुआ वहां उस शरीरमें प्राप्त इंद्रियोंके भोगकी चाहकी दाहमें ही जला किया। यही आशा लगाते हुए भावना करता रहा कि आगामी सुख मिलेगा। एक तो इस चाहके कष्टमें दुःखी हुआ। दूसरे जब मिले हुए इष्ट पदार्थका वियोग होगया तब दुःखी हुआ। तीसरे विषयानुरागसे या विषयोंकी प्राप्तिके लिये किये गए हिंसादि पापोंसे जो अशुभ कर्म बांधे उनके उदय आनेपर अनेक नरक निगोद व तिर्यंचगतिके दुःख भोगे। इसतरह चाहकी दाहसे सदा ही इस जगतमें दुःखी रहा। ये जगतके पदार्थ एकसी स्थितिमें नहीं रहते, इनकी अवस्था बिगड़ जाती है। तब यह अज्ञानी जिनको सदा बनाए

रखना चाहता था उनको नष्ट हुआ देखकर महान क्लेश भोगता है। ग्रंथकर्ता कहते हैं कि यह जीव चेतना लक्षणको रखनेवाला होकर फिर अचेत व दीन हीन दुखी होरहा है यह बडे खेदकी बात है। इसका स्वभाव तो सर्वको साक्षीभूत होकर देखना जानना तथा अपने स्वभावमें तन्मय रहना है। अपने अतीन्द्रिय आनन्दका भोग करना है परंतु यह मोहके मदमें अचेत होकर अपने स्वरूपसे बाहर रहता हुआ बड़ा ही हीन व तुच्छ होरहा है। धिक्कार हो लोभको जो इस जीवनमें भी दुःख देता है और आगे भी दुःखका दाता होजाता है। लोभ कषाय वास्तवमें अन्य सर्व कषायोंकी उन्नतिका निमित्त कारण है। तथा इसका नाश भी सर्व कषायोंके पीछे होता है इसलिये सबसे पहले ग्रंथकर्ताने अनंतानुबंधी लोभको ही धिक्कारा है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं–

तिष्ठंतु बाह्यधनधान्यपुरःसरार्थाः। संवर्धिताः प्रचुरलोभवशेन पुंसा॥
कायोऽपि नश्यति निजोऽयमिति प्रचिन्त्य। लोभारिमुग्रमुपहन्ति विरुद्धतत्त्वं॥८२॥

भावार्थ—अधिक लोभके वशसे जो बाहरी धनधान्य आदि पदार्थ बढ़ा लिये जाते हैं उनकी तो बात ही क्या है, वे तो नष्ट हो ही जाते हैं किंतु जिसको अपना खास मानते हैं ऐसा शरीर भी नष्ट होजाता है–सब छोड़कर जाना होता है। ऐसा विचार कर बुद्धिमान इस आत्माके विरोधी स्वभावको रखनेवाले भयानक लोभरूपी शत्रुका नाश ही करते हैं।

लोभके नाशका उपाय जिनवाणीका पुनः पुनः मनन कर आत्मा और आत्मासे भिन्न पदार्थोंका भेदज्ञान है यही उपादेय है।

श्लोक—मानं असत्य रागं च, हिंसानंदी च दारुणं।
परपंचं चिंत्यते येन, शुद्धतत्वं न पश्यते॥ १५५॥

अन्वयार्थ—(मानं) अनंतानुबन्धी मान (च असत्य रागं) भी मिथ्या पदार्थोंमें रागसे होता है। इस मान कषायसे (दारुणं हिंसानंदी) भयानक हिंसानंदी ध्यान रहता है। (येन) जिस ध्यानके कारण (परपंचं) प्राणी नानाप्रकार झगड़े व मायाचारको (चिंत्यते) चिंतवन करता रहता है और (शुद्धतत्वं) शुद्ध आत्मीक तत्वको (न पश्यते) अवलोकन नहीं करता है।

विशेषार्थ—जिसको संसारके अनित्य पदार्थोंमें-स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, राज्य, भोगविलासमें तीव्र अनुराग होगा वह इन पदार्थोंको थोडे या बहुत होते हुए अपने मनमें अहंकार कर लेगा। तथा सदा ही यह चिन्तवन करेगा कि मेरेसे अधिक किसीका नाम न हो। वह दूसरोंकी बढती न चाहेगा किन्तु दूसरोंकी हानि विचारेगा। मेरेसे दूसरेके पास अधिक धन व कुटुम्ब आदि न हो ऐसा सोचते हुए दूसरोंकी हानि करके भी अपना लाभ चाहेगा। यदि कदाचित् किसीकी अकस्मात् धनकी व कुटुम्बकी हानि होजावे व कहीं २ अपमान होजावे तो यह सुनकर बहुत प्रसन्नता मानता है। यदि किसीने कुछ भी अपमान किया तो उसका बदला लेनेका विचार करके उसको हानि पहुंचानेका प्रपंच रचता रहता है। रात दिन जगतकी विभूतिके मोहमें आसक्त हो 'मैं ऐसा मैं ऐसा' ऐसा मान भाव रखता हुआ व्यवहारके झंझटमें ही फंसा हुआ धर्मकी तरफ निगाह नहीं करता है। तत्वज्ञानीकी संगति नहीं करता है न तत्वज्ञानीके मुखसे कुछ उपदेश सुनता है। न उसपर विचार करता है। उसको शुद्ध आत्मस्वरूपका श्रद्धान होना अति दुर्लभ होजाता है। वास्तवमें मान कषायसे प्राणी अन्धा होजाता है। श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

अहंकारो हि लोकानां विनाशाय न वृद्धये। यथा विनाशकाले स्यात् प्रदीपस्य शिखोज्वला ॥१९४॥

भावार्थ—अहंकार लोभोंकी वृद्धि कुछ नहीं करता है किंतु हानि ही करता है जैसे दीपककी शिखा विनाशकालमें ही ऊंची होजाती है।

श्लोक—मानं अशाश्वतं दृष्टं, अनृतं रागनंदितं।
असत्ये आनंद मूढस्य, रौद्रध्यानं च संयुतं ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थ—(मानं) मानको (अशाश्वतं) अनित्य (दृष्टं) देखा गया है। (अनृतं) यह झूठा है। (रागनंदितं) मात्र रागमें मगन होता है। (असत्ये आनंद मूढस्य) जो मूढ मिथ्या वातोंमें आनंद मानता है वह (रौद्रध्यानं च संयुतं) रौद्रध्यान सहित होता है।

विशेषार्थ—मानीका मान सदा बना नहीं रहता है, शीघ्र ही नष्ट होजाता है। जिन पदार्थोंके आश्रयसे वह मान करता है वे पदार्थ थिर रहनेवाले नहीं हैं। यदि धन नष्ट होगया, पुत्रका वियोग

होगया, रोगग्रसित होगया, वृद्धावस्था होनेपर अशक्त होगया, कोई भारी अपमान होगया तो उसका मान स्वयं नष्ट होजाता है तब उसके चित्तमें बडी ही लज्जा घर कर लेती है। वह अपने कर्मोंके उदयकी ओर न खयाल करके किसी मानव विशेषके ऊपर क्रोध कर लेता है कि इनके बुरा विचारनेसे या इनके बुरे उपायसे ही मेरा नुकशान होगया है। इनकी ईर्षासे ही मेरा पुत्र मर गया है। इनके षड्‌यंत्रसे मेरा अपमान होगया है। इस तरह अपनी कल्पनासे दूसरोंको दोषी मानकर उनके साथ हिंसानंदी रौद्रध्यान कर लेता है। यह मान वास्तवमें झूठा है, क्योंकि उन पदार्थोंको लेकर मान किया जाता है वे पदार्थ एकसे नहीं रहते हैं। तथा मान करना ये भी झूठा है कि जगतमें उससे अधिक धनवान, पुत्रवान, रूपवान, विद्वान लोक पड़े हैं। फिर मैं बडा हूं और छोटे हैं यह मानना मिथ्या है। मानमें मात्र क्षणिक पदार्थोंके ममत्वमें मूर्छावान होकर दूसरोंको नीचा देखा जाता है। यह वास्तवमें मिथ्या राग है। इस मिथ्या आनन्दमें मूढ प्राणी निरन्तर परिग्रहानंद व हिंसानन्द रौद्रध्यानमें फंसा रहता है और तीव्र पाप कर्मका बन्ध करता है।

श्लोक—मानी पुन उत्पादंते, कुमते अज्ञानं श्रुतं।
मिथ्या माया मूढदृष्टी च, अज्ञानरूपी न संशयः ॥१५७॥

अन्वयार्थ—(मानी) ज्ञानके अहंकारसे पूर्ण मानी विद्वान (पुन) फिर (कुमते) अपनी खोटी बुद्धिसे (अज्ञानं श्रुतं) मिथ्या ज्ञानमई शास्त्रको (उत्पादंते) रचता है। उसका रचा शास्त्र (मिथ्या माया मूढदृष्टी च) मिथ्या होता है, मायाचारसे पूर्ण होता है, मूढ श्रद्धानसे भरा हुआ होता है। (अज्ञानरूपी) अज्ञानमई होता है, (न संशयः) इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—मानकी पुष्टि करनेको, राजा महाराजाओंसे व जनतासे मान प्रतिष्ठा चाह करके विद्याके अभिमानमें चूर मानी जीव परको रंजायमानकारी रचना गद्यमें या पद्यमें करते हैं। अपनी मिथ्यात्व वासित बुद्धिसे मिथ्यात्व गर्भित ज्ञानको पुष्ट करनेवाले शास्त्रकी रचना करते हैं। उस शास्त्रमें बहुतसे मिथ्या कथन मिला देते हैं। उसमें परको विषयकषायोंमें लगानेके लिये कपटरूप कथन होता है तथा वह शास्त्र सम्यक् धर्मसे विरोधी मिथ्या धर्मकी या संसारकी विषय-

वासनाको पुष्ट करनेवाला होता है। वह मिथ्या ज्ञानको ही विस्तारता है। जो जो उसको पढते हैं व आगे पढेंगे वे सब धर्मसे रुचि हटाकर अधर्ममें, व संसारमें व जगतके मोहमें फंस जायंगे। उस मानीको इसका कुछ भी ध्यान नहीं होता है। वह काव्य छंद अलंकार आदिमें वाहवाह कराकर, अभिमानको बढाकर अपनेको कृतार्थ मान लेता है। उसका शास्त्रज्ञान उसके लिये विषवत् घातकका काम करता है। मलीन भावोंसे अशुभ कर्मको बांधकर वह दुर्गतिका पात्र होजाता है। जो आत्मज्ञानसे विमुख करनेवाला व संसारके झूठे मोहमें लिप्त करानेवाला शास्त्र हो वह शास्त्र नहीं है शस्त्र है। ऐसे घातक शास्त्रको रचकर जो विद्वानपनेका अभिमान पुष्ट करते हैं वे अपना संसार अनंतकालके लिये बढा लेते हैं।

श्लोक—मानस्य चिंतनं दुर्बुद्धिः, बुद्धिहीनो न संशयः।
अनृतं ऋत जानंते, दुर्गति पश्यंति ते नरा ॥१५८॥

अन्वयार्थ—(मानस्य) मानका (चिंतनं) चिंतवन करना (दुर्बुद्धिः) मिथ्या बुद्धि है। जो मानी है वह (बुद्धिहीनो) बुद्धि रहित है (न संशयः) इसमें कोई संशयकी बात नहीं है। (अनृतं) मिथ्याको (ऋत) सच्चा (जानंते) जो मानते हैं (ते नरा) वे मानव (दुर्गति) कुगति (पश्यंति) को देखते हैं।

विशेषार्थ—जिनकी बुद्धि निर्मल होती है वे यह समझते हैं कि संसारके सर्व पदार्थ नाशवंत हैं, छूट जानेवाले हैं, इनके संयोग होनेपर अभिमान करना व्यर्थ है। परन्तु जो बुद्धि रहित, विचार रहित हैं वे मान कषायमें फंसे हुए अपनी कुबुद्धिका फल भोगते हैं। वे यही रातदिन सोचते रहते हैं कि मेरा किसी तरह मान खंडन न हो, मैं बड़ा माना जाऊँ, मेरी खूब प्रतिष्ठा हो, दूसरे लोग मेरी सेवा करें। सर्व मेरे साथी कुटुम्बी मेरे अनुकूल वर्तन करें। वह यह ध्यानमें नहीं रखता है कि हरएक जीवका परिणमन उस उसके आधीन है। कोई जीव सदा ही किसीके अनुकूल नहीं चल सक्ता है। इस बातको भूलकर वह सदा ही स्त्रीको, पुत्रको, सेवकको अपनी इच्छाके अनुसार चलाना चाहता है। यदि कदाचित् वे न चले तो मान खंडन समझकर उनपर बहुत क्रोध कर लेता है व उनको बहुत कष्ट देता है। ग्रंथकर्ता कहते हैं कि ऐसा मानी जीव मिथ्याको सत्य मान लेता है। जितनी पर्यायें हैं या अवस्थाएं हैं वे सब क्षणिक हैं—नाशवंत हैं, वस्तुका मूल स्वरूप नहीं है।

यह अज्ञानी उन अथिर पर्यायोंको थिर मान लेता है। उनके बिगडनेपर या वियोग होनेपर यह महा खेद करता है। पुनः संयोग पानेकी लालसा करता है–आर्तध्यानमें फंस जाता है। इसतरह यह अपनी कुबुद्धिसे अनंतानुबंधी कषायके कारण कुगतिको बांधकर नरक या तिर्यंच गतिमें जन्म-लेकर दीर्घकाल तक मानके फलसे नीच, दीन, दुःखी होकर अपमान पाता है फिर नरजन्मका मिलना अति कठिन होजाता है।

श्लोक—मानबंधं च रागं च, अर्थं विचिंतनं परं।
हिंसानंदी च दोषं च, स्तेयं दुर्गतिबंधनं ॥ १५९ ॥

अन्वयार्थ—(मानबंधं च रागं च) मानके बंधमें फंसा हुआ रागी जीव (परं अर्थं) दूसरेके धनकी (विचिंतनं) खोटी चिंता किया करता है। वह (हिंसानंदी च दोषं च) हिंसानंदी दोषका भागी होता है व (स्तेयं) चौर्यानंदी रौद्रध्यानी होकर (दुर्गतिबंधनं) कुगतिका बंध कर लेता है।

विशेषार्थ—अभिमानी मानवको अपने मानको बढानेका इतना भारी राग होता है कि वह अपनेसे दूसरोंको छोटा देखना चाहता है। यदि किसीके पास धन है, या मिलनेवाला है, या राज्य-सम्पदा या अन्य सोना, चांदी, जवाहरात आदि पदार्थ हैं यह चाहता है कि वे घट जावें, उनकी हानि होजावे, उनकी चोरी होजावे तो ठीक है। ऐसा हिंसानंदी और चौर्यानंदी रौद्रध्यान वृथा ही कर करके खोटी गति बांध लेता है। धिक्कार हो इस मान कषायको जिसके कारण धनादि पदार्थोंके संचय करनेमें महान तृष्णा होजाती है। मैं सबसे बड़ा माना जाऊँ यह मान उस अज्ञानी जीवको न्याय व अन्यायके विवेकसे शून्य कर देता है। यह धनका लोभी असत्य बोलकर विश्वा-सघात करके घोर हिंसा करके अनाथ बालक व विधवाओंका धन छल बलसे हरण कर व बड़ी चतुराईसे उनको अपने वश करके अपने अभिमानकी पुष्टि करता है। यह मानी जीव धनवान विधवाओंको फुसलाकर उनके शीलको भी खंडन करता है और उनसे धन भी लूटता है। तथा यही अपनी समाजमें मुखिया बनकर बडा अभिमान दिखलाता है और यह बताना चाहता है कि यह बडा जातिहितैषी, न्यायवान व धर्मात्मा है। मानके पुष्ट करनेको यह दूसरोंके प्राण लेकर भी-

उनका सर्वस्व हरण करके भी राज्य धनादिका स्वामी होना चाहता है। यदि कहीं मान खंडन हुआ तो यह महान क्रोधके वशीभूत हो युद्धादि ठान लेता है, जिनमें घोर हिंसा होजाती है। मानीको मानके सामने इतना अंधेरा होजाता है कि उसे धर्म, न्याय, तथा अहिंसादि भावोंकी कुछ परवाह नहीं रहती है। वह घोर स्वार्थी वन जाता है। उसका हृदय महान कृष्ण होजाता है, जिसपर धर्मका उपदेश रंचमात्र भी असर नहीं करता है।

श्लोक—मानं रागसम्बधं, तप दारुणं बहुश्रुतं।
अनृतं अचेत सद्भावं, कुज्ञानं संसारभाजनं ॥ १६० ॥

अन्वयार्थ—(रागसम्बन्धं मानं) संसारके रागसे बंधा हुआ मानी जीव (तप दारुणं) घोर तपस्याको तथा (बहुश्रुतं) बहुत शास्त्रज्ञानको करता हुआ भी (अनृतं) मिथ्यात्व (अचेत) व अज्ञान (सद्भावं) की सत्ता रखता है। वह (कुज्ञानं) मिथ्याज्ञान (संसारभाजनं) उसे संसारका ही पात्र रखता है।

विशेषार्थ—जिसके मनमें वैराग्य व आत्मज्ञान नहीं होता है वह प्राणी परलोकमें स्वर्गादिके सुखोंके रागसे बंधा हुआ या मोक्षमें भी अनंत इंद्रिय सुख मिलेगा इस भावनासे घोर तप करता है। जिनका जैनधर्मका सम्बन्ध नहीं है वे पंच अग्नि तपना, हाथ उठाए रखना, जटा बढाना, शीत सहना, उष्ण सहना, आदि भयानक तप तपते हैं। जिनको जैन शास्त्रका सम्बन्ध है वे जैन शास्त्रके चारित्रके अनुसार यथार्थ बारह प्रकारके तप पालते हैं, चारित्रमें कोई दोष या अतीचार नहीं लगाते हैं, व्यवहार चारित्र पालते हुए मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायके उदयसे उस तपका ही घमंड कर लेते हैं कि हम बड़े तपस्वी हैं। कोई २ बहुतसी विद्याओंको पढकर अभिमान कर लेते हैं, कोई जैनके शास्त्रोंको पढ़कर हम शास्त्री हैं ऐसा मान कर लेते हैं, कोई तपस्वी मिथ्यात्वी मुनि ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक ज्ञानके धारी होजाते हैं, बहु श्रुती होकर मान कर लेते हैं। जिस कषायके नाशके लिये तप करना व शास्त्र ज्ञान प्राप्त करना उचित था उसी कषायको और बढ़ा लेते हैं। मिथ्यात्व और अज्ञानके होनेके कारणसे वे अपना सच्चा हित नहीं कर पाते हैं। वे मोक्षमार्गको न पाकर संसारके ही मार्गमें चलते रहकर संसारमें ही जन्म मरण करते रहते हैं।

हम ज्ञानी, हम तपस्वी, हम धर्मात्मा हम बडे योगी, यह अहंभाव मान कषायका ही रूपक है। यह मान कषाय उनको शुद्धात्मीक तत्वमें अनुभवके अयोग्य बना देता है। वे मानके विषको पीये हुए मान कषाय कारक कर्मका विशेष बन्ध कर लेते हैं और नीच गोत्रको बांधकर अनन्त नीच योनियोंमें जन्म ले लेकर कष्ट पाते हैं। सारसमुच्चयमें कहा है—

हीनयोनिषु बंभ्रम्य चिरकालमनेकधा। उच्चगोत्रे सकृत्प्राप्ते कोऽन्यो मानं समुद्वहेत् ॥ २९५ ॥

भावार्थ—यह प्राणी दीर्घकाल तक अनेक प्रकारकी हीन योनियोंमें भ्रमण करता है तब कहीं इसे एक दफे उच्च गोत्रका लाभ होता है। कौन बुद्धिमान इसका अभिमान करेगा, क्योंकि यह भी छूट जानेवाला है और फिर अनन्त हीन योनियोंमें पटक देनेवाला है। इसलिये ज्ञानीको क्षणभंगुर पर्यायकी प्राप्तिका मान न करके समभाव रखना चाहिये। मान परिणामोंको कठोर बनाकर इस जन्ममें भी बुरा करता है और परलोकमें भी बुरा करता है।

श्लोक—माया असत्य रागं च, अशाश्वतं जलविंदुवत्।
यौवनं अभ्रपटलस्य, माया बंधन किं कृतं ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थ—(माया) माया कषाय (असत्य रागं च) असत्य जगतके पदार्थोंमें राग करनेसे होती है। जगतके पदार्थोंकी अवस्था (जलविंदुवत्) जलकी बूंदके समान (अशाश्वतं) क्षणभंगुर है। (यौवनं) युवानी (अभ्रपटलस्य) मेघोंके समान विला जानेवाली है (मायाबन्धन) तेरी मायाके बंधनने (किं कृतं) क्या किया अर्थात् कुछ नहीं किया।

विशेषार्थ—अब अनन्तानुबन्धी माया कषायका वर्णन करते हैं। लोभ कषाय व मान कषाय व क्रोध कषाय वश यह प्राणी माया कषाय कर लेता है। राज्य, धन, संपदा, भूमि, गाय, भैंस, घोडा रथ आदि पदार्थोंके संग्रहकी इच्छासे यह प्राणी मायाचार या कपट करके बहुतोंको ठगता है। कभी मानके बढानेको मायाचार करके अपना महत्व दिखाता है, दूसरोंका ही महत्व घटाता है। कभी किसीपर द्वेष होता है तो उसको हानि पहुंचानेके लिये मायाचार रचता है। मूल हेतु विषयोंमें अपना राग है। जिस जीवनकी आशासे लक्ष्मी संचय करता है वह जीवन उसी

तरह नष्ट होजायगा जैसे पानीका बुदबुदा नष्ट होजाता है व घासकी नोकपर रक्खी हुई पानीकी बूंद गिर जाती है। जिस युवानीके मदको बनाए रखना चाहता है वह भी मेघ पटलके समान विला जाने वाली चीज है। धनादि सम्पदा भी मेघके समान देखते२ चल देती है। तब यह मायाका बंधन हमारा कुछ हित नहीं करता है। हम मायाचारके तीव्र पाप बांधकर तिर्यंच होजाते हैं।

सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

यां छेदभेददमनांकनदाहदोहवातातपान्नजलरोधवधादिदोषाम्।
मायावशेन मनुजो जननिन्दनीयां, तिर्यग्गतिं व्रजति तामतिदुःखपूर्णाम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—मायाके आधीन होकर मानव अति दुःखोंसे भरी हुई और निंदनीक तिर्यंच गतिको प्राप्त हो जाता है, जहां छेदन, भेदन, निरोध, दागा जाना, दुहा जाना, हवा, गरमी, अन्न जल निरोध आदि दोषोंको भोगना पड़ता है।

श्लोक—माया अशुद्ध परिणामं, अशाश्वतं संग संगतेः।
दुष्टं नष्टं च सद्भावं, माया दुर्गतिकारणं ॥१६२॥

अन्वयार्थ—(माया) मायाचारका भाव (अशुद्ध परिणामं) आत्माका अशुद्ध मलीन भाव है। जो (अशाश्वतं संग संगतेः) विनाशीक परिग्रहकी संगतिसे पैदा होता है (दुष्टं) यह दोष पूर्ण है (नष्टं च सद्भावं) जहां सत्य भावका नाश है (माया दुर्गतिकारणं) ऐसी माया दुर्गतिका कारण है।

विशेषार्थ—आत्माका स्वभाव कषाय रहित वीतराग व शुद्धोपयोग रूप है। माया कषायके उदयसे वंचक भाव व मलीन भाव होजाता है। जगतके जो २ पदार्थ विनाशीक हैं ऐसे धन, सुवर्ण, राज्य आदिके निमित्तसे उनमें तीव्र लोभ होनेसे उनकी प्राप्तिके लिये मायाचारके भाव उठाए जाते हैं। यह मायाचारका भाव अत्यन्त दुष्ट है। अति दुष्टता लिये हुये है। दूसरोंको ठगनेका विकराल भाव जहां प्राप्त होजाता है। इस मायाचारके होनेसे स्वाभाविक शांत भाव नष्ट होजाता है। यह माया दुर्गतिका ही कारण है। असत्य व चोरीका जितना कुकर्म है वह मायाके द्वारा ही किया जाता है। मायाचारी झूठा सिक्का चलाता है व झूठे नोट बना लेता है, झूठे दस्तावेज लिख लेता

है, झूठे मुकद्दमें चलाता है, सचको झूठ कर देता है, झूठको सच कर देता है। मित्र बनके प्रीति व विश्वासका भाजन बनता है परन्तु भीतरसे ठगनेके भाव होते हैं जिससे वह मित्रको भी ठग लेता है। मायाचारीको जरा भी दया नहीं होती है। धर्मके नामसे अलग किये हुए पैसेको अपने काममें लेने लगता है। जब कोई मांगता है तो मायाचारीसे ऐसी बातें बनाता है मानो धर्म द्रव्य इसके पास सुरक्षित ही है। मायाचारी बड़े २ महन्त बनकर भोले भक्तोंको ठगते हैं। उनसे द्रव्य संचय करके मनमाने विषयभोग करते हैं। माया प्राणीके मनको महा नीच बना देती है इसीसे मायाचारी बहुधा तिर्यंच आयुका बंध कर लेता है।

श्लोक—माया अनंतानं कृत्वा, असत्ये रागरतो सदा।
मनवचनकाय कर्तव्ये, मायानंदी चुतो जड़ः ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थ—(अनंतानं माया कृत्वा) अनंतानुबंधी मायाके कारण (सदा) सदा ही (असत्ये रागरतः) मिथ्या पदार्थोंके रागमें आसक्त रहता हुआ (मायानंदी) मायाचार करनेमें आनंद मानता हुआ (मनवचनकाय कर्तव्ये) मन, वचन, काय द्वारा क्या उचित करने योग्य है उसमें (चुतः) हटा हुआ (जड़ः) अज्ञानी बना रहता है।

विशेषार्थ—अनन्तानुबन्धी माया कषाय सम्यक्तकी व शुद्ध स्वरूपके भीतर आचरण करानेकी विरोधी है। इस कषायके उदयसे प्राणीके भीतर ऐसा गाढ़ अंधेरा रहता है कि वह शुद्ध आत्माको न पहचानकर उसमें तो प्रेम नहीं करता किंतु जो शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि मिथ्या माने हुए व नाशवंत पदार्थ हैं उन हीमें तन्मय रहता हुआ, मन वचन कायके उचित व्यवहारको नहीं करता हुआ धर्मके ज्ञानसे रहित मूर्ख बना रहता है। वह रातदिन अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये मनमें कुटिलता व कपटका विचार करता है, वचनोंसे कपटभरी बातें करता है, कायसे कपटयुक्त क्रिया करता है, मनमें कुछ और ही होता है, वचनसे कुछ और ही कहता है, कायसे कुछ और ही क्रिया करता है। सरलता व आर्जव धर्मके विरुद्ध उसका व्यवहार होजाता है। उसको मायाचार करनेमें ही आनन्द आता है। यदि वह कपटसे किसीको ठग करके कुछ सम्पत्ति पैदा कर लेता है तो वह अपनेको बडा चतुर मानता है और अधिक मायाका जाल फैलानेके लिये कटिबद्ध होजाता है। ॥१७०॥

उसका जीवन ही मायाचारीके विकल्पोंमें वीतता है। रातदिन यही विचार किया करता है। ऐसा मूर्ख प्राणी यह नहीं देखता है कि जिस धनके लिये मैं दूसरोंको ठगता हूं वह धन छोडकर चला जाना पडेगा। तथा इससे जो घोर पाप कर्म बांधा जारहा है उसका कटुक फल प्राप्त होगा। जैसे उलूक सूर्यको नहीं देखता है, दिनको रात्रि समझता है वैसे ही अज्ञानी मायाचारी धर्म व परलोकको ओर दृष्टि नहीं करता है। मात्र क्षणिक स्वार्थमें ही लिप्त हो मायामें ही प्रसन्न हुआ करता है।

श्लोक—माया आनंद संयुक्तं, अनृतं अचेत भावनं।
मनवचनकाय कर्तव्ये, कुबुद्धी विश्वास दारुणं ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थ—(माया आनन्द संयुक्तं) मायाचारके आनंदमें भरपूर वह अज्ञानी (अनृतं) मिथ्यात्व व (अचेत) अज्ञानकी (भावनं) भावना किया करता है। (मनवचनकाय कर्तव्ये) मन, वचन, कायके करने योग्य व्यवहारमें (कुबुद्धी) खोटी बुद्धि रखता हुआ (दारुणं विश्वासं) तीव्र विश्वास रखता है।

विशेषार्थ—मायानंदी जीव मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञानकी निरन्तर भावना रखता है। आत्मीक तत्वसे विरुद्ध जो संसार तत्व है उसीमें तन्मय रहता है, विषयोंकी लम्पटता व मिथ्यात्व वर्द्धक कुदेव, कुगुरु, कुधर्मकी सेवा व मिथ्याज्ञान वर्द्धक ग्रन्थोंका आराधन किया करता है। उसकी भावना यही रहा करती है कि किसी तरह अपना मतलब सिद्ध करूं। कदाचित् वह जिनेंद्र प्रणीत देव, गुरु, धर्मकी भी भक्ति करता है व जिनवाणीका भी मन लगाकर अभ्यास करता है, परन्तु माया शल्यके कारण उस मिथ्यात्वीका उद्देश्य आत्मकल्याण न होकर स्वार्थ साधन होता है, वह इस तरह कि मैं अपने बाहरी धर्म साधनका प्रभाव, देखनेवाली जनतापर डालकर उनकी प्रतीतिमें यह विश्वास जमादूं कि वे मुझे धर्मात्मा मानने लगें फिर मैं उनसे अपना लौकिक स्वार्थ सिद्ध करूं। ऐसी मिथ्या वासनासे अपना सर्व धार्मिक कृत्य अधार्मिक बना देता है। तथा वह अपने मायाचारके फैलानेमें तीव्र विश्वास रखता है, बडी श्रद्धासे मायाकी जाल फैलाता है और मन, वचन, कायका कुटिल व्यवहार करता है। उनके मनमें यह श्रद्धा मिथ्याज्ञानके कारणसे जम जाती है कि मेरी कुटिलताको कोई जान नहीं सक्ता है, मैं ऐसा चतुर हूँ कि सबकी आंखोंमें धूल डालकर, अपना स्वार्थ सिद्ध कर सक्ता हूँ। इस तरह अपने कपटके व्यवहारमें घोर श्रद्धान रखता हुआ रातदिन

कपटके फंदेमें फंसा रहता है। उसका भाव बांसके बेड़ेके समान अदृश्य मायाचारकी गहरी वासनासे वासित होता है।

श्लोक—माया अचेत पुन्यार्थं, पाप कर्म च वर्धते ।
शुद्ध तत्व न पस्यंते, मायावी नरयं पतं ॥१६५॥

अन्वयार्थ—(माया अचेत) मायामें लिप्त अज्ञानी जीव (पुण्यार्थे) पुण्यरूप किये हुए कार्योंसे भी (पाप कर्म च वर्धते) पाप कर्मोंका ही बन्ध बढ़ा लेता है (शुद्ध तत्व न पस्यंते) वह शुद्ध आत्मतत्वको नहीं अनुभव करता है ऐसा (मायावी) मायाचारी (नरयं पतं) नरकमें चला जाता है।

विशेषार्थ—मायाके अंधकारसे जिसकी बुद्धि मलीन होरही है ऐसा मिथ्याज्ञानी जीव अपनी माया फैलानेके लिये उन कामोंको बड़ी ही बाहरी भक्तिसे करता है। जिन कार्योंके सरलतासे व कपट रहित करनेसे पुण्य कर्मोंका बन्ध होता है, परन्तु वह बिचारा उन्हीं कार्योंसे घोर पाप कर्मका बन्ध कर लेता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, व दान-ये छः गृहस्थके कार्य पुण्यबंध करानेवाले हैं। परन्तु माया शल्यके साथ किये हुए इनहीसे पापका घोर बन्ध होजाता है। कर्मोंका बन्ध भीतरी वासनासे होता है। वीतरागताका जिसका अभिप्राय होगा उसके तो बहुतसे पापोंका क्षय होगा। निदान रूप विषयभोगोंका अभिप्राय होगा तो वह अल्प पुण्य बन्ध करेगा। यदि मायाचारका अभिप्राय होगा तो वह माया कषायके कारण तीव्र पापका बंध करेगा। मायावीके मात्र छल कपटकी भावना रहती है। वह तो उस ठगियाके समान है जो विश्वासपात्र मित्र बनकर मित्रता करता हुआ भी ठगनेका ही भाव रखता है। जैसे बिल्ली चूहेके लोभमें रहती है वैसे वह स्वार्थ साधनके लोभमें रहता है। अतएव पुण्यके स्थानमें पापोंका ही बन्ध करता है। वह मिथ्यादृष्टी जीव शुद्ध तत्वको नहीं पहचानता है, न उसकी रुचि करता है, न उसका अनुभव ही कर सक्ता है। वह कृष्णादि अशुभ लेश्याके कारण नरकगति बांध लेता है। माया कषाय इस जीवका बड़ा ही बुरा करनेवाला है, ऐसा जानकर जो अपना हित करना चाहें उनको माया कषायका त्याग करके सरलतासे ही व्यवहार करना चाहिये और इस मानवजन्मको आर्जवधर्मको पालकर सफल

करना चाहिये। थोडीसी आयुके लिये मायाचारकरके धनका एकत्र करना आगामी पापके उदयसे तीव्र दुःखका कारण होजायगा। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

शीलव्रतोद्यमतपःशमसंयुतोऽपि, न चाश्नुते निकृतिशल्यधरो मनुष्यः।
आत्यंतिकीं श्रियमबाधसुखस्वरूपां, शल्यान्वितो विविधधान्यधनेश्वरो वा ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जो कोई मानव शील, व्रत, उद्यम, तप, शांत भावसे विभूषित है परन्तु माया-शल्यसे पीडित है वह बाधा रहित सुखमई मोक्षकी लक्ष्मीको नहीं पासक्ता है। जैसे नानाप्रकार धनका स्वामी होनेपर भी कांटा लग जानेपर वह दुःखहीको भोगता है।

श्लोक—कोहाग्निः अशाश्वते पोषितं, शरीरे मानबंधनं।
अशाश्वतं तस्य उत्पादं, कोहाग्निः धर्मलोपनं ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(कोहाग्निः) क्रोधकी अग्नि (अशाश्वते) क्षणभंगुर पदार्थके निमित्तसे (पोषितं) भड़क उठती है। (शरीरे मानबंधनं) शरीरमें अहंकार होनेसे इसका बंधन है। (तस्य) इस क्रोधसे (अशाश्वतं) विनाशीक संसारका (उत्पादं) जन्म होता है। (कोहाग्निः) यह क्रोधकी अग्नि (धर्मलोपनं) धर्मका लोप करनेवाली है।

विशेषार्थ—जिन प्राणियोंका ममत्व शरीरमें व शरीरके सुखके सहकारी स्त्री पुत्रोंमें व अन्य विषयके पदार्थोंमें होता है, जो अपनी पर्यायके ममत्वमें बंधे हुए होते हैं, उनको विनाशीक पदार्थोंके निमित्तसे क्रोध होजाता है। जब कोई उनको बिगाडता है या वे बिगडते तो स्वयं हैं परन्तु यह अज्ञानसे किसीको उसमें कारण मानकर उनपर बहुत क्रोध करता है। जिसके अनंतानुबन्धी क्रोध होता है वह जरासा भी निमित्त मिलता है कि क्रोधमें आगभभूका होजाता है, अपने आधीन निर्बल, स्त्री, पुत्र, पुत्री, सेवक आदिको बहुत कष्ट देता है। मान व लोभके तीव्र उदयसे यदि किसीके द्वारा मानमें व लोभके साधनमें बाधा पहुंचती है तो यह क्रोधित हो उस व्यक्तिसे अति द्वेष या वैरभाव बांध लेता है तथा उसको कष्ट पहुंचाए विना चैन नहीं पाता है। इस क्रोध कषायसे वह कर्म बांधकर इस विनाशीक संसारको और बढ़ा लेता है। क्रोधके कारण धर्मका भी

लोप कर दिया जाता है। यदि किसी धर्मात्माने कोई हितकी बात कही है तथा इसतरह पर कही है कि जिससे इसके दिलमें कुछ असर होवे। यह उस बातसे इतना बुरा मान लेता है कि जाने जो कुछ धर्म सेवता था उसको भी छोड़ बैठता है। क्रोधको यदि वश नहीं कर सके तौ बडे २ तपस्वी भ्रष्ट हो दुर्गतिके पात्र होजाते हैं। क्षमा जहां है वहीं धर्मकी उन्नति है। जहां क्रोध है वहां धर्मका नाश है। क्रोध कषाय परिणामोंको अति मलीन व हिंसक बना देता है। सुभाषित० में कहते हैं-

धैर्यं धुनाति विधुनोति मतिं क्षणेन, रागं करोति शिथिलीकुरुते शरीरं।
धर्मं हिनस्ति वचनं विदधात्यवाच्यं, कोपो ग्रहो रतिपतिर्मदिरामदश्च ॥ १६ ॥

भावार्थ—यह क्रोधरूपी राक्षस कामके समान या मदिराके नशेके समान धैर्यको नाश कर देता है, क्षणमात्रमें बुद्धिको बिगाड देता है, रागको या हठको बढा देता है, शरीरको शिथिल कर देता है, धर्मको नाश कर देता है, व न कहने योग्य वचनोंको कहलाने लगता है।

वास्तवमें यह क्रोध इस लोक व परलोकमें महान् बाधाकारी है।

श्लोक—एतत्तु भावनं कृत्वा, अधर्मं तस्य पस्यते।
रागादि मल संजुक्तं, अधर्मं तत्तु गीयते ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थ—(एतत्तु भावनं कृत्वा) जहां ऊपर लिखित सात व्यसन, आठ मद व चार अनन्तानुबन्धी कषायोंकी भावनाएं की जाती हैं (तस्य) वहां उस प्राणीके भीतर (अधर्मं) अधर्म ही (पस्यते) देखा जाता है। (रागादि मल संजुक्तं) जो कुछ भाव या वचन या क्रिया रागद्वेषादि मलके साथमें है (तत्तु अधर्मं गीयते) उसको तो अधर्म ही कहा जाता है।

विशेषार्थ—ग्रंथकर्ताने कुधर्मका स्वरूप ऊपर बहुत विस्तारसे कहा है, तथा स्पष्ट कर दिया है कि भावना ही अधर्म है व भावना ही धर्म है। जहां अपने शुद्ध स्वरूपकी भावना नहीं है वहां संसारकी भावना होगी। जहां संसारकी भावना होगी वहां पांच इंद्रियोंके भोगकी व लोभ व मान कषायकी पुष्टिकी ही विशेष भावना होगी। इस अशुभ भावनासे पीडित होकर वह प्राणी अवश्य ही सात व्यसनोंकी भावनामें फंस जायगा, आठ प्रकारका मद करेगा, तीव्र क्रोधादि

कषायका भागी होगा। उसके भावोंमें अधर्म ही अधर्म हर समय पाया जायगा। वास्तवमें वीतराग विज्ञान तो धर्म है। उसके विरुद्ध जो कुछ भी रागद्वेष आदि मैलसे मैला भाव है वह सब अधर्म है, कुधर्म है, संसारका कारण है। मिथ्यात्व सहित सर्व भाव बाहरमें धर्म सरीखे दिखते हैं परन्तु वे अधर्म हैं। इस अधर्मको धर्म मानना यह गहरा मिथ्यात्व है। यहां ग्रंथकर्ताका भाव प्राणियोंको धर्ममें श्रद्धावान करनेका है इसलिये वे प्रेरणा करके कहते हैं कि जो इस नरभवको सफल करना चाहें और सुखसे वर्तमान जीवन व भविष्यका जीवन बिताना चाहें उनको उचित है कि यथार्थ धर्मको समझें, कुधर्मको धर्म न जानें। जिस धर्ममें विषयकषायकी किसी भी तरह पुष्टि है वह अधर्म है व जहां वैराग्य और शुद्धात्म तत्वकी पुष्टि है वह धर्म है। सुभाषित०में कहते हैं—

विरागसर्वज्ञपदाम्बुजद्वये यतौ निरस्ताखिलसङ्गसङ्गतौ, वृषे च हिंसा रहिते महाफले करोति हर्षं जिनवाक्यभावितः ॥१५८॥

भावार्थ—श्री जिनवाणीके अनुसार भावना करनेवाला वीतराग सर्वज्ञके चरणकमलोंमें, सर्व परिग्रह रहित साधुमें व हिंसा रहित महा फलदाई धर्ममें आनन्द मानता है।

धर्मका स्वरूप।

श्लोक—शुद्धधर्मं च प्रोक्तं च, चेतनालक्षणो सदा।
शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन, धर्मं कर्मविमुक्तयं ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्धधर्मं च प्रोक्तं च) शुद्ध धर्म ऐसा कहा गया है कि वह (सदा) सदा (चेतनालक्षणः) आत्माका चेतना लक्षण है। (शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन) शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिसे (धर्मं) वह धर्म (कर्मविमुक्तयं) सर्व प्रकार कर्मसे रहित है।

विशेषार्थ—अब यहां निश्चय धर्म या शुद्ध धर्मको कहते हैं। यह साक्षात् मोक्षमार्ग है। निश्चयधर्मका आराधन करे विना न कोई मोक्ष गया है न जावेगा न अब किसी क्षेत्रसे जासक्ता है। यह असली धर्म आत्माका या अपना स्वरूप है। आत्माका लक्षण चेतना है अर्थात् स्वभावसे आत्मा ज्ञानचेतना स्वरूप है, अपने ही यथार्थ ज्ञानमय शुद्ध स्वरूपका अनुभव या स्वाद लेनेवाला है। यह

कर्म चेतना व कर्मफलचेतनाके स्वादसे रहित है। रागद्वेषरूप होकर कार्य करते हुए यह अनुभवना कि मैं काम करता हूं यह कर्म चेतना है। कर्मोंका फल होते हुए यह अनुभवना कि मैं सुखी हूं, या दुःखी हूं कर्मफल चेतना है। यह अशुद्ध आत्मामें कभी पाई जाती हैं। आत्मा स्वभावसे ज्ञान चेतनामई है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय उस नय या अपेक्षा या दृष्टिको कहते हैं जो शुद्ध द्रव्यको देखती है। एक ही द्रव्यको परसे भिन्न देखता है। इस नयके द्वारा देखते हुए आत्मा भी कर्मोंसे रहित दीखता है व उसका स्वभाव या धर्म भी कर्मोंसे रहित दीखता है। कर्म तीन प्रकार हैं। भाव कर्म-रागद्वेषादि मलीन भाव है। द्रव्य कर्म-ज्ञानावरणादि आठ कर्म है। नोकर्म शरीरादि हैं। ये सब ही आत्माके स्वभावमें नहीं हैं, इसलिये शुद्ध धर्म आत्मारूप ही है, आत्मका निजस्वभाव है, यह अभेद रत्नत्रय स्वरूप है। अपने आत्माको शुद्ध द्रव्यकी अपेक्षा शुद्ध है ऐसा निश्चय करना सम्यग्दर्शन है ऐसा संशयादि दोष रहित जानना सम्यग्ज्ञान है तथा इसीमें थिर होकर स्वाद लेना सम्यग्चारित्र है अर्थात् एक शुद्धात्मानुभव या स्वानुभव, या स्वसमय या आत्मध्यान ही शुद्ध धर्म है-मोक्षका साक्षात् उपाय है। श्री देवसेनाचार्य तत्वसारमें कहते हैं—

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पणितं च दंसणं णाणं। चरणंपि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥ ८ ॥
जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च। तं णाऊण विसुद्धं झायह होऊण णिग्गंथो ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो निश्चयसे शुद्ध आत्माका भाव है वह आत्मरूप है वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र कहा गया है-उसीको शुद्ध चेतना कहते हैं। वही निर्विकल्प तत्व है, वही सार है, वही मोक्षका कारण है उसीको जानकरके व उसीके शुद्ध स्वरूपको निर्ग्रंथ होकरके, सर्वसे ममता त्याग करके ध्याओ।

श्लोक—धर्मं च आत्मधर्मं च, रत्नत्रयमयं सदा।
चेतना लक्षणो यस्य, तत् धर्मं कर्म विवर्जितं ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मं च) धर्म तो (आत्म धर्मं च) आत्माका स्वभाव ही है। वह (सदा) तीनों कालोंमें (रत्नत्रयमयं) रत्नत्रयमई है (यस्य लक्षणः) जिसका लक्षण (चेतना) चेतना या स्वानुभव है (तत् धर्मं) वह धर्म (कर्मविवर्जितं) सर्व कर्मकी उपाधिसे रहित है।

७॥ आत्माके भीतर है। हरएक आत्माका अपना निज स्वभाव है। भेद दृष्टिसे देखें या कहें तो उसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमय कहेंगे परन्तु अभेद नयसे देखें या कहें तो यह मात्र एक स्वानुभवरूप या ज्ञानचेतना मात्र है। उस धर्ममें राग द्वेषादिकी व संकल्प विकल्पकी कोई उपाधि नहीं हैं।

जो कोई तत्वज्ञानी निश्चिन्त होकर सर्व चिन्ताओंको त्यागकर एक अपने शुद्ध आत्माको शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे देखता है, जानता है, अनुभवता है, तद्रूप होता है, तन्मय होजाता है, अतीन्द्रिय आनन्दके स्वादमें मग्न होजाता है वही अपने भीतर अपने धर्मको पाता है। यह धर्म वास्तवमें वचन अगोचर है। मनसे भी अगोचर है। जब काय भी थिर रहता है, वचन भी बंद रहता है, मनकी चंचलता भी मिट जाती है तब वह आत्मधर्म इन मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे बाहर होनेपर ही अनुभवमें आता है। चैत्यालयका सम्बन्ध व भक्ति, शास्त्रका पढना, तीर्थमें जाना, गुरुकी संगति, व्यवहार श्रावक व मुनिकी क्रिया मात्र मनको बाहरी प्रपंचजालसे बचानेको निमित्त है। इसलिये उनका संयोग हितकारी है। परंतु जो कोई इनहीको असली धर्म मानले और शुद्ध आत्माके तत्वको न पहचाने उसके लिये यहां कहा गया है कि असली धर्म तो आत्माका अपना स्वभाव है। इसतरफ लक्ष्य देनेसे ही मुमुक्षुको सच्चा मार्ग हाथ लगेगा और वह वास्तविक धर्मरत्नको पाकर कृतार्थ होजायगा। उसका जन्म जरा मरणरूपी रोगको मेटनेके लिये व कर्मका मैल धोनेके लिये यही एक अद्भुत गुणकारी औषधि है। इसीका पान या सेवन सदा सुखकारी है।

श्लोक—धर्मध्यानं य आराध्यं, ॐवंकारे च सुस्थितं।
ह्रींकारे श्रींकारे च, त्रि ॐवंकारे च सुस्थितं ॥ १७० ॥

अन्वयार्थ—(धर्मध्यानं च) धर्मध्यानका ही (आराध्यं) आराधन करने योग्य है (ॐवंकारे च) वह ॐकारके भीतर (ह्रींकारे) ह्रींकारके भीतर (श्रींकारे च) तथा श्रींकारके भीतर (सुस्थितं) भले-प्रकार स्थित है (त्रि) ये तीनों (ॐवंकारे च) ॐकारमें ही (सुस्थितं) भलेप्रकार प्राप्त हैं। ॥१७०॥

विशेषार्थ—यहां धर्मध्यानके सेवनेकी प्रेरणा की है, यद्यपि धर्मध्यान वास्तवमें अपने ही शुद्ध आत्मामें स्थिति स्वरूप है, अपने आत्माका निर्विकल्प भाव है तथापि शिष्यको उसका अभ्यास करनेके लिये किन्हीं शब्दोंका आलम्बन लेना पड़ता है। उसके लिये यहां कहा है कि वे तीन पद हैं। ॐ, ह्रीं, श्रीं। पहले बताया जाचुका है कि-ॐ में अरहंतादि पांच परमेष्ठी गर्भित हैं, ह्रींमें चौवीस तीर्थंकर गर्भित हैं तथा श्रींमें परमैश्वर्य युक्त अरहंत व सिद्ध परमेष्ठी गर्भित हैं या किसी अपेक्षा अन्य तीन परमेष्ठी गर्भित हैं। इन तीनों पदोंका जो भाव है वह एक ॐमें भलेप्रकार गर्भित है। अर्थात् चाहे तीनों पदोंका अलग २ ध्यान करो या तीनोंको मिलाकर करो या मात्र एक ॐ हीका करो सर्व एक ही भावको झलकानेवाले हैं। निश्चयसे शुद्ध आत्मा ही अरहंत है। शुद्ध आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध आत्मा ही आचार्य है, शुद्ध आत्मा ही उपाध्याय है, शुद्ध आत्मा ही साधु है, शुद्ध आत्मा ही श्री ऋषभादि महावीर पर्यंत चौवीस तीर्थंकर हैं। ध्याताको अपना लक्ष्य शुद्ध आत्माकी तरफ रखके मनकी चंचलताको मेटनेके लिये, इन पदोंका आलम्बन लेकर इनको या तो जपना चाहिये या हृदयस्थानमें या दो भौंहोंके मध्यमें या नाभिकमलमें या मस्तकपर या नाशिकाकी नोकपर विराजमान करके इनको ज्योति-स्वरूप चमकता हुआ देखना चाहिये। फिर उसके द्वारा शुद्ध आत्मा पर पहुंच जाना चाहिये। वहांसे उपयोग हटे तब फिर इसी पदको देखना चाहिये। कभी कभी पांच परमेष्ठीके २४ तीर्थंकरोंके गुणोंको विचारते रहना चाहिये। शुद्धात्मामें जब उपयोग न रमे तब ये सब कार्य आलंबनरूप हैं। पुनः पुनः आलम्बन लेते हुए पुनः पुनः शुद्धात्मामें पहुंच जाना चाहिये। इसी रीतिसे आत्माका ध्यान करना चाहिये। यही धर्मध्यान है।

श्लोक—धर्मध्यानं त्रिलोकं च, लोकालोकं च शाश्वतं।
कुज्ञानं त्रिविनिर्मुक्तं, मिथ्या माया न दिष्टते ॥१७१॥

अन्वयार्थ—(धर्मध्यानं) धर्म ध्यान (त्रिलोकं च) तीन लोकका स्वरूप विचारना है (लोकालोकं च शाश्वतं) व अविनाशी लोकालोकका स्वरूप विचारना है (कुज्ञानं त्रिविनिर्मुक्तं) तीन मिथ्याज्ञानसे रहित है (मिथ्या माया न दिष्टते) वहां मिथ्यात्व व मायाचार नहीं दिखलाई पड़ते हैं।

विशेषार्थ—धर्मका क्या स्वरूप है सो ऊपर कहा है, शुद्ध आत्माके स्वरूपका ध्यान करना यह असली धर्मध्यान है। जब ध्यानमें उपयोग न लगे तब तीन लोकके स्वरूपका विचारना भी धर्मध्यान है। जैसे यह सोचना कि अधोलोकमें सात नरक हैं जहां तीव्र पापके फलसे उपजता है। पहली रत्नप्रभा पृथ्वीके खर भाग व पंक भागमें भवनवासी तथा व्यंतरोंके निवासस्थान हैं। मध्य-लोकमें असंख्यात द्वीप समुद्र एक दूसरेको वेढे हुए हैं व विस्तारमें एक दूसरेसे दूने २ हैं। इनमेंसे जंबूद्वीप, धातुकी खंड तथा पुष्करार्द्ध इन ढाई द्वीपको मानवलोग कहते हैं, यहींसे मानव धर्म साधन कर मोक्ष या स्वर्ग जाते हैं। असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें युगलिये पशु पैदा होते हैं, वहीं जघन्य भोग-भूमि हैं। विदेह क्षेत्रोंमें सदा ही चौथा काल रहता है। वहां मोक्ष होना सदा चलता रहता है। ज्योतिष पटल मध्यलोककी ही हदमें है। भूमिसे ७९० योजन ऊपर जाकर है। ऊर्ध्वलोकमें १६ स्वर्ग, नौ ग्रैवेयिक, नौ अनुदिश, पांच अनुत्तर विमान फिर सिद्धक्षेत्र है, जहां कर्मोंसे मुक्त होकर शरीर रहित परमात्मा विराजमान रहते हैं। सर्वत्र लोकमें स्थावर जीव भरे हैं। त्रस जीव लोकके मध्य त्रस नाड़ीमें ही है। इस चतुर गतिमय संसारमें जीव पाप पुण्यके द्वारा दुःख व सुख उठाते हैं जो शुद्ध होते हैं वे मुक्तिमें विराजते हैं, इस तरह तीन लोकका स्वरूप विचारना धर्मध्यान है। लोका-लोकके स्वरूपमें जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश इन छः अविनाशी मूल द्रव्योंका विचार करना चाहिये जिनसे यह लोकाकाश अलोकाकाश नाम पड़ा है। लोकाका-शमें छहों द्रव्य हैं, बाहर मात्र आकाश है। छः द्रव्योंकी पर्यायें स्वाभाविक या जीव पुद्गलोंकी वैभा-विक पर्यायें भी हुआ करती हैं। पर्यायोंकी अपेक्षा यह विश्व अनित्य है परन्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है। इसे न किसीने बनाया न इसका सर्वथा नाश होगा। यह अनादि अनंत है। मिथ्या मति, श्रुत अवधिपना जहां नहीं है वहीं धर्म है क्योंकि वहीं सम्यग्दर्शन है। वास्तवमें सम्यग्दर्शन ही धर्मका मुख्य अंग है। जहां परिणाममें न मिथ्यात्व हो और न माया शल्य हो, मात्र आत्मोन्नतिके लिये सरलभावसे शुद्धात्मतत्वका अनुभव हो व उसके अनुकूल द्रव्योंका, तत्वोंका, पदार्थोंका विचार हो, कर्मके उदय व बंधका विचार हो, वह सब धर्मध्यान है यही करने योग्य है।

श्लोक—उत्तमक्षमा उत्पायंते, उत्तम तत्व प्रकाशकं ।
अमलं अप्प सद्भावं, उत्तमधर्म च निश्चयं ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थ—(उत्तम क्षमा उत्पायंते) जहां उत्तम क्षमा पैदा हो, जो (उत्तम तत्व प्रकाशकं) उत्कृष्ट आत्मतत्वका प्रकाशक हो, जो (अमलं) रागादि मल रहित हो (अप्पसद्भावं) जो आत्माका स्वभाव हो वही (निश्चयं च उत्तम धर्मं) निश्चयसे उत्तम धर्म है ।

विशेषार्थ—यहां उत्तम धर्म या निश्चय धर्मका स्वरूप कहते हैं । जहां परिणामोंमें ऐसी आत्म-तल्लीनता हो व ऐसा उपेक्षा भाव हो कि परिणामोंकी भूमिका उत्तम क्षमामयी बन गई हो । क्रोधके कारण मिलनेपर भी क्रोध न उपजे । कोई सहस्रों दुर्वचन कहैं कोई मारे पीटे अपमान करे, तौभी वज्रके समान स्थिर रहे, परम समताभाव धारी हों, जहां कंचन लोष्ट समान हो, शत्रु मित्र समान हो, जीवन मरण समान हो, जहां श्रुतज्ञानके बलसे भावश्रुतज्ञानको समझ लिया हो । सर्व द्वाद-शांगका सार शुद्धात्मा है, उसके अनुभवका प्रकाश होगया हो, राग द्वेषादि मलीन भावोंका राग छूट गया हो–अर्थात् आत्माका ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय स्वभावमें एकतानता हो, श्रुतज्ञानके द्वारा स्वसंवेदन प्रत्यक्षपने ज्ञात हो वही निश्चय उत्तम धर्म है । श्री योगेन्द्राचार्य योगसारमें कहते हैं—

रायरोस वे परिहरई जो अप्पा णिवसेइ । सो धम्मु वि जिणुउत्तियउ जो पंचम गइ देइ ॥ ४७ ॥

भावार्थ—राग द्वेष दोनोंको छोड़कर जो आत्मामें निवास करता है वही धर्मको सेवन करता है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है । तथा वही पंचमगति मोक्षको पासक्ता है ।

श्लोक—मिथ्यासमय मिथ्यात्व, रागादिमलवर्जितः ।
असत्यं अनृत न दिष्टंते, अमलं धर्म सदा बुधैः ॥ १७३ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्या समय) मिथ्या आगम व मिथ्या पदार्थ (मिथ्यात्व) मिथ्यादर्शन व (रागादि मल वर्जितः) रागादि मलसे रहित जहां (असत्यं अनृत न दिष्टंते) असत्य व मिथ्यात्व नहीं दिखलाई पडे ऐसा (अमलं धर्म) निर्मल धर्म (सदा) सदा ही (बुधैः) बुद्धिमानोंसे माना गया है ।

विशेषार्थ—शुद्ध धर्म वही है जिस धर्ममें सत्य पदार्थोंका कथन हो, मिथ्या एकांत पदार्थोंका

कथन न हो व जिसका आगम मिथ्या कथनसे रहित हो, यथार्थ अनेकांतका प्ररूपक हो व जिस धर्ममें किसी मिथ्यात्वकी पुष्टि न हो, न अगृहीतकी न गृहीतकी, न जिसमें रागद्वेष क्रोधादि कषायकी तरफ झुकाव हो, किन्तु जहां वीतराग भावकी दृढ़ता हो, जिसमें असत्य न हो व जहां अनित्यको अनित्य व नित्यको नित्य जैसाका तैसा बताया गया हो, ऐसा निर्मल धर्म ही यथार्थ धर्म है। सम्यग्ज्ञानकी पुष्टि करनेवाला ही धर्म होना चाहिये। जिसका लक्षण रत्नकरण्डमें कहा है—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्। निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ ४२ ॥

भावार्थ—आगमके ज्ञाता उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं जो ज्ञान पदार्थको न कम कहे न अधिक कहे न विपरीत कहे न संदेहयुक्त कहे किंतु जैसा उसका स्वरूप कहे वैसा ही कहे। ऐसा सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण धर्म ही सच्चा धर्म है।

श्लोक—धर्मं उत्तम धर्मस्य, मिथ्यारागादि खंडितं।
चेतना चेतनं द्रव्यं, शुद्धतत्त्वप्रकाशकं ॥१७४॥

अन्वयार्थ—(धर्मं) धर्म वही है जो (उत्तम धर्मस्य) उत्तम श्रेष्ठ रत्नत्रय धर्मका पोषक हो (मिथ्यारागादि खंडितं) जिसमें मिथ्यात्व व राग द्वेषादि विभाव भावोंका खंडन हो (चेतना चेतनं द्रव्यं) जो चेतन तथा अचेतन द्रव्योंको यथार्थ झलकाता हो (शुद्धतत्वप्रकाशकं) तथा जो शुद्ध तत्वका प्रकाश करनेवाला हो।

विशेषार्थ—मोक्ष शुद्ध आत्मीक परिणतिको कहते हैं। उनकी प्रगटताका मार्ग शुद्धात्मानुभव है। यही निश्चय उत्तम धर्म है। जिस धर्मका उद्देश्य स्वात्मानुभव हो वही माननीय धर्म है। जिस धर्ममें सम्यग्दर्शनकी पुष्टि हो तथा मिथ्यात्वका खंडन हो, वीतरागभावकी दृढता हो व राग द्वेषादि विभावोंका निषेध हो, बहुत अकाट्य युक्तियोंसे जहां मिथ्यात्वका व कषायका खंडन किया गया हो तथा जहां चेतनाको अचेतन पांच द्रव्योंसे भिन्न दिखलाया गया हो। आत्माको द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म रागद्वेषादि व नोकर्म शरीरादिसे भिन्न बताया हो, तथा पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल तथा आकाशसे भिन्न लक्षणवाला बताया हो। आत्माके शुद्ध तत्वके प्रकाशका उपाय बतानेवाला हो, अतीन्द्रिय आनन्दकी कुंजी देनेवाला हो वही सच्चा धर्म है। यह

लक्षण सर्वज्ञ वीतराग अरहंत कथित जिनधर्ममें भलेप्रकार गठित होते हैं। बुद्धिमानको परीक्षा करके धर्म व कुधर्मका निर्णय कर लेना चाहिये। जिनकी परीक्षाकी शक्ति न हो वह परीक्षावानके बचनानुसार धर्मपर श्रद्धा लावें। हमारा भंडार गुप्त है, हमारा अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख स्वभाव सब हमारे ही पास है। इसकी प्रगटताकी जो कुंजी है वही सच्चा धर्म है। संसारका ममत्व हटानेवाला ही सच्चा धर्म है। कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

ममत्वाज्जायते लोभो, लोभाद्रागश्च जायते। रागाच्च जायते द्वेषो, द्वेषादुःखपरम्परा ॥ ११३ ॥

निर्ममत्वं परं तत्वं निर्ममत्वं परं सुखं। निर्ममत्वं परं बीजं, मोक्षस्य कथितं बुधैः ॥ ११४ ॥

भावार्थ—ममतासे लोभ पैदा होता है, लोभसे राग उत्पन्न होता है, रागसे द्वेष होता है, द्वेषसे दुःखकी संतान चलती है। ममता रहित परम तत्व है, ममता रहित पना परम सुख है, ममता रहित पना मोक्षका श्रेष्ठ उपाय है, ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है। जिन्होंको आत्मीक आनन्दकी प्राप्तिकी भावना है उनके शुद्धोपयोगमई भावको असली धर्म समझना चाहिये।

धर्मध्यानका स्वरूप।

श्लोक—धर्म अर्थति अर्थ च, तीअर्थ वेदनं युतं।
षट्कमलं त्रि ॐकारं, धर्मध्यानं च संयुतं ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थ—(धर्म) धर्म (अर्थ च अर्थति) प्रयोजनका उद्देश्यको लिये हुए होता है (तीअर्थ) तीन अर्थ जो रत्नत्रय है उसकी (वेदनं) अनुभूति (युतं) सहित है। (षट्कमलं) छः अक्षररूप ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः कमल सहित व (त्रि ॐकारं) तीन ॐ सहित रत्नत्रयरूप ऐसे (धर्मध्यानं च संयुतं) धर्मध्यान सहित है।

विशेषार्थ—धर्म वही है जो अपने प्रयोजनके लिये हुए हो, वह प्रयोजन यह है कि निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यग्चारित्रमई तीनों भावोंका एक साथ अनुभव किया जावे, इस अनुभवका सहकारी कारण धर्मध्यान है।

उस धर्म-ध्यानके अनेक उपाय हैं। एक उपाय यह है कि एक कमल हृदयस्थानमें छः
पत्तोंका विचारा जावे। और उसके हरएक पत्तेपर क्रमशः-ॐ ह्राँ, ह्रीं, ह्रें, ह्रौं, ह्रः, स्थापित करके
अथवा अरहंत सिद्ध इन छः अक्षरोंको विराजमान करके इन मंत्र पदोंके द्वारा शुद्धात्माका ध्यान
किया जावे अथवा तीन पत्रका कमल विचार करके हरएक पत्तेपर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः, ॐ सम्यग्चारित्राय नमः, ऐसे तीन पद रखकर इनके द्वारा ध्यान करें। इस श्लोकका
जो भाव समझमें आया सो लिखा गया है, विशेष ज्ञानी अधिक विचार कर लेवें।

श्लोक—धर्मं अप्प सद्भावं, मिथ्या माया निकन्दनं।
शुद्ध तत्वं च आराध्यं, ह्रींकारं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मं) धर्म (अप्प सद्भावं) आत्माका यथार्थ स्वभाव है (मिथ्या माया निकन्दनं) जहां न मिथ्यात्व है न मायाचार है (शुद्ध तत्वं च आराध्यं) जहां शुद्ध आत्मीक तत्वकी आराधना है व (ह्रींकारं) जहां ह्रींका ध्यान है जिस ह्रींमें (ध्रुवं) अविनाशी (ज्ञानमयं) ज्ञानमई तत्व स्थापित है।

विशेषार्थ—हरएक आत्माका अपना जो यथार्थ द्रव्यका स्वभाव है वही धर्म है। अर्थात् यह आत्मा स्वभावसे शुद्ध सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अविनाशी अमूर्तीक कर्म कलंकसे रहित परम निर्मल है। इसी शुद्ध स्वभावका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है व इसीका आचरण सम्यक्चारित्र है, यही यथार्थ धर्म है, इसपर लक्ष्य रखते हुए जिस उपायसे इसका ध्यान होसके वह सब उपाय भी कर्तव्य हैं। उसीको धर्मध्यान कहते हैं। इस शुद्ध आत्मस्वभावमई धर्ममें मिथ्यात्वका व मायाचारका नाम नहीं है। जहां अभिप्राय संसार सम्बन्धी रागद्वेष हो, विषय कषायकी पुष्टि हो, शुद्ध आत्मानन्दके लाभके सिवाय अन्य कोई स्वर्गादिक सुखका पाना हो वहीं मिथ्यात्वकी गन्ध कही जाती है, अथवा जहां कोई मायाचार ही हो, मात्र किसी लौकिक प्रयोजनके लिये दूसरोंपर असर डालनेके लिये, धर्मका आचरण भी पाला जाता हो व धर्मध्यानका अभ्यास किया जाता हो, वह भी सच्चा धर्म नहीं है। धर्म वहीं है जहां आराधन करने योग्य एक शुद्ध आत्मीक तत्व हो। लक्ष्य बिंदू यही हो। इसी लक्ष्यको रखकर व्रत, उपवास, जप, तप, ध्यान, धारणा, समाधि आदिका साधन किया जाता हो। धर्मध्यानके उपायमें ह्रींका

लक्षण सर्वज्ञ वीतराग अरहंत कथित जिनधर्ममें अलेप्रकार गठित होते हैं। बुद्धिमानको परीक्षा करके धर्म व कुधर्मका निर्णय कर लेना चाहिये। जिनकी परीक्षाकी शक्ति न हो वह परीक्षावानके वचनानुसार धर्मपर श्रद्धा लावें। हमारा भंडार गुप्त है, हमारा अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख स्वभाव सब हमारे ही पास है। इसकी प्रगटताकी जो कुंजी है वही सच्चा धर्म है। संसारका ममत्व हटानेवाला ही सच्चा धर्म है। कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

ममत्वाज्जायते लोभो, लोभाद्रागश्च जायते। रागाच्च जायते द्वेषो, द्वेषाद्दुःखपरम्परा ॥ २३३ ॥

निर्ममत्वं परं तत्वं निर्ममत्वं परं सुखं। निर्ममत्वं परं बीजं, मोक्षस्य कथितं बुधैः ॥ २३४ ॥

भावार्थ—ममतासे लोभ पैदा होता है, लोभसे राग उत्पन्न होता है, रागसे द्वेष होता है, द्वेषसे दुःखकी संतान चलती है। ममता रहित परम तत्व है, ममता रहित पना परम सुख है, ममता रहित पना मोक्षका श्रेष्ठ उपाय है, ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है। जिन्होंको आत्मीक आनन्दकी प्राप्तिकी भावना है उनके शुद्धोपयोगमई भावको असली धर्म समझना चाहिये।

धर्मध्यानका स्वरूप।

श्लोक—धर्म अर्थति अर्थ च, तीअर्थं वेदनं युतं।
षट्कमलं त्रि ॐकारं, धर्मध्यानं च संयुतं ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मं) धर्म (अर्थ च अर्थति) प्रयोजनका उद्देश्यको लिये हुए होता है (तीअर्थं) तीन अर्थ जो रत्नत्रय है उसकी (वेदनं) अनुभूति (युतं) सहित है। (षट्कमलं) छः अक्षररूप ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः कमल सहित व (त्रि ॐकारं) तीन ॐ सहित रत्नत्रयरूप ऐसे (धर्मध्यानं च संयुतं) धर्मध्यान सहित है।

विशेषार्थ—धर्म वही है जो अपने प्रयोजनके लिये हुए हो, वह प्रयोजन यह है कि निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यग्चारित्रमई तीनों भावोंका एक साथ अनुभव किया जावे, इस अनुभवका सहकारी कारण धर्मध्यान है।

उस धर्म-ध्यानके अनेक उपाय हैं। एक उपाय यह है कि एक कमल हृदयस्थानमें छः पत्तोंका विचारा जावे। और उसके हरएक पत्तेपर क्रमशः-ॐ ह्रां, ह्रीं, ह्रें, ह्रौं, ह्रः, स्थापित करके अथवा अरहंत सिद्ध इन छः अक्षरोंको विराजमान करके इन मंत्र पदोंके द्वारा शुद्धात्माका ध्यान किया जावे अथवा तीन पत्रका कमल विचार करके हरएक पत्तेपर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः, ॐ सम्यग्चारित्राय नमः, ऐसे तीन पद रखकर इनके द्वारा ध्यान करें। इस श्लोकका जो भाव समझमें आया सो लिखा गया है, विशेष ज्ञानी अधिक विचार कर लेवें।

श्लोक—धर्मं अप्प सद्भावं, मिथ्या माया निकन्दनं।
शुद्ध तत्वं च आराध्यं, ह्रींकारं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मं) धर्म (अप्प सद्भावं) आत्माका यथार्थ स्वभाव है (मिथ्या माया निकन्दनं) जहां न मिथ्यात्व है न मायाचार है (शुद्ध तत्वं च आराध्यं) जहां शुद्ध आत्मीक तत्वकी आराधना है व (ह्रींकारं) जहां ह्रींका ध्यान है जिस ह्रींमें (ध्रुवं) अविनाशी (ज्ञानमयं) ज्ञानमई तत्व स्थापित है।

विशेषार्थ—हरएक आत्माका अपना जो यथार्थ द्रव्यका स्वभाव है वही धर्म है। अर्थात् यह आत्मा स्वभावसे शुद्ध सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अविनाशी अमूर्तीक कर्म कलंकसे रहित परम निर्मल है। इसी शुद्ध स्वभावका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है व इसीका आचरण सम्यक्चारित्र है, यही यथार्थ धर्म है, इसपर लक्ष्य रखते हुए जिस उपायसे इसका ध्यान होसके वह सब उपाय भी कर्तव्य हैं। उसीको धर्मध्यान कहते हैं। इस शुद्ध आत्मस्वभावमई धर्ममें मिथ्यात्वका व मायाचारका नाम नहीं है। जहां अभिप्राय संसार सम्बन्धी रागद्वेष हो, विषय कषायकी पुष्टि हो, शुद्ध आत्मानन्दके लाभके सिवाय अन्य कोई स्वर्गादिक सुखका पाना हो वहीं मिथ्यात्वकी गन्ध कही जाती है, अथवा जहां कोई मायाचार ही हो, मात्र किसी लौकिक प्रयोजनके लिये दूसरोंपर असर डालनेके लिये, धर्मका आचरण भी पाला जाता हो व धर्मध्यानका अभ्यास किया जाता हो, वह भी सच्चा धर्म नहीं है। धर्म वहीं है जहां आराधन करने योग्य एक शुद्ध आत्मीक तत्व हो। लक्ष्य बिंदू यही हो। इसी लक्ष्यको रखकर व्रत, उपवास, जप, तप, ध्यान, धारणा, समाधि आदिका साधन किया जाता हो। धर्मध्यानके उपायमें ह्रींका

ध्यान भी है। इसका ध्यान श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थके आधारसे इस प्रकार करे कि मुखमें एक कमलका विचार करे जो आठ पत्तोंका हो, उसकी कर्णिकाके मध्यमें ह्रींको उज्वल चमकता हुआ विचारे फिर उसीको कमलके हरएक पत्तेपर घूमता हुआ विचारे, फिर उसे आकाशमें चलता हुआ विचारे फिर तालुके छिद्र द्वारा अमृत सिंचन करता हुआ भौंहोंके मध्यमें तिष्ठता ध्यावे। इस तरह इस माया वर्णके चिंतवन करे परन्तु अपना लक्ष इसके वाचक ज्ञानमई अविनाशी आत्माके ही ऊपर रक्खे। इस मंत्रके द्वारा अपने शुद्ध आत्माका ही ध्यान करे, मनको रोकनेके लिये ह्रींका सहारा उपयोगी है।

श्लोक—पदस्थं पिंडस्थं येन, रूपस्थं व्यक्त रूपयं ।
चतुर्ध्यानं च आराध्यं, शुद्ध सम्यक्दर्शनं ॥१७७॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसके (पदस्थं पिंडस्थं) पदस्थ पिंडस्थ (रूपस्थं) रूपस्थ (व्यक्त रूपयं) रूपातीत (चतुर्ध्यानं) ये चार प्रकारका ध्यान (आराध्यं) आराधन करने योग्य हैं। वही (शुद्ध सम्यग्दर्शनं) शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी है।

विशेषार्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी भव्य जीव आत्मकल्याणके लिये, मनकी चंचलताको रोकनेके लिये, अपना शुद्ध तत्वका भाव रखके चार प्रकारके धर्मध्यानका अभ्यास करता है—

(१) पदस्थ धर्मध्यान वह है जहां पदोंको किसी स्थानपर विराजमान करके उसके ऊपर मनको रोका जावे और वहीं शुद्धात्माकी भावना की जावे। (२) पिंडस्थ ध्यान वह है जहां अपने शरीरके भीतर अपने ही आत्माको सर्व कर्म कलंक रहित व शरीरादि रहित ध्याया जावे। (३) रूपस्थ ध्यान वह है जहां अरहंतका स्वरूप विचार किया जावे। (४) रूपातीत ध्यान वह है जहां सिद्ध भगवानका स्वरूप ध्याया जावे। अरहंत व सिद्धके स्वरूपके द्वारा अपना ही स्वभाव ध्यानमें लिया जावे। शुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव सर्व कामनाओंसे रहित होकर शांत स्वभावमई आत्माकी परिणतिको करनेके लिये इस तरह धर्मध्यानका अभ्यास करते हैं। सम्यक्त होनेके पीछे यथाख्यात चारित्र व केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिये ध्यानका अभ्यास जरूरी है। यद्यपि इस पंचमकालमें इस भरतक्षेत्रमें शुक्लध्यान व आठवां गुणस्थान नहीं होसक्ता है तथापि धर्मध्यान व सातवां गुणस्थान होसक्ता है।

जैसा श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासनमें कहते हैं—

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति । तेऽर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयं ॥ ८१ ॥
अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः । धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनां ॥ ८३ ॥

भावार्थ—जो कोई कहते हैं कि इस कालमें ध्यान नहीं होसक्ता वे अर्हतके मतके ज्ञाता नहीं हैं, वे अपने अज्ञानको प्रगट करते हैं। तीर्थंकरोंने इस कालमें मात्र शुक्लध्यानका निषेध किया है। श्रेणीके पहले रहनेवालोंके लिये धर्मध्यान कहा गया है। मुमुक्षुको उद्यम करके धर्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

श्लोक—पदस्थं पद विंदंते, अर्थं सर्वार्थ शाश्वतं ।
व्यंजनं तत्वसार्थं च, पदाथ तत्र संजुतं ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थ—(पदस्थं) पदस्थ धर्मध्यान (पद) पदोंको (विंदंते) ध्यानमें लेता है। (अर्थं) उसके भावको तथा (सर्वार्थ शाश्वतं) अविनाशी सर्व पदार्थको विचारता है। (व्यंजनं) शब्दको (तत्वसार्थ च) तत्व और अर्थके साथ ध्याता है (तत्र) वहां (पदार्थ संजुतं) पदार्थका संयोग मिलाता है।

विशेषार्थ—अक्षरोंके समूहको शब्द व शब्दके समूहको पद कहते हैं। जहां पदोंको अथवा शब्दको स्थापित करके उसके ऊपर चित्त रोका जावे, उन पदोंका व शब्दोंका क्या अर्थ है उसको विचारा जावे, उस अर्थसे जिन २ अविनाशी द्रव्योंका बोध होता हो तो उनको ध्यानमें लिया जावे, उनमेंसे त्यागने योग्यको त्यागा जावे व ग्रहण करने योग्य एक आत्मीय पदार्थको ग्रहण किया जावे। पदों या शब्दोंके आलम्बनको लेकर जहां आत्माका ध्यान किया जावे वह पदस्थ ध्यान है।

श्री ज्ञानार्णवमें कहा है:—

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते । तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥ १-१९ ॥

भावार्थ—योगीजन पवित्र पदोंका आलम्बन लेकर जो ध्यान करते हैं उसको अनेक नयोंके ज्ञाता आचार्योंने पदस्थ ध्यान कहा है।

जैसे मंत्रराज ह्रीं शब्द है। इसका योगी कुंभक प्राणायामसे अर्थात् पवनको व मनको स्थिर करके पहले दोनों भौंहोंके बीच चमकता हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिके समान ध्यावे फिर मुखकमलमें

प्रवेश करता हुआ तालुओंके छेदसे गमन करता हुआ अमृतमय जल वर्षाता हुआ नेत्रकी पलकोंपर चमकता हुआ फिर मस्तकके बालोंपर आता हुआ फिर ज्योतिषचक्रके भीतर भ्रमण हुआ फिर चन्द्रमाके पाससे निकलता हुआ, दिशाओंमें संचरता हुआ, आकाशमें उछलता हुआ, मोक्ष-स्थानको स्पर्श करता हुआ ध्यावे, फिर क्रमसे लाकर उसको भौंहोंके बीचमें या नाशिकाके अग्र-भागमें विराजमान करके ध्यावे। यह मंत्रराज श्री जिनेन्द्र भगवानका व उनकी शुद्ध आत्माका बोध करानेवाला है। जैसा ज्ञानार्णवमें कहा है—

मंत्रमूर्ति समादाय देवदेवः स्वयं जिनः। सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद् व्यवस्थितः ॥ १२ ॥

भावार्थ—यह मंत्रराज है सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शांत, देवाधिदेव जिनेन्द्रको स्वयं साक्षात् बतानेवाला है, इसके ध्यानके बलसे अरहंतको ध्यावे फिर अरहंतके शुद्ध आत्माको ध्यावें, उनके शरीरादिसे लक्ष्य हटा लेवे फिर अपने शुद्धात्मापर लक्ष्य देवे, इसी तरह और भी पदोंका ध्यान करे।

श्लोक—कुज्ञानं त्रि न पश्यंते, माया मिथ्या विखंडितं।
व्यंजनं च पदार्थं च, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थ—(त्रि कुज्ञानं) तीन मिथ्याज्ञान कुमति कुश्रुत व विभंग अवधि (न पश्यंते) जहां न दिखलाई पड़े (माया मिथ्या विखंडितं) मायाचार व मिथ्यात्वका जहां खंडन होगया हो वहां (व्यंजनं च) शब्दको ही (पदार्थं च) व पदके अर्थको ही (सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं) ज्ञानमयी अविनाशी आत्मीक पदार्थके साथ ध्यावै।

विशेषार्थ—पदस्थ ध्यानके ध्याताको सम्यग्दृष्टी होना योग्य है तब ही वह ध्यान मोक्षमार्ग है व तब ही वह धर्मध्यान है। उस ध्यानके करनेवालेमें कुमति कुश्रुत व कुअवधि न हो और न उसमें कोई शल्य हो न मायाचार हो न मिथ्यात्व हो और न निदान भाव हो। निर्मल सरल भाव करके ध्यान किया जावे। जिस शब्दका व जिस पदका आलम्बन लिया जावे उससे जिस पदार्थका बोध हो उसको विचारा जावे। मुख्यतासे अविनाशी ज्ञानमय आत्मापर लक्ष्य रक्खा जावे। जैसे णमोकार मंत्रका ध्यान इसप्रकार किया जावे-एक कमल आठ पत्रोंका हृदयमें या नाभिमें या मुखमें

विचार किया जावे जो चंद्रमाके समान चमकता हुआ सफेद हो, उसकी बीचकी कर्णिकापर सात अक्षरका पद "णमो अरहंताणं" ध्यावे फिर चार दिशाओंके चार पत्रोंपर "णमो सिद्धाणं" ऊपरको, फिर बगलोंमें "णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं", नीचे "णमो लोए सव्वसाहूणं" फिर चार विदिशाओंके पत्रोंपर सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः, इन चार पदोंको ध्यावे। पहले इन नौ पदोंको पत्तोंपर लिखा हुआ विचार ले फिर क्रमसे एक एकको ध्यावे-एक एक पर चित्तको रोके, उस पदके अर्थको विचारे, फिर उसके भावको विचारे। जैसे "णमो अरहंताणं" में अर्हंतोंका व तीर्थंकरोंका स्वरूप विचारे, विचारते हुए उनके शरीर व पुद्गल परसे चित्त हटाकर उनके शुद्धात्मापर चित्त लेजावे फिर अपने आत्मापर आजावे। मनको जमाता हुआ ध्यावे। इसी तरह "सम्यग्दर्शनाय नमः" में व्यवहारनयसे देव, शास्त्र, गुरुका व सात तत्वोंका स्वरूप विचार जावे फिर निश्चयनयसे पुद्गल कर्मसे भिन्न शुद्ध आत्मापर लक्ष्य दे, फिर अपनी ही आत्मापर आजावे, इस तरह धीरे २ नौ पदोंके द्वारा अपने आत्माको ही ध्यानमें लेकर शुद्ध भावना सहित ध्यावे यह पदस्थ ध्यानका एक प्रकार है।

श्लोक—पदस्थं शुद्धपद सार्थं, शुद्धतत्त्व प्रकाशकं ।



शल्यत्रयं निरोधं च, माया मिथ्या न दिष्टते ॥१८०॥

अन्वयार्थ—(पदस्थं) पदस्थ ध्यान (शुद्धपद सार्थं) शुद्ध पद अर्थ सहितका होता है। (शुद्धतत्व प्रकाशकं) यह शुद्ध आत्मतत्वका प्रकाशक होता है। (शल्यत्रयं निरोधं च) तीन शल्य जहां नहीं होती है (माया मिथ्या न दिष्टते) वहां माया व मिथ्यात्व दृष्टिगोचर नहीं होता है।

विशेषार्थ—शुद्ध शब्द जिसका अर्थ हो ऐसे शब्द व शब्दोंके समूह रूप पदोंको विराजमान करके पदस्थ ध्यान किया जाता है। इस ध्यानका हेतु यही होता है कि शुद्ध आत्मतत्वका अनुभव होजावे। ऐसे ध्यानीके भावोंमें माया मिथ्या निदान ये तीन शल्य नहीं होती हैं। वह सर्व प्रकार मायाचार व मिथ्या वासनासे रहित होकर मात्र शुद्धोपयोगके लिये पदस्थ ध्यान करता है। जैसे एक कमल हृदयस्थानमें विराजमान किया जावे उसके १६ पत्र हों उनपर १६ अक्षरी मंत्र एक एक अक्षरके क्रमसे लिखा हो वह है "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नमः" इसका ध्यान करे

फिर इसका अर्थ विचारे फिर पांचों परमेष्ठीका स्वरूप अलग २ विचार जावे फिर उनमें निश्चयनयसे एक शुद्धात्माको देखे, फिर अपने शुद्ध तत्वको ध्यावे। इसी तरह और भी पदोंका ध्यान करें।

श्लोक—पदस्थं लोक लोकांतं, लोकालोक प्रकाशकं।
व्यंजनं शाश्वतं सार्थं, ॐकारं च विंदते ॥ १८१ ॥

अन्वयार्थ—(पदस्थं) यह पदस्थ ध्यान (ॐकारं व्यंजनं सार्थं) ॐ शब्दको अर्थ सहित (लोक लोकांतं) लोकके अंततक झलकनेवाला व (लोकालोक प्रकाशकं) लोकालोकका प्रकाश करनेवाला व (शाश्वतं) अविनाशी रूप व अविनाशी पदार्थको प्रकाशक (विंदते) ध्याता है।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें ॐ के ध्यान करनेपर लक्ष्य दिया है। ॐ को प्रणव मंत्र कहते हैं। ॐ शब्दको ध्यान करनेवाला हृदयकमलके मध्यमें या नाशिकाकी नोकपर या भौंहोंके मध्यमें परम तेजस्वी, चंद्रमाके समान गौर वर्ण चमकता हुआ ध्यावे। जिसकी दीप्ति लोकके अंत तक सर्वत्र फैल रही है ऐसा विचारे। फिर इसका अर्थ विचारे कि इसमें अरहंत आदि पांच परमेष्ठी गर्भित हैं। फिर उनमेंसे निश्चयनयसे लोकालोक प्रकाशक एक शुद्ध आत्मतत्वको ग्रहण करले। फिर अपने आत्मापर लक्ष्य देवे। इस तरह ॐ का ध्यान करे। ॐ के द्वारा अविनाशी अपने आत्मापर आजावे। इसी तरह अन्य पदोंका भी ध्यान करे। यह ॐ शब्द परम्परासे चला आया हुआ एक अविनाशी पद है।

श्लोक—अंगपूर्वं च जानंते, पदस्थं शाश्वतं पदं।
अनृतअचेत त्यक्तं च, धर्मध्यानमयं ध्रुवं ॥ १८२ ॥

अन्वयार्थ—(पदस्थं शाश्वतं पदं) पदस्थ ध्यानमें नित्य चले आए हुए पदोंको विराजमान करनेसे व ध्यान करनेसे (अंगपूर्वं च जानंते) ११ अंग १४ पूर्वका ज्ञान होजाता है। परन्तु वह विचार (अनृत अचेत त्यक्तं च) मिथ्यात्व व अज्ञानसे शून्य हो तथा (ध्रुवं धर्मध्यानमयं) निश्चल धर्मध्यानमई हो।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें वर्णमातृकाका ध्यान करनेका संकेत किया गया है। श्री ज्ञानार्णवके अनुसार उसकी विधि यह है कि अपनी नाभिमें १६ पत्रोंका कमल सफेद वर्णका विचार करे और

उनके ऊपर एक एक अक्षर पीतवर्णका इन सोलह स्वरोंमें संक्रमणसे लिख ले। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। इन अक्षरोंको क्रमसे पत्तोंपर फिरता हुआ विचारे। दूसरा कमल अपने हृदयस्थानमें सफेद रंगका चौवीस पत्रोंका विचार करे। कर्णिकाको लेकर २५ स्थानोंपर पीले रंगके २५ अक्षर लिखे हुए विचारे। क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म। फिर तीसरा कमल मुख स्थानपर आठ पत्तोंका सफेद रंगका विचारे। इनके हरएक पत्तेपर क्रमसे पीत रंगका लिखा हुआ य र ल व श ष स ह इन आठ अक्षरोंको क्रमसे घूमता हुआ विचारे। ये सब अक्षर श्रुतज्ञानके मूल हैं। इनमें सर्व श्रुतज्ञान गर्भित है ऐसा श्रद्धान रखता हुआ इनको ध्यावे। फिर विचार करे कि द्वादशांग वाणीका सार एक शुद्धात्मा है। इस तरह शुद्धात्मापर लक्ष्य लेजाकर फिर अपने आत्मापर आजावे। इस तरह लगातार नित्य कुछ देरतक ध्यान करे। इसका लगातार अभ्यास करनेसे शास्त्रज्ञानमें बुद्धिकी प्रबलता होती है। श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है और धीरे धीरे द्रव्य, क्षेत्र, काल भावानुसार वह सर्व द्वादशांगका जाननेवाला होजाता है। इस ध्यानसे परिणामोंकी बहुत उज्वलता होती है। इस पदस्थ ध्यानको करते हुए ध्याताको पूर्ण श्रद्धा व निर्मल ज्ञानको रखना चाहिये। लक्ष्य शुद्धात्माका ही रखना चाहिये।

इसतरह यह पदस्थ ध्यान बहुत कार्यकारी है। इनही मंत्रोंका जप भी किया जाता है व ध्यान भी किया जाता है। द्रव्यसंग्रहमें कहा है:—

पणतीस सोल छ प्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह। परमेट्ठि वाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण ॥

भावार्थ—परमेष्ठीके स्वरूपको बतानेवाले ३५ आदि सात प्रकारके मंत्रोंको जपो और ध्यावो। और भी मंत्रोंको गुरुसे जानकर जपो और ध्याओ।

वे सात प्रकार मंत्र हैं—

(१) ३५ अक्षर—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

१६ अक्षर—"अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

६ अक्षर—अरहंत सिद्ध।

५ अक्षर—अ सि आ उ सा ।

४ अक्षर—अरहंत ।

२ अक्षर—सिद्ध अथवा ॐ ह्रीं ।

१ अक्षर—ॐ ।

जप करनेमें बहुधा १०८ दफे जपना चाहिये । मालामें १०८ दाने तो मंत्रके जापके लिये होते हैं व तीन दाने ऊपरके सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, इस रत्नत्रयधर्मके वाचक होते हैं। इनको जप लेना चाहिये । इस तरह पदस्थ ध्यानका कुछ स्वरूप कहा है ।

श्लोक—पिंडस्थं ज्ञान पिंडस्य, स्वात्मचिन्ता सदा बुधैः ।
निरोधं असत्यभावस्य, उत्पाद्यं शाश्वतं पदं ॥ १८३ ॥

आत्मा सद्भाव आरक्तं, परद्रव्यं न चिंतये ।
ज्ञानमयो ज्ञानपिंडस्य, चिंतयंति सदा बुधैः ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थ—(पिंडस्थं) पिंडस्थ ध्यान (ज्ञान पिंडस्य) ज्ञान समूहरूप आत्माका ध्यान है (बुधैः) बुद्धिमानोंके द्वारा (सदा) निरंतर (स्वात्मचिंता) अपने आत्माका ध्यान करना योग्य है (असत्यभावस्य निरोधं) असत्य भावोंको रोकना योग्य है (शाश्वतं पदं उत्पाद्यं) अविनाशी मोक्षपद पाना योग्य है । (आत्मा) यह आत्मा (सदभाव आरक्तं) अपने ही सत्स्वभावमें लवलीन होजावे (परद्रव्यं न चिंतये) पर द्रव्यकी चिंता न की जावे । (बुधैः) पंडितोंके द्वारा (ज्ञानमयो ज्ञानपिंडस्य चिंतयंति) ज्ञानमई ज्ञान घन आत्माका ही चिंतवन है ।

विशेषार्थ—पिंडस्थ ध्यान अपने पिंड अर्थात् शरीरमें विराजित आत्माका ध्यान कहा जाता है, जहां अपने आत्माका द्रव्य दृष्टिसे सत्रूप शुद्ध स्वभावका ध्यान किया जाय, क्षणभंगुर कर्मजनित सर्व पर्यायोंसे ध्यान हटा लिया जावे न परद्रव्यकी चिंता की जावे। अपने ही आत्माको छोडकर अन्य आत्माओंकी व पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालकी चिंता न की जावे । ज्ञान घन अपने आत्मामें तन्मय हुआ जावे । यह पिंडस्थ ध्यान अविनाशी मोक्षपदका कारण है ।

श्री ज्ञानार्णव व अन्य ग्रंथोंके अनुसार इस पिंडस्थ ध्यानकी पांच धारणाएं हैं जिनका क्रमसे ध्याना योग्य है। एक एकका अभ्यास कुछ काल तक करता रहे। वे धारणाएं हैं (१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी, (३) मारुती, (४) वारुणी, (५) तत्त्वरूपवती। मारुतीको पवन व वारुणीको जलधारण भी कहते हैं।

(१) पार्थिवी धारणा—ध्यान करनेवाला इस सर्व मध्यलोकको निर्मल क्षीरसमुद्र सफेद जलसे भरा विचारे। इसके मध्यमें ताए हुए सोनेके समान एक हजार पत्रवाला कमल एक लाख योजन चौडा जम्बूद्वीपके समान विचार करे, फिर इस कमलके मध्यकी कर्णिकामें पीत रंगका सुमेरु-पर्वत चिंतवन करे।

फिर उस पर्वतके ऊपर पांडुक शिलापर एक स्फटिकमणिका सफेद सिंहासन विचारे तथा उसके ऊपर देखे कि आप स्वयं पद्मासन सुखरूप, शांतस्वरूप, क्षोभ रहित कर्मोंको दग्ध करनेके लिये बैठा है तथा यह श्रद्धान व उत्साह रक्खे कि यह आत्मा रागद्वेषादि सर्व कलंकोंको तथा कर्मोंको नाश कर सक्ता है इतना ध्यान जमाना सो पार्थिवी धारणा है।

(२) आग्नेयी धारणा—वह ध्यानी वहीं सिंहासनपर बैठा हुआ अपने नाभि मण्डलमें ऊपरको उठा हुआ सोलह व्रतोंका एक सफेद कमल विचार करे। इसके हरएक पत्रपर पीत रंगके सोलह स्वर अक्षरोंको लिखा हुआ सोचें "अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः" और कमलके बीचमें कर्णिकाके स्थानमें महामन्त्र र्हंको स्थापन करले। फिर दूसरा एक कमल हृदयमें आठ पत्तोंका अधोमुख पहले कमलके ऊपर चिंतवन करे। इन आठ पत्तोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय इन आठ कर्मोंको स्थापित करे। फिर यह सोचे कि नाभि-कमलके मध्यमें स्थित र्हं के रेफसे मंद मंद धूंआ निकला फिर ज्वाला प्रगटी, लपक बढी और वह हृदयमें स्थित आठ कर्मरूपी कमलको जलाने लगा। इस अग्निकी शिखा इस हृदयकमलके मध्यमेंसे ऊपर मस्तकपर आगई तथा उसकी शिखा शरीरके दोनों तरफ चली गई फिर नीचे जाकर मिल गई। शरीरके चारों तरफ अग्निमय त्रिकोण वन गया ऐसा विचारे। इस त्रिकोणकी तीनों लकीरोंको र र र र से व्याप्त विचारे। र अग्निका बीजाक्षर है फिर सोचे कि इस त्रिकोणके तीन बाहरी कोनों-

पर अग्निमय तीन साथियें बने हैं तथा भीतरी कोनोंपर तीनों जगह ॐ र्रं अग्निमय स्थापित हैं। इन अग्निमें लपके उठती हुई विचारे परन्तु धूंआ नहीं है। ऐसा अग्निका मंडल बाहर शरीरको, भीतर आठ कर्मको जलाता जलाता दोनोंको भस्म रूपमें करता हुआ धीरे २ शमन होता है और अग्निकी शिखा र्हंके रेफसे उठी थी उसीमें समा जाती है ऐसा वारवार ध्यान करना आग्नेयी धारणा है।

(३) मारुती धारणा—वही ध्यानी ऐसा चिंतवन करे कि आकाशमें पूर्ण एक प्रचण्ड पवन चल रही है जो मेघोंको वखेर रही है, समुद्रको क्षोभित कर रही है, दशोंदिशाओंमें फैल रही है तथा मेरे चारोंतरफ एक गोल मण्डल बनाकर घूम रही है। उस गोल मण्डलमें सब ओर पवनका बीजाक्षर स्वाय स्वाय लिखा हुआ विचारे। फिर यह सोचे कि यह पवन जो कर्मकी तथा शरीरकी भस्म थी उसको उडा रही है ऐसा वारवार चिंतवन करना सो पवन धारणा है।

(४) वारुणी धारणा—वही ध्यानी विचारे कि आकाशमें काले २ मेघोंके समूह छागए हैं, बादल गर्ज रहे हैं, बिजली चमक रही है, उनसे मोती समान उज्वल जलकी धारा वरष रही है, लगातार जलकी वर्षासे यह अर्धचन्द्राकार जलका मंडल अपने ऊपर बन गया है उसपर हर जगह जलका बीजाक्षर प प प प लिखा हुआ है। यह धारा आत्माको धो रही है। जो कुछ कर्मकी व शरीरकी रज शेष रह गई थी उसको यह जलधारा वहा रही है ऐसा वारवार चिंतवन करें।

(५) तत्त्व रूपवती धारणा—फिर वही ध्यानी अपनेको सर्व शरीर व कर्म व राग दोष रहित पुरुषाकार अमूर्तीक शुद्ध निरंजन सिद्ध समान चिंतवन करे और निश्चल रूपमें अपने आपमें तन्मय हो आत्मानुभव करे, यही असलमें पिंडस्थ ध्यान है। चार जो धारणाएं हैं वे इस ही आत्माकार परिणति करनेके लिये सहायक हैं।"

यह ध्यान मोक्षके अविनाशी सुखको झलकानेवाला है।

श्लोक—रूपस्थं सर्वं चिद्रूपं, अधो ऊर्ध्वं च मध्ययं।
शुद्धतत्त्वे स्थिरी भूत्वा, ह्रींकारेन जोइतं ॥ १८५ ॥

चिद्रूपं सुय चिद्रूपं, धर्मध्यानं च निश्चयं।
मिथ्यात्व रागमुक्तस्य, अमलं निर्मलं ध्रुवं ॥ १८६ ॥
रूपस्थं अर्हत् रूपेण, ह्रींकारेण दिष्टते।
ॐकारस्य ऊर्ध्वस्य, शुद्धं ऊर्ध्वमयं ध्रुवं ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थ—(रूपस्थं) रूपस्थ ध्यानमें यह विचारे कि (सर्व चिद्रूपं) सर्व चैतन्यका स्वभाव अर्हत् भगवानकी आत्मामें (अधो ऊर्ध्वं च मध्ययं) नीचे ऊपर मध्य सर्व ठौर है (शुद्धतत्वे स्थितीभुत्वा) वे अर्हन्त भगवान शुद्ध आत्मधर्ममें लीन हैं (ह्रींकारेन) ह्रीं बीजाक्षरसे (जोइतं) देखने योग्य हैं। (चिद्रूपं) चैतन्यका स्वभाव (सुय चिद्रूपं) श्रुतज्ञानके द्वारा जाना हुआ चैतन्यका रूप है। (च निश्चयं धर्मध्यानं) व यही निश्चय धर्मध्यान है। (मिथ्यात्व रागमुक्तस्य) जिसके ऐसा ध्यान होता है वह मिथ्यात्व व रागादि भावोंसे मुक्त होजाता है उसके ध्यानमें (अमलं) मल रहित (निर्मलं) निर्मल शुद्ध (ध्रुवं) अविनाशी आत्मतत्व है। (रूपस्थं) यह रूपस्थ ध्यान (अर्हत रूपेण) अर्हत् भगवानके स्वरूपके द्वारा होता है। (ह्रींकारेण) ह्रीं बीजाक्षरके द्वारा (दिष्टते) दिखलाई पडता है (ॐकारस्य ऊर्ध्वं) ॐ के ऊपर जो विराजित है वह (शुद्धं) शुद्ध आत्मा (ऊर्ध्वमयं) सबसे श्रेष्ठ व (ध्रुवं) अविनाशी है ऐसा ध्यानमें झलकता है।

विशेषार्थ—यहां तीसरे रूपस्थ ध्यानका स्वरूप है। रूपस्थ ध्यानमें श्री अरहंत भगवानका स्वरूप ध्यानमें लेकर शुद्धात्माकी तरफ लक्ष्य देना चाहिये। पहले तो अरहंत भगवानको समवसरणमें बारह सभाओंके साथ विचार करे। श्री मंडपके भीतर १२ सभाओंमें चार प्रकारकी देवियां चार सभाओंमें, चार प्रकारके देव चार सभाओंमें, एक सभामें मुनि, एक सभामें आर्जिका, एक सभामें मानव, एक सभामें पशु इस तरह भगवानको शांतरूप बैठे हुए सोचे। इन्द्रादि देव व बडे चक्रवर्ती आदिक भगवानकी पूजा व स्तुति कर रहे हैं ऐसा देखे, फिर यह देखे कि अरहंत भगवान परम शुद्ध सप्त धातुसे रहित अंतरीक्ष पद्मासन ध्यानाकार विराजमान हैं, परम गंभीर हैं, इंद्रियोंके विजयी हैं, अर्द्धोन्मीलित नेत्रोंसे अंतरंग तत्वको देख रहे हैं, परम वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, जिनके ज्ञान दर्पणमें सर्व लोकालोक प्रकाशमान है, जो परमानन्दमें मग्न हैं। सर्व इच्छासे शून्य हैं, कृतकृत्य

हैं, जो रत्नमय सिंहासनपर चार अंगुल ऊंचे शोभायमान हैं, जिनकी दिव्यध्वनिसे धर्मामृतकी वर्षा होती है। जिनके शरीरकी आभाका मंडल तारों तरफ छाया हुआ है, जिसकी दीप्ति सूर्य चंद्रमाको जीतनेवाली है, रत्नत्रय स्वरूप तीन छत्र जिनके ऊपर शोभायमान हैं। हंसकी पंक्तिके समान उज्वल चमरोंके समूह दोनों तरफ ढुर रहे हैं, दिव्य पुष्पोंकी वृष्टि होरही है, देवों द्वारा दुंदुभि बाजे बज रहे हैं, भगवानके पीछे अशोक वृक्ष शोभायमान है। इस तरह आठ प्रातिहार्योंके द्वारा भगवान शोभनीक हैं। जिनकी आत्मामें नौ केवल लब्धियां विराजित हैं। अर्थात् १ अनंतज्ञान, २ अनंतदर्शन, ३ अनंतदान ४ अनंतलाभ, ५ अनंत भोग, ६ अनंत उपभोग, ७ अनंत वीर्य, ८ क्षायिक सम्यक्त, ९ क्षायिक चारित्र। जो अर्हंत भगवान समतारसमें या परम अद्वैतभावमें मग्न हैं, परम योगीश्वर हैं, परम वीर हैं, क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित हैं, परम दयालु, सर्व प्राणीमात्रके रक्षक, परम शांत, शुद्धात्मीक परिणतिमें तल्लीन हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य नियमसारमें अर्हंतका स्वरूप कहते हैं—

छुहतण्हभीरुरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिचू। स्वेदं खेद मदो रइ विह्यियणिद्दा जणुव्वेगो ॥ ६ ॥
णिस्सेस दोसरहिओ, केवलणाणाइपरमविभवजुदो। सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो अर्हंत भगवान क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मरण, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म, आकुलता ऐसे अठारहको लेकर अन्य सर्व दोषोंसे रहित हैं, केवलज्ञानादि विभव सहित हैं, यही पूजने योग्य अर्हंत परमात्मा हैं, इसके विपरीत कोई देव परमात्मा नहीं है। ऐसे अर्हंतको सर्वांग शुद्ध चिद्रूपमय शुद्ध आत्मतत्वमें स्थित ह्रीं मंत्र द्वारा विचारना चाहिये अर्थात् ह्रींमें २४ तीर्थंकर गर्भित हैं, ह्रीं मंत्रको कहते हुए भी हम अरहंतका स्वरूप विचार सके हैं जिससे उपयोग और तरफ नहीं जावे, तथा ॐके मंत्रको भी कहते हुए विचार सक्ते हैं। ॐ के ऊपर जो अर्धचंद्राकार है वह सिद्धक्षेत्रका नमूना है। वहां उत्कृष्ट सिद्ध भगवान निश्चल विराजते हैं। वैसा ही शुद्ध आत्मा अर्हंतके भीतर है। चार अघातिया कर्म मात्र पुद्गलमय रजतुल्य हैं। उनके भीतर सिद्धवत् शुद्धात्मा विराजित हैं, ध्यान करनेवाला मिथ्यात्वभाव व सांसारिक भोगादिका सर्व राग त्यागकर ध्रुव व निर्मल अर्हंतकी शुद्धात्मा पर लक्ष्य देवे। फिर अपने ही

आत्माके स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप पर आजावे। इसतरह रूपस्थ ध्यानके द्वारा निश्चय धर्मध्यान करे। अर्थात् आत्मानुभवका आनन्द लेवे।

श्रुतज्ञानके आधारसे अरहंतका व अरहंतकी शुद्ध आत्माका स्वरूप विचार करे।

श्लोक—रूपातीत व्यक्त रूपेन, निरंजन ज्ञानमयं ध्रुवं।
मतिश्रुतअवधिं दिष्टं, मनपर्यं केवलं ध्रुवं ॥ १८८ ॥
अनंत दर्शनं ज्ञानं, वीर्यानंत सौख्ययं।
सर्वज्ञं शुद्ध द्रव्यार्थं, शुद्धं सम्यक् दर्शनं ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थ—(रूपातीत) रूपातीत ध्यान (व्यक्तरूपेण) प्रगट रूपसे (निरंजन) कर्म मैलसे रहित (ज्ञानमयं ध्रुवं) ज्ञान स्वरूप अविनाशी आत्मा होता है जहां (मतिश्रुत अवधि मनपर्यं केवलं ध्रुवं दिष्टं) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान ये पांचों ही एक रूप नित्य दिखलाई पडते हैं (अनंत दर्शनं ज्ञानं वीर्यानंत सौख्ययं) अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य व अनंत सुखमई है (सर्वज्ञं) सर्वज्ञ हैं (शुद्ध द्रव्यार्थं) शुद्ध आतम पदार्थ है (शुद्धं सम्यक् दर्शनं) यही शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—रूपातीत ध्यानमें पहले तो मूर्तीक रूप रहित सिद्ध भगवानके गुणोंका विचार करके ध्यान करे फिर सिद्ध समान अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप निश्चय नयसे ध्यानमें लेकर ध्यावे अर्थात् परमात्मा और अपने आत्माका भेदभाव मिटाकर अपने आत्मामें एक होजावे। श्री सिद्ध भगवान रूपातीत हैं, प्रगट रूपसे आठ कर्मरूपी अंजनसे रहित हैं, ज्ञानाकार हैं, अविनाशी हैं, उनमें मतिश्रुत आदि पांच ज्ञानोंके विकल्प नहीं हैं। एक शुद्ध ज्ञानमई हैं जो ज्ञान सदा ध्रुव रहता है। अनंतदर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य इन चार अनंत चतुष्टय सहित हैं। वे ही सर्वज्ञ हैं, शुद्ध आत्मद्रव्य हैं, शुद्ध सम्यग्दर्शन स्वरूप है। अर्थात् जहां क्षायिक सम्यग्दर्शन परम शुद्ध प्रकाशमान है। वे सिद्ध लोकाग्र पुरुषाकार ध्यानमय आत्मानन्दमें मगन परमानंद स्वरूप स्वात्मामृतका पान करते हुए निश्चल स्फटिककी मूर्तिके समान शोभायमान हैं, ऐसा ध्यानमें लेकर उनका चिंतवन करता हुआ अपने आत्मामें आजावे व शुद्ध निश्चयनयसे अपने आपको सिद्धवत् ध्यावे।

जैसा ज्ञानार्णवमें अध्याय ४० में कहा है—

सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः । परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरंजनः ॥ १८ ॥

तदासौ निश्चलोऽमूर्तो निष्कलंको जगद्गुरुः । चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे सिद्ध भगवान हैं वैसे मैं हूं। मैं ही सर्वज्ञ हूं, ज्ञानापेक्षा सर्व व्यापक हूं, सिद्ध स्वरूप हूं, मैं ही साध्य हूं, संसारसे रहित हूं, परमात्मा हूं, परं ज्योतिमय हूं, सकलदर्शी हूं, मैं ही सर्व अंजनसे रहित निरंजन शुद्ध हूं, ऐसा ध्यान करे तब अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्तीक, कलंक रहित, जगत्में श्रेष्ठ, चैतन्य मात्र, ध्यान ध्याताके भेद रहित ऐसा अतिशयरूप प्रकाशमान होता है।

पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि । प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते ॥ ३० ॥

भावार्थ—तब वह मुनि परमात्मासे अपने आत्माका भिन्नभाव उल्लंघन करके एकपनेको साक्षात् प्राप्त होजाता है, ऐसा कि वहां भिन्नपनेका बिलकुल भान नहीं रहता है। अर्थात् स्वयं परमात्म-भावमें तन्मय होजाता है। मैं एक केवल शुद्ध आत्मा हूं, ऐसा ध्यान करते हुए परम अद्वैत स्वानुभवमें स्थिर होजाता है। यह परमानन्दमई रूपातीत ध्यानका स्वरूप है।

सम्यग्दर्शन महात्म्य ।

श्लोक—प्रतिपूर्ण शुद्ध धर्मस्य, अशुद्ध मिथ्यातिक्तयं ।
शुद्ध सम्यक्त संशुद्धं, सार्थं सम्यग्दृष्टितं ॥ १९० ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध धर्मस्य प्रतिपूर्ण) शुद्ध धर्मसे जो भरा हुआ है। (अशुद्ध मिथ्यातिक्तयं) अशुद्ध व मिथ्याभावसे जो रहित है (सार्थं सम्यग्दृष्टितं) जहां आत्म-पदार्थको यथार्थ स्वरूप सहित भलेप्रकार अनुभव किया जाता है वही (संशुद्धं शुद्ध सम्यक्त) परम शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—यहां भाव निक्षेपसे सम्यग्दर्शनका स्वरूप है। जहां शुद्ध आत्माके शुद्ध व पूर्ण स्वभावका अनुभव किया जाता है। जहां न तो किसी प्रकारकी अशुद्धता है न कोई मिथ्यात्वका भाव है। शुद्ध आत्माका सम्यक् प्रकार मानो दर्शन जहां होरहा है, परम रुचि सहित आत्मामें

आप तन्मय है। यही भाव शुद्ध व क्षायिक सम्यग्दर्शन है। निश्चयसे विचारा जावे तो यह आत्मा स्वयं जब सर्व विकल्पोंसे रहित होता है, आप आपमें थिर होता है, स्वसंवेदन ज्ञानमय या स्वानुभव रूप होता है तब वहां रत्नत्रयकी एकतारूप साक्षात् मोक्षमार्ग है। वहा शुद्धात्माकी रुचि भी है, उसीका ज्ञान भी है, उसीका चारित्र भी है। उसीको शुद्ध सम्यग्दर्शन, उसीको शुद्ध सम्यग्ज्ञान व उसीको शुद्ध सम्यग्चारित्र कह सक्ते हैं। वास्तवमें वह तीनोंका अखण्ड पिंड एकीभावरूप मोक्षमार्ग है। ऐसा ही अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वार्थसारमें कहते हैं—

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्तं चरितं हि सः। स्वस्थो दर्शनचारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥ ७ ॥

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ ८-८ ॥

भावार्थ—आत्मा ही जाना गया ज्ञान है, वही जब दर्शनमोह और चारित्रमोहके मैलसे भबाधित है तब सम्यग्दर्शन है और सम्यक्चारित्र है। जो अपने ही स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान व चरण करता है ऐसा आत्मा ही दर्शन ज्ञान चारित्रमई कहा गया है। वास्तवमें शुद्ध सम्यक्त आत्माका ही एक अमिट अखंड गुण है।

श्लोक—देवगुरुधर्मशुद्धस्य, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं।
मिथ्या त्रिति विनिर्मुक्तं सम्यक्तं सार्थ ध्रुवं ॥ १९१ ॥

अन्वयार्थ—(देव गुरु धर्मशुद्धस्य) शुद्ध देव, शुद्ध गुरु, व शुद्ध धर्मका (सार्थं) अर्थ सहित (ज्ञानमयं) ज्ञानमय (ध्रुवं) निश्चल श्रद्धान (मिथ्या त्रिति विनिर्मुक्तं) तीन मिथ्यात्वसे रहित (सार्थं ध्रुवं सम्यक्तं) अर्थ सहित निश्चल सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—यहां बताया है कि जिसको शुद्धात्माका अनुभव सम्यग्दर्शन प्राप्त है उसे निर्दोष देव, गुरु, धर्मकी भी श्रद्धा है। वह श्रद्धा ज्ञानमई अटल है। इसका भाव यह है कि वह सम्यक्ती व्यवहारनयसे तो श्री अरहंत व सिद्ध भगवानको अपना पूज्य देव व निर्ग्रंथ आचार्य, उपाध्याय व साधुको अपना पूज्य गुरु व रत्नत्रयमई धर्मको पूज्य धर्म मानता है, निश्चयसे अपने ही शुद्धात्माको देव, उसीको गुरु व उसीकी परिणतिको धर्म जानता है। अथवा अरहंत व सिद्धमें जो ज्ञान स्वरूप निश्चल आत्मद्रव्य है उसीको शुद्ध देव मानता है तथा आचार्य उपाध्याय साधुमें जो उनका शुद्धात्मा

है उसे ही शुद्ध गुरु जानता है तथा रत्नत्रयमें एक अभेद रत्नत्रयमई स्वात्मानुभूतिको ही शुद्ध धर्म मानता है। जिसको यथार्थ देव, गुरु, धर्मका व्यवहारनय व निश्चयनयसे यथार्थ श्रद्धान है वही सम्यग्दर्शन है। जहां मिथ्यादर्शनका, सम्यक्त मिथ्यात्व प्रकृतिका तथा सम्यक्त प्रकृतिका इन तीनों क्षायिक सम्यक्तको घातक दर्शन मोहनीयकी प्रकृतियोंका उदय नहीं है, किंतु इन तीनोंका सत्तामेंसे नाश हो, साथमें अनन्तानुबन्धी चार कषायका भी नाश होगया है। यही निश्चय यथार्थ सम्यग्दर्शन है। वास्तवमें जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त है वही सच्चे देव, गुरु, धर्मको पहचानता है तथा वही अपने आत्माको जानता है। उसकी रुचिमें एक स्वात्मानुमति है। वही उसे देव, गुरु व धर्मके भीतर भी झलक रही है।

श्लोक—देवं देवाधिदेवं च, गुरु ग्रंथस्य मुक्तयं।
धर्मस्य शुद्ध चैतन्यं, सार्धं सम्यक्तं ध्रुवं ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थ—(देवाधिदेवं च देवं) देवोंके देव श्री अरहंत सिद्ध भगवान तो देव हैं (ग्रंथस्य मुक्तयं गुरु) ग्रंथ अर्थात् परिग्रह रहित गुरु हैं (शुद्ध चैतन्यं धर्मस्य) शुद्ध चेतनाका भाव धर्म है इन तीनोंका श्रद्धान करना (सार्धं सम्यक्तं ध्रुवं) यथार्थ निश्चल सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—इंद्रादिक देव जिनके चरणोंको नमन करते हैं, जो सर्वसे महान तीनलोकमें श्रेष्ठ हैं वे ही पूज्यनीय देव श्री अरहंत और सिद्ध भगवान हैं। उनमें न तो कोई अज्ञान है और न कोई कषाय है, जो संसारी जीवोंके भीतर कम व अधिक पाए जाते हैं। ऐसे ही देवके भीतर सम्यक्तीकी दृढ श्रद्धा रहती है। गुरु वे ही हैं जो निर्ग्रंथ हों। जिनके ग्रन्थ अर्थात् ममताका कारण चौवीस प्रकारका परिग्रह न हो। मिथ्यादर्शन, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये चौदह प्रकार अन्तरंग और क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, दासी, दास, कपडे, वर्तन यह १० प्रकारके बाहरी परिग्रह होते हैं। इनसे साधुकी ममता नहीं होती है। इनमें बाहरी परिग्रह तो छोडने योग्य है, बुद्धिपूर्वक दूर किया जासक्ता है। अंतरंग परिग्रहमें जिन कषायोंका उदय नहीं है वे तो नहीं होना संभव है, परंतु जिनका उदय साधु अवस्थामें होना संभव है उन कषायोंसे भी साधु निर्ममत्व है। परिग्रह पोटकी चोटको बचाकर जो

नित्य आत्मध्यानकी अग्निको जलाकर कर्मोंके दग्ध करनेमें उत्साह सहित उद्यमवान हैं वे ही सच्चे मोक्षमार्ग प्रदर्शक गुरु हैं। शुद्ध चेतनाका स्वभाव ही धर्म है। आत्माका स्वभाव जो शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय है उसी स्वभावमें श्रद्धा ज्ञान सहित तन्मय होजाना धर्म है। ऐसे देव, गुरु, व धर्मका श्रद्धान करना यही यथार्थ सम्यक्त है। इनमेंसे एक शुद्धात्माकी निर्विकल्प परिणति ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी श्रद्धा सो निश्चय सम्यक है।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य जीवस्य, दोषं तस्य न पश्यते।
तत्र सम्यक्त हीनस्य, संसारे भ्रमनं सदा ॥ १९३ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य जीवस्य सम्यक्तं) जिस जीवके पास सम्यग्दर्शन है (तस्य) उसके पास (दोषं न पश्यते) कोई दोष नहीं देखा जाता है (तस्य सम्यक्त हीनस्य) जिसके पास यथार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है (सदा संसारे भ्रमनं) उसका इस संसारमें सदा ही भ्रमण रहनेवाला है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका महात्म्य अपूर्व है। यथार्थ निश्चय सम्यग्दर्शन जिसके होगा वह शुद्धात्मानुभवकी शक्तिको प्राप्त कर लेगा। उसको आत्माका स्वाद मिल जायगा। आत्मिक आनंद अमृतके तुल्य है, विषयसुख विष तुल्य है, ऐसा अनुभव उसकी श्रद्धामें होजाता है। वह ज्ञान वैराग्यसे परिपूर्ण होता है। उसका हरएक कार्य विवेक पूर्वक होता है। वह सम्यक्ती पचीस दोषोंको टालता हुआ वर्तन करता है, इसलिये निर्दोष व्यवहार करता है। वह बड़ा दयावान, परोपकारी, मिष्टवादी, शांत प्रकृति धारी, धर्मप्रेमी, नास्तिकता रहित होता है। यथार्थ तत्वको वह स्वयं अनुभव करता है तथा दूसरोंको वह तत्वज्ञानके मार्गमें प्रेरक होता है। वह संसारकी मायाको नाशवंत समझकर इसके लिये अन्याय नहीं करता है। परन्तु जिसके यह आत्मानुभव रूप यथार्थ तत्व ज्ञानमय सम्यग्दर्शन नहीं होता है वह विषयवासना सहित जीव व्यवहार धर्म व तप आदिको पालन करता है तौभी संसारसे कभी पार नहीं होसक्ता, स्वर्गादि जाकर भी फिर एकेन्द्रिय व पशु पर्यायमें जन्म लेलेता है। वह शरीरका मोही शरीरको वारवार धारण किया करता है।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य हृदये, व्रत तप क्रिया संयुतं।

शुद्धतत्वं च आराध्यं, मुक्तिगमनं न संशयः ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य हृदये) जिसके हृदयमें (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शन है तथा वह (व्रत तप क्रिया संयुतं) व्रत, तप, क्रिया सहित है (च) और (शुद्ध तत्वं आराध्यं) शुद्ध आत्मीक तत्वका आराधन करता है तौ वह (मुक्तिगमनं) मुक्ति अवश्य पायगा (न संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके समान कोई उपकारी नहीं है। जो श्रावक तथा मुनिके चारित्रको सम्यग्दर्शन सहित यथायोग्य पालेगा और निरंतर जिसका उद्योग आत्मध्यानकी तरफ रहेगा अर्थात् जो आत्मानुभवके ही लिये योग्य निमित्तोंको मिलानेके लिये व अयोग्य निमित्तोंके हटानेके लिये व्यवहार चारित्र पालेगा वह महात्मा यदि काललब्धि हुई व शरीर संहनन योग्य हुआ तो उसी जन्मसे निर्वाण लाभ करेगा। अन्यथा दो चार दश भवके भीतर मोक्ष चला जायगा। सम्यग्दर्शन वास्तवमें खेवटिया है। जैसा रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते। दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥ ३१ ॥

भावार्थ—मोक्षके मार्गमें सम्यग्दर्शनको खेवटिया कहा जाता है। ज्ञान चारित्रके द्वारा सम्यग्दर्शनकी उपासना की जाती है अर्थात् शुद्ध आत्मीक अनुभव किया जाता है।

सारसमुच्चयमें कहते हैं—

अतीतेनापिकालेन यन्न प्राप्तं कदाचन। तदिदानीं त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥ ४६ ॥

भावार्थ—गत कालमें जिसको कभी नहीं पाया था ऐसा उत्तम सम्यग्दर्शन अब प्राप्त हुआ है। यह बड़ा ही दुर्लभ लाभ है। इसलिये इसकी रक्षा करके इसके सहारे संसार-सागरसे पार हो जाना चाहिये।

सम्यग्दृष्टीका आचरण।

श्लोक—लिङ्गं च जिनं प्रोक्तं, त्रितय लिङ्गं जिनागमे।
उत्तमं मध्यम जघन्यं च, क्रियात्रेपण संयुतं ॥ १७५ ॥

उत्तमं जिनरूपी च, मध्यमं च मतं श्रुतौ ।
जघन्यं तत्व सार्धं च, अविरत सम्यक् दृष्टितं ॥ १९६ ॥
लिङ्गं त्रिविधिं प्रोक्तं, चतुर्थलिङ्ग न उच्यते ।
जिनशासने प्रोक्तं च, सम्यग्दृष्टि विशेषतः ॥ १९७ ॥

अन्वयार्थ—(जिनागमे) जिन आगममें (जिनं प्रोक्तं) जिनेन्द्र भगवानके कहे गए (लिंगं त्रितय लिंगं) लिंग तीन हैं (उत्तम मध्यम जघन्यं च) उत्तम लिंग, मध्यम लिंग, व जघन्य लिंग (क्रियात्रेयण संयुतं) यह यथायोग्य त्रेपन क्रियासे संयुक्त होते हैं (उत्तमं जिनरूपी च) उत्तम लिंग जिनेन्द्रका स्वरूप नग्न दिगंबर वस्त्रादि परिग्रह रहित है (मध्यमं च श्रुतौ मतं) मध्यम लिंग शास्त्रमें कहा हुआ श्रावकका लिंग है। (जघन्यं तु) जघन्य लिंग (तत्व सार्धं) तत्वबोध सहित (अविरत सम्यग्दृष्टितं) अविरत सम्यग्दृष्टिका लिंग है। (त्रिविधि लिंगं प्रोक्तं) तीन प्रकार ही लिंग कहा गया है (चतुर्थ लिंगं न उच्यते) चौथा लिंग नहीं कहा गया है (विशेषतः) विशेष करके (जिनशासने) जिन शासनमें (सम्यग्दृष्टि) सम्यग्दृष्टिको (प्रोक्तं च) कहा गया है।

विशेषार्थ—मोक्षमार्गमें रत्नत्रयके साधनकी अपेक्षा तीन श्रेणी हैं-एक महाव्रती साधुकी दूसरे श्रावककी तीसरे व्रत रहित सम्यक्दृष्टीकी, चौथी श्रेणी नहीं है। इनमें सम्यग्दर्शनकी विशेषता इसलिये है कि इसके विना श्रावक व साधु सच्चा श्रावक व साधु नाम नहीं पाता है। अविरत सम्यग्दर्शन चौथा गुणस्थान है, यहांसे स्वरूपाचरण चारित्र या स्वानुभव प्रारम्भ होजाता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण कषायके उपशमसे श्रावक पंचम गुणस्थानी होता है। इसकी दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह श्रेणियां हैं। जितना जितना प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम अधिक २ बढता जाता है उतना उतना चारित्र प्रतिमा रूपसे या श्रेणी रूपसे बढता चला जायगा। जब प्रत्याख्या-नावरण कषायका भी उपशम होजाता है तब वह श्रावक साधु होजाता है, पूर्ण व्रती होजाता है और सर्व परिग्रह रहित निर्ग्रंथ होजाता है। यही उत्तम लिंग है, मध्यम श्रावकका है, जघन्य व्रत रहित सम्यग्दर्शनका है। इनमें भी हरएकके भीतर तीन २ भेद उत्तम मध्यम जघन्यके भेदसे किये

जासक्ते हैं। अविरत सम्यग्दर्शनमें क्षायिक सम्यग्दर्शनके धारी उत्तम हैं। उपशम सम्यक्तका धारी मध्यम है। क्षयोपशम सम्यक्तका धारी जघन्य है। मध्यम लिंग श्रावकमें पहिली प्रतिमासे छठी तक जघन्य है, सातवींसे ९ मी तक मध्यम है व १० मी व ११ मी प्रतिमा धारी उत्तम है। उनमेंसे श्रेष्ठ ऐलक मात्र एक लंगोटधारी है, क्षुल्लक एक लंगोट व एक चद्दरधारी उससे नीचे हैं। जिनरुपधारी उत्तम लिंगमें तीर्थंकर उत्तम हैं, ऋद्धिधारी ऋषि मध्यम हैं, सामान्य साधु जघन्य हैं।

त्रेपन क्रियाएं।

गुणवय तव सम पडिमा, दाणं जल गालणं च अणत्थमियं। दंसण णाण चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥

(दौलतरामकृत क्रियाकोष)

आठ मूलगुण+बारह व्रत+बारह तप+समताभाव+ग्यारह प्रतिमा+चार प्रकारका दान+जल गालना+रात्रिको न खाना+रत्नत्रय धर्म तीन सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र=५३ त्रेपण क्रियाएं इस तरह जाननी।

इनमें रत्नत्रय धर्म तथा बारह तप व समताभाव उत्तम लिंग साधुकी मुख्य क्रियाएँ हैं श्रावककी गौण हैं। शेष सर्व श्रावकोंके लिये मुख्य हैं।

(१) आठ मूलगुण—मदिरा, मांस, मधु व पांच फल जिनमें त्रस होते हैं व होनेकी संभावना है जैसे वड फल, पीपल फल, गूलर फल, पाकर फल, अंजीर फल।

(२) बारह व्रत—(श्रावकके) १-अहिंसा अणुव्रत (संकल्पी त्रस हिंसाका त्याग); २-सत्य अणुव्रत, ३-अचौर्य अणुव्रत, ४-ब्रह्मचर्य अणुव्रत (स्वस्त्रीमें संतोष), ५-परिग्रहका प्रमाण (सम्पत्तिका आजन्म प्रमाण कर लेना), ६-दिग्विरति (जन्म पर्यंत लौकिक कार्योंके लिये १० दिशाओंमें जानेकी मर्यादा करना), ७-देशविरति (जो मर्यादा जन्म पर्यंतके लिये दिशाओंकी की हो उसमेंसे घटाकर एक दिन आदिके लिये करना), ८-अनर्थदंड विरति (व्यर्थके पाप करना जैसे पापका उपदेश, अपध्यान (खोटा विचार), हिंसाकारी वस्तुका दान, दुःश्रुति (खोटी कथाओंको पढना सुनना) प्रमादचर्या (आलस्यसे व्यवहार, अधिक जल आदि फेंकना), ९-सामायिक (सवेरे व

सांझ व दोपहर यथाशक्ति एकांतमें बैठ ४८ मिनटके लिये या कम यथा समय ध्यानका अभ्यास करना), १०-प्रोषधोपवास (अष्टमी व चौदसको उपवास करना), ११-भोगोपभोग परिमाण (पांच इंद्रियोंकी भोग्य वस्तुओंका नित्य प्रमाण करना), १२-अतिथि संविभाग (पात्रोंको दान देकर भोजन करना)।

(३) बारह तप—१-उपवास, २-ऊनोदर, भूखसे कम खाना, ३-वृत्ति परिसंख्यान (कोई प्रतिज्ञा लेकर साधु आहारको जाते हैं, पूरी होनेपर लेते हैं) ४-रस परित्याग (दूध, दही, घी, तेल, नमक मीठा इनमेंसे एक या अनेक रसोंका त्यागना) ५-विविक्त शय्यासन-(एकांतमें सोना बैठना), ६-कायक्लेश (शरीरका सुखियापन मेटनेको कठिन स्थानोंपर तप करना, ७-प्रायश्चित्त (कोई दोष लगनेपर दंड लेकर शुद्ध होना), ८-विनय (धर्म व धर्मात्माओंका आदर करना), ९-वैयावृत्य (रोगी, दुःखी, मांदे, धर्मात्मा भाइयों व बहिनोंकी सेवा करनी), १०-स्वाध्याय (शास्त्रोंको पढना व विचारना), ११-व्युत्सर्ग (शरीरादिसे ममत्व त्यागना), १२-ध्यान (आत्मध्यानका अभ्यास करना)।

(४) समताभाव—राग द्वेष छोडकर समताभाव रखनेका अभ्यास करना।

(५) ग्यारह प्रतिमा—ये ११ श्रावककी श्रेणियां हैं। १-दर्शन, २-व्रत, ३-सामायिक, ४-प्रोषधोपवास, ५-सचित्त त्याग, ६-रात्रि भोजन त्याग, ७-ब्रह्मचर्य, ८-आरम्भ त्याग, ९-परिग्रह त्याग, १०-अनुमति त्याग, ११-उद्दिष्ट त्याग, इनका कथन आगे आयगा।

(६) चार प्रकारका दान—आहार, औषधि, अभय, विद्या।

(७) जल गालन—पानी छानकर पीना व व्यवहार करना।

(८) अणत्थमिय—रात्रिको भोजन न करना।

(९) तीन सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र—चारित्रमें १३ प्रकार मुनिका चारित्र इस भांति—

पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व परिग्रहका त्याग।

पांच समिति—ईर्या (चार हाथ भूमि आगे देखकर चलना), २-भाषा-(शुद्ध वाणी बोलना) ३-एषणा (शुद्ध भोजन श्रावक दत्त लेना) ४-आदान निक्षेपण (देखकर रखना उठाना) ५-प्रतिष्ठापना (मल मूत्र देखकर निर्जंतु भूमिपर करना)।

तीन गुप्ति—मनको, वचनको व कायको वश रखना, मध्यम लिंगवाले श्रावक इन ५३ क्रियाओंको भलेप्रकार पालते हैं, मुनि सम्बन्धी क्रियाओंका यथाशक्ति अभ्यास करते हैं।

श्लोक—जघन्यं अव्रतं नाम, जिन उक्तं जिनागमं ।
सार्धं ज्ञानमयं शुद्धं, क्रिया दस अष्ट संजुतं ॥ १९८ ॥

अन्वयार्थ—(जघन्यं) जघन्य लिंग या पात्र (अव्रतं नाम) अविरत सम्यग्दृष्टी है जो (जिन उक्तं) जिनेन्द्रके कहे हुए (जिनागमं, जैन आगमके (सार्धं) अनुसार (ज्ञानमयं शुद्धं) ज्ञानमय शुद्ध आत्माका अनुभव करता है (क्रिया दस अष्ट संजुतं) तथा अठारह क्रिया सहित होता है।

विशेषार्थ—यहां चौथे गुणस्थानवर्ती पात्रका कथन करते हैं कि वह जैन शास्त्रका व जैन शास्त्रमें कहे हुए जीवादि तत्वोंका दृढ श्रद्धालु होता है व उसीके अनुसार अपने आत्माका शुद्ध निश्चयनयसे सिद्धवत् शुद्ध अनुभव करता है, ज्ञान वैराग्यमें तन्मय रहता है। यद्यपि वह अविरति है तथापि वह श्रद्धामें परम साधु है। इसलिये आठ बाहरी लक्षणोंसे विभूषित है। जैसा कहा है—

संवेओ णिव्वेओ निंदा गरहा उवसमो भत्ती। अणुकम्पा वच्छल्लं गुणट्ठ सम्मत्त जुत्तस्स ॥

भावार्थ—उसमें संवेग गुण होता है जिससे वह जैनधर्मसे गाढ प्रीति रखता है। धार्मिक कार्योंको बडे उत्साहसे करता है। निर्वेद गुणके कारण संसार शरीर भोगोंसे परम उदासीन होता है, बिलकुल वीतराग रहना चाहता है तथापि पूर्वबद्ध कषायके उदयसे रह नहीं सक्ता है, कषाययुक्त हो संसारीक काम करता है। इस अपनी निर्मलताकी निन्दा दूसरोंके सामने करता रहता है तथा अपने मनमें भी करता रहता है यह गर्हा है। उपशम गुणके द्वारा शांत चित्त होता है। आकुलतामय घबडाया हुआ परेशान नहीं रहता है, भक्ति गुणके कारण देव शास्त्र गुरुकी सच्ची भक्ति करता है, गुणवानोंकी सेवा करता है, अनुकम्पा गुणसे बडा दयावान होता है, सर्व जीवमात्रके साथ प्रेम करता हुआ उनकी रक्षा चाहता है। वात्सल्य गुणसे साधर्मी भाई व बहनोंसे गौवत्सके समान प्रेम करता है, उनके लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर डालता है। ऐसा गुणवान सम्यक्ती यद्यपि अतीचार रहित व्रतोंको पाल नहीं सक्ता है तथापि इन त्रेपन क्रियाओंमेंसे अठारह क्रियाओंको पालता है, या पालनेका यथाशक्ति उद्योगी रहता है। आगेके दो श्लोकोंसे वे प्रगट कही गई हैं।

आठ मूलगुण+चार प्रकारका दान+सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रकी सेवा+रात्रि भोजन त्याग+छना हुआ पानी पीना+समताभावके लिये जिनागमका मनन करना। यह १८ क्रियाएं पालता है।

श्लोक—सम्यक्तं शुद्ध धर्मस्य, मूलं गुणं च उच्यते ।
दानं चत्वारि पात्रं च, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ १९९ ॥
दर्शन ज्ञान चारित्रैः, विशेषितं गुणपूजयं ।
अनस्तमितं शुद्ध भावस्य, फासूजल जिनागमं ॥ २०० ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध धर्मस्य सम्यक्तं) शुद्ध आत्मीक धर्मकी श्रद्धा रखनेवाले जीवके (मूलं गुणं च उच्यते) आठ मूल गुण कहे जाते हैं (पात्रं च चत्वारि दानं) पात्रोंको वह चार प्रकार दान देता है। उस दानको वह (ध्रुवं ज्ञानमयं सार्धं) निश्चल ज्ञानमय भावसे विवेक सहित देता है। (दर्शन ज्ञान चारित्रैः विशेषितं) वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रसे विभूषित होता है, (गुणपूजयं) रत्नत्रयधारी महात्माओंकी पूजा करता है, (शुद्ध भावस्य) निर्मल भावसे श्रद्धा पूर्वक (अनस्तमितं) रात्रिको भोजन नहीं करता है (जिनागमं फासूजलं) जिनागमके अनुसार छना पानी काममें लेता है।

विशेषार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टीके अप्रत्याख्यान कषायका उदय होता है जिससे अतीचार रहित त्याग नहीं कर सक्ता है तथापि जितना जितना कषाय मंद होता जाता है वह चारित्रको अंगीकार करता जाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी तो वह होता ही है। आठ मूलगुणोंमें पांच उदम्बर फल व मदिरा, मांस, मधुका वह सेवन नहीं करता है। तीन प्रकार पात्रोंको भक्तिपूर्वक आहार, औषधि, अभय व ज्ञान दान देता है, दयाभावसे प्राणी मात्रको चार प्रकारका दान देता है। दानमें विवेकसे काम लेता है तथा बदलेमें पुण्यकी व कोई लौकिक लाभकी इच्छा नहीं करता है, केवल परोपकार भावसे दान करता है। सम्यग्दर्शनका आचरण व सम्यग्ज्ञानका आचरण यह है कि वह नित्य जिन भक्ति, गुरु सेवा, स्वाध्याय, सामायिकमें लीन रहता है। जो रत्नत्रयके धारी हैं उनकी भक्ति करता है। गुणवानोंकी पूजा करता है, रात्रिको भोजन हिंसाकारी समझकर अपनी स्थितिके अनुसार छोडनेका उद्यम करता है। खाद्य (जिससे पेट भरे), स्वाद्य (पान इलायची), लेह्य (चाटनेकी

, पेय (पीनेका पानी आदि) इन चारोंको व क्रमको यथाशक्ति छोडनेका अभ्यासी शक्य होता है तो रात्रिको जल भी त्याग देता है, अशक्य होता है तो जिस तरह सा वर्तन करता है। अभी इसके अविरत भाव है। अभ्यास मात्र है। नियमसे रात्रि अवस्थामें छठी प्रतिमा तकमें पूर्ण होजाता है, छठी प्रतिमाके नीचे यथाशक्ति है, लाचारी हीमें इस क्रियामें कमी रखता है। पानी भलेप्रकार छान क्रिया ठीक कराता है या करता है, जानता है कि पानीमें बहुत त्रस क्तिके अनुसार बचानेका उपाय यही है कि जलको छानकर काममें लाया स्थानकमें पहुंचाई जावे। इस क्रियाका भी यह अभ्यासी मात्र होता है। क नहीं पाल सके तो मनमें ग्लानि रखता है। अठारहवीं क्रिया ५३ क्रियाओंमें है उसका पालक होता है। सम्यक्चारित्रमें यह पांच अणुव्रतोंका स्थूल अभ्यास ता है, संकल्प करके वृथा हिंसा नहीं करता है, असत्य नहीं बोलता है, चोरी नहीं करता है, सेवन नहीं करता है, परिग्रहकी अधिक लालसा नहीं रखता है। इन पांच अणुव्रतोंका भी मात्र रखता है। एक श्रद्धालु जैनीको कैसा होना चाहिये यह बात इन अठारह क्रियाओंमें श होजाती है। यदि कोई साधारण जैनी इन बातोंको पाले तो वह नमूनेदार श्रावक चौथे ा होजायगा।

श्लोक—एतत्तु क्रिया संजुक्तं, शुद्ध सम्यग्दर्शनं।
प्रतिमा व्रत तपश्चैव, भावना कृत सार्धयं ॥ २०१ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध सम्यग्दर्शनं) निर्मल सम्यग्दर्शनका धारी (एतत्तु क्रिया संजुक्तं) इन अठारह क्रियाओंको पालता हुआ (सार्धयं) इनके साथ (प्रतिमा व्रत तपश्चैव भावना कृत) ग्यारह प्रतिमा, बारह व्रत और बारह तपकी भावना करता रहता है।

विशेषार्थ—उक्त त्रेपन क्रियाओंमेंसे ऊपर लिखी अठारह क्रियाओंको पालता हुआ शेष पैंतीस क्रियाओंकी भावना भाता है। यह विचार रहता है कि मेरे कषाय कब मंद हों, जो मैं उनको

भलेप्रकार पालनेको समर्थ होजाऊँ। उन पैंतीसमें बारह व्रत, बारह तप तथा ग्यारह प्रतिमाएँ हैं इनको छोडकर शेष अठारह क्रियाओंको शक्तिके अनुसार पालता है।

ऐसा सम्यक्ती जीव सर्व लौकिक कामोंको कर सक्ता है, गरीब-अमीर सब कोई ऐसा जैन-धर्म पाल सक्ता है। असि (सिपाहीका काम), मसि (लिखनेका काम), कृषी, वाणिज्य, शिल्पकर्म, विद्याकर्म (गाना बजानादि) इन छः कर्मोंमेंसे अपनी २ स्थितिके अनुसार हरएक जैनी आजीवि-काका उद्यम भलेप्रकार करता रहकर सच्चा जैनी रह सक्ता है। वह देशकी रक्षा कर सक्ता है। दुष्टोंका दमन कर सक्ता है, प्रचुर अन्न खेतीसे पैदा कर सक्ता है, देश परदेश भ्रमण करके व्यापार कर सक्ता है। नानाप्रकार कारीगरी, लकडी, कपडा, लोहा, पत्थर आदिके काम कर सक्ता है, मकान बना सक्ता है, चित्रकला, गाना, बजाना आदि काम कर सक्ता है। बुद्धि कम होनेपर नाना प्रकार सेवा कार्य कर सक्ता है। जिस क्षेत्रमें सर्व ही मानव जैनी होजावें उस क्षेत्रमें सारा काम जो गृहस्थियोंके लिये आवश्यक है करते हुए भी जैनधर्मका पालन होसक्ता है। जैनधर्म परिणामोंके आधीन है। बाहरी चारित्र अविरत सम्यक्ती यथासंभव ही पालता है।

श्लोक—आज्ञा सम्यक्त संयुक्तं भावं वेदक उपसमं।
क्षायिकं शुद्ध भावस्य, सम्यक्तं शुद्धं ध्रुवं॥ २०२॥

अन्वयार्थ—(आज्ञा सम्यक्त संयुक्तं भावं) श्री जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञानुसार तत्वोंका श्रद्धानरूप जो भाव है वही (वेदक) वेदक सम्यक्त है व (उपसमं) उपशम सम्यक्त है वही (क्षायिकं) क्षायिक सम्यक्त है। यह क्षायिक (शुद्ध भावस्य शुद्धं ध्रुवं सम्यक्तं) शुद्ध आत्मीक तत्वका शुद्ध निश्चल अमिट श्रद्धान है।

विशेषार्थ—जिन शास्त्रोंमें छः द्रव्य सात तत्वोंका जो स्वरूप कथन किया गया है उसको भलेप्रकार समझकर जिसने श्रद्धान कर लिया है वही आज्ञा सम्यक्त है। इस करके सहित जिसका भेद भाव-ज्ञानसे पूर्ण होता हुआ अपने आत्माको रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व रागद्वेषादि भावकर्मोंसे भिन्न अनुभव करता है वही भाव सम्यक्त है इसीके तीन भेद हैं—उपशम, वेदक, क्षायिक।

मिथ्यादृष्टी जीवको चार अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व प्रकृति अथवा मिथ्यात्व, सम्यक्-

मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति सहित अर्थात् पांच प्रकृति या सात प्रकृतिके उपशमसे जो सम्यग्दर्शन होता है वह उपशम सम्यक्त है। जहां सम्यक्त प्रकृतिका उदय हो और शेष छः का उपशम हो या क्षय हो उसको वेदक सम्यक्त कहते हैं। यह सम्यक्त कुछ मलीनता लिये हुए है। इसमें चल, मल, अगाढ़ दोष लगते हैं।

उपशमसे वेदक या क्षयोपशम सम्यक्त होता है। फिर वेदकसे सातों कर्मोके क्षय करडालने पर क्षायिक सम्यक्त होता है। यह फिर कभी छूटनेवाला नहीं है, यह ध्रुव है, शुद्ध भावरूप है। इसका धारी या तो उसी भवसे या तीसरेसे या चौथेसे अवश्य मुक्ति पासक्ता है। सम्यक्तकी महिमा अपार है।

श्लोक—उपाद्यो गुण पदवी च, शुद्ध सम्यक्त भावना।
पदवी चत्वादि सार्धं च, जिन उक्तं सार्थ ध्रुवं ॥ २०३ ॥

अन्वयार्थ—(गुण पदवी च उपाद्यो) अपने आत्मीक गुणोंकी पदवी अर्थात् सिद्ध पदवी प्राप्त करनी योग्य है (चत्वारि पदवी सार्धं च) चार पदवीके साथ अर्थात् अरहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु पदवीके साथ २ सिद्ध पदवी प्राप्त करना है जो कि (सार्थ ध्रुवं) यथार्थमें अविनाशी है (जिन उक्तं) ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। (शुद्ध सम्यक्त भावना) इसलिये शुद्ध सम्यग्दर्शनकी भावना करनी योग्य है।

विशेषार्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शनकी भावनाका क्या फल होता है सो यहां बताया है। जगतमें जो पांच उत्तम पद हैं वे इसही भावनाके प्रतापसे प्राप्त होते हैं। शुद्धात्माकी भावना करते ही करते एक अविरत सम्यग्दृष्टी अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका उपशम करके देशविरति पंचम गुणस्थानी होजाता है, वहां श्रावककी क्रियाओंको पालता हुआ व शुद्धात्माकी भावना करता हुआ प्रत्याख्यानावरण कषायोंका भी उपशम कर देता है तब अप्रमत्तविरत सप्तम गुणस्थानी साधु होजाता है। यहां अन्तर्मुहूर्त ठहरकर प्रमत्तविरत साधु होजाता है। यहां छठा सातवां वारवार हुआ करता है। जो साधु बहुत अनुभवी होजाते हैं और इस योग्य होते हैं कि वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, सम्यग्वीर्य व सम्यक्तप इन पांच तरहके आचारोंको स्वयं पाले और दूसरोंको पलवा सकें उनको आचार्य पद होता है। जो साधु विशेष शास्त्रज्ञाता होते हैं व पठन पाठनका काम

उत्तम प्रकारसे कर सक्ते हैं उनको उपाध्याय पद होता है। आचार्य व उपाध्यायके कार्य प्रमत्तविरत छठे गुणस्थानमें ही होते हैं। जब ये ही ध्यानमग्न होते हैं तब ७ वेंमें चढ जाते हैं। ८ वेंसे १२ वें गुणस्थान तक साधु ध्यानमग्न ही रहते हैं इसलिये वे साधु ही हैं, साधन करनेवाले हैं। जब चार घातीय कर्मोंका नाश होजाता है तब तेरहवें गुणस्थानमें अरहंत परमात्मा होजाते हैं। शुक्लध्यान सम्बन्धी शुद्धात्माकी भावनाका ही प्रताप है जो साधु आठवेंसे बारहवेंमें व फिर तेरहवेंमें आ जाते हैं। वहां आयु पर्यंत रहते हैं। अन्तर्मुहूर्त पहले दो शेष शुक्लध्यानोंको ध्याते हैं। चौदहवें गुणस्थानमें चौथे शुक्लध्यान द्वारा चार शेष अघातीय कर्मोंका भी विध्वंश करके सिद्ध परमात्मा होजाते हैं। पांचों ही परम पद शुद्ध सम्यक्तकी भावनाके फल हैं। इनमें चार पद अध्रुव हैं, केवल एक सिद्ध पद ही ध्रुव है व यथार्थ आत्माका स्वभावरूप है। सम्यक्ती उसीको उपादेय समझकर उसीपर अपना लक्ष्य-बिंदु रखकर शुद्धात्माकी आराधना करता रहता है।

श्लोक—मतिज्ञानं च उत्पायं, कमलासने कंठ स्थिते ।
ॐ वंकारं च ऊर्ध्वं च, तिय अर्थ सार्ध ध्रुवं ॥ २०४ ॥

अन्वयार्थ—(कंठस्थिते कमलासने) कंठके स्थानपर एक कमल बनाकर उसपर (ॐ वंकारं च ऊर्ध्वं च) श्रेष्ठ ॐ को विराजमान करके जो (तिय अर्थ) तीनों तत्वोंसे पूर्ण है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमई है (ध्रुवं) और परम्परासे चला आया अविनाशी पद है। इस ध्यानके द्वारा (मतिज्ञानं च उत्पायं) मतिज्ञानको विशेष उत्पन्न करना चाहिये।

विशेषार्थ—यहां पांच इंद्रिय व मनद्वारा जो सीधा पदार्थोंका ज्ञान होता है उस मतिज्ञानकी शक्तिको बढानेका उपाय बताया है जिससे अधिक दूर तकका विषय स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्रमें आसके तथा मनकी निश्चलता आत्मतत्वमें होसके। वह यह है कि एक कमल आठ पत्रोंका कंठस्थान पर विचारे, उसके मध्यमें श्रेष्ठ मंत्र ॐ को विराजमान करे। इसमें पांच परमेष्ठी गर्भित हैं। जिनमें रत्नत्रय धर्मका निवास है। इस ॐ को चमकता हुआ ध्यावे। कभी कभी पांचों परमेष्ठीके गुणोंपर लक्ष्य देकर विचार जावे, कभी कभी रत्नत्रयका स्वरूप व्यवहारनयसे व कभी निश्चयनयसे विचार जावे। इसीके द्वारा शुद्ध आत्माका विचार करे। शुद्धात्माके ध्यानसे आत्मशक्ति

बढती चली जाती है। ज्ञान तो आत्मामें परिपूर्ण है परन्तु ज्ञानावरण कर्मका आवरण पड़ा है जिससे प्रगट नहीं है। ध्यानके बलसे जितना जितना आवरण हटता जाता है उतना उतना ज्ञानका प्रकाश बढता जाता है।

श्लोक—कुज्ञानं त्रि विनिर्मुक्तं, मिथ्या छाया च त्यक्तयं।
ॐ वं ह्रियं श्रियं शुद्धं, शुद्ध ज्ञानं च पंचमं ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थ—(कुज्ञानं त्रि विनिर्मुक्तं) तीन कुज्ञानको छोडकर (मिथ्या छाया च त्यक्तयं) मिथ्यात्वकी छाया भी न रखते हुए (ॐ ह्रियं श्रियं शुद्धं) ॐ ह्रीं श्रीं इन तीन मंत्रोंके द्वारा जो शुद्ध आत्माका अनुभव है वही (शुद्ध पंचमं ज्ञानं च) शुद्ध पंचम केवलज्ञानको उत्पन्न करानेवाला है।

विशेषार्थ—केवलज्ञान क्षायिकज्ञा कभी न छूटनेवाला ज्ञान आत्माका स्वभाव है। वह ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे प्रकाशमान नहीं है। जब सर्व ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय होजाता है तब केवलज्ञान प्रकाशमान होता है। इसका उपाय एक शुद्ध आत्माका निश्चल ध्यान है, जिसको पहले गुणस्थानोंमें धर्मध्यान फिर श्रेणीके ऊपर शुक्लध्यान कहते हैं। शुद्धात्माके स्मरण करानेवाले तीन मंत्र पद प्रसिद्ध हैं। ॐ ह्रीं श्रीं इनके द्वारा धर्मध्यानके समय पांच परमेष्ठी व चौवीस तीर्थंकर व उनके परम ज्ञानादि ऐश्वर्यका चिंतवन किया जाता है। इस चिंतवनके द्वारा जब स्वरूपमें थिरता होती है तब धर्मध्यान कहा जाता है। जहां बुद्धिपूर्वक स्वरूप मग्नता या शुद्धोपयोग है, परन्तु जहां अबुद्धिपूर्वक उपयोगकी पलटन होजाती है वह शुक्लध्यान है। ॐ ह्रीं श्रीं मंत्रोंके आलम्बनसे जैसे धर्मध्यानमें ध्यान किया जाता था वैसे शुक्लध्यानमें इनका आलम्बन है, परन्तु पूर्व अभ्याससे मात्र पलटन होती है। जैसे ॐ से ह्रीं में व ह्रीं मे श्रीं में बुद्धिपूर्वक नहीं। जहां धर्मध्यान व शुक्लध्यानको मिथ्यात्व शल्यकी छायासे रहित ध्याया जाता है व जहां कुमति, कुश्रुत, व कुअवधि इन मिथ्याज्ञानोंसे मुक्ति है ऐसा भावश्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका कारण है।

श्लोक—देवं गुरुं धर्म शुद्धं च, शुद्ध तत्व सार्थं ध्रुवं।
सम्यग्दृष्टि शुद्धं च, सम्यक्तं सम्यक् दृष्टितं ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थ—(देवं गुरुं धर्मं शुद्धं च) जहां यथार्थ देव गुरु व शुद्ध धर्मकी श्रद्धा हो व (शुद्ध तत्व सार्धं ध्रुवं) शुद्ध यथार्थ अविनाशी आत्मतत्वकी श्रद्धा हो वहीं (सम्यग्दृष्टि शुद्धं च) शुद्ध सम्यग्दर्शन है। वास्तवमें (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शनका अर्थ ही यह है कि जहां (सम्यक् दृष्टितं) पदार्थको जैसाका तैसा यथार्थ जाना जावे।

विशेषार्थ—जैसा साध्य होता है वैसा साधन होता है। जब साध्य शुद्ध आत्माका लाभ है तब उसका साधन भी शुद्ध आत्माका लक्ष्य है। वास्तवमें शुद्धात्माका अनुभव ही मोक्षमार्ग है, यही सच्चा सम्यग्दर्शन है। शुद्धात्मानुभवके सहकारी वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेव व सिद्ध भगवान हैं तथा शुद्ध रत्नत्रयमई निश्चय धर्म है तथा इस निश्चयधर्मका उपकारक आवश्यकीय व्यवहार धर्म है। शुद्ध तत्वका पहचाननेवाला शुद्ध तत्वके स्मरणके लिये ही देव गुरु धर्मकी भक्ति करता है। इस भक्तिमें भी शुद्ध स्वरूपपर लक्ष्य रखता है। शरीर सम्बन्धी क्रियापर ध्यान नहीं है। असलमें आत्माका स्वभाव ही मोक्षमार्ग है। या उसीमें रमणता मोक्षमार्ग है।

देवसेनाचार्य तत्वसारमें कहते हैं—

सयल वियप्पे थक्के उव्वज्जइ कोवि सासओ भावो। जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सोहु ॥ ६१ ॥

भावार्थ—सर्व विकल्पोंके रुक जानेपर कोई अविनाशी भाव ऐसा झलक जाता है जिसको आत्माका स्वभाव कहते हैं तथा यही मोक्षका कारण है। और भी कहा है—

जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं। सा सुद्धचेयणावि य णिच्छयणयमास्सिए जीवे ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जो आत्मा है वही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र है, यही शुद्ध चेतना है। जो निश्चयनयका आश्रय करते हैं उनके लिये रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही है।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य शुद्धस्य, व्रतं तप संजमं सदा।
अनेक गुण तिष्ठंते, सम्यक्तं सार्धं ध्रुवं ॥ २०७ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य शुद्धस्य सम्यक्तं) जिस शुद्ध भावना करनेवाले जीवके पास सम्यग्दर्शन है वह

(सदा) सदा ही (सार्थं) सम्यग्दर्शनके साथ (व्रतं तप संयमं अनेक गुण ध्रुवं तिष्ठंते) व्रत, तप, संयमें अनेक गुण सदा निश्चय रूपसे रह सक्ते हैं।

विशेषार्थ—यहां सम्यग्दर्शनका महात्म्य बताया है कि शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन ही धर्मकी जड है। वृक्षकी जडके विना वृक्षपर पत्ते शाखा फूल फल कुछ नहीं लग सक्ते हैं उस ही तरह सम्यग्दर्शनके विना धर्मका कोई भी अन्य अंग नहीं होसक्ता है। जिसकी आत्मामें शुद्धात्मा अनुभव है वही सचा सम्यग्दर्शन है तथा वही श्रावक व मुनिके व्रत व्रत कहलाते हैं अन्यथा मिथ्या व्रत हैं। सम्यग्दर्शनके साथ ही बारह प्रकारका तप तप है अन्यथा मिथ्या तप है। सम्यग्दर्शनके साथ ही इंद्रिय व प्राण संयम संयम है अन्यथा असंयम है। इसके लिये जितने भी उत्तम गुण हैं उनका गुणपना सम्यग्दर्शनके ही साथ है। दानीका दान व पात्रका पात्रपना सम्यक्त सहित ही प्रशंसनीय है। सम्यग्दर्शनको गाढ, अतिगाढ, परमावगाढ करनेवाले ही आत्मज्ञान चारित्रादि गुण होते हैं।

योगसारमें श्री योगेन्द्राचार्य देव कहते हैं—

वय तप संजम सील जिय ए सव्वे अक इच्छ। जामन जाणइ इक परु सुद्धउभाव पवित्तु ॥ ३१७ ॥

भावार्थ—जबतक कोई शुद्ध पवित्र आत्मीक भावको नहीं जानेगा तबतक उसका व्रत, तप, संयम, शील ये सब निरर्थक हैं। शुद्ध आत्मीक अनुभवके साथ व्रत तप संयम शील आदि सब ही सफल हैं।

श्लोक—यस्य सम्यक्त हीनस्य, उग्रं तव व्रत संजमं।
सर्वा क्रिया अकार्या च, मूलविना वृक्षं यथा ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य सम्यक्त हीनस्य) जो सम्यग्दर्शन रहित है उसका (उग्रं तव) कठिन तप तपना (व्रत) व्रत पालना (संजमं) संयम धारणा (सर्वा क्रिया) इत्यादि सर्व व्यवहार आचरण (अकार्या च) व्यर्थ है या मोक्षमार्ग नहीं है (मूलविना वृक्षं) मूलके विना वृक्ष नहीं होसक्ता है।

विशेषार्थ—कोई ऐसा मानले कि मूल विना वृक्ष होजायगा तो उसकी पूरी अज्ञानता है। मूल या जड जब होगा तब ही वृक्ष अंकुरित होगा, फूटेगा, बढेगा, पत्र शाखावाला होगा, पुष्प फलसे

फलेगा। यदि जड़ नहीं है तो वृक्ष कभी लग नहीं सक्ता। क्योंकि जड़के द्वारा वृक्षका पोषण होता है। इसी तरह यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो कठिन२ तप करते हुए उपवास करना, कम खाना, रस छोडना, अटपटी आखडी लेकर भोजनको जाना, रूखा सूखा खाना, मासोपवासी, पक्षोपवासी रहना, कठिन २ स्थानोंपर जाकर तप करना, एकांत सेवना, घंटों ध्यान लगाना इत्यादि सर्व तपस्या सार रहित है। न तो आत्मानंद दाता है न स्वानुभव रूप है न कर्मनाशक है न मोक्षमार्ग है, मात्र कायक्लेश रूप है। भले ही पुण्य कर्मका बन्ध होजावे परन्तु संसारके जालको यह तप काट नहीं सक्ता। इसी तरह मुनिके महाव्रत, श्रावकके अणुव्रत व इंद्रियदमन व प्राणिरक्षा आदि सर्व ही व्यवहार धर्म पूजा, पाठ, जप, सामायिक, स्वाध्याय, शुद्धाहार, नीतिसे वर्तन, सत्यवादीपना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य पालन, करुणाका व्यवहार, चार प्रकार दानका देना, साधु सेवा, जनताका उपकार आदि क्रिया मात्र पुण्य बंधकारक है। सम्यग्दर्शनके विना मोक्षमार्ग नहीं है। जहां सम्यक्त होता है वहां मात्र आत्मोन्नतिके हेतुसे, वैराग्यभावसे, परिणामोंकी शुद्धताके लिये ही सर्व व्यवहार क्रिया तप आदि किया जाता है तब ये तपादि परिणामोंको शुद्धात्मानुभवमें लगानेके लिये विशेष सहकारी होजाता है। जहां आत्माके अनुभवकी कला नहीं आई है वहां ये सब तपादि किसी अंतरंगमें छिपी हुई कषायके हेतुसे ही किया जाता है। चाहे वह मान बडाईकी चाह हो, चाहे विषय भोगोंकी चाह हो, चाहे घरके कष्टोंसे दुःखित होकर किया जाता हो, चाहे किसी मायाचारसे हो। क्रोध, मान, माया, लोभ इनमेंसे किसी कषायकी पुष्टिके हेतुसे किया गया तपादि उस कषायको कैसे नाश कर सक्ता है जिसके नाशके लिये तपादि करनेका प्रयोजन है। इसलिये प्रथम सम्यग्दर्शनकी जड होनी चाहिये तब ही धर्मका वृक्ष लग सकेगा।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य मूलस्य, साहा व्रत नन्तनंताई।
अवरे वि गुणा होंति, सम्यक्तं हृदये यस्य ॥ २०९ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्तं यस्य मूलस्य) जिसके सम्यग्दर्शनरूपी जड है (साहा) शाखाएं (व्रत नन्तनन्ताई) व्रतरूपी अनन्तानन्त होसक्ती हैं (अवरे वि गुणा होंति) और भी बहुत गुण होते हैं (यस्य हृदये सम्यक्तं) जिसके अन्तरंगमें सम्यक्त है।

विशेषार्थ—जहां सम्यग्दर्शन है वहां परिणामोंकी अनन्तगुणी विशुद्धता बढती जाती है। कषायकी मंदताके साथ साथ विशुद्धता व वीतरागताके अनन्त अंश बढते जाते हैं। वे ही व्रतोंकी शाखाएं फूटना है। सम्यक्तीके भाव जहां बढते जाते हैं वह स्वयं अहिंसक होता जाता है। सत्यवादी, न्याय मार्गी, ब्रह्मचर्य रक्षक, संतोषी, संयमी होता हुआ चला जाता है। सम्यक्तके प्रभावसे सर्व बाहरी आचरण स्वयं ही उत्तम प्रकारसे होता जाता है। रस सहित आनन्दरूप सर्व व्रत तप आदि होने लगता है। जहां भीतर शुद्ध आत्माके अनुभवकी चतुराई मौजूद है वहां अनेक गुण होते हैं। वह कर्मोंका फल सुख तथा दुःख अत्यन्त समता भावसे भोगता है। उसके कर्मफल देकर झड़ जाते हैं न घोर बंध अत्यन्त अल्प करता है जो भी शीघ्र छूट जानेवाला है। सम्यक्तीके कर्मकी निर्जरा अधिक होती है बंध थोडा होता है। इसीलिये वह मोक्षमार्गी है। सम्यक्ती सदा संतोषी या सुखी रहता है। यदि आपत्तियें आजावें तो घबडाता नहीं। यदि सम्पत्तियें हों तो उन्मत्त नहीं होता है। वह ज्ञाता दृष्टा समदर्शी रहता है। उसका लक्ष्य एक आत्माकी तरफ रहता है, उसके व्यवहारसे किसीको पीड़ा नहीं होती है, वह जगतका महान उपकारी होता है, वह जगतको अपना कुटुम्ब समझता है। सम्यक्तके प्रभावसे क्या क्या गुण प्रगट होते हैं यह कथनमें नहीं आसक्ता है। सम्यक्तकी जड़ अपूर्व वृक्षको फलती है, जिसका अंतिम फल परमात्मा होजाना है।

श्लोक—सम्यक्त विना जीवो जाने, श्रुत्यंग बहुभेदं ।
अन्ये यं व्रतचरणं, मिथ्यातप वाटिकाजालं ॥ २१० ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त विना जीवो) सम्यग्दर्शनके विना जीव (श्रुत्यंग बहुभेदं जानै) ग्यारह अंग नौ पूर्वतक बहु प्रकार शास्त्रको जानै अथवा (अन्ये यं व्रतचरणं) अन्य जो कोई बहुत व्रतादिका आचरण करे सो सब (मिथ्या तप वाटिका जालं) मिथ्या तपका निवास रूपी जाल है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन एक अति सूक्ष्म आत्माका शुद्ध अनुभवन रूपी भाव है। जिसको इस सूक्ष्म तत्वका लाभ नहीं हुआ वह मुनि होकर ग्यारह अंग नौ पूर्व तक पढ लेवे अथवा अन्य कोई साधु बहुत प्रकार व्यवहार चारित्र पाले वह सब ज्ञान तथा चारित्र ऐसा बगीचा लगाना नहीं है जो सच्चा हो व जो मोक्षरूपी फलको देवे। किन्तु वह मिथ्या उपवनका जाल है। वह मिथ्या तप

है, कुनप है। अज्ञानी उसी जालमें मोहित हो अपना संसार बढानेके लिये ही प्रयत्न करता है न कि संसार हटानेके लिये। उसका ज्ञान व चारित्रका बाग मिथ्यात्वके आतापसे दूषित है जैसे वनमें अग्नि लग जावे तो सब वृक्ष भस्म होजावे इसी तरह मिथ्यात्वकी अग्निसे ज्ञान व चारित्रका बाग बढनेकी अपेक्षा भस्म ही होजायगा। इसलिये सम्यग्दर्शनके सिवाय और कोई आत्मोपकारी नहीं है।

श्लोक—शुद्धं सम्यक्त उक्तं च, रत्नत्रय संजुतं।
शुद्ध तत्वं च सार्धं च, सम्यक्तं मुक्ति गामिनो ॥२११॥

अन्वयार्थ—(शुद्धं सम्यक्त) शुद्ध सम्यग्दर्शन (रत्नत्रय संजुतं) रत्नत्रय सहित (च शुद्धतत्वं सार्धं च) और शुद्ध आत्मीक तत्व सहित (उक्तं च) कहा गया है। ऐसा सम्यक्त (मुक्ति गामिनो) मोक्षगामी जीवके होता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन जहां है वहां रत्नत्रय तीनों हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होते ही जितना ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान होजाता है और सम्यग्दर्शनके साथ ही अनंतानुबंधी कषायोंके उपशम होनेसे स्वरूपाचरण चारित्र पैदा होजाता है। यदि सम्यग्दर्शनके साथ तीनों ही न हों तो सम्यग्दर्शनको मोक्षमार्ग नहीं कह सक्ते। ऐसा सम्यग्दर्शन वास्तवमें शुद्ध आत्मीक तत्वके अनुभवके साथ साथ होता है। जिसको यह निश्चय सम्यक्त होजाता है वह अवश्य मोक्ष पहुंच जाता है। सम्यग्दर्शनमें आत्मानुभवमें कोई अंतर नहीं है। लब्धिरूप सम्यग्दर्शन तो अन्य कार्यकी तरफ उपयोग रखते हुए भी रहता है परन्तु उपयोगात्मक सम्यक्त तब ही होता है जब आत्मानुभूति जागृत होती है तब वहां कोई संकल्प विकल्प नहीं रहता है। ऐसी दशामें ही रत्नत्रयकी एकता कही जाती है। ऐसा ही देवसेनाचार्य तत्वसारमें कहते हैं—

सयल वियप्पे थक्कइ उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो। जो अप्पणो सहावो मोक्खस्सय कारणं सोहे ॥ ८६ ॥

भावार्थ—सर्व विकल्पोंके बंद होजानेपर ऐसा कोई अविनाशी निश्चल भाव पैदा होता है जो वास्तवमें आत्माका स्वभाव है तथा वही मोक्षका कारण है। वहां रत्नत्रय तीनों मौजूद हैं।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य त्यक्तं च, अनेक विभ्रम ये रताः।

मिथ्यात्वी मूढ दृष्टी च, संसारे भ्रमणं सदा ॥ २१२ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य सम्यक्तं त्यक्तं च) जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है (ये अनेक विभ्रम रताः) व जो अनेक प्रकार संकल्प विकल्पोंमें लीन हैं वे (मिथ्यात्वी मूढ दृष्टी च) मिथ्यात्वी बहिरात्मा हैं (सदा संसारे भ्रमणं) उनका सदा ही संसारमें भ्रमण होगा।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका लाभ जिनको नहीं हुआ है वे रातदिन पर्याय बुद्धि ही रहते हैं। शरीरमें ही अपनापना कल्पना करते हैं, उनके हर समय परमें ममता रूप व द्वेषरूप भाव रहता है। उनका उपयोग राग द्वेष भय सदा चंचल रहता है। वे आत्मज्ञानको न पाते हुए आत्मीक आनन्दके स्वादसे विमुख, मूढबुद्धि व मिथ्या श्रद्धान सहित होते हैं। वे अनंतानुबंधी कषायके सम्बन्धसे नीची गति बांधकर संसारमें ही भ्रमण करते हैं। जो जिसका स्वागत करता है वही उसको प्राप्त होता है। संसारका स्वागत करनेवाला संसार बढाता है, मोक्षका स्वागत करनेवाला संसारको हटाता है। इष्टोपदेशमें पूज्यपादस्वामी कहते हैं—

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः। स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वांछति ॥

भावार्थ—कर्म अपने कर्मके हितको देखता है। जीव अपने जीवके हितको देखता है जिसका प्रभाव जम जाता है वह अपने स्वार्थको चाहता है। मतलब यह है कि जब उपयोग आत्माकी तरफ प्रेमी होता है तब आत्माका हित होता है। जब उपयोग कर्मके उदयसे प्राप्त संसार, शरीर भोगोंमें अनुरक्त होता है तब संसार बढता है। सम्यक्तीके परिणामोंमें संसारसे उदासी है व मोक्षकी तरफ उत्साह है। इससे वह संसारसे पार होजाता है। मिथ्यात्वी संसारसे प्रेमी है, मोक्षसे उदासीन है, इससे अपने संसारको बढा लेता है।

श्लोक—सम्यक्तं ये उत्पादंते, शुद्ध धर्मरता सदा।
दोषं तस्य न पश्यंते, रजनी उदय भास्करं ॥ २१३ ॥

अन्वयार्थ—(ये सम्यक्तं उत्पादंते) जो सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कर लेते हैं (सदा शुद्ध धर्मरताः) व निरंतर शुद्ध धर्ममें लीन रहते हैं (दोषं तस्य न पश्यंते) उनके भीतर कोई दोष नहीं दिखलाई पड़ते हैं जैसे (भास्करं उदय रजनी) सूर्यके उदयसे रात्रिका अंधकार नहीं दिखता है।

विशेषार्थ—इसका भाव यह है कि जहांतक मिथ्यादर्शन और अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदय रहता है वहांतक आत्माके ऊपर अज्ञान अंधकार छाया रहता है व अनेक दोष दीख पड़ते हैं। एक दफे सम्यग्दर्शन रूपी सूर्यका उदय हुआ कि सर्व अज्ञानका अंधेरा व अंधेरेमें होनेवाले सर्व दोष उसी तरह मिट जाते हैं जिस तरह सूर्यके उदय होते ही रात्रिका अंधेरा व रात्रि सम्बन्धी सर्व दोष मिट जाते हैं। सम्यग्दर्शन वास्तवमें बाल सूर्यवत् है, यही बढतेर मध्याह्नका प्रतापशाली केवलज्ञानरूपी सूर्य होजाता है। जैसे सूर्यके उदय होनेसे सुमार्ग कुमार्ग व सर्व जगतके पदार्थ प्रगट रूपसे अलग २ दीखते हैं उन पदार्थोंके साथ कैसा व्यवहार करना यह सब विधि समझमें आ जाती है। उसी तरह सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही ऐसा सम्यग्ज्ञान झलक जाता है जिससे लोका-लोकके छहों द्रव्योंके द्रव्य गुण पर्याय अलग २ झलक जाते हैं। आत्मा और अनात्मा अनादिकालसे मिले हुए हैं, दूध व पानीके समान एकत्र होरहे हैं तथापि अपने २ लक्षण भेदसे जुदे २ दिखलाई पडते हैं। सम्यक्तीको शुद्ध निश्चयनयसे पदार्थोंके अवलोकनकी शक्ति पैदा होजाती है, जिससे वह वृक्षादिमें व पशु पक्षी आदिमें सर्व प्राणी मात्रके भीतर आत्मद्रव्यको एकरूप शुद्ध ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमय देखता है। पहले जो उसे विकाररूप ही अपना व परका आत्मा दीखता था अब विकार रहित अपना व परका आत्मा दीखता है। मिथ्यात्वके अन्धेरेमें रागद्वेषकी तीव्रता थी। संसारासक्तपना था, स्वार्थ सिद्धिके लिये अन्यायसे वर्तन था, पांच इंद्रियोंकी लम्पटता थी। सम्यक्त होते ही अंतरंगमें वैराग्य व साम्यभावकी जागृति होजाती है। संसारकी आसक्ति मिट जाती है। विषयभोगकी तृष्णा विदा होजाती है। जगतके व्यवहारमें अहिंसातत्व सामने आके खडा रहता है, जिससे वह अन्यायके साथ वर्ताव न करता हुआ न्याय, दया, सभ्यता, परोपकारके साथ व्यवहार करता है। पहले पर पदार्थके संयोगमें अभिमान करता था, वियोगमें घोर विषाद करता था। सम्यक्तके होते ही कर्मोंके कार्यका ज्ञानी मात्र ज्ञाता दृष्टा रहता है। अच्छे व बुरे उदयमें तन्मय नहीं होता है। संसारके कारणीभूत सर्व भावोंके दोष सम्यक्त होते ही मिट जाते हैं।

श्लोक—सम्यक्तं ये न पश्यंति, अंधा इव मूढत्रयं।
कुज्ञानं पटलं यस्य, कोशी उदय भास्करं ॥ २१४ ॥

अन्वयार्थ—(ये सम्यक्तं न पश्यंति) जो कोई सम्यग्दर्शनका अनुभव नहीं करते हैं वे (अंधा इव) अंधोंके समान हैं। (यस्य पटलं मूढत्रयं कुज्ञानं) जिनकी ज्ञान चक्षुके ऊपर तीन मूढता व तीन कुज्ञानका पटल या परदा होरहा है। जैसे (कोशी) एक किसी बंद कोठरीमें बैठा हुआ या परदेके भीतर छिपा हुआ प्राणी (भास्करं उदय) सूर्यके उदयको नहीं देख सक्ता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यका दर्शन उसीको होगा जो अज्ञानके परदेको हटाएगा। जैसे परदे या बंद कोठरीमें बैठा हुआ मानव सूर्यके उदयको नहीं देख सक्ता है यद्यपि सूर्य प्रकट है तथापि उसको तो अंधेरा ही दिख पड़ता है, उसी तरह जिसके ज्ञान नेत्र देवमूढ़ता, पाखंड मूढता व लोक मूढतासे मुद्रित हैं व जो कुमति, कुश्रुत व कुअवधिके मिथ्याज्ञानमें वर्त रहा है उसके सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य जो अपने ही आत्मामें प्रकाशमान है नहीं दीखता है। वह अपने आत्माको रागी, द्वेषी, मोही ही अनुभव करता है। अभिप्राय यह है कि जो सम्यग्दर्शनका प्रकाश करना चाहें उनको उचित है कि तीन मूढताओंको पहले त्यागे, किसी लौकिक मिथ्या अभिलाषामें पड़कर मिथ्यादेवोंका, मिथ्या पाखण्डी साधुओंका व मिथ्या लौकिक क्रियाओंकी प्रतिष्ठा न करें। इस बातका निश्चय रक्खें कि जगतमें सुख दुख अंतरंगमें पुण्य पापके उदयसे होता है, बाहरी कारण यथायोग्य निमित्त है। कोई कुदेवकी पूजा भक्ति पुण्यको नहीं उत्पन्न कर सक्ती है न पापको काट सक्ती है। प्रथम यह निश्चय होना जरूरी है कि परिणामोंसे यह जीव पाप या पुण्यका बंध करता है। अशुभ भाव पाप व शुभ भाव पुण्यके बंधके कारण हैं। इसलिये जिस प्रकारकी पूजा व भक्तिसे भावोंमें मंद कषायपना झलके, रागद्वेषकी कमी हो, वीतरागताका अंश प्रगटे वे तो कार्यकारी हैं। परन्तु जिनसे कषाय बढे, राग बढ़े, वें अकार्यकारी हैं। अतएव सर्वज्ञ वीतराग भगवानकी भक्ति वास्तवमें परिणामोंको विशुद्ध करनेवाली है। इसलिये जो सम्यक्तके सूर्यको देखना चाहें उनको सच्चे देव, गुरु, धर्मकी भक्ति करनी चाहिये। मूढताईमें पडकर अन्धकारका बल और अधिक न बढाना चाहिये। इन तीन मूढताओंको त्याग देनेसे व जिनवाणीका प्रेमपूर्वक अभ्यास करनेसे कुमति व कुश्रुत ज्ञानका अन्धेरा हटता चला जायगा—अभ्यास करते २ एक समय ऐसा आजायगा जो यकायक सम्यग्दर्शन सूर्यका उदय होजावे।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य सूवन्ते, श्रुतज्ञानं विचक्षणं।
ज्ञानेन ज्ञान उत्पाद्यं, लोकालोकस्य पश्यते ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस आत्माके भीतर (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शन तथा (विचक्षणं श्रुतज्ञानं) यथार्थ श्रुतज्ञान (सूवन्ते) परिणमन कर रहा है वहां ही (ज्ञानेन) इस भाव श्रुतज्ञानके द्वारा (ज्ञान उत्पाद्यं) ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे (लोकालोकस्य पश्यते) लोकालोक दिखलाई पडते हैं।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि सम्यग्दर्शन सहित जिसको शास्त्रका यथार्थ ज्ञान है वही अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको ठीक २ अनुभव कर सक्ता है। सर्व द्वादशांग वाणीका सार स्वानुभव है। यही स्वानुभव धर्मध्यान है व यही स्वानुभव शुक्लध्यान है। इस हीके प्रतापसे घातिया कर्मोंका क्षय होकर केवलज्ञानका लाभ होता है। केवलज्ञानका कारण यथार्थ स्वसंवेदन ज्ञान है। इसी ज्ञानसे सर्व आवरण दूर होजाता है और केवलज्ञानका प्रकाश होजाता है। इस कथनसे यह बात दिखलाई है कि जिसको अपना परमात्म पद प्राप्त करना हो उसको उचित है कि सम्यग्दर्शनका लाभ करे और शास्त्रोंको भलेप्रकार मनन करे। जिनवाणीके अभ्यास व मननसे ही घातिया कर्मोंकी स्थिति घटती है, सम्यग्दर्शनके घातक कर्मोंका बल क्षीण होता है। सम्यग्दर्शन होनेके पीछे भी चारित्रकी शक्ति बढानेके लिये व अनन्त ज्ञानका प्रकाश होनेके लिये शास्त्रका विचार व आत्मानुभवका अभ्यास बराबर रखना जरूरी है।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य न साधंते, असाध्यं व्रत संजमं।
ते नरा मिथ्याभावेन, जीवंतोऽपि मृता इव ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य सम्यक्तं न साधंते) जिससे सम्यग्दर्शनका साधन नहीं होसक्ता है उससे (व्रत संजमं असाध्यं) व्रत व संयमका पलना असाध्य है। (ते नरा) वे मानव (मिथ्याभावेन) मिथ्यात्वकी भावना सहित होनेसे (जीवंतोऽपि) जीवते हुए भी (मृता इव) मृतकके समान ही हैं।

विशेषार्थ—यहां यह बतलाया है कि मानव जन्मकी सफलता सम्यग्दर्शनके लाभमें व सम्यक्त सहित व्रत व संयमके पालनेमें है। जिन मानवोंने मिथ्यात्वका ही सेवन किया उनका जीना न

जीना समान है। वे मृतकके तुल्य ही हैं क्योंकि उन्होंने अत्यन्त दुर्लभ मानव जन्म पानेका कोई सार नहीं पाया। जिस मिथ्यात्वके कारण एकेन्द्रिय पर्यायमें अनन्तकाल विताना पडता है व द्वेंद्रियादि कीटोंमें व पशु पक्षियोंमें व नरकमें घोर कष्ट उठाना पडता है, उस मिथ्यात्वको दूर करनेका व सम्यक्तके लाभ होनेका अवसर मन रहित पंचेंद्रियों तकमें नहीं है। जिस सम्यक्तका लाभ सुगमतासे इस मानव पर्यायमें होसक्ता है। यदि किसीने ऐसे अमूल्य अवसरको पाकर सम्यग्दर्शनका लाभ न किया, उसका साधन न किया व सम्यग्दर्शनके विना व्रत संयम भी यथार्थ न पाला तो सर्व तरहका सुभीता जो सम्यक्तके लाभका मिला था वह निरर्थक गया, इसके सिवाय जिसके परिणामोंमें सम्यक्त है, भेदविज्ञान है, वह मानव जन्मको संतोष व सुख पूर्वक विता सक्ता है। वह तृष्णाका दास न होकर जलमें कमलके समान गृही जीवनमें रह सक्ता है, शुद्धात्माकी भावनासे परमानन्दरूपी अमृतका पान कर सक्ता है। वही मुनि या श्रावकका चारित्र यथार्थ व शुद्ध भावसे पाल सक्ता है। सम्यग्दर्शनके विना महान् चारित्र भी एकके अंक विना शून्यके समान निष्फल है। जो सम्यक्ती है, वही जीवित मानव हैं, मिथ्यात्व सहित तो वह मृतकके समान है।

श्लोक—उदयं सम्यक्तं यस्य, त्रिलोकं उदयं सदा।
कुज्ञानं रागत्यक्तं च, मिथ्या माया विलीयते ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिसकी आत्मामें (सम्यक्तं उदयं) सम्यग्दर्शनका प्रकाश होगया है उसके (सदा) सदा ही (त्रिलोकं उदयं) तीन लोकका प्रकाश है। उसने (कुज्ञानं रागत्यक्तं च) कुज्ञान और रागको छोड दिया है (मिथ्या माया विलीयते) और वहां मिथ्यात्व व मायाका अभाव है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका प्रकाश होते ही तीन लोकमें भरे हुए जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल इन छः द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप झलक जाता है। मेरा आत्मा सर्व अनात्माओंसे व अन्य आत्माओंसे भिन्न है, एक ज्ञानानंद स्वभावमई है ऐसा प्रकाश होजाता है। यदि शास्त्रका ज्ञाता है तो अपनेको सर्व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भाव कर्म व शरीरादि नोकर्मसे भिन्न अनुभव करता है। जो शास्त्रका ज्ञाता नहीं व अन्तरङ्ग विरोधी कर्म प्रकृतियोंके उपशमसे जिसको सम्यग्दर्शन होजाता है वह भी अपनेको यथार्थ अनुभव कर लेता है। सम्यक्तके होते ही ज्ञान थोडा हो

या बहुत सब सम्यग्ज्ञान होजाता है, रागद्वेषका गाढा मैल कट जाता है। यदि चारित्र मोहके उदयसे कुछ राग भाव होता भी है तो उसे वह कर्मकृत विकार जानता है, अपना स्वभाव नहीं जानता है व उसके मेटनेके लिये भी अपना आत्मबल प्रगट करता रहता है। उसके भावोंमें न तो संसारमई अहंकार ममकार रूप मिथ्याभाव है और न किसी प्रकारका मायाचार है। वह सरल भावोंसे मोक्षमार्गी होकर चलता है व जीवनको सफल बनाता है। सम्यग्दर्शनका लाभ परम लाभ है, सम्यक्तीका जीवन प्रशंसनीय जीवन है। सम्यक्ती सदा सुखी रह सक्ता है।

श्लोक—सम्यक्तयुत नरयम्मि, सम्यक्तहीनो न च क्रिया।
सम्यक्तं मुक्ति मार्गस्य, हीनो सम्यक् निगोदयं ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त युत नरयम्मि) सम्यग्दर्शन सहित नरकमें रहना अच्छा है (सम्यक्त हीनो न च क्रिया) सम्यग्दर्शनसे जो शून्य है उसके कोई भी क्रिया यथार्थ नहीं है (सम्यक्तं मुक्ति मार्गस्य) मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शन मुख्य है (सम्यक् हीनो निगोदयं) जो सम्यग्दर्शनसे हीन है वह निगोदमें चला जाता है।

विशेषार्थ—यहां भी सम्यग्दर्शनका महात्म्य बताया है कि सम्यग्दर्शन सहित हो और यदि नरकमें भी कर्मानुसार रहना पडे तो कोई हर्ज नहीं है। वहांपर भी सम्यक्ती आत्मिक आनन्दका अनुभव कभी कभी करता ही रहता है तथा सम्यग्दर्शनके प्रभावसे नरकके कष्टोंको कर्मोदय जानकर समताभाव रखता है। सातों नरकोंमें सम्यक्त पैदा होजाता है तथा पहले नर्कमें सम्यग्दर्शनको साथ लेकर भी जासक्ता है। यदि सम्यग्दर्शन होनेसे पहले नरक आयु बांधली हो। सम्यग्दर्शनके विना मुनि धर्म व श्रावक धर्मकी कोई भी क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है, मात्र पुण्य बन्ध करानेवाली है। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गमें प्रथम इसीलिये कहा गया है कि इसके विना ज्ञान कुज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है। जो सम्यक्ती नहीं हैं वे अज्ञान भावसे जगतमें आचरण करते हुए पर्याय बुद्धिके गाढ ममत्वके कारण एकेन्द्रिय साधारण वनस्पति काय नाम कर्मको बांधकर निगोदमें चले जाते हैं। वहां दीर्घकाल तक घोर कष्ट पाते हैं। वहांसे उन्नति करके फिर मानव गति पाना अतिशय कठिन होजाता है। अतएव इस मानव जन्ममें जिस तरह बने उद्यम करके सम्यग्दर्शनका लाभ कर लेना चाहिये। यही भव समुद्रसे तारनेवाला खेवटिया है। यही इस लोक परलोक दोनोंको सुधारनेवाला है।

श्लोक—सम्यक्त युतपानस्य, ते उत्तम सदा बुधैः ।
हीनो सम्यक् कुलीनस्य, अकुली अपान उच्यते ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त युत पानस्य) सम्यग्दर्शन सहित जो कोई भी पात्र हो, चाहे हीन भी हो (ते बुधैः सदा उत्तम) उसको पंडितोंने सदा उत्तम कहा है । (सम्यक्त हीनो कुलीनस्य) जो उत्तम कुलवाला है परन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित है उसे (अकुली अपान उच्यते) नीच कुली व नीच पात्र कहा जाता है ।

विशेषार्थ—यहां पान शब्द पीनेके वर्तनको कहते हैं। मतलब कोई भी पात्र हो चाहे हीन मानव भी क्यों न हो या कोई पशु पक्षी भी क्यों न हो जिसके पास सम्यग्दर्शनरूपी रत्न है वह उत्तम है, माननीय है, क्योंकि वह मोक्षमार्गी है । भले ही उसकी मान्यता उसके शरीर व उसकी आजीविकाकी अपेक्षा हीन हो परन्तु सम्यग्दर्शनके प्रभावसे वह देवोंके द्वारा भी माननीय होजाता है । बड़े २ आचार्य भी उसकी प्रशंसा करते हैं । इसके विरुद्ध जो कोई उत्तम कुलमें पैदा हुआ हो, जगतमें माननीय हो परन्तु यदि वह सम्यग्दर्शनसे शून्य है, मिथ्यादृष्टी संसाराशक्त पर्यायबुद्धि है तो आचार्यगण व विवेकी मानव उसे हीन कुली व हीन पात्र ही कहते हैं । क्योंकि उसकी आत्मा हीन है, दुर्गतिमें जानेवाली है । एक गृहस्थ जो सम्यक्ती है वह उस मुनिसे बहुत अच्छा है जो घोर तप करता हुआ भी मिथ्यादृष्टी है । जैसे अंधकार और प्रकाशका अन्तर है वैसे मिथ्यात्वका और सम्यक्तका अन्तर है । जैसे विष और अमृतका अन्तर है वैसे मिथ्यात्व और सम्यक्तका अंतर है । श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजं । देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥ २८ ॥

भावार्थ—यदि चांडालकी देहसे उत्पन्न हुआ है परन्तु सम्यग्दर्शन सहित है तो उसे भगवानने देववत् कहा है, वह जलते हुए अंगारके समान है जिसके ऊपर भस्म पडी है। भस्मके कारण उसका प्रकाश गुप्त है परन्तु भीतर वह यथार्थ अग्नि है । उसी तरह चांडालका शरीर भले ही हीन माना जाता हो परन्तु उसकी आत्मामें सम्यग्दर्शन होगया है इसलिये वह हीन नहीं है किंतु देवोंके समान उच्च है, माननीय है, मोक्षमार्गी है । वह एक अति कुलीन मिथ्यादृष्टीकी अपेक्षा बहुत कम पापकर्म बांधता है व अधिक पुण्यकर्म बांधता है । उसकी आत्मामें आत्मीक आनन्दामृतका स्वाद

आरहा है जब कि कुलीन मिथ्यादृष्टी मात्र विषयके स्वादका ही लोलुपी होरहा है।

और भी कहा है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्। अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥

भावार्थ—जो गृहस्थ मिथ्यादृष्टी नहीं है वह मोक्षमार्गपर चलनेवाला है और जो साधु मोहवान् मिथ्यादृष्टी है वह संसारमार्गपर चलनेवाला है। इसलिये एक मिथ्यादृष्टी मुनिसे एक सम्यक्ती गृहस्थ श्रेष्ठ है।

श्लोक—तीर्थं सम्यक्तं सार्धं, तीर्थंकर नाम शुद्धए।
कर्मं क्षिपति त्रिविधिं वा, मुक्तिपथं सार्थ ध्रुवं ॥ २२० ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्तं सार्धं) जो जीव सम्यग्दर्शन सहित है वही (तीर्थंकर नाम) तीर्थंकर नामकर्मको बांधकर (तीर्थं) तीर्थंकर जन्म लेता है। वह जन्म (शुद्धए) आत्माकी शुद्धिके लिये होता है। वहां (त्रिविधिं वा कर्मं क्षिपति) तीन प्रकारके कर्मोंका क्षय कर डालता है (मुक्तिपथं सार्थ ध्रुवं) उसके यथार्थ व निश्चल मोक्षका मार्ग विद्यमान है।

विशेषार्थ—जो सम्यक्ती होता है उसको ही तीर्थंकर नाम कर्मका बंध होता है। उस सम्यक्त व तीर्थंकर नाम कर्मके प्रभावसे वह जीव यातो उसी भवसे तीर्थंकर होकर धर्मका प्रचार करता है जैसा विदेहोंमें होसक्ता है अथवा एक भव और लेकर मनुष्य हो तीर्थंकर पदधारी होता है जिसके इन्द्रादिदेव पांचों ही कल्याणक करते हैं। भरत व ऐरावतमें पांचों ही कल्याणक धारी जन्मसे ही तीर्थंकर होते हैं। तीर्थंकरोंके ऐसा यथार्थ आत्मानुभव होता है कि वे अपना लक्ष्य निरंतर आत्माकी शुद्धिपर ही रखते हैं। किंचित् भी वैराग्यका बाहरी निमित्त पाते ही वे दीक्षा लेलेते हैं। और थोडे ही परिश्रमसे घातिया कर्मोंका नाश कर केवलज्ञानी होजाते हैं। फिर जब-तक आयु शेष है यत्र तत्र आर्यखंडमें विहार करके धर्मका उपदेश देते हैं। फिर सर्व कर्मोंसे रहित हो अर्थात् तीनों ही प्रकारके कर्मोंसे छूट करके अर्थात् भावकर्म राग द्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि व नोकर्म शरीरादि इन सबसे मुक्त हो शुद्ध सिद्ध होजाते हैं। यह परमोपकारी निश्चल सम्यग्दर्शन साथ साथ रहता है, वही तीर्थंकर कर्मके बंधका निमित्त मिलाता है। वही तीर्थंकरके जन्मका निमित्त

मिलाता है। उसीके प्रभावसे तीर्थका प्रचार होता है। वही मोक्षमें पहुंचा देता है। वहापर भी यह निर्मल क्षायिक सम्यक्त सदाकाल बना रहता है। इसीके महात्म्यसे वहां भी सिद्धभगवान स्वात्मानंदका भोग करते रहते हैं। रत्नकरंडमें कहा है—

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादांभोजाः। दृष्ट्वा सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥ ३९ ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे धर्मचक्रके धारी तीर्थंकर होते हैं जिनके चरणकमलोंको इन्द्रादि, चक्रवर्ती व गणधरादि आचार्य नमन करते हैं, जिनको भलेप्रकार पदार्थोंका निश्चय है व जिनकी शरणमें तीनलोकके प्राणी आते हैं।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य चित्तंति, वारं-वारेन सार्थयं।
दोषं तस्य न पश्यंते, सिंघ मातंग जूथयं ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जो कोई (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शनको (सार्थयं) यथार्थ रूपसे (वारंवारेन) वारंवार (चित्तंति) चिंतवन करते हैं (तस्य दोषं न पश्यंते) उसको दोष नहीं देखते हैं। जैसे (मातंग जूथयं) हस्तीके झुंड (सिंघ) सिंहको नहीं देखते हैं।

विशेषार्थ—जैसे सिंहका ऐसा प्रताप होता है कि उससे भय खाकर हाथियोंके समूह सिंहका सामना नहीं करते हैं, उसकी गर्जना सुनकर दूरसे ही भाग जाते हैं उसी तरह जिस भव्यजीवके अंतरंगमें सम्यग्दर्शनका वारवार चिंतवन रहता है अर्थात् जो अपने शुद्ध आत्मीक तत्वको सर्व अनात्मीक तत्वसे पृथक् करके एकाग्र मन हो अनुभव करते हैं उनके ऊपर रागद्वेषादि दोषोंका आक्रमण नहीं होता है। वे समताभावमें लीन रहते हैं। वे अपने आत्मीक धनके सिवाय किसी भी पर वस्तुको परमाणु मात्र भी अपनाते नहीं हैं। उनके भावोंमें अपने शुद्धात्माका मानो चित्रण होजाता है। उसके प्रेमके वे आसक्त होजाते हैं। वे कषायके मैलको मोहनीय कर्मका विकार समझते हैं। वे यही भावना करते हैं कि हमारे उपयोगमें कषायका मैल न झलके तौही उत्तम है। यदि कदाचित् चारित्र मोहके उदयसे राग द्वेषका भाव आजाता है तौ उससे भी उदासीन रहते हैं। दोषको दोष पहचानते रहते हैं। वे सदा जागृत रहते हैं। कभी भी मिथ्याज्ञानके धोखेमें नहीं आते

हैं। उनके पास गुणस्थानकी परिपाटीके अनुसार बहुतसा कषायोंका दोष तो आता ही नहीं, जो कुछ आता भी है उसको वे सदा जीतनेका उद्यम रखते हैं। वास्तवमें सम्यग्दृष्टी एक सिंहके समान है, वह बडा साहसी है, आत्मबली है। उसके पास आत्मज्ञानरूपी तेज बडा प्रतापशाली है उस तेजके सामने रागादि दोषरूपी हाथी आते हुए अवश्य कांपते हैं।

श्लोक—सम्यक्तं शुद्ध पदं सार्थं, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
ति अर्थं शुद्ध संपूर्णं, सम्यक्तं शाश्वतं पदं ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्तं सार्थं शुद्ध पदं) सम्यग्दर्शन यथार्थ शुद्ध पद है (शुद्ध तत्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्मीक तत्वको प्रकाश करनेवाला है (ति अर्थं शुद्ध सम्पूर्णं) शुद्ध तीनों भावोंसे पूर्ण है (सम्यक्तं शाश्वतं पदं) सम्यग्दर्शन ही अविनाशी स्वरूप है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन निश्चयसे इस आत्माका एक शुद्ध निर्विकल्प गुण है। इसीके प्रतापसे शुद्ध आत्माका अनुभव होता है। जहां सम्यग्दर्शन उपयोगात्मक है वहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों ही पूर्णताको लिये विराजमान रहते हैं अर्थात् जब शुद्ध निश्चयनयके बलसे शुद्धात्माकी भावना करते शुद्ध आत्माका अनुभव किया जाता है तब वहां तीनोंकी पूर्णता ही स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे अनुभवमें आती है। यथार्थ आत्मा परोक्षरूपसे जाना जाता है। केवलज्ञानकी अपेक्षा वह परोक्ष है परंतु स्वसंवेदन ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है। सम्यग्दर्शन आत्माका एक अविनाशी गुण है। संसारी जीवोंके मिथ्यात्वके उदयसे ढक रहा है। जब मिथ्यात्वका अंधेरा हट जाता है तब यथार्थ प्रकाश होजाता है। सम्यग्दर्शनकी महिमा अपार है। आत्माको यही परमात्मा झलकानेवाला है। यही ध्यानकी अग्नि प्रकटानेवाला है। जिससे कर्मोंके समूह भस्म होजाते हैं।

श्लोक—यस्य हृदये सम्यक्तं, उदयं शाश्वतं स्थिरं।
तस्य गुण शेष नाथस्य, आसक्तं गुण अनंतयं ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य हृदये) जिसके अंतरंगमें (शाश्वतं स्थिरं सम्यक्तं उदयं) अविनाशी निश्चल क्षायिक

सम्यग्दर्शनका प्रकाश होजाता है (तस्य शेष गुण नाथस्य) उस अनन्तगुणके स्वामीके भीतर (अनंतयं गुण आसक्तं) अनंत गुण पाए जाते हैं।

विशेषार्थ—क्षायिक सम्यग्दर्शनके प्रकाश होते ही इस आत्माके भीतर गुणोंका विकाश होने लगता है। यह आत्मा स्वभावसे अनंतगुणोंका स्वामी है। घातिया कर्मोंके आवरणके कारण वे गुण प्रगट नहीं हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शनके होनेपर वह महात्मा अधिक काल तक छद्मस्थ नहीं रहता है। यातो उसी ही जन्ममें केवलज्ञानी होजाता है या बीचमें एक भव देव या नारकीका लेकर मनुष्य हो केवलज्ञानी होजाता है या यदि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिसे पहले तिर्यंच आयु या मनुष्य आयु बांधली हो तो भोगभूमिमें जाकर फिर वहांसे देव होकर फिर मनुष्य हो नियमसे केवलज्ञानी होजाता है। जैसे सूर्यके ऊपर मेघोंका आवरण था इससे उसकी किरणें नहीं फैलती थीं। सर्व आवरण हट जानेसे पूर्णपने किरणोंका प्रकाश होजाता है उसी तरह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके उदयसे आत्माके अनंतगुण प्रच्छन्न थे, अप्रगट थे। जब इन चारोंका क्षय होजाता है तब अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, यथाख्यातचारित्र, क्षायिक सम्यक्त, अनन्त सुख आदि प्रकाशमान होजाते हैं। इन सबमें प्रथम क्षायिक सम्यक्त होता है। जबतक क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट न हो तबतक कोई महात्मा क्षपकश्रेणीपर नहीं चढ सक्ता है। क्षपकश्रेणीपर जानेसे ही दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानके अंतमें चारित्र मोहका पूर्ण क्षय होजाता है। तब ही क्षीण मोह बारहवां गुणस्थानवर्ती होजाता है और वहां यथाख्यात चारित्र प्रकाशमान होजाता है। फिर इस गुणस्थानके अन्तमें शेष तीन घातीय कर्मोंका क्षय होता है, तब तेरहवें गुणस्थानमें सर्वांग केवली होकर अर्हंत नाम पाता है। पूर्ण गुण विकाशी परमात्मा हो जाता है। भावार्थ यह है कि सम्यग्दर्शन ही वास्तवमें परमात्म पदका कारण है। इसलिये जो अपना सच्चा हित चाहें उनको उद्यम करके सम्यग्दर्शनको अपने भीतर अवश्य प्रकाश करना चाहिये। यही मोक्षकी सीढी है।

श्लोक—सम्यक्तं येन दिष्टंते, उदयं भुवनत्रयं।
लोकालोकविलोकंच, आलवाले मुखं यथा ॥२२४॥

अन्वयार्थ—(येन सम्यक्तं दिष्टंते) जिसने सम्यग्दर्शनका अनुभव कर लिया है उसको (भुवनत्रयं

उदयं) तीन लोकका ज्ञान होगया है (लोकालोकविलोकं च) उसने लोक अलोकको उसी तरह देख लिया
है (यथा आलवाले मुखं) जैसे निर्मल जलके कुंडमें मुख दिख जाता है

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन तब ही होता है जब स्वपरका भेद विज्ञान हो, आत्मा व अनात्माका
भिन्न २ लक्षण प्रगट होजावे। यह तीन लोक इनही दो पदार्थोंका समुदाय है। तथा अलोकाकाश
भी अनात्मामें गर्भित है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका राजमार्ग यह है कि छः द्रव्य, पांच
अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थोंका ज्ञान, व्यवहार नय तथा निश्चय नयसे यथार्थ प्राप्त
किया जावे। जिसने इन सबको समझ लिया उसने तीन लोक व अलोकको वास्तवमें उसी
तरह देख लिया जैसे निर्मल जलस्थानमें अपना मुख दिख जाता है। सम्यक्तीका आत्मा निर्मल
होता है। उसमें कोई वस्तु आश्चर्यकारी नहीं भासती है। शास्त्रज्ञानके बलसे वह सर्व जगतके
द्रव्योंके तत्वोंका जानकार होजाता है। यह तो परोक्ष लोकालोकका ज्ञान होता है। फिर यही
सम्यक्ती जीव जब उन्नति करता है तब साक्षात् अर्हन्त परमात्मा होजाता है। उस समय तो प्रत्यक्ष
ज्ञान भी सर्व लोकालोक अपने अनन्त गुण पर्याय सहित एक साथ स्पष्ट झलक जाते हैं। वास्तवमें
सम्यक्त एक अपूर्व दर्पण है, जिससे अपना शुद्ध आत्मा कर्ममैलसे मिला हुआ होनेपर भी कर्मसे
पृथक् झलकता है, स्वानुभवमें आता है, उसके आनन्दका स्वाद आता है। सम्यक्तीको जीवन्मुक्त
कहें तो कुछ अनुचित नहीं है। वह सदा सुखी रहता है, वह सीधा मोक्षनगरको चला जारहा है।
ऐसे सम्यक्तको जिस तरह बने प्राप्त करना चाहिये।

आठ मूल गुण।

श्लोक—मूलगुणं उत्पायंते, फल पंच न दिष्टते।
बड पीपल कठुम्बर, पाकर उदंबरंस्तथा ॥ २२५ ॥

अन्वयार्थ—(मूलगुणं उत्पायंते) सम्यग्दृष्टीको मुलगुण पालने चाहिये (फल पंच न दिष्टते) उसे पांच
फल न लेने चाहिये (बड पीपल कठुम्बर पाकर उदंबरंस्तथा) बडका फल, पीपलका फल, अंजीरका फल,
पाकर फल तथा उदम्बर या गूलर।

विशेषार्थ—वड आदि पांच फलोंमें त्रस जीव होते हैं। इसलिये दयावान प्राणी ऐसे फलोंको नहीं लेता है जिनके खानेसे त्रस जंतुओंका घात हो। इन फलोंको न गीला अर्थात् हरा खाना चाहिये और न सूखा खाना चाहिये। क्योंकि सूखनेपर वे त्रस जंतु सूख जांयगे। उनका कलेवर मांस होता है। सूखे मांसके खानेका दोष आता है। सागारधर्मामृतमें भी कहा हैः—

पिप्पलोदुंबरप्लक्षवटफलगुफलान्यदन्। हंत्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः ॥ १३–२ ॥

भावार्थ—पीपल, गूलर, पाकर, वड और कठूमर या अंजीर इन पांच वृक्षोंके हरे फल या सूखे फल जो खाता है वह राग भावकी अधिकतासे अनेक त्रस जंतुओंका घात करनेवाला है। सम्यग्दृष्टी विवेकी होजाता है। वह खानपान ऐसा रखना चाहता है जिससे शरीर स्वास्थ्य ठीक रहे, धर्मध्यानमें बाधा न पड़े, तथा त्रस व स्थावर दोनों प्रकारके प्राणियोंकी हिंसा जितनी होसके उतनी कम होवै। वह जिह्वाका लम्पटी नहीं रहता है। इसलिये जिन फलोंमें प्रत्यक्ष कीडे उडते दीखते हैं अथवा कीडोंकी उत्पत्तिकी बहुत संभावना है उन फलोंको दयावान सम्यग्दृष्टी नहीं खाता है। ऐसे अनेक फल हैं जिनमें त्रस जंतु होते हैं, उनमें यहां पांच मुख्य गिनाए हैं। इसी तरहके और भी जो फल हों जिनमें त्रस जंतु पाए जावें उनको दयावान नहीं खाता है। शुद्धाहार शरीर व मन दोनोंका रक्षक है।

श्लोक—फलानि पंच त्यक्तंति, त्रसस्य रक्षणार्थं च।
अतीचारा उत्पादंते, तस्य दोष निरोधनं ॥ २२९ ॥

अन्वयार्थ—(त्रसस्य रक्षणार्थं च) त्रस जंतुओंकी रक्षा करनेके हेतुसे ही (पंच फलानि त्यक्तंति) पांच फलोंका त्याग किया जाता है। (अतीचारा उत्पादंते) इनके अतीचार जो जो पैदा होते हैं (तस्य दोष निरोधनं) उन दोषोंको भी रोकना उचित है।

विशेषार्थ—दयावान गृहस्थको यह विचार रखना चाहिये कि उसके खानपानके निमित्तसे त्रस जीवोंका घात न हो तौही ठीक है। इसलिये जैसे वड, पीपल आदि फलोंको त्रस जीवोंकी रक्षार्थ त्यागा जाता है वैसे ही और भी फलोंको जिनमें कीडोंके पैदा होनेकी सम्भावना है उनको

नहीं लेना चाहिये। तथा हरएक फलको या बंद बादाम, सुपारी, इलायची, छुहारा आदिको तोडकर व भले प्रकार देखकर खाना चाहिये। शरदी गरमी आदि कई निमित्तोंसे उनके भीतर त्रस जंतुओंका पैदा होना संभव है। बहुधा फलोंके भीतर कीडे चलते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

श्लोक—अन्नं यथा फलं पुहुवं, वीयं सम्मूर्छनं यथा।
तथा हि दोष त्यक्तंते, अनेके उत्पाद्यते यथा ॥ २२७ ॥

अन्वयार्थ—(अन्नं यथा) इसी तरहका जो अन्न हो घुन गया हो (फलं पुहुवं) फल तथा फूल, (वीयं) बीज, (सम्मूर्छनं यथा) घास शाक आदि (तथा हि दोष त्यक्तंते) वैसा ही दोष देखकर छोड़ देना चाहिये (अनेके यथा उत्पाद्यते) उसी समान अनेक त्रस जंतु जहां उत्पन्न हो।

विशेषार्थ—अन्न जो पुराना हो घुन गया है काली फुली पड़ गई हो वह भी त्रस जीवोंका स्थान जानकर त्याग देना चाहिये। फल जो सड गया हो उसमें त्रस जीव उत्पन्न होगए हैं ऐसा जानकर न खाना चाहिये। फूल जातिको न खाना चाहिये। फूलोंके आश्रय बहुतसे त्रस जंतु पैदा होते हैं और उनमें विश्राम करते हैं। गोभीका फूल बहुतसे त्रस जंतुओंका स्थान है। जिन बीजोंके भीतर त्रस जंतुकी संभावना हो उनको भी न खाना चाहिये। शाक पत्तियां जिनमें त्रस जंतुओंके बैठनेकी संभावना हो न लेना चाहिये। जहां २ त्रस जंतु पैदा होते हों उन उन वस्तुओंको न खाना चाहिये। वुसी हुई मिठाई आदि तथा पहले बता चुके हैं, कौनसा भोजन कितनी देर तकका बना खाना चाहिये, पीछे त्रस जंतु पैदा होजायंगे। दयावानोंको निरंतर ताजा शुद्ध भोजन करना चाहिये व अच्छे ताजे फलोंको तोडकर देखकर खाना चाहिये। अजान फलोंको भी विना जाने न खाना चाहिये। जिसमें त्रस जंतुओंकी रक्षा हो वह कार्य करना चाहिये। दयावान गृहस्थ अपने जीवनके समान क्षुद्र जंतुओंके भी जीवनको समझता है। तथा जब कोई प्राणी अपना मरण नहीं चाहता है तब हमारा कर्तव्य है कि उनके प्राणोंकी रक्षा करते हुए हम अपना खानपानादि करें।

श्लोक—मद्यं च मानसंबंधं, ममता रागपूरितं।
अशुद्ध अलाप वाक्यं, मद्यदोष संगीयते ॥ २२८ ॥

अन्वयार्थ—(मद्यं) मदिरा (च) और (मानसम्बन्धं) मान सम्बन्धी मद (ममता रागपूरितं) ममता व रागसे भरा हुआ (अशुद्ध आलापं वाक्यं) मिथ्यावाद रूपी वचन (मद्यदोष संगीयते) मदिराका दोष कहा जाता है।

विशेषार्थ—आठ मूलगुणोंमें पांच उदम्बर फलोंके सिवाय तीन प्रकार मदिरा, मांस व मधु भी हैं। यहां मदिरापानका निषेध करते हुए मदिरा सम्बन्धी दोष भी न लगानेकी प्रेरणा की गई है। मान कषायके तीव्र वेगसे मद चढ़ जाता है। धन मद, अधिकार मद, तप मद, विद्या मद, रूप मद, बल मद, कुल मद, जाति मद, यह मद भी मदिराके समान बाधा करनेवाला है। जैसे मदिराके नशेमें प्राणी कुछका कुछ बकता है वैसे इस तरहके मदमें भी यह धनादिकी ममता व रागके कारण मान पोषक मिथ्या बातें किया करता है। दूसरेका अपमान हो अपनी बड़ाई हो ऐसी बक-बक करके अपना उन्मत्तपना प्रगट करता है। किसी प्रकारका भी नशा ग्रहण करना योग्य नहीं है। जिस किसी वस्तुके खाने पीनेसे व जिस किसी भावनाके भानेसे व जिस किसी क्रियाके करनेसे अपनी यथार्थ स्मृति, बुद्धि व प्रज्ञा व विवेक न रहे, सावधानी बिगड़ जावे उस सर्व खानपान, भावना व क्रियाका त्याग कर देना उचित है। भांग, चरस, गांजा, तम्बाकू आदि नशोंको भी नहीं पीना चाहिये। बाहरी सामग्रीके होते हुए अनित्य भावनाका विचार करते हुए उनके भीतर तीव्र ममत्व भाव न लाना चाहिये। शेखी मारनेकी आदत छोड देनी चाहिये। मानके वशीभूत हो अपनी आमदनी व खर्चका विचार न करके मर्यादासे अधिक विवाहादिमें खर्च करके उन्मत्त होकर अपना झूठा मान पुष्ट नहीं करना चाहिये। आकुलताको बढ़ानेवाले कार्य विना सावधानीसे कर लेना यह सर्व उन्मत्त विचारका फल है।

श्लोक—संधानं सन्मूर्छनं येन, त्यक्तंते ते विचक्षणाः।
अनंतभावना दोषं, न करोति शुद्धदृष्टितं ॥ २२९ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिससे (संधानं) संधानका दोष हो (सन्मूर्छनं) जहां सन्मूर्छन जंतु पैदा हो उनको (त्यक्तंते) छोड देते हैं (ते विचक्षणाः) वे ही चतुर हैं (शुद्धदृष्टितं) शुद्ध सम्यग्दृष्टी (अनंतभावना दोषं) अनंतानुबंधी कषायकी भावना सम्बन्धी दोषको नहीं लगाता है।

विशेषार्थ—अचार मुरब्बा आदि ताजा खाना चाहिये। मर्यादाके भीतरका भोजन छोडकर मर्यादाके बाहरका भोजन खानेमें वह पदार्थ रस चलित होजाता है इससे उसमें मदिराका अतीचार आता है। किस पदार्थकी क्या मर्यादा है यह कथन पहले किया जाचुका है। जिस किसीमें सन्मूर्छन त्रस जंतु पैदा होजावें वह सब पदार्थ मदिराके दोषको रखनेवाला है।

सागारधर्मामृतमें मदिराके अतीचारमें कहा है—

संधानकं त्यजेत्सर्वं दधितक्रं द्व्यहोषितं। कांजिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा॥ ३-११॥

भावार्थ—सर्व प्रकारका संधान न खावे, दो दिनका दही छाछ न खावे, दहीके वडे कांजी न खावे, जिसपर फफूंदी व फूली आगई हो सो न खावे, यह सब मद्यव्रतके अतीचार हैं। वहीं लिखा है—

जायंतेऽनन्तशो यत्र प्राणिनो रसकायिकाः। संधानानि न वल्भ्यंते तानि सर्वाणि भाक्तिकाः॥

भावार्थ—जिस वस्तुमें रसके सम्बन्धी अनंत जंतु उत्पन्न होजावें उन सबको संधाना जानके जिन-भक्त नहीं खाते हैं। सम्यग्दृष्टी जीव जिह्वाका लम्पटी नहीं होता है। इसलिये वह विवेकपूर्वक ही खानपान रखता है। शुद्ध भोजन करनेसे परिणाम निर्मल रहते हैं, आलस्य नहीं सताता है, रोग नहीं होते हैं, अनन्तानुबन्धी कषाय अन्याय व अभक्ष्यमें प्रेरित कर देती है। सम्यग्दृष्टीके ऐसी कषायकी भावना नहीं होती है इससे वह विचारपूर्वक वर्तता है।

श्लोक—मांसं भक्ष्यते येन लोनी मुहुर्तं गतस्तथा।
न च भोक्तं न च उक्तं च व्यापारं न च क्रियते॥ २३०॥

अन्वयार्थ—(ये मांसं न भक्ष्यते) जो कोई मांस नहीं खाते हैं (तथा) वैसे ही (मुहुर्तं गतः लोनी) दो घडी पीछेकी लोनी (न च भोक्तं) नहीं खानी चाहिये। (न च उक्तं) और न खानेको कहनी चाहिये (व्यापारं न च क्रियते) और न व्यापार ही करना चाहिये।

विशेषार्थ—दूसरा प्रकार मांस है। मांसका भी त्याग भले प्रकार करना चाहिये। मांसके दोषोंको भी बचाना चाहिये। लोनी मक्खनको दो घडीके भीतर गर्म करके घी बना लेना चाहिये। उसी घीको खाना चाहिये। व दूसरेको खानेको कहना चाहिये व उसी घीका व्यापार करना चाहिये। जो लोनीको दो घडीसे अधिक रख छोडा जायगा तो उसमें अन गिनती त्रस जंतु सम्मूर्छन

पैदा होजांयगे फिर उनको गर्म करनेसे मांसका दोष आयगा। दो घडीके भीतर २ त्रस जंतु नहीं पैदा होते हैं तबतक घी बनानेका रिवाज देशमें प्रचलित करना चाहिये। ग्रामीणोंको समझा देना चाहिये। वही घी खानेलायक है व उसीका ही व्यापार करना उचित है। सागारधर्मामृतमें मांसके अतीचार कहे हैं—

चर्मस्थमंभः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च। सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते ॥ ३-१२ ॥

भावार्थ—चमड़ेके वर्तनमें रक्खा हुआ जल, घी, तेल आदि-चमड़ेमें रक्खी हुई हींग तथा रस चलित सर्व भोजन मांसका अतीचार है। मर्यादाके भीतरके पदार्थ खाना पीना चाहिये जो मर्यादा पहले कही जाचुकी है। उसके बाहरके पदार्थोंमें त्रस जंतु पैदा होजांयगे। अतएव उन पदार्थोंके खानेसे मांसका भी अतीचार होगा व मदिराका भी दोष होगा। दयावान गृहस्थ स्वपर उपकारी होता है। अशुद्ध व अभक्ष्य भोजन करनेसे रागकी लम्पटता होती है, परिणाम बिगड़ते हैं व शरीर भी रोगी होता है। सम्यग्दृष्टी जीव जिह्वाका वश करनेवाला रहकर शुद्ध खानपान करनेमें ही संतोष मानता है।

श्लोक—दोदारि या महिदुग्धं च, जे नरा भुक्तभोजनं ।
स्वादं विचलितं येन भुक्तं, मांसस्य दोषनं ॥ २३१ ॥

अन्वयार्थ—(दोदारि या) जिनकी दो दाल होती हों। उनको (महि) दही छाछ (च दुग्धं) और दूध इनके साथ मिलाकर (जे नरा भुक्त भोजनं) जो मनुष्य भोजन करते हैं अथवा (येन स्वादं विचलितं भुक्तं) जिसने स्वाद चलित पदार्थको खाया उसको (मांसस्य दोषनं) मांसका दूषण लगता है।

विशेषार्थ—द्विदल अन्न मेवाको दही छाछके साथ खानेका निषेध पहले कर चुके हैं। ऐसेको खानेके साथ ही मुंहकी रालके संयोगसे त्रस जंतु पैदा हो जाते हैं। सागारधर्मामृतमें ५-१८ में-आमगोरससंपृक्तं द्विदलं-ऐसा वाक्य दिया है जिसका सीधा अर्थ यह होता है कि कच्चे गोरस (दूध, दही या छाछ) के साथ दो दाल वाली वस्तु मिलानेसे द्विदलका दोष होता है। यदि दूध, या दही या छाछको पका लिया जावे तो दोष नहीं रहता है ऐसा समझमें आता है। जिसका स्वाद विचलित हो जावे ऐसी वस्तुको खानेमें भी मांसका दोष आता है क्योंकि वह सडने लगता

साक पत्र सब निंद बखान, त्यगि करो जिन आज्ञा मान। कंद शाक फल फूल जु त्यागि, साधारण फलतें दूर भाग॥

इसी कारणसे इस श्रावकाचारके कर्ताने भी अधिक स्थावरकी भी हिंसा जिनसे हो उनके खानेका त्याग आठ मूलगुण धारीके लिये कहा है। अतएव कन्दमूल, शाक, पत्ते, फूल जाति ये सब नहीं लेना चाहिये। जबानको वश करके संयमी होके रहना ही परम हित है।

रत्नत्रयका स्वरूप।

श्लोक—दर्शनं ज्ञान चारित्रं, सार्धं शुद्धात्मा गुणं।
तत्व नित्य प्रकाशेन, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं॥ २२५॥

अन्वयार्थ—(दर्शनं ज्ञान चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र (सार्धं) के साथ (शुद्धात्मा गुणं) शुद्धात्माके गुणोंके द्वारा (तत्व नित्य प्रकाशेन) अविनाशी तत्वका प्रकाश होता है। यही तत्व (सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं) यथार्थ ज्ञानमई निश्चल है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टी श्रावकको रत्नत्रय धर्मका पालन भले प्रकार करना चाहिये। यहां बताया है कि ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्‌चारित्र आत्माके गुण हैं। आत्मामें ही पाए जाते हैं। इसलिये जहां शुद्ध आत्माका तत्व ज्ञानमई निश्चल अनुभवमें आरहा है वहीं मोक्षका मार्ग है। हरएक श्रावकको इस निश्चय मोक्षमार्गपर अपना लक्ष-बिंदु रखना चाहिये। तथा शुद्धात्माके मनकी निरंतर भावना भानी चाहिये। जैसी भावना भाई जाती है वैसा भाव ऊँचा चढता चला जाता है। इस निश्चय रत्नत्रयमई भावका आराधक अविरति सम्यग्दृष्टीसे लेकर हरएक जैनी होता है। इसीके लिये अन्य बाहरी साधन मिलाए जाते हैं। रत्नत्रयसे ही मेरी शोभा है, मेरा हित है, मेरा उद्धार है, रत्नत्रय ही मेरा क्रीडावन है, ऐसी भावना भानी चाहिये। तत्वार्थसारमें कहा है—

ये स्वभावाद्दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥ १५॥
स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः। एको ज्ञाता सर्वदेवाद्वितीयः स्याद्द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः॥११॥

भावार्थ—जो स्वभावसे होनेवाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूपी क्रिया है उन ही रूप इन तीनों रत्नत्रयमें तन्मय आत्मा ही मोक्षमार्ग है। पर्याय या भेदनयसे मोक्षमार्ग

पैदा होजांयगे फिर उनको गर्म करनेसे मांसका दोष आयगा । दो घडीके भीतर २ त्रस जंतु नहीं पैदा होते हैं तबतक घी बनानेका रिवाज देशमें प्रचलित करना चाहिये । ग्रामीणोंको समझा देना चाहिये । वही घी खानेलायक है व उसीका ही व्यापार करना उचित है । सागारधर्मामृतमें मांसके अतीचार कहे हैं—

चर्मस्थमंभः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च । सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादाभिषव्रते ॥ ३-१२ ॥

भावार्थ—चमड़ेके वर्तनमें रक्खा हुआ जल, घी, तेल आदि-चमड़ेमें रक्खी हुई हींग तथा रस चलित सर्व भोजन मांसका अतीचार है । मर्यादाके भीतरके पदार्थ खाना पीना चाहिये जो मर्यादा पहले कही जाचुकी है । उसके बाहरके पदार्थोंमें त्रस जंतु पैदा होजांयगे । अतएव उन पदार्थोंके खानेसे मांसका भी अतीचार होगा व मदिराका भी दोष होगा । दयावान गृहस्थ स्वपर उपकारी होता है । अशुद्ध व अभक्ष्य भोजन करनेसे रागकी लम्पटता होती है, परिणाम बिगड़ते हैं व शरीर भी रोगी होता है । सम्यग्दृष्टी जीव जिह्वाका वश करनेवाला रहकर शुद्ध खानपान करनेमें ही संतोष मानता है ।

श्लोक—दोदारि या महिदुग्धं च, जे नरा भुक्तभोजनं ।
स्वादं विचलितं येन भुक्तं, मांसस्य दोषनं ॥ २३१ ॥

अन्वयार्थ—(दोदारि या) जिनकी दो दाल होती हों । उनको (महि) दही छाछ (च दुग्धं) और दूध इनके साथ मिलाकर (जे नरा भुक्त भोजनं) जो मनुष्य भोजन करते हैं अथवा (येन स्वादं विचलितं भुक्तं) जिसने स्वाद चलित पदार्थको खाया उसको (मांसस्य दोषनं) मांसका दूषण लगता है ।

विशेषार्थ—द्विदल अन्न मेवाको दही छाछके साथ खानेका निषेध पहले कर चुके हैं । ऐसेको खानेके साथ ही मुंहकी रालके संयोगसे त्रस जंतु पैदा होजाते हैं । सागारधर्मामृतमें ५-१८ में-आमगोरससंपृक्तं द्विदलं-ऐसा वाक्य दिया है जिसका सीधा अर्थ यह होता है कि कच्चे गोरस (दूध, दही या छाछ) के साथ दो दाल वाली वस्तु मिलानेसे द्विदलका दोष होता है । यदि दूध, या दही या छाछको पका लिया जावे तो दोष नहीं रहता है ऐसा समझमें आता है । जिसका स्वाद विचलित हो जावे ऐसी वस्तुको खानेमें भी मांसका दोष आता है क्योंकि वह सडने लगता

है, त्रस जंतु पैदा होने लगते हैं। मर्यादाका भोजन लेना त्रस रक्षाका उपाय है। रसोई साफ शुद्ध प्रकाशवाले स्थानपर बनवानी चाहिये। तथा जो सामग्री रसोईमें काममें लीजावे वह जंतु रहित शुद्ध होनी चाहिये। चार बातोंकी शुद्धिको चौका कहते हैं।

द्रव्य शुद्धि—पानी, अन्न, आटा, घी, दूध आदि सर्व मर्यादाका नित्यका देखा हुआ लेना चाहिये। लकडी घुनी न हो, जंतु रहित हो।

क्षेत्र शुद्धि—रसोईका स्थान साफ जंतु रहित हो, भीतें साफ की जांय, छतपर या तो चंदोऊ हो या रोज साफ की जावे। भूमिको नित्य साफ करें। पक्की हो तो पानीसे धोवे, कच्ची हो तो मिट्टीसे लीपे।

काल शुद्धि—दिनमें मुनिदानके समयके पहले रसोई तैयार करले।

भावशुद्धि—रसोई बनानेवालेके भावोंकी शुद्धि यह हो कि वह दयावान हो, जंतुओंकी रक्षा करता हुआ रसोई बनावे व प्रेमालु हो। ऐसी भक्तिसे बनावे कि भोजन पानेवाले स्वास्थ्य लाभ करें तथा शरीर शुद्ध वस्त्र सहित हो। ऐसी शुद्ध रसोई शुद्ध स्थानमें ही जीमना हितकारी है। जितना त्रस घात बचेगा उतना मांस दोष टलेगा।

श्लोक—मधुरं मधुरश्चैव, व्यापारं न च दृश्यते।
मधुरं मिश्रिते येन, द्वि मुहूर्तं सम्मूर्छनं ॥ २३२ ॥

अन्वयार्थ—(मधुरं) शहत (मधुरश्चैव) और दूसरा मीठा इनका (व्यापारं न च दृश्यते) व्यापार नहीं करना योग्य है (येन मधुरं मिश्रिते) जिस वस्तुमें गीला, मीठा या मधु मिलावेंगे उसमें (द्वि मुहूर्तं सम्मूर्छनं) चार घडीके पीछे सम्मूर्छन त्रस जंतु पैदा होजायंगे।

विशेषार्थ—तीन मकारोंमें मधुको भी नहीं खाना चाहिये, यह मक्खियोंका उगाल है तथा गीले रसमें चार घड़ी पीछे त्रस जंतु सम्मूर्छन पैदा होजाते हैं ऐसा ऊपरके श्लोकसे झलकता है। मधुका व्यापार भी नहीं करना चाहिये तथा गीला मीठा अर्थात् गुडका व्यापार भी न करे। गीले मीठे या गुडमें भी चार घडीमें त्रस जंतु पैदा होंगे व जिसके साथ मधु या गीला मीठा मिलाया जायगा, उसमें त्रस जंतु चार घडी पीछे पैदा होजायंगे इससे उस रावके खानेकी मनाई

मालूम होती है जिस घड़ेमें ढककर बहुत दिनों तक रख छोडते हैं। मधुके अतीचारोंको बचानेके लिये फूलोंको नहीं खाना चाहिये ऐसा सागारधर्मामृतमें कहा है, क्योंकि वहींसे रस मक्खियां ले आती हैं।

श्लोक—सन्मूर्छनं यथा जानंते, सांकं पुहवादि पत्रयं ।
त्यक्तंते न च भुक्तं च, व्यापारं न च क्रियते ॥ २३३ ॥
कंदं बीयं यथा नेयं, सम्मूर्छनं विदलस्तथा ।
व्यापारं न च भुक्तं च, मूलगुणं प्रतिपालए ॥ २३४ ॥

अन्वयार्थ—(सम्मूर्छनं यथा) सम्मूर्छनके बराबर (सांकं पुहवादि पत्रयं जानंते) शाक, पुष्प आदि पत्रोंको जानना चाहिये (त्यक्तंते न च भुक्तं च) इनका भी भोजन त्यागना चाहिये (व्यापारं न च क्रियते) और न इनका व्यापार करना चाहिये। (यथा सम्मूर्छनं विदलः) जैसे सम्मूर्छन विदल है (तथा कंद बीजं नेयं) तैसे कंद मूलको जानना चाहिये (व्यापारं न च भुक्तं च) इनको भी न खाना चाहिये न व्यापार करना चाहिये (मूलगुणं प्रतिपालए) तब आठ मूल गुण अतीचार रहित पाले जाते हैं।

विशेषार्थ—यहां ग्रंथकर्ता अतीचार रहित आठ मूलगुणोंको पालनेका उपदेश देरहे हैं। जैसा कि दर्शनप्रतिमामें पालनेके लिये पंडित आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें कहा है। यद्यपि श्री समन्तभद्राचार्यने कंदमूल पुष्पादि खानेका त्याग भोगोपभोग परिमाणव्रतमें दूसरी व्रत प्रतिमामें लिखा है तथापि यहां ग्रंथकर्ताने उनका त्याग निरतिचार आठ मूलगुण पालनेवालेके लिये भी बताया है। जैसे सडे घुसे पदार्थमें व द्विदलमें सन्मूर्छन त्रस जंतु उत्पन्न होते हैं, वैसे शाक, फूल, पत्रों तथा कन्दमूलमें साधारण अनन्तकायका दोष आता है जिससे अनन्त एकेंद्रिय जीवोंका घात होता है। अनन्त एकेंद्रियोंका घात भी बहुतसे त्रस जन्तुओंके घातके बराबर है ऐसा जानकर दयावानोंको उनका त्याग ही करना उचित है। पत्रों व फूलोंमें, शाकमें बहुधा त्रस जंतुओंका भी आश्रय रहता है। जैसे गोभीके फूलमें-आलू, घुइया, शकरकंदी आदि जो जो कंद-मूल हैं जो जडके वहां फलरूप होते हैं उनमें साधारणका चिह्न बहुत अंशमें मिलता है वे सीधी

टूट जाती है इसलिये इनको न खाना ही चाहिये और न इनका व्यापार ही करना चाहिये क्योंकि व्यापारमें खिलानेका व अनुमोदना करनेका दोष अवश्य आता है। जिस वस्तुको हम अभक्ष्य समझते हैं उनको दूसरोंको भी खिलाना न चाहिये। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें भोगोपभोग परिमाण व्रतमें लिखा है—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि । नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ ८५ ॥

भावार्थ—जिसमें फल तो अल्प हो मात्र कुछ जीभका स्वाद सधे और बहुतसे एकेंद्रिय जीवोंकी हिंसा करनी पडे ऐसे मूली, गीले अदरक आदि व मक्खन व नीम व केतकीके फल आदि नहीं खाना चाहिये। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी भोगोपभोग परिमाणव्रतमें कहा है—

एकमपि प्रजिघांसुः निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यं । करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानां ॥ १६१ ॥

भावार्थ—जिस एक वनस्पतिके घात करनेसे अनन्त जीवोंकी कायोंका नाश होता हो उन सर्व अनन्तकायवाली वस्तुओंका त्याग करना योग्य है।

सागारधर्मामृतमें भी भोगोपभोग परिमाण व्रतमें नीचेके श्लोक दिये हैं—

नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत् । आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसां ॥ १६ ॥

अनंतकायाः सर्वेपि सदा हेया दयापरैः । यदेकमपि तं हन्तुं प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान् ॥ १७ ॥

आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवं । वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥ १८ ॥

भावार्थ—धर्मात्मा पुरुषोंको नाली (कमलकी डंडी), सूरण, कालिंद, द्रोणपुष्प, मूली, अदरक, नीमके फूल, केतकी आदि पदार्थोंका मरण पर्यंत त्याग करना चाहिये। इनके खानेसे अल्पफल परंतु बहुत प्राणियोंकी हिंसा है। दयावानोंको अनंतकाय वनस्पतियोंको सदा त्याग करना चाहिये। इसमें एकके खानेसे अनंतका घात होता है। जमीनके भीतर उत्पन्न होनेवाली मूली, गाजर आदि प्रायः अनंतकाय हैं। प्याज, सूरण आदि कंदज भी प्रायः अनंतकाय हैं। जैसे द्विदलको दहीके साथ नहीं खाना उचित है वैसे पुराने अनाजको न खावे व वर्षामें विना दले मूंग चना आदि न खावे व पत्तोंवाले शाक भी न खावे। दौलतरामजीने कहा है:—

त्यागो कन्दमूल बुद्धिवन्त, कन्दमूलमें जीव अनन्त। फूल जाति सब ही दोषीक, जीव अनन्त भरे तहकीक।

साक पत्र सब निंद बखान, त्यागि करो जिन आज्ञा मान। कंद शाक फल फूल जु त्यागि, साधारण फलतें दूर भाग ॥

इसी कारणसे इस श्रावकाचारके कर्ताने भी अधिक स्थावरकी भी हिंसा जिनसे हो उनके खानेका त्याग आठ मूलगुण धारीके लिये कहा है। अतएव कन्दमूल, शाक, पत्ते, फूल जाति ये सब नहीं लेना चाहिये। जबानको वश करके संयमी होके रहना ही परम हित है।

रत्नत्रयका स्वरूप।

श्लोक—दर्शनं ज्ञान चारित्रं, सार्धं शुद्धात्मा गुणं।
तत्व नित्य प्रकाशेन, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ २३५ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनं ज्ञान चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (सार्धं) के साथ (शुद्धात्मा गुणं) शुद्धात्माके गुणोंके द्वारा (तत्व नित्य प्रकाशेन) अविनाशी तत्वका प्रकाश होता है। यही तत्व (सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं) यथार्थ ज्ञानमई निश्चल है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टी श्रावकको रत्नत्रय धर्मका पालन भले प्रकार करना चाहिये। यहां बताया है कि ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र आत्माके गुण हैं। आत्मामें ही पाए जाते हैं। इसलिये जहां शुद्ध आत्माका तत्व ज्ञानमई निश्चल अनुभवमें आरहा है वहीं मोक्षका मार्ग है। हरएक श्रावकको इस निश्चय मोक्षमार्गपर अपना लक्ष्य-बिंदु रखना चाहिये। तथा शुद्धात्माके मननकी निरंतर भावना भानी चाहिये। जैसी भावना भाई जाती है वैसा भाव ऊँचा चढता चला जाता है। इस निश्चय रत्नत्रयमई भावका आराधक अविरति सम्यग्दृष्टीसे लेकर हरएक जैनी होता है। इसीके लिये अन्य बाहरी साधन मिलाए जाते हैं। रत्नत्रयसे ही मेरी शोभा है, मेरा हित है, मेरा उद्धार है, रत्नत्रय ही मेरा क्रीडावन है, ऐसी भावना भानी चाहिये। तत्वार्थसारमें कहा है—

ये स्वभावाद्दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १५ ॥

स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः। एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद्द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥ ११॥

भावार्थ—जो स्वभावसे होनेवाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूपी क्रिया है उन ही रूप इन तीनों रत्नत्रयमें तन्मय आत्मा ही मोक्षमार्ग है। पर्याय या भेदनयसे मोक्षमार्ग

तीनरूप है-सम्यक्त ज्ञान चारित्र, परन्तु द्रव्य दृष्टिसे एक ही ज्ञाता दृष्टा अनुपम आत्मा ही सदा मोक्षमार्ग है।

श्लोक—दर्शनं तत्वार्थश्रद्धानं, तीर्थं शुद्धं दृष्टितं।
ज्ञानमूर्तिः संपूर्णं, स्वात्म दर्शन चिंतनं ॥ २३६ ॥

अन्वयार्थ—(तत्वार्थश्रद्धानं दर्शनं) तत्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। (तीर्थं) यह भवसागरसे तारनेका तीर्थ या जहाज है (शुद्धं दृष्टितं) यही शुद्ध दृष्टिमई है जहां (ज्ञानमुर्तिः) ज्ञानमूर्ति (संपूर्णं) अपने सर्व गुणोंसे पूर्ण (स्वात्म दर्शन चिंतनं) अपने ही आत्माका दर्शन है और चिन्तवन है।

विशेषार्थ—सात तत्वोंका व्यवहार और निश्चय नयसे यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यही वास्तवमें भवसागरसे पार करनेवाला तीर्थ या जहाज है। जहां सम्यग्दर्शन होजाता है वहां अशुद्ध, मलीन, मिथ्यादृष्टि नहीं रहती है। किंतु शुद्ध, निर्मल, सम्यग्दृष्टि पैदा होजाती है। वास्तवमें अपने ही आत्माका श्रद्धान व मनन ही सम्यग्दर्शन है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे अपने ही आत्माको सर्व कर्मकलंकसे रहित, ज्ञानाकार, अमूर्तीक, अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, आनन्द, आदि गुणोंसे पूर्ण एकाकार श्रद्धानमें लाकर अनुभव करना चाहिये यही सम्यग्दर्शन है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है:—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्। श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ २२ ॥

भावार्थ—जीव अजीवादि तत्वोंका सदा ही श्रद्धान करना चाहिये। उसमें कोई विपरीत अभिप्राय न हो। केवल आत्मशुद्धिके प्रयोजनसे ही भलेप्रकार जीव अजीवादि तत्वोंका दृढ विश्वास करना व्यवहार सम्यक्त है। निश्चयसे यह सम्यग्दर्शन सर्व आत्मासे भिन्न शुद्ध आत्माका एक स्वभाव है। सम्यग्दर्शन एक रत्न है जो अपने ही पास है, मिथ्यात्वकी कीचमें फंसा हुआ है। मिथ्यात्वके अंधकारके दूर होजाने पर यह स्वयं प्रकाशमान होजाता है।

श्लोक—दर्शनं सप्ततत्त्वानां, द्रव्य काय पदार्थकं।
जीवद्रव्यं च शुद्धं च, सार्थं शुद्धं दर्शनं ॥ २३७ ॥

अन्वयार्थ—(सप्ततत्त्वानां द्रव्य काय पदार्थकं दर्शनं) सात तत्व, छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नौ पदार्थोंका श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है (जीवद्रव्यं च शुद्धं च सार्थं शुद्धं दर्शनं); तथा शुद्ध जीव द्रव्यका श्रद्धान करना यथार्थ निश्चय सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनके लिये निमित्त कारण है। व्यवहार सम्यक्के विषय छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्व और नौ पदार्थ हैं।

छः द्रव्य—१–जीव चेतना स्वरूप है। इसके तीन भेद बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्माका स्वरूप कहा जाचुका है। २–पुद्गल–स्पर्श, रस, गंध, वर्ण मय जड परमाणु व स्कंधको कहते हैं। हमारे आत्माके साथ लगे तैजस, कार्माण व औदारिक तीनों शरीर पुद्गलके बने हैं। ये दो द्रव्य अनंतानंत हैं। येही क्रियावान हैं, हलन चलन करते हैं व इनहीमें विभाव पर्यायें होती हैं। यद्यपि शुद्ध आत्मा निश्चल है व स्वभावरूप है। ३–धर्म द्रव्य–लोक व्यापी असंख्यात प्रदेशी अमूर्तीक द्रव्य है जो जीव पुद्गलके गमनमें उदासीन निमित्त कारण है। ४–अधर्म द्रव्य–लोकव्यापी अमूर्तीक द्रव्य है जो जीव पुद्गलकी स्थितिमें उदासीन निमित्त कारण है। ५–आकाश–जो सबसे बड़ा अनंत है यह सबको अवकाश देता है। ६–काल द्रव्य–जो अमूर्तीक है। इसके निमित्तसे सब द्रव्योंकी अवस्थाएँ नएसे पुरानी हुआ करती हैं। ये छः द्रव्य अनादि अनन्त अकृत्रिम, सदासे हैं। शुद्ध द्रव्योंमें स्वभाव पर्यायें होती हैं, अशुद्ध द्रव्योंमें अशुद्ध पर्यायें होती हैं। यह जगत इनहीका समुदाय है।

पांच अस्तिकाय—छः द्रव्योंमेंसे कालको छोडकर पांचको अस्तिकाय कहते हैं। क्योंकि जीवादि पांच द्रव्य बहु प्रदेशी हैं। परन्तु काल द्रव्य असंख्यात संख्यामें हैं और रत्नराशिके समान लोकाकाशके असंख्यात प्रदेशोंपर अलग २ फैले हैं वे कभी मिलते नहीं इससे कायरूप नहीं हैं। जितने आकाशको एक पुद्गल परमाणु रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस प्रदेशरूपी गजसे माप किये जानेपर काल सिवाय पांच द्रव्य बहुप्रदेश रखनेवाले हैं। इसलिये पांचको अस्तिकाय कहते हैं।

सात तत्व—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।

जीव और अजीव तत्वमें ऊपर लिखित छः द्रव्य गर्भित हैं।

आस्रव—कर्मोंके आनेको आस्रव कहते हैं। मन, वचन, कायकी क्रियासे व मिथ्यादर्शन,

हिंसादि पांच पाप, प्रमाद व कषायके सम्बन्धसे आठ कर्म योग्य पुद्गल वर्गणा आती हैं। शुभ मन, वचन, कायकी क्रियासे मुख्यतासे पुण्य कर्मका, अशुभ मन, वचन, कायकी क्रियासे पाप कर्मका आस्रव होता है।

बंध—आए हुए कर्म पुद्गलोंमें तुर्त चार प्रकारका बंध पड जाता है। १ प्रकृति–ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वभाव पडना। २ प्रदेश–कितनी संख्या किस किस कर्मकी बंधी। ३ स्थिति–कर्मोंमें मर्यादा-कालका पडना। ४ अनुभाग–कर्म तीव्र या मंद फल देंगे ऐसा रस पडना।

संवर—कर्मोंके आनेको रोकना–मिथ्यात्वके रोकनेको सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, पांच पापोंको छोडकर अहिंसादि पांच व्रतोंको पालना, प्रमादको रोकनेको अप्रमादभाव रखना, कषायको जीतनेके लिये वीतरागका अभ्यास करना, मन वचन कायको थिर रखना ये सब कारण कर्मोंके रोकनेके हैं।

निर्जरा—कर्म अपने समयपर पकते हैं तब झडते हैं, यह सविपाक निर्जरा है। आत्मध्यानादि वीतराग भावसे कर्मको उदयकालके पहले झाड डालना अविपाक निर्जरा है।

मोक्ष—सर्व कर्मोंसे छूटकर शुद्ध आत्मा होकर लोकशिखरपर सिद्धक्षेत्रोंमें अपने स्वरूपमें सदाके लिये विराजमान रहना।

नौ पदार्थ—सात तत्वोंमें पुण्य कर्म व पाप कर्म मिलानेसे नौ पदार्थ होजाते हैं। ये दोनों पदार्थ आस्रव व बंधमें गर्भित हैं तथापि विशेषताके लिये पृथक् गिनाया है।

इन सबमें व्यवहारनयसे जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष चार ग्रहण करने योग्य हैं जब कि निश्चयनयसे एक अपना शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है। इस तरह श्रद्धान करके जब आत्माका मनन किया जाता है तब कुछ कालके अभ्याससे अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व उपशम होनेसे उपशम सम्यग्दर्शन पैदा होजाता है। यही शुद्ध आत्मानुभव करानेवाला धर्मतीर्थ है।

श्लोक—दर्शनं ऊर्ध्वं अर्धं च, मध्यलोकं च दृष्टते।
षड् कमलं ति अर्थ च, जोयं सम्यक्दर्शनं ॥ २३८ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनं) सम्यग्दर्शनके प्रभावसे (ऊर्ध्वं अर्धं च मध्यलोकं दृष्टते) ऊर्ध्व लोक अधोलोक व

मध्यलोक स्पष्ट दिखलाई पडता है। (षट्कमलं) छः पत्तेके कमलके भीतर (ति अर्थ) तीन तत्त्वोंके भीतर (सम्यग्दर्शनं जोयं) सम्यग्दर्शन दिखलाई पडता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टी छः द्रव्योंके स्वरूपको यथार्थ श्रुतज्ञानके बलसे जानता है और इस लोककी सर्व रचना छः द्रव्योंसे बनी हुई है। इसलिये वह इस लोकको भी जानता है अथवा वह श्रुतज्ञान द्वारा नारकी, तिर्यंच, मानव तथा देव इन चार गतियोंके स्थानोंको जानता है। कहां २ नर्क व स्वर्ग है, कहां २ जम्बूद्वीप आदि है, कहां २ अकृत्रिम चैत्यालय है, कहां अहमिंद्र लोक है, कहा लोकांतिक देव रहते हैं। लोकके ऊपर सिद्धक्षेत्र है जहां अनन्त सिद्ध रहते हैं। संस्थान विचय धर्मध्यानके द्वारा तीन लोकका स्वरूप जानता है। वैराग्यभावसे किसीसे रागद्वेष नहीं करता है। उसका अनुराग अपने शुद्ध स्वभावसे है।

षट् कमल व ति अर्थका भावार्थ स्पष्ट नहीं है, जो समझमें आया वह लिखा गया है। हृदयस्थानमें छः पत्तोंका कमल बनाकर उनके ऊपर ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः इन छः बीजाक्षरोंके आलम्बनसे विचारते हुए सम्यग्दर्शनके प्रभावसे शुद्धात्माका अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र इन तीन तत्वोंके भीतर मुख्यता सम्यग्दर्शनकी झलकती है क्योंकि ज्ञान और चारित्रको सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही प्राप्त हुआ है। वास्तवमें सम्यग्दर्शन ऐसी ज्ञान चक्षु है जिसके द्वारा देखते हुए सर्व पदार्थ ठीक २ जैसे हैं वैसे दिखलाई पड़ते हैं। सम्यग्दृष्टिको छः द्रव्योंके गुणपर्यायके कार्योंमें पूर्ण विश्वास है। उसको किसी भी क्रियामें आश्चर्य नहीं मालूम होता है। वह सम्यग्ज्ञानको रखता हुआ परम संतोषी है। अनेक प्रकारके धर्मध्यानके द्वारा जिनका कथन पहले किया जाचुका है सम्यग्दृष्टि अपने आत्माके अवलोकनका अभ्यास रखता है। वह आत्मरसका पिपासु होरहा है। जिस तरह बने आत्मानन्दका स्वाद लेता है।

श्लोक—दर्शन यत्र उत्पादंते, तत्र मिथ्या न दृष्टते।
कुज्ञानं मलश्चैव, त्यक्तं योगं समाचरति॥ २३९॥

अन्वयार्थ—(यत्र दर्शन उत्पादन्ते) जहां सम्यग्दर्शन उत्पन्न होजाता है (तत्र मिथ्या न दृष्टते) वहां

मिथ्यात्व नहीं दिखलाई पडता है (कुज्ञानं मलश्चैव त्यक्तं) कुज्ञान व सर्व मल भी छूट जाते हैं (योगं समाचरति) धर्मध्यानका आचरण होने लगता है।

विशेषार्थ—जैसे जहां प्रकाशका उदय होता है वहां अन्धकार नहीं दिखलाई पडता है वैसे जहां आत्मामें सम्यग्दर्शन नामक गुणका प्रकाश हुआ वहां मिथ्यादर्शनकी छाया बिलकुल नहीं दिखलाई पडती है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्वके उपशमके विना सम्यग्दर्शन होता ही नहीं है। पहले जो संसारासक्ति थी सो मिट जाती है। शुद्धात्मस्वरूपकी प्रीति पैदा होजाती है। सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके पहले जो मिथ्याज्ञान था सो सम्यग्दर्शनके होते ही सम्यग्ज्ञान होजाता है। कुमति कुश्रुत कुअवधि, सुमति सुश्रुत सुअवधि होजाते हैं। मिथ्यात्वके होते हुए जो पचीस मल होते थे वे सब मल भी दूर होजाते हैं। जब भावोंमें आत्माका तथा परमात्माका यथार्थ स्वरूप झलक जाता है तब शंका आदि दोष व कुदेव कुगुरु कुधर्मकी मान्यता किसतरह ठहर सक्ती है। तथा वह सम्यक्ती सर्व जगतकी आत्माओंको पहचाननेवाला होजाता है, इससे उसकी मैत्री सर्व प्राणीमात्रसे रहती है। दुखियोंको देखकर उनपर करुणा बुद्धि रखकर उनका दुःख निवारण करना चाहता है। धर्मका सच्चा पालक, नीतिका सच्चा नमूना बन जाता है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टीके भीतर यथार्थ योगाभ्यास होता है वही यथार्थ धर्मध्यानके बलसे निज शुद्धात्माके तत्वको सर्वसे पृथक् अनुभव करता है। विना सम्यक्तके मिथ्यादृष्टीका सर्व योगाभ्यास आत्मानुभव करनेमें समर्थ नहीं है।

श्लोक—मलं विमुक्त मूढादी, पंचविंशति न दृष्टते।
आशा स्नेह लोभं च, गारव त्रिविधि मुक्तयं ॥ २४० ॥

अन्वयार्थ—(मूढादी मलं विमुक्त) तीन मूढता आदि मलोंसे छूटे हुए सम्यक्तीके भीतर (पंचविंशति न दृष्टते) पचीस दोष नहीं दिखलाई पड़ते हैं। (आशा स्नेह लोभं च गारव त्रिविधि मुक्तयं) आशा, स्नेह, लोभ, तीन प्रकार अहंकार आदि कुभावोंसे मुक्त होजाता है।

विशेषार्थ—सम्यक्तीके भीतर पहले कहे हुए मूढता आदि पचीस दोष नहीं दिखलाई पड़ते हैं। शुद्ध सम्यग्दर्शनको जो पालनेवाला है उसके मात्र एक शुद्धात्मानुभवका ही उद्देश्य है। इसी

उद्देश्यसे वह धर्मध्यान करता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय, संयम, तप व दान इन नित्य गृहस्थोंके छः कर्मोंको भले प्रकार पालता है, जिसका फल मात्र परिणामोंकी शुद्धि चाहता है। सम्यक्तीको क्षणभंगुर विषयभोगोंकी कोई इच्छा नहीं होती है, इसलिये वह इन्द्र नागेन्द्र अहमिंद्र चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, तीर्थंकर आदि बड़े २ ऐश्वर्यशाली महत्वशाली पदोंकी आशा बिलकुल नहीं रखता है और न जगतके विनाशीक चेतन अचेतन पदार्थोंसे स्नेह रखता है। स्त्री पुत्र मित्र सेवकादिसे यथायोग्य व्यवहार करता हुआ व जगतके प्राणियोंके साथ सभ्यता व नीतिसे वर्ताव करता हुआ वह भीतरसे उसी तरह अलिप्त रहता है, जैसे कमल जलसे अलिप्त रहता है। ज्ञानी सम्यक्तीके लोभ अति मंद होता है। अपने २ पदके अनुसार संतोषपूर्वक आजीविकाका साधन करता है। दूसरोंको बहुत लोभ होते देखकर परिणामोंमें लोभपना नहीं जगाता है। किसी तरहका गारव या अभिमान नहीं रखता है। रस गारव, ऋद्धि गारव, बुद्धि गारव ये तीन गारव प्रसिद्ध हैं। सो सम्यक्तीके नहीं होते हैं। रसायन विद्यासे रस बनानेका गारव या मिष्ट रसीले पदार्थोंके मिलनेका गारव रस गारव है। ऋद्धि आदि कोई चमत्कार तपके बलसे पैदा होजावे तो उसका अहंकार करना यह ऋद्धि गारव है। बुद्धि प्रबल होनेसे पदार्थोंके समझनेकी अधिक शक्ति होते हुए बुद्धिका घमंड करना बुद्धि गारव है। ज्ञानी सम्यक्ती इन लाभोंको क्षणिक समझता है। इनकी शक्ति होनेपर भी कोई प्रकारका मद नहीं करता है।

श्लोक—दर्शनं शुद्ध तत्वार्थं, लोक मूढं न दृष्टते।
यस्य लोकं च सार्थं च, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं ॥ २४१ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनं शुद्ध तत्वार्थं) शुद्ध आत्मतत्वमें दृढ प्रतीतिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। वहां (लोकमूढं न दृष्टते) लोकमूढता नहीं दिखलाई पड़ती है। (यस्य लोकं च सार्थं च त्यक्तते) जिसने सर्व लोकको व उसके सर्व पदार्थोंको पर जानकर उनसे मोह छोड़ दिया है (शुद्ध दृष्टितं) मात्र शुद्ध दृष्टिको धारण कर लिया है।

विशेषार्थ—जिसके पूजनीय, माननीय, दर्शनीय, मननीय, अनुभवनीय एक मात्र अपना शुद्ध आत्मा है, जो सिद्ध भगवानको भी पर जानता है, उनकी पूजा व भक्ति भी आलम्बन जानकर

करता हुआ भी उनसे वैरागी है, जानता है जहांतक स्वात्मानुभव नहीं होगा वहांतक मोक्षका मार्ग नहीं है। ऐसा सम्यक्ती जीव लोक मूढतामें कैसे फंस सक्ता है। लोगोंकी देखादेखी मूढ प्राणी धन, पुत्र, जय, यश आदिके लोभसे लोक मूढतामें फंस जाते हैं। सम्यक्तीको इन बातोंकी तरफ आसक्ति नहीं है। यह जानता है कि वे सब पुण्य वृक्षके फल हैं। यदि मैं गृहस्थ हूं तो मेरा कर्तव्य समताभावसे नीतिपूर्वक उद्यम करना है। पुण्यकी सहायता होगी तो ये पदार्थ मिल सकेंगे। सम्यक्ती लोकके पदार्थोंका स्वभाव शास्त्र द्वारा जानता हुआ भी किसीमें ममता भाव नहीं रखता है। परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, मेरे शुद्ध गुण व पर्याय हैं वे मेरेमें सदा विराजित हैं, इस प्रकारके ज्ञान वैराग्यसे पूर्ण सम्यग्दृष्टी जीव रहता हुआ सदा आनन्द भोगता है।

श्लोक—देवमूढं च प्रोक्तं च, क्रियते येन मूढयं।
दुर्बुद्धि उत्पाद्यते जाव, तावदिष्टि न शुद्धए ॥ २४२ ॥

अन्वयार्थ—(देव मूढं च प्रोक्तं च) देव मूढ़ताका स्वरूप कह चुके हैं (येन मूढयं क्रियते) जिससे ऐसी मूढता की जाती है (जाव दुर्बुद्धि उत्पाद्यते) व उसके देव मूढताकी खोटी बुद्धि पैदा होती रहती है (ताव) तबतक (दिष्टि न शुद्धए) श्रद्धा निर्मल नहीं है।

विशेषार्थ—देव मूढ़ताका स्वरूप कहा जाचुका है कि संसारीक प्रयोजनकी इच्छासे जो रागी द्वेषी देवोंको पूजना है सो देव मूढ़ता है। जो कोई अपनेको श्रद्धालु मानकर भी रागी द्वेषी देवोंकी पूजारूपी मूढताको नहीं छोडता है, उसके सदा काल खोटी बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है। अमुक देवको मानूंगा तो यह लाभ होगा, अमुक देवीको मानूंगा तो यह लाभ होगा, अमुकको मानूंगा तो यह हानि होगी। जानता हुआ भी कि कुदेवोंकी भक्ति व्यर्थ है फिर भी पूर्व संस्कारसे पुत्रकी बीमारी अच्छी करनेको, किसी धनके लाभको चाह करके कुदेवोंकी भक्ति स्वयं करता है, कराता है व अनुमोदना करता रहता है। यह मिथ्या शल्य जबतक उसके भावोंमें गडी रहती है वह कभी भी निःशंक निर्भय व शुद्ध श्रद्धावान नहीं होने पाता है। वह इस बातको भूल जाता है कि इन कुदेवोंकी भक्तिसे वृथा ही श्रद्धानको मलीन करना है। हरएक प्राणी अपने २ किये हुए पुण्यकर्म व पापकर्मके आधीन है उसको कोई मेट नहीं सक्ता है। वीतराग जिनेन्द्र भगवानकी

भक्तिसे तो परिणामोंकी उज्वलता होकर भले ही पापकर्म कम होजावे या टल जावे और पुण्य-कर्मका विशेष लाभ होजावे परन्तु कुदेवोंकी भक्तिसे तो सिवाय पाप दृढ़ न होनेके पापका शमन नहीं होसक्ता है। ऐसा जान कर जो सम्यक्तको दृढ रखना चाहता है वह भूलकर भी कुदेवोंकी भक्ति व पूजा नहीं करता है, अपने श्रद्धान भावको अति दृढ रखता है।

श्लोक—अदेवं देव उक्त च, मूढ दृष्टिः प्रकीर्तितं।
अचेतं अशाश्वतं येन, त्यक्तये शुद्ध दृष्टितं ॥ २४३ ॥

अन्वयार्थ—(अदेवं देव उक्तं च) जिनमें देवपना कुछ भी नहीं ऐसे अदेवको जो देव कहते हैं सो (मूढदृष्टिः प्रकीर्तितं) मूढ श्रद्धा कही गई है (येन) क्योंकि (अचेतं अशाश्वतं) यह माने हुए अदेव अज्ञानी है व विनाशीक है (त्यक्तये शुद्धदृष्टितं) शुद्ध सम्यग्दृष्टी इनकी भक्ति नहीं करता है।

विशेषार्थ—पहले अदेवका स्वरूप कह चुके हैं। चार प्रकार भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी जो संसारी रागी द्वेषी देव हैं इनमेंसे किसीको देव मानकर श्रद्धा रखनी सो कुदेव श्रद्धा है। इनके सिवाय गाय, घोडा, हाथी, बैल, गरुड, मोर, पीपल, तुलसी, वरगत, आम, आदि तिर्यंच गतिवाले अज्ञानी विनाशीक पर्यायधारी जीवोंको अथवा कुम्हारका चाक, दूकानकी देहली, मिट्टीका ढेर, पाषाणका खण्ड आदि अजीव विनाशीक वस्तुको जिससे सच्चा देवपना अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग-पना या अरहंत सिद्धपना कुछ भी न झलके, कोई ध्यानमय भाव नहीं प्रगट हो देव मानना अदेव श्रद्धा है मूढता है। यह भी देव मूढतामें गर्भित है। शुद्ध सम्यग्दृष्टी तो शुद्धात्माके पदको प्राप्त जो अरहंत और सिद्ध भगवान हैं उनहीको सुदेव मानेगा और उनहीकी भक्ति करेगा सो भक्ति भी इसीलिये कि जिससे परिणामोंमें निर्मलता प्राप्त हो तथा अपने ही शुद्धात्माकी स्मृति होजावे। सम्यग्दृष्टी व्यवहारनयसे सकल और निकल परमात्मा जो अरहंत और सिद्ध हैं उनकी गाढ़ श्रद्धा व भक्ति रखता है अन्य किसी कुदेव या अदेवकी नहीं।

श्लोक—पाषंडी मूढ जानंते, पाषंडं भ्रम ये रताः।
परपंचं पुद्गलाथ च, पाषंडिमूढ न संशयः ॥ २४४ ॥

अन्वयार्थ—(पाषंडी जानंते) जे मूढ़ अज्ञानी आत्मज्ञान रहित साधु जाने जाते हैं (ये पाषंडं भ्रमरताः) जो मिथ्यात्व भ्रम जालमें आसक्त हैं (पुद्गलार्थं परपंचं च) जो इस शरीरके लिये ही सर्व प्रपंचजाल करते रहते हैं उनको गुरु मानना (पाषंडमूढ़ न संशयः) पाषंड मूढता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—सुगुरु कुगुरुके स्वरूपमें पाषंड मूढ़ताका कथन आचुका है। फिर भी ग्रंथकर्ताने यहां शिष्योंको समझाया है कि परिग्रह रहित निर्ग्रंथ साधुओंके सिवाय और किसी साधुको अपना सच्चा पूज्यनीक गुरु न मानना चाहिये। जगतमें अनेक साधु साधुके भेषमें रहते हैं। न उनकी क्रिया ही मोक्षमार्ग रूप है और न उनको शुद्धात्माका ज्ञान ही है। जो स्वयं मिथ्यात्वभाव सहित हैं, जिनके संसारकी लालसा छूटी नहीं है, जो परिग्रह व धनके लोभी, इंद्रियके विषयोंके लम्पटी हैं, स्वयं कुदेवोंके व अदेवोंके उपासक हैं और वैसा ही उपदेश अन्योंको देते हैं, जिनका जप तप भजन आदि व अन्य उपदेशादि, विहारादि सर्व क्रियाओंका हेतु जगतका प्रपंच है, वे इस शरीरके लिए और आगामी शोभनीक विषय भोगने योग्य शरीर पानेके लिए ही मनमाना साधन करते रहते हैं। जिनके दिलोंमें हिंसा व अहिंसाका विचार भी नहीं है। गांजा, चरस आदि नशेके पीनेसे जिनको ग्लानि नहीं है। इत्यादि मोक्षमार्गसे विपरीत आत्मानुभवसे शून्य साधु नामधारी साधुओंको साधु मानकरके भक्ति करना, उनमें साधुपनेकी श्रद्धा रखनी, पाखण्ड मूढता है। सम्यग्दृष्टीको प्रथम ही त्याज्य है।

श्लोक—अनृतं अचेत उत्पादं, मिथ्या माया लोक रंजनं।
पाषंडि मूढ विश्वासं, नरये पतंति ते नरा ॥ २४५ ॥

अन्वयार्थ—(अनृतं अचेत उत्पादं) मिथ्यात्व व अज्ञानको ही वे उत्पन्न करनेवाले हैं। वे स्वयं (मिथ्या माया लोक रंजनं) मिथ्यात्व, मायाचार व लोगोंके रंजायमान करनेमें लगे रहते हैं। जो कोई (पाखंडि मूढ विश्वासं) ऐसे मूढ साधुओंका विश्वास करते हैं (ते नरा नरये पतंति) वे मानव नरकमें पडते हैं।

विशेषार्थ—कुगुरुओंकी सेवा करनेसे सेवकोंका मिथ्यात्व और अज्ञान और अधिक बढ जाता है, वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिसे बहुत दूर होते जाते हैं क्योंकि वे साधु स्वयं मिथ्यात्व-वासित है, संसारानुरागी है, विषयभोगोंमें आसक्त हैं। वे जैसे स्वर्गादिमें कामभोगकी चाहको

रखके साधुपना पालते हैं वैसा ही वे दूसरोंको उपदेश देते हैं। उनके दिलोंमें काम भोगका लोभ स्वर्ग सम्पदाका मोह उत्पन्न कर देते हैं। वे पाखंडी साधु मायाचारमें फंसे रहते हैं। अपना साधुपना बताकर अंतरंगमें साधु न रहते हुए भी लोगोंसे पूजा करवाते हैं और अपना खानपान आदिका स्वार्थ सिद्ध करते हैं। उनकी प्रति समय यही चेष्टा रहती है कि हम लोगोंको खुश रखें। उनके दिलोंको राजी रखनेके लिये नाना प्रकार रसीली कथाएं रच रचकर सुनाते हैं। मूढतासे भरा गाना कराते हैं। ऐसे साधु जिनके पास न वैराग्य है न संयम है न आत्मज्ञान है न मोक्षकी भावना है, मात्र संसारके बढानेवाले पाषाणके नावके समान हैं, जो आप भी डूबेंगे व दूसरोंको भी डुबाएंगे। जो अज्ञानी ऐसे पाखंडी साधुओंको सच्चा गुरु मानके उनके विश्वासमें फंस जाते हैं वे स्वयं मिथ्यात्व पोषक व विषयलम्पटी व परिग्रहके पिपासु बनकर नरक आयुको बांधकर नरक चले जाते हैं।

श्लोक—पाषंडि वचन विश्वासं, समय मिथ्या प्रकाशनं।
जिनद्रोही दुर्बुद्धि ये, स्थानं तस्य न जायते ॥ २४६ ॥

अन्वयार्थ—(पाषंडी वचन विश्वासं) पाषंडी साधुओंके वचनोंका विश्वास करना (समय मिथ्या प्रकाशनं) मिथ्या आगम या मतका प्रकाश करना है (ये जिनद्रोही दुर्बुद्धी) जो पाषंडी साधु जिनेन्द्रके अनेकांत मतके शत्रु हैं व मिथ्या दुष्ट बुद्धिको रखनेवाले हैं (तस्य स्थानं न जायते) ऐसे पाषंडी साधुके स्थानमें भी जाना उचित नहीं है।

विशेषार्थ—पाषंडी साधुओंने बहुतसे मिथ्या शास्त्र बना दिये हैं जिनमें मिथ्यात्वको व राग द्वेषको व हिंसाको पोषण किया है, उनके वचनोंपर विश्वास करना कभी उचित नहीं है।

जिनेन्द्रका आगम स्याद्वादि नयसे जैसा पदार्थ अनेकांत स्वरूप है वैसा ही झलकानेवाला है तथा ज्ञान वैराग्यका प्रकाश करनेवाला है, आत्माको सुख शांतिके मार्गमें लगानेवाला है। संयमकी दृढता करानेवाला है। ऐसे आगमका विरोधी वचन पाखंडी साधुओंका होता है, वे एकांतको पुष्ट करते हैं, आत्मीक आनन्दके उपवनमें जानेसे रोकते हैं, विषय कषायमें लगा देते हैं इसलिये वे जिनद्रोही हैं तथा उनकी बुद्धि भी सरल मंगलकारी नहीं है, वे दुष्ट बुद्धि रखते हुए आप भी कुमार्गमें चलते हैं और अपने भक्तोंको भी कुमार्गपर चलाते हैं। ऐसे पाखंडी साधुओंके स्थानोंपर

ही जाना न चाहिये, उनकी संगति न करनी चाहिये। संगतिका भी बड़ा असर होता है। सच्चे साधुओंकी संगति मंगलकारी है, आत्मोन्नतिके मार्गमें प्रेरित करनेवाली है तब स्वयं आत्मज्ञान-शून्य इंद्रिय सुखके लोलुपी साधुओंकी संगति संसारके ही मार्गको दृढता करानेवाली है व इस मानव जन्मको निरर्थक व पापका भार बनानेवाली है अतएव खोटे साधुके संगसे बचना ही श्रेष्ठ है।

श्लोक—पाखंडि कुमति अज्ञानी, कुलिंगी जिन लोपनं ।
जिन लिंगी मिश्रेण यः, जिनद्रोही ज्ञानलोपनं ॥ २४७ ॥

अन्वयार्थ—(पाखंडी) पाखंडी साधु (कुमति अज्ञानी) कुमति व कुश्रुतका धारी है (कुलिंगी) मिथ्या भेषी है (जिन लोपनं) जिनके स्वरूपको लोपनेवाला है (यः) जो (जिन लिंगी मिश्रेण) जिन लिंगीके साथ अपनेको मिलाके अर्थात् जिन लिंगी दिखाके (जिनद्रोही) जिन भगवानका द्रोही होता हुआ (ज्ञानलोपनं) सम्यग्ज्ञानको छिपानेवाला है।

विशेषार्थ—यहांपर यह दिखलाया है कि जो जिन भेषी नहीं हैं अर्थात् परिग्रह धारी साधु हैं उनके कुमति कुश्रुत ज्ञान होता ही है। वे तो जिनेन्द्र भगवानके मतको लोपनेवाले हैं ही परन्तु जो अपनेको जिन भेषी सरीखा मानते हैं, परिग्रह कुछ रख करके भी अपनेको जैन साधु मानते हैं या परिग्रह त्याग नग्न होकरके भी अपनेको जैन साधु मानते हैं परंतु जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार तत्वोंका न अनुभव करते हैं न यथार्थ तत्वोंका उपदेश करते हैं वे भी जिनद्रोही हैं। वे सम्यग्ज्ञानको लाभ करनेवाले हैं। कोई २ जैनका भेष धार करके भी तत्वज्ञानसे शून्य होते हुए व किसी ख्याति पूजा लाभादिके हेतुसे मुनिका चारित्र पालते हुए मात्र भक्ति करानेमें लीन हैं, गृहस्थोंको रुचे ऐसा ही उपदेश देनेवाले हैं। उनको व्यवहार पूजा पाठमें ही उलझाए रखते हैं, आध्यात्मिक ज्ञानकी तरफ नहीं लेजाते हैं किन्तु मना करते हैं कि आत्माकी कथनी गृहस्थको पढ़नी योग्य नहीं है। वे स्वयं भी आत्मानुभव करते हुए कषायका ही पोषण करते हैं और दूसरोंको भी कषाय पोषणका मार्ग दिखाते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शनके लिखनसे स्वयं भी दूर हैं और दूसरोंको भी दूर रखते हैं, ऐसे जिनभेषी साधु भी हितकारी नहीं हैं। वे जिन लिंगी बन करके भी श्री जिनेन्द्रके मार्गका लोप करनेवाले हैं, ऐसोंकी संगति भी हितकारी नहीं है।

श्लोक—पाखंडी उक्त मिथ्यात्वं, वचनं विश्वास कीयते ।
त्यक्तते शुद्ध दृष्टी च; दर्शनं मल विमुक्तयं ॥ २४८ ॥

अन्वयार्थ—(पाखंडी उक्त मिथ्यात्वं) पाखंडी भेषी साधुओंके द्वारा कहे हुए मिथ्यात्व पोषक (वचनं) वचनोंका (विश्वासं कीयते) विश्वास किये जानेपर (शुद्ध दृष्टि च त्यक्तते) शुद्ध आत्मीक दृष्टिका त्याग होजाता है (मल विमुक्तयं दर्शनं) मल रहित सम्यग्दर्शन नहीं रहता है ।

विशेषार्थ—जिन शास्त्रोंके रचनेवाले निर्ग्रंथ वीतरागी साधु न हों; किन्तु सरागी भेषी एकांती साधु हों उन शास्त्रोंमें जो उपदेश होगा वह मोक्षमार्गसे विपरीत राग पोषक आत्मानुभवसे विपरीत होगा । उन शास्त्रोंको पढनेसे शिथिल श्रद्धावालेका श्रद्धान बिगड सक्ता है तथा ऐसे पाखंडी साधुओंका उपदेश भी सुनना उचित नहीं है क्योंकि वह भी सम्यक् श्रद्धानको जो पक्का नहीं है गिरा सक्ता है । शुद्ध आत्मीक दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। जहां एक आत्मीक आनन्दकी गाढ रुचि पाई जावे, संसार शरीर भोगोंसे पूर्णतया वैराग्य हो ऐसी रुचि जिन वचनोंके सुननेसे जाती रहे उनको न सुनना ही न पढना ही हितकर है । सम्यग्दर्शनके अतीचारोंमें यह बात बता चुके हैं कि कुगुरु और उनके भक्तोंकी संगति करनाअनायतन है, धर्मकी प्राप्तिका ठिकाना न होकर धर्मसे शिथिल करनेवाला है । जैसे अपने पास रत्न हो तो उसकी रक्षा भलेप्रकार करना उचित है उसी तरह बडी कठिनतासे प्राप्त जो सम्यग्दर्शन उसकी रक्षा भलेप्रकार कर्तव्य है। संगतिका बडा भारी असर होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी वीतरागी साधुओंकी संगति ही करना उचित है। इसीसे सम्यक्तको मजबूती प्राप्त होगी व आत्मभावना दृढ होगी व संसारसे वैराग्य बना रहेगा ।

श्लोक—मदाष्टं मान सम्बंधं, शंकादि अष्ट विमुक्तयं ।
दर्शने मल न दिष्टंते, शुद्ध दृष्टिं समाचरतु ॥ २४९ ॥

अन्वयार्थ—(मान सम्बंधं मदाष्टं) मान कषाय सम्बन्धी आठ प्रकारका मद व (शंकादि अष्ट विमुक्तयं) व आठ शंकादि दोषसे रहित (दर्शने मल न दिष्टंते) सम्यग्दर्शनमें कोई भी मैल न दिखलाई पडे ऐसे (शुद्ध दृष्टिं समाचरतु) शुद्ध सम्यग्दर्शनको आचरण करना उचित है ।

विशेषार्थ—गृहस्थ श्रावकको रत्नत्रयके आचरणमें प्रथम सम्यग्दर्शनके आचरणका उपदेश है। इस दर्शनाचारमें यही उचित है कि २५ दोषोंको न लगाता हुआ सम्यक्तकी दृढ़ता जिस तरह रहे उस तरह वर्तन करें। श्रद्धान कभी शिथिल न होने पावे किन्तु दिनपर दिन दृढ़ होता चला जावे, ऐसा उद्यम रखना योग्य है। २५ दोषोंका वर्णन पहले कर आए हैं। जाति, कुल, धन, अधिकार, रूप, तप, बल व विद्या इन आठ प्रकारकी शक्तियोंके होते हुए कभी भी अभिमान नहीं करना चाहिये। जो पर वस्तुओं या क्षणभंगुर पदार्थको अपनी मानेगा वही मान करेगा। सम्यक्ती तो सिवाय अपनी शुद्ध आत्माके और किसीको अपनी नहीं मानता, इससे उसके धनादिका कभी भी मान नहीं होता है। वह सदा अनित्य भावना भाता हुआ इनकी तरफसे उदासीन भाव ही रखता है। इसी तरह आठ शंकादि दोष भी नहीं लगाता है। वह निर्भय होकर व निःशंक दृढ़ श्रद्धालु होकर धार्मिक क्रियाओंको पालता है। विषयभोगोंकी अभिलाषा करके कांक्षा दोष नहीं लगाता है। रोगी दुःखी मानवों व पशुओंको देखकर घृणा नहीं करता है। मूढ़तासे कोई धर्मक्रियाको नहीं करता है। धर्मात्माओंके कर्मउदयसे लगे हुए दोषोंको ढूंढ़कर उनकी निंदा नहीं करता है, आपको व परको धर्ममें स्थिर रखता है। धर्मात्माओंसे गोवत्स सम प्रीति रखता है। धर्मकी उन्नतिमें सदा उत्साही रहता है। लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता व पाखण्ड मूढ़तासे बचता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म उनके भक्तोंकी गाढ़ संगति नहीं करता है। इस तरह २५ दोषोंको बचाकर निर्मल सम्यक्तका आचरण पालता है। व्यवहार धर्मकी ऐसी क्रियाओंको पालना जिनसे श्रद्धान दृढ़ रहे यही सम्यक्तका आचरण है। जैसे श्री जिनेन्द्र भगवानकी पूजा, भक्ति, स्तुति, वंदना, गुरुओंके द्वारा उपदेश श्रवण, शास्त्रोंका भले-प्रकार स्वाध्याय करना, सवेरे सांझ आत्माके मननके लिये सामायिकका अभ्यास रखना। इत्यादि कार्य करते रहना चाहिये तब ही सम्यक्त दृढ़ रह सकेगा।

श्लोक—ज्ञानं तत्वानि वेद्यंते, शुद्ध समय प्रकाशकं।
शुद्धात्मानं तीर्थं शुद्धं, ज्ञानं ज्ञान प्रयोजनं ॥ २५० ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानं तत्वानि वेद्यंते) ज्ञान वही है जो जीवादि सात तत्वोंको अनुभव करावे (शुद्ध समय प्रकाशकं) जो शुद्ध निर्दोष पदार्थोंका व शास्त्र सम्बन्धी विषयोंका प्रकाशक हो (शुद्धात्मानं शुद्धं तीर्थं)

तथा शुद्ध तीर्थस्वरूप शुद्धात्माका झलकानेवाला हो (ज्ञानं ज्ञान प्रयोजनं) ज्ञानसे ज्ञानकी उन्नतिका ही प्रयोजन हो वही ज्ञानाचार है।

विशेषार्थ—अब सम्यग्ज्ञानाचारको कहते हैं। सम्यग्ज्ञान वही है जो जीवादि सात तत्वोंको यथार्थ बतावे तथा निर्दोष वस्तु स्वभाव बतावे व मुनि श्रावकका यथार्थ आचरण बतावे, लोकालोकका ठीक स्वरूप समझावे, महान पुरुषोंके जीवनचरित्रोंको यथार्थ बतावे। अर्थात् जो यथार्थ रूपसे प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग रूप हो। इन चार अनुयोगोंके प्रकाशक यथार्थ ज्ञानके दाता शास्त्रोंका पढना सुनना सम्यग्ज्ञानका आचरण है। मुख्य अभिप्राय शास्त्रज्ञानका यही है कि संसार तारक शुद्ध आत्माका अनुभव प्राप्त हो। स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है या तीर्थ है। सम्यग्ज्ञानका या स्वसंवेदन ज्ञानका आचरण ही ज्ञानकी वृद्धिका कारण है, यही केवलज्ञानका द्योतक है। अतएव अतिशय प्रेम करके आत्मज्ञानकी वृद्धिकारक शास्त्रोंका पठन पाठन रखते हुए ज्ञानाचारका पालन करना उचित है।

श्लोक—ज्ञानेन ज्ञानमालम्ब्यं, पंच दीप्ति परस्थितं।
उत्पन्नं केवलज्ञानं, सार्धं शुद्धं दिष्टितं ॥ २५१ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानेन) सम्यग्ज्ञान या श्रुतज्ञानके द्वारा (ज्ञानं) आत्मज्ञानको (आलम्ब्यं) दृढ करना चाहिये, जिससे (पंच दीप्ति परस्थितं) पंच प्रकार ज्ञानोंके भीतर श्रेष्ठ रूपसे स्थित जो (केवलज्ञानं) केवलज्ञान सो (उत्पन्नं) पैदा होजावे। और (सार्धं) साथ ही (शुद्धं दष्टितं) शुद्ध आत्मीक प्रत्यक्ष दर्शन होजावे।

विशेषार्थ—शास्त्र ज्ञानका भलेप्रकार अभ्यास ऐसा करना चाहिये जिससे आत्मा व अनात्माका दृढ ज्ञान संशय रहित होजावे, भेदविज्ञान पैदा होजावे। भीतरसे ऐसा झलक जावे कि मेरा आत्मा वास्तवमें सर्व राग द्वेषादि विकारोंसे व ज्ञानावरणादि कर्म मलोंसे व शरीरादिसे रहित है। ऐसा भेद ज्ञान होनेपर जब इसीकी भावना वारवार की जाती है और आत्माका अनुभव किया जाता है तब जितना २ आत्मध्यान बढ़ता है उतना २ ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है; मतिज्ञान, श्रुतज्ञानकी शक्ति बढती जाती है। इसी आत्मध्यानकी योग्यतासे संपूर्ण द्वादशांगका ज्ञान होजाता है, आत्मा श्रुतकेवली होजाता है, अनेक ऋद्धियें सिद्ध होजाती हैं,

शुद्ध आत्मीक ज्ञानकी भावना करते रहनेसे अवधिज्ञानकी दीप्ति व मनःपर्यय ज्ञानकी दीप्ति भी चमक जाती है। जिन ज्ञानोंके प्रभावसे सूक्ष्म रूपी पदार्थोंका ज्ञान होने लगता है तथा उसी आत्म-ध्यानसे उन्नति करते २ जब वह ध्यान शुक्लध्यानके रूपमें होजाता है-एकाग्र शुद्धोपयोग होजाता है तब वही ज्ञान केवलज्ञानके रूपमें परिणत होजाता है। अर्थात् पांच प्रकारके ज्ञानावरणीय कर्मका नाश होजाता है और केवलज्ञान प्रकाशमान होजाता है। यह केवलज्ञान सर्व ज्ञानोंमें श्रेष्ठ है। इसके प्रगट होते हुए अन्य चार ज्ञानोंकी जरूरत नहीं रहती है। यह केवलज्ञान सर्व द्रव्योंको और सर्व द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको एक साथ जान लेता है। साथ ही निजात्माका प्रत्यक्ष दर्शन जो अबतक न था सो होजाता है। श्रुतज्ञानसे शुद्धात्माका अनुभव यद्यपि स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष है तथापि शास्त्र बलपर खडा हुआ परोक्ष ही है। जब केवलज्ञानका प्रकाश होजाता है तब प्रत्यक्ष शुद्ध आत्माका यथार्थ अनुभव होजाता है। निरालम्ब केवल आत्मबोध होजाता है। इसलिये उपासकको नित्य ही सम्यग्ज्ञानकी आराधना करते रहना चाहिये।

श्लोक—ज्ञानं लोचन भव्यस्य, जिनोक्तं सार्थ ध्रुवं।
सुये तत्वानि विज्ञानं, शुद्ध दृष्टिः समाचरतु ॥ २५२ ॥

अन्वयार्थ—(भव्यस्य) भव्य जीवकी (लोचन) आंख (ज्ञानं) ज्ञान है। जो (सार्थ ध्रुवं) यथार्थ है निश्चल है (जिनोक्तं) ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। (शुद्ध दृष्टिः) सम्यग्दृष्टी जीव (सुये) श्रुतज्ञानके द्वारा (तत्वानि विज्ञानं समाचरतु) तत्वोंका विशेष ज्ञान प्राप्त करें।

विशेषार्थ—भव्यजीव जगतके पदार्थोंको ज्ञानरूपी आंखसे देखता है जो अंतरंगमें प्रकाशमान रहती है। दोनों आंखें तो मात्र रूपी स्थूल पदार्थोंको ही जो वर्तमानमें सामने हैं उनहींको देख सक्ती हैं। परन्तु शास्त्र ज्ञानसे प्राप्त हुई सम्यग्ज्ञानकी आंख सर्व पदार्थोंको यथार्थ देख लेती है। जैसे पदार्थ जगतमें यथार्थ हैं उनको वैसा ही ठीक२ जान लेना ही ज्ञान लोचनका कार्य है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवानने कहा है। जहांतक केवलज्ञानका लाभ न हो वहांतक सम्यग्दृष्टीको उचित है कि शास्त्रोंका अभ्यास करते हुए तत्वोंका विशेष ज्ञान बढाता रहे। शास्त्र समुद्र अगाध है, नित्य अभ्यास करते हुए भी १०० वर्षका जीवनवाला मानव बहुत थोडा ही पार पासक्ता है।

तौभी एक श्रावकका मुख्य कर्तव्य है कि शास्त्रोंका मनन करता हुआ ज्ञानका आचरण करता रहे। ज्ञानाचार ही आत्माकी भावना दृढ रखनेको बड़ा भारी आलम्बन है।

श्री मूलाचारमें ज्ञानाचारका स्वरूप कहा है—

जेण तच्चं वि बुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि। जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥७०॥

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि। जेण मित्ती प्रभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥७१॥

भावार्थ—जिसके द्वारा तत्वोंका यथार्थ ज्ञान हो, जिसके द्वारा मनके व्यापारका निरोध हो, जिससे आत्मा रागादि रहित वीतराग हो वही जिनशासनमें ज्ञानाचार कहा गया है। जिससे यह जीव रागादि विकारोंसे वैरागी हो, जिससे अपने निर्वाणके भीतर अनुरागी हो, जिससे प्राणी मात्रमें मैत्रीभाव बढ़ जावे वही जिनशासनमें ज्ञानाचार है।

इस प्रकार ज्ञानका महात्म्य जानकर भव्य जीवको उचित है कि योग्य कालमें विनय पूर्वक चित्तको समाधान करके ज्ञानकी आराधना करे। ज्ञानाभ्यास जीवनको सदा आनन्द प्रदान करनेवाला व चिंताओंको मेटनेवाला है।

श्लोक—आचरणं स्थिरीभूतं, शुद्ध तत्व ति अर्थकं।
ॐ वंकारं च विंदंते, तिष्ठते शाश्वतं पदं ॥ २५३ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध तत्व ति अर्थकं स्थिरीभूतं) शुद्ध आत्मीक तत्वमें जो तीन गुणोंका अर्थात् रत्नत्रयका स्थिर होजाना सो (आचरणं) सम्यकचारित्र है। जहां (ॐ वंकारं च विंदन्ते) ॐमें गर्भित परमात्माका अनुभव होता है जो (शाश्वतं पदं तिष्ठते) अविनाशी पदमें विद्यमान है।

विशेषार्थ—पहले दर्शनाचार व ज्ञानाचारको कह चुके हैं, अब चारित्राचारको कहते हैं। निश्चय सम्यग्चारित्रका वही स्वरूप है जो अपने ही शुद्ध आत्मस्वरूपमें उपयोगको जमा दिया जाय। यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र स्वरूप है। आत्माका अनुभव करते हुए तीनों गुणोंकी एकतामें परिणति जम जाती है वही साक्षात् मोक्षमार्ग है। ॐकारको नमस्कार किया जाता है क्योंकि उससे पांच परमेष्ठीमें गर्भित शुद्धात्माका संकेत होता है। उसी शुद्धात्माका अनुभव स्वानुभवमें होता है। शुद्धात्माका शुद्धात्मा रूप रहना यही अविनाशी पद है। यहां यह दिखलाया है कि श्रावकको

भी इस निश्चय सम्यग्चारित्रका अभ्यास करना चाहिये। सम्यग्दृष्टीका मुख्य कर्तव्य है कि निज आत्माकी भावना करे। यद्यपि यह आत्मा कर्मोंसे लिप्त अशुद्ध है तथापि इसको शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे कर्मोंसे अलग करके देख लेना चाहिये। जैसे विवेकी मानव रंगसे मिले पानीमें पानीको रंगसे भिन्न देखता है। तेली तिलोंमें भूसीसे भिन्न तैलको देखता है। धान्यमें चावल और छिलका मिला है तौभी पहचाननेवाला चावलको छिलकोंसे भिन्न देखता है। म्यानमें तलवार है उसे चांदीकी तलवार चांदीकी म्यान होनेके कारणसे कहते हैं तथापि समझदार चांदीकी म्यानको अलग और तलवारको अलग देखता है। उसी तरह भेद विज्ञानी सम्यग्दृष्टी महात्मा आत्माको अलग और कर्म प्रपंचको अलग देखता है। इस शुद्ध नयकी दृष्टिसे बुद्धिबलसे अपने आत्माको शुद्ध रूप ठहराकरके उसमें थिरता करना ही निश्चय सम्यग्चारित्र है, इसीका अभ्यास हितकारी है।

श्लोक—आचरणं त्रिविधं प्रोक्तं, सम्यक्तं संयमं ध्रुवं।
प्रथमं सम्यक्तचरणस्य, अस्थिरीभूतस्य संयमं ॥२५४॥
चारित्रं संयमं चरणं, शुद्ध तत्त्व निरीक्षणं।
आचरणं अवंध्यं दिष्टं, सार्थं शुद्ध दृष्टितं ॥२५५॥

अन्वयार्थ—(आचरणं द्विविधं प्रोक्तं) आचरण दो प्रकारका कहा गया है (सम्यक्तं संयमं ध्रुवं) एक सम्यक्त आचरण, दूसरा निश्चल संयम आचरण (प्रथमं अस्थिरीभूतस्य सम्यक्तचरणस्य संयमं) प्रथम जो सम्यक्त आचरण है वह श्रद्धानमें स्थिर होकरके भी चारित्र अपेक्षा चंचल रूप है। उस चंचलपनेको मेटकर स्थिर होना सो संयम है (संयमं चरणं चारित्रं) ऐसे संयम भावमें चर्या करना सो दूसरा संयम आचरण या सम्यग्चारित्र है। जहां (शुद्ध तत्त्व निरीक्षणं) शुद्ध आत्मीक तत्वका ही अनुभव होता है वही (आचरणं अवंध्यं दिष्टं) आचरण सफल देखा जाता है वही (सार्थं शुद्ध दृष्टितं) यथार्थ शुद्धात्माका दर्शन है।

विशेषार्थ—यहां निश्चयनयकी अपेक्षा लेकरके भी व्यवहारनयसे चारित्रके दो भेद बताये हैं—एक दर्शनाचरण, दूसरा संयमाचरण। मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई एक पदार्थ हूं, रागद्वेषादिसे

भिन्न हूं ऐसा जो श्रद्धान उसमें स्थिर होना सो सम्यक्दर्शनका आचरण है, अर्थात् अपने आत्माके स्वरूपको यथार्थ निश्चय, जिसमें कोई शंका न रहे, वही दर्शनाचार है। वह सम्यक्ती इस बातको जानता है कि मेरा आत्मद्रव्य पर्यायकी दृष्टिसे वर्तमानमें अशुद्ध होरहा है कर्म बन्ध सहित है तौ भी यह आत्मा अपने द्रव्य स्वभावकी अपेक्षासे शुद्ध है। इसका स्वभाव अनादिकालसे कर्मोंके साथ रहते हुए भी चला नहीं गया है। जैसे सोना दीर्घकालसे पाषाणसे मिला है, तौभी सुवर्णने अपना सुवर्णपना नहीं त्यागा वैसे निगोद पर्यायसे लेकर इस मनुष्य पर्यायमें आते हुए अनंतभव धारण करते हुए भी इस आत्माने अपना आत्मपना कभी ही नहीं त्यागा। ऐसे अपने सच्चे आत्म-स्वरूपका दृढ निश्चय रखना सो सम्यक्त आचरण है। यह स्वरूप स्थिरतारूप नहीं है, मात्र श्रद्धारूप है। जब उपयोग अनेक पदार्थोंसे हटकर इस निश्चय किये हुए अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपमें एकाग्र होजाता है तब संयमाचरण प्राप्त होजाता है। तब उपयोग मनके संकल्प विकल्पोंसे व इंद्रिय द्वारा जाननेके कार्यसे छूटकर अपने ही स्वामी उपयोगवान आत्मामें उसी तरह लय होजाता है जैसे निमककी डली खारे पानीमें लय होजाती है। शुद्धात्माके अनुभवमें स्थिरता पाना ही संयमाचरण है। यहीं शुद्धात्माका दर्शन होता है। यहीं आचरणकी सफलता प्राप्त होती है। यदि कोई बाहरी पांच अणुव्रत या महाव्रत पालता है-उपवास, व्रत, जप, तप करता है, घंटों आसन लगाता है, ऊनोदर आदि रस परित्यागादि तप करता है परंतु शुद्धात्मामें थिरता नहीं पाता है तो उसका आचरण सफल नहीं है। परंतु यदि अपने शुद्ध आत्माके अनुभवमें ठहर जावे तो वह चारित्र सफल है। जहां स्वरूपाचरण चारित्र है वहीं शुद्धात्मीक दृष्टि है। यही परम मंगलकारी है। यही कर्मोंके बंधको संहार करनेवाली है। यही वारवार आराधने योग्य है। यही धर्मध्यान है व यही शुक्लध्यानका नाम पाती है। तत्वानुशासनमें कहा है—

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादि रहितत्वतः। वितर्कास्तन्न पश्यंति ते ह्यविस्पष्टतर्कणाः ॥ १६६ ॥

उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियं। स्वसंवेदनं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यतां ॥ १६७ ॥

भावार्थ—यह शुद्धात्मा इंद्रिय ज्ञानसे नहीं देखा जासक्ता है क्योंकि इंद्रियें रूपी पदार्थको देखती हैं परन्तु यह आत्मा रूपादिसे रहित अमूर्तीक है। और न मनके वितर्क या विचार आत्माको

देख सके हैं। क्योंकि वे सर्व तर्कनाएं स्पष्ट व स्थिर नहीं हैं। जब इन्द्रिय ज्ञान व मनके संकल्प विकल्प दोनों रोक दिये जाते हैं तब विशेष स्पष्ट साफ साफ इंद्रिय रहित अतीन्द्रिय अपना स्वरूप जो अपनेसे ही अनुभव करने योग्य है अनुभवमें आता है। उसीको स्वानुभवके द्वारा ही अनुभव करना चाहिये, देखना चाहिये, यही यथार्थ सम्यक्चारित्र है, हरएक गृहस्थ श्रावकको अभ्यास करना योग्य है।

दानका स्वरूप।

श्लोक—पात्रं त्रिविधि जानंते, दानं तस्य सुभावना।
जिनरूपी उत्कृष्टं च, अव्रतं जघनं भवेत् ॥ २५६ ॥

अन्वयार्थ—(त्रिविधि पात्रं जानंते) पात्र तीन प्रकार जानने चाहिये (सुभावना तस्य दानं) शुभ भावोंसे उनको दान करना चाहिये (उत्कृष्टं च जिनरूपी) जो तीर्थंकरके समान नग्न दिगम्बर रूपके धारी निर्ग्रंथ मुनि हैं वे उत्कृष्ट पात्र हैं (अव्रतं जघनं भवेत्) जो व्रत रहित सम्यग्दृष्टी हैं वे जघन्य पात्र हैं।

विशेषार्थ—अब यहां यह बताते हैं कि गृहस्थोंको दान करना बहुत जरूरी है। गृहस्थोंका दान धर्म मार्गका चलानेवाला है। दानका लक्षण कहा है—"अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं" अपना और दूसरेका उपकार हो इसलिये अपने धनादिका त्याग करना सो दान है। अपना उपकार तो लोभका त्याग होना व मंद कषायसे पुण्यका लाभ होना है। व दान लेनेवाले पात्रका धर्म साधन व धर्ममें अनुराग बढता है। धर्मकी उन्नति गृहस्थोंके आधीन है। सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रके साधक तीन प्रकारके पात्र होते हैं, उनको भक्तिपूर्वक दान करना उचित है। उत्तम पात्र जिनरूपी हैं, अर्थात् निर्ग्रंथ साधु परिग्रह त्यागी हैं। जघन्य पात्र बाहरी प्रतिज्ञारूप बारहव्रत रहित सम्यग्दृष्टी हैं। मध्यम पात्र व्रत पालनेवाले श्रावक हैं। इनकी यथायोग्य भक्ति करके बहुत ही श्रद्धा व उत्साह पूर्ण भावोंसे आहारादिका दान करना चाहिये। दान देते हुए अपनेको धन्य मानना चाहिये। दातारका यह भाव रहना चाहिये कि मेरे निमित्तसे यदि धर्मात्माओंके धर्मसाधनमें स्थिरता न हुई तो मेरा धन निरर्थक है। मेरे गृहस्थपनेकी शोभा ही दानसे है। नित्य मुझे दान किये बिना अन्न नहीं खाना चाहिये।

श्लोक—उत्तमं जिनरूवं च, जिन उक्तं समाचरति ।
ति अर्थं जोयते येन, ऊर्ध अर्धं च मध्यमं ॥ २५७ ॥

अन्वयार्थ—(उत्तमं जिनरूवं च) उत्तम पात्र जिनरूपी निर्ग्रंथ साधु हैं जो (जिन उक्तं समाचरति) जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञा प्रमाण चारित्रको पालते हैं (येन) जिसने (ति अर्थं जोयते) तीनों तत्व सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रको अनुभव किया है तथा जो (उर्धं अर्धं च मध्यमं) ऊर्ध्व लोक, अधोलोक व मध्यम लोकका स्वरूप जानते हैं।

विशेषार्थ—यहां उत्तम पात्रका स्वरूप कहते हैं। मुनि महाराज उत्तम पात्र हैं। वे जिन आगमके अनुसार अपना चारित्र भलेप्रकार पालते हैं। पांच महाव्रत, पांच समति व तीन गुप्तिके पालक हैं तथा जो निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके स्वरूपको यथार्थ जान करके व्यवहार रत्नत्रयको यथा-योग्य साधन करते हुए निश्चय रत्नत्रय मई आत्मानुभवके अभ्यासी हैं। जिन्होंने श्रुतज्ञानके द्वारा तीन लोकका स्वरूप जाना है, छः द्रव्योंके गुणपर्यायोंको पहचाना है। सारसमुच्चयमें कहा है—

संगादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः । शांता दांतास्तपोभूषा मुक्तिकांक्षणतत्पराः ॥ १९६ ॥
मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणाः । वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापराः ॥ १९७ ॥
धृतिभावनया युक्ता शुभभावनयान्विताः । तत्वार्थाहितचेतस्कास्ते पात्रं दातुरुत्तमाः ॥ १९८ ॥

भावार्थ—जो परिग्रहादिसे रहित हैं, धीर हैं, रागादि मलोंसे वर्जित हैं, शांत हैं, इंद्रियदमन-शील हैं, तप आभूषणके धारी हैं, मोक्षकी भावनामें तत्पर हैं, मन वचन कायकी एकतामें लीन हैं, चारित्रवान हैं, ध्यानी हैं, दयावान हैं, धैर्यवान हैं, शुभ भावनाके कर्ता हैं, तत्वोंके भीतर जिनका चित्त लीन हैं वे ही उत्तम पात्र दातारके लिये दानयोग्य हैं।

श्लोक—षट् कमलं त्रि ॐकारं, ध्यानं ध्यायति सदा बुधैः ।
पंचदीप्तिं च विंदंते, स्वात्मादर्शन दर्शनं ॥ २५८ ॥

अन्वयार्थ—(बुधैः सदा षट् कमलं त्रि ॐकारं ध्यानं ध्यायति) विद्वान उत्तम पात्र साधुओंके द्वारा सदा छः बीजाक्षर और तीन ॐको कमलमें स्थापित करके ध्यानका अभ्यास किया जाता है। (पंचदीप्ति

च विंदते) इसीसे वे पाचों ज्ञानोंका प्रकाश करते हैं तथा (स्वात्मादर्शन दर्शनं) अपने आत्माका दर्शन-रूपी दर्शनको प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ—यहां षट् कमल त्रिॐकारका कोई खुलासा नहीं है इसमें जैसा समझा वैसा हम पहले ही लिख चुके हैं कि एक कमल हृदयस्थानमें आठ पत्तेका विचार किया जाय। बीचमें ॐ लिखके फिर हर पांच पत्तेपर ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः लिखे। तीन पत्तोंपर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः ॐ सम्यक्चारित्राय नमः लिखे और क्रमशः नौ स्थानोंपर ध्यान जमावे और हरएकके द्वारा शुद्धात्माका स्वरूप विचार जावे व अपने आत्माकी तरफ आजावे अथवा ऐसा भी ध्यान किया जासक्ता है कि इसी आठ पत्तेके कमलके ऊपर बीचमें ॐ विराजमान करके पांच पत्तों पर णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं लिखें। फिर तीनों पत्तोंपर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः ॐ सम्यक्चारित्राय नमः लिखें। और हरएकको भिन्न२ कर स्वरूप विचार जावे। यह पदस्थ ध्यानका एक प्रकार है। इससे चित्तकी एकाग्रता होती है, संकल्प-विकल्प हटते हैं, तब ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम विशेष होता है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान बढता जाता है। इसी ध्यानके बलसे शुद्धात्माका अनुभव रूप आत्मदर्शन होने लगता है। उसके प्रतापसे साधुके अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञान तथा अंतमें केवलज्ञानका भी प्रकाश होजाता है। अरहंत पद पानेका उपाय मात्र आत्मध्यान है जिसे श्री मुनिगण ध्याते हैं वे ही उत्तम पात्र हैं।

श्लोक—अवधिं येन संपूर्ण, रिजु विपुलं च दिष्टते।
मनपर्यय केवलज्ञानं; जिनरूपं उत्तमं बुधैः ॥ २५९ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस उत्तम मुनि चारित्रके द्वारा (संपूर्ण अवधिं) परमावधि सर्वावधि ज्ञान (रिजु विपुलं च मनपर्यय) रिजु व विपुल मनःपर्यय ज्ञान (केवलज्ञानं दिष्टते) और केवलज्ञान प्रकाशित होता है वही (जिनरूपं) जिनेन्द्रका निर्ग्रंथ रूप (बुधैः) आचार्योंके द्वारा (उत्तमं) उत्तम कहा गया है।

विशेषार्थ—यहां उत्तम पात्र साधु महाराजकी महिमा बताई है कि यथार्थ रत्नत्रयके साधक आत्मध्यानी साधु आत्मध्यानके बलसे परमावधि सर्वावधि पूर्ण अवधिज्ञानको पा लेते हैं। दोनों

ही प्रकारके रिजुमति, विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानका प्रकाश कर लेते हैं और वही साधु सर्व ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय करके केवलज्ञानको जगा लेते हैं। ऐसे ही परम साधु गणधर देवादि आचार्योंके द्वारा उत्तम पात्र कहे गए हैं। उत्तम पात्र साधुओंके भी तीन भेद हैं-उत्तम, मध्यम, जघन्य। जो तीर्थंकर भगवान साधु अवस्थामें हैं वे उत्तममें उत्तम हैं। जो ऋद्धिधारी साधुसे लेकर चार ज्ञानके धारी तक हैं वे उत्तममें मध्यम पात्र हैं। जो इसके सिवाय मात्र साधन करनेवाले, निश्चय आत्मानन्दके विलासी परमात्मतत्वके रमणकर्ता हैं वे उत्तममें जघन्य हैं। इन उत्तम पात्रोंको गृहस्थोंके द्वारा दान दिया जाना मोक्षप्राप्तिमें उनके लिये परम सहायक है। साधुगण न स्वयं भोजन-पानका प्रबन्ध करते न कराते हैं न ऐसी भावना भी करते हैं कि कोई हमारे लिये प्रबन्ध करें। वे उस आहारको भी नहीं लेते हैं जो किसीने मुनिको देनेके निमित्त ही बनाया हो। इसमें उद्दिष्टका दोष है। गृहस्थने जो अपने लिये बनाया हो उसीमेंसे भक्तिपूर्वक दिये हुए आहारको जो लेते हैं वे नहीं चाहते कि उनके निमित्तसे कोई आरम्भ हो। क्योंकि आरम्भमें हिंसा थोडी बहुत अवश्य होती है। वे स्वनिमित्त हिंसा कराकर अहिंसा व्रतमें कमी करना नहीं चाहते हैं। इसीलिये विना संकेत किये भिक्षारूप कहीं भी निकल जाते हैं। वहां गृहस्थने यदि भक्तिपूर्वक लेजाकर कुछ भाग हाथोंमें रख दिया तो उसे भी बडे ही संतोष व समताभावसे लेकर संयमकी रक्षा विचार कर धर्म भावनामें निरत रहते हैं। मूलाचार अनगार भावनामें कहा है—

ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं ण वि य किंचि जायंति। मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता ॥ ११ ॥

भावार्थ—मुनि महाराज न तो भोजनके लिये किसीकी स्तुति करते हैं न याचना करते हैं। मौनव्रतसे भिक्षाको जाते हैं, विना बोले हुए जो शुद्ध मिल गया उसे ही लेलेते हैं। यदि लाभ नहीं हुआ तो लौट आते हैं। और भी लिखा है—

पयणं व पायणं वा ण करेंति अ णेव ते करावेंति। पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण ॥ ५२ ॥

भावार्थ—वे साधु न स्वयं भोजन पचाते हैं न पचन कराते हैं, वे भोजन क्रियाके आरम्भसे विरक्त हैं, भिक्षामात्रसे संतोषी रहते हैं। ऐसे संतोषी साधुओंको भिक्षा देना परम धर्मकी रक्षा करना है, साधुओंको मोक्ष पहुंचानेका साधन करदेना है। इसलिए दातार गृहस्थ बड़ा भारी धर्मका

सहायक है। इन उत्तम पात्रोंको नवधाभक्तिसे दान करना चाहिए। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है-

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च। वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥ १६८ ॥

भावार्थ—१-संग्रह अर्थात् अत्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ, आहार पानी शुद्ध है ऐसा तीनवार कहकर यदि मुनि उधर भाव करें तो उनको आप आगे जाता हुआ भीतर ले जावे। २-फिर उच्च आसनपर पाट आदिपर विराजमान करे, ३ फिर शुद्ध जलसे किसी वर्तनमें उनके पग प्रच्छालन करे, ४ फिर आठ द्रव्योंसे पूर्ण पूजा या अर्घ देवे जैसा समय हो, ५ फिर उनको तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करे, ६ मनकी शुद्धि, ७ वचनकी शुद्धि, ८ कायकी शुद्धि, ९ व आहारकी शुद्धि रक्खे। इस नौ प्रकार विधिसे मुनि दान करना चाहिये। दातारमें सात गुण होना चाहिये—

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वं। अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥ ११२ ॥

भावार्थ—दातारके ये गुण हैं-१ इस लोकके किसी फलकी इच्छा न करे, २ क्षमाभाव रक्खे-उस समय किसीपर क्रोध न करे, ३ कपट रहित हो, ४ इर्षाभाव न करे, ५ विषाद न करे, ६ प्रसन्न रहे, ७ अहंकार न करे।

गृहस्थी स्वयं भी धर्मसाधक भोजन खाता है व वैसा ही निरोगी आहार मुनिको देता है। वहीं बताया है कि ऐसा द्रव्य देना चाहिये—

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते। द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०॥

भावार्थ—ऐसा पदार्थ दानमें देना चाहिये जो रागद्वेष, असंयम दुःख, भय आदिको नहीं उत्पन्न करे तथा उत्तम तप व स्वाध्यायकी वृद्धिमें सहकारी हो। ऋतुके अनुसार सादा व पौष्टिक भोजन मुनिको देना उचित है। शुद्ध दूध, दाल-रोटी, चावल बहुत हितकारी है। प्रासुक फल भी योग्य हैं। गरिष्ट मिठाई आदि व पकवानादि न देना ही अच्छा है।

श्लोक—उत्कृष्टं श्रावकं येन, मध्यपात्रं च उच्यते।
मतिश्रुतज्ञान संपूर्ण, अवधी भावना कृतं ॥ २६० ॥

अन्वयार्थ—(येन श्रावकं उत्कृष्टं) जो भाई उत्कृष्ट श्रावक हैं उनको (मध्यपात्रं च उच्यते) मध्यम

पात्र कहा जाता है वे (मतिश्रुतज्ञान संपूर्णं) वे मति व श्रुतज्ञानसे पूर्ण होसक्के हैं (अवधी भावना कृतं) तथा अवधिज्ञानकी भावना होती है।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट श्रावक दसमी व ग्यारमी प्रतिमाधारी होते हैं। दसमी प्रतिमावालेको अनुमति त्यागी श्रावक कहते हैं, ग्यारमी प्रतिमावालेको उद्दिष्ट त्यागी कहते हैं। यह भी अपने उद्देश्यसे किया हुआ आहार मुनिके समान नहीं लेते हैं। इस ११ मी प्रतिमाके दो भेद प्रसिद्ध हैं-एक क्षुल्लक, दूसरे ऐलक। क्षुल्लक एक खण्ड वस्त्र व लंगोटधारी होते हैं। मोर पिच्छिका व कमण्डल रखते हैं। पात्रमें बैठकर भोजन करते हैं। कई एक ही घरसे भिक्षा या भोजन करते हैं। कोई अपने भिक्षाके पात्रमें कई घरसे थोडा २ लेकर अंतिम घरमें बैठ भोजन करते हैं। ऐलकमें विशेषता यह है कि वे मात्र एक लंगोट रखते हैं, हाथोंसे केशोंका लोंच करते हैं व बैठकर एक ही घर भिक्षासे अपने हाथोंमें दिया हुआ भोजन करते हैं। मध्यम पात्र दर्शन प्रतिमासे लेकर उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक ११ प्रतिमावाले होते हैं। इनमें उत्तम १०मी व ११मी प्रतिमाधारी हैं। मध्यम सातमीसे नौमी तक होते हैं। पहलीसे छठी तक मध्यममें जघन्य हैं। कोई कोई तीर्थंकर जन्मसे मति श्रुत अवधिज्ञानी होकर श्रावकके व्रत धारते हैं, अन्य कोई मतिश्रुतज्ञानी होते हैं। यहां पूर्णसे भाव पूर्ण द्वादशांग वाणीसे नहीं है क्योंकि पूर्ण द्वादशांगके ज्ञाता श्रुतकेवली साधु होते हैं, परंतु श्रावक भी यथार्थ मति व श्रुतज्ञानके धारी होते हैं व शास्त्रोंके विशेष मर्मज्ञ होते हैं। प्रयोजन यह है कि शास्त्रका यथार्थ ज्ञान हुए विना श्रावकका चारित्र ठीक २ नहीं पल सक्ता है इसलिये श्रावकको मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी होना चाहिये। तथा उत्कृष्ट श्रावकको यथायोग्य भक्तिपूर्वक दान देना चाहिये। उनमेंसे ११ मी प्रतिमावालेको तो आहार पानी शुद्ध कह करके पडगाहना चाहिये व उच्च आसनपर बिठा पग प्रछालन करना चाहिये व यथायोग्य वन्दना करनी चाहिये, पूजन व अर्घ चढ़ानेकी जरूरत नहीं है। पूजन मात्र देव, गुरु, शास्त्रकी होती है। जो क्षुल्लक अनेक घर आहारी हैं उनको खंड खंड ही पात्रमें भोजन दिया जायगा। भोजन व मन, वचन, कायकी शुद्धि तो होनी ही चाहिए। १० मी प्रतिमावालेको भोजनके समय बुलाकर जिमाना चाहिए, शेष पहलेसे निमंत्रण मानसक्के हैं।

श्लोक—आज्ञावेदक सम्यक्तं, उपशमं सार्धं ध्रुवं ।
पदवी द्वितीय आचर्यं, मध्यपात्रं सदा बुधैः ॥ २६१ ॥

अन्वयार्थ—(आज्ञावेदक सम्यक्तं उपशमं ध्रुवं सार्धं) आज्ञा सम्यक्त, वेदक सम्यक्त, उपशम सम्यक्त तथा ध्रुव अर्थात् क्षायिक सम्यक्त सहित (पदवी द्वितीय आचर्यं) जो दूसरी श्रावककी पदवीका आचरण करते हैं उनको (बुधैः सदा मध्यपात्रं) आचार्योंने सदा ही मध्यमपात्र कहा है।

विशेषार्थ—यहां ऐसा अभिप्राय झलकता है कि मध्यम पात्रको सम्यग्दर्शन सहित श्रावकके व्रतोंका आचरण करना चाहिये। यदि वह एकदम मिथ्यात्वसे पांचवें गुणस्थानमें अनंतानुबंधी कषाय और अप्रत्याख्यानावरण कषायोंके उपशमके व मिथ्यात्वके उपशमसे आए तौ वह श्रावक उपशम सम्यक्त सहित होगा अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्ती उपशम श्रेणीसे गिरकर पांचवेंमें आवे तौभी उपशम सम्यक्त सहित श्रावक होगा। यदि वेदक सम्यक्त चौथे या पांचवेंमें प्राप्त करे या वेदक सहित छठेसे पीछे आवे तो वेदक सम्यक्त सहित श्रावक होगा। यदि क्षायिक सम्यक्त चौथे या पांचवेंमें प्राप्त करे या क्षायिक सम्यक्तवाला छठेसे पीछे आवे तो क्षायिक सम्यक्त सहित श्रावक होगा। यदि कोई जिनेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार तत्वोंका श्रद्धान करके श्रावकके व्रत पालने लगे तो उसको आज्ञा-सम्यक्त सहित श्रावक कहेंगे परन्तु वह यदि उपशम या वेदक या क्षायिक सम्यक्त सहित नहीं है तो वह निश्चयसे न सम्यक्दृष्टी है और न श्रावक पंचम गुणस्थानवर्ती है। किंतु उसको श्रावक चारित्रवान निश्चय सम्यक्त रहित मानेंगे और व्यवहार सम्यक्तका धनी व व्यवहार चारित्रका धनी मानते हुए उसे कुपात्रोंमें गिनेंगे, परन्तु वह भी दानका पात्र होगा। जैन सिद्धांतमें कहा है कि जो सम्यक्त सहित चारित्रवान हैं वे सुपात्र हैं, जो निश्चय सम्यक्त रहित यथार्थ चारित्रवान हैं वे कुपात्र हैं। ये दोनों ही दान देनेके योग्य हैं। जिसका व्यवहार चारित्र दोनों ही ठीक न होंगे वह अपात्र है, दान देनेका पात्र नहीं है।

सुपात्र और कुपात्रमें व्यवहार चारित्रकी अपेक्षा कोई अंतर नहीं है, मात्र निश्चय सम्यक्त कुपात्रमें नहीं होता। ऐसा ही अमितगति श्रावकाचारमें कहा है—

चरति यश्चरणं परदुश्चरं, विकटघोरकुदर्शनवासितः। सकलसत्वहितोद्यतचेतनो वितथकर्कशवाक्यपरांमुखः ॥अ० १०-३४॥

धनकलत्रपरिग्रहनिस्पृहो नियमसंयमशीलविभूषितः । कृतकषायहृषीकाविनिर्जयः प्रणिगदंति कुपात्रमिमं बुधाः ॥३१॥

भावार्थ—जो कठिन चारित्रको पालते हैं, परन्तु विकट व भयानक मिथ्यादर्शन सहित हैं, सर्व प्राणी मात्रके हितमें उद्यमी हैं, झूठ और कठोर वचनके त्यागी हैं, धन, स्त्री परिग्रहसे ममता रहित हैं, नियम संयम शीलसे विभूषित हैं, कषायको घटानेवाले व इंद्रियोंके विजयी हैं ऐसोंको पंडितजन कुपात्र कहते हैं। ये दानके पात्र हैं। अपात्रका स्वरूप इसप्रकार है—

दृढकुटुम्बपरिग्रहपञ्जरः, प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः । गुरुकषायभुजंगमसेवितं, विषयलोलमपात्रमुशंति तम् ॥ ३८ ॥

भावार्थ—जो इस कुटुम्ब या परिग्रहके पींजरेमें बंद है, शांति शील गुण व व्रतसे रहित है, तीव्र कषायरूपी सर्पसे सेवित है, विषयोंका लोलुपी है, उसको अपात्र कहते हैं।

सुपात्र या कुपात्रको दान—

पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टिः प्रयच्छति । स याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदयः ॥ ६२-११ ॥

कुपात्रदानतो याति कुत्सितां भोगमेदिनीम् । उप्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते ॥ ८४ ॥

येऽतरद्वीपजाः संति ये नरा म्लेच्छखंडजाः । कुपात्रदानतः सर्वे ते भवंति यथायथम् ॥ ८५ ॥

वर्यमध्यजघन्यासु तिर्यंचः संति भूमिषु । कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुंजते तेऽखिलाः फलम् ॥ ८६ ॥

दासीदासद्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये । कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम् ॥ ८७-११ ॥

भावार्थ—मिथ्यादृष्टी यदि उत्तम सुपात्रोंको दान दे तो उत्तम भोगभूमिमें मानव होवें। कुपात्र दानसे कुभोग भूमिमें पैदा हो। जैसे खोटे क्षेत्रमें बोए बीजका फल सुक्षेत्रमें बोऐ बीजके समान कैसे होसक्ता है? कुपात्र दानसे उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमिमें तिर्यंच पैदा होता है। अपात्रको दान देना ठीक नहीं, निर्फल है। कहा है—

अपात्राय धनं दत्ते व्यर्थं संपद्यतेऽखिलं । ज्वलिते पावके क्षिप्तं बीजं कुत्रांकुरीयति ॥ ८९ ॥

भावार्थ—अपात्रको दिया धनादि सो सब व्यर्थ जाता है जैसे जलती आगमें डाला हुआ हुआ बीज कभी उग नहीं सक्ता है।

श्लोक—ॐ वंकारं च वेदंते, ह्रींकारं श्रुत उच्यते ।
अचक्षुदर्शन जोयंते, मध्यपात्रं सदा बुधैः ॥ २६२ ॥

अन्वयार्थ—(ॐ वंकारं च वेदंते) जो श्रावक ॐकारका अनुभव करते हैं (ह्रींकारं श्रुत उच्यते) व ह्रीं बीजाक्षरका उच्चारण करते हैं (अचक्षुदर्शन जोयंते) अचक्षुदर्शनद्वारा आत्माको देखते हैं (सदा बुधैः मध्यपात्रं) उनको ही आचार्योंने सदा मध्यम पात्र कहा है।

विशेषार्थ—मध्यम पात्र श्रावक भी ॐका ध्यान करके पांच परमेष्ठीके स्वरूपका चिंतवन करके उसके द्वारा अपने शुद्धात्मापर उपयोग लेजाते हैं तथा वे ह्रींका भी अंतरंगमें जप करते हैं व उसका ध्यान करते हैं व इसके द्वारा चौवीस तीर्थंकरोंका स्वरूप विचारते हैं, फिर उनके द्वारा अपने शुद्धात्मापर उपयोग लेजाते हैं। तथा मन द्वारा अचक्षु दर्शनका प्रयोग करके निर्विकल्प आत्माका दर्शन करते हैं। मनका विषय आत्मा है, मन द्वारा अचक्षु दर्शन अमूर्तीक आत्मापर उपयोग लेजासक्ता है। इस तरह जो आत्माके प्रेमी, आत्मध्यानी व शुद्धात्माके अनुभवशील होते हैं वे ही मध्यम पात्र कहे गए हैं।

श्लोक—प्रतिमा एकादशं येन, व्रतं पंच अणुव्रतं।
साद्धं शुद्धतत्वार्थं, धर्मध्यानं च जोइतं॥ २६३ ॥

अन्वयार्थ—(येन एकादशं प्रतिमा) जो ग्यारह प्रतिमाओंको पालते हैं (पंच अणुव्रतं व्रतं) पांच अणुव्रत व उनके सहकारी तीन गुण व्रत व चार शिक्षाव्रतोंको पालते हैं (शुद्ध तत्वार्थं साद्धं) शुद्ध तत्वके अनुभव करनेवाले हैं (धर्मध्यानं च जोइतं) और धर्मध्यानका अभ्यास करते हैं, वे मध्यम पात्र हैं।

विशेषार्थ—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रि भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग ये ग्यारह प्रतिमाएँ हैं। इनका स्वरूप इस ग्रन्थमें आगे कहा है। मध्यम श्रावक इस श्रेणियोंके द्वारा चारित्रकी उन्नति करते हैं। तथा बारह व्रतोंको उत्तरोत्तर बढाते जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व परिग्रह प्रमाण इन पांच अणुव्रतोंको पालते हैं। दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंड त्याग व्रत इन तीन गुण व्रतोंको पालते हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथिसंविभाग इन चार शिक्षाव्रतोंको पालते हैं। बाहरी चारित्र इसतरह पालते हुए शुद्ध आत्मिक तत्वका अनुभव किया करते हैं। उनकी मुख्य दृष्टि अपने आत्मीक विचारपर रहती है। इसी हेतु ये सब श्रावक धर्मध्यानका अभ्यास भले-

प्रकार करते रहते हैं। श्रावकोंकी अंतरंग भावना मोक्ष प्राप्तिकी रहती है, इससे यही चाहते हैं कि कब हम मुनि व्रतके योग्य होजावें जो ध्यानकी विशेष वृद्धि कर सकें। इन ग्यारह प्रतिमाओंमें आगे२ चारित्रकी वृद्धि होती जाती है। दूसरी प्रतिमावाला पहलीके नियमोंको व तीसरीवाला दूसरीके नियमोंको पालता रहता है। आगे२ उन्नति करता जाता है। ये ११ श्रेणिया श्रावकाचारकी क्रमशः वृद्धिके लिये बहुत ही उपयोगी हैं।

श्लोक—अव्रतं त्रितियं पात्रं, देवशास्त्र गुरु मान्यते।
सदहति शुद्ध सम्यक्तं, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ २६४ ॥

अन्वयार्थ—(त्रितियं पात्रं अव्रतं) तीसरा जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टी है जो (देव शास्त्र गुरु मान्यते) यथार्थ देव शास्त्र गुरुमें दृढ श्रद्धा रखता है। व (शुद्ध सम्यक्तं ज्ञानमयं ध्रुवं सार्थं सदहति) जो ज्ञानमय निश्चल यथार्थ तत्वके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शनकी श्रद्धा रखता है।

विशेषार्थ—जघन्य पात्र वह है जिसके नियमसे अणुव्रत तो नहीं है परन्तु व्रतोंके धारणकी तीव्र भावना है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे अतीचार रहित व्रत नहीं पाल सक्ता है तथापि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य सहित होता है। अर्थात् इसके परिणामोंमें आकुलता व अन्ध कषायपना नहीं रहता है। आत्माका पक्का श्रद्धान होनेसे उसके भीतर शांति झलका करती है। जिसके भीतर संवेग भाव होता है अर्थात् जो संसार शरीर भोगोंसे दृढ वैराग्यवान होता हुआ धर्मसे परम प्रीति रखता है-अनुकम्पा भावके कारण वह सर्व प्राणी मात्रपर दया रखता है। दुःखियोंको दुःखी देखकर उसका हृदय कम्पायमान होजाता है। यथाशक्ति वह दुःख दूर करनेका प्रयत्न करता है, कराता है, व दुःखीका दुःख मिट जानेपर हर्ष मानता है। आस्तिक्य-भाव तो ऐसा है कि उसे अपने आत्माके ऊपर पूर्ण विश्वास होता है, परलोकका श्रद्धान होता है, कर्मके बंध व उसकी मुक्तिके ऊपर विश्वास रखता है, सच्चे वीतराग सर्वज्ञ भगवान अर्हंत सिद्ध भगवानको देव मानता है, परिग्रह त्यागी निर्ग्रंथ साधुको गुरु मानता है तथा जिनप्रणीत अहिंसा धर्मको धर्म मानता है व जिनवाणीको अनेकांत वस्तु स्वरूप प्रकाशक शास्त्र मानता है। उसका

सम्यक्तभाव निर्मल होता है। वह शुद्धात्माको पहचानता है तथा शुद्धात्माका अनुभव करता है। यह तीसरा पात्र भी मोक्षमार्गी है व दान देने योग्य है।

श्लोक—शुद्धदृष्टि च सम्पूर्ण, मलमुक्तं शुद्ध भावना।
मति कमलासने कंठे, कुज्ञानं त्रिविधि मुक्तयं ॥ २६५ ॥

अन्वयार्थ—(सम्पूर्ण शुद्धदृष्टी च) यह अविरत सम्यग्दृष्टी पूर्ण शुद्ध आत्माका श्रद्धावान होता है (मलमुक्तं) अतीचार रहित होता है (शुद्ध भावना) शुद्ध आत्माकी भावना करता रहता है (कण्ठे कमलासनं) कण्ठमें कमलको विराजमान करके (मति) बुद्धि स्वरूप ॐको ध्याता है (त्रिविधि कुज्ञानं मुक्तयं) तीन कुज्ञान रहित होता है।

विशेषार्थ—यह जघन्य पात्र शुद्धात्मापर पूर्ण विश्वास रखता हुआ उसी शुद्ध आत्माके स्वरूपकी भावना भाता है। अपने कण्ठमें कमल विराजमान करके उसमें ॐ स्थापित करके ॐके द्वारा परमात्माका ध्यान करता है। इसके कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान नहीं होते हैं। यह पांच अतीचारोंको बचाकर निर्मल सम्यक्त पालता है।

वे पांच अतीचार हैं–शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तव।

शंका–जिनधर्मके प्रयोजनभूत सात तत्वोंमें दृढ़ श्रद्धा रखता हुआ उनमें शंका नहीं लाता है। यदि शास्त्रोंमें कही हुई कोई बात समझमें नहीं आती है तो अपनी समझकी कमी समझता है व विशेष ज्ञानियोंसे समझनेकी चेष्टा करता है। उसके ऊपर मिथ्या श्रद्धा नहीं रखता है। तथा वह सात प्रकारका भय नहीं रखता है। इसलोक भय–ये जगतके लोग मेरा बिगाड़ करेंगे व मुझे हंसेंगे, २–परलोक भय–परलोकमें बुरी गतिमें जाऊंगा तो क्या होगा, ३–रोग भय–रोग होजायगा तो मैं क्या करूंगा, ४–अनरक्षा भय–मेरा कोई रक्षक नहीं है, कैसे मेरे प्राण बचेंगे, ५–अगुप्त भय–मेरा माल कोई चुरा लेगा तो मैं क्या करूंगा। ६–मरण भय–यदि मर जाऊंगा तो सब कुछ छूट जायगा इससे न मरुं तो ठीक, ७–अकस्मात् भय–कहीं मकान न गिर पड़े, भूचाल न आजावे, ऐसा होगा तो क्या करूंगा। इस तरह सात तरहका भय सम्यक्ती नहीं रखता है। यथायोग्य हर

प्रकारकी सम्हाल रखता हुआ निर्भय सिपाहीके समान संसारके युद्धक्षेत्रमें कर्मोंसे लड़ाई करता है, शंका दोषसे दूर रहता है।

कांक्षा—संसारके क्षणिक विषयभोगोंकी इच्छा नहीं रखता है। इन भोगोंको अतृप्तिकारी विनाशीक व हेय समझता है, इनकी इच्छा करके धर्मका सेवन नहीं करता है, केवल सुखका अभिलाषी होता है।

विचिकित्सा—किसीको रोगी, दुःखी, दलिद्री, गरीब देखकर घृणा नहीं करता है, वस्तुस्वरूप विचारकर-दया लाकर उनकी सहायता करता है।

अन्यदृष्टि प्रशंसा—मिथ्यादृष्टी अज्ञानी अधर्मको धर्म जानकर जो क्रिया करें-पूजा, भक्ति, जप, तप, दान करें उसकी मनमें प्रशंसा नहीं करता है क्योंकि उनमें मिथ्यात्वका आशय है, जिस आशयको त्यागना चाहिये। इस आशयसे किया हुआ धर्म कर्म प्रशंसनीय नहीं होसक्ता है।

अन्यदृष्टि संस्तव—अपने वचनोंसे भी सम्यक्ती मिथ्यात्व धर्मक्रियाकी प्रशंसा नहीं करता है क्योंकि वह मिथ्या अभिप्रायको पुष्ट करनेवाली होजायगी। इस तरह पांच अतीचारोंको टालकर सम्यक्त भावको निर्मल रखता है।

नोट—यहां 'मति कमलासने' का जो अर्थ समझमें आया सो लिखा है।

श्लोक—मिथ्या त्रिविधि न दिष्टंते, शल्यत्रय निरोधनं।
सुयं च शुद्ध द्रव्यार्थं, अविरत सम्यग्दष्टितं ॥ २६६ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्या त्रिविधि न दिष्टंते) उस अविरत सम्यक्तीमें तीन प्रकार मिथ्यात्वभाव नहीं दिखलाई पडता है। (शल्यत्रय निरोधनं) उसने तीन प्रकार शल्यको निकाल डाला है। (सुयं च शुद्ध द्रव्यार्थं) श्रुतज्ञानी है व शुद्ध द्रव्यार्थिक नयको समझता है ऐसा (अविरत सम्यग्दष्टितं) यह अविरत सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ—इस सम्यक्तीके भीतर तीन प्रकारका मिथ्यात्व नहीं होता है-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति मिथ्यात्व, क्योंकि इसने इन तीन कर्मकी प्रकृतियोंका उपशम या क्षय कर डाला है।

तत्वोंको औरका और समझना मिथ्यात्व है-मिथ्या और सत्य दोनों तत्वोंपर मिश्र श्रद्धा रखना सम्यग्मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन रखते हुए भी उसमें चल, मल, अगाढ तीन प्रकार दोष लगाना निर्मल सम्यक्तका न होना सो सम्यक्त प्रकृतिका भाव है। ये तीनों दोष इस जघन्य पात्रमें नहीं होते न उसमें माया, मिथ्या, निदान तीन शल्य होती हैं। वह सम्यक्ती कपट रहित, श्रद्धा सहित व आगामी भोगाभिलाष रहित धर्म पालता है, शास्त्रज्ञानका प्रेमी होता है-शास्त्रोंके मर्मको समझता है तथा शुद्ध द्रव्यार्थिक नयपर विशेष लक्ष्य रखता है क्योंकि इस नयसे हरएक शरीरमें आत्माका पवित्र शुद्ध दर्शन होता है। ऐसा अविरत सम्यक्ती मोक्षका पात्र है।

श्लोक—त्रिविधि पात्रं च दानं च, भावना चिंत्यते बुधैः।
शुद्धदृष्टिरतो जीवः, अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं ॥ २६७ ॥
नीच इतर अप तेजं च, वायु पृथ्वि वनस्पती।
विकलत्रयं च योनी च, अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं ॥ २६८ ॥

अन्वयार्थ—(बुधैः) बुद्धिमान लोग (त्रिविधि पात्रं च दानं च भावना चिंत्यते) तीन प्रकारके पात्रोंको दानकी भावना विचारते रहते हैं। ऐसा दानी (शुद्धदृष्टिरतः जीवः) जो जीव शुद्ध आत्मीक श्रद्धामें लवलीन है, सम्यग्दृष्टी है, वह (अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं) ८४ लाखमेंसे ५८ लाख योनियोंमें जन्म लेता है। (नीच) नित्य निगोद (इतर) इतर निगोद, (अपतेजं च वायु पृथ्वि वनस्पति) जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, पृथ्वीकायिक तथा वनस्पती कायिककी तथा (विकलत्रय च योनी च) द्वेन्द्रिय, तेंद्रिय, चौन्द्रियकी योनि। (अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं) इस तरह अट्ठावन लाख योनियोंसे बचा रहता है।

विशेषार्थ—जो सम्यग्दृष्टी शुद्ध आत्माका अनुभवी बुद्धिवान प्राणी है वह अति भक्तिपूर्वक बडी श्रद्धासे उत्तम, मध्यम, जघन्य इन तीन प्रकारके पात्रोंको दान देता है। निरन्तर भावना भाता है कि मैं दान दूं। जब अवसर पाता है दान देनेसे चूकता नहीं है। श्रद्धावान जैनियोंको जो गृहस्थ हैं व अविरति हैं उनको भी मोक्षमार्गी समझकर आदरसे बुलाकर दान करता है। दान करना श्रावकका मुख्य कर्तव्य है। दानसे दातार व पात्र दोनोंके भाव प्रफुल्लित होजाते हैं। दान

धर्मके भावोंको बढानेवाला है। वास्तवमें पात्रोंको दान देना है वह रत्नत्रय धर्मकी प्रतिष्ठा करना है। जो गृहस्थ सम्यक्ती है व दानी है वह कभी ८४ लाखमेंसे ५८ लाख योनियोंमें पैदा नहीं होता है। ५८ लाखका वर्णन इस भांति है—

नित्य निगोद साधारण वनास्पतिकायिक					....७ लाख
इतर निगोद साधारण वनास्पतिकायिक					....७ ,,
पृथ्वी कायिक	७ लाख	जल कायिक	७ लाख	अग्नि कायिक	७ ,,
वायु कायिक	७ ,,	प्रत्येक वनस्पतिकायिक	१० ,,	द्वेन्द्रिय प्राणी	२ ,,
तेन्द्रिय प्राणी	२ ,,	चौन्द्रिय प्राणी	२ ,,		कुल ५८ लाख

इससे सिद्ध हुआ कि सम्यक्ती कभी एकेन्द्रियसे चौन्द्रिय तककी किसी पर्यायमें जन्म नहीं लेता है। पराधीन व अज्ञानमई पर्यायोंसे तो छूट जाता है। सम्यक्त अवस्थामें यदि आयु बांधे तो मनुष्य या यदि पशु हो तो देव आयु बांधेगा व देव या नारकी होगा तो मानव आयु बांधेगा, परंतु जो सम्यक्त होनेके पहले नरक, तिर्यंच, मानव आयु बांध ली हो तो मानव या तिर्यंचको भी नारक, तिर्यंच या मानव पंचेंद्रिय जन्मना होता है। इसलिये ८४ लाखमेंसे पंचेंद्रियकी योनियां जो २६ लाख हैं उनको यहां नहीं गिनाया है। वे २६ लाख हैं—

पंचेंद्रिय तिर्यंच	४ लाख	नारकी ४ लाख	
देव	४ लाख	मानव १४ लाख	
	कुल २६ लाख		

कुल ५८+२६=८४ लाख योनियां होती हैं। वास्तवमें सम्यक्तकी बड़ी अपूर्व महिमा है।

श्लोक—शुद्धसम्यक्त संयुक्ताः, शुद्ध तत्व प्रकाशकाः।
ते नरा दुःखहीना स्युः, पात्रदानरता सदा ॥ २६९ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध सम्यक्त संयुक्ताः) जो शुद्ध सम्यक्तके धारी हैं (शुद्ध तत्त्व प्रकाशकाः) व शुद्ध आत्मीक तत्वके प्रकाशक हैं। व (सदा पात्रदानरताः) सदा पात्रोंको दान देनेमें रत हैं (ते नरा दुःखहीना स्युः) वे मानव दुःखोंसे छूट जाते हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके धारी जो व्रत रहित भी हैं, परन्तु शुद्धात्मीक तत्वके अनुभव करनेवाले हैं तथा नित्य ही पात्रोंको दान देते रहते हैं वे पुण्यको बांधकर उत्तम गतिमें जाते हैं-वे कभी दुःखोंसे भरी गतियोंमें नहीं जाते हैं। मिथ्यादृष्टी यदि पात्र दान करे तो भोगभूमिमें जाता है तब यदि सम्यग्दृष्टी दान करे तो वह तो स्वर्ग हीको प्राप्त होगा। वहांपर भी नीच जातिका देव नहीं होगा। सम्यक्तके धारी जीवोंके सदा ही परिणामोंमें विशुद्धता रहती है। अंतरंगमें किसीसे अति द्वेषपूर्ण भाव नहीं करता है। यदि कदाचित् वैरभाव होता भी है तो वह उस वैरीके कृत्य मात्रसे होता है। सम्यक्ती उसकी आत्माका तो हित ही चाहता है।

रत्नकरंडश्रावकाचारमें कहा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि। दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥

ओजस्तेजो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः। महाकुलाः महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जिनके सम्यग्दर्शन शुद्ध है वे नारकी, पशु, नपुंसक, स्त्री, नीच कुल, विकलांगी, अल्पायु, दलिद्री नहीं होते हैं। व्रत रहित हैं तौभी खोटी अवस्था नहीं पाते हैं। वे दीप्तवान, तेजस्वी, विद्वान, वीर्यवान, यशस्वी, विजयी, सम्पत्तिके धारी, उन्नतिशील, महा कुलवान, महान कार्य करनेवाले पुरुषश्रेष्ठ होते हैं। सम्यग्दर्शनकी शुद्धता परमोपकारिणी है।

श्लोक—पात्रदानं च चत्वारि, ज्ञानं आहार भेषजं।
अभयं च भयं नास्ति, दानं पात्र सदा बुधैः ॥ २७० ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं च चत्वारि) पात्र दान चार प्रकारका होता है (ज्ञानं आहार भेषजं अभयं च) ज्ञान दान, आहार दान, औषधि दान, तथा अभय दान (सदा बुधैः पात्रदानं) बुद्धिमान सदा पात्रोंको दान दिया करते हैं इससे उनको (भयं नास्ति) भय नहीं होता है, वे निर्भय रहते हैं।

विशेषार्थ—पात्रोंके दो भेद कहे गए हैं जो दान देने योग्य हैं-एक सुपात्र व कुपात्र। यदि कुपात्रोंको भी दान होजावे तो कुभोगभूमिका फल होता है तब पात्रदानकी तो महिमा ही क्या कही जासक्ती है। ज्ञानी गृहस्थ निरन्तर धर्मके तीन प्रकार पात्रोंको दान दिया करते हैं। जैन सिद्धांतमें चार ही दान मुख्य हैं। ये ही सच्चे दान हैं। ज्ञान दान अर्थात् ज्ञान सिखाना, शास्त्रोंको देना, शास्त्र

प्रकाश करना, विद्यालय स्थापन करना, छात्रोंको सहाय करना, विद्वतापूर्ण भाषण देना, मिथ्यात्वभाव हटाकर सम्यक्तकी प्राप्ति कराना, उत्तम पात्रोंको शास्त्र भेट करना, मध्यम पात्रोंको भी शास्त्र देना। यदि विद्याकी कमी हो तो विद्याके साधन जोड देना। जघन्य पात्रोंको भी शास्त्र देना। व उनकी ज्ञान वृद्धिका उपाय कर देना।

२-आहारदान—तीनों पात्रोंको यथायोग्य भक्ति करके भोजन कराना। यह धर्मकी वृद्धि व शरीरकी स्थिरताका कारण है।

३-औषधिदान—पात्रोंको रोगग्रस्त जानकर रोग मेटनेके लिये औषधिका दान करना, औषधालय खुलवाना, शुद्ध प्रासुक दवा बटवाना, रोगियोंकी टहल चाकरी करना।

४-अभयदान—पात्रोंको आश्रय देना, निर्भय करना, योग्य स्थान बताना, उनके ऊपर संकट पड़ें तो निवारण करना। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें भी चार दान यही कहे हैं—

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन। वैय्यावृत्त्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥ ११७ ॥

भावार्थ—अरहंत भगवानने चार तरहसे पात्रोंकी सेवा करनेको कहा है। आहार देकर, औषधि देकर, उपकरण अर्थात् शास्त्र देकर व आवास अर्थात् निर्भय आश्रय स्थान देकर। श्री अमितगति श्रावकाचारमें नवम परिच्छेदमें कहा है—

अभयान्नौषधिज्ञानभेदश्चतुर्विधम्। दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८१ ॥

भावार्थ—ज्ञानियोंने प्राणियोंके उपकार करनेवाले चार ही दान कहे हैं-अभयदान, अन्नदान, औषधिदान तथा ज्ञानदान।

न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः। न च पात्रं गृहीताऽस्य जिनानामिति शासनं ॥ ७९ ॥

भावार्थ—सुवर्ण आदिक नहीं देना चाहिये। न दाता सच्चा दातार है न लेनेवाला सच्चा पात्र है ऐसी श्री जिनेन्द्रोंकी आज्ञा है। कन्यादान भी दान नहीं है। वहीं कहा है—

या धर्मवनकुठारी पातकवसतिरतपोदया चौरी। वैरायासासूया, विषादशोकश्रमक्षोणी ॥ ९७ ॥

यस्यां सक्ता जीवा दुःखतमान्नोत्तरंति भवजलधेः। कः कन्यायां तस्यां दत्तायां विद्यते धर्मः ॥ ९८ ॥

भावार्थ—जो कन्या धर्मवन काटनेको कुल्हारी समान, पापकी वसती, तप व दयाकी चोर, वैर, उद्यम, ईर्षा, विषाद, शोक, खेदकी भूमिका जननी है जिस कन्यामें आसक्त जीव दुःखमई

संसारसागरसे पार नहीं होसक्के हैं, उन कन्याके देनेमें कौनसा धर्म होता है ? अर्थात् कन्यादान धर्म नहीं है।

दयापूर्वक प्राणीमात्रको चार प्रकारका दान करना यह करुणादान है। सम्यक्ती गृहस्थ सदा कृपालु होता है, जगत मात्रको उपकारी होता है, दुखित, भुखित, रोगी, अविद्याग्रसित व आश्रय रहितको निरंतर चार दानोंसे संतोषित करता है, पशु पक्षी आदिकी भी दानसे सेवा करता है।

श्लोक—ज्ञानदानं च ज्ञानं च, आहारं दान आहारयं।
अबाध्यं भेषजश्चैव, अभयं अभयदानयं ॥ २७१ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानदानं च ज्ञानं च) ज्ञान दान करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है (आहारं दान आहारयं) आहारदानसे आहारकी कमी नहीं रहती है (भेषजश्चैव अबाध्यं) तथा औषधि दानसे शरीरमें व्याधि नहीं होती है (अभयदानयं अभयं) अभयदानसे भय नहीं प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—यहां चारों दानोंके फल बताए हुए हैं। जो ज्ञान दान देते हैं, पात्रोंके ज्ञानकी वृद्धि चाहते हैं उनको स्वयं ज्ञानावरणीय कर्मका विशेष क्षयोपशम होता है। वे यहां भी तथा परलोकमें भी ज्ञानी होते हैं। व थोडे ही प्रयासमें ज्ञानवान विद्वान होजाते हैं। जो आहारदान देते हैं वे अटूट पुण्य बांधते हैं, यहां भी अन्नसे दुःखी नहीं रहते हैं व परलोकमें ऋद्धिधारी देव व धनशाली मानव होते हैं, औषधिदान करनेसे ऐसे पुण्य बांधते हैं जिससे भविष्यमें निरोग सुन्दर शरीर होता है। व अभयदान करनेसे सदा निर्भयताका साधन मिलता है, आश्रयहीन कभी नहीं होते हैं, वे सुन्दर आवास व रक्षकोंके मध्यमें रहते हैं। ये चार दान अटूट पुण्यको बांध देते हैं।

अमितगति श्रावकाचारमें एकादश परिच्छेदमें कहा है—

यत्किंचित्सुन्दरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये। तदन्नदायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽखिलम् ॥ ३० ॥
वातपित्तकफोत्थानै रोगैरेष न पीड्यते। दावैरिव जलस्थायी भेषजं येन दीयते ॥ ३४ ॥
शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम्। वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्यातशिक्षः प्रजायते ॥ ९० ॥
विचित्ररत्ननिर्माणः प्रोत्तुंगो बहुभूमिकः। लभ्यते वासदानेन वासश्चंद्रकरोज्ज्वलः ॥ ९१ ॥

भावार्थ—जो तीन लोकमें सुन्दर वस्तु है सो सब आहारदानीको शीघ्र प्राप्त होती है। जो

औषधि दान करता है वह वात, पित्त, कफसे होनेवाले रोगोंसे पीडित नहीं होता है, जैसे जलमें रहनेवाला अग्निसे पीडित नहीं होता। जो शास्त्र देता है वह सज्जनोंमें पूज्य, पंडितोंसे सेवनीय, वादीको जीतनेवाला, वक्ता, कवि, मान्य और प्रसिद्ध शिक्षक होता है। जो वस्तिका देता है वह विचित्र रत्नोंसे बना हुआ ऊंचा बहुत खणवाला चन्द्रमाके समान उज्वल महल पाते हैं।

श्लोक—पात्रदानं च शुद्धं च, कर्म क्षिपति सदा बुधैः।
जे नरा दान चिंतंते, अविरत सम्यग्दृष्टितं ॥ २७२ ॥

अन्वयार्थ—(सदा बुधैः शुद्धं च पात्र दानं) सदा बुद्धिमानोंके द्वारा दिया हुआ शुद्ध पात्र दान (कर्म क्षिपति) कर्मोंको क्षय करता है (जे नरा दान चिंतंते) जो मानव दानकी भावना भाते हैं वे ही (अविरत सम्यग्दृष्टितं) अविरत सम्यग्दृष्टी सामान्य गृहस्थ श्रावक हैं।

विशेषार्थ—जो ज्ञानी वीतरागभावसे मात्र दान करते हैं, पात्रोंके आत्मीक गुणोंमें प्रीति रखते हैं। उनके शुद्धात्मीक भावनारूप निश्चय रत्नत्रयकी भावना दृढ रहे ऐसी भावना मनमें रखकर दान करते हैं व दान देते हुए व देखते हुए पात्रके अंतरंग गुणोंके प्रेमालु होते हुए संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यकी भावना भाते हैं, उनके परिणामोंकी बहुत निर्मलता होजाती है। उन भावोंसे वे अपने बहुतसे पापकर्म क्षय कर डालते हैं व जितना अंश उन भावोंमें मंद कषायरूप शुभ राग होता है उनसे वे अतिशयकारी पुण्यकर्म बांध लेते हैं। दान यद्यपि शुभ कार्य है परन्तु सम्यग्दृष्टी ज्ञानी गृहस्थके लिये मोक्षमार्ग रूप होजाता है वह ज्ञानी दानके द्वारा भी शुद्धातमाकी भावना कर लेता है। पात्रोंको दान देना रत्नत्रयके पालनमें उत्साह बढानेवाला है। इसीलिये सम्यग्दृष्टी निरंतर पात्र दान करनेकी चिन्ता करता रहता है और जब अवसर पाता है, दान करके अपने जन्मको सफल मानता है।

श्लोक—पात्रदानं वट बीजं, धरणी वर्द्धति जेतवा।
ज्ञानं वर्द्धति दानं च, दान चिंता सदा बुधैः ॥ २७३ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं) पात्रोंको दिया हुआ दान (धरणी वट बीजं जेतवा वर्द्धति) पृथ्वीमें बोए हुए

वर्गतके बीजके समान बहुत भारी फलता है (दानं च ज्ञानं वर्द्धंति) ज्ञान दान ज्ञानको बढाता है (बुधैः सदा दान चिंता) बुद्धिमानोंको सदा दान करनेको उत्साह रखना चाहिये।

विशेषार्थ—जैसे बर्गतका बीज बहुत छोटा होता है, परन्तु पृथ्वीमें बोए जानेपर बडा भारी वृक्ष होकर फलता है, तैसे पात्रोंको दिया हुआ दान बहुत भारी फल देता है। जो ज्ञान दान करते हैं उनका ज्ञान बढते २ केवलज्ञानरूप होसक्ता है। जो आहारदान करते हैं वे भविष्यमें विपुल धनशाली होते हैं, जो औषधि दान करते हैं वे बडे बलिष्ठ, वीर्यवान, साहसी मानव होते हैं। जो अभयदान करते हैं वे कभी किसी शत्रु द्वारा भयको प्राप्त नहीं होते हैं। केवलज्ञानके समान और कोई फल नहीं है। जो दान अरहंत पदमें सहकारी है उस दान देनेकी भावना बुद्धिमान सदा करते रहते हैं। गृहस्थोंके घरकी शोभा ही पात्र दानसे है। जो लक्ष्मी कमाई जाती है वह लोभ और मान कषायको बढा देती है। यदि उसे दानमें न लगाई जावे तो वह कुगतिमें पटकनेका कारण होजाती है। और यदि निरंतर दान व परोपकारमें व्यय की जावे तो लक्ष्मीके कारण न तो लोभ बढने पाता और न मान भाव ही बढता है। लक्ष्मी अपनी नहीं है, पर वस्तु है, चंचल है। जबतक इसका स्वामीपना मेरे पास है मुझे यही योग्य है कि इसे दानमें लगाकर सफल करलें, ऐसा विचार दानी उदारचित्त मंदकषाई व संतोषी रहता है इसीसे वह धन द्वारा धर्म कमाता है। कृपण दान न करता हुवा कठोर भावोंसे पाप कमाता है।

श्लोक—पात्रदानं मोक्षमार्गस्य, कुपात्रं दुर्गतिकारणं ।
विचारनं भव्यजीवानां, पात्रदानरता सदा ॥ २७४ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं मोक्षमार्गस्य) पात्र दान मोक्षमार्गकी सिद्धिका उपाय है (कुपात्रं दुर्गतिकारणं) परन्तु अपात्र दान दुर्गतिका कारण है। (भव्यजीवानां विचारनं) भव्य जीवोंका कर्तव्य है कि वे भले प्रकार विचार करके (पात्रदानरता सदा) पात्र दानमें सदा रत हों।

विशेषार्थ—यहां कुपात्रका अर्थ कुत्सित पात्र अर्थात् अपात्र है। अपात्रका भाव यही है कि जिसमें न व्यवहार सम्यक्त है न व्यवहार चारित्र है। जो जिन मार्गसे विरुद्ध आचरण करते हैं, मिथ्यात्वमें लीन हैं, मिथ्या मार्गके पोषक हैं, उनको अपात्र कहते हैं। पात्र दान अर्थात् सुपात्र दान

जब मोक्षमार्गको दृढ करनेवाला है तब अपात्र दान दुर्गतिका कारण है। अपात्रोंको भक्ति पूर्वक दिया हुआ दान मिथ्या श्रद्धान व मिथ्या चारित्रका पोषक है, मिथ्यात्वरूपी पापका प्रचारक है इसलिये पाप बंधकारक है। पापकी अनुमोदना अवश्य पाप लानेवाली है क्योंकि दाताकी विनय मिथ्यामार्गसे होगई। इसलिये भव्य जीव सम्यग्दृष्टी भलेप्रकार विचार करके अपात्रोंको दान नहीं देकर सुपात्रोंको दान देते हैं और मोक्षमार्गका प्रचार कराते हैं। उत्तम पात्र मुनि, मध्यम पात्र श्रावक, जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टी तीनोंको भक्ति पूर्वक दिया हुआ दान मोक्षमार्गकी भक्ति करना है अतएव कर्तव्य है व महान पुण्यबंध करनेवाला है। जिनके निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है परंतु व्यवहार सम्यक्त व व्यवहार चारित्र वैसा ही है जैसा एक मोक्षमार्गीको होना चाहिये वे कुपात्र हैं, उनको भी धर्मात्मा पुरुष दान देते हैं क्योंकि दान देना भी व्यवहार है तथा व्यवहारमें व्यवहार ही देखा जाता है व व्यवहारकी ही प्रतिष्ठा की जाती है। निश्चय वचन अगोचर है तथा निश्चय सम्यक्त अंतर्मुहूर्तमें होसक्ता है व छूट सक्ता है। अतएव दातार तो जिसका व्यवहार चारित्र शास्त्रोक्त पाएगा उसको पात्र जानकर दान देगा। यदि उस पात्रके अंतरंगमें निश्चय सम्यक्त होगा तो दातारके भाव अधिक निर्मल होंगे। यदि वह सम्यक्त रहित होगा तो भाव कम निर्मल होंगे क्योंकि जैसा निमित्त होता है वैसा परिणाम होजाता है। परिणामोंके अनुसार अधिक व कम पुण्यका बंध होगा। अपात्रोंको भक्ति पूर्वक दानका निषेध है। परंतु यदि कोई अपात्र करुणाका पात्र दीखे, भूखा प्यासा हो, रोगी हो, आश्रय रहित हो व विद्या व ज्ञानकी जरूरत रखता हो तो धर्मात्मा श्रावक उसको दया बुद्धिसे विना भक्ति किये उसका क्लेश मेट सक्ता है। करुणा दानमें पात्र अपात्रका विचार नहीं है, मात्र परोपकार भाव है।

श्लोक—कुगुरु कुदेव उक्तं च, कुधर्मं प्रोक्तं सदा।
कुलिंगी जिनद्रोही च, मिथ्या दुर्गतिभाजनं ॥ २७५ ॥
तस्य दानं च विनयं च, कुज्ञान मूढ दृष्टितं।
तस्य दानं चिंतनं येन, संसारे दुःखदारुणं ॥ २७६ ॥

अन्वयार्थ—(कुगुरु) अपात्र जो कुगुरु हैं वे (कुदेव उक्तं च) कुदेवोंकी भक्तिका उपदेश देते हैं (कुधर्म सदा प्रोक्तं) सदा ही कुधर्मका व्याख्यान करते हैं (कुलिंगी जिनद्रोही च) वे मिथ्यात्वके धारी हैं व जिनेन्द्रके अनेकांत मतसे द्वेष करनेवाले हैं (मिथ्या दुर्गति भाजनं) वे मिथ्यात्वके कारण दुर्गतिके पात्र हैं। (तस्य दानं च विनयं च) ऐसे कुगुरुको दान देना व उनकी विनय करना (कुज्ञान मूढ दृष्टितं) मिथ्या ज्ञान व मूढ श्रद्धा है (येन तस्य दान चिंतनं) क्योंकि उनके दान देनेकी चिंता (संसारे दुःखदारुणं) संसारमें भयानक दुःखोंका कारण है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि जो कुगुरु हैं वे ही अपात्र हैं जिनकी कथा पहले भी बहुत कर चुके हैं। ये कुगुरु स्वयं भी रागी द्वेषी देवोंकी आराधना करते हैं व रागद्वेष पूर्ण धर्मकी सेवा करते हैं व दूसरोंको भी मिथ्या देव व मिथ्या धर्मकी सेवाका उपदेश करते हैं उनका भेष यथार्थ जिनेन्द्रके मार्गके भेषसे विपरीत है तथा वे जिनधर्मका स्वरूप ठीक न समझकर अपने अज्ञानसे जिनमतसे द्वेष रखते हैं। एकांतकी पक्ष लेकर मिथ्यात्वके योगसे स्वयं दुर्गति जाते हैं तब जो उनकी भक्ति करेंगे, विनयपूर्वक दान देंगे उन्होंने वास्तवमें मिथ्यात्वकी भक्ति की, मिथ्यादर्शन व मिथ्या ज्ञानको ही पुष्ट किया। इसलिये उनको दान देनेकी चिंतासे जो भावोंकी परिणति होती है वह अशुभ ही है तथा पापको बांधनेवाली है, नर्क निगोदके भीतर पटकनेवाली है। भक्ति वास्तवमें उसीकी ही करनी योग्य है जिसमें भक्तियोग्य गुण हों। भक्तियोग तो रत्नत्रय धर्म है। जहां ये पाए जावेंगे वे पात्र ही भक्ति करने योग्य हैं। जब रत्नत्रयसे विरुद्ध धर्म अमाननीय है तब उस विरुद्ध धर्मके धारी माननीय कैसे होसक्ते हैं। इसलिये श्रावकको विवेकपूर्वक दान करना चाहिये। जो जिन-शास्त्रोक्त साधुका व श्रावकका आचरण पालनेवाले हैं व जिन शास्त्रोक्त श्रद्धा रखनेवाले हैं उनको ही पात्र मानकर उनको यथायोग्य भक्ति सहित दान करना योग्य है। उनकी भक्ति वास्तवमें रत्नत्रयकी ही भक्ति है अतएव हितकारी है। अपात्रोंकी भक्ति अधर्मकी भक्ति है अतएव पाप बंधकारी व मिथ्या मार्गकी अनुमोदना करानेवाली है। भक्तिपूर्वक यथार्थ चारित्रवानको ही दान देना योग्य है यह तात्पर्य है। विनय योग्य वे ही पात्र हैं।

श्लोक—पात्र अपात्र विशेषत्वं, पन्नग गवं च उच्यते ।
तृणभुक्तं च दुग्धं च, दुग्धं भुक्तं विषं पुनः ॥ २७७ ॥

अन्वयार्थ—(पात्र अपात्र विशेषत्वं) पात्र अपात्रका विशेषपना (गवं च पन्नग उच्यते) गाय और सर्पिणीके समान कहा गया है (तृणभुक्तं च दुग्धं च) गाय तृण खाती है परन्तु दूध देती है (दुग्धं भुक्तं विषं पुनः) परन्तु सर्पिणी दूध पीती है व विष उगलती है ।

विशेषार्थ—यहां ग्रंथकर्ताने स्वयं बता दिया है कि कुपात्रसे प्रयोजन अपात्रसे है क्योंकि श्लोकमें अपात्र शब्द है । पात्र तो हितकारी है जब कि अपात्र हानिकारी है । इसका दृष्टांत दिया है । जैसे गाय तृण चारा खाती है परन्तु दूध प्रदान करती है वैसे धर्मके पात्र अल्प शुद्ध आहार संतोष पूर्वक करते हैं परन्तु स्वयं रत्नत्रय धर्मका साधन करते हैं और दूसरे अनेक प्राणियोंको सत् धर्ममें लगाते हैं । उनको अल्प भी दान स्वपर मंगलकारी है । उन पात्रोंका भी हित होता है और जो दान करते हैं उनकी रुचि मोक्षमार्गमें बढती है तथा महान पुण्यका बंध होता है, यदि सर्पिणीको दूध पिलाया जावे तो वह विषरूप होजाता है जो विष हानिकारक है उसी तरह अपात्रोंको पोषना, उनकी भक्ति करना, विनय करना, मिथ्यात्वका मार्ग प्रचार करानेवाला है । जिस कुधर्मसे प्राणियोंके जीवनका बिगाड हो, मानव जन्म कुगतिका देनेवाला होजावे । ऐसे कुधर्मका प्रचार उचित नहीं है । वे अपात्र यदि इस कुधर्मको छोड दें तो वे पात्र होजानेपर भक्ति व दानके योग्य हैं । अभिप्राय यहां यही है कि दान भक्तिसे पात्रोंको ही देना योग्य है । अपात्रोंको कदापि नहीं देना योग्य है । तथापि यदि कोई जैनधर्मके श्रद्धान व चारित्रसे बाहर है व भूखा है रोगी है तथा उनके भक्त और उनके रक्षक नहीं हैं तो दयावान श्रावकोंका यह कर्तव्य नहीं है कि उनपर करुणाभाव न लावें । दयाभावसे जब श्रावकोंका धर्म प्राणी मात्रके साथ उपकार करना है तो अपात्र होनेपर भी वे करुणाके पात्र हैं । उनका कष्ट निवारण करना ही योग्य है, साथ ही उनको सम्यक् धर्मका उपदेश भी देना योग्य है, यदि वे सुधर जावे तो उत्तम है, ऐसा प्रेम भाव श्रावकको रखना योग्य है, द्वेषभाव तो किसीसे करना न चाहिये । मात्र भक्ति करनेका निषेध है क्योंकि वह भक्ति मिथ्या धर्मकी पोषक है ।

श्लोक—पात्रदानं च भावेन, मिथ्यादृष्टी च शुद्धए।
भावनाशुद्ध सम्पूर्ण, दानं फलं स्वर्गगामिनं ॥ २७८ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं च भावेन) पात्रदान करनेसे व उसकी भावना करनेसे (मिथ्यादृष्टी च शुद्धए) मिथ्यादृष्टीकी शुद्धि होसक्ती है। (शुद्धभावनं संपूर्ण) जो शुद्ध आत्माकी भावनासे परिपूर्ण सम्यग्दृष्टी है उसको (दानं फलं स्वर्गगामिनं) पात्रदानका फल स्वर्गगमन है।

विशेषार्थ—पात्रदानका यह महात्म्य है कि यदि कोई शुद्ध आत्माकी भावना करनेवाला सम्यग्दृष्टी जीव पात्रोंको दान करे तो स्वर्गमें जाकर देव होने योग्य पुण्य बांधेगा। यहां भाव यह है कि सम्यक्ती गृहस्थ स्वभावसे पात्र भक्त होजाता है व वह पात्रोंको दान देता है। सम्यक्ती तो स्वर्गमें देव अवश्य ही होता है। यदि सम्यक्तके पहले और आयु बांधी होगी तो अन्यत्र पैदा होगा। जो कोई मिथ्यादृष्टी जीव है अर्थात् निश्चय सम्यक्ती तो नहीं है किंतु व्यवहारमें देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धावान है और पात्रोंको दान देता है तो उसका यह पात्रदान व रत्नत्रयधारियोंकी भक्ति निश्चय सम्यक्तके लिये कारणरूप है। ऐसे ही निमित्तोंके मिलानेसे वह सम्यक्तके बाधक कर्मोंका उपशम करके निश्चय सम्यक्ती होजाता है। तथा पात्रदानके फलसे मिथ्यादृष्टी भोगभूमिमें जानेलायक पुण्य बांध लेता है।

यहां प्रयोजन यह है कि पात्रदान हरएक श्रद्धावानको करते रहना चाहिये। अपना गृहस्थका घर दान विना पवित्र नहीं होसक्ता है। दान करनेसे परिणाम उदार रहते हैं। लक्ष्मीके संचयका मोह कम होजाता है।

श्लोक—पात्रदानरतो जीवः, संसारदुःखं निपातए।
कुपात्रदानरतो जीवः, नरयं पतितं ते नरा ॥ २७९ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानरतो जीवः) जो जीव पात्रोंको दान देनेमें लवलीन हैं वह (संसारदुःखं निपातए) संसारके दुःखोंको दूर कर देता है (कुपात्रदानरतो जीवः) परन्तु जो अपात्रोंके दानमें रत हैं (ते नरा नरयं पतितं) वे मानव नरकमें जाते हैं।

विशेषार्थ—पात्रदान धर्मका पोषक है तब अपात्र दान अधर्मका पोषक है। पात्रदानसे रत्नत्रयका लाभ होता है क्योंकि दातार रत्नत्रय स्वरूप मुनि, श्रावक, व श्रद्धावानोंकी भक्ति करता है उनकी संगति ही परिणामोंमें वैराग्यभाव ला देती है, उनका उपदेश भी भावोंको शांत कर देता है। धर्ममें गाढ रुचि पैदा कर देता है। जो कुछ मिथ्यात्वकी व मायाकी व निदानकी शल्य अंतरंगमें हो उसको निकाल डालता है। छिपा हुआ सम्यग्दर्शन रूपी रत्न प्रकाशमान होजाता है। वीतरागके अंशोंके बढनेसे मिथ्यादृष्टी जीव पात्रोंके संपर्कसे सम्यग्दृष्टी होजाता है। व धर्मके पात्र साधु व श्रावक बडे दयालु होते हैं। उनके निरंतर अपायविचय धर्मध्यान होता है कि हम किसी तरह संसारी प्राणियोंके मिथ्यात्व अंधकारके मिटानेमें कारणीभूत हो। जैसे हमको आत्मीक सुखशांतिका लाभ है वैसा ही लाभ जगतके प्राणियोंको हो। ऐसे महात्माओंका सन्मान–उनको दान देना अपने परम कल्याणका उपाय है। धर्मके इच्छावानोंको निरन्तर पात्र दान करना चाहिये। दान किये विना आहार ही न करना चाहिये। नित्य पात्र दान करना मानों नित्य सुख शांतिके सागर पात्रोंकी संगतिसे आत्म–धर्मका लाभ करना है। इसलिये जैसे मधुमक्खी, मधुके एकत्र करनेमें आसक्त रहती है उसी तरह विवेकी मानवको पात्रोंकी सेवामें तल्लीन रहना चाहिये। इसीसे धर्मका संग्रह होगा। पापोंका नाश होगा तब संसारके दुःखोंसे रक्षा रहेगी। इसके विरुद्ध जो अपात्रोंको मान या लोभके वशीभूत हो दान करते रहते हैं वे कुधर्मकी शिक्षा लेते हुए संसारासक्त बन जाते हैं। जगतकी मायाजालमें फँसे हुए वे नरकायु बांधकर नरकमें चले जाते हैं। अतएव अपात्रोंकी भक्तिसे बचकर पात्रोंकी भक्तिसे स्वहित करना चाहिये।

श्लोक—पात्रदानं च प्रति पूर्ण, प्राप्तं च परमं पदं।
शुद्धतत्वं च सार्धं च, ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं॥ २८०॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं च प्रति पूर्णं) पात्रदानका पूर्ण फल यह है कि (परमं पदं प्राप्तं) परमपद जो मोक्ष उसकी प्राप्ति होती है (शुद्धतत्वं च सार्धं च) जो शुद्ध आत्मीक तत्व सहित है (ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं) व ज्ञानमय यथार्थ निश्चल है।

विशेषार्थ—पात्रदानका फल अंतमें मोक्षकी प्राप्ति है। जो पात्रोंको भक्तिपूर्वक दान देते हैं

उनके भीतर रत्नत्रय धारकोंसे श्रद्धा बढती जाती है जिसका असर उनकी बुद्धिमें यह पडता है कि वे सम्यक्ती होजाते हैं। सम्यक्ती होना ही मोक्षमार्गको प्राप्त कर लेना है। एक दफे सम्यक्त होगया तो वह प्राणी अवश्य मोक्षको पहुंचेगा। जहां ज्ञानमई शुद्ध आत्मीक तत्व निश्चल अपने स्वरूपमें कल्लोल किया करता है। गृहस्थ श्रावकोंको और कोई इच्छा मनमें न रखके मात्र शुद्ध आत्मीक तत्वके लाभके लिये ही पात्र दान करना चाहिये। पात्रोंकी सच्चे भावसे भक्ति करना चाहिये। मुनि उत्तम पात्र हैं, उनका समागम कठिन है, परन्तु श्रावक पदके धारी मध्यम पात्र पहलीसे ग्यारहमी प्रतिमा तक सुगमतासे मिल सक्ते हैं उनको आहार, औषधि, आश्रय दान व ज्ञान दान करना चाहिये-उनको शास्त्र बांटना चाहिये, किसी विद्वान शास्त्रीका निमित्त मिलाकर उनके ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये। जघन्य पात्र तो बहुतसे स्त्री, पुरुष, बालक, बालिकाएँ मिल सक्ते हैं। जिनके यहां कुदेवोंकी भक्ति नहीं है, उनको चार प्रकार दानसे सन्तुष्ट करना चाहिये। ज्ञानकी वृद्धिके लिये धर्म शिक्षा देना चाहिये, पुस्तकोंको बांटना चाहिये, स्वयं धर्मोपदेश देना चाहिये, अनाथोंकी रक्षाके हेतु अनाथालय खोलना चाहिये, ब्रह्मचर्याश्रम खोलना चाहिये, जिससे बालक ब्रह्मचारी रूपमें रहकर विद्याका अभ्यास करें। श्राविकाश्रम व कन्याशाला आदि खोलना चाहिये यह सब पात्र दानका अंग है, धर्मकी वृद्धिका कारण है।

श्लोक—पात्रं प्रमोदनं कृत्वा, त्रिलोकं मुदा उच्यते।
यत्र तत्र उत्पाद्यंते, प्रमोदं तत्र जायते ॥ २८१ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रं प्रमोदनं कृत्वा) जो पात्रोंको देखकर मनमें प्रसन्नता लाते हैं उनके लिये (त्रिलोकं मुदा उच्यते) तीन लोकके प्राणी प्रसन्नता देनेवाले कहे गए हैं (यत्र तत्र उत्पाद्यंते) जहां तहां पात्रदानी पैदा होता है (तत्र प्रमोदं जायते) वहां वहां उसको प्रमोदभाव प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—उत्तम, मध्यम, जघन्य तीनों ही प्रकारके पात्रोंका दर्शन करके जिनका चित्त प्रमोद-भावसे भरकर प्रसन्न होजाता है उनके ऐसा अपूर्व पुण्यका बंध होता है। ऐसा सातावेदनीय, सुभग नामकर्म, आदेय नामकर्म, यशःकीर्ति, उच्च गोत्र आदि पुण्य प्रकृतियोंका बंध पडता है, जिससे वे तीन लोकमें जहां कहीं भी उत्पन्न होते हैं उनको हरजगह प्रसन्नता प्राप्त होती है।

वे दुःखी, म्लानित व खेदित नहीं होते हैं। पात्रदानके फलसे भोगभूमिमें यदि जावे तो वहां तीन पल्य, दो पल्य, एक पल्य तक कोई शारीरिक बाधा नहीं होती है न मानसिक तीव्र दुःख होता है किन्तु जन्म पर्यंत तक संतोष व सुख बना रहता है। यदि स्वर्गमें देव होजावे तो वहां भी वह उच्च देव होता है उसको देखकर अनेक देवी देव प्रसन्न होते हैं। उसके मनकी प्रसन्नताके कारण ही उपलब्ध होते हैं। भोगभूमिसे भी देव ही होता है। देवगतिमें भी पूर्व संस्कारसे वहां पात्रोंकी भक्ति करता है। मुनिगणोंको धर्मका आराधन करते देखकर व श्रावकोंको धर्म पालते देखकर वह भक्ति करता है, उपदेश सुनता है, कभी साधु संतोंपर पडनेवाले उपसर्गोंको दूर करता है। इससे पुण्यको बांधकर फिर उत्तम तेजस्वी मानव होता है जिसे देखकर सबको प्रमाद होवे। वास्तवमें पात्रोंकी भक्ति व प्रतिष्ठाका अपूर्व फल प्राप्त होता है।

श्लोक—पात्रं अभ्यागतं कृत्वा, त्रिलोकं अभ्यागतं भवे।
यत्र तत्र उत्पाद्यंते, तत्र अभ्यागतं भवेत् ॥ २८२ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रं अभ्यागतं कृत्वा) जो पात्रोंका स्वागत करता है-उनको दान देता है उसके लिये (त्रिलोकं अभ्यागतं भवे) तीन लोकमें स्वागत प्राप्त होता है (यत्र तत्र उत्पाद्यंते) जहां जहां वह पैदा होता है (तत्र अभ्यागतं भवेत्) वहां वहां उसका स्वागत व सन्मान होता है।

विशेषार्थ—पात्रोंको देखकर प्रसन्न होना उससे अधिक क्रिया यह है कि पात्रोंका भक्तिपूर्वक स्वागत करके उनको दान देना। इस क्रियासे और भी अटूट पुण्यबंध होता है। तीन लोकके प्राणी उसका स्वागत करते हैं, उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। वह दानी दुर्गतिसे बचता है, मानव व देव-गतिके ऐसे ऊंचे पद पाता है कि उसका अन्य देव तथा मानव बड़ी प्रतिष्ठासे स्वागत करते हैं। उनका कभी अपमान नहीं करते हैं, उनको देखते ही प्रभावित होजाते हैं। उनकी आत्मामें बंधा हुआ पुण्यकर्मबंध उनके तेज व महात्म्यको ऐसा बढा देता है कि सर्व कोई उसके वशीभूत होजाते हैं। ऐसे ज्ञानी प्राणी यदि कहीं निर्जन वनमें भी चले जाते हैं तो उनको सब प्रकारका शारीरिक आराम देनेवाले वहां भी मिल जाते हैं। जिन्होंने पुण्यात्मा जीवोंके प्रवास पढ़े हैं वे जानते हैं कि ऐसे मानवोंको जंगलमें मंगल मिलते हैं। श्री रामचन्द्र, सीता, लक्ष्मण अपने वनके प्रवासमें जहां

भी आते थे अपूर्व स्वागत पाते थे। धन्यकुमार सेठ पुत्र अकेला उज्जैनीसे राजग्रहीमें जाता है और वहां पुण्यके बलसे धनका लाभ, स्त्रीका लाभ व राज्यका लाभ तक कर लेता है। पूर्व जन्ममें धन्यकुमारके जीवने पात्रदान भक्ति पूर्वक किया था, ऐसा जानकर गृहस्थ श्रावकोंको निरंतर पात्रदान करना चाहिये।

श्लोक—पात्रस्य चिंतनं कृत्वा, तस्य चित्तं सुचिंतये।
चेतयति प्राप्तं वीर्यं, पात्र चिंता सदा बुधैः ॥ २८२ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रस्य चिंतनं कृत्वा) जो श्रावक गृहस्थ निरंतर चित्तमें पात्रोंके लाभकी चिंता किया करता है (तस्य चित्तं सुचिंतये) उसका मन सदा शुभ भावोंमें लीन रहता है (चेतयति प्राप्तं वीर्यं) वह अपने आत्म वीर्यका भलेप्रकार उपभोग करता है अर्थात् चिंतित कार्य सिद्ध कर लेता है (सदा बुधैः पात्र चिंता) इसलिये बुद्धिमानोंको सदा पात्रोंकी चिंता रखना चाहिये।

विशेषार्थ—जो गृहस्थ निरंतर यह भावना भाता है कि मुझे पात्रोंका लाभ होजावे तो मैं दान दूं। इस पात्रदानकी भावनासे वह अपनी कषायोंकी शक्तिको ऐसी मंद कर देता है कि उसके चित्तमें सदा ही शुभ कार्योंके करनेकी भावना रहा करती है। और जिन शुभ कार्योंको वह करना चाहता है उनके करनेका आत्मबल वह अपनेमें जागृत कर लेता है। आत्मबलके प्रतापसे उसके सर्व ही शुभ कार्य सिद्ध होजाते हैं। यहां ग्रंथकर्ताने पात्रदानकी बड़ी महिमा बताई है सो बिलकुल ठीक है। दानके भावोंसे, पात्रोंकी भक्तिसे अपूर्व पुण्यकर्मका बंध होजाता है। जैसे हिंसाकर्मकी चिंतासे, असत्य भाषणकी चिंतासे, चोरीकी चिंतासे, कुशीलकी चिंतासे, परिग्रहकी चिंतासे निरंतर पापकर्मका बंध होता है वैसे पात्रदानकी चिंतासे जबतक चिंता रहेगी अपूर्व पुण्यकर्मका बंध होता है। दानी गृहस्थको प्रतिदिन पात्रकी चिंता करके पात्रोंका समागम मिलाकर दान करके फिर भोजन करना चाहिये। यदि पात्रका लाभ न मिले तो दुःखित भुक्षितको जिमाकर आप जीमना चाहिये। वास्तवमें पात्रदान व करुणादान दोनोंके भाव गृहस्थके सदा रहने चाहिये। दानसे ही गृहीकी शोभा है।

श्लोक—कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा, दुर्गति अभ्यागतं भवेत् ।
सुगतिः तत्र न दिष्टंते, दुर्गतिं च भवे भवे ॥ २८४ ॥

अन्वयार्थ—(कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा) जो कोई अपात्रोंका स्वागत करते हैं वे (दुर्गति अभ्यागतं भवेत्) अपने लिये कुगतिका स्वागत करते हैं (तत्र सुगतिः न दृष्टते) उनको सुगतिका दर्शन नहीं होता है (दुर्गतिं च भवे भवे) उनको भव भवमें दुर्गतिकी प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ—जो मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान व मिथ्या चारित्रसे वासित भेषी कुलिंगी हैं उनका जो स्वागत करना है, उनको भक्ति पूर्वक दान देना है सो संसारके कारण मिथ्या दर्शन आदिका ही पोषण करना है। जिसका फल कुगतिका ही बंध है। तथा मिथ्यात्वके बंधकी अति दृढता पाना है। उस मिथ्यात्वके उदयसे प्राणीको अनंत भवमें दुर्गतिका सामना करना पडेगा। वारवार एकेन्द्रिय पर्यायमें जन्मना होगा। उनको फिर उन्नति करके पंचेंद्रिय सैनीका जीवन पाना अति कठिन होजायगा। गुण और औगुणका ही आदर या निरादर है। मिथ्यात्वादि दुर्गुण अप्रतिष्ठाके योग्य है इसलिये उनके धारी व्यक्ति भी भक्ति करनेके योग्य नहीं है। यदि द्यूत रमन बुरी वस्तु है तो द्यूतके रमनवालेका आदर भी उचित नहीं है उससे जूए खेलनेवालेको जूएके खेलनेकी उत्तेजना मिलती है व स्वयं भी जूएके फंदेमें पड जानेकी आशंका है। इसलिये प्रतिष्ठाके योग्य रत्नत्रय हैं व उनके धारी सुपात्र हैं। अपात्रोंको दान देना केवल निरर्थक ही नहीं है उल्टा पापबंध कारक है। मिथ्यादृष्टी ही किसी मान व लोभ व आशाके वशीभूत हो ऐसे अपात्रोंका स्वागत करके तीव्र दर्शनमोहका बंध करते हैं। विवेकीको ऐसा करना उचित नहीं है।

श्लोक—कुपात्र प्रमोदनं कृत्वा, एकेन्द्रि थावरे उत्पाद्यं ।
तिरियं नरय प्रमोदं च, कुपात्रदान फलं सदा ॥ २८५ ॥

अन्वयार्थ—(कुपात्रं प्रमोदनं कृत्वा) जो अपात्रोंको देखकर आनन्द मनाते हैं। वे (एकेन्द्रि थावरे उत्पाद्यं) एकेन्द्रिय स्थावरोंमें जन्मते हैं (तिरियं नरय प्रमोदं च) उनको नरक व तिर्यंचगति आनन्दसे ग्रहण करती है (कुपात्रदान फलं सदा) अपात्र दानका सदा ही ऐसा फल होता है।

विशेषार्थ—अपात्रोंको देखकर आनन्द मनाना, उनकी अपात्रताका अनुमोदन करना है। मिथ्यात्व भावोंकी ही उनमें पात्रता है। मिथ्यात्व भावोंकी वासनासे व अनन्तानुबन्धी कषायकी तीव्रतासे एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म, साधारण नाम कर्म, अपर्याप्ति नाम कर्म आदि प्रकृतियोंका बंध होनेसे यह जीव एक मानवसे मरकर सीधा साधारण वनस्पति रूप निगोद पर्यायमें चला जाता है, वहांसे फिर अनंतकालमें भी निकलना कठिन होजाता है। अथवा नरकगति बांधकर नरक चला जाता है या अन्य पशु पक्षीकी पर्याय पालेता है। मिथ्यात्वके समान कोई पाप नहीं है। मिथ्यात्व सहित व्यक्तिको धर्मात्मा मानके उसके अधर्मकी प्रतिष्ठा करनी उसे भी पतित रखना है व आप भी पतित होना है। विवेकी मानवको पात्र व अपात्रका विचार करके ही दान देना चाहिये। श्री अमितगति श्रावकाचारमें कहा है:—

यथा रजोधारिणि पुष्टिकारणं, विनश्यति क्षीरमलाबुनि स्थितम्।
प्ररूढमिथ्यात्वमलाय देहिने, तथा प्रदत्तं द्रविणं विनश्यति ॥ १६ ॥

भावार्थ—जैसे पुष्टिकारी दूध रजको रखनेवाली तूंबीमें रक्खा हुआ नाश होजाता है वैसे मिथ्यात्व मलरूपी मलधारी प्राणीको दिया हुआ द्रव्य नाशको प्राप्त होजाता है।

श्लोक—पात्रदानं च शुद्धं च, दात्र शुद्धं सदा भवेत्।
तत्र दानं च मुक्तं च, शुद्ध दृष्टि यथा मतं ॥ २८६ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं च शुद्धं च) पात्रदान शुद्ध दान है इससे (दात्र शुद्धं सदा भवेत्) दातार निरंतर शुद्ध होता है। (तत्र दानं च मुक्तं च) पात्रोंको दान देना मुक्तिका उपाय है (यथा शुद्धदृष्टि मतं) जैसे शुद्ध सम्यग्दर्शन मोक्षका उपाय माना गया है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन सहित सुपात्रोंको दान देना शुद्ध दान इसलिये है कि उस दानके कारण दातारके परिणाम शुद्ध होजाते हैं। उसको मोक्षमार्गकी गाढ रुचि पैदा होजाती है। यदि कदाचित् दातार शिथिल श्रद्धानी हो तो दानके पीछे सुपात्रोंके द्वारा ऐसा योग्य धर्मोपदेश मिलता है जिससे वह मोक्षमार्गके सन्मुख होजावे। इसलिये जहां पात्रोंको दान देना है वहां मोक्षके मार्गपर चलना है। जिसतरह सम्यग्दर्शन मोक्षका उपाय है वैसे पात्रदान मोक्षका उपाय है। जैसी

संगति होती है वैसा प्रभाव आत्माके परिणामों पर पडता है। यही कारण है जो मिथ्यादृष्टी भी सुपात्रोंको दान दे तो भोगभूमिका पुण्य बांध लेता है और यदि पात्र सम्यग्दर्शन रहित कुपात्र हो तो उनकी संगतिसे कुभोगभूमिका पुण्य बंध जाता है। सुगंधित वस्तुके संपर्कसे वस्त्रोंमें सुगंध व दुर्गंधित वस्तुके संसर्गसे वस्त्रोंमें दुर्गंध आने लगती है। बाहरी पदार्थोंका बडा भारी असर प्राणीके भावोंमें पडता है। इसलिये विचारवान गृहस्थको उचित है कि सदा ही पात्रदानके लिये उत्साहित रहे, पात्रदान निरंतर करे। पात्रदान मोक्षके परम्पराय साधनोंमें एक प्रबल कारण है। रत्नत्रय-धारीकी भक्ति रत्नत्रयकी भक्ति ही है।

श्लोक—पात्रशिक्षा च दात्रस्य, दात्रदानं च पात्रये ।
दात्र पात्रं च शुद्धं च, दानं निर्मलितं ध्रुवं ॥ २८७ ॥

अन्वयार्थ—(दात्रस्य) दातारको (पात्रशिक्षा च) पात्र द्वारा योग्य शिक्षा प्राप्त होती है (दात्र पात्रये दानं च) दातार द्वारा पात्रको दान होता है (दात्र पात्रं च शुद्धं च) जहां दातार तथा पात्र दोनों ही शुद्ध हैं (दानं निर्मलितं ध्रुवं) वहां निरंतर दान निर्मल होता है।

विशेषार्थ—यहां बताया है कि सुपात्र दानका बडा भारी महात्म्य है। दातार और पात्र दोनोंका उपकार पात्रदानसे होता है। धर्मके पात्र धर्मके साधक हैं, उनको दान देनेसे उनके परिणामोंकी थिरता होती है। उनके संयमका साधन होता है। उनकी रुचि धर्मके सम्मान होनेसे विशेष बढ जाती है। यह उपकार तो दाता द्वारा पात्रका होता है। पात्र द्वारा दाताका उपकार यह है कि पात्र उत्तम धर्मोपदेश देते हैं। उत्तम शिक्षाके मिलनेसे दातारके भीतर जो कुछ मलीनता होती है वह दूर होजाती है। वह धर्मका विशेष अनुरागी होजाता है। बहुधा धर्मके पात्र मुनि या श्रावक दान ले चुकनेके पश्चात् किसी तरहके संयम धारनेका उपदेश देते हैं। दातार यथायोग्य नियम लेकर धर्मकार्यमें विशेष आचरण करने लग जाता है। वास्तवमें सुपात्र दातारके लिये बडे ही उपकारी हैं। अपात्रोंको दान देनेसे जब मिथ्यात्वकी शिक्षा मिलती है तब सुपात्रोंको दान देनेसे सम्यग्दर्शनकी शिक्षा मिलती है। जहां दातारका भाव शुद्ध है, सम्यग्दर्शनसे पूर्ण है व पात्र भी शुद्ध भाव धारी सम्यग्दृष्टी है वहां अपूर्व निर्मल दान होता है। दोनोंके भाव अति पवित्र होजाते

है। यह दान सदा ही भावोंकी अति विशुद्धता करनेवाला है। पात्रदान धर्मका मुख्य साधक है।

श्लोक—दात्रं शुद्धसम्यक्तं, पात्रं तत्र प्रमोदनं।
दात्र पात्रं च शुद्धं च, दानं निर्मलितं सदा॥ २८८॥

अन्वयार्थ—(दात्रं शुद्धसम्यक्तं) दातार शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी होता है (तत्र पात्रं प्रमोदनं) तब वह पात्रोंके लिये प्रमोद भाव रखता है (दात्र पात्रं च शुद्धं च) जहां दातार और पात्र शुद्ध हों (दानं निर्मलितं सदा) वहां निरंतर दानकी निर्मलता है।

विशेषार्थ—जिस दाताके भीतर शुद्ध सम्यक्त है, जो निज शुद्धात्माका अनुभव करनेवाला है, जो धर्मका परम अनुरागी है, जो धर्मात्माओंकी सेवामें नित्य भाव रखता है। ऐसा दातार नित्य मनमें ऐसा चाहता है कि मुझे पात्रदानका अवसर मिले। जब कभी वह किसी उत्तम पात्र मुनिको, मध्यम पात्र श्रावकको व जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टीको देखता है, उनका मन प्रफुल्लित होजाता है वह उनकी सेवाके लिये अति अनुरागी होजाता है और भक्तिपूर्वक उनको यथायोग्य दान देता है। इस सम्यग्दृष्टी दातारका भाव शुद्ध आत्मीक भावकी तरफ झुका हुआ है। वह यही चाहता है कि जो जो मोक्षमार्ग पर आरूढ हैं वे वंदनीय, आदरणीय व प्रतिष्ठाके योग्य हैं। उसका रत्नत्रयका अनुराग अपूर्व रहता है। सम्यग्दृष्टी पात्रोंका भी भाव रत्नत्रयके प्रेमसे पूर्ण होता है। दाता और पात्र दोनोंकी दृष्टि जहां स्वात्मानुभव पर हो और वे दोनों दानके समय परस्पर मिलें तब परस्पर भावोंकी उज्वलतामें बडा ही प्रभाव पडता है। सम्यग्दृष्टी द्वारा सम्यग्दृष्टीको दान होजाना ही सच्चा पवित्र दान है। यह दान अतिशयकारी पुण्यबंधका कारण है। यह बांधा हुआ पुण्य जीवको संसारमें आसक्त करनेवाला नहीं होता है। किन्तु ऐसे उत्तम निमित्त मिला देता है जिससे संयम पालनेकी योग्यता होजाती है तथा मोक्ष प्राप्त करने योग्य वज्रऋषभनाराच संहनन आदिका लाभ होजाता है। सम्यक्ती दाता व पात्र दोनों दानके समय आनंद पाते हैं।

श्लोक—पात्रं यत्र शुद्धं च, दात्र प्रमोद कारणं।
पात्र दात्र शुद्धं च, उक्तं दान जिनागमे॥ २८९॥

अन्वयार्थ—(यत्र पात्रं शुद्धं च) जहां पात्र शुद्ध सम्यग्दृष्टी होता है (दात्र प्रमोद कारणं) वह दातारको प्रमोद उत्पन्न करनेका कारण होता है (पात्र दात्र शुद्धं च) जहां पात्र और दातार दोनों शुद्ध सम्यग्दृष्टी हो (जिनागमे दान उक्तं) वही दान जिनागममें उचित कहा गया है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका ऐसा महात्म्य है कि जिसके कारण मुखपर एक अपूर्व शांतिका झलकाव होता है। सम्यक्ती पात्रके दर्शन करते ही दाता शांत रसमें पहुंच जाता है। सम्यक्ती पात्रके द्वारा कोई ऐसी क्रिया नहीं होती है जिससे दातारको कुछ भी कष्ट हो, वह बडा ही संतोषी होता है। जो उद्दिष्ट आहारके त्यागी हैं वे तो रस नीरस जो मिला उसे लेकर अपने आत्म कार्यमें लग जाते हैं। वे तो यहांतक सम्हाल रखते हैं कि उनके निमित्त कोई आरम्भ नहीं किया जावे। जो गृहस्थके स्वकुटुम्बके लिये भोजन तय्यार किया हो उसीमेंसे मुनिगण आहार लेते हैं। जिससे उनके निमित्तसे न तो हिंसा हो और न कुछ भी कष्ट हो। अन्य मध्यम या जघन्य पात्र भी बडे ही उत्साही व धर्मके प्रेमी होते हैं। किसी तरहका अभिमान नहीं रखते हैं। यदि कोई भक्तिपूर्वक निमंत्रण करे तो वे कभी मानसे उसका निषेध नहीं करते हैं। जैन आगममें उसहीको उत्तम दान कहा गया है जहां पात्र और दान दोनों योग्य हों। सम्यग्दृष्टी द्वारा सम्यग्दृष्टीको दान होजाना ही प्रशंसनीय दान है। जहां सम्यग्दृष्टी मोक्षगामी दातार हो और तीर्थंकर सरीखे मोक्षगामी महात्मा पात्र हों वह दान महान है। राजा श्रेयांस द्वारा श्री रिषभदेव भगवानको दान होजाना व चन्दना सती-द्वारा श्री महावीर भगवानको दान होजाना ऐसे सुयोग्य दानके उदाहरण हैं। सम्यग्दर्शनकी अपूर्व सुगन्ध है।

श्लोक—मिथ्यादृष्टी च दानं च, पात्र न गृहिते पुनः।
यदि पात्र गृहिते दानं, पात्रं अपात्र उच्यते ॥ २९० ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यादृष्टी च दानं च) मिथ्यादृष्टीके द्वारा दिये हुए दानको (पात्र न गृहिते पुनः) पात्र नहीं ग्रहण करते हैं (यदि पात्रदानं गृहिते) यदि पात्रदानको ग्रहण करले तो (पात्रं अपात्र उच्यते) वह पात्र अपात्र कहा जाता है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि जो सम्यग्दृष्टी पात्र होते हैं वे श्रद्धावान भाई बहन दातारके

ही हाथसे भोजन लेते हैं। जो मिथ्यादृष्टी हैं, सच्चे देव, गुरु, शास्त्रके श्रद्धानी नहीं हैं, उनके सच्ची भक्ति सुपात्रोंसे नहीं होसक्ती है। यदि कदाचित् वे किसी कारणवश पात्रोंको दान देनेके लिये तय्यार भी होजावें तो पात्र जो सम्यग्दृष्टी हैं वे उनको उपदेश देकर पहले सम्यग्दृष्टी अर्थात् व्यवहार श्रद्धावान बना लेंगे तब उनको दातार मानके उनके यहां भोजन करेंगे। जो सच्चे देव, गुरु, शास्त्रके श्रद्धानी हैं वे ही शुद्ध भोजन तय्यार कर सक्ते हैं, छना पानी व्यवहार कर सक्ते हैं। शुद्ध अन्न, घी, दूधादि काममें लेंगे, जीवदया पूर्वक रसोई बनायेंगे। मिथ्यादृष्टीकी भोजनकी क्रिया जैन शास्त्रोक्त नहीं होगी। इसलिये जो श्रद्धावान तीन प्रकारके पात्र हैं वे ऐसी अशुद्ध रसोईको स्वीकार नहीं कर सक्ते। न तो वह वस्तु ही लेने योग्य है न दातार मिथ्यादृष्टीकी भक्ति उस रत्नत्रय धर्ममें है जिसके धारी वे पात्र हैं। भक्ति विना पात्रदान नहीं होता है। यदि कोई पात्र ऐसी अशुद्ध रसोईको मिथ्यादृष्टीके द्वारा दिये जानेपर लेलेवे तो वह स्वयं अपात्र होजाता है अर्थात् स्वयं मिथ्यादृष्टी व जैनाचारके विरुद्ध होजाता है, ऐसा आचार्योंने कहा है। जब तक श्रद्धा न हो तबतक दातापना नहीं। जहां श्रद्धा बिगडी वहां पात्रपना नहीं। पात्रको वही दान लेना योग्य है जो उसको दातार द्वारा धर्मपात्र समझकर शुद्धताके साथ दिया जावे। जो पात्र इसके विरुद्ध आहार करता है वह स्वयं अपात्र होजाता है।

श्लोक—मिथ्यादान विषं प्रोक्तं, घृतं दुग्ध विनाशए।
नीचसंगेन पात्रं च, गुणं नाशन्ति यत्पुनः ॥ २९१ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यादान विषं प्रोक्तं) मिथ्यात्वीका दान विषरूप कहा गया है (घृतं दुग्धं विनाशए) जैसे विषके संयोगसे घी और दूधके गुण नष्ट होजाते हैं वैसे (नीचसंगेन पात्रं च गुणं नाशंति यत्पुनः) मिथ्यादृष्टीकी संगतिसे पात्रके गुण भी नाश होजायगे।

विशेषार्थ—दान श्रद्धावानका ही गुणकारी है। जो अन्नादि ग्रहण किया जाता है उसमें दातारके भावोंका भी असर होजाता है। मिथ्यात्व भावसे मिला हुआ वह दान है। अतएव ऐसा दान ग्रहण करनेवाले पात्रकी बुद्धिको मलीन कर लेता है। जैसे विषके संयोगसे घी व दूध नष्ट होजाते हैं वैसे मिथ्यादानके संयोगसे पात्रके सम्यक्तादि गुण नष्ट होजाते हैं। यदि कोई पात्र न हो परन्तु

अपनेको पात्र मानकर मिथ्यादृष्टी दातारसे दान लेनेका अभ्यास बनाले तो उस पात्रका प्रेम उस मिथ्यादृष्टीसे होजायगा अर्थात् मिथ्यात्वकी अनुमोदना उसके होजायगी। वह दातार भी समझेगा कि मुझे इन पात्रोंने योग्य ही समझा तब ही तो मेरा दान लिया। वह और भी मिथ्यात्व ग्रंथिको दृढ कर लेगा। अतएव ऐसा दान उपकारक न होकर अपकारक होगा।

यहा तात्पर्य यह है कि सुपात्र वही है जो धर्मका दृढ श्रद्धावान हो व धर्ममें दृढ श्रद्धानियोंके ही भक्ति द्वारा दिये हुए दानको ग्रहण करे तब ही वह शुद्ध दान दातार व पात्र दोनोंको मोक्षमार्गमें प्रेरक है। मिथ्यात्वीके पात्रोंमें सच्ची भक्ति नहीं होती है। अतएव उनका दिया हुआ दान पात्रके लिये उचित नहीं है। यदि कोई ले ले तो वह अपात्र हो जायगा। दातारके अशुद्ध द्रव्यका व दातारके कुभावोंका भोजन करनेवालेके परिणामोंमें असर होता है वह विकारका हेतु है। एक वेश्याने मायाचारसे श्राविका बनकर धोखेसे एक जैन साधुको आहार करा दिया। आहार करते हुए उनकी दृष्टि ऊपर गई। उन्होंने एक मोतियोंका हार टंगा हुआ देखा। उनके परिणाम ऐसे हुए कि हम हारको चुरा लेजावें तब उस साधुने अपने गुरुसे यह हाल कहा। गुरुने कहा कि तुमने अशुद्ध दातारका अशुद्ध भोजन खाया है। प्रायश्चित्त लेकर दोषसे मुक्त होना चाहिये। अतएव श्रद्धावानके द्वारा शुद्ध भोजन ही पात्रोंको ग्रहण करना चाहिये।

श्लोक—मिथ्यादृष्टी च संगेन, गुणं निर्गुणं भवेत् ।
मिथ्यादृष्टी जीवस्य, संगं तजंति ये बुधाः ॥ २९२ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यादृष्टी च संगेन) मिथ्यादृष्टोकी संगतिसे (गुणं निर्गुणं भवेत्) पात्रके गुण औगुण रूप होजाते हैं अतएव (ये बुधाः) जो बुद्धिमान हैं वे (मिथ्यादृष्टी जीवस्य संगं तजंति) मिथ्यादृष्टी जीवकी संगति छोड देते हैं।

विशेषार्थ—जो सच्चे तत्वके श्रद्धावान नहीं हैं उनकी संगतिसे लाभ होनेके बदलेमें हानि होना बहुत संभव है। उनके प्रभावमें आकर सच्चे श्रद्धावानोंकी श्रद्धा बहुधा बिगड जाती है। तथा गुणोंका नाश होकर औगुणोंकी उत्पत्ति होजाती है। बहुधा कुसंगतिसे ही लोग जुआरी, शिकारी, नशेबाज, वेश्यागामी, मांसाहारी, परस्त्रीरत, चोर होजाया करते हैं। कुसंगतिसे विषयासक्ति हो-

जाती है। जिन दातारोंकी संगतिसे सम्यक्त दृढ हो उन हीके द्वारा दान लेनेसे सम्यक्तादि गुणोंकी वृद्धि होगी। यदि दातार सम्यक्त रहित है, मिथ्या देव शास्त्र गुरुका श्रद्धानी है तो पात्रके भीतर उसके भावोंका असर पडनेसे सम्यक्त भावमें बाधा होजायगी। अतएव सम्यक्ती सर्व ही पात्र उन अनायतनोंकी संगति नहीं करते हैं जिनसे श्रद्धान, ज्ञान, चारित्रमें अन्तर पड जावे। इसीलिये मिथ्यादृष्टीके दानको वे ग्रहण नहीं करते। श्रद्धावान श्रावक गृहस्थके ही द्वारा दिया हुआ दान लेते हैं।

श्लोक—मिथ्याती संगते येन, दुर्गति भवति ते नरा।
मिथ्यासंग विनिर्मुक्तं, शुद्धधर्म रता सदा ॥ २९३ ॥

अन्वयार्थ—(येन) क्योंकि (मिथ्याती संगते दुर्गति भवति) मिथ्याती संसारासक्त मानवोंकी संगतिसे खोटी गति होती है अतएव (ते नरा मिथ्यासंग विनिर्मुक्तं) वे मानव मिथ्यात्वीकी संगतिको छोडकर (शुद्ध धर्म रता सदा) सदा ही शुद्ध रत्नत्रय धर्ममें लीन रहते हैं।

विशेषार्थ—संगतिका बडा भारी असर होता है। कुसंगतिसे यह प्राणी मिथ्यादृष्टी होकर कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरुका भक्त बन जाता है व इंद्रियोंके विषयोंका लम्पटी होकर विषयांध होजाता है। या ख्याति पूजा लाभादिके लोभमें पड जाता है, आत्मानुभवके हेतु रूप सच्चे धर्मका श्रद्धान खो बैठता है। अतएव नरक व पशुगति बांधकर नारकी या तिर्यंच होजाता है। इसीलिये जो पंडित पात्र हैं, चाहे मुनि हों या श्रावक हों या व्रत रहित सम्यक्ती हों वे कुसंगतिसे सदा बचते हैं। मिथ्यादृष्टीकी संगति नहीं करते हैं तब वे मिथ्यात्वी द्वारा दिया हुआ दान भी नहीं लेते। क्योंकि भोजनकी संगति व मिथ्यात्वी दातारकी संगति परिणामोंमें विकार उत्पन्न कर देगी। ज्ञानी पात्र सदा ही शुद्ध आत्मीक तत्वमें रमण किया करते हैं। व उसके साधक पांच परमेष्ठीकी भक्ति करते हैं। धर्मात्मा गृहस्थोंकी ही संगति रखते हैं व धर्मात्मा गृहस्थोंके ही द्वारा दिया हुआ दान लेते हैं। उनके इस बातकी बडी सम्हाल रहती है कि हमारा रत्नत्रय धर्म किसी तरह भी मलीन न हो। वह पूर्णपने सुरक्षित रहे, इसीलिये वे श्रद्धावान श्रावक गृहस्थोंके द्वारा दिया हुआ दान ही लेते हैं। मिथ्यातियोंको सम्यक्ती बनाकर फिर उनका आहार वस्त्र लेसक्ते हैं।

श्लोक—मिथ्या संगं न कर्तव्यं, मिथ्या वासना वासितं ।
दूरे त्यजंति मिथ्यात्वं, देश इत्यादि त्यक्तयं ॥ २९४ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यासंगं न कर्तव्यं) मिथ्यात्वका संग न करना चाहिये (मिथ्या वासना वासितं) मिथ्यात्वकी वासनासे वासित (देश इत्यादि त्यक्तयं) क्षेत्र आदिका त्याग करना चाहिये । ज्ञानीजन (मिथ्यात्वं दूरे त्यजंति) मिथ्यादर्शनको दूरसे ही त्याग देते हैं ।

विशेषार्थ—मिथ्यादर्शनके समान कोई पाप नहीं है । सम्यग्दर्शनके समान कोई गुण नहीं है । व्यवहार मिथ्यात्वका सेवन अंतरंग मिथ्यात्वकी वासनाको दृढ करनेवाला है, जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शनका सेवन अंतरंग सम्यग्दर्शनको दृढ करनेवाला है इसलिये धर्मात्मा श्रावक गृहस्थोंको मिथ्यात्वके पोषक अपात्रोंका संग नहीं करना चाहिये । उनको उस क्षेत्रमें भी नहीं जाना चाहिये जहां मिथ्यात्वकी पुष्टि हो व सम्यग्दर्शनकी विराधनाकी शंका हो । मिथ्यादर्शनसे उसी तरह बचना चाहिये जैसे दुर्गंध वायु, जल, भूमिसे बचा जाता है । कुदेव, कुगुरु, कुधर्मकी संगति मिथ्यात्वकी वासनाको पैदा करनेवाली है । इसलिये उनकी संगति न करना ही उचित है । जिस देशमें मिथ्यात्वका ही प्रचार है, व्यवहार सम्यग्दर्शनके साधन नहीं हैं उस देशमें प्रथम तो जाना ही उचित नहीं है । यदि लौकिक कार्यवश जाना पडे तो सम्यग्दर्शनकी साधक क्रियाओंको करता रहे । जप, पाठ, सामायिक ध्यानादिको कभी न छोडे तथा मिथ्यात्व क्रियाओंकी संगतिमें आप न बैठे । धर्मबुद्धिसे मिथ्या धर्मके धारकोंका सन्मान आदि न करे । जैसे शुद्ध श्वेत वस्त्रका धारी इस बातकी सम्हाल रखता है कि कहीं कोई कीचडका धब्बा मेरे कपडोंपर न लग जावे, वैसे विवेकीको सम्हाल रखना चाहिये कि मेरे श्रद्धानमें कोई मलीनता न आनी चाहिये । इसीलिये अपात्रोंकी भक्ति करनी उचित नहीं है ।

श्लोक—मिथ्या दूरे हि वाचंति, मिथ्या संग न दिष्टते ।
मिथ्या माया कुटुंबस्य, संगं विरचे सदा बुधैः ॥ २९५ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्या दूरे हि वाचंति) मिथ्यात्वसे दूरसे ही बचना चाहिये (मिथ्या संग न दिष्टते)

मिथ्यात्वका संग न दिखना चाहिये (मिथ्या माया कुटुम्बस्य संगं) मिथ्यात्व व मायामें फंसे हुए कुटुंबका संग (बुधैः सदा विरचे) बुद्धिमान सदा ही बचावे।

विशेषार्थ—यहांपर भी मिथ्यात्वकी संगतिका निषेध किया है। ग्रंथकर्ताका अभिप्राय यही है कि गृहस्थजन शुद्ध सम्यक्तमें परिपक्व रहें। क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्गकी प्रथम सीढी है। इसके बिना व्रत, जप, तप सब असार है। आत्मानुशासनमें कहा है—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः। पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्तसंयुक्तम् ॥ १५ ॥

भावार्थ—शमभाव, ज्ञान, चारित्र, तपका मूल्य सम्यग्दर्शनके बिना पाषाण खण्डके समान है परन्तु यदि वे सम्यग्दर्शनके समान हों तो उनका मूल्य व आदर महामणिके समान होता है। इसीलिये मिथ्यात्वसे भले प्रकारसे बचनेका उपदेश है। ज्ञानी गृहस्थको उचित है कि सदा ही सम्यग्दर्शनकी दृढताके कारक आयतनोंकी संगति रखे। जिनचैत्यालय, जिनशास्त्र, जैन गुरु, जैन धर्मात्मा ज्ञानी पुरुष, जिनेन्द्र भक्ति, सद्गुरुको दान, सद्गुरु द्वारा उपदेशश्रवण आदि निमित्तोंको मिलाता रहे, इनके विरुद्ध निमित्तोंकी संगति न करे, उनसे माध्यस्थ भाव रक्खे, लौकिक व्यवहार न बिगड़े उतना मात्र सहयोग देवे परन्तु अपनी श्रद्धामें किसी तरह मलीनता आजावे ऐसा सहयोग न करे। जो गृहस्थ कुटुम्बी मिथ्यात्वके पोषक हैं व जो मायाचारके पोषक हैं, ठग हैं, अन्यायी हैं उनकी संगतिसे बचना ही उचित है। जिसतरह बने सम्यग्दर्शनकी रक्षा करे यह अभिप्राय है।

श्लोक—मिथ्यात्वं परमं दुःखं, सम्यक्तं परमं सुखं।

तत्र मिथ्यामतं त्यक्तं, शुद्ध सम्यक्त सार्द्धयं ॥ २९६ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्वं परमं दुःखं) मिथ्यादर्शन परम दुःखका कारण है (सम्यक्तं परमं सुखं) सम्यग्दर्शन परम सुखका कारण है (तत्र मिथ्यामतं त्यक्तं) इसीलिये मिथ्यादर्शनका त्याग करे (शुद्ध सम्यक्त सार्द्धयं) शुद्ध सम्यग्दर्शनको अपना साथी बनाए रक्खे।

विशेषार्थ—संसारमें नरक, निगोद, एकेंद्रिय, विकलत्रय, पशु आदिके घोरसे घोर दुःखोंमें पटकनेवाले कर्मोंका बंध मिथ्यादर्शनसे होता है इसलिये मिथ्यादर्शन ही परम दुःखरूप है अथवा

मिथ्यात्वी जीव संसारमें तीव्र रागी होता है, वह निरंतर इष्टका समागम चाहता है। जब इष्टका वियोग होजाता है या कोई उसके अनुकूल नहीं चलता है तो उसे महा दुःख होता है। वह रात दिन तृष्णाकी व्याधिसे पीडित रहता है, विषयोंके कारण आकुलित रहता है। इच्छा व चिंता ये ही महान दुःख हैं। इच्छित वस्तुओंको मिलनेपर भी वह तृष्णाको बढाकर अधिक चाहकी दाहमें जला करता है। मिथ्यात्वीका जीवन सदा दुःखरूप रहता है। वह परलोकमें भी कष्ट पाता है। सम्यग्दर्शन परम सुखका कारण है। सम्यक्ती जीव मोक्ष पाता है। सम्यक्ती इस लोक व परलोक दोनोंमें सुखी रहता है। यहां यदि कर्मोंके उदयसे दुःखके सामान मिलते हैं तौभी समभाव रखता है। यदि पुण्यके उदयसे सुखके सामान मिलते हैं तो उनसे वैरागी रहता हुआ उनमें रंजायमान नहीं होता है। इसीलिये इस बातकी बडी आवश्यक्ता है कि शुद्ध सम्यक्तकी रक्षा की जावे, सम्यक्तमें कोई दोष न लगाया जावे। मिथ्यादर्शनको भलेप्रकार त्याग दिया जावे। जिनकी संगतिसे विषय कषायोंमें लीनता हो, मिथ्या पूजापाठ व रूढियोंमें भी जकडना पडे उनकी संगति विवेकी न करें। इसी हेतुसे भक्तिपूर्वक अपात्रोंको दान न करे। व्यवहार सम्यग्दर्शनके धारी पात्रोंको ही भक्तिसे दान करे चाहे वे सुपात्र हों या कुपात्र अर्थात् निश्चय सम्यक्त रहित हो। परन्तु व्यवहार सम्यक्तसे शून्य मिथ्यादृष्टीको भक्तिपूर्वक दान करना उचित नहीं है क्योंकि वहां धर्मकी पात्रता नहीं है। दया बुद्धिसे हरएक प्राणीको आहार, औषधि, अभय व विद्यादान करना उचित है, उसमें पात्र अपात्रका विचार नहीं है। धर्मबुद्धिसे मिथ्यात्वकी भक्ति हानिकारक है जिसे करना उचित नहीं है। सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी रक्षा करना विवेकीका कर्तव्य है।

रात्रि भोजन त्याग।

श्लोक—अनस्तमितं वेघडियं च, शुद्ध धर्म प्रकाशये।
सार्धं शुद्ध तत्वं च, अनस्तमितं रतो नराः ॥ २९७ ॥

अन्वयार्थ—(अनस्तमितं वेघडियं) दो घडी सूर्यके अस्त पहले भोजन कर लेना चाहिये (शुद्ध धर्म-

प्रकाशये) ऐसा अहिंसाधर्म प्रकाशित करता है (शुद्धतत्वं च सार्द्धं) जो धर्म शुद्ध वस्तुस्वरूपको बतानेवाला है इस तरह (नराः अनस्तमितं रताः) मानवोंको रात्रिभोजन त्यागमें रत होना योग्य है।

विशेषार्थ—अब ग्रन्थकर्ता रात्रि भोजन त्यागके सम्बन्धमें कहते हैं कि धर्मात्मा श्रावकोंको जो अहिंसाधर्मके प्रेमी हैं, जो चाहते हैं कि वृथा ही जंतुओंका वध न हो, यह उचित है कि रात्रिको भोजन न करें। दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट सूर्यके अस्तमें शेष रहे तब भोजनपान समाप्त करलें व दो घडी दिन निकले विना भोजनपान प्रारम्भ न करे। शुद्ध वस्तु स्वरूपको बतानेवाला यह जैनधर्म हिंसासे बचनेके लिये ऐसा उपदेश करता है। रात्रिको अंधेरा रहता है। यदि दीपक जलाया जावे व उस प्रकाशमें रसोई बनाई जावे व खाई जावे तो उसमें अनेक चौइंद्रिय प्राणियोंका वध होगा, जो दिनमें विश्राम करते हैं व रात्रिको उडा करते हैं। अहिंसा व्रतकी पूर्णताके लिये रात्रिको पूर्ण उपवास पालना चाहिये। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें कहा है—

रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा। हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥ १२९ ॥

अर्कालोकेन विना भुंजानः परिहरेत् कथं हिंसां। अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनां ॥ १३३ ॥

भावार्थ—जो रात्रिको भोजन करते हैं उनको नियमसे हिंसा करनी पडती है इसलिये जो हिंसासे बचना चाहते हैं उनको रात्रिको भोजन भी न करना चाहिये। सूर्यके प्रकाश विना खाते हुए हिंसा कैसे छोडी जासक्ती है। क्योंकि प्रदीपके जलानेपर अनेक छोटे२ जन्तु आजावेंगे व उनका भोजनमें सम्बन्ध होनेसे उनकी हिंसा होगी व उनका कलेवर भोजनके साथ खाया जायगा।

विवेकी गृहस्थ रात्रिको जल भी नहीं लेते हैं तथापि गृहस्थोंको रात्रिभोजन त्यागका यत्न करना उचित है। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय, चार प्रकारका आहार है-अभ्यास करनेवाला यथाशक्ति त्याग करे। उद्यम इस बातका करे कि रात्रिको जल भी न लेना पडे तो उत्तम है। रात्रिको पूर्ण खानपानके त्याग करनेसे वर्षमें छ मासके उपवासका फल होता है।

श्लोक—अनस्तमितं कृतं येन, मन वच काय योगभिः।
शुद्ध भावं च भावं च, अनस्तमितं प्रतिपालए ॥ २९८ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (मन वंच काय योगभिः) मन वचन काय तीनों योगोंके द्वारा (अनस्तमितं

कृतं) रात्रि भोजनका त्याग कर दिया (शुद्ध भावं च भावं च) उसीने शुद्ध भावोंकी भावना भाई है। (अनस्तमितं प्रतिपालए) और रात्रिभोजन त्याग व्रत प्रतिपालन किया है।

विशेषार्थ—रात्रिको भोजनकी इच्छा मनसे भी न करे, न रात्रिभोजन सम्बन्धी वचन बोले, न कायसे रात्रिभोजन करे। मन वचन कायसे जिसने रात्रिभोजनका त्याग किया उसने अहिंसा-धर्मको यथार्थ पालन किया है। धर्मात्मा श्रावकोंको उचित है कि रात्रिको भोजनका सर्व विकल्प मेटकर परम सन्तोष रक्खें, और धर्मध्यानमें समय लगावें। शुद्ध भावकी भावना करें, आत्मतत्वका चिंतवन करें। भोजनादि कुकथाको भी त्यागे। पूर्णपने इस रात्रिभोजन त्याग व्रतको पालें।

जैन गृहस्थोंके अहिंसाधर्म व वीतराग धर्मकी यही शोभा है जो सूर्यप्रकाशमें ही भोजनपान कर लिया जावे। भोजन सम्बन्धी आरम्भ भी दिनमें किया जावे। दिनमें ही रसोई तैयार की जावे। दिनमें ही खाया खिलाया जावे। सम्यक्ती स्वभावसे ही दयालु होता है। वह यह उद्यम रखता है कि जितना अधिक हिंसासे बचा जावे उतना धर्म है।

श्लोक—अनस्तमित्वं पालंते, वासी भोजन त्यक्तये।
रात्रि भोजनं कृतं येन, भुक्तं तस्य न शुद्धए॥ २९९॥

अन्वयार्थ—(अनस्तमित्वं पालंते) जो रात्रि भोजन त्याग व्रत पालते हैं वे (वासी भोजन त्यक्तये) रात्रि वासी भोजन छोड़ देते हैं। (येन रात्रिभोजनं कृतं) जिसने रात्रि भोजन किया (तस्य भुक्तं न शुद्धए) उसका भोजन शुद्धिके लिये नहीं है।

विशेषार्थ—रात्रि भोजनके त्यागीको न तो रातका बनाया खाना चाहिये न रोटी पुरी आदि जिसकी मर्यादा मात्र दिनभरकी है रात्रि वासी सबेरे खाना चाहिये। भोजनकी शुद्धि भी अति आवश्यक वस्तु है। शुद्ध भोजन वही है जिसमें हिंसाका दोष जितना बचाया जासके बचता हो। रात्रिका पीसा आटा व मसाला आदि न खाना चाहिये। हिंसा त्रस जंतुओंकी बचाना बहुत जरूरी है। त्रस जंतुके कलेवरको मांस कहते हैं। ऐसा मांस अपने खानेमें न आवे इसलिये रात्रिको बनाना व रात्रिको खाना उचित नहीं है। परिणामोंकी उज्वलताके लिये शुद्ध भोजन बहुत उपकारी है।

गृहस्थी श्रावकको उचित है कि अपने यहां भोजन ऐसा शुद्ध तैयार करे जो मुनि आदि पात्रोंको दान भी किया जासके व अपनेको भी शुद्धतापूर्ण भोजन प्राप्त हो।

श्लोक—खाद स्वाद पीवं च, लेयं आहार क्रीयते।
वासी स्वाद विचलंते, त्यक्तं अनस्तमितं कृतं ॥ २०० ॥

अन्वयार्थ—(खाद स्वाद पीवं च लेयं आहार क्रियते) खाद, स्वाद, पेय, लेह्य ऐसे चार प्रकार आहार होता है इनको रात्रिमें तथा (वासी स्वाद विचलंते) बासी भोजनको, जिनका स्वाद चलायमान होगया है (त्यक्तं) छोड दिया जाय तब ही (अनस्तमितं कृतं) रात्रि भोजन त्याग व्रत पूर्ण हुआ समझना चाहिये।

विशेषार्थ—भोजनके चार भेद हैं। जिससे पेट भरे ऐसे अन्नादि खाद्य है। इलायची ताम्बूल आदि स्वाद्य है। दूध, पानी आदि पेय है तथा चाटनेकी चीज चटनी आदि लेह्य है। रात्रिभोजन त्यागीको इन चारों ही प्रकारका भोजन नहीं लेना योग्य है। न रात्रिका बनाया हुआ न रात्रिका बासी भोजन जिसका स्वाद औरका और होगया है लेना योग्य है। वास्तवमें सन्तोष व इंद्रियविजयका भाव श्रावक गृहस्थमें होना चाहिये। जो सच्चे धर्मके श्रद्धावान हैं उनको इस व्रतके पालनमें कोई कठिनाई नहीं होती है। वे बडे दयावान होते हैं। जितना बचे उतना हिंसाको बचाते हैं, उनको विश्वास होता है कि दिनकी अपेक्षा रात्रिको खानपानका आरम्भ करनेमें या खानेमें बहुत त्रस जन्तुओंका घात होता है। यदि हमको कोई लाचारी नहीं है तो हमें अवश्य खानपान दिन हीमें कर लेना चाहिये। यद्यपि जो गृहस्थ ऐसी स्थितिमें हो कि एकदम रात्रिभोजन नहीं त्याग सके वे छठी प्रतिमामें पहुंचकर अवश्य रात्रिभोजनका पूर्ण त्याग कर देते हैं।

श्लोक—अनस्तमितं पालितं येन, रागदोषं न चिंतये।
शुद्ध तत्त्वं च भावं च, सम्यग्दृष्टी च पश्यते ॥ २०१ ॥

अन्वयार्थ—(येन अनस्तमितं पालितं) जिसने रात्रिभोजन त्याग व्रत पाला है वह (रागदोषं न चिंतये) रागद्वेष भावोंकी चिंता नहीं करता है किंतु (शुद्धतत्त्वं च भावं च) शुद्ध आत्मीक तत्त्वकी भावना करता है (सम्यग्दृष्टी च पश्यते) वही सम्यग्दृष्टी देखा जाता है।

विशेषार्थ—यहांपर ग्रन्थकर्ता रात्रि भोजन त्यागीके भावोंकी तसवीर बताते हैं कि उसमें बडा ही सन्तोष व दयाभाव होता है। वह निस्पृही सम्यग्दृष्टी जीव अपने अंतरंगसे राग व द्वेष बढानेवाली चर्चा या चिंता नहीं करता है, निरन्तर शुद्ध निश्चय नयका आश्रय लेता हुआ शुद्ध आत्माका विचार किया करता है। यद्यपि अपनी २ स्थितिके अनुसार सम्यग्दृष्टी लौकिक क्रिया करता है तथापि उसकी भावना आत्मीक तत्वकी ही रहती है। रागद्वेष करना मात्र हिंसा है। इससे वह अपनेको बचाता है। कोई २ ऐसा मानते हैं कि दिनमें भोजन न करके रात्रिको करे तो क्या दोष है। सम्यक्ती ऐसा तर्क नहीं करता है क्योंकि दिनकी अपेक्षा रात्रिको घोर हिंसा होती है।

श्रावकाचारमें अमितगति महाराज कहते हैं—

ये ब्रवंति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुण्यपापयोः। ते प्रकाशतमसोः समानतां दर्शयंति सुखदुःखकारिणोः ॥९२-९॥

भावार्थ—जो ऐसा कहते हैं कि दिन व रात दोनोंमें भोजन समान है, वे पुण्य व पापको समान कहते हैं, वे प्रकाश व अन्धकारको समान बताते हैं व सुख व दुःखके कारणको समान कहते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि दिनमें भोजन दयाका अंग है, धर्मरूप है, पुण्यरूप है, जब कि रात्रिको भोजन पापरूप है, अधर्म है।

श्लोक—शुद्ध तत्वं न जानंते, न सम्यक्तं शुद्ध भावना।
श्रावकं तत्र न उत्पाद्यं, अनस्तमितं न शुद्धए॥ ३०४॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध तत्वं न जानंते) जो कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मीक तत्वको नहीं समझते हैं (न सम्यक्तं शुद्ध भावना) न उनके सम्यग्दर्शन है न शुद्ध आत्मीक तत्वकी भावना है (तत्र श्रावकं न उत्पाद्यं) वहां श्रावकपना नहीं उत्पन्न होसक्ता (अनस्तमितं न शुद्धए) उनको रात्रिका आहार त्याग कर देना उनकी आत्माकी शुद्धिके लिये कारणभूत नहीं है।

विशेषार्थ—यहां यह दिखलाया है कि सम्यक्त सहित ही वह रात्रिभोजन त्याग व्रत उपकारी है व मोक्षका साधक है। यदि कोई सम्यक्ती नहीं है और वह शुद्ध तत्वकी भावना नहीं करता है तो उसका त्याग व नियम व व्रत सर्व पुण्य बन्धकारक नहीं होगा। विना सम्यक्तके श्रावकपना नहीं होसक्ता है। इसलिये श्रावकको मात्र हिंसाके बचावके लिये ही रात्रिमें भोजन नहीं करना

चाहिये। व उस व्रतके बदलेमें मुझे पुण्य होगा ऐसा निदान न करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक शुद्ध भावसे रात्रिभोजन त्याग व्रत पालना चाहिये। सम्यक्तीके रात्रिभोजनके त्यागका फल विशेष होता है। वह रात्रिके बहुत समयको धर्मध्यानमें लगाकर सफल करता है।

अमितगति श्रावकाचारमें फल बताया है—

ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः सर्वयाचितविधानपण्डिताः। सर्वलोकपतिपूजनीयता, रात्रिभुक्तिविमुखस्व जायते ॥ ६४-९ ॥

भावार्थ—सर्व वांछित कार्य करनेमें समर्थ ऐसी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी विभूतियें व सर्व इन्द्रादिसे पूज्यनीयपना रात्रिभोजन त्यागीके प्राप्त होता है। वास्तवमें ऐसा व्रती बडा ही संतोषी दयावान आत्मानुभवी होता हुआ उत्तम फल पाता है।

श्लोक—जे नरा शुद्धदृष्टी च, मिथ्या माया न दिष्टते।
देवं गुरुं श्रुतं शुद्धं, तं अनस्तमितं व्रतं ॥ ३०३ ॥

अन्वयार्थ—(जे नरा शुद्धदृष्टी च) जो मानव शुद्ध सम्यग्दृष्टी हैं (मिथ्या माया न दिष्टते) जिनमें मिथ्यात्व व मायाचार नहीं दिखलाई पडता है, जो (शुद्धं देवं गुरुं श्रुतं) शुद्ध वीतराग देव, वीतरागी साधु व वीतराग विज्ञानमय शास्त्रको मानते हैं (तं अनस्तमितं व्रतं) उनहीका रात्रिभोजन त्याग व्रत सफल है।

विशेषार्थ—यहां यह दिखलाया है कि कोई रात्रिभोजन मात्र त्यागकर अपनेको धर्मात्मा श्रावक मान ले तो वह सच्चा श्रावक गृहस्थ नहीं होसक्ता। हरएक मानवको जो इस व्रतको पाले शुद्ध सम्यग्दृष्टी होना चाहिये–उसके भीतर भेदविज्ञानके प्रतापसे आत्मा निजस्वभावरूप अनुभवमें आरहा हो, जिनको जीवादि सात तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान हो, जिनमें न तो मिथ्यात्व हो, न कोई मूढता हो, न कोई मायाचार हो, सरल शुद्ध भावसे जिनकी श्रद्धा जैन धर्मके तत्वोंमें हो तथा जो सर्वज्ञ वीतराग देवको ही देव, निर्ग्रंथ वीतरागी साधुको ही गुरु, स्याद्वादनयसे वस्तुके अनेकांत स्वरूपको बताने व आत्माको वीतराग विज्ञानके मार्गपर चलानेका उपदेश देनेवाले शास्त्रको न मानते हो। ऐसा सम्यग्दृष्टी श्रावक अहिंसा तत्वका प्रेमी व आत्मध्यानका अभ्यासी होगा। दिव-

समें संतोषपूर्वक शुद्ध भोजन करना श्रावकके आत्मध्यानमें सहायक होगा, व उसके अहिंसा व्रतको दृढ करेगा। रात्रिको वह भोजन सम्बन्धी आरंभसे विरक्त हो, खानपानकी चर्चासे अलग हो अपना समय धर्मध्यानमें देसकेगा। जो आत्मज्ञानी होगा उसीके सच्चा रात्रिभोजन त्याग व्रत होगा।

पानी छानना ।

श्लोक—पानी गालितं येनापि, अहिंसा चित्त शंकए ।
विलछितं शुद्ध भावेन, फासू जल निरोधनं ॥ ३०४ ॥

अन्वयार्थ—(येनापि पानी गालितं) जिस किसीने भी पानीको छाननेकी विधि की वह वही श्रावक होगा (अहिंसा चित्त शंकए) जिसके चित्तमें अहिंसाके पालनेका भय होगा वह (शुद्ध भावेन विलछितं) शुद्ध भावसे विलछन पहुंचावेगा तथा (फासू जल निरोधनं) प्राशुक जलको बंद रक्खेगा–ढका रक्खेगा।

विशेषार्थ—अब श्रावककी त्रेपन क्रियाओंमें जो पानी छाननेकी आज्ञा है उसपर ग्रंथकर्ताने प्रकाश डाला है कि पानीके छाननेकी विधि वही करेगा जो अहिंसाव्रत भलेप्रकार पालनेका उद्योगी होगा व स्थावर व त्रसकी हिंसासे भयभीत होगा। विना छना पानी काममें लेनेसे अनगिनती त्रस जंतुओंका घात होता है। दयावान गृहस्थ गाढेके दोहरे छन्नेसे कूप, वावडी, नदी आदिका पानी सम्हालकर छानेगा, एक वर्तनसे दूसरे वर्तनमें छानेगा। छन्ना इतना बडा होना चाहिये कि दोहरा करनेपर वर्तनके मुखसे तीनगुणा चौडा हो ताकि विना छना पानी वर्तनमें न आवे। पानी छानकर उसका विलछन या जीवानी वहीं सम्हालकर पहुंचा देनी चाहिये जहांसे पानी भरा गया हो। छना पानी दो घडी या ४८ मिनटसे अधिक नहीं चल सक्ता है इसलिये पुनः पुनः छाननेकी जरूरत पडेगी। उचित है कि सब विलछन एक वर्तनमें एकत्र कर लिया जावे। जब फिर पानी भरनेको जावे तब उसी वर्तनमें रखकर वर्तनको कूपमें डाल दे। नदी व सरोवरमें तो तुर्त छने पानीकी धारसे छन्नेको धोदेना चाहिये। इस छने पानीको सदा ढका हुआ रखना चाहिये, जिससे कोई जंतु उसमें पडे नहीं। ४८ मिनट बीतनेपर फिर छानकर वर्तना चाहिये। यदि प्राशुक करना हो तो लवंग, कसायला द्रव्य, निमक, मिरच आदि कोई पदार्थ कूट करके ऐसा मिलाया जावे

जिससे पानीका स्वाद व रंग बदल जावे। ऐसा प्राशुक पानी छः घंटे चल सकेगा। यदि उसको औटा लिया जावे तो वह चौवीस घंटे चलेगा। यदि अधन न हो, मात्र खूब गर्म हो तो १२ घंटे चलेगा। या १२ या २४ घंटेके भीतर २ उस प्राशुक पानीको वर्त लेना चाहिये, वह फिर छाननेसे कामके लायक नहीं होता है। जिसमें स्थावर जलकायिक जीव भी न हों उस जलको प्राशुक कहते हैं। दयावान गृहस्थ अनछने पानीका वर्ताव नहीं रक्खेगा।

श्लोक—जीवरक्षा षट्‌ कायस्य, शंकये शुद्ध भावना।
श्रावको शुद्धदृष्टी च, जलं फासु प्रवर्तते ॥ ३०५ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध भावना) शुद्ध सम्यग्दर्शनकी भावना करनेवाला (श्रावको शुद्धदृष्टि च) श्रावक शुद्ध दृष्टि रखनेवाला (षट्कायस्य जीवरक्षा) छः कायके प्राणियोंकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है इसलिये (फासु जलं प्रवर्तते) प्रासुक जल काममें लेता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टी श्रावकके भीतर सर्व प्राणी मात्र पर दयाभाव होता है। वह सर्व प्राणियोंपर मैत्रीभाव रखता है। इसलिये वह पृथ्वी कायिक, जल कायिक, वायु कायिक, अग्नि कायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक, इन शरीरधारी छहों जातिके प्राणियोंपर परम दयालु होता है। वह जीवरक्षाके हेतुसे पानी छाननेमें कोई प्रमाद नहीं करता है। यहां ग्रन्थकर्ताने लिखा है कि श्रावक प्रासुक जलका व्यवहार करता है। इससे पता चलता है कि प्राचीन कालमें यही रीति होगी कि पानीको छानकर गर्म कर लेते होंगे इससे बारबार छाननेका काम मिट जाता है। तथा प्राशुक जल बहुत मर्यादाका बहुत देरतक विना चिंताके वर्ता जाता है। उसमें न तो त्रस जंतु पैदा होते हैं न स्थावर। गृहस्थ श्रावकके यहां ऐसा रिवाज होना उचित दीख पडता है। इसतरह प्राशुक जल गृहमें रखनेसे मुनि आदि पात्रोंको बडी सुगमतासे दान होसकता है। पुनः पुनः छाननेमें प्रमाद होना संभव है। जलको छानके तुर्त प्राशुक कर लिया गया, अब छाननेमें प्रमादको अवकाश भी न रहा, यह प्रवृत्ति उचित मालूम पडती है।

सर्व काम प्राशुक जलसे ही करना उचित है। यद्यपि इसमें एकदफे जलकायिक जंतुओंकी हिंसा होती है परंतु मर्यादा तक उसमें ऐसे जीव उत्पन्न न होंगे न फिर उनके घातकी जरूरत होगी।

श्लोक—जलं शुद्धं मनः शुद्धं, अहिंसा दया निरूपणं।
शुद्ध दृष्टी प्रमाणं च, अव्रत श्रावक उच्यते ॥ ३०६ ॥

अन्वयार्थ—(जलं शुद्धं मनः शुद्धं) जलकी शुद्धतासे मनकी शुद्धता होती है (अहिंसा दया निरूपणं) अहिंसा तथा दयाका पालन होता है (शुद्ध दृष्टी प्रमाणं च) जिसका सम्यक्त निर्मल है व ज्ञान सम्यक् है वही (अव्रत श्रावक उच्यते) अविरत श्रावक कहा जाता है।

विशेषार्थ—शुद्ध प्रासुक जल पीनेसे मनके विचारोंमें निर्मलता रहती है। यह कहावत प्रसिद्ध है—"जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीवे पानी वैसी बोले वाणी।" वास्तवमें पुद्गलका असर जीवके भावोंमें और जीवोंके भावोंका असर पुद्गलपर पडता रहता है, जहांतक आत्मा अशुद्ध है। पुद्गलके कारण उसकी शुद्ध शक्ति आच्छादित है। जब मन या आत्माका अशुद्ध उपयोग प्रसन्न होता है, सर्व शरीर सुख दिखता है, रुधिरका संचार ठीक होता है, भोजन ठीक पाचन होता है, उसी तरह जब शरीर निर्बल, अस्वस्थ व खेदित होजाता है, थक जाता है तब जीवोंके अशुद्ध भाव म्लानित व ढीले पड जाते हैं। मादक पदार्थोंके खाने पीनेसे बुद्धि उन्मत्त होजाती है। आत्मध्यान करनेसे शरीर प्रफुल्लित व निरोग होजाता है, इसी तरह शुद्ध खानपान करनेसे उससे रुधिर व वीर्य शुद्ध होता है। जिसका असर सर्व शरीरपर पडता है-उपयोगपर भी असर पडता है। जो मोक्षमार्गका पंथी है चाहे वह अविरत सम्यग्दृष्टी क्यों न हो उसे शुद्ध खानपान करके अपने भावोंको शुद्ध रखना चाहिये तथा अहिंसा पालना चाहिये। अशुद्ध खानपानका राग हटनेसे भाव अहिंसा व अशुद्ध खानपानमें जो प्राणी घात होता था वह नहीं होता है इससे द्रव्य अहिंसा पलती है, जीवोंकी रक्षा हो यह शुभ राग होता है। इस तरह दयाका पालन होता है। जो शुद्ध जल पीवे उसको सम्यग्दृष्टी व सम्यग्ज्ञानी होना चाहिये। तब ही वह अविरत सम्यग्दृष्टी होगा। मात्र पानी छानकर पीनेसे ही कोई जैनी नहीं होसकेगा, उसे आत्मानुभवी व संसार शरीर भोगोंसे वैरागी होना चाहिये।

श्रावकके छः नित्यकर्म।

श्लोक—अव्रतं श्रावकं येन, षट्कर्म प्रतिपालए।
षट्कर्म द्रविधश्चैव, शुद्ध अशुद्ध पश्यते ॥ ३०७ ॥

अन्वयार्थ—(अव्रतं श्रावकं येन) जो अव्रती श्रावक है उसको भी (षट्कर्म प्रतिपालए) छः नित्यकर्म पालने चाहिये (षट्कर्म द्रविधश्चैव) वे छः कर्म दो प्रकारसे हैं (शुद्ध अशुद्ध पश्यते) कोई शुद्ध कोई अशुद्ध दिखाई पडते हैं।

विशेषार्थ—श्रावकोंको व्रतोंका नियम न होनेपर भी सम्यग्दर्शनकी दृढताके लिये तथा सम्यक्चारित्रपर आरूढ होनेकी तैयारी करनेके लिये नित्य छः कर्म पालने चाहिये-देव पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप तथा दान। इनके पालनसे परिणामोंमें निर्मलता व आत्मभावना होती है, कषायोंकी मंदता होती है, परिणाम उदार होते हैं, जगतके मानव इन कर्मोंको करते हुए दिखलाई पडते हैं। कोई तो शुद्ध रीतिसे पालते हैं, कोई अशुद्ध रीतिसे पालते हैं। मिथ्यात्व सहित सर्व कर्म अशुद्ध हैं। सम्यक्त सहित सर्व कर्म शुद्ध हैं। जहांपर यह आशय या अभिप्राय है कि मुझे पुण्यका लाभ हो जिससे धन, पुत्र, राज्य, स्वर्गके भोग, देवियोंका समागम प्राप्त हो वहांपर बाहरमें यथार्थ दीखनेवाले छः कर्म किये हुए भी अशुद्ध कहे जाते हैं। क्योंकि अभिप्रायकी मलीनता साथमें है। जहां आशय मात्र आत्मशुद्धिका है, निर्वाणका है-वहां ये षट्कर्म शुद्ध कहे जाते हैं। क्योंकि वह ज्ञानी इन छः कर्मोंमें भी शुद्ध आत्मीक भावकी खोज कर रहा है।

श्लोक—शुद्ध षट्कर्म जानीते, भव्यजीव रतो सदा।
अशुद्धं षट्कर्म रत, अभव्य जीव न संशयः ॥ ३०८ ॥

अन्वयार्थ—(भव्य जीव) भव्य जीव जो मोक्षगामी है सम्यक्ती है वह (शुद्ध षट्कर्म जानीते) शुद्ध छः कर्मोंको समझता है और (सदा रतः) निरंतर उनके पालनमें लीन रहता है (अशुद्धं षट्कर्म रत) जो अशुद्ध षट्कर्ममें लीन है वह (अभव्य जीव न संशयः) अभव्य जीव है इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—यहां भव्य अभव्यका स्थूलपने कथन है, सूक्ष्मदृष्टिसे कथन नहीं है। यहां सम्यक्तीको

व सम्यक्तके सन्मुखको, व्यवहार सम्यग्दृष्टीको भव्य कहा है। जिसको शुद्ध आत्माकी रुचि है व आत्माके पवित्र करनेका चाव है तथा जिसको शुद्ध आत्माकी रुचि न होकर विषयोंके भोगकी रुचि है उसको अभव्य कहा है। भव्य जीव देवपूजादि छहों कार्योंका यथार्थ आशय समझता है कि ये मात्र आलम्बनरूप हैं, शुभ रागरूप हैं, परन्तु उनहीके सहारेसे शुद्ध भावका लाभ होसकेगा ऐसा जानता है इसलिये शुद्ध भावोंकी खोज करता हुआ व शुद्ध भावोंकी तरफ दृष्टि रखता हुआ वह ज्ञानी देवपूजादि छः कर्मोंको करता है तो उसे इनके भीतरसे स्वात्मानुभव होजाता है। देवपूजामें जिनेन्द्र गुणगान करते हुए जब उपयोग शुद्ध गुणोंके मननमें तन्मय होजाता है तो तुरत शुद्ध भाव जग जाता है। गुरुभक्ति करते हुए आत्मध्यानी गुरुकी संगतिसे भावोंमें आत्मध्यान जग उठता है। शास्त्र स्वाध्यायमें, मुख्यतासे अध्यात्म ग्रंथोंको पढनेसे भावोंमें आत्मानुभव झलक जाता है। संयमका विचार करते हुए, प्रतिदिन सवेरे १७ नियम लेते हुए ज्ञानीको आत्मसंयमका भाव आजाता है। प्रतिदिन सवेरे व शाम सामायिक करते हुए साक्षात् आत्मानुभव प्राप्त कर लिया जाता है। सम्यग्दृष्टीके श्रावक, तीन प्रकार पात्रोंमेंसे किसीको दान देते हुए, उनकी सम्मुखतासे रत्नत्रयमें भक्ति होते होते अभेद रत्नत्रय या स्वात्मानुभूतिमें पहुँच जाना होजाता है। भव्य जीव पुण्यकी प्राप्तिका आशय बिलकुल नहीं रखता है। केवल शुद्धोपयोगके अभिप्रायसे इन छः कर्मोंको साधता है। इसी कारण उसके जितने अंश वीतरागता होती है उतने अंश भावसे बंध न होकर कर्मकी निर्जरा होती है व जितने अंश सरागता होती है उतने अंश कर्मका बंध होता है। खेद है मिथ्यादृष्टी जीव इस रहस्यको नहीं पहचानता है। वह लोभके लिये लाभ रहित देवकी भक्ति आदि करता हुआ मानो मैल लपटनेके लिये मैलको जलसे धोता है, वह संसारमार्गी ही है। पुण्य बांधकर फिर देव होकर फिर एकेंद्रियादि पर्यायोंमें रुलनेवाला है।

श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें कहा है—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः। स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो कोई धन रहित पुरुष इसलिये धन कमावे कि धन कमाकर दान करूंगा व दानसे पुण्य बांधूंगा तो वह ऐसा ही मूर्ख है जो अपने शरीरको इसलिये कीचडसे लपटे कि फिर स्नान करके साफ कर लूँगा। अभव्यकी क्रिया जब संसारवर्द्धक है तब भव्यकी संसार छेदक है।

श्लोक—अशुद्धं अशुचिं प्रोक्तं, अशुद्धं अशाश्वतं कृतं !
शुद्धं मुक्तिमार्गस्य, अशुद्धं दुर्गति भाजनं ॥ ३०९ ॥

अन्वयार्थ—(अशुद्धं अशुचिं प्रोक्तं) अशुद्ध षट्कर्म अपवित्र कहे गए हैं। (अशुद्धं अशाश्वतं कृतं) अशुद्ध षट्कर्म शाश्वत नहीं हैं, कल्पित हैं। (शुद्धं मुक्तिमार्गस्य) शुद्ध षट्कर्म मोक्षमार्गके साधक हैं। (अशुद्धं दुर्गतिभाजनं) अशुद्ध षट्कर्म दुर्गतिके कारण हैं।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व सहित जो षट्कर्मोंका सेवन है वह अशुद्ध है, अपवित्र है, कल्पित है। वह अनादिका सनातन मार्ग नहीं है, मनोकल्पनासे चलाया हुआ है। अशुद्ध षट्कर्मके सेवनका फल कुगतिमें भ्रमण है, जब कि शुद्ध षट्कर्म सेवनका फल परम्पराय मोक्ष है।

मिथ्यात्व दो प्रकारका है—एक अन्तरंग या अग्रहीत, दूसरा बहिरंग या ग्रहीत। अन्तरंग मिथ्यात्वके होते हुए व व्यवहार मिथ्यात्वके न होते हुए यह प्राणी कुदेवादिकी भक्ति तो नहीं करता है न कुगुरुकी सेवा करता है न कुशास्त्रोंको पढता है न अपात्रोंको दान देता है। जैनधर्मके अनुसार सर्व बाहरी चारित्र पालता है। परन्तु अन्तरंगमें शुद्धात्माकी रुचि नहीं प्राप्त हुई है, आत्मानुभव नहीं है किन्तु विषयवासना ही वर्त रही है, ऐसा प्राणी यद्यपि अतिशय रहित पुण्यका बंध कर लेता है व उससे देवादि गति पालेता है, परन्तु फिर वह एकेन्द्रियादि पर्यायोंमें जाकर दुःख उठाता है। उसका संसार कभी नाश नहीं होसक्ता। अन्तरंग मिथ्यादर्शन सहित व्यवहारसे योग्य षट्कर्मका साधन भी मोक्षमार्ग नहीं है। यदि शुद्धात्मानुभवकी रुचि सहित व्यवहार षट्कर्मका साधन करे तो मोक्षमार्ग व्यवहारनयसे कहा जासक्ता है। जिनके व्यवहारमें भी मिथ्यात्व है, जो कुदेवादिकी भक्ति करते हैं, अपात्रोंको दान देते हैं, कुशास्त्रोंको पढते हैं, हिंसात्मक क्रियाको धर्म मानते हैं, उनके तो व्यवहारमें भी अशुद्ध षट्कर्म हैं। ये पापको बांधनेवाले व दुर्गतिमें पटकनेवाले हैं।

श्लोक—अशुद्धं प्रोक्तश्चैव, देवलि देवंपि जानते।
क्षेत्र अनंत हिंडंते, अदेवं देव उच्यते ॥ ३१० ॥

अन्वयार्थ—(अशुद्धं प्रोक्तश्चैव) अशुद्ध देवभक्ति यह कही गई है जो (देवलि देवंपि जानते) मंदिरमें

ही देवको जाने। जो (अदेवं देव उच्यते) अदेवको देव कहता है वह (अनंत क्षेत्र हिंडंते) अनंत क्षेत्र परावर्तन करता है।

विशेषार्थ—अब यहां अशुद्ध षट्कर्मका विस्तार कहते हैं। पहले देव पूजा है। अशुद्ध देव पूजा वह है जो मंदिरमें ही देव विराजित हैं ऐसा जाने परन्तु यह न जाने कि मंदिरमें देवकी मूर्ति मात्र स्थापनारूप है, देवका स्वरूप बतानेवाली है उसमें साक्षात् देव नहीं है। साक्षात् देव तो सिद्ध भगवान मोक्ष क्षेत्रमें है या अपना आत्मारूपी देव शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध परमातम देव है। जैसे किसी बादशाहकी तसवीर मात्र इसलिये होती है कि उससे बादशाहके स्वरूपका ज्ञान हो तथा उसका आदर वह बादशाहका आदर व उसका निरादर बादशाहका निरादर समझा जाता है। कोई मूर्ख यह भले ही समझे कि चित्रमें बादशाह साक्षात् है, परन्तु बुद्धिमान ऐसा कभी नहीं समझेगा। वह उसे बादशाहकी प्रतिमूर्ति मात्र समझेगा। इसी तरह भगवानकी मूर्तिको साक्षात् भगवान समझना मूर्खता है। वह भगवानकी स्थापना है जिसमें भगवानके ध्यानमय रूपकी कल्पना की गई है। उस रूपके देखनेसे ध्यानमय स्वरूपकी याद आती है व उसके द्वारा की गई भक्ति भगवानकी ही भक्ति समझी जाती है। उसे कोई बुद्धिमान साक्षात् महावीर भगवान नहीं मान सक्ता, मात्र उनकी स्थापना उनके स्वरूपकी द्योतक है। जो कोई मोक्ष प्राप्त आत्माको व अपने आत्माके असली स्वभावको जो साक्षात् देव है उसको न समझकर मात्र मूर्तिको ही भगवान मानके पूजे तो उसकी मूढता ही कही जायगी। वह कभी शुद्ध तत्वपर नहीं पहुँचेगा। इसी तरह जो अदेव हैं जिनका स्वरूप पहले कहा जाचुका है। जैसे गौ, घोडा, हाथी, पीपल, वगैरह आदि, उनको देव मानकर पूजना अशुद्ध देवभक्ति है। जो मिथ्यात्वी जीव ऐसी मूढ भक्तिमें लगे हैं वे ज्ञानावरणीय कर्मका विशेष बन्ध कर अनंत दफे क्षेत्र परिवर्तनमें जन्म धार धार करके मरेंगे और जीवनके कष्ट उठाएँगे।

श्लोक—मिथ्या माया मूढदृष्टी च, अदेवं देव मानते।
प्रपंचं येन कृतं सार्द्धं, मान्यते मिथ्यादृष्टितं ॥ २११ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्या माया मूढदृष्टी च) जो मिथ्यात्वी है, मायाचारी है, मूढ श्रद्धा सहित है वह

(अदेवं देव मान्यते) अदेवको देव मान लेता है (सार्द्धं येन प्रपंचं कुर्वं) साथमें वह प्रपंच करता है (मान्यते मिथ्यादृष्टिं) जो ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टी है।

विशेषार्थ—जिनमें देवपना बिलकुल नहीं है ऐसे अदेवोंको जो देव मानके पूजते हैं वे वास्तवमें संसारकी वासनाओंमें लिप्त होते हैं। उनको यदि किसीने कह दिया कि अमुक देवकी मान्यता करनेसे धन लाभ होगा, पुत्र लाभ होगा, यश लाभ होगा, जयका लाभ होगा तो वे अज्ञानी इस बातका विना विचार किये कि इनमें देवके लक्षण सर्वज्ञ वीतरागपना मिलते हैं या नहीं, लोभके वशीभूत हो चाहे जिस कुदेवको या अदेवको पूजने लग जाते हैं, उनकी यह मूढभक्ति मिथ्यात्व रूप है। मायाचार रूप यों है कि कपटसे भरी हुई है। इस मूढभक्तिके कारण उसको अनेक प्रपंच रचना पडते हैं, अनेक आडम्बर करने पडते हैं। इस प्रकारकी कुदेवकी या अदेवकी पूजा भक्तिसे अंतरंग मिथ्यात्व दृढ होता है। मिथ्यादृष्टी ऐसी अशुद्ध देवकी भक्ति किया करता है। इससे रागद्वेष मोहको बढा ही लेता है, घोर पाप बांधकर दुर्गतिका पात्र होता है।

श्लोक—ग्रन्थं राग संयुक्तं, कषायं रमते सदा।
शुद्ध तत्वं न जानंते, ते कुगुरुं गुरु मान्यते ॥ ३१२ ॥
मिथ्या माया प्रोक्तं च, असत्यं सत्य उच्यते।
जिनद्रोही वच लोपंते, कुगुरुं दुर्गति भाजनं ॥ ३१३ ॥

अन्वयार्थ—(रागसंयुक्तं ग्रन्थं) राग सहित धन धान्यादि परिग्रहमें (कषायं) व क्रोधादि कषायोंमें जो (सदा रमते) सदा रमते हैं (शुद्ध तत्वं न जानंते) वे शुद्ध आत्मीक तत्वको नहीं पहचानते हैं (ते कुगुरुं) वे कुगुरु हैं उनको (गुरु मान्यते) मिथ्या अज्ञानी मूढबुद्धि गुरु मान लेता है। (मिथ्या माया प्रोक्तं च) वे कुगुरु मिथ्यात्व व मायाचारसे पूर्ण उपदेश देते हैं। (असत्यं सत्य उच्यते) जो असत्य है उसे सत्य कहते हैं। (जिनद्रोही वच लोपंते) वे जिनेन्द्र भगवानके मतके द्रोही हैं। तथा जिन वचनका लोप करके वे कथन करते हैं (कुगुरुं दुर्गतिभाजनं) वे कुगुरु दुर्गतिके पात्र हैं।

विशेषार्थ—यहां अशुद्ध कुगुरु भक्तिको बताया गया है। कुगुरुका स्वरूप पहले बहुत विस्तारसे

कहा जाचुका है। परिग्रह आरंभ रहित आत्मध्यानी वैरागी अनेकांत मतके ज्ञाता निर्ग्रंथ साधु ही सुगुरु हैं। इनके सिवाय जो परिग्रहधारी, विषयानुरागमें व मान लोभ माया कषायमें अनुरक्त हैं, जिनको शुद्ध आत्मीक तत्वका अनुभव नहीं है न द्रव्योंका व तत्वोंका व पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है, जो स्वयं मिथ्याती हैं व मिथ्यात्वका ही उपदेश देते हैं, जो मायाचारसे परिपूर्ण होते हुए अपना स्वार्थ साधन करते हैं, जो असत्य है, एकांत है, अवस्तु है उसे सत्य कहते हैं, जैन धर्मका भीतरसे द्रोह रखते हैं, वे जिन वचनका लोप हो ऐसा उपदेश करते हैं, वीतराग विज्ञानमय धर्मको न तो वे स्वयं पालते हैं न दूसरोंको उस मार्गपर लेजाते हैं, वे कुगुरु पाषाणकी नाव समान हैं, स्वयं संसारमें डूबते व दूसरोंको डुबाते हैं।

संसारमें बहुतसी रागवर्द्धक हिंसा पोषक पशुओंकी बलि आदि क्रियाएं व मूढतासे भरा हुआ पूजा पाठ कुगुरुओंने ऐसा चला दिया है जिसके द्वारा वे द्रव्यके कमानेका उपाय कर लेते हैं। उस द्रव्यसे मनमाने विषयसेवन करते हैं, महन्त बनकर रहते हैं, न्याय अन्याय, भक्ष्य अभक्ष्यका विचार छोडकर वर्तन करते हैं, अपनेको साधु, गुरु, गुसाईं व महन्त कहते हुए भी राजाओंसे भी अधिक भोगविलास करते हैं, भक्तोंको नाना प्रकार लौकिक लोभ दिखाकर उनसे धन संग्रह करते हैं। जैसे वे कुगुरु राग रंगसे लिप्त हैं वैसे वे पूज्य परमात्मा ईश्वरके भीतर भी रागभावकी कल्पना कर लेते हैं। वीतराग विज्ञानमय जैन मार्गका खण्डन करते हैं। अनेकांतको संशय वाद बताते हैं। परम निस्पृही जिनदेवके वीतराग स्वरूपकी निंदा करते हैं। ऐसे कुगुरुओंकी भक्ति अशुद्ध कुगुरु भक्ति है वह न करनी चाहिये। अथवा जो अपनेको जैन गुरु मानके परिग्रह रखते हैं, आरम्भ करते हैं, बाहरी व्यवहारपूजा पाठ करानेमें लीन हैं, कभी शुद्ध आत्मीक तत्वका न स्वयं मनन करते हैं न भक्तोंको उपदेश देते हैं, मात्र कथाएँ सुनाकर मनको रंजायमान करके अपनी मान्यता कराते हैं, वे भी कुगुरु ही हैं, उनकीभक्ति भी अशुद्ध गुरुभक्ति है।

अथवा जो जैनका साधु चारित्र पालते हुए नग्न दिगम्बर रहते हुए, ख्याति लाभ पूजादिकी चाह वश वर्तन करते हैं, जैन भेष होकर भी ईर्या समिति नहीं पालते हैं भाषा समिति नहीं पालते हैं, उद्दिष्ट भोजन कर लेते हैं, शीत उष्ण नग्नादि परीषहोंके जीतनेमें कायर हैं। न स्वयं

आत्माका मनन करते न दूसरोंको उपदेश देते हैं वे भी कुगुरु हैं। उनकी भक्ति भी अशुद्ध कुगुरु भक्ति है। ऐसे कुगुरुओंकी सेवा उन कुगुरुओंका भी बिगाड करनेवाली है व उनके पूजकोंका भी बिगाड करनेवाली है, क्योंकि यह मूढ भक्ति संसार वर्द्धक है।

मिथ्या सामायिक।

श्लोक—अनेक पाठ पठनं च, वंदना श्रुत भावना।
शुद्धतत्व न जानंते, सामायिक मिथ्या उच्यते ॥ ३१४ ॥

अन्वयार्थ—(अनेक पाठ पठनं च) अनेक पाठोंका पढना (वंदना श्रुत भावना) वंदना करनी, शास्त्रकी भावना करनी। यदि (शुद्ध तत्वं न जानंते) शुद्ध आत्मीक तत्वका ज्ञान नहीं है तौ यह (सामायिक मिथ्या उच्यते) सामायिक मिथ्या कहलाती है।

विशेषार्थ—यहां तीसरे अशुद्ध कर्म स्वाध्यायका कथन है। शास्त्र पढनेका नाम भी स्वाध्याय है तथा अपने आत्माके मननको भी स्वाध्याय कहते हैं। यहां सामायिकको भी स्वाध्यायमें गर्भित करके कहा है कि जो कोई अनेक पाठोंको पढें, शास्त्रोंको पढें, तीर्थंकरोंकी वन्दना करे, स्तुति करे, प्रतिक्रमण करे, प्रत्याख्यान करे, कायोत्सर्ग करे, णमोकार मंत्रका जप करे परंतु शुद्ध आत्माका यथार्थ तत्व न जाने, न माने न अनुभव करे तौ वह सच्ची सामायिक नहीं, अशुद्ध स्वाध्याय कर्म है। अथवा जो कोई एकांत नय पोषक व राग द्वेष वर्द्धक शास्त्रोंको पढें व विषय भोगोंकी इच्छासे राग-वर्द्धक, एकांतपोषक पाठ पढें, व रागी द्वेषी देवोंकी आराधनारूप जप करे, ध्यान करे सो भी अशुद्ध स्वाध्याय कर्म है। अशुद्ध स्वाध्याय व सामायिकका फल परिणामोंमें शांति व वैराग्य व आत्मानुभवकी रुचि उत्पन्न होना न होगा। किंतु कषायोंकी पुष्टिरूप भाव होगा जो ज्ञानावरणादि कर्मोंका तीव्र बंध करनेवाला होगा इसलिये अशुद्ध स्वाध्याय कर्म त्यागने योग्य है।

श्लोक—संयमं अशुद्धं येन, हिंसा जीव विराधनं।
संयम शुद्ध न जानंते, तत्संयम मिथ्या संयमं ॥ ३१५ ॥

अन्वयार्थ—(येन हिंसा जीव विरावनं) जिससे हिंसा हो, प्राणियोंका घात हो वह (अशुद्धं संयमं) अशुद्ध संयम है (संयम शुद्ध न जानंते) अथवा जो शुद्ध आत्म-संयमको नहीं जानते (तत्संयम मिथ्या संजमं) वह संयम भी मिथ्या संयम है।

विशेषार्थ—जो संयमका नाम तो लें परन्तु असंयम पालें वह साक्षात् मिथ्या संयम है। जैसे जिन नियम व्रतोंसे इंद्रियोंका स्वाद अधिक पुष्ट हो व प्राणियोंकी अधिक हिंसा हो वह हिंसाकारक संयम अशुद्ध असंयम है, असंयम ही है। जैसे दिनको अन्न न खाकर रात्रिको स्वादिष्ट फलाहार मिठाई आदि खाना और अपनेको व्रती संयमी मानना। इससे असंयम ही हुआ क्योंकि रात्रिको खाना हिंसाकारक है, स्वादिष्ट भोजन जिह्वाकी लोलुपता वर्द्धक है। कोई यह नियम ले कि मैं अन्न न खाऊँगा, कंदमूल खाऊँगा। इसमें संयम अशुद्ध ही हुआ क्योंकि कंदमूलके खानेमें अधिक हिंसा हुई। अन्नमें उतनी न होती। जहां मन व इंद्रिय वशमें रहें वहीं संयम होसक्ता है। जहां इन्द्रियोंका पोषण हो वह अशुद्ध संयम ही है।

अथवा कोई जैन शास्त्रानुसार श्रावकका बाहरी संयम पाले, रात्रिको अन्न न खावे, कंदमूल न खावे, रस चलित न खावे, रस त्यागे, उपवास करे, नित्य १७ नियमका विचार करे, अनेक प्रकारकी प्रतिज्ञाएँ पालें। परन्तु निश्चय संयम जो आत्माकी सामायिक है उसको न पहचाने, मन व इंद्रियोंके अगोचर जो आत्माराम है उसके अनुभवमें लीन न हो, आत्मानन्द रसका पान न करें तो वह संयम भी मिथ्या संयम है। केवल कुछ पुण्यकर्म बंधका कारण है, मोक्षका मार्ग नहीं। अशुद्ध संयमसे श्रावकको बचना योग्य है।

श्लोक—अशुद्धं तप तप्तं च, तीव्र उपसर्ग सहं।
शुद्धतत्वं न पश्यंते, मिथ्या माया तपं कृतं ॥ ३१६ ॥

अन्वयार्थ—(अशुद्धं तप तप्तं च) जो अशुद्धको तपते हैं (तीव्र उपसर्ग सहं) व कठिन कठिन शरीरके कष्टोंको सहन करते हैं परन्तु (शुद्धतत्वं न पश्यंते) शुद्ध आत्मतत्वका अनुभव नहीं करते हैं वे (मिथ्या माया तपं कृतं) मिथ्यात्व व मायाचारमय तप करते हैं।

विशेषार्थ—अशुद्ध तप वह है जहां शुद्ध तत्वका ज्ञान व अनुभव न हो किन्तु नानाप्रकार

शरीरको कष्ट दिया जावे, क्षुधा तृषा दंश मशकादिका परीषह तथा देव, मनुष्य, पशु व अचेतन कृत उपसर्ग सहन किये जावे। जो कोई जैन शास्त्रोंके अनुसार अनशन, ऊनोदर आदि बारह प्रकार तप करे, नग्न रहे, शास्त्रोक्त शुद्ध आहार ग्रहण करे, कोई क्रिया शास्त्रके विरुद्ध न हो परंतु यदि आत्मीक ध्यान अग्निमें तपनरूप तप न हो तो वह अशुद्ध ही मिथ्या तप है। समयसारमें कहा है-

वदणियम्माणिधरन्ता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता। परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥ १६० ॥

भावार्थ—जो व्रत, नियम धारण करे, शील पाले तथा तप करे परंतु शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप परमार्थसे शून्य हो तो वह अज्ञानी ही है। सम्यक्त रहित द्रव्यलिंगी मुनिका तप अशुद्ध तप है। इसी तरह कोई श्रावक व्रत उपवास करे रस छोडे, कठिन २ तप करे, परंतु सम्यग्दर्शन रहित हो तो उसका सब तप मिथ्या तप है। यदि कोई बाहरसे भी मिथ्या तप पाले, पंचाग्नि तपे, भस्म रमावे, काष्ट जलावे, शरीर शोखे, वनफल खावे, एक हाथ ऊँचा करे, खडा रहे, अल्पाहार करे तो वह भी मिथ्या तप है अथवा कोई परको वश करनेके लिये नानाप्रकार तप करके अपना महत्व दिखावे वह भी मिथ्या व मायाचार सहित तप है। गृहस्थोंका भी वह तप जो शरीर-कष्टरूप है, हिंसारूप है व किसी मायाचारके अभिप्रायको लिये हुए है वह सब मिथ्या तप है।

श्लोक—दानं अशुद्ध दानं च, कुपात्रं दिंति सर्वदा।
व्रतभंगं कृतं मूढा, दानं संसारकारणं ॥ ३१७ ॥

अन्वयार्थ—(कुपात्रं दिंति सर्वदा दानं च) अपात्रोंको निरन्तर दिया हुआ दान (अशुद्ध दानं) अशुद्ध दान कर्म है (व्रतभंगं कृतं मूढा) इससे मिथ्यादृष्टी मूढ पुरुषोंका सम्यक्दर्शनका व्रत भी भंग होजाता है (दानं) ऐसा दान संसारका कारण है।

विशेषार्थ—अशुद्ध दान भी दो प्रकार है-एक तो सम्यग्दर्शन रहित कुपात्रोंको दिया हुआ दान यह भी संसार मूलक है, पुण्य बांधकर कुभोग भूमिमें जन्म कराता है। फिर भवनत्रिकादिमें फिर अन्य जन्ममें संसारका भ्रमण करानेवाला है। जिनका बाहरी चारित्र ठीक है शास्त्रोक्त है परन्तु अन्तरंगमें सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभव नहीं है वे कुपात्र हैं, यह भी सम्यक्त रहित दान होनेसे अशुद्ध दान है। दूसरा अशुद्ध दान वह है जो उनको दिया जाता है जो अपात्र हैं, जो बाहरी

चारित्र जिन शास्त्रसे विरुद्ध पालते हैं। जो एकांत व मिथ्या मतके पोषक हैं। जिनको दान देनेसे मिथ्यामतकी सराहना होती है वह बिलकुल मिथ्या दान है व पापका बंध करनेवाला है। गृहस्थ श्रावकको उचित है कि अपात्रोंको भक्तिपूर्वक दान न करें। दान करुणाभावसे हरएकको किया जासक्ता है, उसमें भक्तिकी जरूरत नहीं है। जिस दानमें सम्यक्तकी प्रतिष्ठा हो वही शुद्ध दान है यह पहले बता चुके हैं। अपात्र दान संसार भ्रमणका ही कारण है।

श्लोक—ये षट्कर्म पालंते, मिथ्या अज्ञान दिष्टते।
ते नरा मिथ्यादृष्टी च, संसारे भ्रमनं सदा ॥ ३१८ ॥

अन्वयार्थ—(ये षट्कर्म पालंते) जो कोई इन अशुद्ध छः कर्मोंको पालते हैं (मिथ्या अज्ञान दिष्टते) उनमें मिथ्यात्व व अज्ञान दिखलाई पडता है (ते नरा मिथ्यादृष्टी च) वे मानव मिथ्यादृष्टी ही हैं (संसारे भ्रमणं सदा) उनका सदा इस संसारमें भ्रमण रहेगा।

विशेषार्थ—जो कोई कुदेव पूजा करते हैं, कुगुरु सेवा करते हैं, मिथ्यात्व वर्द्धक शास्त्रोंका पठन करते हैं, हिंसाकारक संयम पालते हैं, कायक्लेशादि तप आत्मज्ञान रहित करते हैं तथा अपात्रोंको दान देते हैं इस तरह जो कोई इन छः गृहस्थोंके अशुद्ध षट्कर्म पालते हैं वे मिथ्या ज्ञानी व मिथ्या श्रद्धानी हैं। ऐसा मिथ्यादृष्टी मानव मिथ्या धर्मका पुरुषार्थ करते हुए मिथ्या फल ही पाते हैं। पाप ही बांधते हैं व दुर्गतिमें जाकर कष्ट पाते हैं। जिन गृहस्थोंको अपना आत्महित करना हो उनको विवेकपूर्वक पहचानना चाहिये कि कौन देव सच्चा है, कौन गुरु सच्चा है, तथा कौन धर्म सच्चा है। फिर उनकी ही भक्तिमें रहकर उनकी आज्ञा पालन करना चाहिये। यह भलेप्रकार समझना चाहिये कि रागद्वेष मोह संसार है व वीतरागमय आत्मज्ञान ही मोक्ष या मोक्षका उपाय है। यह प्राणी कषायोंके कारण जगतमें अनादिकालसे भ्रमण कर रहा है। जब जहां कषायोंकी पुष्टिको धर्म पोषा जावे तो वह उल्टा अधर्म सेवन ही है, धर्म नहीं होसक्ता है। जहां शुद्धात्म लाभपर दृष्टि है वह तो यथार्थ धर्म है। जहां सांसारिक सुख प्राप्तिकी भावना है वहीं अधर्म है। गृहस्थ श्रावकको बहुत विचारपूर्वक अपना श्रद्धान निर्मल करना चाहिये और सच्ची श्रद्धा सहित धर्माचरण करना चाहिये।

अमितगति श्रावकाचारमें कहा है—

मिथ्यात्वदूषणमपास्य विचित्रदोषं, संरूढसंसृतिवधूपरितोषकारि ।
सम्यक्त्वरत्नममलं हृदि यो विधत्ते, मुक्त्यंगनामितगतिस्त्वमुपैति सद्यः ॥ ९८-४ ॥

भावार्थ—बढती हुई संसार वधूके संतोष देनेवाले नानाप्रकार दोषसे पूर्ण मिथ्यात्वके दोषको दूर करके जो निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी रत्न हृदयमें धरते हैं वे अनंतज्ञान सहित मुक्ति स्त्रीको शीघ्र ही पाते हैं।

श्लोक—ये षट्कर्म जानंते, अनेय विभ्रम कृते ।
मिथ्यात्व गरुवे संते, दुर्गतिभाजन ते नरा ॥ ३१९ ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो कोई (अनेय विभ्रम कृते) अनेक प्रकार मिथ्याभावको करनेवाले (षट्कर्म) छः अशुद्ध कर्मोंको (जानंते) जानते हैं (ते नरा) वे मानव (मिथ्यात्व गरुवे संते) मिथ्यादर्शनसे भारी होते हुए (दुर्गतिभाजन) दुर्गतिके पात्र होते हैं।

विशेषार्थ—जिनको शुद्ध देवपूजादि षट्कर्मका न ज्ञान है न श्रद्धान है न उसका आचरण है वे अशुद्ध षट्कर्मको ही करने योग्य कर्म मान लेते हैं। अनेक प्रकारके मिथ्या भावोंमें पड़े हुए अनेक प्रकारके कुदेवोंकी व अदेवोंकी भक्ति करते हैं, कुगुरुओंकी सेवा करते हैं, रागद्वेष मोहवर्द्धक ग्रंथोंको पढते हैं, असंयम व हिंसाको संयम मान लेते हैं, मात्र कायक्लेशको तप ठान लेते हैं, अपात्रोंको दान देकर संतोष मान लेते हैं ऐसे अशुद्ध षट्कर्मके सेवनेवालोंके परिणामोंमें कषायोंके पोखनेका ही भीतरी अभिप्राय रहता है। या तो वे पुत्र व सम्पत्तिके लोभसे या स्वर्गादि सुखोंके लोभसे षट्कर्म करते हैं या अपनी मान बडाई पुष्ट करनेको या किसी तरहके कपट भावसे करते रहते हैं। जैसा अभिप्राय होता है वैसा ही फल होता है। कषाय पुष्टिका अभिप्राय संसारका ही बढानेवाला है। वे दुर्गतिमें रुलते हुए जन्म-मरणके महान कष्ट पाते हैं। जहां आत्माकी शुद्धिके प्रयोजनसे देव पूजादि षट्कर्म किये जाते हैं वहीं मोक्षमार्गका उपाय होरहा है, ऐसा कहा जायगा। रागद्वेष मोह संसार है, जहां इनकी पुष्टि है वहां संसारकी पुष्टि है।

शुद्ध षट्कर्म विचार।

श्लोक—षट्कर्म शुद्ध उक्तं च, शुद्ध समय शुद्धं ध्रुवं।
जिनोक्तं षट्कर्मस्य, केवलि दृष्ट जिनागमे ॥ ३२० ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध षट्कर्म उक्तं च) अब शुद्ध षट्कर्मोंको कहा जाता है, जहां अभिप्राय (शुद्ध शुद्धं ध्रुवं समय) रागादि भावोंसे शून्य तथा ज्ञानावरणादिसे शून्य निश्चल शुद्धात्माका लाभ है वे ही शुद्ध षट्कर्म हैं। (जिनोक्तं षट्कर्मस्य) ये जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए षट्कर्म (केवली दृष्ट जिनागमे) केवलीकी परम्परासे जिनागममें प्रमाणिक कहे गए हैं।

विशेषार्थ—शुद्ध षट्कर्म वेही हैं जहां आत्माकी शुद्धताका अभिप्राय हो। देवपूजादि हरएक कार्यको करते हुए भावना परिणामोंकी शुद्धि की हो, शुद्धोपयोगकी प्राप्ति हो, अन्य कोई सांसारिक प्रयोजन जहां न हो। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीवको यह निश्चय होगया है कि उसका आत्मा वास्तवमें शुद्ध है, मात्र कर्म-कलंकसे मलीन होरहा है। इस कर्म-मैलके धोनेका उपाय निश्चय रत्नत्रय धर्म ही यथार्थ है जहां शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र है-जिसको आत्मानुभव कहते हैं। इसीसे कर्मोंका मैल कटता है। श्री जिनेन्द्र भगवानकी कही हुई वे ही छः क्रियाएं यथार्थ हैं जो शुद्धात्माकी तरफ लेजावें। जिन आगम परम पूज्य ऋषियोंके द्वारा निर्मापित है जिनका मूल श्रोत तीर्थंकर भगवानका उपदेश है, उस जिनवाणीमें जिन शुद्ध षट्कर्मोंके पालनेकी आज्ञा है उन्हें ही हरएक श्रद्धावानको पालना चाहिये। उनमें यही अभिप्राय है कि रागद्वेष मोह जो बंधके कारण भाव हैं उनको दूर किया जावे और वीतराग विज्ञानमय शुद्ध आत्मीक भावको झलकाया जावे, जहां रञ्च मात्र भी सांसारिक सुखकी भावना न हो। ख्याति लाभ पूजादिकी चाह न हो वहीं शुद्ध षट्कर्म है। पद्मनंदि मुनिने श्रावकाचारमें रत्नत्रयको मोक्षमार्ग कहकर शुद्ध षट्कर्म बताए हैं—

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते। मुक्तेः पंथा स एव स्यात्प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥ ६–१ ॥

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः। दानञ्चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ६–७ ॥

भावार्थ—प्रमाणसे निश्चय किया गया सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही धर्म कहा गया है, यही

मोक्षमार्ग है इसीलिये गृहस्थोंको नित्य प्रति देव पुजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छ कर्मोंको नित्य करना चाहिये।

श्लोक—देवं देवाधिदेवं च, गुरु ग्रंथ मुक्तं सदा।
स्वाध्याय शुद्ध ध्यायंते, संयमं संयमं श्रुतं ॥ ३२१ ॥
तपश्च अप्पसद्भावं, दानं पात्रं च चिंतनं।
षट् कर्म जिन प्रोक्तं, सार्धं शुद्ध दृष्टितं ॥ ३२२ ॥

अन्वयार्थ—(देवाधिदेवं च देवं) इन्द्रादि देवों करके पूज्यनीय वीतराग भगवानको देव मानके पूजे (सदा ग्रंथ मुक्तं गुरु) सदा ही परिग्रह रहित ही गुरु माने (शुद्ध स्वाध्याय ध्यायंते) शुद्ध आत्माका मनन रूपी स्वाध्यायको ध्यावे (संयमं सयमं श्रुतं) शास्त्रके कहे प्रमाण मन व इंद्रिय विरोध करके प्रतिज्ञा ले सो संयम है (तपश्च अप्प सद भावं) आत्माके स्वभावमें तपना सो ही तप है (दानं पात्रं च चिंतनं) पात्रोंको दान देनेका चिंतवन करना दान है (जिनप्रोक्तं षट् कर्मं) यह जिनेन्द्र कथित छः कर्म हैं (शुद्ध दृष्टितं सार्धं) इन सबके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शन होना उचित है।

विशेषार्थ—इन दो श्लोकोंमें छहों कर्मको बता दिया है जो शुद्ध षट्कर्म है। जहां शुद्धात्माकी ओर दृष्टि हो, आत्मानुभवकी तरफ प्रेम हो। जहां सच्चा सम्यग्दर्शन हो वहीं ही शुद्ध षट्कर्म होते हैं। वीतराग सर्वज्ञ अरहंत और सिद्धकी निरंतर भक्ति करें, जिनको सर्व ही मुनिगण, इन्द्रगण आदि नमन करते हैं। इनकी भक्तिके द्वारा शुद्धात्माका मनन करता रहे, तब ही यह शुद्ध देव-पूजा कर्म है। रागद्वेषादि अन्तरंग १४ प्रकार व क्षेत्र धनादि १० प्रकार बाह्य इन २४ प्रकारके परि-ग्रहसे रहित परम जितेन्द्रिय-सौम्यदृष्टि यथाजात नग्नरूप सहित, आत्मध्यानी ही जैन गुरु हैं। उनको गुरु मानके उनकी सेवा करके उनसे ज्ञानका लाभ लेवे यह शुद्ध गुरुभक्ति है। अनेक प्रका-रके शास्त्रोंको पढता हुआ व शुद्धात्माके मनन करानेवाले ग्रन्थोंको विशेष रूपसे पढके आत्माका मनन करना स्वाध्याय है। शुद्धात्माकी दृष्टिकी मुख्यता जिस पठनपाठनमें है वही शुद्ध स्वाध्याय है। आत्माके ध्यानके हेतु मनकी एकाग्रता प्राप्त करनेको जो जो भोग उपभोग बाधक हैं उनको

त्याग करें या उपभोगने योग्य पदार्थोंका नित्य सवेरे प्रमाण करके व उसी तरह चले सो शुद्ध संयम है। अनशन ऊनोदर रस त्याग आदि बाहरी तपोंको यथाशक्ति करता हुआ सवेरे-सांझ दो दफे कुछ देर एकांतमें बैठकर अपने शुद्ध आत्माके स्वभावमें तन्मय हो तप करे, सो शुद्ध तप है। उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार पात्रोंमेंसे जो मिल सके, उनको भक्तिपूर्वक दान देनेका विचार करके शुद्ध आहारदान औषधिदान, अभयदान व ज्ञानदान देना सो शुद्ध पात्रदान है। इस तरह शुद्ध षट्कर्मोंको जिनेन्द्र भगवानने कहा है। इनके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शनका होना अत्यंत आवश्यक है। सम्यक्त सहित ये षट्कर्म गृहस्थ श्रावकको परम्परासे मोक्षके कारण हैं। व उसी भवसे स्वर्ग गतिके देनेवाले हैं। शुद्धात्माकी भावना सहित ही जैनके षट्कर्म एक जिन भक्तके लिये आवश्यक हैं इस हीसे परम कल्याण है।

पांच परमेष्ठीका स्वरूप।

श्लोक—देवं च जिन उक्तं च, ज्ञान मय अप्प सद भावं।
अनंत चतुष्टय जुत्तं, चौदस प्राण संजुदो ॥ ३२३ ॥

अन्वयार्थ—(देवं च उक्तं च जिन) देव उसको कहा है जो जिन हों (ज्ञान मय अप्प सद भावं) ज्ञान मय आत्माके स्वभावमें लीन हों (अनंत चतुष्टय जुत्तं) अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख व अनंत वीर्य इन चार चतुष्टय सहित हों तथा (चौदस प्राण संजुदो) चार प्राण या दस प्राण सहित हों।

विशेषार्थ—यहां अरहंत परमात्माको पूज्यनीय आप्त देव कहा है। जो चार घातिया कर्मोंके व रागादिके जीतनेवाले जिन हों, जो निरंतर आत्माके रसमें तन्मय हों, जिनको अनंत ज्ञानादि चतुष्टय प्राप्त हों, जिनमें कोई प्रकारका अज्ञान व मोह न हो, जो शरीर सहित रहते हुए-इंद्रिय, बल, आयु व श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोंको धारते हैं या इनके भेदरूप दस प्राणोंको धारते हैं अर्थात् पांच इंद्रिय, तीन शरीरादि बल, आयु व श्वासोच्छ्वास ये १० प्राण जिनमें हों वे ही अरहंत देव हैं। यद्यपि ये १० बाहरी प्राण अरहंत भगवानमें होते हैं तथापि इनमेंसे कर्मके उदयसे शरीर व वचन

बल तो काम करता है। मनमें द्रव्य मनमें हलन चलन होता है क्योंकि मनोवर्गणा भी उनके आती है। पांच इंद्रियोंसे काम नहीं लेते क्योंकि मतिज्ञान उनके नहीं रहा। इंद्रियोंके आकार हैं परंतु वे कुछ काम नहीं आते हैं। आयु कर्म समय समय खिरता है। मंद मंद श्वास आता है। इस तरह शरीर सहित परमात्माको पूज्यदेव मानके भलेप्रकार पूजा व भक्ति करनी योग्य है। उनके गुणोंमें एकाग्र होना योग्य है। पद्मनंदी मुनिने श्रावकाचारमें कहा है—

ये जिनेन्द्रं न पश्यंति पूजयन्ति स्तुवन्ति न। निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो जिनेन्द्रका दर्शन, पूजन, स्तवन, नहीं करते हैं उनका जीवन निष्फल है, उनके गृहाश्रमको धिक्कार है।

श्लोक—देवो परमेष्ठि मइओ, लोकालोकं विलोकितं।
परमप्पा ज्ञानमइओ, तं अप्पा देह मज्झंमि ॥ ३२४ ॥

अन्वयार्थ—(परमेष्ठि मइओ देवो) परम पदमें तिष्ठनेवाला देव सिद्ध है (लोकालोकं विलोकितं) जिसने लोकालोकको देख लिया है जो (ज्ञान मइओ) ज्ञानमई (परमप्पा) परमात्मा है (देह मज्झंमि तं अप्पा) इस देहके मध्यम वही आत्मा है।

विशेषार्थ—इसके पहले श्लोकमें अरहंत देवका स्वरूप कहा है यहां सिद्ध परमात्माका स्वरूप कहते हैं। सिद्ध भगवान सर्वोत्कृष्ट पदमें विराजित हैं आठ कर्म रहित होनेसे अशरीर परमात्मा हैं ज्ञानाकार हैं व जिनके ज्ञानमें लोकालोक दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह झलक रहा है। वे सर्व रागादि दोष, आठ कर्म मल व शरीरादिसे रहित केवल आत्मा ही मात्र हैं। जैसा सिद्धका स्फटिकमणिमय निर्मल स्वरूप है वैसा ही इस शरीरके भीतर जो आत्मा है उसका निश्चयनयसे स्वरूप है अर्थात् जब द्रव्यकी दृष्टिसे देखा जावे तो अपने शरीरके भीतर यह आत्मा भी आत्मा-रूप सिद्ध सम कर्मबंध रहित दिखलाई पडता है। इस आत्मामें और परमात्मामें कोई अंतर नहीं है। दोनोंके गुण स्वभाव समान हैं। मात्र प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्नता है। यद्यपि प्रदेशोंकी संख्या भी असंख्यात प्रदेशी समान है। वास्तवमें जो अपने आत्माको भेद विज्ञानके द्वारा सर्व अनात्मासे

निराला व सर्व कर्मजनित विकारी भावोंसे भिन्न अनुभव करेगा वही सिद्ध परमात्माको पहचान सकेगा । योगसारमें योगेन्द्राचार्य कहते हैं—

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु । इउ जाणेविणु जोइआ अण्ण म करहु वियप्पु ॥ २२ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा है वैसा ही मैं हूं और जैसा मैं हूं वैसा परमात्मा है । हे योगी ! ऐसा जानकर अनुभव कर और विकल्प न कर । सोहं शब्द इसी भावको झलकाता है। सोहं द्वारा अपने आत्माकी पूजा वही निश्चयसे सिद्ध पूजा है ।

श्लोक—देहह देवलि देवं च, उवइट्ठो जिन वरिं देहं ।
परमेष्ठी संजुत्तं, पूजं च शुद्ध सम्यक्तं ॥ ३२५ ॥

अन्वयार्थ—(देहह देवलि) शरीररूपी मंदिरमें (देवं च) आत्मारूपी देव है ऐसा (जिन वरिं देहिं उवइट्ठो) जिनेन्द्रोंने कहा है (परमेष्ठी संजुत्तं) वही सिद्ध परमेष्ठीके गुणों सहित है (पूजं च शुद्ध सम्यक्तं) उसकी भक्ति पूजा ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है ।

विशेषार्थ—शरीरके भीतर यदि शुद्ध द्रव्यदृष्टिसे देखा जावे तो आत्मा आत्मारूप सिद्ध सम शुद्ध विराजमान है, उसको जब परमात्मा सम देखा जाता है तो वही पूज्यनीय देव दिखलाई पडता है । तब उस देवके तिष्ठनेका मंदिर अपना शरीर ही हुआ । अतएव निश्चल मनके द्वारा अपने शरीरको देवस्थान मानो और अपने आत्माको परमात्मा मानो और उपयोगको थिर करो अर्थात् उसकी पूजा करो, उसीका एकाग्रतासे अनुभव करो । अपने ही आत्माका स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा अनुभव करना यही शुद्ध सम्यग्दर्शनका अनुभव है व यही सिद्ध पूजा है व यही देव पूजा है । पं० द्यानतराय कह गए हैं-" निज घटमें परमात्मा, चिन्मूरति भइया, ताहि विलोकि सुदृष्टि धर पंडित परखैया ।" जो शुद्धात्मानुभवी हैं वे ही सच्चे निज आत्मादेवके आराधक हैं, वे ही यथार्थ उपासक हैं । व्यवहार नयसे सिद्धोंका स्तवन व पूजन भी इसी हेतुसे किया जाता है कि निज आत्मामें परिणति थंमे । जब उपयोग सर्व विकल्पोंको तजकर आत्मस्थ होता है तब ही सच्ची देव-पूजा या सिद्धपूजा है । यही वास्तविक मोक्षमार्ग है । योगसारमें कहा है—

जो अप्पा सुद्ध वि मुणइ असुइसरीरविभिण्णु । सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खहलीणु ॥ ९४ ॥

भावार्थ—जो कोई अपवित्र शरीरसे भिन्न अपने आत्माको शुद्ध अनुभव करता है वह अविनाशी आनन्दमें लीन होता हुआ सर्व शास्त्रोंको जानता है। जिनवाणीका सार मात्र एक समयसार रूप परिणाम है।

श्लोक—देवं गुरुं विशुद्धं, अरहन्तं सिद्ध आचार्यं।
उवझायं साधु गुणं, पंच गुणं पंच परमेष्ठी ॥ ३२६ ॥

अन्वयार्थ—(विशुद्धं देवं गुरुं) वीतराग देव व वीतरागी गुरु (अरहंतं सिद्ध आचार्यं, उवझायं साधु गुणं) अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु गुणवान हैं (पंचगुणं) ये पांच गुणी आत्माएँ (पंच परमेष्ठी) पांच परमेष्ठी कहलाती हैं।

विशेषार्थ—जैनोंमें ३५ अक्षरी णमोकार मंत्र प्रसिद्ध है उसमें इस लोकमें सर्व अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय तथा साधुको भाव पूर्वक नमस्कार किया गया है। वही भाव यहांपर भी बताया है कि जगतमें जितने महान पद हैं उन सबमें श्रेष्ठ शुद्ध गुणोंके धारी ये पांच ही परम पद हैं उनमें अरहंत सिद्ध तो वीतराग देव हैं तथा शेष तीन आचार्य, उपाध्याय और साधु परम गुरु हैं। इनकी दृढ भक्ति परम पदकी परम्पराका कारण है।

इनके इस क्रमसे करनेका प्रयोग यह है कि जिनसे साक्षात् विशेष उपकार होता है उनका नाम पहले लिया गया है। परमात्माको पहले नमन करना चाहिये फिर अंतरात्माको, इस हेतु अरहंत सिद्ध परमात्माको नमन करके फिर तीन अंतरात्माको नमन किया है। यद्यपि सिद्ध भगवान आठों कर्म रहित महान हैं उनको पहले नमन करना चाहिये तथापि जगत जीवोंका उपकार उनकी अपेक्षा अरहंत परमात्मासे विशेष होता है, अरहंत दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश करते हैं क्योंकि वे शरीर सहित हैं सिद्धके शरीर न होनेसे उपदेशकपनेका अभाव है, अरहंत हीकी वाणीसे सिद्धोंका ज्ञान होता है ऐसा उपकार विचारकर पहले अरहंतोंको फिर सिद्धोंको नमस्कार किया गया है क्योंकि आचार्यादि तीनों अंतरात्मा भी अरहंत सिद्धकी भक्ति करके ही अपनी उन्नति करते हैं इसलिये अरहंत सिद्धके पीछे ही उनको नमन किया गया है, उन तीन अंतरात्माओंमेंसे सर्वोच्चपदधारी व सबसे अधिक उपकारक आचार्य हैं जो संघके नायक, दीक्षा शिक्षा दाता, संरक्षक

व सञ्चालक होते हैं इसलिये उनको पहले नमन करके फिर उपाध्यायको नमन किया है, जो आचार्यकी आज्ञानुसार शास्त्रोंकी शिक्षा देनेका काम मुख्यतासे करते हैं। साधुगण मात्र साधन करनेवाले हैं। साधुओंसे अधिक उपकारी उपाध्याय हैं, इसलिये अंतमें साधुओंको नमन किया गया है। इन सबमें रत्नत्रयके आस्तित्वकी प्रधानता है। रत्नत्रयकी पूर्णताके निकट अरहंत हैं, सिद्धोंके रत्नत्रयकी पूर्णता है। शेष तीनों रत्नत्रयके अभ्यासी हैं, निश्चय रत्नत्रयरूप निर्विकल्प समाधि व आत्मानुभवकी प्रधानतासे ही ये सर्व तीन लोकके प्राणियोंसे उच्च हैं, परम पदधारी हैं, अतएव इंद्रादि देवोंसे नमन योग्य हैं-भवनवासी देवोंके ४०, व्यन्तर देवोंके ३२, ज्योतिषियोंके चन्द्र व सूर्य, कल्पवासी देवोंके २४, चक्रवर्ती राजा व अष्टापद पशु इस तरह १०० इन्द्र जिन चरणोंको पुनः पुनः नमन करते हैं इसलिये ही वे परमेष्ठी हैं।

श्लोक—अरहंतं ह्रियं कारं, ज्ञानमय त्रिभुवनस्य।
नंत चतुष्टय सहिओ, ह्रींकारं जाण अरहंतं ॥ ३२७ ॥

अन्वयार्थ—(अरहंतं) पूजने योग्य (ह्रियं कारं) ह्रीं मंत्रमें चौवीस तीर्थंकर गर्भित हैं जो (त्रिभुवनस्य ज्ञानमयं) तीनलोकके पदार्थोंका ज्ञाता हैं (अनंत चतुष्टय सहिओ) और अनंत चतुष्टय सहित हैं इसलिये (ह्रींकारं जाण अरहंतं) ह्रीं में अरहंतोंको गर्भित जानना चाहिये।

विशेषार्थ—ह्रीं में ह व र अक्षरोंकी प्रधानतासे र से २ ह से ४ इसलिये बांइ तरफसे जोडनेसे २४ तीर्थंकरोंका बोध होता है। परमोपकारी धर्मोपदेशक व धर्म प्रचारक होनेके कारण भरत व ऐरावत क्षेत्रमें हरएक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी कालकी किरणमें चौवीस चौवीस तीर्थंकर होते रहते हैं। जब धर्मका लोपसा व धर्ममें अंधकारसा छा जाता है तब एक दूसरेके बहु काल पीछे तीर्थंकर होते हैं जो जीवन पर्यंत धर्मबोध देते हुए विहार करते हैं। जिनके समवसरणमें बारह प्रकारकी सभाएं होती हैं जिनमें प्रत्येकमें अलग २ भवनवासीकी देवी, व्यंतरोंकी देवी, ज्योतिषियोंकी देवी, स्वर्गवासी देवोंकी देवी, भवनवासी देव, व्यंतर देव, ज्योतिषी देव, स्वर्गवासी देव, मुनिगण, आर्यिकागण, मानव तथा पशु बिराजते हैं जिनका उपदेश हरएक मानव व सैनी पंचेंद्रिय पशु व हर प्रकारका देव सुन सक्ता है, जहां किसीको जानेकी रुकावट नहीं है। जो तीर्थंकर

सबेरे, दोपहर, सांझ व मध्यरात्रि इस तरह २४ घंटेमें चार दफे प्रत्येकमें छः छः घडी पर्यंत धर्मोपदेश लगातार देते हैं। विशेष पुरुषके प्रश्नवश अन्य समयमें भी उपदेश प्रदान करते हैं, जिनकी वाणीको सुनकर अनेक गृहस्थ मुनि, अनेक श्रावक व्रतधारी, अनेक देव, मानव, पशु सम्यग्दृष्टी होजाते हैं, सुखशांतिका परम लाभ कर लेते हैं। जो स्वयं अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, व अनंत वीर्यके धनी हैं ऐसे अरहंतोंके स्वरूपका चिंतवन व मनन ही मंत्र द्वारा करना योग्य है।

श्लोक—सिद्धं सिद्ध ध्रुवं चिंते, ॐ वंकारं च विंदते।
मुक्ति च ऊर्द्ध सद्भावं, ऊर्द्ध च शाश्वतं पदं ॥ ३२८ ॥

अन्वयार्थ—(सिद्धं सिद्ध ध्रुवं चिंते) सिद्ध भगवानको ऐसा विचारे कि वे सिद्ध हैं व ध्रुव हैं (ॐ वंकारं च विंदते) ॐ शब्दसे जिनका अनुभव होता है (मुक्ति च ऊर्द्ध सद्भावं) जो मुक्तिमें तीन लोकके ऊपर अग्रभागमें तिष्ठे हैं (ऊर्द्ध च शाश्वतं पदं) जो श्रेष्ठ अविनाशी पदके धारी हैं।

विशेषार्थ—यहां सिद्ध भगवानके स्वरूपको झलकाया है कि वे सिद्ध हैं क्योंकि उन्होंने जो साधन योग्य कार्य आत्माकी शुद्धि करनेका था उसको साध लिया है, उनको अब कुछ करना नहीं रहा, वे कृतकृत्य होगए हैं तथा वे ध्रुव हैं अब उनकी स्वाभाविक अवस्था कभी वैभाविकरूप न होगी। वे कभी भी संसारी न होंगे, उनका कभी आवागमन न होगा। वे निश्चल अपने प्रदेशोंमें भी पुरुषाकार जैसे मोक्ष जाते समय शरीरमें थे वैसे विराजमान रहते हैं इसलिये ध्रुव हैं, यद्यपि द्रव्यके स्वरूपकी अपेक्षा उनमें भी स्वाभाविक परिणमन अगुरुलघु नामा गुणके द्वारा जलमें सूक्ष्म कल्लोलवत् प्रति समय हुआ करता है परंतु वह सदृश स्वाभाविक परिणमन कोई मलीनता पैदा नहीं करता है। स्वभावकी ध्रुवताको नहीं मिटाता है इसलिये सिद्ध भगवान ध्रुव हैं। ॐ शब्द द्वारा जिनका ध्यान किया जाता है। यद्यपि ॐ में पांचों परमेष्ठी गर्भित हैं तथापि शुद्ध निश्चय नयसे उनमें शुद्ध आत्माके स्वरूपके झलकानेकी प्रधानता है इसलिये ध्यातागण ॐ के भौंहोंके बीच, हृदयकमल व मस्तक आदिपर चमकता हुआ विराजमान करके उसपर चित्तको रोककर फिर सिद्ध स्वरूपमें चले जाते हैं। व सिद्ध भगवान लोकके अग्रभाग तनु वातवलयमें सबसे ऊपर सिद्धक्षेत्रमें विराजमान हैं। उनका पद सबसे ऊंचा

इस अपेक्षासे है कि वह अविनाशी पद है। अरहंत आदि अन्य चार परमेष्ठीके पद सब अनित्य हैं, नाशवन्त हैं, शरीर सहित होनेसे पतन सहित हैं परन्तु सिद्धका पद सर्व कर्म व सर्व शरीर रहित होनेसे सदा ही रहनेवाला अविनाशी है। इस तरह सिद्धोंका ध्यान करना चाहिये।

श्लोक—आचार्य आचरणं शुद्धं, ती अर्थं शुद्ध भावना।
सर्वज्ञे शुद्ध ध्यानस्य, मिथ्या त्यक्तं त्रि भेदयं ॥ ३२९ ॥

अन्वयार्थ—(आचार्य आचरणं शुद्धं) आचार्य शुद्ध आचरण करते कराते हैं (ती अर्थं शुद्ध भावना) रत्नत्रय स्वरूपकी शुद्ध भावना करते हैं (सर्वज्ञे शुद्ध ध्यानस्य) सर्वज्ञ परमात्माके शुद्ध ध्यानमें लगे रहते हैं (त्रि भेदयं मिथ्या त्यक्तं) तीन प्रकार मिथ्यात्वसे रहित हैं। या तीन प्रकार मिथ्याज्ञानसे रहित हैं।

विशेषार्थ—अब यहां आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप बताते हैं। जो निर्ग्रंथ मुनि पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्ति ऐसे १३ प्रकार चारित्रका व दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार इन पांच प्रकार आचारका निर्दोष पालन स्वयं करते हैं व दूसरोंसे पालन कराते हैं— जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी भावना व्यवहार नय द्वारा करते हुए उसका अनुभव निश्चय नयसे शुद्धोपयोगरूप करते हैं। क्योंकि शुद्धोपयोगमें ही निश्चय रत्नत्रयका लाभ होता है व वीतरागता होती है। आचार्य महाराजके प्रमत्त व अप्रमत्त दो गुणस्थान ही होते हैं। जब ध्यानमग्न निश्चल होते हैं तब सातवां अप्रमत्त और जब दीक्षा शिक्षा आहार विहार कार्योंमें निरत होते हैं तब प्रमत्त छठा गुणस्थान होता है। इन दोनोंका काल अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है इसलिये उन आचार्योंका आत्मा पुनः पुनः ध्यानमग्न होता हुआ आत्मानन्दका विलास करता रहता है, वे वचन व कायसे बाहरी कार्यको करते हुए भी मनसे आत्मकार्यमें ही लवलीन रहते हैं। जो शुद्ध धर्मध्यान करते हैं, सर्वज्ञ परमात्माका आलम्बन लेते हुए कभी स्तवन वन्दना भी करते हैं। जो क्षायिक सम्यक्ती या उपशम सम्यक्ती होते हैं उनके तीनों दर्शन मोह नहीं होते हैं। वे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, व सम्यक् प्रकृतिसे रहित होते हैं। क्षयोपशम सम्यक्तमें सम्यक् प्रकृति या अतिमंद उदय होता है। अथवा जिनमें कुमति, कुश्रुत व कुअवधिज्ञान नहीं होते हैं अथवा जो मिथ्या माया व निदान इन तीन शल्यसे रहित होते हैं। ऐसे परम मुनि वीतरागी परमोपकारी आचार्य हैं उनका ध्यान करना चाहिये।

श्लोक—उपाध्याय उपयोगेन, उपयोगो लक्षणं ध्रुवं।
अंग पूर्वं च उक्तं च, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ ३२० ॥

अन्वयार्थ—(उपाध्याय) उपाध्याय (उपयोगेन) ज्ञानोपयोगमें लगे रहते हैं (उपयोगो ध्रुवं लक्षणं) उपयोग जीवका निश्चित लक्षण है (अंग पूर्वं च उक्तं च) जो ग्यारह अंग व १४ पूर्वको कहते हैं (ज्ञानमयं ध्रुवं सार्धं) साथमें अविनाशी ज्ञानमय आत्माका भी वर्णन करते हैं।

विशेषार्थ—यहां उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप कहते हैं कि जो साधु निरंतर ज्ञानोपयोगमें लगे रहते हैं, पठन पाठनमें दत्तचित्त हैं, द्वादशांग वाणीको भलेप्रकार जानकर दूसरोंको पढाते हैं तथा जिनवाणीका सार जो शुद्धात्म तत्व है उसको भी बताते हैं वे उपाध्याय हैं।

बारह अंगोंका स्वरूप संक्षेपसे यह है—

१–आचारांग—इसमें मुनियोंके बाहरी आचरण हैं, कैसे चले, बैठे, उठे आदि।

२–सूत्रकृतांग—इसमें सूत्ररूप संक्षेपसे ज्ञानका विनय आदि धर्म क्रियाका वर्णन है।

३–स्थानांग—इसमें दो तीन चार इसतरह बढते२ स्थानोंका कथन है। जैसे संग्रह नयसे जीव एक प्रकार है, व्यवहार नयसे संसारी मुक्त ऐसे दो प्रकार व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप तीन प्रकार है इत्यादि।

४–समवायांग—जिसमें समानतासे जीवादि पदार्थ बताए हों। जैसे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय समान हैं, मुक्त जीव सब समान हैं, द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा समानता बताई है।

५–व्याख्याप्रज्ञप्ति—इसमें गणधरके साठ हजार प्रश्नोंके उत्तर हैं। जैसे जीव अस्ति है कि नास्ति है, एक है कि अनेक है, नित्य है कि अनित्य है इत्यादि।

६–ज्ञातृ धर्मकथा या नाथधर्मकथा—इसमें त्रेशठ शलाका पुरुषोंके धर्मकी कथा है।

७–उपासकाध्ययन—इसमें श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमा, क्रिया, मंत्र आदिका ...

८–अंतःकृतदशांग—इसमें हरएक तीर्थंकरके समय ...
गए उनका कथन है। श्री वर्द्धमानस्वामीके ...
५ सुदर्शन, ३ यमलीक ...

९-अनुत्तरोपपादिक दशांग—इसमें हरएक तीर्थंकरके समयमें दश मुनि उपसर्ग सह समाधि मरण कर विजयादिक अनुत्तरोंमें जन्मे उनका कथन है। श्री वर्द्धमानस्वामीके समय ऐसे १० मुनि १ ऋजुदास, २ धन्य, ३ सुनक्षत्र, ४ कार्तिकेय, ५ नंद, ६ नंदन, ७ शालिभद्र, ८ अभय, ९ वारिषेण, १० चिलाती पुत्र ये दश भए।

१०-प्रश्न व्याकरणांग—इसमें अतीत अनागत वर्तमान काल सम्बन्धी लाभ अलाभ आदि प्रश्नोंके उत्तर कहनेकी विधि तथा चार प्रकार कथाओंका वर्णन है।

आक्षेपिणी-धर्ममें दृढ करनेवाली, विक्षेपिणी, एकांत मत खंडनेवाली संवेजिनी-धर्मानुराग करानेवाली निर्वेजिनी-संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य करानेवाली।

११-विपाकसूत्र—कर्मोंके उदय बंध सत्ता आदिका जिसमें वर्णन है।

१२-दृष्टिप्रवाद—इसके पांच अधिकार हैं। १-परिकर्म, २-सूत्र, ३-प्रथमानुयोग, ४-पूर्वगत ५-चूलिका। परिकर्म वह है जिसमें गणितादिके सूत्र हों। उसके पांच भेद हैं। चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति। इसमें जीवादि पदार्थोंका स्वरूप है।

सूत्र उसे कहते हैं जिसमें क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद मतोंके ३६३ भेदोंका वर्णन हो। प्रथमानुयोगमें त्रेसठ सलाका पुरुषोंका जीवनचरित्र हो।

चौदह पूर्व हैं वे इसप्रकार हैं—

१-उत्पाद पूर्व—पदार्थोंका उत्पाद व्यय ध्रौव्य कथन है।

२-अग्रायणीय पूर्व—७०० सुनय, कुनय व सात तत्वादिका वर्णन है।

३-वीर्यानुवाद पूर्व—जिसमें जीव अजीवादिके वीर्यका व क्षेत्र, काल, भाव व तपके वीर्यादिका कथन है।

४-अस्तिनास्ति पूर्व—अस्ति नास्ति आदि सात भंगोंका स्वरूप है।

५-ज्ञान प्रवाद पूर्व—आठ प्रकारके ज्ञानका स्वरूप।

६-सत्य प्रवाद पूर्व—१० प्रकार सत्य आदिका वर्णन है।

७-आत्म प्रवाद पूर्व—आत्माके स्वरूपका कथन है।

८-कर्म प्रवाद पूर्व—कर्मोंके बंधादिका कथन है।

९-प्रत्याख्यान पूर्व—त्यागका विधान कथित है।

१०-विद्यानुवाद पूर्व—७०० अल्पविद्या, ५०० महाविद्या साधनेके मंत्र यंत्र व आठ निमित्त ज्ञानका कथन है।

११-कल्याणवाद पूर्व—महापुरुषोंके कल्याणकोंका कथन है।

१२-प्राणवाद पूर्व—वैद्यकका कथन है।

१३-क्रिया विशाल पूर्व—संगीत, छन्द, अलंकार ७२ पुरुषकी २४ स्त्रीकला आदिका कथन है।

१४-त्रिलोक बिंदुसार—तीन लोकका स्वरूप बीज गणितादिका कथन है।

चूलिका पांच प्रकार हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता, आकाशगता। इसमें जल, थल, आकाशमें चलनेके रूप बदलनेके मंत्रादि हैं।

इन बारह अंगोंके अपुनरुक्त अक्षर—

१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ हैं अर्थात् अ आ आदि ६४ अक्षरोंके सब भेद उतने होते हैं। यदि दो के अंकको छ दफे वर्ग करे और एक घटादें तो इतने अक्षर आएंगे। जैसे २ × २ = ४, ४ × ४ = १६, १६ × १६ = २५६, २५६ × २५६ = ६५५३६ इसी तरह करनेसे निकलेंगे।

एक मध्यम पदमें १६३४८३०७८८८ अपुनरुक्त अक्षर होते हैं तब कुल अक्षरोंके ११२८३५८००५ पद निकलेंगे शेष ८०१०८१७५ अक्षर बचेंगे।

बारह अंगोंमें इतने पद नीचे प्रकार बांट दिये गए हैं—

१-आचारांग	१८०००	२-सूत्रकृतांग	३६०००
३-स्थानांग	४२०००	४-समवायांग	१६४०००
५-व्याख्या प्रज्ञप्ति	२२८०००	६-ज्ञातृ कथा	५५६०००
७-उपासकाध्ययन	११७००००	८-अंतकृतदश	२३२८०००
९-अनुत्तरोपपादिक	९२४४०००	१०-प्रश्न व्याकरण	९३१६०००
११-विपाक सूत्र	१८४०००००	१२-दृष्टिप्रवाद	१०८६८५६००५

कुल पद ११२८३५८००५ हुए

शेष ८०१०८१७५ अक्षरोंमें १४ प्रकीर्णक हैं, उनको अंग बाह्य कहते हैं।

१-सामायिक—सामायिकके भेद।

२-चतुर्विंशतिस्तव—२४ तीर्थंकरकी स्तुति।

३-वंदना—एक तीर्थंकरकी वंदना मुख्यतासे।

४-प्रतिक्रमण—गत दोष निवारण ७ प्रकार।

५-वैनयिक—पांच प्रकार विनय।

६-कृति कर्म—नित्य क्रिया कथन।

७-दशवैकालिक—काल विकाल कथन।

८-उत्तराध्ययन—मुनिका उपसर्ग परीषह सहन कथन।

९-कल्प व्यवहार—मुनि योग्य आचरण कथन।

१०-कल्पाकल्प—मुनिके योग्य व अयोग्य द्रव्य क्षेत्रादि कथन।

११-महाकल्प—जिनकल्पी स्थविरकल्पी मुनि कथन।

१२-पुण्डरीक—चार प्रकार देवोंमें उपजनेके कारण दान पूजादि।

१३-महापुण्डरीक—इन्द्र अहमिन्द्रमें उपजनेके कारण।

१४-निषिद्धिका—प्रायश्चित्त कथन।

ये सब अंग प्रकीर्णक अब मिलते नहीं हैं। श्वेताम्बरोंने इन्हीं नामके धारक ग्रन्थ वीर भगवानके मोक्षके नौसो वर्ष बाद संकलन किये हैं। उनमें कुछ२ अंशिक कथन है।

उपाध्याय शास्त्रके विशेष ज्ञाता होते हैं। इन साधुओंका कर्तव्य पढना पढाना है।

श्लोक—साधुश्च सर्वसाध्यं च, लोकालोकं च साधये।
रत्नत्रयमयं शुद्धं, ति अर्थ साधु जोइतं ॥ २३१ ॥

अन्वयार्थ—(साधुश्च) साधु महाराज भी (सर्वसाध्यं च) सर्व प्रकार साधन करनेवाले हैं (लोकालोकं च साधये) जो लोकालोकके दिखानेवाले केवलज्ञानको साधते हैं (रत्नत्रयमयं शुद्धं) रत्नत्रयमई शुद्ध आत्माको साधते हैं (ति अर्थ साधु जोइतं) जिन्होंने तीनों पदार्थोंको भलेप्रकार जाना है।

विशेषार्थ—साधु परमेष्ठीकी मुख्यता मोक्षकी सिद्धि करनेकी है। वे निरंतर व्यवहार रत्नत्रयके द्वारा निश्चय रत्नत्रय मई शुद्ध आत्माको साधन करते हैं। उनको इन तीनों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र पदार्थोंका भलेप्रकार ज्ञान होता है। उनका ध्येय केवलज्ञान प्राप्ति है। छठे प्रमत्त-गुणस्थानसे बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक सर्व मुनि साधु हैं। साधु मुनि ही तेरहवें गुणस्थानमें जाकर अरहंत केवली होजाते हैं। आचार्य व उपाध्याय पदके धारी मुनि छठे व सातवें गुणस्थानमें ही होते हैं। जब आगेका साधन करना होता है तब ये मुनि आचार्य व उपाध्याय पदको छोड़ देते हैं। मात्र स्वयं साधनमें लग जाते हैं। जिनको न तो संघकी रक्षाकी चिंता है न पठन पाठनकी चिंता है। जो नित्य आत्मध्यानमें व वैराग्यकी भावनामें व बारह प्रकारके तपके साधनमें लगे रहते हैं, कठिन २ तपस्या करते हैं, उपसर्ग परीषह सहते हैं, एकांतवास कर धर्मध्यानकी शक्ति बढाते हैं, फिर उपशम श्रेणी या क्षेपकश्रेणीपर शक्तिके अनुसार आरूढ होते हैं, कर्मोंके क्षयका निरंतर उद्यम करते रहते हैं। सामान्य साधुसे बारहवें गुणस्थान तक सब ही साधु हैं। उन्हींमेंसे आचार्य व उपाध्याय होजाते हैं। सर्वका भेष नग्न होता है। पीछी कमंडल या शास्त्र रखते हैं, अन्य परिग्रहसे रहित हैं।

श्लोक—देवं पंच गुणं शुद्धं, पदवी पंच संयुतो।
देवं जिनं पणणतं, साधए शुद्ध दृष्टितं ॥ ३३२ ॥

अन्वयार्थ—(पदवी पंच संजुतो) अरहंत आदि पांच पदवी सहित (पंच गुणं) पांच परमेष्ठीको (शुद्ध देवं) शुद्ध पूज्यनीय देव (देवं जिनं) देव जिनेन्द्र (पणतं) कहा गया है (शुद्ध दृष्टितं साधए) ये पांचों शुद्ध सम्यग्दर्शनको साध चुके हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि अरहंत सिद्धको देव और आचार्य, उपाध्याय, साधुको गुरु कहते हैं तथापि ये पांच परमेष्ठी पद पूज्यनीय महान कहे जाते हैं। ये सभी शुद्ध आत्मीक अनुभव करनेवाले शुद्ध सम्यग्दृष्टी हैं, अपने२ यथार्थ गुणोंके स्वामी हैं। व्यवहार नयसे ये पांच पद हैं, निश्चयनयसे इन सबमें एक ही जातिका शुद्धात्मा विराजमान है। ऐसा विचार कर अपने शुद्धात्माका ध्यान मुख्यतासे करना योग्य है।

श्लोक—अरहंतं भावनं येन, षोडशभाव भावितं।
ति अर्थं तीर्थंकरं येन, प्रतिपूर्णं पंच दीप्तयं ॥ ३५२ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (षोडशभाव भावितं) षोडशकारण भावना भाई हैं तथा (अरहंतं भावनं) अरहंत पदकी भावना भाई है (येन) वह (ति अर्थं) तीन पदार्थ स्वरूप (तीर्थंकरं) तीर्थंकर (प्रतिपूर्णं पंच दीप्तयं) पूर्ण पांच ज्ञानमई होता है।

विशेषार्थ—अरहंत पदमें यद्यपि तीर्थंकर व सामान्य केवली दोनों गर्भित हैं। तथापि तीर्थंकरके पुण्यबंध विशेष होता है। उनकी इन्द्रादि देव भक्ति करते हैं। उनसे धर्मका प्रचार भी बहुत होता है। ऐसा तीर्थंकर वही महान आत्मा होता है जो १६ कारण भावनाका हृदयसे विचार करता है। उन भावनाओंके भानेसे व केवली श्रुतकेवलीकी निकटतासे तीर्थंकर नामकर्मका बंध होजाता है। तीर्थंकरोंकी इन्द्रादि देव पंचकल्याणक रूप भक्ति करते हैं जो तीर्थंकर नाम कर्म बांधे हुए उत्पन्न होते हैं। उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण पांचों कल्याणक होते हैं। जो उसी जन्ममें तीर्थंकर नाम कर्म बांधकर तीर्थंकर होते हैं उनके तप, ज्ञान, निर्वाण अथवा ज्ञान निर्वाण दो कल्याणक होते हैं। तीर्थंकर सम्यक्ती, सम्यग्ज्ञानी, सम्यक्चारित्री होते हैं। तीनों पदार्थ जो रत्नत्रय है उनसे पूर्ण होते हैं। तीर्थंकर नामकर्मका बंध भी सम्यक्तके होते हुए होता है। वास्तवमें तीर्थंकर नाम कर्मका उदय केवलज्ञान अवस्थामें होता है जहां पांचों ज्ञानोंकी पूर्णता या ज्ञानकी पूर्णता होजाती है। ये १६ कारणभावना परमोपकार करनेवाली हैं। इनके भावनेसे या इनपर चलनेसे यदि तीर्थंकर नाम कर्मका बंध न भी हो तौभी महान पुण्यबंध होता है। वे भावनाएं नीचे प्रकार हैं—

१-दर्शनविशुद्धि भावना—सम्यग्दर्शन शुद्ध रहे उसमें पचीस दोष न लगें ऐसी भावना करनी।

२-विनयसम्पन्नता—रत्नत्रय धर्म व उनके धारकोंकी विनय करता रहूँ ऐसी भावना।

३-शीलव्रतेष्वनतीचार—शील स्वभाव व व्रतोंके पालनमें कोई दोष न लगे ऐसी भावना करनी।

४-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—निरंतर आत्मज्ञान व शास्त्र ज्ञानके भीतर उपयोग लगा रहे यह भावना करनी।

५-संवेग—संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य व धर्ममें अनुराग बढ़ता रहे ऐसी भावना करनी।

६-शक्तिस्त्याग—शक्तिके अनुसार आहार, अभय, औषध व ज्ञान दान करता रहूँ ऐसी भावना करनी।

७-शक्तिस्तप-शक्तिके अनुसार बारह तप पालता रहूँ ऐसी भावना करनी।

८-साधुसमाधि-साधुओंपर कोई उपसर्ग आवे तो उसको दूर करूँ ऐसी भावना करनी।

९-वैयावृत्यकरण—धर्मात्माओंकी सेवा करता रहूँ यह भावना करनी।

१०-अर्हत् भक्ति—अर्हतदेवकी भक्ति करता रहूं यह भावना।

११-आचार्य भक्ति—आचार्यकी भक्ति करता रहूं यह भावना।

१२-बहुश्रुत भक्ति—उपाध्यायकी भक्ति करता रहूं यह भावना।

१३-प्रवचन भक्ति—शास्त्रकी व धर्मकी भक्ति करता रहूं यह भावना।

१४-आवश्यकापरिहाणि—नित्य आवश्यक धर्मक्रियाओंको न छोडूं यह भावना।

१५-मार्ग प्रभावना—जिन धर्मकी उन्नति करता रहूं यह भावना।

१६-प्रवचन वत्सलत्व—साधर्मियोंसे प्रेम रखता रहूं ऐसी भावना करनी।

क्योंकि इन भावनाओंमें सर्व जीवोंके कल्याणकी भावना होती है इसीसे तीर्थंकर नामकर्मका बंध होजाता है।

श्लोक—तस्यास्ति षोडशं भावं, तीर्थं तीर्थंकरं कृतं।
षोडशभाव भावेन, अरहंतं गुण शाश्वतं ॥ ३३४ ॥

अन्वयार्थ—(तस्य षोडशभावं अस्ति) उसीके षोडश भावना यथार्थ भाई गई होती है जिसके (तीर्थं कृतं तीर्थंकरं) तीर्थ जो धर्मरूपी जहाज उसको चलानेवाला तीर्थंकर कर्मबंध होजावे (षोडशभाव भावेन) सोलहकारण भावनाके भानेसे (अरहंतं गुण शाश्वतं) अरहंत पद गुणमई व अविनाशी आत्माका स्वभाव प्रकट होता है।

विशेषार्थ—जिनके द्वारा सोलहकारण भावना सर्व ही या कुछ वा एक भी परिपूर्ण भाई जाती है उसीके तीर्थंकर नामकर्म बंधता है। तीर्थंकरके समान ऊँचा अरहंत पद दूसरा नहीं है। अवि-

श्रावका ॥३२७॥

नाशी आत्माका स्वभाव जब झलक जाता है तब तीर्थंकर देव अपनी दिव्यध्वनिसे उपदेश देकर अनेक भव्य जीवोंका उद्धार करते हैं। उनके महान उपकारको स्मरण कर हमें श्री ऋषभादि महावीर पर्यंत चौवीस तीर्थंकरोंकी सच्चे भावसे भक्ति करनी योग्य है।

श्लोक—सिद्धं च शुद्ध सम्यक्तं, ज्ञान दर्शन दर्शितं।
वीर्यं सुहमं अव्याधि, अवगाहना गुरु लघू ॥ २२५ ॥

अन्वयार्थ—(सिद्धं च शुद्ध सम्यक्तं) सिद्ध भगवानके शुद्ध सम्यक्त होता है (ज्ञान दर्शन दर्शितं) अनंत ज्ञान व अनंत दर्शन प्रगट होता है (वीर्यं सुहमं अव्याधि) अनंत वीर्य, सुक्ष्मपना, अव्याबाधपना (अवगाहना गुरु लघू) अवगाहना व अगुरुलघूपना ये आठ गुण प्रगट होजाते हैं।

विशेषार्थ—सिद्धात्मा पूर्णात्माको कहते हैं। सर्व बाधक कर्मोंका अभाव होनेसे आत्माकी पूर्ण शक्तियें वहां प्रकाशमान होजाती हैं। उनमें गुण तो अनंत होते हैं परंतु यहां आठ कर्मोंके नाशसे जो आठ गुण प्रकाशमान होते हैं उनका कथन किया गया है। मोहनीय कर्मके नाशसे शुद्ध सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण चारित्र सहित प्रगट होजाता है। ज्ञानावरणीय कर्मके नाशसे अनंत ज्ञान व दर्शनावरणीय कर्मके नाशसे अनंत दर्शन प्रगट होजाता है जिससे वे सर्व द्रव्योंके गुण पर्यायोंको एक समयमें ही देखते व जानते हैं। अंतराय कर्मके नाशसे अनंत बल प्रगट होजाता है। जिससे उनको कभी भी आकुलता व निर्बलता किसी प्रकारकी नहीं होती है। वेदनीय कर्मके नाशसे अव्याबाधपना प्रगट होता है। अब कोई पर वस्तु उनके सुखके भोगमें बाधक नहीं रही है। गोत्र कर्मके नाशसे अगुरुलघु गुण प्रगट होगया है। उनमें अब यह कल्पना ही नहीं रही है कि हम गुरु हैं या लघु हैं, ऊंच हैं या नीच हैं, वे स्वयं समदर्शी हैं, परम साम्यभावमें लीन हैं, नामकर्मके नाशसे सूक्ष्मपना प्रगट होगया है, शरीरादि न रहनेसे वे सिद्ध भगवान इंद्रियगोचर नहीं हैं, ज्ञानगम्य हैं, आयुकर्मके नाशसे अवगाहना गुण प्रगट होगया है, जहां एक सिद्ध विराजते हैं वहां अन्य सिद्धोंको ठहरनेमें कोई बाधा नहीं होती है, सिद्धोंका ऐसा स्वरूप विचार करना चाहिये।

श्लोक—सम्यक्तं आदि गुण सार्द्धं, मिथ्यात्व मल विमुक्तयं।
सिद्धं गुणस्य संपूर्ण, साध्यं भव्य लोकयं ॥ २२६ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्तं आदि गुण सार्द्ध) सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके धारी (मिथ्यात मल विमुक्तयं) मिथ्यादर्शन रूपी मलसे रहित (गुणस्य संपूर्ण) सर्व आत्मीक गुणोंसे पूर्ण (भव्य लोकयं साध्यं) भव्य जीवोंके द्वारा साधने योग्य (सिद्धं) ऐसे सिद्ध होते हैं।

विशेषार्थ—सिद्धोंमें कर्मजनित कोई भी विभाव मिथ्यात्व आदि नहीं होता है क्योंकि सर्व कर्मोंसे रहित आत्माको ही सिद्ध कहते हैं, उनके सम्यग्दर्शन आदि अनंत गुण जितने आत्माके भीतर हैं वे सब पूर्णपने विकासको प्राप्त होजाते हैं, वे आदर्श परमात्मा हैं, निरन्तर आत्मीक आनन्दका स्वाद लेते रहते हैं, उनको ही ईश्वर, भगवान, परब्रह्म, परमेश्वर, निरंजन, चिदानंद प्रभु आदि नामोंसे भव्य जीव ध्याते हैं। वे ही साधने योग्य हैं। तीर्थंकर भी जबतक गृहस्थ व मुनि अवस्थामें होते हैं उनही सिद्धोंका ध्यान करते हैं। हरएक मुमुक्षुको उन सिद्धोंके गुणोंका स्मरण करके अपने आत्माको सिद्ध सम ध्याना चाहिये।

श्लोक—आचार्य आचरणं धर्म, ती अर्थं शुद्ध दर्शनं।
उपाध्याया उपदेशांति, दशलक्षण धर्म ध्रुवं ॥ ३३७ ॥

अन्वयार्थ—(आचार्य ती अर्थं धर्म शुद्ध दर्शनं आचरणं) आचार्य परमेष्ठी तीन अर्थरूप अर्थात् रत्नत्रय स्वरूप धर्मका तथा मुख्यतासे शुद्ध सम्यग्दर्शनका आचरण आप करते हैं व कराते हैं (उपाध्याया ध्रुवं दशलक्षण धर्म उपदेशांति) उपाध्याय परमेष्ठी यथार्थ दशलक्षणमय धर्मका पाठ पढाते हैं।

विशेषार्थ—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रयमय धर्मका व्यवहार नय तथा निश्चय नयसे स्वयं आचरण करते हैं व अन्य साधुओंसे आचरण कराते हैं उनको आचार्य परमेष्ठी कहते हैं। मुख्यतासे शुद्ध आत्मीक अनुभवका अभ्यास करते हैं जहां शुद्ध सम्यक्त गर्भित है तथा इसी स्वात्मानुभवका अभ्यास कराते हैं क्योंकि यही निश्चय रत्नत्रयकी एकतारूप मोक्षका मार्ग है, यही कर्मोंका विध्वंश करनेवाला है।

उपाध्याय परमेष्ठी उत्तम दशलक्षण धर्मको स्वयं पालन करते हुए उनहीकी शिक्षा अन्य साधुओंको देते हैं उनका काम पढानेका है।

वे दशलक्षण धर्म नीचेप्रकार हैं:—

१-उत्तम क्षमा-उत्कृष्ट क्षमा—दूसरोंके द्वारा पीडित व वध व आक्रोषित किये जानेपर भी किंचित् भी क्रोधका विकार न पैदा करके पूर्ण क्षमा रखना। मात्र अपने कर्मोदयको विचारना। क्योंकि अपने कर्मके उदय विना कोई किसीको कष्ट नहीं देसक्ता है। शांतभावसे कर्मनिर्जरा विशेष होती है।

२-उत्तम मार्दव—विद्या, तप, वक्तापना, ध्यानादिमें अति प्रवीण होनेपर भी या अज्ञानियों द्वारा अपमानित होनेपर भी किंचित् भी मान भाव चित्तमें न लाकर परम कोमल भाव रखना, मान अपमानमें समता रखना तथा धर्म व धर्मधारियोंकी विनय करना। कोमल आत्मामें ही धर्म वृक्ष फलता है।

३-उत्तम आर्जव—अनेक कष्ट पडनेपर भी, भोजनका अलाभ होनेपर भी लोभके वश या मानके वश कभी भी कपट भाव चित्तमें न लाना, अपना दोष सरलतासे गुरुसे कहते हुए शुद्ध भाव रखना। मायाचार रहित शुद्ध शास्त्रोक्त वर्तना वैसा ही वर्तना। कुटिलतारूप मन, वचन, कायको कभी न वर्तना।

४-उत्तम शौच—लोभ कषायको सर्व पापोंका मूल जानकर परम संतोषकी भावनासे मनको पवित्र रखना। पंचेन्द्रियके भोगोंकी कुछ भी कामना न करना। इष्ट व अनिष्ट संयोगमें समभाव रखना। आत्माकी पवित्रताका साधन करना।

५-उत्तम सत्य—स्वयं सत्य धर्मपर चलना, सत्य ही विचारना, सत्य ही उपदेश देना, सत्यको जीवनका सार समझना। निर्भय होकर सत्यका अनुयायी रहना। असत्यके मैलसे बचना।

६-उत्तम संयम—भलेप्रकार पांच इंद्रिय व मनके विकल्पोंको रोककर इंद्रिय संयम पालना। तथा पृथ्वी आदि छः कायके प्राणियोंकी दया निमित्त उनकी रक्षा करना सो प्राणि संयम पालना। आत्माको आत्मामें निरोध करना। मुनिके चारित्रको यथार्थ साधना।

७-उत्तम तप—भलेप्रकार उपवास आदि बारह प्रकार तपका साधन करना। तपस्या करते हुए उपसर्ग व परीषह आजावे तो समतासे सहना। किंचित् भी क्षोभित न होना। निर्जन स्थानोंपर जाकर तप करना। परमानन्दका स्वाद लेते हुए तप साधना।

८-उत्तम त्याग—स्वयं संकल्प विकल्प त्यागकर निर्विकल्प रहना तथा अन्य प्राणियोंकी रक्षा करते हुए अभयदान देना व मिथ्यात्वादिके मिटानेको सम्यक्ज्ञानका उपदेश करना। दुःखी थके रोगी साधुओंकी सेवा करके औषधि दान देना। क्षुधा तृषाकी बाधा होनेपर धर्मामृत पिलाकर तृप्त करना यही आहारदान देना।

९-उत्तम आर्किचिन्य—इस जगतमें परमाणु मात्र भी अपना नहीं है, आत्माके गुण पर्याय ही मेरी आत्माके हैं ऐसी भावना भाते हुए अंतरंग रागादि, बहिरंग क्षेत्रादि परिग्रहसे निर्ममत्व रहना। एक केवल स्वयं आपको ध्याना।

१०-उत्तम ब्रह्मचर्य—निश्चयसे अपने ब्रह्म स्वभावमें थिर रहना, व्यवहारसे मन, वचन, काय व कृतकारित अनुमोदनासे स्त्री मात्रसे व कामके विकारसे विरक्त रहना, शीलको ही आत्माका आभूषण समझना।

ये दश धर्म व्यवहारसे दश भेदरूप हैं, निश्चयसे सर्व एक आत्मारूप हैं। जहां आत्माकी थिरता आपमें हुई वहां क्रोधादि कषायोंका विकार न होनेसे क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच स्वयं होजाते हैं। सत्य पदार्थ एक आत्मा है उसमें थिरता एक उत्तम सत्य है। आत्मामें संयमरूप रहना संयम, उसीमें तपना तप है। अपनेको अतीन्द्रिय आनन्द देना त्याग है। परसे ममत्व न होना आर्किचन्य व आपमें आपी जमना ब्रह्मचय है।

इन १० धर्मोंका एक देश पालन गृहस्थ भी करते हैं। वे इन धर्मोंको इतना पालन करेंगे जिससे धर्म, अर्थ काम पुरुषार्थ साधे जासकें, नीति न बिगड़े, दुष्टोंका दमन हो, सज्जनोंकी रक्षा हो, जगतका उपकार हो, अन्यायका दमन हो, आप व पर सब सुखसे निराबाध जीवन बिता सकें, पूर्ण साधन साधु ही कर सक्ते हैं। यदि दुष्टोंपर क्षमा की जाय तो गृहस्थ व साधु दोनोंका धर्म नहीं चल सक्ता इसलिये गृहस्थ यथावसर विवेक पूर्वक इनका साधन करते हैं।

श्लोक—सार्द्ध चेतनाभावं, आत्मधर्मं च एक यं।
आचार्य उपाध्यायेन, धर्म शुद्धं च धारिना ॥ ३३८ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्धं धर्म च धारिना) शुद्ध निश्चय धर्मको पालनेवाले (आचार्य उपाध्यायेन) आचार्य व

उपाध्यायके द्वारा (चेतनाभावं सार्द्धं) चेतना भाव सहित (एक यं च आत्मधर्मं) एक ही आत्मधर्मकी भावना की जाती है।

विशेषार्थ—यद्यपि व्यवहार नयसे भेद रूप धर्मको आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी साधन करते हैं, परन्तु निश्चयसे वे शुद्ध ज्ञान चेतनामई एक आत्मधर्मकी ही आराधना करते हैं व कराते हैं। यदि किसी आचार्य व उपाध्यायका ध्यान मात्र व्यवहार धर्मके प्रवर्तनेपर हो, निश्चयधर्मके चलानेपर न हो तो वे यथार्थ आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी नहीं होसक्ते। वे परम गुरु जानते हैं कि साध्य जैसा होता है वैसा साधन होना चाहिये। साध्य शुद्ध आत्म-स्वरूप है तब उसका साधन भी शुद्ध आत्म-स्वरूपमें थिरता है। इसके सिवाय जो कुछ अन्य भेदरूप धर्माचरण है वह आत्म-ध्यानके लिये निमित्त मात्र है। इस तत्वको सदा सामने रखते हुए जिस तरह साध्यकी सिद्धि हो उसी तरह आप चलते हैं व अन्य शिष्योंको चलाते हैं। अन्तरंग धर्मकी वृद्धि करनेपर ही इन दोनों परमेष्ठियोंका ध्यान रहता है। कर्मकी निर्जराका मुख्य कारण शुद्धात्माका ध्यान है। आचार्य व उपाध्याय स्वयं जबतक अपने पदोंपर आरूढ हैं तबतक धर्मध्यानको ध्याय सक्ते हैं, परन्तु शुक्लध्यानको नहीं पासक्ते हैं। जब शुक्लध्यान करना होता है तब वे इन पदोंका त्यागकर साधु पदमें आजाते हैं।

श्लोक—तत् धर्म शुद्ध दृष्टी च, पूजितं च सदा बुधैः।
उक्तं च जिनदेवेन, श्रूयते भव्यलोकयं ॥ ३३९ ॥

अन्वयार्थ—(तत् धर्मं) वह धर्म (शुद्धदृष्टी च) शुद्ध आत्माका दर्शन ही है (सदा बुधैः च पूजितं) यह धर्म सदा ही बुद्धिमानों द्वारा आदरणीय है (जिनदेवेन उक्तं च) जिनेन्द्रदेवने उसका उपदेश दिया है (भव्यलोकयं श्रूयते) भव्य लोगोंने इसी धर्मका श्रवण किया है।

विशेषार्थ—वह निश्चय धर्म एक शुद्ध आत्मीक अनुभव है, वचन व मनसे अगोचर है, आत्माका ही आत्मामें ही थिरता रूप है, इसीको चाहे शुद्ध सम्यग्दर्शन कहो, चाहे शुद्ध ज्ञान कहो, चाहे स्वरूपाचरण चारित्र कहो, चाहे संयम व तप कहो। इसी धर्मकी जगतमें गणधरादि द्वारा व संतों द्वारा पूजा की जाती है तथा जितने तीर्थंकर व अन्य सामान्य अर्हत् परमेष्ठी उपदेष्टा हुए हैं उन्होंने

इसी परम धर्मका उपदेश दिया है इसीको सुनकर भव्य जीव आनन्दमें मगन होजाते हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि आचार्य परमेष्ठीका कर्तव्य है कि इसी धर्मका प्रचार करावें। उपाध्यायोंका धर्म यह है कि इसी धर्मका पाठ पढावें। जहांतक आत्मज्ञान न होगा वहांतक अन्य अनेक शास्त्रोंका ज्ञान उपकारी न होगा, सर्व शास्त्रोंका सार अध्यात्म शास्त्र है, सर्व विद्याओंमें श्रेष्ठ अध्यात्मविद्या है, सर्व कलाओंमें उत्तम आत्मानुभवकी कला है। इसीलिये जो इस कलाका प्रचार करते हैं वे ही सच्चे आचार्य व उपाध्याय हैं।

श्लोक—साधओ साधुलोकेन, दर्शनं ज्ञानसंयुतं।
चारित्रं आचरणं येन, उदयं अवश्य शुद्ध यं ॥ ३४० ॥

अन्वयार्थ—(साधुलोकेन) साधुओंके द्वारा (दर्शनं ज्ञान संयुतं साधओ) ज्ञान सहित सम्यग्दर्शनका साधन किया जाता है (येन चारित्रं आचरणं) और जो सम्यक्चारित्रका आचरण करते हैं (अवश्य शुद्ध यं उदयं) तथा उनके अवश्य अर्थात् निर्विकल्प स्वावलम्बन रूप शुद्ध भावका भी प्रकाश होता है।

विशेषार्थ—अब साधु परमेष्ठीका विशेष स्वरूप कहते हैं। जो रत्नत्रयका साधन करे उसको साधु कहते हैं। उनमें मुख्यता ज्ञान सहित सम्यग्दर्शनकी है, उनको तत्वोंका यथार्थ ज्ञान होता है तथा दृढ विश्वास पदार्थोंका होता है। पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार या अठाइस मूल गुण रूप चारित्र साधुजन भले भावसे पालते हैं। तथा शुद्ध आत्मीक भावका प्रकाश करते रहते हैं। यदि कोई साधु मात्र व्यवहार रत्नत्रय पाले और निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धात्मानुभव न पावे तो वह साधु परमेष्ठी पूज्य नहीं है, वह मात्र द्रव्यलिंगी साधु-मिथ्यादृष्टी है। भावलिंग सहित ही द्रव्यलिंगकी शोभा है। भावलिंग विना द्रव्यलिंग केवल पुण्यबंधका कारण है—मोक्षका कारण नहीं है।

श्लोक—ऊर्ध अधो मध्यं च, दृष्टि सम्यग्दर्शनं।
ज्ञानमयं च संपूर्णं, आचरणं संयुतं ध्रुवं ॥ ३४१ ॥

अन्वयार्थ—(ऊर्ध अधो मध्यं च) ऊर्धलोक, अधोलोक व मध्यलोक तीनों लोकमें (सम्यग्दर्शनं दृष्टि)

सम्यग्दर्शनके द्वारा जो देखनेवाले हैं (संपूर्ण ज्ञानमयं च ध्रुवं आचरणं संयुतं) व सम्पूर्ण ज्ञानमय निश्चल आचरणके करनेवाले हैं वे साधु हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे साधुजन तीनों लोकोंको यथार्थ देखते व श्रद्धान करते हैं। जब व्यवहार नयसे देखते हैं तो विचारते हैं कि अधोलोक नर्कमें नारकियोंको महान कष्ट है। मध्यलोकमें मानव व तिर्यंच अनेक मानसिक व शारीरिक कष्ट पारहे हैं व भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी तीन प्रकार देव तथा ऊर्ध्व लोकके कल्पवासी देव भी मानसिक दुःखसे पीड़ित हैं। सर्व जीव तीन लोकमें एकेंद्रियसे पंचेंद्रिय पर्यंत पर्यायोंमें जन्म ले लेकर मरते हैं। एक सिद्ध लोक ही सार है जहां सिद्ध भगवान जन्म जरा मरण रहित नित्य आनन्दमग्न रहते हैं। फिर निश्चय दृष्टिसे देखता है तो इस जगतको छः द्रव्योंका समुदाय जानकर हरएक द्रव्यका भिन्न २ स्वभाव विचारता है। अनन्तानन्त जीवोंको एकाकर शुद्ध ज्ञानदर्शनमय देखता है। परम समताभाव प्राप्त करता है, रागद्वेषको मिटा देता है। वीतरागताको पाकर आत्मध्यानमें निश्चिन्त होजाता है। ज्ञानी साधु तत्वोंपर यथार्थ ज्ञान सहित विश्वास रखते हुए मात्र आत्म-शुद्धिके लिये व्यवहार आचरणको पालते हैं तथा निश्चय शुद्ध आचरणमें आरूढ़ होजाते हैं। जिनके मुख्य साधन आत्मध्यान है वे ही साधु हैं।

श्लोक—साधु गुणस्य संपूर्ण, रत्नत्रयालंकृतं।
भव्यलोकस्य जीवस्य, रत्नत्रयं प्रपूजितं ॥ ३४२ ॥

अन्वयार्थ—(साधु) साधु परमेष्ठी (गुणस्य संपूर्ण) अट्ठाईस मूलगुणोंसे पूर्ण होते हैं (रत्नत्रयालंकृतं) रत्नत्रयसे शोभायमान होते हैं (भव्यलोकस्य जीवस्य) भव्य लोक जीवोंके द्वारा (रत्नत्रयं प्रपूजितं) रत्नत्रय पूजने योग्य हैं।

विशेषार्थ—साधुमें २८ मूलगुण पूर्ण होने चाहिये, वे इस प्रकार हैं—

पांच महाव्रत अहिंसादि + पांच समिति ईर्या भाषा आदि + पांच इन्द्रियका दमन + छः आवश्यक-समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग + केशलोंच + नग्नपना + स्नान त्याग + दंत धावन त्याग + खड़े भोजन + एकबार भोजन + भूमि शयन = २८।

तथा वे निश्चय व व्यवहार रत्नत्रयके साधक होते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन निमित्त है जब कि निश्चय सम्यग्दर्शन साक्षात् मोक्षमार्ग है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान निमित्त है जब कि निश्चय सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षमार्ग है, व्यवहार सम्यक्चारित्र निमित्त है जब कि निश्चय सम्यक्चारित्र साक्षात् मोक्षमार्ग है। तीनोंकी एकता मोक्षमार्ग है, पृथक् पृथक् नहीं। जहां शुद्धात्मानुभवका अभ्यास है वहां स्वयं तीनोंकी एकता है। साधुओंके इसीका मुख्य साधन रहता है, क्योंकि साधुजन रत्नत्रयसे विभूषित होते हैं इसलिये भव्य जीव उनकी पूजा करते हैं, उनके गुणोंका स्मरण करते हैं, उनको दान देते हैं, उनसे धर्मोपदेश लेकर स्वयं उसपर चलते हैं।

श्लोक—देवं गुरुं पूज सार्धं च, अंग सम्यक्त शुद्धये।
सार्धं ग्यानमयं शुद्धं, सम्यग्दर्शनमुत्तमं ॥ ३४३ ॥

अन्वयार्थ—(देवं गुरुं अंग सार्धं च पूज) देव, गुरु और शास्त्रकी पूजा (सम्यक्त शुद्धये) सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके लिये कर्तव्य है (ज्ञानमयं शुद्धं सार्धं) साथमें ज्ञान स्वरूप शुद्ध आत्माका अनुभव करना (उत्तमं सम्यग्दर्शनं) उत्तम सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—यहां यह उपदेश दिया है कि पांच परमेष्ठी जैसे पूज्य हैं वैसे उनकी अंग पूर्वरूप वाणी भी पूज्य है। देवमें अरहंत सिद्ध, गुरुमें आचार्य, उपाध्याय, साधु गर्भित हैं। देव शास्त्र गुरुकी पूजा निश्चय सम्यक्तकी प्राप्तिके लिये तथा यदि निश्चय सम्यक्त हो तो उसकी दृढ़ता व शुद्धिके लिये निरन्तर करना योग्य है। भक्ति करनेसे मनपर उनके पवित्र गुणोंके स्मरणका प्रभाव पड़ता है। जिससे परिणामोंमें कषायकी मंदता होती है। एक वस्तु आतापमय होरही है, उष्णतामें जाज्वल्यमान है, उसको पुनः पुनः शांत जलमें डुबानेसे उसका आताप धीरे २ शमन होजाता है। उसी तरह हम संसारी जीव भवकी आतापसे संतापित हैं, विषय कषायके दोषसे दूषित हैं तब हमें उचित है कि हम अपनेको परम वीतराग देव शास्त्र गुरुकी भक्तिमें डुबावें। उनकी शांति हमारे भवातापको शांत करनेमें व उनका विषय-कषायोंसे वैराग्यमय बनानेमें निमित्त पडेगा, इसलिये नित्य व्रती श्रावकको देव शास्त्र गुरुकी पूजा करनी योग्य है, भलेप्रकार भाव लगाकर करनी योग्य है, जिसमें पूज्यमें पूजकका भाव लवलीन होजावे। इससे अनंतानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्वको

उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका बल घटेगा और यदि सम्यक्त होगा तो अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्याना-वरणादि कषायोंका बल घटेगा। इस व्यवहार सम्यग्दर्शनकी सेवा करते हुए श्रावकको यह भी योग्य है कि वह ज्ञानमई शुद्धात्माकी भावना भी करें। यही भावना उत्तम या निश्चय सम्यक्तकी भावना है।

श्लोक—ज्ञानं च ज्ञानशुद्धं च, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
ज्ञानमयं च संशुद्धं, ज्ञानं सर्वत्र लोकितं ॥ ३४४ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानं च) व्यवहाररूप अंग पूर्वादिका ज्ञान (ज्ञान शुद्धं च) तथा शुद्ध आत्माका ज्ञान (शुद्ध तत्त्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्माके स्वरूपको प्रकाश करनेवाले हैं (ज्ञानमयं च संशुद्धं ज्ञानं) ज्ञानमई परम शुद्ध केवलज्ञान (सर्वत्र लोकितं) सर्व पदार्थोंको देखनेवाला है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि सम्यग्ज्ञानकी आराधना परम कार्यकारी है। शुद्ध आत्माके प्रकाशके लिये, आत्माके आवरणको काटनेके लिये, शुद्ध आत्मज्ञानका अनुभव, मनन, चिंतवन परमावश्यक है। समयसार कलशमें कहा है—

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया। तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितं ॥

भावार्थ—जबतक पर परिणतिसे छूटकर ज्ञान ज्ञानमें स्थिरता न पाले अर्थात् जबतक केवलज्ञान न हो बराबर भेदविज्ञानकी भावना करते रहो अर्थात् अपने आत्माको सर्व परभाव, परद्रव्य व कर्म जनित नैमित्तिक भावोंसे जुदा अनुभव करते रहो। इस आत्मीक भावनाकी शुद्धि व दृढताके लिये जिनवाणीका अभ्यास परमावश्यक निमित्त कारण है। जहांतक निर्विकल्प समाधि न हो व शुक्लध्यानका प्रारम्भ न हो तथा छठा सातवां गुणस्थान पुनः पुनः होता रहता हो वहांतक शास्त्रका पढना आवश्यक आलम्बन है। सम्यग्ज्ञानके आराधनसे ही सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होता है, श्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका कारण है। और जब शुद्ध केवलज्ञान होजाता है तब सर्व जानने योग्य जान लिया जाता है, क्योंकि ज्ञानका बाधक ज्ञानावरणका कोई अंश उदयमें नहीं रहा है तब सूर्य प्रकाशके समान पूर्ण ज्ञानका प्रकाश क्यों न हो। सर्वज्ञत्वपना सर्वदर्शीपना शुद्धात्माका मुख्य गुण है। अतएव सम्यग्ज्ञानकी आराधना नित्य करनी योग्य है।

श्लोक—ज्ञानं आराध्यते येन, पूज्य तत्वं च विंदते ।
शुद्धस्य पूज्यते लोके, ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं ॥ ३४५ ॥

अन्वयार्थ—(येन ज्ञानं आराध्यते) जिसने ज्ञानकी आराधना की हो व (पूज्य तत्वं च विंदते) व पुज्यनीय आत्मतत्वका अनुभव किया है ऐसे (शुद्धस्य लोके पूज्यते) शुद्ध ज्ञानधारीकी ही लोकमें प्रतिष्ठा होती है (ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं) ज्ञानमय रहना ही निश्चल यथार्थ तत्व है ।

विशेषार्थ—ज्ञानाराधनाका महात्म्य बताते हैं कि पांचों परमेष्ठी ज्ञानकी आराधना करके ही हुए हैं। इस ही आराधनाके द्वारा पूज्यपना है। जगतके भव्य जीव पांच परमेष्ठी महाराजको ज्ञानाराधनके गुणके द्वारा ही पूजते हैं। सिद्ध भगवान सिद्ध अवस्थामें शुद्ध आत्मामें तल्लीन होते हुए ज्ञानचेतनाका आराधन कर रहे हैं। जब साधक अवस्थामें थे तब भी यही आराधना थी।

अरहंत परमेष्ठी भी निरंतर शुद्ध ज्ञानचेतनाका स्वाद लेते रहते हैं। पहले भी इसीका ही आराधन किया था। आचार्य, उपाध्याय तथा साधु शुद्धात्माकी आराधनाके कारण ही स्वयं मोक्षमार्गी हैं तथा भव्योंके द्वारा पूज्यनीय हैं।

इसलिये ज्ञानमई शुद्ध आत्मीक तत्व ही यथार्थ निश्चल तत्व है। इस तत्वको जिस जिसने ध्याया वही यथार्थ ज्ञानका आराधक है। इसलिये सम्यग्दृष्टीको देव, शास्त्र, गुरुकी पूजा भक्ति करते हुए उसीमें ही संतोष मानके न रह जाना चाहिये परंतु एकांत स्थानमें बैठकर शुद्ध आत्मीक तत्वका शुद्ध नयके द्वारा अवलोकन करके उसीका मनन करना चाहिये। उसीके सिवाय सर्व पर वस्तुओंसे राग छोड देना चाहिये। कर्मफलचेतना व कर्मचेतनाका व्यवहार बंद करके ज्ञानचेतनामय रहनेका पुरुषार्थ करना योग्य है। इसीसे मोक्षकी सीढीपर चढना होगा, यही परम दृढ आलंबन है।

शास्त्र भक्ति।

श्लोक—ज्ञानगुणं च चत्वारि, श्रुत पूजा सदा बुधैः ।
धर्मध्यानं च संयुक्तं, श्रुतपूजा विधीयते ॥ ३४६ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञान गुणं च चत्वारि) ज्ञान गुणके देनेवाले चार अनुयोग हैं (श्रुतपूजा सदा बुधैः) उन शास्त्रोंकी पूजा सदा बुद्धिमानोंको करनी चाहिये (धर्मध्यानं च संयुक्तं) धर्मध्यान सहित ही (श्रुतपूजा विधीयते) श्रुतपूजा करनी योग्य है।

विशेषार्थ—जिनवाणीके शास्त्र चार अनुयोगोंमें वटे हैं-प्रथमानुयोग आदि। इन शास्त्रोंको पढ़नेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। अतएव किसी प्रकारकी लौकिक कांक्षा न रखके मात्र आत्मकल्याणके हेतु ही उन शास्त्रोंका पठन पाठन करना उचित है। तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करनी उचित है। ज्ञानाभ्यास यह बहुत ही आवश्यक गृहस्थ कर्म है। शास्त्रके ध्यान पूर्वक पढनेसे मनके कुभाव बंद होजाते हैं, चिंताएं मिट जाती हैं, अज्ञानका नाश होता है, ज्ञानका प्रकाश होता है, कर्मकी निर्जरा होती है। प्राचीन आचार्योंने जो तत्वोंका मनन किया है उसका बोध होनेसे ज्ञान स्पष्ट होता है। यथार्थ भक्ति शास्त्रकी यही है जो उसका अर्थ भलेप्रकार समझकर धारणामें लिया जावे-उसको कालांतरमें भूला न जावे। रात दिन तत्वका विचार मनको प्रसन्न रखनेके लिये बडा भारी साधन है। विषय कषायोंके मार्गसे बचानेवाला ज्ञानोपयोग है, आत्मा व अनात्माका भिन्न२ स्वरूप सामने रखनेवाला तत्वका अभ्यास है, एक ही विषयके अनेक शास्त्रोंको पढकर हमें ज्ञानको निर्मल करना चाहिये। जितना अधिक शास्त्रोंका विशेष ज्ञान होगा उतना ही उपयोग अधिक देर तक वस्तुके विचारमें लग सकेगा। व्यवहारमें श्रुतपूजा यह है कि हम उच्चासनपर शास्त्रोंको विराजमान करके उनकी स्तुति करके उनके भीतर अपनी गाढ भक्ति उत्पन्न करें। श्रुतभक्ति ज्ञानकी प्राप्तिमें दृढ निश्चय करानेवाली है। आत्महितके हेतु शास्त्र पढना व श्रुतपूजा करना धर्मध्यान है।

श्लोक—प्रथमानुयोग करणं, चरणं द्रव्याणि विंदंते।
ज्ञानं ति अर्थ संपूर्णं, साध्यं पूजा सदा बुधैः ॥ २४७ ॥

अन्वयार्थ—(प्रथमानुयोग करणं चरणं द्रव्याणि विंदंते) प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग ऐसे चार प्रकार शास्त्र जानने चाहिये। (ज्ञानं ति अर्थ सम्पूर्णं) तीन अर्थ रत्नत्रय सहित जो ज्ञान है उसीकी (पूजा सदा बुधैः साध्यं) पूजा सदा पंडितोंको करनी योग्य है।

विशेषार्थ—अनुयोगके चार भेद हैं जिनमें प्रथम अवस्थाके शिष्योंको धर्ममें रुचि बढानेके

हतुसे भिन्न २ महापुरुषोंके व महान महिलाओंके जीवनचारित्र दिखलाए हों, कर्मोंका बंध व फल बताया हो, संसारका नाटक क्षणभंगुर दिखलाया हो, मिथ्यात्वके सेवनसे क्या दुर्गति होती है, सम्यक्तके आराधनसे क्या २ सुख व कैसी सुगति होती है यह बताया हो, किन किनने आत्मध्यान करके मोक्ष पाई। मोक्ष प्राप्त आत्माएं किसतरह अनंतकाल तक सुखभोगती हैं ये सब दृष्टांत बताए हों। मोक्षकी सारता व संसारकी असारता कथाओंके द्वारा झलकाई हो, धर्ममें रुचि बढाने व अधर्मसे रुचि हटानेकी युक्तिसे कथाएं लिखी गई हों सो प्रथमानुयोग बहुत ही उपयोगी शास्त्र विभाग है। दूसरा करणानुयोग है जिसमें तीन लोककी रचना, कहां२ कौन२ जीव पैदा होते हैं उनकी क्या व्यवस्था है, जीवोंके परिणाम कितनी जातिके होते हैं, उनके कैसे२ कर्मोंका बंध होता है, कर्मोंकी आप उदय आदि व भावोंके भेद आदिका गुणस्थान व मार्गणाके रूपमें कथन हो, हरएक वस्तुका सूक्ष्म परिणमन जिससे मालूम हो, हरएकका हिसाब समझमें आवे। जैसी कुछ पर्यायें होती हैं व नाश होती है उनकी सर्व चर्चाएँ मालूम पडे सो करणानुयोग है। जिनसे मुनियोंके श्रावकोंके बाहरी चारित्र पालनेके नियम मालूम हों, क्या२ व्रत उपवास किसतरह करना चाहिये, क्या क्या अतीचार बचाना चाहिये, श्रावकके आचरणकी ११ श्रेणियोंमें क्या २ चारित्र पालना चाहिये, साधुओंका चारित्र क्या है, उनको कैसे भिक्षा करना, विहार करना, भाषण करना, किसतरह समय विताना यह सब कथन किया हो वह चरणानुयोग है। जिन शास्त्रोंमें जीवादि छः द्रव्योंका व सात तत्वोंका स्वरूप दिखलाते हुए आत्मा द्रव्यकी विशेष महिमा बताई हो, शुद्ध निश्चय नयकी मुख्यतासे शुद्ध आत्माका विशेष कथन किया हो, आत्मानुभवकी रीति बताई हो, आत्मोन्नतिके मार्ग झलकाए हों, अतीन्द्रिय आनन्द पानेका उपाय समझाया हो, व्यवहार नय व निश्चय नयसे पदार्थको बताकर निश्चय नयके विषय पर आरूढ कराया हो, वीतरागताका विशेष चित्रण जिसमें हो, द्रव्योंकी सूक्ष्मताका विवेचन हो सो सब द्रव्यानुयोग शास्त्र है। इन चारों प्रकारके शास्त्रकी पूजा करते हुए ज्ञान लाभ करना चाहिये।

श्लोक—प्रथमानुयोग विंदंते, व्यंजन पद शब्दयं।
तदर्थ पदशुद्धं च, ज्ञानं आत्मालं गुणं ॥ ३४८ ॥

अन्वयार्थ—(प्रथमानुयोग विंदंते) प्रथमानुयोग शास्त्रका अनुभव करना चाहिये (व्यंजन पद शब्दयं तदर्थं पद शुद्धं च) उनके अक्षर, शब्द, वाक्य तथा उसके अर्थ व उसके भावार्थ व उससे प्रगट पदार्थको शुद्ध जानना चाहिये (ज्ञानं आत्मालं गुणं) यथार्थ ज्ञान ही आत्माका गुण है।

विशेषार्थ—प्रथमानुयोगमें महान पुरुषोंके जीवनचारित्र होते हैं। उनमें कविता व अलंकार छंद व मनोहरता भी होती है जिससे प्रथम अवस्थाके रागी शिष्योंका मन कथाओंके पढनेमें रंजायमान होसके। अनेक दृष्टांत दे करके नगरकी, शरीरकी व अन्य पदार्थोंकी शोभा कही जाती है, युद्धादिका भी वर्णन आता है। धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थोंको गृहस्थोंने कैसा साधा उसका कथन आता है। कहीं शृंगार, कहीं वीर, कहीं भय, कहीं शोक, कहीं रुदन, कहीं रौद्रध्यान आदि अनेक भावोंका कथन आता है। कहीं वैराग्य व संसारकी असारताका वर्णन आता है। पढनेवालेको उचित है कि अक्षरोंको ठीक २ पहचाने, उनके मिले हुए शब्दोंको अलग २ जाने, उन शब्दोंके मिले हुए वाक्योंको अलग २ समझें, वाक्योंके अर्थ ठीक २ लगावें, फिर उनका भावार्थ ठीक २ समझें, फिर उनसे किस पदार्थका वर्णन झलकता है सो जाने, नौ पदार्थोंमेंसे किसका वर्णन है सो पहचाने, जीवका है कि अजीवका है, आश्रवका है कि बंधका है, संवरका है कि निर्जराका है, मोक्षका है कि पुण्य तथा पापका है। जहां आश्रव बंध पुण्य पाप अजीवका कथन आवे उसको त्यागने योग्य जाने, जहां संवर, निर्जरा व मोक्ष तथा जीवका कथन आवे उसको व्यवहार नयसे ग्रहण योग्य माने। प्रथमानुयोगके कथा-ग्रंथोंको पढते हुए कथाओंके राग द्वेषमई वर्णनमें रंजायमान न होवे, किन्तु उनको जानकर पाप पुण्य कर्मका फल विचारे। किन २ भावोंसे कैसा २ कर्मोंका आश्रव व बंध किस २ जीवने किया व कौन २ धर्म पाला जिससे पापोंको रोका व कैसा २ तप किया जिससे कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्ष पाई, इसतरह पढनेवालेकी दृष्टि धर्मध्यानकी तरफ व तत्वके विचारकी तरफ रहनी चाहिये, तब ही आत्मामें यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति होगी। यह प्रथमानुयोग भी जीवनका चारित्र उत्तम बनानेके लिये बहुत उपयोगी है।

श्लोक—व्यंजनं च पदार्थं च, शाश्वतं नाम सार्थयं।
ॐ वंकारं च विंदंते, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं॥ ३४९॥

अन्वयार्थ—(व्यंजनं च पदार्थं च शाश्वतं नाम सार्थयं) अक्षर, शब्द व पदार्थ, नाम व उनके अर्थ सब सदासे चले आरहे हैं (ॐ वंकारं च विंदते) ॐ के भावको अनुभव करना चाहिये (ध्रुवं ज्ञानमयं सार्थं) निश्चल ज्ञानमई आत्माको साथ २ जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यद्यपि देशकालानुसार भाषाओंका परिवर्तन होजाता है तथापि अनादिकालीन जगतमें मानवोंकी वाणी प्रचलित है व शास्त्रका ज्ञान प्रचलित है, सदा ही तीर्थंकर होते रहे हैं, उनका उपदेश होता रहा है, उसको गणधरोंने सुना है। द्वादशांगवाणीकी रचना की है। पदार्थोंके नाम रक्खे हैं, नामसे अर्थ निकलता है, अर्थसे नौ पदार्थोंके भाव झलकते हैं। ये सब श्रुतज्ञान व शास्त्रज्ञान प्रवाहकी अपेक्षा शाश्वत है, चला आया है, चला जायगा। प्रवाहकी अपेक्षा अनादि व अनन्त है। एक विशेष व्यक्तिकी अपेक्षा सादि व शांत होसक्ता है। ऐसे प्रथमानुयोग शास्त्रके भीतर भी ज्ञानीको ॐ का अनुभव करना चाहिये तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुका स्वरूप जानना चाहिये। पढनेवालेकी दृष्टि उनके स्वरूपकी खोजपर रहनी चाहिये, जहां कहीं बारह भावनाका, व्रतोंके स्वरूपका, साधुके चारित्रका, उनके अरहंत होनेका, उनके द्वारा वाणीके प्रकाशका व सिद्ध होनेका कथन आवे उसको विशेष ध्यानमें लेना चाहिये। चौवीस तीर्थंकरोंके जीवनचारित्रोंमें यह सब कथन आता ही है। फिर इनके भीतर शुद्ध निश्चय नयसे ज्ञानमई शुद्ध निश्चल आत्माको भी पहचाने। जितने प्राणी सिद्ध हुए हैं वे स्वभावसे वैसे ही थे, कर्मोंके पटलमें ढके हुए थे। पटल हट गया प्रकट होगए। इसतरह हरएक जीवका स्वभाव निश्चयसे शुद्ध बुद्ध अविनाशी परमानंदमय है, ऐसा समझकर वस्तुका आनन्द लूटे। इस दृष्टिसे प्रथमानुयोगके ग्रंथोंको पढनेसे यथार्थ शास्त्रकी भक्तिका फल प्राप्त होसकेगा।

श्लोक—करणानुयोग संपूर्णं, स्वात्मचिंता सदा बुधैः।
स्व स्वरूपं च आराध्यं, करणानुयोग शाश्वतं ॥ ३५० ॥

अन्वयार्थ—(करणानुयोग सम्पूर्ण) करणानुयोग पूर्ण पढना चाहिये (स्वात्मचिंता सदा बुधैः) उसके द्वारा पंडितोंको अपने आत्माकी चिंता करनी चाहिये (च स्वस्वरूपं आराध्यं) फिर अपने स्वरूपका ध्यान करना चाहिये (करणानुयोग शाश्वतं) यह करणानुयोग सदासे वस्तुका स्वरूप बतानेवाला है।

विशेषार्थ—करणानुयोग सूक्ष्म पदार्थोंका व उनकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म अवस्थाका बतानेवाला है। रत्नकरंड श्रावकाचारमें इसका स्वरूप है।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च। आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च॥ ४४॥

भावार्थ—यह करणानुयोग लोक और अलोकके विभागको, युगके परिवर्तनको, चार गतिके जीवोंके स्वरूपको दर्पणके समान यथार्थ बतलानेवाला है। कारण तीसरी विभक्तिको भी कहते हैं जो किसी वस्तुका साधन हो उसे करण कहते हैं। अंक गणित, रेखा गणित, बीज गणित, क्षेत्र समास आदिका ज्ञान भलेप्रकार करके तीन लोकका आकार, माप, नारकी, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, मनुष्य, तिर्यंच, कल्पवासी देव व कल्पातीत अहमिंद्र व सिद्धलोक इन सबका कहां २ क्षेत्र है, वह क्षेत्र कितना बडा है, किस तरह स्थित है यह सब जानना चाहिये। अवसर्पिणी उत्सर्पिणी कालका परिवर्तन कहां होता है कैसे होता है व कहां नहीं होता है यह जानना चाहिये। चार गतिके जीवोंके भाव किस तरहके होते हैं उनकी क्या २ अवस्थाएं होती हैं, उनके परिणाम कैसे चढते हैं, कौन २ गुणस्थान किस गतिमें होते हैं, किस गतिमें किसके कितने कर्मोंका बंध, उदय व कितने कर्मोंकी सत्ता रहती है, परिणामोंका चढन किस तरह होता है, सूक्ष्मसे सूक्ष्म हिसाब हरएक प्राणीकी अवस्थाका बतानेवाला यह करणानुयोग है। जिन परिणामोंसे सम्यक्त होता है उन अधःकरण अपुर्वकरण अनिवृत्तिकरण भावोंको झलकाता है। सम्यक्तीको बंधक क्यों कहते हैं व अबंधक क्यों कहते हैं यह भेद करणानुयोगके हिसाबसे मालूम पडता है कि वह मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियोंका बंध नहीं करता है परंतु चारित्र मोहके उदयजनित मलीनताकी अपेक्षा बंध करता है। करणानुयोग बताता है कि किसतरह कषायोंका धीरे २ घटाव गुणस्थान गुणस्थानपर होता है व किसतरह कषायके यकायक उदय आजानेसे यह जीव छठे गुणस्थानसे मिथ्यात्वमें व पांचवें व चौथेसे मिथ्यात्वमें चला आता है। जो यह बाहरी क्रियापर लक्ष्य न देता हुआ भावोंकी तौल करना बताता है। एक मुनि यदि संसारासक्त है, आत्मानुभवकी कलासे खाली है तो यह करणानुयोग उसको मिथ्यादृष्टी कहता है। तथा एक चंडाल यदि सम्यक्तसे विभूषित है तो यह उसको सम्यग्दृष्टी, ज्ञानी व मोक्षमार्गी कहता है। श्री त्रिलोकसार, गोमट्टसार,

लब्धिसार, क्षपणासार आदि ग्रंथोंसे तीन लोकका व चार गतिके जीवोंका स्वरूप भलेप्रकार झलकता है। इसतरह जानकर अपने आत्माकी इस अनादि संसारमें कैसी कैसी दुर्व्यवस्था हुई है उसको विचारना चाहिये। यह किसतरह चतुर्गतिमें भ्रमण करके व किन२ भावोंसे क्या२ कर्म बांधकर दुःख उठा चुका है, इसतरह विचारकर संसारसे वैराग्य व मुक्तिपदसे रुचि करके उसके उपाय रूप अपने निज शुद्ध स्वरूपको ध्याना चाहिये, यही इस अनादिकालीन करणानुयोग शास्त्रको पढ़नेका प्रयोजन है।

श्लोक—शुद्धात्मा चेतनं येन, ॐ वं ह्रियं श्रियं पदं।
पंचदीप्तिमयं शुद्धं, सुयं शुद्धात्मा गुणं ॥ ३५१ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस कारण, योगकी सहायतासे (शुद्धात्मा चेतनं) शुद्ध आत्माका अनुभव होवे तथा (ॐ वं ह्रियं श्रियं पदं पंच दीप्तिमयं शुद्धं) ॐ, ह्रीं, श्रीं पदको व पांच परमेष्ठीके शुद्ध स्वरूपको तथा (शुद्धात्मा गुणं) शुद्धात्माके गुणोंको जाना जावे यही (सुयं) करणानुयोग श्रुत है।

विशेषार्थ—यहां इस बातको स्पष्ट किया है कि जो कोई मात्र तीन लोकका स्वरूप जानले व गुणस्थान मार्गणाका स्वरूप जानले व कर्मोंके बंध, उदय सत्ताका स्वरूप जानले व चार गतिके जीवोंका स्वरूप जानले व कालचक्रके स्वरूपको जानले और विशेष पंडित होके ज्ञानका मद करे, मात्र पंडिताई प्रकाश करे, मान कषायको बढावे, अपना सचा हित न करे उनको शिक्षा दी है कि करणानुयोगके जाननेका फल यह है कि हम ॐ, ह्रीं, श्रीं पदोंसे प्रकाशित अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके स्वरूपको गुणस्थानकी अपेक्षा व कर्मोंके उदय, बंध, क्षयकी अपेक्षा तारतम्य सूक्ष्मतासे जानें और इनके सचे स्वरूपको यथार्थ पहचानें, न कम जाने न अधिक जाने। तथा यह भी जाने कि शुद्धात्माके गुण क्या क्या हैं तथा उनको आवरण कर्म किस किस तरह करते हैं। तथा कर्मोंके क्षयका उपाय एक शुद्धात्मानुभव है ऐसा समझकर निरंतर शुद्धात्माका अनुभव व चेतना व ध्यान करना योग्य है। यदि करणानुयोगको जानकर अपने परिणामोंको शांत, वीतराग व स्वस्वरूपमें रमणरूप न बनाया तो करणानुयोगके पढनेका कोई सचा फल न हुआ। यदि शुद्ध वीतराग परिणतिका उद्देश्य रखते हुए करणानुयोगका ज्ञान है तो वह सचा श्रुतज्ञान है। व अवश्य मोक्षका कारण है।

श्लोक—शल्यं मिथ्यामयं त्यक्तं, कुज्ञान त्रिविध त्यक्तयं ।
ऊर्ध च ऊर्ध सद्भावं, ॐ वं कारं च विंदते ॥ ३५२ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यामयं शल्यं त्यक्तं) मिथ्यारूप तीन शल्यको त्यागना चाहिये (कुज्ञान त्रिविध त्यक्तयं) तीन प्रकार कुज्ञानको त्यागना चाहिये (ऊर्ध च ऊर्ध सद्भावं च ॐ वंकारं विंदते) तथा ऊर्ध अर्थात् सिद्ध भगवानको और उनके स्वभावको तथा ॐ को भलेप्रकार जानना चाहिये।

विशेषार्थ—करणानुयोगसे सूक्ष्मज्ञान करके उनका उपयोग मिथ्यात्वकी पुष्टिमें, मायाचारके प्रयोगमें व किसी विषयभोगकी प्राप्तिकी कामनारूप निदानमें नहीं करना चाहिये। तीन शल्यको छोडकर धर्मध्यानके हेतु उसका उपयोग करना चाहिये, तथा ज्ञानके तीन दोष बचाने चाहिये। संशय, विपरीत व अनध्यवसाय (बेपरवाही) इन तीन दोषोंसे रहित ज्ञानको यथार्थ स्पष्ट प्राप्त करना चाहिये। अथवा कुमति, कुश्रुत, कुअवधि तीन कुज्ञानोंसे बचना चाहिये अर्थात् मिथ्यात्वके परिणामको दिलसे निकाल डालना चाहिये। सर्वसे उत्कृष्ट जो ऊर्धलोकमें विराजमान ऐसे सिद्ध-भगवानको भलेप्रकार समझना चाहिये। तथा उनके शुद्ध गुणोंका वार वार मनन करना चाहिये। ॐ के भीतर गर्भित पांच परमेष्ठीका स्वरूप विचार करके निश्चय नयसे उनमें शुद्धात्माको देखना चाहिये।

श्लोक—द्रव्यदृष्टी च सम्पूर्ण, शुद्धं सम्यग्दर्शनं ।
ज्ञानमयं सार्थं शुद्धं, करणानुयोग चिंतनं ॥ ३५३ ॥

अन्वयार्थ—(द्रव्यदृष्टी च सम्पूर्ण) द्रव्यदृष्टि या द्रव्यार्थिक नय पूर्ण द्रव्यको देखनेवाली है इसीके द्वारा (शुद्धं सम्यग्दर्शनं) शुद्ध सम्यग्दर्शनका लाभ होता है (ज्ञानमयं सार्थं शुद्धं) ज्ञानमई यथार्थ शुद्ध आत्माका अनुभव होता है। यही (करणानुयोग चिंतनं) करणानुयोगकी चिंताका फल है।

विशेषार्थ—करणानुयोगमें यद्यपि मुख्यतासे पर्यायार्थिक नयसे अनेक भेद प्रभेदका कथन है उसको भलेप्रकार जानकरके ही संतोष न कर लेना चाहिये, मात्र भेदरूप अशुद्ध ज्ञान अकेला सम्यग्यदर्शनकी प्राप्ति नहीं करा सक्ता है इसलिये शुद्ध द्रव्यार्थिक नय या निश्चय नयसे भी द्रव्योंका

स्वरूप देखना चाहिये। शुद्ध नय आत्माको शुद्ध एकाकार अभेद अपने शुद्ध गुणोंसे पूर्ण, सिद्ध सम परमात्मा रूप झलकाती है। इस दृष्टिसे जब बार बार विचार किया जाता है और कर्मजनित भावोंको व आठ कर्मकी रचनाको व शरीरादिको भिन्न अनुभव किया जाता है-इसी भेदज्ञानके अभ्याससे ही धीरे धीरे अनंतानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्व कर्मका उपशम होजाता है और शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त होजाता है। जिस समय यह निश्चय सम्यक्त पैदा होता है उस समय ही मोक्षमार्गका प्रारंभ है व तब ही स्वरूपाचरणचारित्र होता है, स्वात्मानुभव होता है, परमानन्दका लाभ होता है। शुद्ध ज्ञानमई यथार्थ आत्मीक तत्व अपनी दृष्टिके सामने द्रव्यदृष्टिसे ही रहता है इसलिये व्यवहार या पर्याय दृष्टिसे पर्यायोंको ठीक ठीक समझनेका काम लेना चाहिये तथा स्वात्मानुभवके लिये शुद्ध द्रव्यदृष्टिका आलम्बन लेकर पुरुषार्थ करना चाहिये। जहां स्वानुभव होता है वहां तो नय सम्बन्धी विकल्प रहता ही नहीं है। करणानुयोगके चिंतवनका यही फल है जो शुद्ध सम्यग्दर्शनका लाभ हो।

श्लोक—चरणानुयोग चारित्रं, चिद्रूपं रूप दिष्टते।
ऊर्द्ध अधो च मध्यं च, संपूर्ण ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ ३५४ ॥

अन्वयार्थ—(चरणानुयोग चारित्रं) चरणानुयोग चारित्रका वर्णन करता है उसके द्वारा (चिद्रूपं रूप दिष्टते) चैतन्य स्वभाव आत्माका अनुभव होता है जिससे (ऊर्द्ध अधो च मध्यं च) ऊपर नीचे व मध्यमें (सम्पूर्ण ज्ञानमयं ध्रुवं) सर्व तरफ ज्ञानमय निश्चल आत्माका दर्शन होता है।

विशेषार्थ—चरणानुयोगमें मुनि व गृहस्थके व्यवहार चारित्रका वर्णन है। यह व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्रका निमित्त कारण है। मन वचन कायकी चंचलता ध्यानमें बाधक है। जितना अधिक हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म व परिग्रहके प्रपंचमें अनुरक्त रहा जायगा उतना ही अधिक मन वचन कायका विशेष व अविवेकरूप प्रवर्तन होगा। इन पांचों पापोंका त्याग मनके संकल्पोंको मिटानेवाला है। मनके अनेक विचार हटे कि वचन व कायकी प्रवृत्ति थम जाती है। मनको निश्चलतामें लानेके लिये चिंताओंका अभाव करना चाहिये। ये चिंताएं गृह, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिके निमित्तसे ही अधिक होती हैं इसलिये इनके पूर्ण निवारणके लिये सर्व परिग्रहका त्याग आवश्यक है, साधुका

चारित्र धारना जरूरी है, साधु हो एकान्तमें तिष्ठकर जब आत्माका मनन किया जायगा तब निश्चय चारित्र जो आत्माका अनुभव है सो प्राप्त होगा। विना व्यवहार चारित्रकी सहायताके परिणामोंमें निराकुलताका लाभ होना कठिन है, इसलिये चरणानुयोगमें कहे अनुसार सम्यग्दृष्टी जीवको श्रावकका चारित्र ग्यारह प्रतिमारूप व मुनिका चारित्र अट्ठाईस मूलगुण रूप पालते हुए मनको निर्विकल्प करते हुए निश्चय चारित्रको पाना चाहिये। यदि आत्मानुभव रूप निश्चय चारित्र न मिला तो व्यवहार चारित्र मोक्षका साधक न हुआ। यहां श्लोकमें निश्चय चारित्रकी प्रधानता करके कहा है कि वहां शुद्धात्माका स्वभाव ऐसी एकाग्रतासे अनुभव किया जाता है कि तीनों लोकमें सर्वत्र उस ध्याताको वही चिदानंद एक रूप ही दिखता है उसके भीतरसे अन्य विचार निकल जाते हैं। अथवा वह ध्याता भावना करता हुआ तीन लोकमें भरे सूक्ष्म तथा स्थूल जीवोंको शुद्ध निश्चय नयसे देखता हुआ, सर्वको परमात्मा देखता हुआ परम समतामई एक रसमें मगन होजाता है वही आत्मीक चारित्र है।

श्लोक—षट् कमलं त्रि ॐ वं च, सार्द्ध शुद्धधर्म संयुतं।
चिद्रूपं रूप दिष्टंते, चरणं पंच दीप्तयं ॥ ३५५ ॥

अन्वयार्थ—(षट् कमलं त्रि ॐ वं च) छः अक्षरी मंत्र वाले व तीन ॐ सहित कमलके (सार्द्ध) साथ या सहारेसे (शुद्ध धर्म संयुतं) शुद्ध धर्मध्यान सहित अभ्यास करनेसे (चिद्रूपं रूप दिष्टंते) चिदाकार स्वभाव अनुभवमें आता है (चरणं पंच दीप्तयं) सम्यक्चारित्र ही पंच परमेष्ठीका प्रकाशक है।

विशेषार्थ—षट्कमलं आदि वाक्य पहले भी आचुके हैं इनका जो अर्थ पहले किया है वही यहां कहा जाता है। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः इन अक्षरोंको एक आठ पत्तेके कमलपर जो कमल हृदय-स्थानपर हो, इस तरह विराजमान करें कि ॐ को मध्य कमलकी कार्णिकामें और पांच पत्तोंपर शेष ५ अथवा शेष तीन पत्तोंपर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः, ॐ सम्यक्चारित्राय नमः, इस तरहका कमल विचार करके कार्णिकाके व एक एक पत्ते परके एक एक अक्षर पदपर चित्त रोके, फिर गुणोंका विचार करता जावे। इन सबमें व्यवहार नयसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु गर्भित हैं। फिर निश्चयसे उनहीके भीतर शुद्धात्माको देखें। इस तरह वारवार

अभ्यास करनेसे शुद्धात्माका अनुभव होता है। यही स्वरूपाचरण निश्चय चारित्र है। इसीके साधक साधु, उपाध्याय तथा आचार्य होते हैं।

अरहंत भगवानके प्रत्यक्ष आत्माका साधरूप स्वरूपाचरण चारित्र विद्यमान है। सिद्ध भगवानके भी साक्षात् यही चारित्र है। पांचों ही परमेष्ठियोंके भीतर स्वरूपाचरणमई निश्चय चारित्रकी ही महिमा है। इसके विना कोई भी परमेष्ठी नहीं होसक्ता है। चरणानुयोगका अभ्यास निश्चय चारित्रका बहुत सहायी है।

श्लोक—द्रव्यानुयोग उत्पाद्यं, द्रव्यदृष्टी च संयुतं।
अनंतानंत दिष्टंते, स्वात्मानं व्यक्तरूपयं ॥ ३५६ ॥

अन्वयार्थ—(द्रव्यानुयोग उत्पाद्यं) द्रव्यानुयोगका अभ्यास करना चाहिये (द्रव्यदृष्टी च संयुतं) साथमें द्रव्यार्थिक नयसे शुद्ध आत्माकी दृष्टी भी प्राप्त करनी चाहिये जिससे (स्वात्मानं अनंतानंत व्यक्तरूपयं दिष्टंते) अपने शुद्ध आत्माके समान जगतकी अनंतानंत आत्माएं प्रगट रूपसे दिखलाई पड़ें।

विशेषार्थ—चौथा अनुयोग द्रव्यानुयोग है जिसमें छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थोंका स्वरूप निश्चय तथा व्यवहार नयसे दिखलाया गया है। इन शास्त्रोंका रहस्य भलेप्रकार जानकर बंध और मोक्षका व संवर तथा निर्जराका स्वरूप समझकर छः द्रव्योंका परस्पर कार्य व सम्बन्ध जानकर सर्व लोककी व्यवस्थाको समझ ले फिर द्रव्यदृष्टिको प्रधान करके सामने लावे और उन्हीं द्रव्योंको जिनसे यह जगत भरा है अलग अलग शुद्ध अपने२ स्वरूपमें देखे। तब सब पुद्गल परमाणु अलग अलग, सर्व जीव शुद्ध अलग अलग, सर्व असंख्यात कालाणु अलग२, धर्मास्तिकाय अलग, अधर्मास्तिकाय अलग, आकाश अलग दिखलाई पड़ेगा। जैसा आप अपनेको द्रव्य दृष्टिके द्वारा शुद्ध आत्मा जानेगा वैसा ही सर्व जगतमें भरे हुए अनंतानंत जीवोंको शुद्धात्मा जानेगा। ऐसा जानना ही द्रव्यानुयोगके जाननेका फल है। फिर वह अभ्यास करनेवाला सर्व विकल्पोंको छोड़कर मात्र एक अपने शुद्धात्मामें लयता प्राप्त करेगा, स्वसमयरूप होजायगा, स्व चारित्रमें मगन होजायगा यही द्रव्यानुयोगके शास्त्रोंको पढनेका फल है।

श्लोक—दिव्यं द्रव्यदृष्टी च, सर्वज्ञं शाश्वतं पदं।
नंतानंत चतुष्टं च, केवलं पद्मं ध्रुवं ॥ ३५७ ॥

अन्वयार्थ—(द्रव्यदृष्टी च दिव्यं) द्रव्यदृष्टि अपूर्व है, शोभनीक है (सर्वज्ञं शाश्वतं पदं) जो अपने आत्माको सर्वज्ञ व अविनाशी पदमें दिखाती है (नंतानंत चतुष्टं च) जो अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख व अनंत वीर्यमय (केवलं) केवल असहाय पर संग रहित (ध्रुवं) निश्चल अविनाशी (पद्मं) प्रफुल्लित कमलके समान विकासित व निर्लेप झलकाती है।

विशेषार्थ—यहां शुद्ध निश्चयनय या द्रव्यार्थिक नयकी महिमा बताई है। जैसे भेदविज्ञानी विवेकीको तिलोंमें तेल व भूसी अलग२, धान्यमें चावल व भूसी अलग२, स्फटिकके माणिकमें स्फटिक पाषाण व लाल डांक अलग २, चांदी सोनेके गहनेमें चांदी सोना अलग२, माणकसे जडी सोनेके अँगूठीमें माणक व सोना अलग२, खीरमें दूध, मीठा, चावल अलग२, रंगीन वस्त्रमें वस्त्र और रंग अलग २ दिखता है वैसे भेदविज्ञानीको शुद्ध नय या द्रव्य दृष्टिके द्वारा देखते हुए अपना व परका हरएक आत्मा सर्व ही आत्माएँ एक रूप, शुद्ध, परमात्मा सर्वज्ञके तुल्य सदा अविनाशी, अनंतचतुष्टयादि गुणोंसे अखण्ड भरपूर, सर्व पर द्रव्यके संग रहित, एकाकी केवल स्वरूप, अपने स्वरूपमें निश्चल, सर्व कर्मबंधकी व शरीरकी व रागादि मैलकी रचनासे जैसे जलसे कमल अलिप्त है वैसे अलिप्त दिखते हैं। इस दृष्टिके द्वारा देखनेका अभ्यास समताभावको जागृत कर देता है, रागद्वेषका विलय कर देता है, वीतरागताकी व आत्मानुभवकी गुफामें पहुँचा जाता है, यह द्रव्यानुयोग द्रव्यदृष्टिको जो संसारके तमसे आच्छादित थी खोल देता है। यह मोक्षमार्गमें परम सहाई है।

श्लोक—चतुरगुणं च जानंते, पूजा वेदंते बुधैः।
संसारभ्रमणं मुक्तस्य, सुयं मुक्तिगामिनोः ॥ ३५८ ॥

अन्वयार्थ—(बुधैः) बुद्धिमान पंडितोंको (चतुरगुणं च जानंते) इन चार अनुयोगोंको जानना चाहिये (पूजा वेदंतं) व उनकी पूजा करनी चाहिये (सुयं) यह श्रुतज्ञान (मुक्तिगामिनोः) मोक्षमें जानेवाले प्राणीको (संसारे भ्रमणं मुक्तस्य) संसारके भ्रमणसे छुडानेवाला है।

विशेषार्थ—जो गृहस्थ अपना परम कल्याण करना चाहें व मानव जीवनको सफल करना चाहें उनका कर्तव्य है कि वे चारों अनुयोगोंके ग्रन्थोंको भलेप्रकार स्वाध्याय करें, प्रचलित वर्तमान दि० जैन ग्रंथोंमें ऋषिप्रणीत माननीय नीचे लिखे ग्रन्थ अवश्य पढ जाने चाहियेः—

प्रथमानुयोग—पद्मपुराण, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, पार्श्वपुराण, महावीरचरित्र, जम्बूस्वामीचरित्र, जीवंधरचरित्र, धन्यकुमारचरित्र, भविष्यदत्त चरित्र, सुदर्शन सेठ चरित्र, सुकुमाल चरित्र।

करणानुयोग—त्रिलोकसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, जयधवल, धवल, महाधवल, त्रिलोकप्रज्ञप्ति।

चरणानुयोग—मूलाचार, आचारसार, भगवती आराधना, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा।

द्रव्यानुयोग—द्रव्यसंग्रह, तत्वार्थसूत्र, वृहत् द्रव्यसंग्रह, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, परमात्मप्रकाश, ज्ञानार्णव, समाधिशतक, इष्टोपदेश, आप्तमीमांसा, प्रमेय रत्नमाला।

चारों अनुयोगोंके कुछ सुगम शास्त्रोंको पढकर जिनवाणीका रहस्य जानना चाहिये फिर स्वाध्यायको बराबर बढाते रहना चाहिये। इस चार अनुयोगरूप शास्त्रकी भाव पूजा व द्रव्य पूजा भलेप्रकार करनी चाहिये। मुख्य भक्ति उनका ज्ञान प्राप्त करना है। जो संसारभ्रमणसे उदास हैं और मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये आगमकी सेवा बहुत ही जरूरी है। शास्त्रज्ञानके ही प्रतापसे भेदविज्ञान होगा। भेदज्ञानसे स्वानुभव होगा-स्वानुभवसे ही केवलज्ञान होगा और यह संसारसे पार होजायगा। श्रुतभक्ति संसार उद्धारक है।

श्लोक—श्रियं सम्यग्दर्शन च, सम्यग्दर्शनमुद्यमं।
सम्यक्तं सम्पूर्णशुद्धं च, ति अर्थ पंच दीप्तयं ॥ ३५९ ॥

अन्वयार्थ—(श्रियं सम्यग्दर्शन च) श्री अर्थात् केवलज्ञानादि लक्ष्मी उसमें विश्वास अर्थात् देव, उनकी वाणी व उसके अनुसार चलनेवाले गुरु इन तीनमें भलेप्रकार श्रद्धान करके भक्ति करना

(सम्यग्दर्शनमुद्यमं) वह सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उद्योग है (सम्यक्तं संपूर्णशुद्धं च) जो निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध है (ति अर्थं पंचदीप्तयं) वह तीनों अर्थ अर्थात् रत्नत्रय स्वरूप है और पांच परमेष्ठीपदका प्रकाशक है।

विशेषार्थ—देव शास्त्र गुरु जो परमार्थरूप हैं, जिनका स्वरूप कथन इस ग्रन्थमें बहुतसे स्थलोंपर किया है उनका दृढ श्रद्धान रखके उनकी भक्ति करना यही निश्चय सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उद्योग करना है। देव शास्त्र गुरुकी भक्ति करनेसे परिणामोंमें जितनी २ उज्वलता होगी उतनी २ सम्यग्दर्शनके निरोधक अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्मकी कमी होगी, उनका बल घटता जायगा। इस तरह मनन करते करते एक दिन पांचों प्रकृतियोंका उपशम होकर निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन पैदा होजायगा। हमें अपना उद्यम चार तरहका रखना चाहिये। (१) श्री जिनेन्द्रदेवकी स्तुति, भक्ति व गुणानुवाद गाना, उनके स्वरूपको देखना, विचारना, उनकी पूजा करनी। (२) जिनवाणीका नित्य प्रति स्वाध्याय करके सात तत्वोंको समझना। (३) अध्यात्म ज्ञाता परम ध्यानके अभ्यासी गुरुओंकी भक्ति करके सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करना। (४) प्रातःकाल और संध्याकाल कुछ देर एकांतमें बैठकर सामायिक करना, बारह भावनाका विचार करना, आत्मा व अनात्माका भिन्न२ स्वरूप भाना। इन चार उपायोंके करनेसे कभी न कभी सम्यक्त होजाना संभव है। जबतक सम्यक्त न होगा तबतक भी परिश्रम वृथा नहीं जायगा। जितना पुण्य बांधोगे वह संसारमें साताको पैदा करेगा, असातासे बचाएगा।

निश्चय सम्यग्दर्शन जब उदय होगा तब वहां सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र भी प्रगट होजाता है। ऐसा ही सम्यक्त रत्नत्रयमई स्वात्मानुभवमें जब लिया जाता है तब यही कषायको मंद करता हुआ श्रावकसे साधु, साधुसे आचार्य व उपाध्याय, आचार्य उपाध्यायसे फिर साधु-साधुसे अरहंत, अरहंतसे सिद्ध बना देता है। अतएव पांच उत्तम पदोंके प्रकाशका परम्पराय कारण श्रीकी भक्ति है, देव शास्त्र गुरुकी आराधना है।

श्लोक—श्रियं सम्यग्दर्शनं, श्रियं कारण उत्पद्यते।
सर्वं ज्ञानमयं शुद्धं, श्रियं सम्यग्दर्शनं ॥ ३६० ॥

अन्वयार्थ—(श्रियं सम्यग्दर्शनं) परम ऐश्वर्यशाली महत्वपूर्ण निश्चय सम्यग्दर्शन (श्रियं कारण उत्पद्यते)

श्री अर्थात् देव शास्त्र गुरुकी भक्तिके द्वारा उत्पन्न होता है (सर्व ज्ञानमयं शुद्धं श्रियं सम्यग्दर्शनं) यह निश्चय सम्यग्दर्शन सर्व प्रकारसे ज्ञानमई शुद्ध आत्माका अनुभव करनेवाला है।

विशेषार्थ—जैसा पहले कहा गया है देव, शास्त्र, गुरुकी सेवा जो उनके गुणोंको पहचान करके करते हैं, सेवा करते हुए कोई विषय कषायकी पुष्टिकी चाहना नहीं रखते हैं। मात्र उनके पवित्र गुणोंमें इसी तरह रंजायमान होते हैं जैसे भ्रमर कमलमें आसक्त होता है। उनके द्वारा जो शुद्ध आत्माका लक्ष्य रखते हैं उनके लिये यह देव शास्त्र गुरुकी भक्ति आत्माका अनात्मासे भेद-विज्ञान करानेके लिये निमित्त कारण है। जैसा श्री मोक्षशास्त्रके मङ्गलाचरणमें है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

भावार्थ—मैं संसारसे छूटनेका मार्ग बतानेवाले, कर्मरूपी पर्वतोंको तोडनेवाले व सर्व तत्वोंके जाननेवाले इन तीन गुण विशिष्ट देवको उन ही गुणोंकी प्राप्तिके हेतुसे वंदना करता हूँ। निश्चय सम्यग्दर्शन आत्माका स्वभाव है। जिसके भीतर यह प्रकाशमान होजाता है उसके शुद्धात्माका अनुभव अवश्य होता है। तथा वह लोकके पदार्थोंमें यथार्थ ज्ञानी होजाता है, आत्माको आत्मा अनात्माको अनात्मा देखता है।

श्लोक—ज्ञानं च सम्यक्तं शुद्धं, संपूर्णं त्रिलोकमुद्यमं।
सर्वं ज्ञानमयं शुद्धं, पद वन्द्यं केवलं ध्रुवं ॥ ३६१ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्तं ज्ञानं च शुद्धं) सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान है वही शुद्ध है उसीके द्वारा ही (संपूर्णं त्रिलोकं उद्यमं) सर्व तीन लोकको देखनेवाले ज्ञानके लाभका उद्यम होता है वह ज्ञान (सर्वं) सर्व सम्पूर्ण है (ज्ञानमयं शुद्धं) ज्ञानमय है, सर्व आवरण रहित शुद्ध है (केवलं ध्रुवं वंद्यं पद) केवल असहाय है, नित्य है, वंदनीक पद उसीसे होता है।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान विना सम्यग्दर्शनके हुए सम्यक् नाम नहीं पाता है। यद्यपि न्याय शास्त्र द्वारा व युक्ति बलसे व गुरुकी आज्ञा प्रमाण या शास्त्रके वचन प्रमाण कोई जीवादि तत्वोंको संशय विपर्यय अनध्यवसाय रहित ठीक ठीक जानले तथापि जबतक मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शन नामी आत्मीक गुणका प्रकाश नहीं होता है तबतक ज्ञानको सम्यग्ज्ञान

यथार्थ नहीं कह सक्ते हैं। आत्मप्रतीति विना द्रव्यलिंगी साधुका ग्यारह अंग नौ पूर्व तकका ज्ञान भी मिथ्यात्व सहित होनेसे मिथ्याज्ञान नाम पाता है। जहां आत्मानुभूति जागृत होजाती है उसी ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान वास्तवमें दोयजका चन्द्रमा है। इसी ज्ञानके द्वारा जितना २ शुद्ध आत्माका अनुभव किया जायगा, ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता जायगा। इसी ज्ञानके बलसे सर्व श्रुतज्ञानका लाभ पाकर श्रुतकेवली मुनि होजाता है जो सर्व श्रुतज्ञानके बलसे अपने शुद्धात्माका अनुभव करते हैं। इसी ज्ञानके बलसे किसीको अवधिज्ञान या मनःपर्यय ज्ञान होजाता है, यही शुद्धात्मानुभव रूप सम्यग्ज्ञान पूर्णमासीके चन्द्रमा समान केवलज्ञानको पैदा कर देता है। चाहे किसीको पूर्ण श्रुतज्ञान या अवधि या मनःपर्यय ज्ञान न भी हो तौभी शुद्धात्मानुभवमें यह शक्ति है कि वह कमसे कम एक अंतर्मुहूर्त मात्रके लगातार ध्यानसे सर्व ज्ञानावरणीय कर्मको क्षय करके केवलज्ञानको जगा देता है। केवलज्ञान असहाय है इसको किसी इंद्रिय या मनकी जरूरत नहीं है, यह सर्व जानने योग्य पदार्थोंको एक साथ जान सक्ता है, यह फिर कभी आवरण नहीं पाता है, सदा ही रहता है व इसीके प्रकाशसे ही आत्मा अरहंत कहलाता है। सर्व ही अल्पज्ञानियोंके द्वारा वंदनीक पद इसीसे प्राप्त होता है।

श्लोक—श्रियं सम्यक्ज्ञानं, च, श्रियं सर्वज्ञ शास्वतं।
लोकालोकमयं रूपं, श्री सम्यक्ज्ञान उच्यते ॥ ३६२ ॥

अन्वयार्थ—(श्रियं सम्यक्ज्ञानं च) परम ऐश्वर्यशाली सम्यग्ज्ञान (श्रियं सर्वज्ञ शाश्वतं) अतिशय रूप सर्व पदार्थोंका ज्ञाता व अविनाशी है (लोकालोकमयं रूपं) लोकालोकके प्रकाश करनेको दर्पण है (श्री सम्यक्ज्ञान उच्यते) ऐसा प्रभावशाली सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

विशेषार्थ—यहां केवलज्ञानकी महिमा बताई है। यह केवलज्ञान पूर्ण शुद्ध स्पष्ट ज्ञान है जिस ज्ञानके बलसे मूर्तीक व अमूर्तीक पदार्थ सर्व प्रत्यक्ष दीख जाते हैं। मति श्रुतज्ञान यद्यपि अमूर्तीक जीव धर्म अधर्म आकाश काल इन पांच पदार्थोंको जानते थे, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं जानते थे-परकी सहायतासे जानते थे। यह मात्र केवलज्ञानमें ही शक्ति है जो सबको एक साथ प्रत्यक्ष जानले। यही ज्ञान सर्वज्ञका ज्ञान कहलाता है, इसका कभी न क्षय है, न अंत है। इस ज्ञानमें यह शक्ति

है कि सर्व लोक व अलोकके भीतर भरे हुए छः द्रव्योंकी अनन्त गुण पर्यायोंको एक काल जान सक्ता है। तथापि मोहनीय कर्मके उदय विना इस ज्ञानमें कोई रागद्वेष मोह नहीं होता है। यह परम शुद्ध वीतरागी बना रहता है। इसीको यथार्थमें सम्यक्ज्ञान कहते हैं। इसीका प्रकाशक आत्मानुभवरूप सम्यक्ज्ञान है। जो सम्यक्दर्शन सहित होता है उसीको उपादेय जानके उसका लाभ करना योग्य है।

श्लोक—श्रियं सम्यक्चारित्रं, सम्यक उत्पन्न शाश्वतं।
अप्पा परम पयं शुद्धं, श्री सम्यक् चरणं भवेत् ॥ ३६३ ॥

अन्वयार्थ—(श्रियं सम्यक्चारित्रं) ऐश्वर्यशाली सम्यक्चारित्र (सम्यक् शाश्वतं उत्पन्न) भले प्रकार श्री अविनाशी वीतराग यथाख्यात सम्यक्चारित्रको उत्पन्न कर देता है। तब (अप्पा परम पयं शुद्धं) आत्मा परम पदको प्राप्त हुआ शुद्ध होजाता है (श्रीसम्यक्चरणं भवेत्) यही परम प्रभावशाली सम्यक्चारित्र है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होते ही जो स्वरूपाचरण चारित्र पैदा होता है वही सम्यक्चारित्र है। जितना२ स्वरूपका अनुभव बढता जाता है उतना उतना कषायोंका उपशम होता जाता है। उतना उतना सम्यक्चारित्र भी बढता जाता है, इसी उपाय श्रावकका एक देश संयम तथा मुनिका सकल संयम प्राप्त होता है। जब संज्वलन कषायका अति मंद उदय होता है तब श्रेणी चढकर चारित्र मोहको उपशम करे तो ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थानमें यथाख्यात चारित्रको पालेता है। यदि चारित्र मोहको क्षय करे तो बारहवें क्षीण मोह गुणस्थानमें यथाख्यात चारित्रवान होजाता है। फिर तेरहवें गुणस्थानमें जब केवलज्ञान होता है तब वह परम यथाख्यात चारित्रवान होजाता है क्योंकि तब वह प्रत्यक्षपने आत्माका थिरपना पालेता है। आत्माकी परम शुद्धि चारित्रके प्रतापसे ही होती है। जितनी २ ध्यानकी शक्ति बढती जायगी नवीन कर्मोंका संवर अधिक होगा व पूर्व बद्धकर्मकी निर्जरा विशेष होगी। स्वात्मानुभव करते२ यह परम एकाग्र स्वचारित्रमें पहुँच जाता है वही यथार्थ सम्यक्चारित्र है जो अरहंत भगवान सिद्ध परमेष्ठीके पाया जाता है।

श्लोक—श्रियं सर्वज्ञ सार्थं च, स्वरूपं व्यक्त रूपयं।
श्रियं सम्यक् ध्रुवं सार्थं, श्री सम्यक् चरणं बुधैः ॥ ३६४ ॥

अन्वयार्थ—(श्रियं सर्वज्ञ सार्थं च) श्री सर्वज्ञ भगवान यथार्थ आत्मीक गुणरूपी लक्ष्मी कर सहित हैं (स्वरूपं व्यक्त रूपयं) जिनके भीतर आत्माका स्वरूप व्यक्त है, प्रगट प्रकाशमान है (श्रियं सम्यक् ध्रुवं सार्थं) वहीं परम प्रभावशाली निश्चय यथार्थ सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है (श्री सम्यक्चरणं बुधैः) तथा वहीं परम सम्यक्चारित्र है ऐसा बुद्धिमानोंने माना है।

विशेषार्थ—व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान तथा व्यवहार सम्यक्चारित्रकी सहायतासे निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्रकी एकता जो आत्माकी निर्विकल्प समाधि उसके द्वारा अभ्यास करते करते जब यह केवलज्ञानी अर्हत् होजाता है तब वहां निश्चय रूपसे शुद्ध सम्यग्दर्शन भी है, शुद्ध सम्यक्ज्ञान भी है तथा शुद्ध सम्यक्चारित्र भी है। रत्नत्रय धर्मकी अपूर्णता साधक है, रत्नत्रय धर्मकी पूर्णता साध्य है। ऐसा जानकर बुद्धिमानोंको रत्नत्रय धर्मकी सेवा करनी योग्य है। इसीकी प्राप्तिके लिये यथार्थ देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति सदा करनी चाहिये।

श्लोक—पचहत्तर गुण वेदंते, सार्द्धं च शुद्धं ध्रुवं।
पूजितं संस्तुतं येन, भविजन शुद्ध दृष्टितं ॥ ३६५ ॥

अन्वयार्थ—(पचहत्तर गुण वेदंते) जो पिछत्तर गुणोंको अनुभव करते हैं (सार्द्धं च शुद्धं ध्रुवं) साथमें आत्माके शुद्ध निश्चल गुणोंका अनुभव करते हैं (येन पूजितं संस्तुतं) जिसने इन गुणोंकी पूजा की व स्तुति की है (भविजन शुद्ध दृष्टितं) वही भव्य जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टी है।

विशेषार्थ—पिछत्तर गुणोंको जानना, विचारना, उनकी पूजा करना, उनकी स्तुति करना, उनका अनुभव करना ऐसा उपदेश यहां भव्य जीव गृहस्थ सम्यग्दृष्टीको दिया गया है। वे ७५ गुण कौनसे हैं उनका यहां खुलासा नहीं है। अपनी बुद्धिसे विचारते हुए एक तो पांच परमेष्ठीके ७५ गुण होसक्ते हैं, दूसरे सम्यग्दृष्टी गृहस्थको ७५ गुण पालने चाहिये। दोनों ही अर्थ लेकर ७५ गुणोंकी संख्या नीचे प्रकार जाननी—

अरहंत परमेष्ठीके....	अनंतचतुष्टय	४
सिद्ध परमेष्ठीके	सम्यक्त आदि गुण	८

आचार्य परमेष्ठीके	....	....	दशलक्षण धर्म	१०
उपाध्याय परमेष्ठीके	....	....	११ अंग १४ पूर्व	२५
साधुके	....	....	मूल गुण	२८
पांच परमेष्ठीके	....	....	मुख्य गुण	७९

गृहस्थको उचित है कि इन गुणोंको चिंतवन करता हुआ ॐ के द्वारा पांच परमेष्ठीका मनन करे।

सम्यग्दृष्टी गृहस्थके भीतर नीचे लिखे ७९ गुण होने चाहिये—

२५	मल दोष रहित पना	२५ गुण
८	संवेगादि—अर्थात् १ संवेग या धर्मानुराग, २ निर्वेद-संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य, ३ गर्हा-अपने मनमें अपनी बुराई, ४ निन्दा-दूसरोंसे अपनी बुराई, ५ उपशम या शांत भाव, ६ भक्ति-अर्हंतादिकी भक्ति, ७ वात्सल्य-धर्मात्माओंसे प्रेम, ८ अनुकम्पा-दुःखियोंपर दया।	८ गुण
५	अतीचार न लगाना—१ शंका, २ कांक्षा, ३ विचिकित्सा, ४ अन्य-दृष्टि प्रशंसा, ५ अन्यदृष्टि संस्तव	५ गुण
७	भय रखना—१ इस लोक, २ परलोक, ३ रोग, ४ अनरक्षा, ५ अगुप्ति, ६ मरण, ७ अकस्मात्	७ गुण
३	शल्य छोडना—माया, मिथ्या, निदान	३ गुण
८	मूलगुण—३ मकार, पांच उदम्बरका त्याग	८ ,,
७	व्यसन—द्यूतादिका त्याग	७ ,,
१२	व्रतोंका अभ्यास—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत	१२ ,,
		७९ गुण

यदि यहां अन्य तरहसे ७९ गुणोंका प्रयोजन हो तो विद्वान विचार लेवें।

गृहस्थी सम्यग्दृष्टी उन गुणोंकी पूजा भक्ति आदर मनन करता हुआ शुद्ध निश्चल आत्माका अनुभव अवश्य करता रहता है क्योंकि वही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

श्लोक—एततु गुण सार्द्धं च, स्वात्मचिंता सदा बुधैः ।
देवाश्च तस्य पूजंते, मुक्तिगमनं न संशयः ॥ ३६६ ॥

अन्वयार्थ—(एततु गुण सार्द्धं च) इन गुणोंको विचारते हुए (बुधैः सदा स्वात्मचिंता) बुद्धिमानोंको सदा अपने आत्माका चिन्तवन करना चाहिये। (देवाश्च तस्य पूजंते) ऐसे सम्यग्दृष्टी देवता भी पूजन करते हैं (मुक्तिगमनं न संशयः) तथा वह मोक्षमें अवश्य जायगा इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—बुद्धिमान गृहस्थ श्रावकोंको प्रथम कहे प्रमाण ७१ गुणोंको जो पांच परमेष्ठीमें पाए जाते हैं या जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थमें होने चाहिये भलेप्रकार ध्यानमें रखना चाहिये तथा मुख्यतासे अपने ही आत्माको भेदविज्ञानके द्वारा शुद्ध निश्चयनयकी सहायतासे, रागादि भाव कर्मोंसे, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंसे, शरीरादि नो कर्मोंसे भिन्न अनुभव करना चाहिये। यह अपने आत्माका मनन, विचार व ध्यान सदा ही प्रतिदिन प्रातःकाल, सायंकाल तो अवश्य कुछ देर एकांतमें बैठकर करना चाहिये। जो सच्चे श्रद्धावान गृहस्थ हैं, पांच परमेष्ठीके भक्त हैं व देव, शास्त्र, गुरुके भक्त हैं उनकी महिमा इंद्रादि देव गाते हैं तथा कभी कोई संकट पड जावे तो उनकी सहायता भी करते हैं। ऐसा गृहस्थ अवश्य मोक्षका पात्र होजाता है। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुकूल हुआ तो उसी भवसे साधु हो ध्यान करके क्षपकश्रेणी चढकर केवलज्ञानी हो सिद्ध होजाता है। यदि अनुकूल न हुआ तो कुछ जन्मोंके पीछे वह अवश्य सिद्ध होजाता है। क्योंकि जिसकी रात्रि दिन भावना अपने आत्माकी तरफ है वह क्यों नहीं भवसागरसे पार होगा व क्यों नहीं बंधनसे मुक्त होगा व क्यों नहीं वह अनन्त सुखको प्राप्त करेगा।

सुगुरु भक्ति।

श्लोक—गुरुस्य ग्रंथमुक्तस्य, रागदोषं न चिंतए।
रत्नत्रय मयं शुद्धं, मिथ्या माया विमुक्तयं ॥ ६६७ ॥

गुरुं त्रिलोक वेदंते, धर्मध्यानं च संजुतं ।
तद्गुरुं सार्द्धं नित्यं, रत्नत्रयालंकृतं ॥ ३६८ ॥

अन्वयार्थ—(ग्रन्थमुक्तस्य) परिग्रह रहित (गुरुस्य) गुरुकी सेवा करनी चाहिये वे गुरु (रागदोषं न चिंतए) रागद्वेषकी चिंता नहीं करते हैं किंतु (मिथ्या माया विमुक्तयं) मिथ्यात्व व मायाचारसे रहित (शुद्धं रत्नत्रय मयं) शुद्ध रत्नत्रयमई आत्माका मनन करते हैं । (गुरु त्रिलोक वेदंते) ऐसे गुरु तीन लोकके यथार्थ स्वभावको जानते हैं (धर्मध्यानं च संजुतं) तथा धर्मध्यान सहित वर्तन करते हैं (रत्नत्रयालंकृतं) वे रत्नत्रयसे शोभित रहते हैं (तस्य गुरुं नित्यं सार्द्धं) ऐसे गुरुका नित्य साथ करना चाहिये ।

विशेषार्थ—यहां गुरु भक्तिको दृढ किया है । गृहस्थ श्रावकका मुख्य कर्तव्य है कि सच्चे गुरुओंकी सेवा करे, उनकी संगति करे, उनके साथ रहे, उनकी वैयावृत्य करे, उनके उपसर्ग दूर करे, तथा उनसे शास्त्र ज्ञान व ध्यानका मार्ग जाने । गुरु बडे अनुभवी होते हैं, थोडेसे परिश्रमसे ही उनके द्वारा धर्मका लाभ होजाता है । उनकी संगतिसे भावोंमें वैराग्य रहता है । ऐसे गुरुओंका स्वरूप यह है कि परिग्रहसे रहित निर्ग्रन्थ हों । क्षेत्र, मकान, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कपडे, वर्तन आदि बाहरी १० प्रकारके परिग्रहसे तथा अंतरंग मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद इन १४ प्रकारके परिग्रहसे बिलकुल ममत्व रहित हो, इनके बुद्धिपूर्वक त्यागी हो, नग्न दिगम्बर रूपके धारी हों, मात्र जीवदयाके लिये मोरपिच्छिका व शौचके लिये काष्ठ कमंडल, व ज्ञानके लिये आवश्यक हो तो शास्त्रको पास रखते हों । जो निर्भय हों, बालकवत् विहार करते हों, जिनमें राग द्वेष न हो, परम समताभावके धारी हों, शत्रु मित्र, कनक कांच, लाभ अलाभ, मान अपमान, जन्म मरण, रोग निरोग आदि अनेक संसारकी राग द्वेष मूलक अवस्थाओंकी तरफ राग द्वेष न करके समताभावके धारी हों, मिथ्या माया व निदान तीन प्रकारके शल्यसे रहित होकर व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान व व्यवहार सम्यक्चारित्रका यथार्थ शास्त्रोक्त आचरण करते हुए निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध आत्माका निरंतर अनुभव करनेवाले हों, आत्मानन्दके स्वादी हों, इंद्रिय विषयोंके स्वादसे विरक्त हों तथा शास्त्रोंके ऐसे ज्ञाता हों कि छः द्रव्योंका स्वरूप जानते हुए तीन लोककी

वस्तुओंका मूल स्वरूप, कारण व भेद प्रभेद यथार्थ जानते हों। स्वरूप विपर्यय, कारण विपर्यय, भेदाभेद विपर्यय इन तीन दोषोंसे रहित जिनका निर्मल ज्ञान हो तथा जो कभी आर्तध्यान व रौद्रध्यान नहीं करते हो किंतु धर्मध्यानमें आसक्त हों। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत इन ध्यानोंका अभ्यास करते हों, ऐसे गुरुओंकी सदा ही भक्ति करके अपने भावोंको वैराग्यमय, ज्ञानमय बनाना गृहस्थका मुख्य कर्तव्य है। गुरुओंमें और गृहस्थोंमें परस्पर उपकार होता है। गुरु महाराज तत्वोंका उपदेश करते हैं, साचा मार्ग बताते हैं, जागृत करते हैं, मिथ्यात्वीको सम्यक्ती, अव्रतीको व्रती बनाते हैं तब गृहस्थ उनकी सेवा आहार औषधि दानसे व वैयावृत्य आदिसे करते हैं। यह गुरुभक्ति नित्य करनी चाहिये, यही धर्मवृद्धिका साधन है।

स्वाध्यायका लाभ।

श्लोक—स्वाध्याय शुद्धं ध्रुवं चिंते, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
शुद्ध संपूर्णदृष्टी च, ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं ॥ ३६९ ॥
स्वाध्याय शुद्ध चित्तस्य, मनवचनकाय रुंधनं।
विलोकंति अर्थं शुद्धं, अस्थिरं शाश्वतं ध्रुवं ॥ ३७० ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध तत्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्मीक तत्वके प्रकाश करनेवाले (शुद्धं स्वाध्याय) शुद्ध दोष रहित शास्त्रका पठन या मनन या श्रवनका (ध्रुवं चिन्ते) सदा ही विचार करता रहे। (शुद्ध संपूर्ण दृष्टी च) शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिके द्वारा (ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं) ज्ञानयोग यथार्थ निश्चय आत्मद्रव्यका ज्ञान होता है। (स्वाध्याय चित्तस्य शुद्ध) स्वाध्याय करनेसे मनकी शुद्धि होती है (मनवचनकाय रुंधनं) मन, वचन, काय वशमें होजाते हैं। (शुद्धं अर्थं) शुद्ध पदार्थको (अस्थिरं) विनाशनीक (शाश्वतं) व अविनाशी पदार्थको (ध्रुवं) निश्चयसे ठीक २ जानता है।

विशेषार्थ—देवपूजा गुरुभक्तिको कह करके अब तीसरा नित्यकर्म जो स्वाध्याय है उसपर कहते हैं कि वास्तविक स्वाध्याय स्व अर्थात् अपने शुद्ध तत्वका अध्याप अर्थात् मनन है। जहां

शुद्धात्माके प्रयोजनसे शास्त्रोंको पढा जाय, विचारा जाय, धारण किया जाय वह स्वाध्याय है। जिनवाणीमें कथन दो दृष्टिसे है-पर्यायार्थिक दृष्टि और द्रव्यार्थिक दृष्टि। पर्यायार्थिक दृष्टिसे या पर्यायकी अपेक्षासे छहों द्रव्योंकी जो जो अवस्थाएं जगतमें प्रगट हैं उन सबका व्याख्यान है। जीव और पुद्गलके सम्बन्धसे चार गतियां हैं व चार गति सम्बंधी भाव हैं, गुणस्थान व मार्गणा स्थान है। सात तत्व व नौ पदार्थ हैं इन सबका स्वरूप भलेप्रकार जानना चाहिये और द्रव्यार्थिक नयसे जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल इन छः द्रव्योंका शुद्ध स्वरूप जानना चाहिये। दोनों नयोंसे जान-कर द्रव्यार्थिक दृष्टिको मुख्य ध्यानमें लेकर अपने आत्माका द्रव्य स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्दमय स्वभाव अनुभव करना चाहिये। स्वाध्यायका प्रयोजन संसारसे वैराग्य तथा निज स्वरूपकी प्राप्तिका उत्साह है। स्वाध्यायके पांच भेद हैं। उसी तरह स्वाध्याय करे। पहले पढे सो वाचना है। किसी बातमें शंका रह जावे तो विशेष ज्ञानीसे पूछकर निर्णय करे यह पृच्छना है। जानी हुई बातको वारवार विचार कर दिलमें धारणा करे यह अनुप्रेक्षा है। शुद्ध शब्द व अर्थको कण्ठस्थ करे यह आम्नाय है, फिर अन्य श्रोताओंको समझावे यह धर्मोपदेश है। स्वाध्याय करना बडा ही जरूरी है। हरएक गृहस्थ श्रावक व श्राविकाको उचित है कि एक शास्त्र मुख्यतासे स्थापित करके थोडी देर रोज बहुत विनयसे बैठकर पढे, जो समझमें न आवे उसको एक अलग पुस्तकपर लिखता जावे, जब बहु ज्ञानीका निमित्त मिले तब उसका निर्णय करले। स्वाध्याय करनेसे तुर्त लाभ यह है कि चित्त शुद्ध होजाता है। मनसे शोक, भय, क्रोध, मान आदि कषायका मैल शांत होजाता है। यदि कोई तीनों मन, वचन कायकी गुप्तिको पालना चाहे तो शास्त्र स्वाध्याय बडा भारी उपाय है। विना तीनोंके एकत्र हुए समझमें नहीं आयगा। यह तप इसी लिये कहा गया है कि उसके द्वारा उपयोग ज्ञानमें तप जाता है जिससे कर्मकी निर्जरा होजाती है। शास्त्र स्वाध्यायसे, पर्यायकी दृष्टिसे सब जगत क्षण-भंगुर है परंतु द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य दीखता है। इस पंचमकालमें गृहस्थका ध्यान सामायिककी अपेक्षा स्वाध्यायमें विशेष सुगमतासे लग जाता है। इसलिये ध्यानका परम सहकारी समझकर नित्य भाव सहित स्वाध्याय करनी योग्य है। जैसे शरीरकी शुद्धिके लिये गृहस्थको नित्य जलका स्नान जरूरी है, वैसे अंतःकरणके क्लेश व कुभावोंको दूर करनेके लिये यह स्वाध्याय एक प्रकारका

स्नान है। चारों अनुयोगोंके ग्रंथोंको पढते हुए आध्यात्मिक साहित्य पर विशेष ध्यान देना चाहिये, शुद्धात्माका मनन इसहीके द्वारा भले प्रकार होता है। स्वाध्यायके समान कोई उपकारी उपाय नहीं है।

संयम पालन।

श्लोक—संयमं संयमं कृत्वा, संयमं दुविधं भवेत्।
इन्द्रियाणां मनो नाथः, रक्षणं त्रस स्थावरं ॥ ३७१ ॥

अन्वयार्थ—(संयमं संयमं कृत्वा) संयम अपनेको यम नियममें रखनेको कहते हैं। (संयमं दुविधं भवेत्) संयम दो प्रकारका होता है-इंद्रिय संयम व प्राणि संयम। (इन्द्रियाणां मनो नाथः) पांच इंद्रियोंको और उनके स्वामी मनको वश रखना इंद्रिय संयम है तथा (त्रस स्थावरं रक्षणं) त्रस और स्थावर प्राणियोंकी रक्षा करना प्राणि संयम है।

विशेषार्थ—चौथा कर्म गृहस्थका संयम पालना है। अपनेको यम नियममें चलाना संयम है। जो कार्य अन्याय व पापमय हैं उनका आजन्म त्याग कर देना चाहिये। जैसे जूआ आदि सात व्यसन तथा अभक्ष्य भोजन। और जो भोग उपभोग आजन्मके लिये छोडे न जासकें उनका गृहस्थको रोज प्रमाण कर लेना चाहिये। नीचे लिखे १७ नियमका नित्य विचार करना चाहिये:—

भोजने[1] षट्रसे[2] पाने[3] कुंकुमादि[4] विलेपने। पुष्पं[5] तांबूल[6] गीतेषु[7] नृत्यादौ[8] ब्रह्मचर्यके[9] ॥
स्नान[10] भूषण[11] वस्त्रादौ[12] वाहने[13] शयना[14]सने[15]। सचित्त[16]वस्तु संख्यादौ[17] प्रमाणं भज प्रत्यहं ॥

१ भोजन—कै दफे करूँगा। २ षट्रस—दूध, दही, घी, नमक, तेल, मीठा, इनमेंसे क्या २ त्यागा। ३ पान—भोजनके सिवाय पानी कै दफे पीऊँगा। ४ कुंकुमादि विलेपन—तेल चंदन विलेपन कै दफे लगाऊँगा या नहीं। ५ पुष्प—फूल सूंघूंगा या नहीं, या कै दफे। ६ ताम्बूल—पान खाऊँगा या नहीं यदि खाऊँगा तो कै दफे। ७ गीत—संसारी गीत सुनूँगा या नहीं। ८ नृत्यादौ—नाच देखूँगा या नहीं। ९ ब्रह्मचर्य—आज ब्रह्मचर्य पूर्ण पालूंगा या नहीं। १० स्नान—कै दफे नहाऊँगा। ११ भूषण—गहने कौन२ पहनूँगा। १२ वस्त्र—कपडे कितने जोड काममें लूंगा। १३ वाहन—सवारी कौन रक्खी या त्यागी।

१४ शयन-सोनेकी शय्या आदि कौन २ रक्खी। १५ आसन-बैठनेके आसन कौन २ रक्खे। १६ सचित्त-हरी तरकारी फल कौन २ रक्खे। १७ वस्तु संख्या-कुल खाने पीनेकी वस्तुएं कितनी रक्खीं।

संयमके दो भेद हैं-पांच इन्द्रिय व मनको अपने आधीन रखके सदा ही उपयोगी कामोंमें लगाए रखना। वृथाके कामोंमें इनको उलझाना नहीं। उनका ऐसा उपयोग करना कि ये स्वस्थ रहें और धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थके साधनमें सहायक हो, यह इंद्रिय संयम है। छः कायके प्राणियोंकी दया पालनी प्राणि संयम है। त्रस जंतुओंकी भलेप्रकार रक्षा करनी, स्थावरका भी वृथा घात नहीं करना। मिट्टी, पानी, आग, हवा, वनस्पतिका उपयोग प्रयोजनसे अधिक नहीं करना। हरएक काम देखभालके करना जिससे कीडे, मकोडे आदिकी वृथा जान न जावे। पशुओंको सताना नहीं। मानवोंके चित्तको दुखाना नहीं। जो गृहस्थ इन दो प्रकारके संयमका अभ्यास रखते हैं वे मानव-जन्मको सफल करते हैं और आत्माकी उन्नति भलेप्रकार कर सक्ते हैं, श्रावकका धर्म उत्तम प्रकारसे निर्वाह कर सक्ते हैं। समयको वृथा न खोकर समयका सदुपयोग करना भी संयम है।

श्लोक—संयमं संयमं शुद्धं, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
तीर्थ ज्ञानजलं शुद्धं, सुस्नानं संयमं ध्रुवं॥ ३७२॥

अन्वयार्थ—(संयमं) अपने आत्मामें तिष्ठना सो (शुद्ध संयमं) शुद्ध संयम या निश्चय संयम है। यह संयम (शुद्ध तत्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्मीक तत्वको प्रकाश करनेवाला है। यही (शुद्धं ज्ञानजलं तीर्थं) शुद्ध ज्ञानरूपी जलसे भरा हुआ तीर्थ है अर्थात् समुद्र है (सुस्नानं) इसमें भले प्रकार स्नान करना (ध्रुवं संयमं) निश्चय व निश्चल संयम है।

विशेषार्थ—इन्द्रिय संयम तथा प्राणि संयम पालना या नित्य प्रति नियम करना या श्रावकका संयम पालना यह सब व्यवहार संयम है। निश्चय या शुद्ध संयम यह है जो मन वचन कायको संयममें लाकर व इन्द्रियोंकी सर्व इच्छाओंको निरोध कर अपने आत्माके स्वरूपमें आप ही तन्मय होजाना। इस तरह संयमका अभ्यास करना शुद्धात्माका अनुभव करानेवाला है तथा आत्माके कर्म रूपी मलको काटनेवाला है। तथा इसी संयमको तीर्थकी उपमा दी है। जिसमें तिराजाय सो तीर्थ है। तीर्थ नदी या समुद्रको कहते हैं। जगतके लौकिकजन गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा,

कृषणा, कावेरी आदि नदियोंको तीर्थ कहकर इनमें स्नान करना धर्म मानते हैं। ये तो वास्तवमें तीर्थ नहीं हैं, क्योंकि जल स्नान हिंसाका कारण होनेसे धर्म नहीं होसक्ता। शरीर स्वच्छ करके यदि ध्यान स्वाध्याय करे तो यह जल-स्नान व्यवहार बाहरी शौचका मात्र कारण होसक्ता है। वास्तवमें पवित्रपना आत्माके भावोंका शुद्ध होना तथा आत्माके कर्ममैलका धुलना है, उसके लिये आत्मामें लवलीन होना ही सच्चा तीर्थस्नान है। जो निरन्तर आत्मारूपी गंगामें स्नान करते हैं उनके कर्मके ढेरके ढेर गल जाते हैं। अतएव गृहस्थ श्रावकको उचित है कि व्यवहार संयमके आश्रयसे आत्मीक ध्यानका अभ्यास करे। यही शुद्ध संयम परम हितकारी व यही सच्चा मोक्ष मार्ग है, यही परम उपादेय है। यही निरंतर भावने योग्य है।

तपका अभ्यास।

श्लोक—तपश्च अप्प सद्भावं, शुद्ध तत्व सुचिंतनं।
शुद्ध ज्ञानमयं शुद्धं, तथा हि निर्मलं तपः ॥ ३७३ ॥

अन्वयार्थ—(तपश्च) तप भी (अप्प सद्भावं) आत्माके यथार्थ स्वभावमें ठहरना है (शुद्ध तत्व सुचिंतनं) शुद्ध आत्मीक तत्वका भलेप्रकार चिंतवन करना है (शुद्ध ज्ञानमयं शुद्धं) शुद्ध ज्ञान चेतनामय होना ही शुद्ध तप है (तथा हि निर्मलं तपः) इसीको ही मल रहित निश्चय तप कहते हैं।

विशेषार्थ—गृहस्थीके छः कर्मोंमें जैसे नित्य देव पूजा, गुरु भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, संयमका नियम लेना जरूरी है वैसे तप करना जरूरी है। मुख्य तप आत्मध्यान है। इसलिये गृहस्थको प्रातःकाल और सायंकाल एकांत स्थानमें तिष्ठकर सामायिकका अभ्यास करना चाहिये। सूर्योदय व सूर्यास्तके करीब ध्यान करनेका अभ्यास करे। एकांत स्थानमें मन, वचन, कायको शुद्ध करके आसन बिछाकर बैठे। सामायिककी विधि यह है कि पहले पूर्व या उत्तरकी तरफ मुख करके कायोत्सर्ग हाथ लटकाके खडा होकर नौ दफे णमोकार मंत्र पढे फिर भूमिमें दंडवत् करके सामायिक स्वीकार करे। यह प्रतिज्ञा करे कि जबतक सामायिक करता हूँ जो कुछ मेरे पास है व जितना क्षेत्र मैंने रोका

है या इसके चारों तरफ दो दो जज और बाकी सब क्षेत्र व सर्व वस्तुका मुझको त्याग है, फिर उसी दिशामें खडे हो कायोत्सर्ग तीन या नौ दफे णमोकार मंत्र पढकर हाथजोडके तीन आवर्त व १ शिरोनति करे। दोनों हाथ जोडे हुए बाएंसे दाहनी तरफ तीन दफे घुमावे उसे आवर्त कहते हैं। फिर जोडे हुए हाथ मस्तक झुकाकर स्पर्श करे इसे शिरोनति करे। फिर हाथ जोडेकर खडे ही खडे दाहनी तरफ मुड जावे। इधर भी उसी तरह तीन या नौ दफे णमोकार मंत्र पढकर तीन आवर्त तथा शिरोनति करे। ऐसा ही मुडते हुए शेष दोनों दिशाओंमें करके पद्मासन या अर्द्ध पद्मासन बैठ जावे। बैठकर पहले कोई संस्कृत या भाषा सामायिक पाठ पढे, फिर जाप देवे, फिर पिंडस्थ पदस्थ आदि ध्यानका अभ्यास करे, बारह भावनाओंको विचारे, निज आत्माका स्वरूप ध्यावे व उसमें एकाग्र होजावे। अन्तमें खडे होकर नौ दफे णमोकार मंत्र पढकर कायोत्सर्ग करके दंडवत् करे। इस विधिसे यदि गृहस्थ कमसेकम दोनों संध्याओंमें अभ्यास करे तो धीरे धीरे उसको ध्यानकी सिद्धि होने लगे। वास्तवमें निर्मल या शुद्ध तप वही है जो आत्मा अपनी आत्मामें तपे, शुद्धात्मानुभव हो, वही तप कर्मकी अविपाक निर्जरा करनेवाला है, परमानन्दका देनेवाला परमोपकारी है। ज्ञानमें रमण करना ही सच्चा तप है।

दान नित्य कर्म।

श्लोक—दानं पात्र चिन्तस्य, शुद्ध तत्व रतो सदा।
शुद्ध तत्व रतो भावः, पात्र चिंता दानसंयुतं ॥ ३७४ ॥

अन्वयार्थ—(पात्र चिन्तस्य दानं) पात्रोंकी भक्तिका भाव करना सो दान है (सदा शुद्ध तत्व रतः) सदा शुद्ध आत्मीक तत्वमें रमना भी दान है। (शुद्ध तत्व रतो भावः) शुद्ध तत्वमें लीन होना शुद्ध या निश्चय दान है सो (पात्र चिन्ता दान संयुतं) पात्रोंकी चिंता या पात्रोंको दान सहित व्यवहार दान सहित होना योग्य है।

विशेषार्थ—छठा कर्म गृहस्थका दान करना है। शुद्ध दान यह है कि आप ही अपने आत्माको आत्मीक रसका आहार दिया जावे। यह शुद्ध या निश्चय दान अपने आत्मामें लवलीनता रूप है। सच्चा पात्र

रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा है। उसको स्वात्मानन्दामृतका दान देना परम शुद्ध दान है। व्यवहार दान यह है कि गृहस्थोंको नित्य प्रति पात्रोंका विचार करके भोजनके पहले दान करके भोजन करे। निरंतर पात्रदानकी भावना भावे। उत्तम पात्र मुनि, मध्यम पात्र श्रावक, जघन्य पात्र व्रत रहित श्रद्धावान। इन तीनोंमेंसे जिनका संयोग मिल सके उनको पात्रदान करके बड़ा हर्ष माने। नित्यका दान तो भोजनके पहले आहारदान है, सो पात्रोंको करके अपना जन्म सफल माने, अपना घर पवित्र माने। गृहस्थी श्रद्धावान पुरुष या स्त्रीको भी भक्तिपूर्वक निमंत्रण देकर दान करना धर्मका अंग है। जिसको भक्ति पूर्वक निमन्त्रण दिया जावे उसको भी धर्मकी प्रतिष्ठा करते हुए निमन्त्रण स्वीकार कर लेना चाहिये। हम दान क्यों लें ऐसा अभिमान नहीं रखना चाहिये। परस्पर श्रावक व श्राविका पात्र दान कर सक्ते हैं, इससे धर्मकी वृद्धि होती है, धर्मप्रेम बढ़ता है। यदि भोजनके पहले किसी पात्रका लाभ न होवे तो दुःखित, बुभुक्षित, दयापात्र, किसीको भी दान देकर भोजन करे, यदि न मिले तो उसके लिये निकाल दे। कमसे कम हरएक जीमनेवालेको भोजनसे पहले रोटी आधी रोटी अलग निकालके भोजन करना चाहिये। वह निकली रोटी किसी मानव या पशुको दी जासक्ती है। इसके सिवाय गृहस्थीको अपनी कमाईमेंसे चौथाई, छठा, आठवां व कमसे कम दशवां भाग निकालना चाहिये। उसे आहार, औषधि, अभय व विद्यादानमें खर्च करना चाहिये। जैन श्रावक श्राविकाओंको औषधिका प्रबन्ध कर देना। गरीब कुटुम्बोंको अन्नादिकी सहाय करना। अनाथ विधवा आदिकी पालना करनी, शास्त्रोंका प्रकाश करना, शास्त्र व पुस्तकें बांटना, विद्यालय खोलना, छात्रोंको वृत्तियें देना आदि जो चार दानके कार्य जैनधर्मके धारी जैन समाजके लिये किये जांयगे वे सब पात्रदानमें आजांयगे। करुणाभाव करके जगतमात्रके मानव व पशुओंको अन्नादि देना, उनकी औषधि करना, उनके प्राणोंको बचाना, सर्व मानवोंमें विद्याका प्रचार करना, यह करुणादान है। गृहस्थको उचित है कि निरंतर पात्रदान व करुणादान दोनों प्रकारका दान भावपूर्वक करे। दानसे ही गृहस्थकी शोभा है। दान करते हुए कभी आकुलित नहीं होना चाहिये। जितना धन दानमें निकल जाय वह बो दिया गया है ऐसा समझना चाहिये। दानी गृहस्थ उदार-चित्त होते हैं। कषाय मंद रहती है जिससे निरन्तर पुण्य बांधते हैं व असाताके कारणोंसे बचनेका साधन करते हैं।

शुद्ध षट्कर्म संक्षेप ।

श्लोक—ये षट्कर्म शुद्धं च, जे साधंति सदा बुधैः ।
मुक्ति मार्ग ध्रुवं शुद्धं, धर्मध्यानरतो सदा ॥ ३७५ ॥

अन्वयार्थ—(सदा बुधैः) सदा ही बुद्धिमानोंको उचित है कि (ये षट्कर्म शुद्धं च साधन्ति) इन छः कर्मोंको शुद्धताके साथ साधन करें (जे मुक्तिमार्ग ध्रुवं शुद्धं) वे निश्चल शुद्ध मोक्षमार्गपर चलनेवाले हैं (धर्मध्यानरतो सदा) वे सदा ही धर्मध्यानमें लवलीन हैं ।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन या दृढ श्रद्धा पूर्वक देव पूजादि छहों कर्मोंको व्यवहार व निश्चय दोनों नयोंके द्वारा जानकर सेवन करना चाहिये। श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना व्यवहार देवपूजा है। उनके शुद्ध आत्मीक गुणोंके समान अपने आत्मीक गुणोंका अनुभव करना निश्चय देव पूजा है। श्री निर्ग्रंथ गुरुकी भक्ति करना, उनसे धर्मोपदेश लेना व्यवहार गुरुभक्ति है। उनकी संगतिसे अपने शुद्ध आत्माका साधन करना निश्चय गुरुभक्ति है। शास्त्रोंको पढकर ज्ञान प्राप्त करना व्यवहार स्वाध्याय है। तथा अपने आत्माके शुद्ध स्वभावका आराधन निश्चय स्वाध्याय है।

पांच इंद्रिय व मनका दमन व छः कायके प्राणियोंकी रक्षाके हेतु यम नियमरूप संयम पालना व्यवहार संयम है। निश्चल शुद्धात्मामें रमण करना निश्चय संयम है। उपवास आदि बारह प्रकार तपका, शक्तिके अनुसार आराधन करना व्यवहार तप है। अपने ही शुद्ध आत्मामें अपने आत्माको तपाना निश्चय तप है। पात्रोंको भक्तिपूर्वक व दुःखियोंको दयापूर्वक दान देना, व्यवहार दान है। तथा अपने ही आत्माको अनुभव करके ज्ञानामृतका दान करना निश्चय दान है। ये छहों कर्म गृहस्थोंको मोक्षमार्गमें परम सहाई हैं। इनको निरंतर पालते हुए धर्मध्यानमें तन्मय रहना योग्य है।

श्लोक—षट्कर्म च आराध्यं, अव्रतं श्रावकं ध्रुवं ।
संसार सरनि मुक्तस्य, मोक्षगामी न संशयः ॥ ३७६ ॥

अन्वयार्थ—(अव्रतं श्रावकं) व्रत रहित श्रावकको (ध्रुवं) सदा (षट्कर्म च आराध्यं) देव पूजादि छहों

कर्मोंका आराधन करना चाहिये (संसार सरनि) संसारके मार्गसे (मुक्तस्य) छूट करके वह (मोक्षगामी) मोक्षमार्ग पर चलनेवाला है (न संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—निश्चय तथा व्यवहार नयसे ऊपर कहे हुए छहों कर्मोंको जो कोई नित्य भक्ति व भावसे सेवन करता है, अपने लौकिक कार्योंकी बहुतायत होनेपर भी बहुत आरंभ काम धंधा होनेपर भी, इनके लिये समय निकालता है वही सच्चा धर्मप्रेमी है। जिस कामके लिये अधिक प्रेम होता है उसके लिये समय अपने आप निकाल लिया जाता है। गृहस्थ श्रावक व्रतोंको प्रतिमारूपसे पालनेका नियम न रखने पर भी बड़ा ही दृढ श्रद्धावान होता है। जिस आत्मानन्दका एक दफे स्वाद पाचुका है उसीकी वारवार प्राप्तिकी भावनासे यह देवपूजादि छः व्यवहार कार्योंके आलम्बनसे शुद्धात्माका मनन करके संसारके मार्गसे हटा हुआ है और मोक्षके मार्गपर जारहा है। इसके जीवनका ध्येय ही आत्मोन्नति करना है।

श्लोक—एतत्तु भावनं कृत्वा, श्रावक सम्यक् दृष्टितं।
अव्रतं शुद्ध दृष्टी च, सार्थं ज्ञान मयं ध्रुवं ॥ ३७७॥

अन्वयार्थ—(एतत्तु भावनं कृत्वा) इन छः कर्मोंके करनेकी भावना करके (श्रावक सम्यग्दृष्टितं) यह श्रावक सम्यक्दर्शनका आचरण करता है। (अव्रतं शुद्धदृष्टी च) यद्यपि यह व्रत रहित है तथापि विशुद्ध सम्यग्दृष्टी है। (सार्थं ज्ञान मयं ध्रुवं) यह यथार्थ ज्ञानमई निश्चल परमात्माका ध्यान करनेवाला है।

विशेषार्थ—यहांतक ग्रंथकर्ताने मुख्यतासे अविरत सम्यक्दृष्टीका चारित्र वर्णन किया है। यह धर्मका प्रेमी व संसारसे वैरागी होकर देवपूजादि छः कर्मोंकी उन्नतिकी भावना रखता है। तथा आठ मूलगुण पालता है, सात व्यसनोंसे बचता है, रत्नत्रयकी भावना भाता है, पांच परमेष्ठीकी दृढ भक्ति रखता है। जल छानकर पीता है। रात्रिके भोजन त्यागका अभ्यास करता है। कुदेवादिकी भक्ति भूलकर भी नहीं करता है। इनके उत्साह आत्मोन्नतिका रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जबतक उपशम न होजावे तबतक यह पांचवें देश विरत गुणस्थानमें नहीं जासक्ता है। तथापि सम्यक्दर्शन होनेके पीछे आत्मतत्वकी भावना भाते हुए जितना २ अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय कमकम होता जाता है उतना उतना इसका चारित्र ऊँचा होता जाता है। चारि-

त्रके प्रभावसे इसका भाव कोमल, विवेकी, धर्मयुक्त, न्यायमार्गी व दया धर्मसे गर्भित होता है। यह व्रती न होनेपर भी व्रतीके समान आचरण करता है। धर्मध्यानका प्रारम्भ चौथे गुणस्थानसे होजाता है। यह सदा संसार शरीर भोगोंसे वैराग्ययुक्त होकर आत्माके शुद्ध स्वरूपकी भावना करता है। जगतमें सुख दुःखकी प्राप्तिके नाटकके दृष्टाके समान देखकर न उन्मत्त होता है और न विषाद करता है, भीतरसे समता भावका प्रेमी है।

ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप।

श्लोक—श्रावकधर्म उत्पायंते, आचरणं उत्कष्टं सदा।
प्रतिमा एकादशं प्रोक्तं, पंच अनुव्वय शुद्धयं ॥ ३७८ ॥

अन्वयार्थ—(श्रावकधर्म उत्पायंते) श्रावकका धर्म उत्पन्न करना चाहिये (सदा उत्कष्टं आचरणं) जिससे निरंतर आचरण बढता हुआ उत्कृष्ट मुनि होने तक होजावे। श्रावककी (एकादशं प्रतिमा प्रोक्तं) ग्यारह प्रतिमा या श्रेणी कही है (पंच अनुव्वय शुद्धयं) जिनके द्वारा पांचों अणुव्रतोंकी शुद्धता होती है।

विशेषार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टीमें मात्र यथाशक्ति आचरणका अभ्यास है। नियमरूप व्रतोंका पालन नहीं है। प्रतिमाएं पांचवें देशविरत गुणस्थानमें प्रारम्भ होती हैं। यहां जो श्रेणी होती है उसमें प्रतिज्ञाएँ दोष रहित पाली जाती हैं व आगेकी श्रेणीका अभ्यास किया जाता है, इनमें नियम आगे २ बढते जाते हैं, पिछले नियम छूटते नहीं हैं। ये ग्यारह श्रेणियां बाहरी आचरणकी उन्नति रूप होते होते मुनिपदके चारित्रमें बडी सुगमतासे आरूढ कर देती हैं। मुख्य बाहरी आचरण पांच व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, व परिग्रह त्याग। इनको पूर्ण पालनेवाले महाव्रती मुनि होते हैं तब उनको एक देश थोडा शक्तिके अनुसार पालनेवाले श्रावक होते हैं। पहली प्रतिमामें इनका पालन प्रारम्भ होता है सो ग्यारहवीं प्रतिमा तक महाव्रतके निकट पहुंच जाता है। जैसे किसी कार्यके १०० अंश हों, प्रथम १० अंश करे फिर बढते बढते ९२ अंश तक पहुंचे वहांतक वह कार्य अपूर्ण किया गया। जब १०० अंश होजावे तब वह पूर्ण हुआ। जैसे बाहरी चारित्र बढता जाता

है वैसे अन्तरंग शुद्धात्मानुभवकी शक्ति भी बढती जाती है। वैराग्य भी बढता जाता है। कषायका उदय भी मंद होता जाता है। प्रत्याख्यानावरणका उदय जितना २ मंद होता जाता है, प्रतिमाका दरजा बढता जाता है। जब वह बिलकुल बंद होजाता है मात्र संज्वलनका उदय रहता है तब श्रावकसे साधु होजाता है।

श्री रत्नकरण्ड श्रा० में कहा है—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु। स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठंते क्रमाविवृद्धाः ॥ १३६ ॥

भावार्थ—श्री गणधर देवोंने श्रावकोंके ग्यारह पद कहे हैं उनमें पहले पहिलेके गुणोंके साथ आगे २ के गुण क्रमसे बढ़ते हुए चले जाते हैं। अंतरंग आत्म शुद्धि व बाहरी चारित्र दोनों बढ़ते जाते हैं। इनका पालन गृहस्थ श्रावकोंको भले प्रकार कर्तव्य है।

श्लोक—दंसण वय सामाइक, पोसह सचित्त चिंतनं।
अनुरागं बंभवयं, आरम्भ परिग्रहस्तथा ॥ ३७९ ॥
अनुमति उद्दिष्ट देशं, प्रतिमा एकदशानि च।
व्रतानि पंच उत्पायंते, श्रूवते जिनआगमं ॥ ३८० ॥

अन्वयार्थ—(दंसण वय सामाइक) दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा (पोसह सचित्त चिंतनं) प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त विरत प्रतिमा (अनुरागं बंभवयं) अनुराग भक्ति प्रतिमा, ब्रह्मचर्यव्रत प्रतिमा (आरम्भ परिग्रहस्तथा) आरम्भ त्याग प्रतिमा तथा परिग्रह त्याग प्रतिमा (अनुमति उद्दिष्ट देशं च) अनुमति त्याग प्रतिमा, उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा यहांतक एक देशव्रत है (प्रतिमा एकदशानि च) ये ग्यारह श्रेणियां हैं (पंचव्रतानि उत्पायंते) यहां पांच व्रतोंकी शक्ति पैदा की जाती है (जिनागमं श्रूयते) व जिन आगमको सुना जाता है।

विशेषार्थ—जो जिनवाणीको साधुओंके मुखारविंदसे प्रेमपूर्वक व भक्तिपूर्वक सुनें उसको श्रावक कहते हैं यह शब्दार्थ है। जिन आगमका अभ्यासी व भक्त हो वह श्रावक है, जो शास्त्रज्ञानसे अपने भीतर संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य बढाता चला जावे। यहां जो ग्यारह प्रतिमाके नाम

आए हैं इनमें छठी प्रतिमाका नाम अनुराग भक्ति है। जब कि रत्नकरंडमें इसका नाम रात्रि भुक्ति त्याग है व अमितगति श्रावकाचारमें दिवामैथुन त्याग है। इस भेदका कारण यह समझमें आता है कि श्री समंतभद्राचार्यके मतमें रात्रिभोजनका त्याग छठी प्रतिमाके पहले तक यथाशक्ति अभ्यास रूप था, कोई यदि पूर्णतया त्यागे तो उचित ही था, परंतु यदि न त्याग कर सके तो छठी श्रेणीमें भले प्रकार त्यागना उचित था, स्वयं करे भी नहीं, करावे नहीं, अन्य आचार्योंने यह विचारा होगा कि रात्रि भोजनका त्याग तो दर्शन व व्रत प्रतिमामें ही होजाना चाहिये, छठी तक शेष न रहना चाहिये। इसलिये दिवामैथुन त्याग कराया है। तारणतरणजीने अनुराग भी नाम रक्खा है कि राग गृहस्थका हटा देना, आत्मामें विशेष भक्ति रखना जिससे आगे ब्रह्मचर्य पाल सके। दिवा मैथुन त्यागमें करीब २ अनुराग त्याग आजाता है। जब राग घटाएगा तब दिवसमें मैथुनसे पूर्णपने विरक्त रहेगा। शेष सब नाम श्री समन्तभद्राचार्यके अनुकूल हैं। इनमें पांच अणुव्रतोंको अधिक अधिक बढाया जाता है।

श्लोक—अहिंसा अनृतं येन, स्तेयं पंच परिग्रहं।
शुद्ध तत्व हृदये चिंते, सार्द्धं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ ३८१ ॥
प्रतिमा उत्पाद्यते येन, दर्शनं शुद्ध दर्शनं।
ॐ वंकारं च विंदते, मल पच्चीस विमुक्तयं ॥ ३८२ ॥

अन्वयार्थ—(येन अहिंसा अनृतं) जो अहिंसा, असत्य त्याग (स्तेयं पंच परिग्रहं) चोरी त्याग, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इनको अणुव्रत रूपसे पाले (हृदये शुद्ध तत्व चिंते) हृदयमें शुद्ध तत्वोंको—यथार्थ सात तत्वोंको चिंतवन करे (सार्द्धं ज्ञानमयं ध्रुवं) साथमें ज्ञानमई निश्चय शुद्धात्माका अनुभव करे (येन प्रतिमा उत्पाद्यते) तब वह प्रतिमाको प्रारम्भ करता है (दर्शनं शुद्ध दर्शनं) दर्शन प्रतिमामें सम्यग्दर्शन अतीचार रहित शुद्ध होना चाहिये (ॐ वंकारं च विंदते) ॐ मंत्रका जहां अनुभव किया जावे (मल पचीस विमुक्तयं) जहां पचीस दोष छोडे जावें।

विशेषार्थ—दर्शन प्रतिमाका स्वरूप यह है कि श्रावक अहिंसादि पांच अणुव्रतोंका पालना

प्रारम्भ करदे। स्थूलपने यथाशक्ति पाले। इनके अतीचारोंका विचार व्रत प्रतिमामें होसकेगा यहां अभ्यास मात्र अतीचार बचानेकी कोशिश करे तथा स्वपर तत्वको भिन्न२ विचारे तथा मुख्यतासे शुद्धात्मानुभवका विशेष अभ्यास करे। सम्यग्दर्शनको २५ दोष रहित शुद्ध पाले। ॐ के द्वारा पांच परमेष्ठीका ध्यान करे। परिणाम सदाकाल मोक्षमार्गमें उमंगरूप रक्खे।

श्री रत्नकरंड श्रावकाचारमें लिखा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पंचगुरुचरणशरणो, दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥ १३७ ॥

भावार्थ—जो दर्शन प्रतिमाका धारी है वह शुद्ध सम्यग्दर्शनको पाले, संसार शरीर व भोगोंसे वैरागी हो, पंच परमेष्ठीके चरणोंका भक्त रहे व मोक्षमार्ग पर चलने लगे अर्थात् पांच अणुव्रतोंका स्थूलपने अभ्यास करे।

अहिंसा अणुव्रतमें—संकल्पी हिंसा त्यागे, आरंभीके त्यागका मात्र अभ्यास करे, वृथा न करे। अमितगति श्रावकाचारमें जैसा कहा है—

स्थावरघाती जीवत्रससंरक्षी विशुद्धपरिणामः। योऽक्षविषयान्निवृत्तः सः संयतासंयतो ज्ञेयः ॥ ५–६ ॥
हिंसाद्वेधा प्रोक्ताऽरंभानारंभजत्वतोदक्षैः। गृहवासतो निवृत्तो द्वेधापि त्रायते तां च ॥ ६–६ ॥
गृहवाससेवनरतो मंदकषायः प्रवृत्तिरम्भाः। आरम्भजां स हिंसां शक्नोति च रक्षितुं नियतम् ॥ ७–६ ॥

भावार्थ—जो जीव स्थावरोंकी हिंसाको त्यागने असमर्थ है तथा त्रस जीवोंकी भलेप्रकार रक्षा रहित है, इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त है, विशुद्ध परिणामधारी है वह देश व्रतका धारी श्रावक होता है। हिंसा दो प्रकारकी है-आरम्भी दूसरी अनारम्भी या संकल्पी। जो गृहवासके त्यागी मुनि हैं वे दोनों प्रकारकी हिंसाके त्यागी होते हैं। जो गृहवासमें हैं मंद कषायधारी हैं व आरम्भमें प्रवृत्ति रखते हैं वे नियम रूपसे आरम्भ जनित हिंसाके छोडनेको असमर्थ होते हैं। आरम्भी हिंसा तीन प्रकारसे होसक्ती है।

१–उद्यमी—असिकर्म (शस्त्र प्रयोग द्वारा), मसिकर्म (लेखन कर्म), कृषि कर्म, वाणिज्य कर्म, शिल्प कर्म, विद्या कर्म (कला नृत्य गानादि) इन छः प्रकारके कार्योंके द्वारा न्यायपूर्वक गृहस्थीको आजीविका करनी पडती है तब इन उद्यमोंमें विचार पूर्वक करते हुए भी जो त्रस स्थावरकी हिंसा होती है वह उद्यमी हिंसा है।

२-गृहारंभी—जो घरके कामकाजमें, भोजनादि आरंभमें, मकान, कूप, बावड़ी, बाग बनानेमें हिंसा होती है वह गृहारंभी है।

३-विरोधी—जो कोई दुष्ट चोर, बदमाश या शत्रु जान मालको कष्ट देनेको उतारू हो व देशका नाश करे तथा किसी अन्य उपायसे उनका निरोध न होसके तो उनसे अपनी व अपने आधीनोंकी रक्षाके हेतु जो शस्त्रका प्रयोग करना उसमें जो विरोधी मानवोंकी हिंसा होगी वह विरोधी हिंसा है।

गृहस्थ श्रावक इन तीन प्रकारकी हिंसाको छोड़ नहीं सक्ता-यथाशक्ति कम करता है परंतु संकल्पी हिंसा त्रस जंतुओंकी नहीं करता है। वृथा त्रस घात नहीं करता है जैसे शिकार खेलकरके, पशुबलि करके व मांसाहारके निमित्त वध नहीं करता व कराता है। जैसा अमितगति महाराज कहते हैं—

देवातिथिमंत्रौषधिपित्रादिनिमित्ततोपि संपन्ना। हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥ २९-६ ॥

भावार्थ—देव, गुरु, औषधि, पितर आदिके निमित्त की गई हिंसा भी नरकमें डालती है तो और प्रकार करी हुई नर्कमें क्यों न डारे ?

हिंसादि पांच पापोंसे गृहस्थीके छः कोटि त्याग होता है, ९ कोटि साधुओंके होता है। जैसा अमितगति कहते हैं—

त्रिविधा द्विविधेन मता विरतिर्हिंसादितो गृहस्थानां। त्रिविधा त्रिविधेन मता गृहचारकतो निवृत्तानां ॥१९-६॥

भावार्थ—गृहस्थोंके हिंसादि पापोंका त्याग तीन मन, वचन, कायके द्वारा करना व कराना नहीं इस तरह छः प्रकार त्याग है। मुनियोंके जो गृह त्यागी हैं-मन, वचन कायके द्वारा करना, कराना व अनुमोदना ऐसे ९ प्रकार त्याग है। गृहस्थीके अनुमोदना त्याग १० वीं प्रतिमामें होती है। ९वीं तक करना व कराना मात्रका त्याग है। जहांतक गृहस्थ हैं वहांतक अनेक कार्योंमें अनुमति देनी पड़ जाती है।

सत्य अणुव्रतमें गृहस्थीको आरम्भ कार्य सम्बन्धी वचन जो हिंसाके कारण हैं उनके सिवाय अन्य प्रकार असत्य वचनका त्याग होता है। जैसा पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुं । ये तेपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुंचंतु ॥ १०१ ॥

भावार्थ—गृहस्थी भोग व उपभोगके साधन करनेके लिये हिंसाकारी वचन बोलना छोड नहीं सक्ता। उसके सिवाय समस्त प्रकार असत्यको नित्य ही छोडता है। जैसे प्रमत्त भाव सहित प्राणी-वध करना हिंसा है, वैसे प्रमत्त भाव सहित अप्रशस्त या प्राणी पीडाकारी वचन बोलना अनृत है। प्रमत्त भाव सहित परवस्तुको विना दिये लेना चोरी है। प्रमत्त भाव सहित मैथुन करना अब्रह्म है। परिग्रहमें मूर्छा रखना परिग्रह है।

असत्य चार प्रकार है-१—वस्तु हो कहना नहीं है। २—वस्तु नहीं है कहना है। ३—वस्तु हो कुछ कहना कुछ, ४—गर्हित, सावद्य, अप्रिय, कठोर, हास्यमय, बकवादमय, मर्मछेदक वचन कहना गर्हित है, आरंभ सम्बन्धी वचन कहना सावद्य है। अरति, भय, शोक, वैर कलह करानेवाला वचन कहना अप्रिय है। इन सबमें मात्र सावद्य वचनोंका त्याग गृहस्थी अणुव्रतीके नहीं बन सक्ता है, परन्तु अन्य सर्व प्रकारके असत्य वचनोंका वह त्याग करता है। गिरी, पडी, भूली हुई विना दी वस्तुको कषाय भावसे उठा लेना चोरी है, इसका त्याग गृहस्थको जरूरी है। अपनी विवाहिता स्त्रीके सिवाय परस्त्रीका त्याग ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें कहा है—

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्। तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥ १०६ ॥

भावार्थ—गृहस्थ श्रावक कूपादिका जल विना दिये लेनेका त्याग नहीं कर सक्ते, इसी तरह अन्य फल लकडी मिट्टी आदिको भी विना दिये लेसक्ते हैं, जिनके लिये मनाई नहीं है। अन्य सर्व विना दी हुई वस्तुको लेनेका त्याग करना उचित है। ईमानदारी व सचाईका पैसा लेना यही अचौर्य अणुव्रत है। ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप यहीं कहा है—

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवंति न हि मोहात्। निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥ ११० ॥

भावार्थ—जो मोहके कारण अपनी विवाहिता स्त्री मात्रका भी त्याग नहीं कर सक्तें उनको उचित है कि शेष सर्व प्रकारकी स्त्रियोंके सेवनका त्याग करें। वेश्या, परस्त्री, दासी आदिसे विरक्त रहे।

योपि न शक्तस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्यादि। सोपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्वम् ॥ १२८ ॥

भावार्थ—जो धन धान्यादि परिग्रहको बिलकुल छोड न सके उसको कम करना योग्य है क्योंकि त्यागरूप ही मोक्षतत्व है।

१० प्रकारका परिग्रहका जन्म पर्यंतके लिये नियम करना चाहिये। १-क्षेत्र—जगह कितनी रक्खी, २-वास्तु—अपनी मालकीके कितने मकान रक्खे, ३-हिरण्य—चांदी या रुपये कितने रक्खे, ४-सुवर्ण—सोना या जवाहरात क्या २ रक्खे, ५-धन—गाय भैंसादि कितने रक्खे, ६-धान्य—अनाज अपने खर्चका एक साथ कितना रक्खूंगा, ७-दासी—दासी कितनी रक्खूंगा, ८-दास—दास कितने रक्खूंगा, ९-कुप्य—कपडे कितने रक्खूंगा, १०-भांड—वर्तन कितने रक्खूंगा।

इनका प्रमाण जन्म पर्यंत करले। कुल जायदाद कितनेकी रखूंगा यह एक मुष्ट भी प्रमाण करले। जब उतना प्रमाण पूरा होजावे तब आप फिर कमाना छोड दे। अपनी मिलकियत हटाले। पुत्रादि अपनी सम्पत्तिके लिये स्वयं उत्तरदायी है। इन पांच अणुव्रतोंको सरलपने धारण दर्शन प्रतिमासे ही होजाना चाहिये। इन पांच व्रतोंको दृढतासे पालनेके लिये व उनकी वृद्धिके लिये हर-एक व्रतकी पांच पांच भावनाएं हैं उनको विचारते रहना चाहिये। ये भावनाएं मुनिके लिये पूर्ण हैं, श्रावकके लिये यथाशक्ति हैं।

१-अहिंसा अणुव्रतकी पांच भावनाएँ—

वांगमनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥ ४ ॥

अर्थात्—१-वचन गुप्ति—वचनकी सम्हाल कि हिंसाकारी वचन न बोलूं, २-मनोगुप्ति—मनमें हिंसक भाव न लाऊँ, ३-ईर्या समिति—आगे जमीन देखकर चलूँ, ४-आदान निक्षेपण समिति—कोई वस्तु उठाऊँ व धरूं तो देखकर, ५-आलोकित पान भोजन—खानपान देखकर बनाऊं व करूं।

२-सत्य अणुव्रतकी पांच भावनाएं—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ॥ ५-७ ॥

अर्थात—१-क्रोधका त्याग करूं-वश रक्खूं, २-लोभका त्याग करूं, ३-भीरुता या भयका त्याग करूं, ४-हास्यका त्याग करूं क्योंकि क्रोध लोभ भय हास्यके कारण असत्य बोला जाता है, ५-अनुवीची भाषण-शास्त्रके अनुसार वचन बोलूं।

३-अचौर्यव्रतकी पांच भावनाएं—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्म्माविसंवादाः पंच ॥ ६-७ ॥

अर्थात्—१-शून्य स्थानमें ठहरना, २-छोडे हुए स्थानमें ठहरना, ३-दूसरा मना करे वहां न ठहरना व आप दूसरेको आनेसे मना न करना, ४-भोजनकी शुद्धि रखना, अंतरायका कारण होनेपर भोजन न कर लेना, ५-साधर्मी भाई व बहनोंसे झगडा धर्म वस्तुके निमित्त न करना कि यह मेरी या तेरी नहीं है।

४-स्त्री ब्रह्मचर्य व्रतकी पांच भावनाएं—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरागनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ ७-७ ॥

अर्थात्—१-स्त्रियोंमें राग बढानेवाली कथाओंको पढना, २-उनके मनोहर अंगका देखना, ३-पूर्व भोगोंकी स्मृति, ४-कामोद्दीपक पदार्थ खाना, ५-अपने शरीरका शृंगार करना।

परिग्रह त्याग व्रतकी पांच भावनाएं—

मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥ ८-७ ॥

अर्थात्—पांचों इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थ मनोज्ञ या अमनोज्ञ हों उनमें राग द्वेष नहीं करना। व्रतीको और भी भावनाएं भानी चाहिये।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनं ॥ ९-७ ॥

भावार्थ—ये हिंसादि पांच पाप इस लोक व परलोकमें नाशकारी व निन्दाकारी हैं।

दुःखमेव वा—॥ १०-७ ॥ ये पांच पाप दुःखरूप ही हैं, दुःखोंके कारण हैं।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥ ११-७ ॥

अर्थात्—सर्व प्राणियोंपर मैत्रीभाव रहे, २-गुणवानों पर प्रमोदभाव रहे, ३-दुःखियोंपर दयाभाव रहे, ४-विनय रहितों पर माध्यस्थभाव रहे।

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं।

अर्थात्—जगतका दुःखमय स्वभाव व कायका अशुचि स्वभाव धर्मानुराग व वैराग्यके लिये विचारते रहना चाहिये।

इन भावनाओंको ध्यानमें लेते हुए पहली प्रतिमावालेको पांच अणुव्रतोंका अभ्यास करना चाहिये। देव पूजादि षट्कर्म पालते रहना चाहिये। पांच परमेष्ठीमें दृढ़ भक्ति रखना चाहिये तथा सम्यक्त्वको २५ दोष रहित पालना चाहिये।

श्लोक—मूढत्रयं न उत्पाद्यंते, लोकमूढं न दिष्टते।
जेतानि मूढदृष्टी च, तेतानि दृष्टि न दीयते ॥ ३८३ ॥

अन्वयार्थ—(मूढत्रयं उत्पाद्यंते) दर्शन प्रतिमाधारीके तीन मूढता नहीं उत्पन्न होती हैं (लोकमूढं न दिष्टते) पहली लोकमूढता नहीं दिखलाई पडती है (जेतानि मूढदृष्टी च) जितनी जगतमें मूढताईकी श्रद्धाएँ हैं (तेतानि दृष्टि न दीयते) उनपर यह श्रावक अपनी दृष्टि नहीं देता है। उनपर कभी श्रद्धा नहीं लाता है।

विशेषार्थ—यद्यपि २५ मल दोषका कथन पहले कर चुके हैं तथापि प्रकरणवश उपयोगी जान कर यहां कहते हैं। तीन मूढतामें यह श्रावक नहीं फंसता है। प्रथम लोकमूढतामें जितने प्रकारकी लोकमें मूढताएं फैली हुई हैं उन सबको मूढता समझकर कभी उनपर श्रद्धा नहीं लाता है। जैसे नदीमें स्नानसे व समुद्रमें स्नानसे पुण्य होगा, पर्वतसे गिरनेसे व नदीमें पडनेसे पुण्य होगा, अग्निमें सती होनेसे पतिव्रत धर्म पलेगा, थैली पूजनेसे रुपया आयगा, तलवार पूजनेसे विजय होगी, कलम दावात पूजनेसे खूब व्यापार चलेगा, दूकानकी दिहली पूजनेसे बहुत व्यापारी आएंगे, दिनमें भूखा रहनेसे व रात्रिको खानेसे पुण्य होगा, दिवालीमें जूआ खेलनेसे बहुत धन मिलेगा, होलीमें भांग पीना धर्म है, होली जलाना व होलीमें बकना धर्म है इत्यादि हजारों लोकमूढता है उन सबको विचारवान दार्शनिक नहीं मानता है।

श्लोक—लोकमूढं देवमूढं च, अनृत अचेत दिष्टते।
त्यक्तये शुद्धदृष्टी च, शुद्ध सम्यक् रतो सदा ॥ ३८४ ॥

अन्वयार्थ—(लोकमूढं च देवमूढं) लोकमूढताके समान देवमूढताको भी (अनृत अचेत दिष्टते) मिथ्यारूप व अज्ञानरूप ज्ञानी सम्यग्दृष्टी देखता है। इसलिये (शुद्धदृष्टि च त्यक्तये) शुद्ध सम्यग्दृष्टी इन

मूढताओंको छोड देता है (शुद्ध सम्यक्त रतः सदा) वह सदा ही शुद्ध आत्मानुभव रूप सम्यग्दर्शनमें तन्मय रहता है।

विशेषार्थ—जैसे लोकमूढता मिथ्यात्व व अज्ञान है वैसे देवमूढता भी मिथ्यात्व व अज्ञान है। रागी द्वेषी देव तो स्वयं संसारासक्त हैं, उनकी पूजा करना वीतरागताका कारण नहीं होसक्ता है। अतएव किसी लौकिक प्रयोजनवश इन देव जातिके जीवोंकी भक्ति करना बिलकुल मूर्खता है अथवा जिनमें देवपना बिलकुल नहीं है ऐसे, गौ, मोर, घोडा आदिको देव मानकर पूजना या किसी पत्थरके खंडको रागी द्वेषी देवकी स्थापनामें पूजना सो सब देवमूढता है। सम्यग्दृष्टी सम्यग्ज्ञानी होता है। वह जानता है कि परिणामोंको उज्वल करना चाहिये। उसका उपाय मात्र सर्वज्ञ वीतराग देवका आराधन है। तथा किसी विषयकी चाह करके किसी देवको पूजना मिथ्यात्वका अंग है, निःकांक्षित अंगसे विरुद्ध है। इस तरह वह ज्ञानी कभी भी मिथ्या श्रद्धान व मिथ्याज्ञानके वश हो मूढतासे देखादेखी किसी कुदेवको या किसी अदेवको पूज्यनीय देव नहीं मान बैठता है। वह तो शुद्ध सम्यक्त भावमें प्रेमी बन रहा है। हरसमय आत्मानुभवका खोजी है। आत्मानन्दका विलासी है, वह संसार शरीर भोगोंसे उदास है, वह क्षणभंगुर भोगोंकी कामनासे कभी भी देव मूढता नहीं करता।

श्लोक—पाखण्डी मूढ उक्तं च, अशाश्वतं असत्य उच्यते।
अधर्मं च प्रोक्तं येन, कुलिंगी पाखण्ड त्यक्तयं ॥ २८५ ॥

अन्वयार्थ—(पाखंडी मूढ उक्तं च) पाखंडी या गुरु मूढताको कहते हैं। जो (अशाश्वतं असत्य उच्यते) क्षणिक पदार्थोंको क्षणिक न कह करके चिरस्थायी कहे। (येन च अधर्मं प्रोक्तं) अधर्मका भाषण करे सो (कुलिंगी पाखण्ड) कुभेषधारी साधु हैं उनकी भक्ति (त्यक्तयं) छोडनी योग्य है।

विशेषार्थ—जो निर्ग्रंथ आरम्भ परिग्रह रहित वीतरागी तत्वज्ञानी साधु हैं वे मोक्षमार्गी हैं उनकी भक्ति मोक्षमार्गमें प्रेरक है, परन्तु जो साधु भेष धारकरके आरम्भ परिग्रहमें लीन हैं, हिंसा होते हुए अहिंसा मानते हैं, संसारके प्रपंचसे बाहर नहीं हैं, ऐसे साधुओंकी कोई बाहरी महिमा या उनका चमत्कार देखकर या जानकर उनपर मोहित होजाना व उनकी भक्ति करने लग जाना

सो पाखंड या गुरु मूढता है। सम्यक्ती कभी भी शास्त्रके मार्गसे विरुद्ध चलनेवालोंकी भक्ति नहीं करता है। बहुधा कोई लौकिक आशासे शिथिल श्रद्धावान कुभेषी साधुओंकी सेवा करने लग जाता है जो उसके सम्यक्त भावको मलीन करनेवाली है। सम्यक्ती भलेप्रकार गुरु मूढताके दोषसे बचता है।

श्लोक—अज्ञान षट्कश्चैव, त्यक्तते ये विचक्षणाः ।
कुदेव कुदेव धारी च, कुलिंगी कुलिंग मान्यते ॥ ३८६ ॥
कुशास्त्रं विकहा रागं च, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं ।
कशास्त्रं राग वर्द्धते, अभव्यं नरयं पतं ॥ ३८७ ॥

अन्वयार्थ—(अज्ञान षट्कश्चैव) अज्ञान स्वरूप छः अनायतन सेवा भी है। (ये विचक्षणः त्यक्तते) जो चतुर हैं वे इनकी संगति त्याग देते हैं (कुदेव कुदेव धारी च) एक तो कुदेव, दूसरे कुदेवोंके भक्त, (कुलिंगी कुलिंग मान्यते) कुभेषी साधु और उनके मानने वाले (कुशास्त्र विकहा रागं च) खोटे शास्त्र जिनमें विकथाएं हों व राग वर्द्धक हों व उनके पढने व मानने वाले (शुद्ध दृष्टितं त्यक्तते) इन छः ही संगति सम्यग्दृष्टी छोड देता है (कुशास्त्रं राग वर्द्धते) खोटे शास्त्र राग बढानेवाले होते हैं (अभव्यं नरयं पतं) अभव्य जीवका पतन नरकमें होजाता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन पालनेके लिये जैसे तीन मूढतासे बचना चाहिये वैसे छः अनायतनसे भी बचना चाहिये। संगतिका बडा भारी असर बुद्धिपर पडता है इसलिये सम्यग्दर्शनकी रक्षाके हेतु यह सम्हाल बताई है कि वह ऐसी संगति न रक्खे व इस तरह संगति कोई न करे जिससे व्यवहार व निश्चय सम्यक्तमें कोई प्रकारकी बाधा होजावे। धर्मकी वृद्धिके स्थानोंको आयतन कहते हैं। जो इनके प्रतिकूल हों वे अनायतन हैं। सर्वज्ञ वीतराग देवकी संगति जब धर्मायतन है तब रागी द्वेषी देवोंकी संगति अधर्मायतन है। क्योंकि उनकी संगति करनेसे उनकी भक्तिकी अनुमोदना होना व बुद्धिमें विपरीत भाव होजाना संभव है। इसीतरह रागी द्वेषी देवोंके जो भक्त हैं वे भी धर्मायतन नहीं हैं। जो वीतराग सर्वज्ञ भगवानके भक्त हैं उनकी संगतिसे सच्चा श्रद्धान दृढ

होगा परंतु जो उनसे विपरीत देवके श्रद्धानी हों उनकी संगति शिथिलता करनेवाली हैं इससे ऐसी न करे जिससे अपने धार्मिक ज्ञान व आचरणमें व श्रद्धामें कमी आजावे। बहुधा रागी द्वेषी देवोंके आराधकोंकी संगतिसे उनके मोक्षमार्गविपरीत सेवाभक्तिकी अनुमोदना करनी पडती है तथा दबावमें आनकर इच्छा न रहते हुए भी उनके समान भक्ति करनेमें बाध्य होना पडता है। वे यदि अनछना पानी पीते हैं तो कभी२ अपनेको भी वे लाचार कर सक्ते हैं। वे यदि अभक्ष्य भक्षण करते हैं तो संगति करनेवालेको भी ऐसे अभक्ष्य खानेमें झुक जाना पडता है। इसी तरह कुलिंगी रागी द्वेषी साधुओंकी भी सेवा न करनी चाहिये। वे यदि मोक्षमार्गसे विपरीत जारहे हैं तो उनकी संगतिका ऐसा असर मनमें पड़ेगा कि आप भी सुमार्गसे कुमार्गपर आजायगा व उनके यथार्थ न प्रवर्तावनेवाले उपदेशोंको सुनकर बुद्धिमें बुरा असर पडनेसे यह व्यवहार सम्यग्दर्शनसे गिर जायगा इसी तरह जो कुगुरुओंके भक्त नरनारी हैं उनकी भी संगति मना है क्योंकि वे अपनी बातोंसे इस श्रद्धालुका मन कुगुरुकी भक्तिमें प्रेरित करके इसी तरह स्त्री कथा, आहार कथा, देश कथा व राजा कथा, ऐसी चार विकथाको पुष्ट करनेवाले, संसारसे राग बढानेवाले शास्त्रोंको पढने सुननेकी संगति भी न करनी चाहिये, न इनके पढने व सुननेवालोंकी संगति करनी चाहिये।

परिणामोंमें शुद्ध सम्यग्दर्शन बना रहे इसलिये ऊपर लिखित छहों अनायतनोंसे बचना चाहिये। और जो सुदेव, सुगुरु व सुशास्त्र हैं व उनके सेवक हैं उनकी संगति रखनी चाहिये, जिससे ज्ञान व श्रद्धान व चारित्रकी दृढ़ता हो। यहां इतना ही प्रयोजन है कि धार्मिक भावोंमें शिथिलता आवे ऐसा व्यवहार नहीं रखना चाहिये। किंतु लौकिक लेन देन व्यवहारकी यहां कोई मनाई नहीं है। प्रेम व एकता रखनेकी कोई मनाई नहीं है। जैसे एक ही घरमें चार भाई हों। दो तो शुद्ध मर्यादाका भोजन खाते हैं व दोको इसका कोई परहेज न हो तो वे जो शुद्ध भोजन करनेवाले हैं वे अपने दूसरे दोनों भाइयोंके साथ रहते हुए भी ऐसी सम्हाल जरूर रखते हैं कि उनके शुद्ध खानपानके नियममें बाधा नहीं आवे। इसी तरह सम्यग्दृष्टी जगतके मानवोंके साथ भाईपनेका व्यवहार रखता है। तौभी अपने श्रद्धान ज्ञान चारित्रको मलीन नहीं होने देता है। अपने रत्नत्रय धर्मकी भलेप्रकार रक्षा रहे इस तरह वर्तन करता है। यही प्रयोजन छः अनायतनसे बचनेका है। जो

अभव्य जीव ऐसी सम्हाल नहीं रखता है वह धीरे२ शिथिल श्रद्धानी होता हुआ कुमार्गी बन जाता है और मिथ्यात्वकी कीचमें फंसकर नर्क चला जाता है।

श्लोक—अज्ञानी मिथ्यासंयुतं, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं।
शुद्धात्मा चेतना रूपं, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ ३८८ ॥

अन्वयार्थ—(अज्ञानी) अज्ञानी जीव या शिथिलज्ञानी जीव (मिथ्यासंयुतं) मिथ्यात्व पोषक संगतिके कारण (शुद्ध दृष्टितं त्यक्तते) शुद्ध सम्यग्दर्शनको छोड़ बैठता है तथा (सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं शुद्धात्मा चेतना रूपं) यथार्थ ज्ञानमई निश्चल शुद्धात्माके चैतन्यमई स्वभावको भी छोड़ बैठता है।

विशेषार्थ—ज्ञानी जीव कुसंगतिके प्रभावसे जरा भी शिथिल हुआ कि श्रद्धानको मलीन कर सक्ता है। तब जहां व्यवहार सम्यक्त बिगड़ा तब निश्चय सम्यक्त भी बिगड़नेका अवसर आजाता है। रागभावकी अधिकता होनेसे शुद्धात्मानुभवकी रुचि घटती जाती है और यह उपशम या क्षयोपशम सम्यक्ती जीव अनन्तानुबन्धी तथा मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यात्वी होजाता है। परिणामोंकी विचित्र गति है। इससे बोधिदुर्लभ भावना भानी चाहिये कि जिस रत्नत्रयका लाभ बड़े ही भाग्यसे व बड़ी ही कठिनतासे मिला है। उस रत्नत्रयका सम्बन्ध बना रहे, वह हाथसे न निकल जावे ऐसी भावना भाते हुए सदा ही सम्यक्त भाव वर्द्धक संगतिमें रहना चाहिये। जैसे मदिरा व मांसत्यागीको व द्यूत रमण त्यागीको मदिरा व मांसकी व द्यूनकी व इनके सेवनवालोंकी ऐसी संगति बचाना उचित है जिससे वह उन व्यसनोंमें न उलझ जावे। सम्यक्तका मिलना बड़ा ही दुर्लभ है इससे भले प्रकार रक्षित रखना चाहिये।

श्लोक—मदाष्टं संशय अष्टं च, त्यक्तते भव्य आत्मना।
शुद्ध पदं ध्रुवं सार्थं, दर्शनं मल मुक्तयं ॥ ३८९ ॥

अन्वयार्थ—(मदाष्टं) आठ मद (संशय अष्टं च) आठ शंकादि दोष इन्हें (भव्य आत्मना त्यक्तते) भव्य आत्मा छोड़दें क्योंकि (शुद्ध पदं ध्रुवं सार्थं दर्शनं मल मुक्तयं) शुद्ध पद मय निश्चल यथार्थ सम्यग्दर्शन मल रहित ही शोभता है।

विशेषार्थ—तीन मूढता छः अनायतनके त्यागके साथ आठ प्रकारका मद न करे। जाति, कुल, धन, अधिकार, रूप, बल, विद्या व तप इन बातोंकी उत्तमता व अधिकता होनेपर भी सम्यक्ती इनका सम्बन्ध क्षणिक व कर्मजनित जानकर इनके संयोगसे अभिमान नहीं करता है। इन आठों मदोंसे बचकर मार्दव भाव व नम्रतासे व्यवहार करता है तथा आठ शंकादि दोषसे बचता है। जिनमतमें शंका नहीं रखता है व कोई भय मनमें लाकर जिनधर्मकी सेवा नहीं छोडता है। कोई प्रकार संसारके विषयभोगोंकी इच्छा करके धर्म सेवन नहीं करता है। किसीको दुःखी, रोगी, दलिद्री देखकर ग्लानि भाव नहीं लाता है। मूढताईसे कोई धर्मक्रिया नहीं करता है, अपने आत्मीक धर्मको बढ़ाता है, दूसरोंके औगुणोंको प्रगट करनेकी आदत नहीं रखता है, धर्ममें अपनेको व दूसरोंको दृढ़ रखना है। साधर्मी भाइयोंसे गौवत्स सम प्रेम रखता है तथा धर्मकी प्रभावना करता है। हर प्रकारसे उन्नतिका साधन मिलाता है।

इस तरह जो आठ अंग न पालें तो ये आठ दोष होजाते हैं। सम्यक्ती २५ दोषोंको भले-प्रकार टालकर सम्यक्तको निर्मल रखता है, यही दर्शनिक श्रावक पहली प्रतिमाके धारीका कर्तव्य है।

श्लोक—जे के वि मल संपूर्ण, कुज्ञानं त्रिरतो सदा।
एतानि संग त्यक्तंति, न किंचिदवि चिंतए ॥ ३९० ॥

अन्वयार्थ—(जे के वि मल संपूर्ण) जो कोई भी इन पचीस दोषोंसे पूर्ण हैं (सदा कुज्ञानं त्रिरतः) व हमेशा कुमति आदि तीन कुज्ञानमें रत हैं (एतानि संग त्यक्तंति) इनकी भी संगति नहीं करनी चाहिये (किंचिदपि न चिंतए) कुछ भी चिंतवन न करना चाहिये

विशेषार्थ—जैसे मल लिप्त कपडा शोभता नहीं वैसे मल लिप्त सम्यक्त शोभता नहीं। मल लिप्त वस्त्रवालेसे भेट करना, उससे मिलना जुलना, मिलनेवालेको भी मल लिप्त करनेवाला है उसी तरह हरएक सम्यक्तके रक्षकको उचित है कि वह इन ऊपर कथित २५ दोषोंको स्वयं अपनेमें न लगावे, निर्मल सम्यक्त रक्खे तथा जो कोई अन्य स्त्री या पुरुष मल सहित हैं, शंकाशील हैं, विषयोंकी आकांक्षावान हैं, मानी हैं, मूढताईसे कुधर्मको सेते हैं, परम निंदक हैं, धर्मप्रेम रहित हैं, कुसंगतिके धारी हैं तथा मिथ्यात्वकी बुद्धि रखते हैं व मिथ्या शास्त्रोंके व रागवर्द्धक पुस्तकोंके पाठी हैं व राग-

तारणतरण ॥३८०॥

द्वेष लिप्त अधर्मका उपदेश देनेवाले हैं व कुअवधिज्ञान धारी हैं उन सबकी भी संगति नहीं करनी चाहिये न उनकी संगतिका विचार करना चाहिये। मन, वचन, कायसे मिथ्यात्वमें व तीव्र रागमें पटकनेवाली संगतिसे बचकर रहना चाहिये। अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व कर्मके उदय होनेवाले निमित्त कारणोंको बचाना चाहिये। क्योंकि बहुतसे कर्मोंका उदय बाहरी निमित्तके आधीन होता है। जिन निमित्तोंसे सम्यक्त भाव दृढ होता जावे उन हीका प्रसंग सदा मन, वचन, कायसे करना चाहिये। सम्यक्तमें बाधाकारक प्रसंगोंसे माध्यस्थ भाव रखना चाहिये। सम्यग्दर्शनकी निर्मलताका उपाय दर्शनप्रतिमाधारीको भलेप्रकार करना चाहिये।

श्लोक—मलमुक्तं दर्शनं शुद्धं, आराध्यते बुधजनैः।
सम्यग्दर्शन शुद्धं च, ज्ञानं चारित्रसंजुतं ॥ ३९१ ॥

अन्वयार्थ—(मलमुक्तं दर्शनं शुद्धं) मल रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है उसीको (बुधजनैः आराध्यते) बुद्धिमानोंको आराधन करना योग्य है (सम्यग्दर्शन शुद्धं च) जहां सम्यग्दर्शन शुद्ध है वहां (ज्ञानं चारित्र संजुतं) ज्ञान और चारित्र भी शुद्ध है।

विशेषार्थ—ज्ञान कितना भी हो यदि सम्यक्त शुद्ध नहीं है तो ज्ञान भी शुद्ध नहीं है। चारित्र कितना भी पाले, यदि सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं है तो चारित्र शुद्ध नहीं है। सम्यग्दर्शनके होते हुए ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यग्चारित्र नाम पाता है। नहीं तो ग्यारह अंग नौ पूर्व तकका ज्ञान तथा श्रावकका अनेक प्रकारका चारित्र व मुनियोंका आचरण व तप सर्व ही मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र है। जहां अंतरंगमें मिथ्यात्वकी वासना होगी—विषयाकांक्षा होगी, ख्याति लाभ पूजादिकी चाह होगी वहीं सर्व ज्ञान व चारित्र मिथ्या कहलायगा। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको दृढ़तासे रखे। उसके दृढ़ रहनेका उपाय यह है जैसा कि शांतिपाठमें कहा है—

शास्त्राभ्यासो जिनपदनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः, सद्वृत्तानां गुणगुणकथा दोषवादे च मौनं।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे। संपद्यंतां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ॥

भावार्थ—धर्मप्रेमी सम्यग्दर्शनके रक्षकको निरंतर यह भावना भानी चाहिये व ऐसा ही वर्ताव

रखना चाहिये कि जबतक मोक्ष न हो मैं हरएक जन्ममें इन सात बातोंका अभ्यास करता रहूँ—(१) नित्य प्रति सम्यक्त वर्द्धक शास्त्रोंको पढता रहूँ। (२) जिनेन्द्र भगवानके चरणोंकी भक्ति करता रहूँ। (३) सदा ही साधु पुरुषोंकी संगति करता रहूँ। (४) उत्तम चारित्रवान स्त्री पुरुषोंकी कथा करता रहूँ। (५) परके दोषोंको कहनेमें मौन रहूँ। (६) सर्वसे प्यारे हितकारी वचन बोलूँ। (७) तथा आत्माके स्वरूपकी भावना करता रहूँ। इन सात बातोंका अभ्यास सम्यक्तकी दृढता करनेवाला है। यदि इनके विरुद्ध वर्ता जायगा तो सम्यक्तके छूटनेका अवसर आसक्ता है या सम्यक्त मलीन रहेगा। मेरा श्रद्धान पत्थरके खंभके समान अटल बना रहे ऐसी सम्हाल श्रावकको रखनी योग्य है।

श्लोक—दर्शनं यस्य हृदये शुद्धं, दोषं तस्य न पश्यते ।
विनाशं सकलं जानंते, स्वप्नं तस्य न दिष्टते ॥ ३९२ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य हृदये दर्शनं शुद्धं) जिसके हृदयमें सम्यग्दर्शन शुद्ध है (तस्य दोषं न पश्यते) उसके भीतर कोई दोष नहीं दिखलाई पडता है (सकलं विनाशं जानंते) वह सर्व जगतकी धन वस्त्रादि परिग्रहको विनाशीक जानता है (स्वप्नं तस्य न दिष्टते) उसको स्वप्नमें भी नाशवंत वस्तुका राग पैदा नहीं होता है।

विशेषार्थ—जहां शुद्धता होगी वहां मैल नहीं व जहां मैल होगा वहां शुद्धता नहीं। दोनोंका विरोध है। इसलिये जो कोई सम्यग्दर्शनको रखते हुए २५ मलोंमेंसे एक भी मलको नहीं लगाता है, सदा ही मूढतासे बचता है, किसी तरहका अभिमान नहीं करता है, परम दृढतासे आत्माकी भावना भाता है, धर्मात्माओंसे प्रेम रखता है, धर्मकी वृद्धिका यथाशक्ति उपाय करता है, उसके भीतर कोई दोष प्रवेश नहीं करसक्ते हैं। सम्यग्दृष्टी जीव, जितनी संसारकी परसंयोगजनित अवस्थाएं हैं उनको नाशवंत जानता रहता है इसीलिये उनमें राग द्वेष मोह नहीं करता है। वह जानता है कि शरीर, धन, यौवन, बल, पुस्तकोंके आश्रय विद्या, कुटुम्ब, सेवकोंका समागम तथा यह जीवन सर्व जलके बुद्बुदवत् चंचल हैं। देखते २ नष्ट होजाते हैं इसकारण इन क्षणिक पदार्थोंसे सदा ही उदासीन रहता है। सम्यग्दृष्टी चक्रवर्ती भी हो तौभी बाहरसे छः खण्डका राज्य करता दिखलाई पडता है, अंतरंगमें मात्र अपने आत्मीक राज्यको ही सम्हालता है। मेरा परमाणु मात्र भी

नहीं है ऐसी दृढ भावना सम्यक्तीके अंतरंगमें होती है। जैसे कोई न्यायवान गृहस्थ दूसरेकी वस्तुओंको कभी भी अपनी नहीं मानता है, उसी तरह सम्यक्ती शरीरादि परवस्तुओंको कभी भी अपनी नहीं मानता है। कभी स्वप्नमें भी उसका विचार नहीं होता है। जिस बातका संकल्प विकल्प स्वप्न रहित अवस्थामें हुआ करता है प्रायः स्वप्नमें वे ही सब बातें आया करती हैं। अथवा यहां यह बताया है कि उसको स्वप्न नहीं दीख पडते हैं। इसका भाव यह भी झलकता है कि वह ऐसा निश्चिंत होकर शयन करता है कि उसे गाढ निद्रा आजाती है। गाढ निद्रामें स्वप्न नहीं दिखता है। जब निद्रा ढीली होती है तब ही स्वप्न आते हैं। सम्यक्ती शुद्धात्माकी भावना करता हुआ ही शयन करता है व जब नींद खुल जाती है तब उसी शुद्धात्माकी भावनामें लगता है। ज्ञान वैराग्य व शुद्ध स्वरूपकी भावनाके प्रतापसे उसका शयनादि बडा ही शांत व क्षोभ रहित होता है इससे यदि अभ्यासके बलसे सम्यक्तीको स्वप्न न आवे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

श्लोक—सम्यग्दर्शनं शुद्धं, मिथ्या ज्ञानं विलीयते।
शुद्ध समयं उत्पादंते, रजनी उदय भास्करं ॥ ३९३ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्धं सम्यग्दर्शनं) जहां मल रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन है (मिथ्याज्ञानं विलीयते) वहां मिथ्याज्ञानका विलय होजाता है (शुद्ध समयं उत्पादंते) शुद्ध आत्मीक भाव पैदा होजाता है अथवा शुद्ध चारित्र झलक जाता है (रजनी उदय भास्करं) जैसे सूर्यके उदय होनेसे रात्रिका अंधकार विला जाता है और प्रभातका सुहावना प्रकाश फैल जाता है।

विशेषार्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शनके प्रकाशके सामने मिथ्याज्ञान उसी तरह नहीं ठहर सक्ता है जैसे सूर्यके उदय होनेसे रात्रि नहीं ठहर सक्ती है। सम्यक्तीके भीतर कुमति, कुश्रुति, कुअवधि कभी नहीं होते हैं। नारकीके भीतर सम्यग्दर्शनका प्रकाश होते हुए सर्व तीन ज्ञान सुन्दर मोक्ष प्राप्तिके अभिप्रायको लिये हुए होनेसे सुज्ञान रूप ही रहते हैं। सम्यग्दर्शनके होते हुए स्वरूपाचरण चारित्रका उदय होजाता है या शुद्धात्माका अनुभव प्रकट होजाता है। आत्मज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशमें फिर संसारका मोहतम कैसे रह सक्ता है। वह ज्ञानी शुद्ध नयकी दृष्टिका विशेष अभ्यास रखता है। उसको हरएक संसारी आत्माके भीतर भी पुद्गलसे भिन्न आत्माका दर्शन होता है। जैसे ज्ञानी

किसान धान्यके ढेरमें चावलोंको अलग व भूसीको अलग देखता है व तेली तिलोंके ढेरमें तेलको भूसीसे भिन्न देखता है व जौंहरी खानसे निकले हुए माणिक-पन्नेके पाषाणमें रत्नको अलग व मैलको अलग देखता है व चतुर धोबी वस्त्रमें वस्त्रको अलग व मैलको अलग देखता है वैसे ही सम्यग्दर्शनधारी महात्मा आत्मासे अनात्माको भिन्न देखता है, सदा ही शुद्धात्माकी भावनामें दृढ रहता है। सूर्यसम तत्वज्ञानमें चमकता रहता है।

श्लोक—दर्शनं तत्व सर्धानं, तत्व नित्य प्रकाशकं।
ज्ञानं तत्व न वेदंते, दर्शनं तत्व सार्धयं ॥ ३९४ ॥

अन्वयार्थ—(तत्व सर्धानं दर्शनं) तत्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है (नित्य तत्व प्रकाशकं) अविनाशी शुद्ध तत्वका प्रकाश करनेवाला है। (ज्ञानं तत्व न वेदंते) सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान तत्वको अनुभव नहीं कर सक्ता है (दर्शनं तत्व सार्धयं) परन्तु सम्यग्दर्शन आत्म तत्वके अनुभवके साथ ही होता है।

विशेषार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे जीव आदि सात तत्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है परन्तु निश्चयनयसे शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जहांतक शुद्ध आत्म तत्वका प्रकाश नहीं होता है वहांतक ज्ञान मात्र तो है परन्तु सम्यक्त नहीं है। सम्यक्तके विना ज्ञानका कुछ भी मूल्य नहीं है। विना सम्यक्तके ज्ञान जान तो सक्ता है परन्तु स्वानुभव नहीं कर सक्ता है। जबतक स्वात्मामें थिरता न हो तबतक स्वाद नहीं आसक्ता है। अनंतानुबंधी कषायके उपशम होनेसे स्वरूपाचरण चारित्रका प्रकाश होता है, तब ही मिथ्यात्वके उपशममें शुद्ध स्वरूपकी सच्ची रुचि होती है। यदि सम्यक्तके बाधक कर्मप्रकृतियोंका उदय हो तो कदापि शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होसक्ता है। इसीलिये सम्यग्दर्शनके लिये प्रयत्न कर्तव्य है। नित्य तत्वका विचार परम उपयोगी है। आत्मा रागादिसे, आठ कर्मादिसे, शरीरादि नौ कर्मोंसे भिन्न है ऐसा वारवार विचार करना चाहिये। सम्यक्तकी ज्योतिमें ही आत्मीक तत्वका अनुभव होता है।

श्लोक—सम्यग्दर्शनं शुद्धं, ॐ वं कारं च विंदते।
धर्मध्यानं उत्पायंते, ह्रियं कारण दिष्टते ॥ ३९५ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्धं सम्यग्दर्शनं) जब शुद्ध आत्माका अनुभव करानेवाला निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होजाता है तब ही (ॐ वं कारं च विंदते) ॐ का अनुभव होता है (धर्मध्यानं उत्पाद्यते) धर्मध्यान पैदा होता है (ह्रियं कारेण दिष्टते) व ह्रीं मंत्रकी सहायतासे आत्माका दर्शन होता है।

विशेषार्थ—ॐ मंत्रमें अरहंतादि पांच परमेष्ठी गर्भित हैं उनका स्थूलपने विचार तो मिथ्यादृष्टीके भी होसक्ता है परन्तु उनका व्यवहारनयसे फिर निश्चयनयसे विचार व उनके भीतरसे शुद्ध आत्माको पहचानकर उसके अनुभवकी शक्ति सम्यग्दर्शनके द्वारा ही होसक्ती है। यद्यपि सम्यक्तके विना भी मुनिगण ध्यान लगाते, तपस्या करते, उपवास करते, ईर्यासमिति पालते, जीवोंकी रक्षाका ध्यान रखते, कठोर वचन नहीं कहते, शास्त्रानुसार सर्व आचरण पालते हैं तथा गृहस्थगण देवपूजा, स्वाध्याय, सामायिक, संयम, गुरुभक्ति व दानादि धर्मके कार्य करते हैं तथापि इन सर्व मुनि व श्रावककी क्रियाको धर्मध्यान सम्यग्दर्शनके विना नहीं कहा जासक्ता। क्योंकि सम्यक्तके उदय विना साधक मुनि व गृहस्थके भीतर किसी कषायका अभिप्राय रहता है। या तो मानवश या मायावश या इंद्रिय सुखके लोभवश या संसार भ्रमणके भयसे धर्मका साधन है–शुद्धात्माके अनुभवके लिये नहीं है। इसलिये उन सब साधनको धर्मध्यान नहीं कह सक्ते। जहां शुद्धात्मानुभवके अभिप्रायसे धर्म साधन होता है वहीं धर्मध्यान कहा जाता है। ह्रींमें चौवीस तीर्थंकर गर्भित हैं। इस मंत्र द्वारा भी तीर्थंकरोंके गुणोंका विचार होता है। परन्तु शुद्धात्माका अनुभव तब ही होगा तब सम्यक्त होगा। इस हेतु संसार तारक परमोपकारक सम्यग्दर्शनको बडी चेष्टाके साथ शुद्ध रखना चाहिये, उसमें कोई दोष नहीं लगाना चाहिये।

श्लोक—ॐ वं कारं ह्रींकारं च, श्रींकारं प्रतिपूर्णयं।
ध्यानं च शुद्ध ध्यानं च, अनुव्रतं सार्धं ध्रुवं ॥ ३९६ ॥

अन्वयार्थ—(ॐ वं कारं ह्रींकारं च) ॐ मंत्र, ह्रीं मंत्र तथा (श्रींकारं प्रतिपूर्णयं) श्रीं मंत्र इन तीन मंत्रोंकी पूर्णता सहित अर्थात् ॐ ह्रीं श्रीं द्वारा (ध्यानं च) ध्यान करना चाहिये तथा फिर (शुद्ध ध्यानं च) शुद्ध आत्माके ध्यानमें लवलीन होना चाहिये (अनुव्रतं सार्द्ध ध्रुवं) ऐसा ध्यान पांच अणुव्रतोंके साथ निश्चलतासे करना योग्य है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि दर्शन प्रतिमाधारी श्रावकका कर्तव्य है कि २५ दोष रहित सम्यक्तको पालते हुए व स्थूलपने पांच अणुव्रतोंका साधन करते हुए ॐ ह्रीं श्रीं मंत्रके द्वारा पांच परमेष्ठीका व चौवीस तीर्थंकरोंका स्वरूप विचार करे। दर्शन प्रतिमाधारीको उनके स्वरूपको फिर अपने आत्माके स्वरूपसे मिलान करना चाहिये। शुद्ध निश्चयनयसे अपनेको सिद्धरूप शुद्ध अनुभव करना चाहिये। केवल मात्र व्यवहार चारित्रमें ही लीन होकर व मात्र ज्ञानसे संतोष मानकर न बैठ रहना चाहिये किंतु प्रातःकाल और संध्याकाल अवश्य एकांतमें बैठकर सामायिकका अभ्यास करना चाहिये। शांत चित्त हो अनेक मंत्रोंके द्वारा पदस्थ ध्यानका व पृथ्वी आदि पांच धारणाओंके द्वारा पिंडस्थ ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। शुद्धात्माका अनुभव ही यथार्थमें धर्मका सच्चा अनुभव है। इसके अभ्यासके लिये अन्य सब चारित्र किया जाता है। ऐसा निश्चय रखके आत्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

श्लोक—आज्ञा वेदकश्चैवं, पदवी दुतिय आचार्यं।
ज्ञानं मति श्रुतं चिंते, धर्मध्यानरतो सदा ॥ ३९७ ॥

अन्वयार्थ—(आज्ञा वेदकश्चैवं) आज्ञा सम्यक्त तथा वेदक सम्यक्तको इस तरह पालते हुए (पदवी दुतिय आचार्यं) दूसरे पदका आचरण करना योग्य है (ज्ञानं मति श्रुतं चिंते) मतिज्ञान श्रुतज्ञानको चिंतवन करना योग्य है (धर्मध्यानरतो सदा) ऐसा दर्शन प्रतिमाधारी सदा धर्मध्यानमें रत रहता है।

विशेषार्थ—पहली पदवी अविरत सम्यक्तकी है उसके आगे दूसरी पदवी दर्शन प्रतिमाकी है। यद्यपि दर्शन प्रतिमावालेके सामान्यसे व्यवहार सम्यक्त तथा निश्चय सम्यक्त तीनों ही प्रकार संभव है-उपशम, वेदक व क्षायिक। परन्तु इस पंचमकालकी अपेक्षा विचारते हुए ग्रन्थकर्ताका ऐसा आशय सूचित होता है कि क्षायिक सम्यक्त तो अब संभव नहीं है तथा उपशम सम्यक्तकी स्थिति ही अन्तर्मुहूर्त है, अधिक काल ठहर नहीं सकता है-तब व्यवहार सम्यक्त तथा वेदक सम्यक्त ये ही दोनों दीर्घकाल तक इस समय इस भरतक्षेत्रमें ठहर सकते हैं। जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञा प्रमाण देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान तथा जीवादि सात तत्वोंका श्रद्धान रखना व्यवहार सम्यक्त है। इसीको यहां आज्ञा सम्यक्त कहा है। क्षयोपशम सम्यक्तको ही वेदक सम्यक्त कहते हैं वहां अनंतानुबन्धी

चार कषाय तथा मिथ्यात्व व सम्यक् मिथ्यात्वका तो उदय नहीं रहता है किंतु सम्यक्त प्रकृतिका उदय होता है जिसके उदयसे सम्यक्तमें कुछ मलीनता रहती है, सम्यक्त बना रहता है। इस सम्यक्तका काल बहुत है। दर्शन प्रतिमावालेको इस प्रकारके आज्ञा सम्यक्त व वेदक सम्यक्तकी दृढता रखते हुए दर्शन प्रतिमाका आचरण भलेप्रकार पालना चाहिये। मतिज्ञान व श्रुतज्ञानके द्वारा शास्त्रका विचार, मनन, चिंतवन करते रहना चाहिये तथा विवेकसे जगतमें व्यवहार करना चाहिये कभी दुर्बुद्धि चित्तमें न लाना चाहिये न मिथ्यात्व पोषक शास्त्रोंकी संगति करनी चाहिये। किंतु तत्व विचारके सहकारी शास्त्रोंका मनन करके धर्मध्यानकी शक्ति बढानी चाहिये तथा धर्मध्यानमें सदा लीन रहना चाहिये।

श्लोक—अनेयव्रत कर्तव्यं, तप संजमं च धारणं।
दर्शनं शुद्ध न जानंते, वृथा सकल विभ्रमः ॥ ३९८ ॥

अन्वयार्थ—(अनेयव्रत कर्तव्यं) जो अनेक व्रतोंका कर्तव्य करे (तप संजमं च धारणं) तप तथा संयमको भी धारण करे परन्तु (शुद्ध दर्शन न जानंते) शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शनको न जाने न अनुभवे (वृथा) तो उसका व्रतादि वृथा है (सकल विभ्रमः) सर्व ही विपरीत है, मोक्षमार्ग नहीं है।

विशेषार्थ—यहां यह जोर देकर कहा है कि शुद्धात्माका अनुभव करानेवाला यदि शुद्ध सम्यक्त न हो तो सर्व ही चारित्र मिथ्या व संसार वर्द्धक है, मोक्षका मार्ग नहीं है। कोई श्रावक अपनेको व्यवहारमें श्रद्धावान समझकर कुदेव, कुगुरु, कुधर्मका सेवन न कर जैन तत्वोंको मनन करे, जिनेन्द्रकी भक्ति करे, व्यवहारमें पांच अणुव्रतोंको पाले, उपवास, अनोदर, रसत्याग आदि नाना प्रकार तप करे तथा इंद्रियसंयम व छः कायकी दयारूप प्राणिसंयम पाले, व्यवहार चारित्रमें कोई कमी न करे तौभी यदि उसके निश्चय सम्यक्त नहीं है, जिसके शुद्धात्माके अनुभवका लक्ष्य नहीं है तौ उसका यह सब आचरण मोक्षमार्ग नहीं होसक्ता है। वह मोक्षमार्गकी अपेक्षा मिथ्या है या विपरीत है-कुचारित्र है। जहां सर्व ही व्यवहार चारित्रके पालनका हेतु अंतरंग आत्मानुभवरूप चारित्रकी प्राप्ति है, वहां यह सर्व मोक्षमार्गमें निमित्त सहकारी होनेसे व्यवहारनयसे मोक्ष मार्ग कहे जासक्ते हैं। सम्यक्तीको यह दृढ निश्चय है कि शुद्धात्माका अनुभव ही वास्तवमें सम्यक्त है,

ज्ञान है व चारित्र है। व्यवहार धर्म तो वास्तवमें निमित्त कारण है। जहां शुद्धात्माके लाभकी दृष्टिसे व्रतादि पालन हो वही सफल है व मोक्षमार्गमें सहकारी है। जहां यह दृष्टि न हो वहां मात्र पुण्य बंध होता है, उस पुण्यसे सुगति व सुसामग्रीकी प्राप्ति होसक्ती है, परन्तु संसारका भ्रमण दूर नहीं होसक्ता है।

श्लोक—अनेकपाठ पठनं च, अनेक क्रिया संजुतं।
दर्शनं शुद्ध न जानंते, वृथा दान अनेकधा ॥ ३९९ ॥

अन्वयार्थ—(अनेकपाठ पठनं च) अनेक पाठोंका पढना (अनेक क्रिया संजुतं) अनेक प्रकारे व्यवहार चारित्रका पालना (अनेकधा दान) अनेक प्रकारका दान देना (वृथा) निरर्थक है, यदि (शुद्ध दर्शनं न जानंते) शुद्ध सम्यग्दर्शनको अनुभव नहीं किया जाय।

विशेषार्थ—यहांपर भी यही दृढ किया है कि सम्यग्दृष्टी ज्ञानीकी दृष्टि सदा ही शुद्धात्मापर रहनी चाहिये। केवल परिणामोंकी शुद्धिके लिये, कषायोंको घटानेके लिये वह शास्त्रोंको पढता है, पूजा व्रत उपवासादि क्रिया साधता है तथा चार प्रकारका दान देता है, तब ये सब बाहरी साधन उसके लिये शुद्धात्मापर लक्ष्य रखनेके लिये निमित्त होजाते हैं। ज्ञानी सम्यक्ती किसी विषयवासनाके अभिप्रायसे या किसी मान बडाई प्रसिद्धिके लिये या किसी मायाचारसे कोई धर्मकी क्रिया नहीं करता है। यदि शुद्धात्माकी तरफ लक्ष्य न रखके मात्र गृहस्थका बाहरी चारित्र पाला जावे, दानादि दिया जावे, अनेक शास्त्रोंका पठन पाठन किया जावे तौ वह पुण्यबंध कारक तो होगा, परन्तु मोक्षमार्ग न होगा। मोक्षमार्ग तो निश्चयनयसे एक अभेद शुद्धात्माका अनुभव स्वरूप है। यही परमानन्दका कारण है। जबतक सम्यक्तीका उपयोग आत्माके ध्यानमें लगता है तबतक वह आत्माका ध्यान ही करता रहता है। जब उपयोगमें निर्बलता होजाती है तब विषय कषायोंसे बचनेके लिये तथा पुनः फिर शुद्धात्मध्यानमें पहुंचनेके लिये मंद-कषायके कारणरूप कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। अर्थात् पूजा, दान, व्रतादि करता है। तथापि उनको बंधका कारण जानता है, निश्चय मोक्षमार्ग नहीं मानता है।

श्लोक—दर्शनं यस्य हृदि दृष्टं सुयं ज्ञान उत्पाद्यते ।
कमठी दृष्टि यथा अंडं, स्वयं वर्धंति यं बुधैः ॥ ४०० ॥

अन्वयार्थ—(यस्य हृदि दर्शनं दृष्टं) जिसके मनमें सम्यग्दर्शन विद्यमान है (सुयं ज्ञानं उत्पाद्यते) वहां ही श्रुतज्ञान बढता जाता है (यथा कमठी दृष्टि अंडं स्वयं वर्धंते यं बुधैः) जैसे कछवीकी दृष्टिसे ही अंडा स्वयं बढता है इसी तरह बुद्धिमानोंका शास्त्रज्ञान बढता है ।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके होते ही जितना शास्त्र ज्ञान होता है वह सम्यक्ज्ञान नाम पाता है। तथा थोडेसे ही अभ्याससे व शुद्धात्माके अनुभवके प्रतापसे उसका शास्त्र ज्ञान दिनपर दिन बढता जाता है यहींपर दृष्टांत दिया है जैसे-कछुवीका अंडा होता है वह अंडा कछुवीकी दृष्टिसे ही बढता जाता है। इसका कारण यह है कि कछुवीका निरन्तर ध्यान अंडेकी तरफ रहता है। उसके इस संकल्पके निमित्तसे ही अंडा बढता जाता है। उसी तरह सम्यक्तीका ध्यान निरंतर तत्वके अभ्यासमें रहता है। उसकी गाढ रुचि आत्मीक चर्चापर रहती है इससे उसका शास्त्र ज्ञान दिनपर दिन उन्नति करता जाता है। वह अति रुचिपूर्वक शास्त्रोंको देखता भी है पढता भी है। उसका मन एकाग्र हो शास्त्ररूपी वनमें क्रीड़ा करता है इससे उसको शास्त्र बोध बहुत जल्दी होता है। यहां यह भी अभिप्राय है कि सम्यक्तीका श्रुतज्ञान आत्मध्यानके प्रतापसे इसलिये बढ जाता है कि उसके श्रुतज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होजाता है। सम्यक्ती साधु विना अभ्यासके ही द्वादशांगका पाठी होजाता है। यह सब सम्यक्तकी महिमा है। जब सम्यक्तके प्रभावसे केवलज्ञान होजाता है तब श्रुतज्ञानके लाभमें कोई विशेष कठिनाई नहीं है। शास्त्रका सेवन जैसे सम्यक्त होनेमें सहाई है वैसे सम्यक्त होनेके पीछे सम्यक्तकी दृढता व ज्ञानकी वृद्धिके लिये भी सहकारी है। सम्यक्तकी भले प्रकार रक्षा कर्तव्य है।

श्लोक—दर्शनं यस्य हृदि शुद्धं, सुयं ज्ञानं च संभवं ।
मच्छिका अंड जथा रेते, स्वयं वर्धंति यं बुधैः ॥ ४०१ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य हृदि शुद्धं दर्शनं) जिसके मनमें शुद्ध सम्यग्दर्शन है (सुयं ज्ञानं च संभयं) वहा ही

श्रुतज्ञानकी वृद्धि होती है (जथा रेते मच्छिका अण्ड) जैसे रेतीमें मछलीका अंडा (स्वयं वर्धति यं बुधैः) स्वयं बढता जाता है वैसे ज्ञानियोंका ज्ञान बढता जाता है।

विशेषार्थ—यहां दूसरा दृष्टांत दिया है। जैसे रेतीमें बडी रक्षाके साथ रखा हुआ मछलीका अण्डा स्वयं बढता जाता है, क्योंकि उस मछलीको निरन्तर अण्डेका ध्यान है, उसी तरह जहां शुद्ध व दोष रहित सम्यग्दर्शन होता है, शास्त्र ज्ञान बढता जाता है। यों तो हरएक आत्मा सहज शुद्ध पूर्ण ज्ञानमय है उसपर ज्ञानावरण कर्मका आवरण होनेसे वह बहुत कम जानता है। जितना२ आवरण हटता जायगा उतना२ ज्ञानका प्रकाश होता जाता है। आवरणके होनेका मूल कारण कषाय है। कषाय भावोंसे ही ज्ञानावरणादि कर्मका बंध अंतर्मुहूर्त या उससे अधिक स्थितिरूप पडता है। तब निःकषाय या वीतराग भावसे अवश्य ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है, अर्थात् ज्ञान बढता है। निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शनका अनुभव परिणामोंमें अपूर्व वीतराग भाव पैदा कर देता है। बस यही भावोंकी शुद्धता ज्ञानावरणका क्षयोपशम करानेवाली है, श्रुतज्ञानको बढानेवाली है। अतएव शुद्ध सम्यग्दर्शन सदा बना रहे ऐसा यत्न करना योग्य है।

श्लोक—दर्शनहीन तपं कृत्वा, व्रत संजम पढं क्रिया।
चपलता हिंडि संसारे, जल सरणि ताड किट्टका ॥ ४०२ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनहीन तपं कृत्वा व्रत संजम पढं क्रिया) जो सम्यग्दर्शनके बिना तप करते हैं, व्रत संयम पालते हैं, पठन पाठन करते हैं (चपलता) तथा चपलता या कषायभावका विकार अंतरंगमें रखते हैं वे (संसारे हिंडि) संसारमें भ्रमण करते हैं जैसे (जल सरणि ताड किट्टका) ताड वृक्षका मैल नाला आदिमें बहता है।

विशेषार्थ—जैसे ताड वृक्षका मैल नदी, नाले आदि जलके मार्गमें दूरतक वहकर भ्रमण करता है वैसे ही जो कोई मुनि या श्रावकका चारित्र ठीक पालें परन्तु अंतरंगमें चपल हो माया, मिथ्या, निदान किसी शल्य सहित हो, सम्यग्दर्शनसे शून्य हो, आत्मानुभवके अभ्याससे रहित हो, आत्मानन्दकी रुचि रहित हो, अंतरंगमें इंद्रिय सुखकी वासना सहित हो तो उसका वह बाहरी चारित्र मोक्षका कारण नहीं सक्ता। वह मंद कषायसे पुण्य कर्म बांध लेगा, देवगतिमें चला

जायगा, वहां विषयोंमें लीन होजायगा। वहांसे चयकर दूसरे स्वर्गतकका एकेंद्रिय व बारहवें स्वर्ग तकका पशु व आगेका अतिशय रहित मनुष्य जन्म कर सम्यक्त रहित अन्य २ गतियोंमें जाजाकर कष्ट ही भोगेगा, जन्म जरा मरणसे रहित नहीं होसक्ता है।

श्लोक—दर्शनं सुस्थिरं यस्य, ज्ञानं चारित्र सुस्थिरं।
संसारे त्यक्त मोहं यं, मुक्ति सुस्थिर सदा भवेत् ॥ ४०२ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य दर्शनं सुस्थिरं) जिसका सम्यग्दर्शन भलेप्रकार स्थिर है (ज्ञानं चारित्र सुस्थिरं) जिसका ज्ञान व चारित्र भलेप्रकार स्थिर है (संसारे त्यक्त मोहं यं) जिसने संसारसे मोह त्याग दिया है (मुक्ति सुस्थिरे सदा भवेत) उसको भलेप्रकार स्थिर मोक्ष अवश्य होगी।

विशेषार्थ—मोक्षका साधन निश्चय रत्नत्रयमई आत्माका अनुभव है। जिसके शुद्धात्माकी रुचि दृढ है, शुद्धात्माका ज्ञान दृढ है, शुद्धात्मामें थिरता दृढ है वह अवश्य मोक्षमार्गका अनुयायी है, वही श्रावक है। दर्शन प्रतिमाधारी श्रावकको व्यवहार व निश्चय सम्यग्दर्शन दृढतापूर्वक शुद्धतापूर्वक पालना चाहिये। तथा शास्त्र ज्ञान द्वारा आत्मज्ञानकी शक्ति बढानी चाहिये तथा अपने योग्य चारित्रके द्वारा मन, वचनकायकी थिरताको पाकर आत्मध्यानकी योग्यता बढानी चाहिये। इसतरह जो भेदविज्ञानी उत्तम प्रकारसे रत्नत्रयकी आराधना करता है उसके बंध थोडा होता है व निर्जरा अधिक होती है। सम्यग्दृष्टी उदासीन भावोंसे कर्मके उदयको भोग लेता है, सुखमें उन्मत्त नहीं होता है, दुःखमें घबडाता नहीं है। इससे कर्म फल देकर झड तो जाते हैं परंतु बंध बहुत ही अल्प होता है। इसके सिवाय आत्मानुभवके प्रतापसे बहुत अधिक अविपाक निर्जरा होती है। वश वह धीरे २ मुक्तिके मार्गमें चलता रहता है।

श्लोक—एतत्तु दर्शनं दिष्टं, ज्ञानाचरण शुद्धए।
उत्कृष्टं व्रतं शुद्धं, मोक्षगामी न संशयः ॥ ४०४ ॥

अन्वयार्थ—(एतत्तु दर्शनं दिष्टं) इसतरह सम्यग्दर्शनका महात्म्य विचारना चाहिये (ज्ञानाचरण शुद्धए) जिससे ज्ञान और चारित्रकी शुद्धता होजावे (उत्कृष्टं व्रतं शुद्धं) जिससे व्रत उत्कृष्ट व शुद्ध होता

चला जावे (मोक्षगामी न संशयः) ऐसा श्रावक मोक्षगामी है, इसमें संशय नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—जिसने दर्शन प्रतिमाके नियम पालने आरंभ किये हों उसको मुख्यतासे सम्यग्दर्शनकी भले प्रकार दृढता रखनी योग्य है। २५ दोष रहित सम्यक्त पालना योग्य है। अंतरंग शुद्धात्माका चिंतवन व ध्यान करना योग्य है। इसीके प्रतापसे उनका शास्त्र ज्ञान व चारित्र बढता चला जायगा व शुद्ध होता जायगा। जितनी २ कषाय मंद होगी उतना उतना ही ज्ञान व चारित्र उज्वल होगा। दर्शन प्रतिमावालेके अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यान कषायोंका उदय तो नहीं है। प्रत्याख्यान संज्वलन कषायोंका उदय है सो इसके आत्माभ्याससे मंद मंद होता जाता है। इसी प्रयोगसे इसका चारित्र बढते २ ग्यारह प्रतिमा तक पहुंच जायगा फिर यह साधुके आचरणको, उत्कृष्ट महाव्रतोंको पालने लग जायगा। अवश्य कभी न कभी मोक्ष प्राप्त कर लेगा। सम्यक्त सहितके मोक्षलाभमें कोई शंका नहीं।

श्लोक—दर्शनं सार्द्धं यस्य, व्रतं तस्य यदुच्यते।
व्रत तप नियम संयुक्तं, सार्द्ध स्वात्मदर्शनं ॥ ४०५ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य दर्शनं सार्द्ध) जिसके साथ सम्यग्दर्शन है (तस्य यत् व्रतं उच्यते) उसीके व्रतोंका होना है या व्रत प्रतिमा कही जाती है। वह दूसरी प्रतिमा धारी व्रती (व्रत तप नियम संयुक्तं) अपनी श्रेणीके योग्य व्रत तप व नियम सहित होता है तथा (स्वात्मदर्शनं सार्द्ध) अपने आत्माके अनुभवको करनेवाला होता है।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें बहुत संक्षेपसे व्रत प्रतिमाका स्वरूप कहा है। उसका स्वरूप रत्नकरंड श्रावकाचारमें इस भांति है—

निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि शीलसप्तकं चापि। धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥ १३८ ॥

भावार्थ—जो पांच अणुव्रतोंको अतीचार रहित पाले तथा सात शीलोंको भी पाले, जो शल्य रहित होकर उनको पालता है वह श्रावक व्रत धारियोंमें व्रत प्रतिमावाला है।

पांच अणुव्रतका स्वरूप पहले कह चुके हैं। सात शील जो अणुव्रतके उपकारी हैं उनका स्वरूप यह है—

तीन गुण व्रत—जो पांच अणुव्रतोंके मूल्यको बढा देते हैं इसलिये गुणव्रत कहलाते हैं।

(१) दिग्विरति—दशोंदिशाओंमें जन्म पर्यंतके लिये लौकिक कार्यके हेतु इतनी इतनी दूरसे आगे न जाऊँगा न चीज मगाऊँगा न भेजूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा इच्छाको मिटानेवाली है।

(२) देशविरति—जो प्रतिज्ञा गमनागमनकी दिग्विरतिमें जन्म भरके लिये की थी, उसमेंसे प्रयोजनभर मर्यादा रोज सवेरे २४ घण्टेके लिये रखले, शेष स्थानका राग छोड दे सो देशविरति है।

(३) अनर्थदण्ड विरति—रखे हुए क्षेत्रके भीतर भी विना प्रयोजन मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको न करें, वे मतलब पाप न करें वे पांच तरहके होते हैं-

(१) पापोपदेश—दूसरोंको पाप करनेका उपदेश देना।

( ) अपध्यान—दूसरोंका अहित मनमें भावना।

(३) हिंसादान—हिंसाकारी बर्छी, ढाल, तलवार आदि किसीको मांगे देना।

(४) दुःश्रुति—धर्ममार्गसे हटानेवाली स्त्री, भोजन, आदिकी व श्रृंगाररसकी कथा करनी व ऐसी पुस्तकोंका पढना व सुनना आदि।

(५) प्रमादचर्या—प्रमादसे बेविचारसे व्यवहार करना, वृथा पानी फेंकना, वृक्ष काटना आदि

चार शिक्षाव्रत हैं। ये मुनिपदकी शिक्षा देते हैं।

(१) सामायिक—शांत भाव चित्तमें लाकर सवेरे व शाम ४८ मिनिट या थोड़ी देर भी आत्म-ध्यान व समताभाव करना-रागद्वेष छोडकर सम रहना।

(२) प्रोषधोपवास—प्रोषध जो अष्टमी चौदस पर्वोका दिन उस रोज उपवास करना या एकभुक्त करना, धर्मध्यानमें मन लगाना।

(३) भोगोपभोग परिमाण—सत्रह नियम विचार लेना जिनका कथन पहले कर चुके हैं।

(४) अतिथि संविभाग—अपने लिये बने हुए भोजनमेंसे अतिथि जो मुनि उनको या आर्यिका, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक आदिको आहारदान देकर फिर भोजन करना।

सात शील और पांच अणुव्रत बारहव्रत कहलाते हैं इनको जो पाले वह व्रती श्रावक है। पांच अणुव्रतके पचीस अतीचार पूर्णपने बचावे, सात शीलोंके अतीचारोंके बचानेका यथाशक्ति

अभ्यास करे। तथा मेरा मरण समाधिभावसे शांतिके साथ हो ऐसी भावना सो सल्लेखणा है। इस १२ व्रत व समाधिमरण हरएकके पांच पांच अतीचार हैं।

अहिंसा अणुव्रतके—१ कषायवश होके मानव वा पशुको बंधनमें डाल देना सो बंध है, २—कषायके वश हो लाठी चाबुकसे मारना सो वध है, ३—कषायके वश हो किसीके अंग व उपंग छेद डालना सो छेद है, ४—पशु, मानव आदिपर मर्यादा रहित अधिक बोझा त्याग देना सो भी अतिभारारोपण है, ५—अपने आधीन मानव व पशुओंके अन्नपानको रोक देना अन्नपान निरोध है।

सत्य अणुव्रतके ५ अतीचार—

१—दूसरेको मिथ्या उपदेश देना सो मिथ्योपदेश है।

२—स्त्री पुरुषके एकांतकी बात कहना सो रहोभ्याख्यान है।

३—झूठा लेख कागज हिसाबादि लिखाना सो कूटलेख क्रिया है।

४—किसीके अमानत असत्य बोलकर लेना, उसके भूलसे कम मांगनेपर इतना ही तेरेकी है, ऐसा कहकर देना, हिसाब ठीक २ न बताना सो न्यासापहार है।

५—किसीकी सलाहको अंगके आकारसे जान कह देना साकार मंत्रभेद है।

३-अचौर्य अणुव्रतके ५ अतीचार—

१-चोरीका उपाय बताना—चोर प्रयोग है।

२-चोरीका लाया हुआ माल लेना—तदाहृता दान है।

३-विरुद्ध राज्य होनेपर—राज्य प्रबन्ध ठीक न होनेपर मर्यादा उल्लंघन करके लेनदेन करना, नीतिसे न चलना विरुद्ध राज्यातिक्रम है।

४-कमती तौलनाप करके देना—अधिक तौल नाप करके लेना हीनाधिक मानोन्मान है।

५-झूठा सिक्का चलाना व खरीमें खोटी वस्तु मिलाकर खरी कहकर विक्रय करना, प्रतिरूपक व्यवहार है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रतके ५ अतीचार—

१—अपने सम्बन्धी सन्तानोंके सिवाय अन्यकी सन्तानोंकी सगाई ढूंढना—परविवाहकरण।

२—विवाहिता व्यभिचारिणी स्त्रीसे हास्यादि व लेनदेन व्यवहार रखना–इत्वरिका परिग्रहीता गमन है।

३—विना विवाही वेश्यादि व्यभिचारिणी स्त्रियोंसे हास्यादिसे लेनदेन रखना सो। इत्वरिका अपरिग्रहीता गमन है।

४—काम सेवनके अंगोंको छोड़कर अन्य अंगोंसे काम सेवन करना अनंग क्रीड़ा है।

५—काम सेवनकी तीव्र लालसा रखनी कामतीव्राभिनिवेश है।

परिग्रह प्रमाण अणुव्रतके पांच अतीचार—

१—क्षेत्र मकान—२ चांदी सोना, ३ धन धान्य, ४ दासी दास, ५ कपड़े वर्तन, इन दो दोमें जो प्रमाण किया हो उनमेंसे एकके प्रमाणको घटाकर दूसरेके प्रमाणको बढा लेना ऐसे ५ अतिचार होंगे।

दिग्विरतिके ५ अतीचार—

१—ऊपरकी मर्यादाको भूलसे उलंघ जाना ऊर्ध्व व्यतिक्रम है।

२—नीचेकी मर्यादाको भूलसे उलंघ जाना अधो व्यतिक्रम है।

३—आठ दिशाओंकी मर्यादाको उलंघ जाना तिर्यक् व्यतिक्रम है।

४—किसी तरफ क्षेत्रकी मर्यादाको बढाकर इसी तरफ घटा देना क्षेत्रवृद्धि है।

५—मर्यादाको याद न रखना, भ्रममें चले जाना स्मृतन्तराधान है।

देशविरतिके ५ अतीचार—

१—मर्यादाके क्षेत्रसे बाहरसे मंगाना आनयन है।

२—मर्यादासे बाहर भेजना प्रेष्य प्रयोग है।

३—मर्यादासे बाहर बात करना व शब्द भेजना शब्दानुपात है।

४—मर्यादासे बाहर रूप दिखाकर काम निकालना रूपानुपात है।

५—मर्यादासे बाहर पुद्गल फेंककर काम निकालना पुद्गल क्षेप है।

अनर्थदंड विरतिके ५ अतीचार—

१—भांड वचन बोलना कंदर्प है।

२—भांड वचनोंके साथ कायकी कुचेष्टा भी करनी कौत्कुच्य है।
३—वृथा बकबक करना मौखर्य है।
४—विना विचारे काम करना असमीक्ष्य अधिकरण है।
५—भोगोपयोग वृथा संग्रह करना भोगोपयोग अनर्थक्य है।

सामायिकके ५ अतीचार—

१—मनमें दुष्ट विचार करना मनः दुःप्रणिधान है।
२—वचनोंको संसारिक कामोंमें लगाना वचन दुःप्रणिधान है।
३—कायको आलस्यरूप रखना काय दुःप्रणिधान है।
४—सामायिक आदरसे न करना अनादर है।
५—सामायिक करना व उसका पाठादि भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

प्रोषधोपवासके ५ अतीचार—

१—विना देखे विना झाड़े मलमूत्र करना व रखना अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग है।
२—विना देखे विना झाड़े कुछ उठाना सो अ० अ० आदान है।
३—विना देखे विना झाड़े चटाई आदि बिछाना सो अ० अ० संस्तरोपक्रमण है।
४—उपवासमें प्रेम न रखना अनादर है।
५—उपवास करना व धर्मकी विधिको भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

भोगोपयोग परिमाणके पांच अतीचार—

ये सचित्त वस्तु त्यागकी अपेक्षासे है—

१—सचित्त या हरी तरकारी फलादि जो छोड़ा हो भूलसे खालेना सचित्त है।
२—सचित्तपर रखी हुई व सचित्तसे ढकी हुई चीजें खाना सचित्त सम्बन्ध है।
३—सचित्तको अचित्तमें मिलाकर खाना सचित्त सन्मिश्र है।
४—कामोद्दीपक गरिष्ठ पदार्थ खाना अभिषव है।
५—खराब पका हुआ व जो न पके उसे खाना दुःपकाहार है।

अतिथि संविभागके ५ अतीचार—

सचित्त त्यागी श्रावक व मुनिको आहार देते हुए—

१—सचित्तपर रक्खा हुआ देना सचित्त निक्षेप है।

२—सचित्तसे ढका देना सचित्त अभिधान है।

३—दूसरेको दान देनेको कहकर आप न देना परव्यपदेश है।

४—ईर्षा भावसे दान देना मात्सर्य है।

५—काल उल्लंघकरके देना कालातिक्रम है।

समाधिमरणके ५ अतीचार—

१—अधिक जीनेकी लालसा रखनी जीविताशंसा है।

२—जल्दी मरनेकी इच्छा करनी मरणाशंसा है।

३—मित्रोंसे प्रेम बताना मित्रानुराग है।

४—पिछले सुखोंको याद करना सुखानुबंध है।

५—आगे भोग मिले ऐसा चाहना निदान है।

यह व्रती श्रावक धर्म साधनमें बड़ा सावधान होता है व संतोषी होता है, शुद्ध भोजन मर्यादाका मौन सहित जीमता है जिससे शांत भाव रहे। लालसा न हो व भोजन पर ध्यान रखे तथा अंतरायोंको टालकर भोजन करता है।

ज्ञानानंद निजरस निर्भर श्रावकाचारके अनुसार अंतराय इस भांति हैं—

१–मदिरा २–मांस ३–गीला हाड ४–काचा चमडा ५–चार अंगुल लोहूकी धारा ६–बडा पंचेंद्री मरा हुआ ७–भिष्टा मूत्र ८–चांडालादि। इसको आंखोंसे देख लेवे तो भोजन करते हुए छोड दे।

१–सूखा चमड़ा, २–नख, ३–केश, ४–ऊन, ५–पंख, ६–असंयमी स्त्री या पुरुष, ७–बड़ा पंचेंद्री तिर्यंच, ८–रितुवंती स्त्री, इनका स्पर्श हो तो अंतराय, ९–छोडी हुई चीजका भोजन, १०–मलमूत्रकी शंका, ११–मरदाका स्पर्शन, १२–थालीमें त्रस जंतु मरा निकले, १३–थालीमें बाल निकले,

१४-अपनेसे द्वेन्द्रियादिका घात होजावे तो अंतराय पाले। मरणादिक व भयानक दुःखमई रुदनके शब्द सुने, अग्नि लगी सुने, नगरादिमें मारनेका लूटनेका, धर्मात्माके उपसर्गका, मृतक मनुष्यका, कान नाक छेदनेका, चोरादिसे मार जानेका, लूट जानेका, चांडालके बोलनेका, जिनबिम्ब जिनमंदिरकी अविनयका, धर्मात्माके अविनयका शब्द सुने तो अंतराय। मनमें यह शंका हो कि यह भोजन मांस तुल्य है व ग्लानिरूप है तो अंतराय, इस तरह अंतराय पाले। यह व्रत प्रतिमाधारी बड़ा संतोषी होता है। अपने शुद्धात्माका मनन सामायिक द्वारा भले प्रकार करता है।

श्लोक—सामायिकं कृतं येन, समसम्पूर्ण सार्द्धयं।
ऊर्ध्वं च अधो मध्यं च, मनरोधो स्वात्मचिंतनं॥ ४०६॥

अन्वयार्थ—(येन सामायिकं कृतं) जो सामायिक तीन काल करे सो सामायिक प्रतिमाधारी है (सम सम्पूर्ण सार्द्धयं) जो समताभावसे पूर्ण सामायिक करे (ऊर्ध्व च अधो मध्यं च मनरोधो) जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक व मध्य लोक सबसे मनको रोक लेवे (स्वात्म चिंतनं) तथा अपने आत्माका चिंतवन करे।

विशेषार्थ—यहां तीसरी सामायिक प्रतिमाका कथन है। सामायिक दूसरी प्रतिमामें भी थी परंतु वहां अभ्यास रूप थी, कभी कोई कारणवश नहीं भी करे। यहां नियमसे प्रातः मध्याह्न व सायंकाल सामायिक करनी चाहिये सो भी ४८ मिन्ट या दो घडी प्रति समयसे कम नहीं। यदि कोई विशेष लाचारी हो तो ४८ मिनटसे कम अंतर्मुहूर्त भी कर सक्ता है। इस प्रतिमामें अतीचार रहित थिरतासे सामायिक करनी चाहिये। तीनों लोकमें किसी पदार्थसे राग नहीं करना चाहिये। निश्चयनयसे सर्व द्रव्योंको अपने स्वभावमें देखना चाहिये। व्यवहार दृष्टिको बंद कर देना चाहिये। तब अपना आत्मा भी शुद्ध ही दीखेगा व रागद्वेषका अभाव हो जायगा व परमसमता भाव प्राप्त हो जायगा। सामायिकके समय साधुके समान गृहस्थ श्रावकको भी निर्मोही रहना चाहिये व ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। रत्नकरंडमें कहा है—

चतुरावर्तत्रितयश्चतुःप्रणामस्थितो यथाजातः। सामयिको द्विनिषिद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवन्दी॥ १३९॥

भावार्थ—जो चार आवर्तके हैं त्रितय जिसके अर्थात् एक२ दिशामें तीन२ आवर्तका करनेवाला इस तरह १२ है। अर्थात् जिसके चार हैं प्रणाम जिसके, कायोत्सर्ग सहित बाह्याभ्यंतर परि-

ग्रहकी चिंतासे रहित, दो हैं आसन जिसके, (खड्गासन व पद्मासन) तीनों योग हैं, शुद्ध जिसके तीनों कालोंकी संध्याओंमें अभिवंदन करनेवाला ऐसा व्रती सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है। सामायिककी विधि यह है कि पूर्व या उत्तरको मुख करके कायोत्सर्ग खडा हो ९ दफे णमोकार मंत्र पढ दंडवत् करे फिर सर्व त्यागकी प्रतिज्ञा जहांतक सामायिक करता हो लेले। फिर उसी दिशामें खडा हो तीन या ९ दफे नमोकार मंत्र पढकर हाथ जोड तीन आवर्त एक शिरोनति करे। जोडे हुए हाथ बाऍंसे दाहने लावे यह आवर्त है, उसपर मस्तक झुकावे यह शिरोनति है। ऐसा ही अन्य तीन दिशामें तीन आवर्त व एक शिरोनति करे, फिर आसनसे बैठकर सामायिकपाठ पढे। जाप दे, ध्यान करे, अंतमें कायोत्सर्ग खडा हो, नौ दफे मंत्र पढकर दंडवत् करे। वास्तवमें सामायिक ही मोक्षमार्ग है। श्रावकको बडे प्रेमसे तीनों काल आत्मध्यान करना चाहिये व पहली दो प्रतिमाओंके सब नियम पालने चाहिये।

श्लोक—आलापं भोजनं गच्छं, श्रुतं शोकं च विभ्रमं।
मनो वचन कायं शुद्धं, सामाई स्वात्मचिंतनं ॥ ४०७ ॥

अन्वयार्थ—(सामाई) सामायिक करनेवाला (आलापं) वार्तालाप, (भोजनं) भोजन, (गच्छं) गमन (श्रुतं) सुनना, (शोकं) शोक (च विभ्रमं) तथा संदेह (मनो वचन कायं) व मन वचन कायका हलनचलन इनसे (शुद्धं) रहित हो (स्वात्म चिंतनं) मात्र अपने शुद्ध आत्माका चिंतवन करे।

विशेषार्थ—सामायिकका अर्थ ही आत्मा सम्बन्धी भाव है। समय आत्माको कहते हैं। इसलिये सामायिकके समय शांत चित्त हो मात्र एक अपने आत्माका ही चिंतवन करे, और कोई चिंता न करे, न किसीसे बातचीतका विचार करे और न बात करे न भोजनकी चिंता करे, न कहीं जाने आनेका विचार करे, न किसीकी बात सुननेमें उपयुक्त हो, न शोक करे न कोई संदेहकी बात मनमें लावे। मन, वचन, कायको निश्चल रखकर केवल निजात्मामें उपयोग जोडे। उस समय अपनेको शरीरादिसे रहित परम शुद्ध निर्विकार अनुभव करे। जैसे समुद्र या नदीमें स्नान करते हुए उसमें गोता लगाते हैं वैसे ही अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको ध्यानमें लेकर उसे नदीके समान समझकर

उसीमें अपने आपको मग्न करे। सच्ची सुख शांति पानेका उपाय यह सामायिक है जिसको सर्व कामोंकी चिंता छोडकर करे।

श्लोक—पोषह प्रोषधश्चैव, उपवासं येन क्रीयते।
सम्यक्तं यस्य शुद्धंच, उपवासं तस्य उच्यते ॥ ४०८ ॥

अन्वयार्थ—(पोषह प्रोषधश्चैव) पोषह रूप प्रोषध या पर्वके दिन (येन उपवासं क्रीयते) जो उपवास किया जावे तथा (यस्य शुद्धं सम्यक्तं च) जिसका सम्यग्दर्शन भी शुद्ध हो (तस्य उपवासं उच्यते) उसको प्रोषधोपवास प्रतिमा कहते हैं।

विशेषार्थ—दूसरी प्रतिमामें अष्टमी व चौदसको उपवासका नियम नहीं था, कभी कोई विशेष कारणसे नहीं भी करता था, या एकासन करता था व अतीचार भी नहीं बचाता था, व आरंभ त्याग नहीं भी करता था। यहां चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमामें वह मासमें दो दफे हरएक अष्टमी व चौदसको उत्कृष्ट १६ प्रहरका उपवास करेगा व धर्मध्यानमें समय विताएगा, अतीचार रहित पालेगा। जैसा रत्नकरण्डमें कहा है—

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥ १०९ ॥
पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य, प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥ ११० ॥

भावार्थ—खाद्य स्वाद्य, लेह्य (चाटने योग्य) पेय चार तरहके आहारका त्याग उपवास है, एक दफे भोजन प्रोषध है, आरम्भ त्यागे सो प्रोषधोपवास है। एक मासमें चार पर्वोमें अपनी शक्तिको न छिपाकर प्रोषधका नियम लेकर धर्मध्यान करे सो प्रोषधोपवास प्रतिमा है।

पहले दिन एक भुक्त तीसरे दिन भुक्त करे, १६ पहर धर्मध्यान करे, गमनागमन छोडे सो उत्कृष्ट है, यदि पहले दिन संध्याको आहारादि त्याग कर तीसरे दिन सबेरे पारणा करे, १२ पहर उपवास करे आरम्भ छोडे सो मध्यम है। यदि आरम्भ पहले दिन रातको न छोड सके व अष्टमी चौदसके सवेरे छोडे तो ८ पहरका प्रोषधोपवास है। वसुनंदि श्रावकाचारके अनुसार यह भी विधि है कि मध्यममें १६ पहर उत्कृष्टके समान धर्मध्यान करे परन्तु जल रखले, आवश्यक्तापर लेवे। जघन्य यह है कि जलके सिवाय बीचमें एक भुक्त भी करे, १६ पहर धर्मध्यान करे। इनमेंसे जैसी अपनी

शक्ति हो उसके अनुसार उपवास करे। यह उपवास मन, वचन, काय तथा अतिचारोंको शुद्ध करनेवाला है व आत्मध्यानकी शक्ति बढानेवाला है। सम्यग्दर्शनकी शुद्धता सहित तीन पहली प्रतिमाओंके सर्व नियम पालनेवाला ही चौथी प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

श्लोक—संसार विरचितं येन, शुद्ध तत्त्वं च सार्धयं।
शुद्ध दृष्टी स्थिरीभूतं, उपवासं तस्य उच्यते ॥ ४०९ ॥

अन्वयार्थ—(येन संसार विरचितं) जिसने संसारसे राग छोड दिया है (शुद्ध तत्त्वं च सार्द्धयं) शुद्ध आत्मीक तत्वरूप होगया है (शुद्ध दृष्टी स्थिरीभूतं) शुद्ध दृष्टी स्थिर होगई है (उपवासं तस्य उच्यते) उसीके उपवास कहा जाता है।

विशेषार्थ—वास्तवमें जहां मन व इंद्रियोंके सर्व विषयोंसे उदासीन होकर आत्माके अनुभवमें व विचारमें तल्लीन रहा जावे वह उपवास है। ज्ञानी धीर वीर श्रावक प्रोषधके दिन जितनी देरको उपवास करते हैं उतनी देरके लिये १६ या १२ या ८ पहरके लिये बहुत ही एकांत स्थान वन, उपवन, जिनमंदिर, पर्वत आदिपर साधुके समान तिष्ठते हैं, शौचको जल व भूमि झाडनेको मुलायम कपडा व कमसे कम शरीरपर वस्त्र व एक चटाई या आसन रखकर आत्मध्यानका अभ्यास करते हैं, ध्यानमें मन न लगे तो शास्त्रका स्वाध्याय करते हैं। पांचों दोषोंको बचाते हुए साधुके समान वैराग्यवान व उपसर्ग परीषह सहते हुए अपना उपवासका काल विताते हैं। यदि स्वाध्यायमें मन कम लगे तो जिनमंदिरमें प्राशुक द्रव्योंसे पूजा भक्ति करते हैं, भजन भाव गाते हैं, धर्मचर्चा करते हैं-जिसतरह उपयोग धर्मध्यानमें लीन रहे वैसा साधन बनाते हैं। संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य बढानेको बारह भावनाका चिंतवन करते हैं।

श्लोक—उपवासं इच्छनं कृत्वा, जिन उक्तं इच्छनं यथा।
भक्ति पूर्वं च इच्छंते, तस्य हृदये स मान्यते ॥ ४१० ॥

अन्वयार्थ—(उपवासं इच्छनं कृत्वा) उपवास करनेकी बडी रुचि रखना योग्य है (यथा जिन उक्तं इच्छनं) जैसा जिनेन्द्रने कहा है वैसा तत्वका स्वरूप विचार करे (भक्ति पूर्वं च इच्छंते) भक्तिपूर्वक जहां रुचि हो (तस्य हृदये स मान्यते) उसीके मनमें उपवासकी मान्यता है।

विशेषार्थ—उपवास बडे आदर व प्रेमसे करे, जिनेन्द्रके कहे अनुसार तप करे, तत्वोंमें प्रेम करे, आत्माकी विशेष रुचि रक्खे, भक्ति सहित उपवास करे, अपने जन्मको सफल माने। आज मैंने आरंभ त्याग करके धर्मध्यानमें अपना समय लगाकर सफल किया है ऐसा समझे। सर्व चिंताओंको छोड करके उपवास करे। यदि अधिक परिग्रहवान राजा मंत्री व्यापारी हो तो अपना सर्व कामकाज उपवासके दिन दूसरेके आधीन करदे व कहदे कि मैंने चिंता छोड दी है तुम सर्व प्रकारसे गृही कर्तव्य पालना, प्रजाकी रक्षा करना, मेरेसे कुछ पूछनेकी जरूरत नहीं है। मैंने तो सर्वसे उपवासके समय तक मोह त्याग दिया है। मेरे तो इस समय अरहंत सिद्ध आदि पांच परमेष्ठी ही शरण हैं, मैं तो इनहीका ध्यान करूंगा, इनहीके गुण गाऊंगा, अपने आत्माके विचारमें मगन रहूंगा, आत्मध्यानका अभ्यास करूंगा। ऐसा दृढ निश्चय करके एक नियत स्थानपर रहकर बडे ही शांत भावसे उपवास करे, शुद्धात्मामें परिणाम जमावे, आत्मानुभव करे। इस उपवासके कारण जो आत्मध्यानकी थिरता हो तो बहुत अधिक कर्मोंकी निर्जरा होजाती है। इसीसे उपवासको तपमें गिना गया है। बडे ही प्रेमसे करना योग्य है।

श्लोक—उपवासं व्रतं शुद्धं, शेष संसार त्यक्तयं।
पश्चात् त्यक्त आहारं, उपवासं तस्य उच्यते ॥ ४११ ॥

अन्वयार्थ—(उपवासं व्रतं शुद्धं) उपवासमें पंच पापके त्याग रूप व्रतकी शुद्धता करना है (शेष संसार त्यक्तयं) सर्व संसारका त्याग करना है (पश्चात् त्यक्त आहारं) फिर आहारको त्यागना है (तस्य उपवासं उच्यते) उसीके ही उपवास कहा जाता है।

विशेषार्थ—उपवास करनेवाला पहले अपने मनमें यह दृढ संकल्प करे कि मुझे हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म व परिग्रहका आज भुक्तिके समान त्याग करना है, इन सम्बन्धी सर्व विकल्पोंको हटाना है, उसे संसारके सर्व कामोंसे विरक्त रहना है, मुझे निश्चिंत हो मात्र एक शुद्धात्माका ही शरण लेना है, ऐसा निश्चय करके फिर जितने कालके लिये थिरता जाने उतने कालके लिये चार तरहका आहार या तीन तरहका आहार या यथाशक्ति विधिपूर्वक त्याग करें। आलस्य प्रमाद जीतनेके लिये व धर्मध्यानमें आसक्त होनेके लिये उपवास करे। जिस श्रावकको ऐसी उच्च भावना

है उसीके प्रोषधोपवास कहा जाता है। जितना अधिक आरंभ परिग्रहका निमित्त होता है उतना अधिक मन उनमें फंसा रहता है। तब ध्यानके करते समय भी वैसे ही विचार मनमें आजाते हैं। इसलिये मनकी निश्चलताके लिये यही उचित है कि आरंभ व परिग्रहका त्याग किया जावे। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी तो निरंतर साधु रूपमें रहनेकी आकांक्षा रखता है परंतु कषायके शमन न होनेसे गृहका त्याग नहीं कर सक्ता है तब वह प्रोषधोपवास धार करके नियमित कालके लिये साधुके समान आचरण करता है, परमानन्दके लाभमें आसक्त रहता है, मोक्षमार्गमें साक्षात् चलकर जन्मके समयको सफल करता है।

श्लोक—उपवास फलं प्रोक्तं, मुक्तिमार्ग च निश्चयं।
संसारदुःख नासंते, उपवासं शुद्धं फलं॥ ४१२॥

अन्वयार्थ—(उपवास फलं प्रोक्तं) उपवास करनेका फल यह कहा गया है कि (निश्चयं च मुक्तिमार्ग) निश्चय मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो। (संसार दुःखनासन्ते) संसारके दुःखोंका नाश हो (उपवासं शुद्धं फलं) व उपवाससे शुद्धभावकी प्राप्ति हो यह फल है।

विशेषार्थ—यद्यपि उपवास करना, आहार न करना, आरम्भ त्यागना, एकांतमें रहना यह सब व्यवहार चारित्र है परन्तु यह तब सफल है जब कि निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धात्माके श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्गका लाभ हो। शुद्ध भावोंकी प्राप्तिसे कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है जिससे संसारके दुःखोंका नाश होता है। व आत्माके शुद्धभावकी वृद्धि होती जाती है। उपवास करना बडा भारी तप है, परन्तु जिस उपवासमें आर्तध्यान होजावे, आदर न रहे, यह उपवास सफल नहीं होगा। जहां धर्मध्यानका दृढ उत्साह रहे, परिणाम वैराग्यमें आरूढ होते रहे, अध्यात्मिक-तत्वका ध्यान हो, असली मोक्षमार्ग मिले, वही उपवास सफल है। श्रावकोंको बडे ही प्रसन्न मनसे परिणामोंकी उज्वलताके हेतुसे ही प्रोषधोपवास करके आत्माका कर्म मैल छुडाना चाहिये।

श्लोक—सम्यक्त विना व्रतं येन, तपं अनादि कालयं।
उपवासं मास पाषं च, संसारे दुःखदारुणं॥ ४१३॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त विना) सम्यग्दर्शनके विना (येन अनादि कालयं व्रतं तपं) जिसने अनादिकालसे व्रत पाले हों, तप किया हो (मास पाखं च उपवासं) एक मास या पंद्रह दिनका उपवास किया हो (संसारे दुःखदारुणं) वह सब संसारमें भयानक दुःखका ही कारण है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन मोक्षके मार्गका बीज है। सम्यग्दर्शनके विना जितना भी ज्ञान है वह कुज्ञान है, जितना भी चारित्र है, कुचारित्र है इसका कारण यही है कि मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायकी वासना नहीं छूटती है। इसलिये यदि मुनि या श्रावकका चारित्र भी पालता है, मास मास भरके या पंद्रह पंद्रह दिनके उपवास भी करता है तौ भी कोई न कोई कषायका अभिप्राय भीतर जमा रहता है। यातो मानवश, या मायावश, या लोभवश, चारित्र पाला जाता है। उत्तम गतियोंमें सुख मिले, दुर्गतिमें दुःख न मिले ऐसी भावना मिथ्यादृष्टीके भीतर बनी रहती है। इसलिये कठोर व्रत व तपश्चरण भी सच्ची वीतरागताको नहीं बढा सक्ता है क्योंकि बीज विना वृक्ष कैसे बढे। शुद्धात्माकी श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन बीज है। इसके होते हुए व्रत चारित्र तप आदि वीतरागताके वृक्षको बढाते हैं। यदि संसारसे वैराग्यकी श्रद्धाको जमानेवाला सम्यग्दर्शन नहीं है तो व्रत तपादि कुछ मंद कषायसे पुण्यका बंध कर देता है जिससे देवगतिमें या साताकारी मानव गतिमें जन्म लेता है वहां विषयभोगोंमें रंजायमान होकर नरक या पशु गतिमें चला जाता है या निगोदमें चला जाता है जहांसे निकलना दीर्घकालमें भी दुर्लभ है। संसारके भयानक दुःखोंको सहना पडता है। इसलिये यह उपदेश है कि श्रावककी श्रेणियोंको सम्यक्त सहित पालन करो। सम्यक्तके विना व्रत उपवास भूसीको पेलना है। सम्यक्त सहित चारित्र ही धान्यमेंसे चावल अलग करना है

श्लोक—उपवासं एक शुद्धं च, मन शुद्धं तत्व सार्द्धयं।
मुक्ति श्रियं पथं येन, प्राप्तं नात्र संशयः ॥ ४१४ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (एक उपवासं शुद्धं च) एक भी उपवास शुद्धतासे किया हो (मन शुद्धं) मनमें मैल न हो (तत्व सार्द्धयं) आत्मतत्वकी भावना सहित हो (मुक्ति श्रियं पथं प्राप्तं) उसने मोक्षलक्ष्मीके मार्गको पालिया (नात्र संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—यहां कहते हैं कि उपवास चाहे जितने करो। हरएक उपवासमें शुद्धता होनी चाहिये। मनमें आर्तध्यान, रौद्रध्यान न होना चाहिये। तत्वोंकी भावना की जानी चाहिये। आत्माका अनुभव किया जाना चाहिये। ऐसा ही उपवास यथार्थ है। मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिका एक मार्ग है इसमें कोई शंका नहीं है। जहां शांतभाव, ज्ञानभाव, आनन्दभाव समय समय बढता रहे वहीं उपवास है। एक भी उपवास विधिपूर्वक व भावपूर्वक किया जाय तो अधिक फलदाई है। परन्तु जो अनेक उपवास किये जावे व आत्म शांति व आत्म विचार न हों तो वे मोक्षमार्ग नहीं है। प्रयोजन यह है कि चौथी प्रतिमाधारीको एक मासमें चार उपवास तो शुद्ध भावसे अवश्य ही करना योग्य है। जो सामायिक प्रति दिन तीन काल वह करता था, उपवासके दिन उसे बहुत अधिक कालतक साम्यभाव रखनेका अवसर मिलता है। उपवास धर्मध्यानका एक अच्छा अवसर प्राप्त कर देता है। उपवासके दिन परमात्म प्रकाश, समयसार, समाधिशतक आदि अध्यात्म ग्रंथोंका विशेष मनन करना चाहिये। ध्यानका अभ्यास जितना अधिक होसके किया जाना चाहिये। यह उपवास आत्मोन्नतिका विशेष उपकारी है।

श्लोक—सचित्तं चिंतनं कृत्वा, चेतयंति सदा बुधैः।
अचेतं असत्य त्यक्तंते, सचित्त प्रतिमा उच्यते ॥ ४१५ ॥

अन्वयार्थ—(सचित्तं चिंतनं कृत्वा) सचित्त अर्थात् शुद्धात्माका चिंतवन करके (चेतयंति सदा बुधैः) सदा बुद्धिवान अनुभव करते हैं (अचेतं असत्य त्यक्तंते) अज्ञान व मिथ्या वस्तुको त्याग देते हैं (सचित्त प्रतिमा उच्यते) उसे सचित्त प्रतिमा कहते हैं।

विशेषार्थ—पांचमी सचित्त प्रतिमा या सचित्त त्याग प्रतिमा है। इस श्लोकमें निश्चयनयकी मुख्यतासे कथन है कि चेतना सहित जो शुद्धात्मा उसके गुणोंका चिंतवन करके उसका अनुभव बुद्धिमानजन करते हैं। किसी मूढ भक्तिका व असत्य तत्वका चिंतवन नहीं करते हैं और न अज्ञान स्वरूप पुद्गलादिका चिंतवन करते हैं न नाशवंत असत्य जगतकी क्षणभंगुर पर्यायोंका चिंतवन करते हैं। आर्त व रौद्रध्यानके सब विषय छोडकर धर्मध्यानमें भी एक आत्माको ही विषय करके जो

अनुभव करते हैं निरन्तर स्वरूपमें सावधान हैं वे निश्चयसे सचित्त प्रतिमाधारी श्रावक हैं। आतम-ध्यानके अभ्यासकी उन्नति ही वास्तवमें प्रतिमाकी उन्नति है।

श्लोक—सचित्तं हरितं येन, त्यक्तंते न विरोधनं।
सचित्त सन्मूर्छनं च, त्यक्तंते सदा बुधैः ॥ ४१६ ॥
सचित्त हरितं त्यक्तं च, अचित्त सार्द्धं च त्यक्तयं।
सचेतं चेतना भावं, सचित्त प्रतिमा सदा ॥ ४१७ ॥

अन्वयार्थ-(येन) जो (सचित्तं हरितं त्यक्तंते न विरोधनं) सचित्त वनस्पतिका त्याग करे उनको (वृथा) तोडे व नाश न करे। (बुधैः सदा सचित्त सन्मूर्छनं च त्यक्तंते) बुद्धिमान जन सदा हरएक सचित्त एकेन्द्रिय सन्मूर्छनका त्याग करे (सचित्तं हरितं त्यक्तं च) सचित्त वनस्पतिका त्याग करके (अचित्त सार्द्ध च त्यक्तयं) अचित्तके साथ मिली हुई सचित्तका भी त्याग करे। (चेतनाभावं सचेतं) चैतन्य भावका अनुभव करे (सदा सचित्त प्रतिमा) उसके सदा सचित्त प्रतिमा होती है।

विशेषार्थ—इस पांचमी प्रतिमामें जीव सहित वस्तुको खानेका त्याग है। इसलिये एकेंद्रिय जल, पृथ्वी, वनस्पति आदिका सचित्त अवस्थामें यह आहार नहीं करेगा, उनको अचित्त अवस्थामें लेगा, कच्चा पानी न पीकर प्रासुक या गर्म पानी पीवेगा। तरकारी फल आदि पचाकर व सूखे व प्रासुक दशामें खाएगा, सचित्त अवस्थामें न खाएगा। अभी इसके आरम्भका त्याग नहीं है इसलिये इनको सचित्तके व्यवहारका व विराधनाका सर्वथा त्याग नहीं है। यह पानीको प्रासुक व गर्म कर सक्ता है व वनस्पतिको सचित्तसे अचित्त कर सक्ता है। यह सचित्त जल व वनस्पतिको कभी खाएगा नहीं तौभी वृथा जल व वनस्पतिका विराधन नहीं करेगा। दयावान होकर जितना कम आरम्भ सचित्तका होसके उतना करेगा। रत्नकरण्डमें कहा है—

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि। नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥ १४१ ॥

भावार्थ-जो कच्चे या अप्राशुक मूल, फल, शाक, शाखा, गांठ व केर, कंद, फल व बीज नहीं खाता है सो दयावान सचित्त प्रतिमाधारी है। प्राशुक करनेकी रीति यह है या प्राशुक किसे कहते हैं सो लिखा है-

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबलिलवणेहिं मिस्सियं दव्वं । जं जंते ण हि छण्णं तं सव्वं पासुयं भणियं ॥

भावार्थ—जो वस्तु सूखी है-पक गई हो जैसे फलका गूदा, गर्म की हुई या खटी लवणादि कसायली वस्तुसे मिली हुई हो व यंत्रसे छिन्न भिन्न की गई हो वह सब प्रासुक कही गई है। सूखी वह वनस्पति जो उगने लायक है वह भी योनिभूत सचित्त है, उसे भी सचित्त प्रतिमाधारी नहीं खाता है जैसे-सूखा चना, गेहूं। बहुल करके यह सूखी वस्तुओंको जरूरत पडने पर काममें लेता है जिनका ऊपर नाम लिया गया है। अपने हाथसे यदि अचित्त करना हो तो जिह्वा इंद्रियको वश करके जिसमें कम हिंसा हो उनही वस्तुओंको प्राशुक करके खाता है। जिह्वाके स्वाद वश अनन्त काय साधारण वनस्पतिका घात नहीं करता है। जैसे यह स्वयं सचित्त खाता नहीं है, पीता नहीं है वैसे यह दूसरोंको भी नहीं देता है। एकेंद्रियके आरंभसे व जिह्वा इंद्रियके स्वाद दोनोंसे विरक्त है। तथापि इस प्रतिमामें मात्र सचित्तके खाने पीनेका ही त्याग है, व्यवहारका नहीं। तथा यह श्रावक आत्माका ध्यान विशेष करता है इसलिये भी इसे सचित्त प्रतिमा कहते हैं। यह भोगोपभोग व्रतके पांच अतीचारोंको बचावेगा, सचित्त या हरे पत्तेपर रक्खा व उससे ढका व उससे मिली कोई अचित्त वस्तु भी नहीं खाएगा। निरंतर प्राणीसंयम व इंद्रिय संयमका साधक रहेगा।

श्लोक—अनुराग भक्ति दिष्टं च, राग दोषं न दिष्टते ।
मिथ्या कुज्ञान तिक्तं च, अनुरागं तत्र उच्यते ॥ ४१८ ॥
शुद्ध तत्वं च आराध्यं, असत्यं तस्य त्यक्तयं ।
मिथ्या शल्यं त्यक्तं च, अनुराग भक्ति सार्थयं ॥ ४१९ ॥

अन्वयार्थ—(अनुराग भक्ति दिष्टं च) अनुराग भक्तिको विचारना चाहिये जहां (राग दोषं न दिष्टते) राग द्वेष न दिखलाई पडे (मिथ्या कुज्ञान तिक्तं च) जहां मिथ्यात्व व मिथ्याज्ञान छूट गए हों (तत्र अनुरागं उचते) वहां अनुराग कहा जाता है (शुद्ध तत्वं च आराध्यं) शुद्ध तत्वकी भक्ति करना चाहिये (असत्यं तस्य त्यक्तयं) असत्य तत्वका त्याग करना चाहिये (मिथ्या शल्य त्यक्तं च) मिथ्या शल्यको छोडना चाहिये (अनुराग भक्ति सार्थयं) तब यथोचित अनुराग भक्ति छठी प्रतिमा है ।

विशेषार्थ—यहां ग्रंथकारने छठी प्रतिमाका नाम अनुराग भक्ति लिया है। किनही आचार्योंने दिवा मैथुन त्याग लिया है। प्राचीन आचार्योंने रात्रि भुक्ति त्याग लिया है। कारण यही है कि रात्रिको भोजन त्याग ग्रंथकर्ताके मतमें पहली प्रतिमामें या उससे पहले ही होजाता है तब यहांपर रखना उनके परिणामोंमें ठीक नहीं दीखा होगा, इससे इसका नाम अनुराग भक्ति रख करके कहा है। जहां शुद्ध आत्मीक तत्वका अनुराग विशेष बढ जावे, संसारके कर्मोंमें राग द्वेष बहुत घट जावे, स्व स्त्री प्रसंग भी न सुहावे, गृहस्थके कार्योंसे बहुत उदासीनता आजावे, सिवाय शुद्ध आत्मीक तत्वकी प्राप्तिके और बात सब असत्य दीखती हो, संसारसे वैराग्य बढ गया हो, मोक्षमें तीव्र भक्ति होगई हो वह अनुराग भक्ति प्रतिमा है।

श्री समन्तभद्राचार्यने रात्रि भुक्ति त्याग छठी प्रतिमाका स्वरूप ऐसा कहा है—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्। स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥ १४२ ॥

भावार्थ—जो सर्व प्राणियोंके ऊपर दयाभावको रखनेवाला रात्रिको अन्न, पान, खाद्य व लेह्य (चाटने योग्य) ऐसे चारों प्रकारके सर्व आहारको नहीं खाता है वह रात्रि–भोजन त्यागी श्रावक है। यहांपर भाव यही है कि इस श्रेणीमें गृहस्थके ऐसी उदासी आजाती है कि वह रात्रिको न तो स्वयं खाता है न खिलाता है न भोजन सम्बन्धी आरम्भ क्रिया करता व कराता है न वार्तालाप करता है। भोजनके सर्व विचारोंसे छूटकर अधिकतर धर्मध्यानमें रक्त रहता है। इसके पहले यथाशक्ति रात्रि–भोजनका त्याग था। यहांपर अतीचार रहित पूर्ण त्याग होजाता है। इसके पहले रात्रिको यदि स्वयं न खाता था तौभी दूसरोंको खिलाता था। सम्यक्ती दयावान होता है। अविरत सम्यक्ती भी रात्रिको खाना पसन्द नहीं करता है। यदि उससे बने तो वह दिन हीमें खाता है, परन्तु गृहस्थी अनेक प्रकारके व्यवसायवाले होते हैं, किसीको कामसे छुट्टी ही न मिल सके, दूर जाता आता हो व और लाचारी हो इससे आचार्योंने छठी प्रतिमासे पहले अभ्यास बताया है जितना शक्य हो उतना छोडे, छठी प्रतिमामें पूर्ण त्याग होना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टी श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार जीवदयाको पालता हुआ रात्रि भोजन पहले भी नहीं करेगा परंतु यदि कोईके कोई लाचारी हो तो और व्रतों व प्रतिमाओंको पालता हुआ रहकर वह रात्रि भोजनका पूर्ण त्यागी छठी श्रेणीमें होगा। ऐसा अभिप्राय आचार्योंका दिखता है।

श्लोक—बंभं अबंभ त्यक्तं च, शुद्ध दिष्टि रतो सदा ।
शुद्ध दर्शन समं शुद्धं, अबंभं त्यक्त निश्चयं ॥ ४२० ॥

अन्वयार्थ—(बंभं) ब्रह्मचर्य प्रतिमा सातमी है जहां (अबंभ त्यक्तं च) अब्रह्म या कुशीलका त्याग किया जावे (सदा शुद्ध दिष्टि रतः) सदा शुद्ध सम्यग्दर्शनमें लवलीन रह जावे (शुद्ध दर्शनं समं शुद्धं) शुद्ध सम्यग्दर्शनके समान शुद्धता भावोंकी रक्खी जावे (अबंभं त्यक्तं निश्चयं) ब्रह्मके सिवाय अब्रह्म ध्यान छोडा जावे सो निश्चय ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

विशेषार्थ—ब्रह्मचर्य प्रतिमाको धारते हुए श्रावक स्वस्त्रीका भी राग छोड देता है। मन, वचन, कायसे शील धर्म पालता है। शील धर्मके विरोधी निमित्तोंको बचाता है। ब्रह्मचर्य व्रतकी पांचों भावनाओंपर पूरा २ ध्यान रखता है। यह गृहस्थके राग योग्य वस्त्राभूषण त्याग देता है, उदासीन कपडे वैराग्य वर्द्धक पहनता है, सादा वस्त्र, सादा शुद्ध भोजन जहांतक सम्भव हो एक दफे करता है, एकांतमें शयन करता है, यदि घरमें रहे तो अलग कमरेमें सोता बैठता है, जहां स्त्रियोंका आग-मन व कोलाहल न सुन पडे, अन्यथा घर छोडकर वैराग्यभाव धार देशाटन करता है। व्यवहार ब्रह्मचर्यको भलेप्रकार पालता हुआ निश्चय ब्रह्मचर्यको भी अच्छी तरह पालता है। शुद्ध आत्मीक तत्व जो आप स्वयं ब्रह्म स्वरूप है उनका ध्यान करता है। आत्मीक तत्वके सिवाय और तत्वका राग छोड देता है। अंतरंग बाहर शांत भाव व वैराग्यकी छटाको प्रकाश करता है। ब्रह्मरसका प्यासा होता है। रत्नकरण्डमें कहा है—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतगन्धिबीभत्सम् । पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥ १४३ ॥

भावार्थ—जो श्रावक अपने शरीरको व स्त्रीके शरीरको मलसे उत्पन्न, मलको उत्पन्न करनेवाला, मलोंको बहानेवाला, दुर्गंध व अशुचिसे भरा हुआ, ग्लानि योग्य विचारता है और काम भावसे विरक्त होता है वह ब्रह्मचारी है।

इस प्रतिमामें अभी आरंभका त्याग नहीं है। सातवीं प्रतिमाका धारी श्रावक पहलेके सर्व नियम पालता हुआ देशाटन करता हुआ, धर्मका प्रचार सुगमतासे कर सक्ता है। इसे वाहनका त्याग नहीं है। यह मध्यम पात्रमें भी मध्यम पात्र है। यदि गृहस्थ भक्तिपूर्वक निमंत्रण करें तो ॥४०१॥

शांत भावसे जो कुछ मिले आहार करके संतोष मानता है। स्वयं भी भोजनका प्रबन्ध कर सक्ता है व अपने घरमें भी जीम सक्ता है।

श्लोक—यस्य चित्तं ध्रुवं निश्चय, ऊर्ध अधो च मध्ययं।
यस्य चित्तं न रागादिः, प्रपंचं तस्य न पश्यते ॥ ४२१ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य चित्तं ध्रुवं निश्चय) जिस ब्रह्मचर्य प्रतिमाके धारीके चित्तमें निश्चयतासे अपने स्वरूपका निश्चय होता है (यस्य चित्तं ऊर्ध अधो च मध्ययं रागादिः न) जिसका चित्त ऊपर नीचे मध्य-लोक तीनों लोकोंमें राग द्वेष मोहको प्राप्त नहीं होता है (तस्य प्रपंचं न पश्यते) उसके मनमें प्रपंच नहीं दिखलाई पड़ता है।

विशेषार्थ—सप्तम प्रतिमा धारीका चित्त वैराग्यमें बहुत अधिक लवलीन रहता है, उसको इन्द्र, अहमिंद्र, धरणेंद्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदिके सर्व ही भोग रोगके समान दीखते हैं जो तीन लोकमें किसी भी पदार्थकी इच्छा नहीं रखता है। केवल अपने शुद्ध आत्मीक स्वभावका ही प्रेमी है, वही मैं हूं ऐसा उसके दृढ श्रद्धान है, वह अंतरंगसे राग द्वेष मोह नहीं रखता है, बहुत ही सरलतासे या मोह रहितपनासे यदि घरमें रहे तो घरमें, यदि परदेश घूमे तो लोकमें व्यवहार करता है, ब्रह्मचर्यको दृढता रखता है।

श्लोक—विकहा व्यसन उक्तं च, चक्र धर्णेन्द्र इंद्र यं।
नरेन्द्रं विभ्रमं रूपं, वर्णत्व विकहा उच्यते ॥ ४२२ ॥

अन्वयार्थ—(व्यसन उक्तं च विकहा) सात व्यसनोंके सम्बन्धमें रागवर्द्धक चर्चा विकथा है (चक्र धर्णेन्द्र इंद्र यं नरेन्द्र विभ्रमं रूप वर्णत्व विकहा उच्यते) तथा चक्रवर्ती, धरणेन्द्र, इंद्र, महाराजा आदिके मोहको उत्पन्न करने वाले भोगादिका वर्णन करना विकथा कही जाती है।

विशेषार्थ—ब्रह्मचारी खोटी कथाओंसे विरक्त रहता है। जूआ खेलन, मांस भक्षण, मदिरा सेवन, वेश्या सेवन, चोरी, शिकार खेलना, परस्त्री सेवन, इन सात व्यसनोंमें राग बढानेवाली कथाओंको यह न तो करता है और न सुनता है। तथा इन्द्र, धर्णेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रति-

नारायण, महामंडलीक, मंडलीक, महाराजा, राजा, धनवान आदिकी मोहवर्द्धक कथाओंको भी विकथा कहते हैं उनसे विरक्त होता है। न कहता है, न सुनता है, ऐसे नाटक खेल तमाशे नहीं देखता है, न करता है, जिनसे राग बढ़े। परिणामोंमें वैराग्य बढ़े ऐसे निमित्तोंको मिलाता है। स्त्री, भोजन, देश व राजाओंकी ऐसी कथाएं जिनसे स्त्रीमें राग बढ़े, भोजनमें राग बढ़े, जगतके आरंभ परिग्रहमें राग बढ़े, राज्यलक्ष्मीका लोभ उत्पन्न हो, उनको न सुनता है और न करता है। प्रमादवर्द्धक वार्तालाप आत्मविचारमें बाधक है, ऐसा जान उनसे विरक्त रहता है।

श्लोक—व्रतभंगं राग चिंतते, विकहा मिथ्यातरंजितं।
अबंभं त्यक्त बंभं च, बंभ प्रतिमा स उच्यते ॥ ४२३ ॥

अन्वयार्थ—(व्रतभंगं राग चिंतते) ब्रह्मचर्य व्रतको भंग करनेवाले राग भावकी चिंताओंको (विकहा) चारों विकथाओंको (मिथ्यात रंजितं) मिथ्यात्वमें रंजायमान होनेको (अबंभ) व अब्रह्मको (त्यक्तं च) त्याग करके (बंभं) जहां ब्रह्मचर्य पाला जावे (बंभ प्रतिमा स उच्यते) वही ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहलाती है।

विशेषार्थ—ब्रह्मचारी श्रावकको काम भोग आदिकी ऐसी चिंताएं पिछले भोगोंकी व आगेके भोगोंकी बिलकुल न करनी चाहिये जिससे परिणाम ब्रह्मचर्यसे डिग जावे व ब्रह्मचर्यका भंग होने लगे और न चार विकथाओंको करना चाहिये और न संसार शरीर भोगोंके मोहमें व मिथ्या वासना वासित धर्म क्रियामें रंजायमान होना चाहिये तथा मन, वचन, कायसे कुशीलको त्याग देना चाहिये। निरंतर निर्विकार भावोंको रखते हुए वैराग्य भावना भाते हुए ब्रह्मचर्य प्रतिमा पालनी चाहिये। पहली प्रतिमाओंके सर्व नियम यथेष्ट पालना चाहिये।

श्लोक—यदि बंभचारिनो जीवो, भावशुद्धं न दिष्टते।
विकहा राग रंजते, प्रतिमा बंभगतं पुनः ॥ ४२४ ॥

अन्वयार्थ—(यदि बंभचारिनो जीवो) यदि ब्रह्मचारी जीवमें (भावशुद्धं न दिष्टते) भावकी शुद्धता नहीं दिखलाई पड़े (विकहा राग रंजते) विकथाके रागमें रंजायमान हो (पुनः प्रतिमा बंभगतं) तो उसकी प्रतिमा भंग होगई ऐसा समझना चाहिये।

विशेषार्थ—ब्रह्मचारी श्रावकको वैराग्यवान व आत्मानुभवी व निर्मल भावधारी होना योग्य है। अंतरंग व बहिरंग दोनों प्रकारसे ब्रह्मचर्य पालना योग्य है। अंतरंग ब्रह्मचर्य, आत्म समाधि व शुद्ध काम रहित शील भाव तथा बहिरंग शुद्धि वचनोंसे व कायसे कुशीलकी चेष्टाका सर्वथा त्याग, राग वर्द्धक कथाओंको न कभी करता है और न कभी सुनता है। यदि कोई ब्रह्मचारी होकर भी शुद्ध भाव न रक्खे, परिणामोंमें इंद्रिय विषयोंका राग रक्खे, राग सहित बात कहे, रागकी बातें सुने, जगतके प्रपंचोंमें अपनेको उलझावे, स्त्रियोंसे रागवर्द्धक वार्तालाप करे, एकांतमें स्त्रीका संगम करे, काम विकार होनेका निमित्त लावे, आत्माकी शुद्धिका ध्यान न रक्खे तो वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाका खंडन करनेवाला होगया ऐसा समझना चाहिये।

श्लोक—चित्तं निरोधितं येन, शुद्ध तत्वं च सार्थयं ।
तस्य ध्यानं स्थिरीभूतं, बंभ प्रतिमा स उच्यते ॥ ४२५ ॥

अन्वयार्थ—(येन चित्तं सार्थयं शुद्ध तत्वं निरोधितं) जिसने मनको यथार्थ शुद्ध आत्म तत्वके भीतर रोका हो (तस्य ध्यानं स्थिरीभूतं) व जिसका ध्यान स्थिर रहता हो उसीके (बंभ प्रतिमा स उच्यते) ब्रह्मचर्य प्रतिमा कही जाती है।

विशेषार्थ—सारांश यह है कि ब्रह्मचर्य प्रतिमामें अंतरंग शुद्धिकी मुख्यता है। अंतरंग परिणाम यदि निर्मल होंगे तो बाहरी क्रिया उसके विरुद्ध नहीं होसक्ती है। वह ब्रह्म स्वरूप शुद्ध आत्मीक तत्वमें अपने मनको रोकनेका अभ्यास करके आत्मध्यानकी विशेष थिरता करता है। निरंतर जिसकी लौ या लगन शुद्ध आत्माके स्वात्मानन्दके पानेमें लगी रहे व जो जगत मात्रकी आत्माओंको निश्चय नयके द्वारा समभावसे समान देखे, राग द्वेषका त्याग करे, सर्वका बंधुत्वभाव रक्खे, जिसको परमात्माका दर्शन हरएक संसारी प्राणीके भीतर शुद्ध नयके प्रतापसे होता हो, ब्रह्ममय जिसका भाव होरहा हो, ब्रह्मविचारमें ही जो रंजायमान हो, जिसकी वचन व कायकी चेष्टासे भी ब्रह्मरस टपकता हो, जो पांच इंद्रियोंका विजयी होकर वैराग्यवान हो, रस नीरस जो आहार प्राप्त हो उसमें संतोषी हो, अल्पाहारी हो, आरंभ यद्यपि कुछ करता है परंतु त्यागके सन्मुख हो, निरंतर मोक्षकी भावनामें वर्तता हो, प्राणी मात्रका हितैषी हो, परोपकारमें लीन हो, आत्मधर्म व

शील धर्मकी प्रभावना करनेवाला हो, वैराग्यमय वस्त्रोंका धारी हो, अल्पसे अल्प वस्त्र धारता हो वही ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारी श्रावक कहा जाता है।

श्लोक—आरंभे मन पसरस्य, दिष्ट अदिष्ट संजुते।
निरोधनं च कृतं येन, शुद्ध भावं च संजुतं ॥ ४२६ ॥

अन्वयार्थ—((येन) जिसने (दिष्ट अदिष्ट संजुते आरंभे) देखे हुए व सुने हुए व संयोग प्राप्त आरंभोंमें (मन पसरस्य निरोधनं च कृतं) फैले हुए मनको निरोध किया हो (शुद्ध भावं च संजुतं) तथा शुद्ध भावोंका धारी हो वह आरम्भ त्याग प्रतिमा धारी श्रावक है।

विशेषार्थ—अब यहां आठमी आरम्भ त्याग प्रतिमाको कहते हैं। यद्यपि अभी परिग्रहका त्यागी नहीं है तौ भी अब यह अपने संयोगमें जो कुछ लौकिक आरम्भ करता था, व्यापार खेती लेन देन, गृहारंभ आदि उन सबको त्याग करके संतोषी होजाता है। मनसे वैराग्यवान होकर देखे सुने व अनुभव किये हुए आरम्भोंमें भी मनको नहीं उलझाता है। यदि घरमें रहे तो एकांतमें रहता है। अपने लिये कोई आरम्भ नहीं कराता है। जब भोजनके समय उसका कुटुम्बी पुत्र आदि कोई बुलाता है तब भोजन संतोषसे कर लेता है। वह स्वयं न बनाता है, न बनवाता है। दूसरे उसके कुटुम्बी उसकी आवश्यक्ताओंपर ध्यान रखकर उसको प्राशुक पानी आदि देते रहते हैं। यदि वह गृहत्यागी होता है तो दूसरे श्रावकगण उसकी सम्हाल रखते हैं। वह पहलेसे निमंत्रण तो मानता है परंतु मेरे लिये अमुक वस्तु बनाई जाय ऐसा जो सातमी प्रतिमा तक कह सक्ता था सो अब नहीं कहता है। यदि कोई पूछे क्या त्याग है तो जिस किसी रस या वस्तुका त्याग होता है उसको बता देता है। संतोषसे जो मिले उसको अल्पाहार करके शरीर रक्षा करता है तथा निरंतर एकांतमें बैठकर शुद्ध भावोंके लिये सामायिक, ध्यान, आध्यात्मिक ग्रंथोंका विचार व धर्म-ध्यान व धर्मोपदेश करता रहता है। परम वैराग्यवान हो आत्मीक उन्नतिका आरंभ करता रहता है। धर्म प्रभावनाका आरंभ करता है परंतु सांसारिक आरम्भसे पूर्णतया विरक्त होजाता है।

श्री रत्नकरंड श्रावकाचारमें इसका स्वरूप है—

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारंभतो व्युपारमति। प्राणातिपातहेतोर्योसावारंभविनिवृत्तः ॥ १४४ ॥

भावार्थ—जो सेवा खेती व्यापारादि आरंभोंसे विरक्त होजाता है क्योंकि इन सबसे प्राणोंका घात होता है वह आरंभत्यागी श्रावक है। यहां वह त्रस स्थावर दोनोंकी हिंसासे विरक्त होजाता है। सातमी प्रतिमा तक आरंभी हिंसाका पूर्ण त्याग न था मात्र अभ्यास था, यहीं पूर्ण त्याग कर देता है। यहां सचित्त जल व वनस्पतिको स्वयं अचित्त भी न करेगा, यहां वह हिंसाकारी वाहनों-पर नहीं चढेगा। अपने न जानते हुए गाडी घोडे, बैल आदि द्वारा बहुतसे त्रस प्राणियोंकी जो मार्गमें चलते हैं हिंसा होजाती है इसलिये वह हिंसाकारी वाहनोंपर नहीं चढके पैदल ही भूमि निरखकर चलता है। आरंभी हिंसाके त्यागकी अपेक्षा ही यह आठमी श्रेणी है। यही गृह त्यागी श्रावक संतोषसे देशाटन करता है। जहां आसपास ग्रामोंमें श्रावकोंके घर होंगे उसी प्रदेशमें भ्रमण करेगा। आरंभ करानेवाली यात्राओंको स्वयं न करेगा। यदि कोई संघ अपनेआप किसी तीर्थयात्राको जाता हो व संघवाले साथ ले जानेकी प्रार्थना करें तो साथ हो लेता है व पैदल ही गमन करता है। आत्मरसका मगन रहनेवाला परम संतोषी यह श्रावक होता है। यदि घरमें परिग्रहके भीतर है, पुत्रादि सब काम करते हैं, उनको वह किसी कामकी प्रेरणा नहीं करता है। जब वह किसी लौकिक कामकी सलाह पूछे तो उदासीन भावसे बता देता है।

श्लोक—अनृत अचेत असत्त्यं, आरंभं येन क्रीयते।
जिन उक्तं च न दिष्टंते, जिनद्रोही मिथ्या तत्परा ॥ ४२७ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसके द्वारा (अनृत अचेत असत्त्यं आरंभं क्रीयते) मिथ्या, अज्ञानमय व पीडा-कारी आरम्भ किया जाता है (च जिन उक्त न दिष्टंते) व जो जिनेन्द्रकी आज्ञाका भी विश्वास नहीं रखता है वह (जिनद्रोही मिथ्या तत्परा) जिन आज्ञाका लोपी व मिथ्यात्वके आधीन है।

विशेषार्थ—यहां आरंभका स्वरूप कहते हैं। जो द्रव्य कमानेमें अति आशक्त होजाते हैं वे इस बातका विचार छोड देते हैं कि कौनसा आरंभ ठीक है या अयोग्य है, कौनसा मिथ्या वचनोंसे होता है, कौनसा सत्य वचनोंसे होता है। ज्ञानमय व अज्ञानमयका विचार नहीं रखता है। अति पीडाकारी आरंभ भी कर लेता है जैसे लकडी कटवाना, मादक वस्तु बनवाना, पशुओंका विक्रय, शास्त्र विक्रय आदि २ तथा आरंभमें सचाईसे नहीं वर्तता है। दूसरोंको ठग करके धन कमाता है।

जिनेन्द्रकी आज्ञा तो यह है कि सत्यताके साथ परको दुःख न पहुंचे इस तरह आजीविकाका साधन करके गृहस्थका कर्तव्य पालो। यह आरंभासक्त होकर न्याय अन्यायको भूलकर जिसतरह अधिक धन संचय हो वैसा करता रहता है, विश्वासघात भी कर लेता है, भोलोंको समझाकर लूट लेता है। ऐसा आरंभी मिथ्यादृष्टी है, जिन भगवानकी आज्ञाको न पालनेवाला हिंसक व पापी है व नरकादि कुगतिका बांधनेवाला है। अतएव आरंभका मोह त्यागना ही हितकर है।

श्लोक—अदेवं अगुरं यस्य, अधर्मं क्रियते सदा।
विश्वासं येन जीवस्य, दुर्गतिं दुःखभाजनं ॥ ४२८ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य सदा अदेवं अगुरं अधर्मं क्रियते) जो सदा ही मिथ्या देव, मिथ्या गुरु, मिथ्या धर्मकी सेवा किया करता है (येन जीवस्य विश्वासं) जिस जीवका विश्वास ही ऐसा होता है (दुर्गतिं दुःखभाजनं) वह कुगतिमें जाकर दुःखोंका भाजन होजाता है।

विशेषार्थ—आरंभ परिग्रहमें जो गृहस्थ आसक्त होजाता है, धनका लोलुपी होजाता है वह वैराग्यवर्द्धक जिनदेव, जिनगुरु व जिनधर्मकी श्रद्धा नहीं करता हुआ रागी द्वेषी देव, परिग्रहधारी गुरु, व हिंसामई धर्मकी श्रद्धा कर लेता है। उसको जब ऐसा उपदेश मिलता है कि अमुक देव देवीकी पूजा करनेसे धनलाभ पुत्रलाभ होगा, राज्यलाभ होगा। अमुक साधुकी भक्ति करनेसे धन, पुत्र, राज्यका संरक्षण रहेगा। अमुक पूजा पाठ, जप तप, यात्रा करनेसे धनादिका समागम होगा। तब यह आरंभी मोही जीव उनमें विश्वास करके उनहीकी भक्ति किया करता है तथा बहुधा मान्यता मानता है कि मेरा अमुक काम सिद्ध होजायगा तो मैं ऐसी भक्ति करूंगा, यह दान दूंगा इत्यादि। ऐसी मान्यता कर लेनेपर कदाचित् काम सिद्ध होगया तो यह ऐसा मान लेता है कि अमुक कुदेव, कुगुरु, व कुधर्मके प्रतापसे ही सिद्ध हुआ है। यद्यपि वह कार्य तो पुण्यके उदयसे हुआ है परंतु मिथ्यात्वीको मिथ्या माननेमें कुछ संकोच नहीं होता है। ऐसा मानकर वह और अधिक मिथ्या श्रद्धानी होजाता है। इसतरह धनका लोलुपी आरंभी होकर तीव्र पाप बांधकर नरकादिमें जाकर घोर दुःख उठाता है। आरंभका मोह संसार दुःखोंका हेतु है।

श्लोक—आरंभं परिग्रहं दिष्टं, अनंतानंत चिंतए ।
ते नरा ज्ञान हीनस्य, दुर्गतिगमनं न संशयः ॥ ४२९ ॥

अन्वयार्थ—(आरंभ परिग्रहं दिष्टं) आरंभ व परिग्रहको देखकर (अनंतानंत चिंतए) वह अनंतानंत परिग्रहकी प्राप्तिकी चिंता किया करता है (ते नरा ज्ञान हीनस्य) वे मानव सम्यग्ज्ञानसे शून्य हैं (दुर्गति गमनं न संशयः) उनका कुगतिमें गमन होगा इसमें कोई संशय नहीं है ।

विशेषार्थ—अज्ञानी देखी सुनी परिग्रहको विचार कर व देखे सुने आरम्भको जानकर निरंतर अधिकाधिक धनकी प्राप्तिकी चिंता किया करता है । कथाओंमें चक्रवर्तीकी सम्पदा पढकर व इंद्रकी विभूति जानकर व उनकी अमोघ शक्तिको सुनकर तथा परदेश या स्वदेशमें बडे २ कोट्याधीश मानवोंकी सम्पत्ति सुनकर व उनका बडा भारी व्यापार जानकर यह चिंता किया करता है कि कब मैं ऐसा आरम्भ करूँ, कब मैं इतना बडा धनी होजाऊँ, कब मैं ऐसा काम करूँ जिससे चक्रवर्ती नारायण, प्रतिनारायण, राजा, महाराजा, इन्द्र, धर्णेन्द्र आदिके भोग सामग्रीको प्राप्त कर सकूँ, इस तरह अनंतानुबंधी कषायके उदयसे आरंभ परिग्रहकी घोर चिंता करके कुभावोंके अनुसार धन अल्प रहते हुए व अल्पारम्भ करते हुए भी तीव्र कर्म बांध लेता है । बहुधा नर्क आयु बांधकर नर्क चला जाता है । अतएव आरम्भ महान दुःखदाई है ।

श्लोक—आरंभं शुद्ध दिष्टं च, सम्यक्तं शुद्धं ध्रुवं ।
दर्शनं ज्ञान चारित्रं, आरंभ शुद्ध शाश्वतं ॥ ४३० ॥

अन्वयार्थ—ज्ञानीके (शुद्ध आरंभं दिष्टं च) शुद्ध भावके पानेका आरंभ देखा जाता है उसके (शुद्धं ध्रुवं सम्यक्तं) शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन होता है (दर्शनं ज्ञान चारित्रं) उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रत्नत्रयका (आरंभ शुद्ध शाश्वतं) आरंभ शुद्ध नित्य होता है ।

विशेषार्थ—आरंभत्यागी श्रावक सम्यग्दृष्टी होता है वह सर्व लौकिक आरंभको महा पापका कारण समझकर त्याग देता है, मात्र शुद्धात्मीक भावोंकी प्राप्तिका आरंभ अर्थात् धर्मध्यानका आरंभ करता रहता है । अपने निर्मल सम्यक्त भावके कारण वह रत्नत्रयकी शुद्धिका यत्न करता

रहता है। वह जानता है कि निश्चय रत्नत्रय स्वात्मानुभवको कहते हैं। उसके निरंतर स्वात्मानुभवका अभ्यास रहता है। जब आत्माके मननमें उपयोग नहीं लगाता है तब जिनवाणीका अभ्यास करता है-उसमें आध्यात्मीक शास्त्रोंपर विशेष लक्ष्य देता है, जो जो नियम पहलेसे हैं उनको भलेप्रकार पालता है। व्यवहार सम्यग्दर्शनके द्वारा निश्चय सम्यग्दर्शनको व्यववार सम्यग्ज्ञानके द्वारा निश्चय सम्यग्ज्ञानको व व्यवहार सम्यक्चारित्रके द्वारा निश्चय सम्यक्चारित्रको दृढतासे साधन करता है। शुद्ध नित्य आत्माके अनुभवमें उपयोगको जमानेका मुख्य आरंभ करता है, हिंसामई आरंभसे बचता है, अहिंसाके आरंभमें प्रवर्तता है।

श्लोक—आरंभं शुद्ध तत्वं च, संसार दुःख त्यक्तयं।
मोक्षमार्गं च दिष्टंते, प्राप्तं शाश्वतं पदं ॥ ४३१ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध तत्वं च आरंभं) शुद्ध आत्मीक तत्वका विचार (संसार दुःख त्यक्तयं) संसारके दुःखोंसे छुडानेवाला है (मोक्षमार्गं च दिष्टंते) मोक्षका मार्ग दिखानेवाला है (शाश्वतं पदं प्राप्तं) व अविनाशी पदको प्राप्त कराने वाला है।

विशेषार्थ—संसारीक कार्योंका आरम्भ संसारके भ्रमणका कारण है तब आत्म कार्यका आरंभ संसारके दुःखोंको छुडानेवाला है तथा मोक्ष प्राप्त करानेवाला है। अविनाशी निर्वाण पदका साधन स्वात्म ध्यान है, जहां शुद्ध आत्माका अनुभव है वहीं रत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है, आरंभ त्यागी श्रावक सर्व संकल्प विकल्प त्यागकर निश्चिंत होकर दिनरात आत्माके उद्धारमें ही दत्तचित्त रहता है। धार्मिक अंतरंगका इसके त्याग नहीं है इसलिये धर्मोन्नतिके कार्योंको करता रहता है, पूजा पाठ स्तुति करता रहता है। दानधर्म करता व कराता रहता है। अभी यह परिग्रहका स्वामी है, धनको शुभ कार्योंमें लगाकर सफल करता है। ज्ञानकी उन्नतिमें विशेष लक्ष्य देता है। यह बडा दयालु है, दुःखी प्राणियोंके दुःख मेटता है, जगतमें जीवदयाका प्रचार करता है, सर्वसे प्रेम भाव रखता हुआ धर्मकी प्रभावना करता है।

श्लोक—परिग्रहं पुद्गलार्थं च, परिग्रहं न चिंतए।
ग्रहणं दर्शनं शुद्धं, परिग्रह न विदिष्टते ॥ ४३२ ॥

अन्वयार्थ—(परिग्रहं पुद्गलार्थं च) परिग्रह धन धान्य आदि पुद्गल जो शरीर उसके लिये होती है। यह श्रावक (परिग्रहं न चिंतए) परिग्रहकी चिंता छोड देता है (शुद्धं दर्शनं ग्रहणं) इसके शुद्ध सम्यग्दर्शनका ग्रहण है (परिग्रह न विदिष्टते) और परिग्रह नहीं दिखलाई पडता है।

विशेषार्थ—अब नौमी परिग्रह त्याग प्रतिमाको कहते हैं। इस श्रेणीमें आकर वह श्रावक अपने पास सर्व सम्पत्तिको जिसे देना हो देदेता है। धर्मकार्योंमें व दान धर्ममें लगा देता है। अब अवश्य नियमसे घरको त्याग कर धर्मशालामें व उपवनमें, सर्वसाधारणके उपयोग योग्य स्थानमें जहां अपना स्वामीपना नहीं है वहां रहता है। शरीरसे ममता छोड दी है। मात्र शरीर रक्षाके हेतु कुछ वस्त्र व वर्तन रखता है। रुपया पैसा कुछ नहीं रखता है। निमंत्रण किये जानेपर जो आहार करावे उसे संतोषसे कर लेता है। यह अपना स्वामीपना अपने ज्ञान दर्शन आत्माके स्वभावमें ही रखता है। और सर्व तरहसे ममता दूर कर देता है। इसके निरंतर भावना मुनिपद धारनेकी रहती है। रत्नकरंड श्रावकाचारमें कहा है—

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः। स्वस्थः संतोषपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः॥ १४५॥

भावार्थ—यह परिग्रह त्यागी श्रावक बाहरी १० प्रकारकी वस्तुओंसे ममता छोड देता है, उनका त्याग कर देता है, क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपडे, वर्तन, इन सबसे स्वामीपना हटा लेता है। परम वैराग्यमें लीन होकर आत्माके ध्यानमें तिष्ठता है। परम संतोष रखता है। तत्वविचारमें लगा रहता है व धर्मके स्वामी साधुओंकी संगति रखता है। ग्रामादिमें विहार करता हुआ स्वपर कल्याण करता है।

श्लोक—अनुमतिं न दातव्यं, मिथ्यारागादिदेशनं।
अहिंसा भावशुद्धं च, अनुमतिं न चिंतए॥ ४३३॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यारागादिदेशनं अनुमतिं न दातव्यं) मिथ्या राग द्वेष सम्बन्धी भावको उपदेश करनेवाली सम्मति न देना चाहिये (अनुमतिं न चिंतए) न ऐसी सम्मति देनेकी चिंता ही करनी चाहिये (अहिंसा भावशुद्धं च) अहिंसाभाव व शुद्ध आत्मीक भाव सदा रखना चाहिये सो अनुमति त्याग श्रावक है।

विशेषार्थ—दसमी प्रतिमा अनुमति त्याग है। इस श्रेणीमें श्रावक धर्म सम्बन्धी चर्चाके सिवाय और कोई लौकिक चर्चा नहीं करता है। कोई लौकिक सम्मति गृहस्थके क्षणभंगुर मिथ्या कार्य सम्बन्धी व व्यापार सम्बन्धी व विवाहादि सम्बन्धी पूछे तो कुछ नहीं कहता है और न मनमें ही उस सम्बन्धी अच्छा या बुरा चिंतवन करता है। नौमी प्रतिमा तक तो यदि कोई सम्मति सांसारिक कार्य सम्बन्धी पूछता तो यह उदासीन भावसे मात्र उसके लाभ व हानि बता देता, प्रेरक रूपसे कुछ नहीं कहता। इस श्रेणीमें वह इन बातोंसे भी विरक्त होजाता है। आत्म-कल्याण सम्बन्धी व धर्मकी उन्नतिकारक बात ही कहता है व इसीमें सम्मति देता है। इसके परि-णामोंमें अहिंसा भाव बहुत अधिक है। किंचित् भी उसके निमित्तसे हिंसा हो यह इसे पसंद नहीं है। इसीलिये यह श्रावक पहलेसे निमंत्रण नहीं मानता है। भोजनके समय कोई बुलावे चला जाता है, सदा शुद्ध आत्माके ध्यानका लक्ष्य रखता है। रत्नकरंडमें कहा है—

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा। नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥ १४६ ॥

भावार्थ—जो समभाव धारक ज्ञानी श्रावक बाहरी कायाके सम्बन्धमें आरम्भ करने व धनादि परिग्रह एकत्र करनेकी सम्मति नहीं देता है वह अनुमति त्याग श्रावक है ऐसा जानना चाहिये। यह मध्यम पात्रमें उत्तम गिना गया है।

श्लोक—उद्दिष्टं उत्कृष्ट भावेन, दर्शन ज्ञान संयुतं।
चरणं शुद्ध भावस्य, उद्दिष्टं आहार शुद्धये ॥ ४३४ ॥
अंतराय मनं कृत्वा, वचनं काय उच्यते।
मनशुद्धं वच शुद्धं च, उद्दिष्टं आहार शुद्धये ॥ ४३५ ॥

अन्वयार्थ—(उत्कृष्ट भावेन) श्रेष्ठ भावोंके साथ (दर्शन ज्ञान संयुतं चरणं उद्दिष्टं) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र पालनेका जिसके उद्देश्य हो ऐसे (शुद्ध भावस्य) शुद्ध भाव धारीके (उद्दिष्टं आहार शुद्धये) उद्दिष्टाहारका त्याग होता है। (मनं वचनं काय कृत्वा अंतराय उच्यते) मन, वचन, काय सम्बन्धी अंतरायको बचाना इसके लिये कहा गया है (मनशुद्धं वच शुद्धं च) इसका मन शुद्ध व वचन शुद्ध होता है सो (उद्दिष्टं आहार शुद्धये) उद्दिष्ट आहारका त्यागी श्रावक है।

विशेषार्थ—ग्यारहवीं प्रतिमा उद्दिष्टाहार त्याग है, इस श्रेणीमें यह उत्कृष्ट श्रावक होजाता है, साधु समान वैराग्यके भाव रखता है। यह नहीं चाहता है कि इसके उद्देश्यसे व इसको लक्ष्यमें लेकर कोई आहार बनाया गया हो उसे यह लेवे। जिस आहारको कुटुम्बी श्रावकने अपने ही कुटुम्बके लिये बनाया हो उसीमेंसे जो विभाग भिक्षावृत्तिसे जाते हुए मिले उसे ही लेकर यह संतुष्ट रहता है। यह मनमें भोजनकी लालसा नहीं रखता है न वचन ऐसा कहता है जिससे भोजनकी लालसा व याचना प्रगट हो। इसका उद्देश्य या प्रयोजन रत्नत्रय धर्मको परम समताभावसे पालना है। भोजनके अंतरायोंको मन, वचन, कायसे टालकर भोजन करता है।

रत्नकरण्डमें कहा है—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकंठे व्रतानि परिगृह्य। भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः॥१४७॥

भावार्थ—जो गृहवाससे उदास हो मुनिराजके पास जाकर वनमें उनके समीप व्रतोंको लेकर उनके पास तपस्या करे व भिक्षासे भोजन करे व खंड वस्त्र रखे सो उत्कृष्ट प्रतिमाधारी है।

अनुमति त्याग प्रतिमा तक धर्मशालामें व एकांत घरमें व नसिया आदिमें ठहरकर धर्म साधन कर सक्ता था। ग्यारहवीं प्रतिमावाला मुनिराजकी संगतिमें रहेगा क्योंकि यह मुनि धर्म पालनेका अभ्यास करनेवाला होजाता है। जैसे मुनि वर्षाके चार मास सिवाय विहार करते हैं, शेष नगरके पास पांच दिन व ग्रामके पास एक दिन ही ठहरते हैं, पगसे विहार करते हैं, वैसे ही यह श्रावक करेगा। क्षुल्लक श्रावक एक खंड वस्त्र जिससे पग ढके तो मस्तक खुला रहे, मस्तक ढका हो तो पग खुला रहे व एक लंगोट रखता है। शरदी गर्मी दंस मशकादिकी बाधा सहनेका अभ्यास करता है। जीवदयाके लिये मोर पिच्छी व कमंडलमें शौचके लिये जल रखता है व कोई२ भिक्षा लेनेका पात्र भी रखते हैं, मुनिवत् भिक्षाको जाते हैं। जहांतक मनाई नहीं है वहांतक गृहस्थीके घर जाते हैं। भिक्षा लेनेका जो पात्र रखते हैं वे पात्रमें भोजन थोडासा लेकर अन्य निकट घरमें जाते हैं। इसतरह पांक्तिबंध ५–७ घरोंसे भोजन एकत्र करके अंतिम घरमें बैठकर भोजनपान करके पात्रको शुद्ध करके वनमें चले जाते हैं। जो एक घर लेनेवाले होते हैं वे एक ही घरमें बैठकर थालीमें संतोषसे भोजन कर लेते हैं। २४ घंटेमें एक ही दफे भोजन पान करते हैं, ये केशोंको कत-

राते हैं। इनमें एक भेद ऐलकोंका है, ये ऐलक एक लंगोट मात्र रखते हैं। ये मुनिके समान केशोंका लोंच करते हैं, काष्ठका कमंडल रखते हैं, भिक्षासे एक घर बैठकर अपने हाथमें ही भोजन ग्रास रूप लेकर करते हैं, मुनिधर्मका अभ्यास करते हैं। ये दोनों क्षुल्लक ऐलक ग्यारह प्रतिमाओंके नियमोंको जो उत्कृष्ट चारित्रमें बाधक नहीं हैं खूब पालते हैं, मुनिराज होनेकी भावना भाते हैं, आत्मध्यानका विशेष अनुराग रखते हैं। ऐलक विशेष विरक्त हैं, रात्रिको मौन रखकर ध्यान करते हैं, उद्दिष्टाहारके त्यागी इसीलिये होते हैं कि उनके आशयसे श्रावक कोई आरम्भ न करे। स्वयंके लिये आरम्भ करे उसीमेंसे दान रूप जो मिले उसीमें वह संतोष करे। यहांतक प्रत्याख्यानावरण कषायका जितना जितना मंद उदय होता जाता है उतना उतना बाहरी व अंतरंग चारित्र बढ़ता जाता है।

श्लोक—प्रतिमा एकादशं येन, जिन उक्तं जिनागमे।
पालंति भव्यजीवानां, मन शुद्धं स्वात्मचिंतनं ॥ ४३६ ॥

अन्वयार्थ—(जिन आगमे जिन उक्तं) जिनागममें जिनेन्द्र भगवानके कथन प्रमाण (येन एकादशं प्रतिमा) जो यह ग्यारह प्रतिमा हैं (भव्य जीवानां पालंति) भव्य जीव पालते हैं (मन शुद्धं) मनको शुद्ध रखते हैं (स्वात्मचिंतनं) व अपने आत्माका ध्यान करते हैं।

विशेषार्थ—इन ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदेशित व ऋषि प्रणीत जिनागममें जैसा कहा गया है वैसा जानकर श्रावकोंको उचित है कि शुद्ध भावोंके साथ माया, मिथ्या, निदान तीन शल्य छोड़कर पालें, मुख्यतासे शुद्धात्माके चिंतवनकी भावना रक्खें। निश्चयधर्म आत्माका अनुभव है उसकी उन्नति करते जावें, मात्र बाहरी चारित्र कार्यकारी नहीं है। बाहरी चारित्र सहायकारी है, निश्चय चारित्र ही परोपकारी है।

श्लोक—अनुव्रतं पंच उत्पादंते, अहिंसानृत उच्यते।
अस्तेयं ब्रह्म व्रतं शुद्धं, अपरिग्रहं स उच्यते ॥ ४३७ ॥

अन्वयार्थ—(अनुव्रतं पंच उत्पादंते) ये ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक पांच अणुव्रतोंको बढ़ाते जाते

हैं वे (अहिंसानृत उच्यते) अहिंसा व्रत है, अनृत त्याग व्रत कहा जाता है (अस्तेयं) चोरीका त्याग है (शुद्धं ब्रह्म व्रतं) शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत है (अपरिग्रहं स उच्यते) वह परिग्रह त्याग व्रत कहा जाता है ।

विशेषार्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पांच व्रतोंको एक देश पालनेका अभ्यास पहली दर्शनप्रतिमासे प्रारंभ होता है फिर बढता हुआ चला जाता है। महाव्रतोंमें कुछ ही कमी रह जाती है वहांतक उत्कृष्ट श्रावक ग्यारह प्रतिमाधारी होता है। ये पांच व्रत ही संवरके कारण हैं। अविरत भावसे जो कर्मोंका आस्रव बंध होता है वह इन व्रतोंके पालनेसे बंद होता जाता है, वीतरागता बढती जाती है।

श्लोक—हिंसा असत्य सहितस्य, रागदोष पापादिकं ।
थावरं त्रस आरंभं, त्यक्तते ये विचक्षनाः ॥ ४२८ ॥

अन्वयार्थ—(ये विचक्षनाः) जो चतुर श्रावक हैं वे (हिंसा असत्य सहितस्य) हिंसा व असत्य इन प्रयोजनोंको लेकर (रागदोष पापादिकं) राग द्वेषको व पाप आदिको (थावरं त्रस आरंभं) स्थावर व त्रसके आरम्भको (त्यक्तते) छोड देते हैं।

विशेषार्थ—अहिंसाव्रत यह बताता है कि पर पीडाकारी भाव व मिथ्या वचनोंके द्वारा परको ठगनेका भाव दिलसे निकाल डाला जावे तथा भाव हिंसा व द्रव्य हिंसा दोनोंसे बचा जावे। राग द्वेष क्रोधादि भाव व पाप करनेके परिणाम भाव हिंसा है, क्योंकि उनसे आत्माके शुद्ध ज्ञानादिका व शांत भावका घात होता है। तथा स्थावर व त्रस छः कायके प्राणियोंका घात द्रव्यहिंसा है। श्रावकोंके भाव ये ही रहने चाहिये कि हम भाव हिंसा व द्रव्य हिंसा दोनोंसे बचे। इस पूर्ण अहिंसाव्रतकी भावनाको दृढतासे रखते हुए ये श्रावकगण ग्यारह श्रेणियोंके द्वारा इस अहिंसाव्रतको यथाशक्ति प्रारंभ करते हुए अंतमें पूर्णताके निकट पहुंचा देते हैं, साधु होने तक पूर्ण अहिंसाके अभ्यासी होजाते हैं। अंतरंगमें वीतराग भाव बाहरमें आरंभकी कमी, ये ही उपाय अहिंसाके पालनेके हैं। धर्म अहिंसामय है, मेरे भाव भी निराकुल रहे व दूसरे भी प्राणी मेरे द्वारा कष्ट न पावे ऐसा दयाभाव श्रावकोंके भीतर रहना योग्य है।

श्लोक—अनृतं अनृतं वाक्यं, अनृत अचेत दिष्टते ।
अशाश्वतं वचन प्रोक्तं च, अनृतं तस्य उच्यते ॥ ४३९ ॥

अन्वयार्थ—(अनृतं) अनृत त्यागमें (अनृतं वाक्यं) मिथ्या वाक्योंका त्याग होता है। (अनृत अचेत दिष्टते) जो वचन मिथ्या हैं वे अज्ञानरूप कहे जाते हैं। (अशाश्वतं वचन प्रोक्तं च) जो नाशवंत पदार्थोंको थिर रखनेका वचन कहता है (तस्य अनृतं उच्यते) उसके भी असत्य वचन कहा जाता है।

विशेषार्थ—दूसरा व्रत असत्य त्याग है व सत्य व्रत है। इस व्रतमें श्रावकोंको न तो असत्य वचन कहना चाहिये न मिथ्यात्व पोषक वचन कहना चाहिये न अज्ञान मूलक वचन कहना चाहिये। माया भाव चित्तमेंसे निकाल कर सरलतासे वचन कहना चाहिये जिसमें दूसरोंको धोखा न दिया जावे। जो वस्तु जैसी है उसको वैसी कहा जावे। वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है उसको एक ही धर्म-रूप कहना असत्य है। जगतकी सर्व क्रियाएँ नाशवंत हैं उनको थिर कहना असत्य है। संसारमें राग बढानेवाला वचन व आरम्भ परिग्रहमें प्रेरक वचन भी असत्य है। कठोर मर्म छेदक अप्रिय व हिंसाकारी सत्य वचन भी असत्य है। जिनवाणीके प्रतिकूल कोई वचन कहना भी असत्य है। हरएक वचन जिन सूत्रकी दृढता करानेवाला बोलना ही सत्यव्रत है। आरम्भी वचन भी असत्य है। इस मात्र असत्यका त्याग वहांतक नहीं बना सक्ता है जहांतक आरम्भका त्याग न हो। आरम्भ त्यागीके आरम्भ करने कराने सम्बन्धी वचन भी नहीं निकलता है। श्रावकोंको अधिकतर मौन रहना चाहिये। प्रयोजनवश कुछ वचन योग्यतासे विचार पूर्वक बोलना चाहिये।

श्लोक—अस्तेयं स्तेय कर्मस्य, चौर भावं न क्रीयते ।
जिन उक्तं वचनं शुद्धं, अस्तेयं लोप न क्रुतं ॥ ४४० ॥

अन्वयार्थ—(अस्तेयं) चोरीका त्याग अस्तेय व्रत यह है कि (स्तेय कर्मस्य चौर भावनं क्रीयते) चोरी कर्म व चोरीके भावको नहीं किया जावे। (जिन उक्तं वचनं शुद्धं लोप न क्रुतं अस्तेयं) जिनेन्द्र द्वारा कथित उपदेशको शुद्धतासे पाले व करे व कभी उसका लोप न करे सो अस्तेय व्रत है।

विशेषार्थ—तीसरा अचौर्यव्रत यह है कि विना दिया हुआ किसीका गिरा पडा भूला विसरा

आदि मालको न लिया जावे। कभी भी चोरीका भाव दिलमें न लाया जावे न चोरी करने कराने सम्बन्धी वचन बोलना चाहिये न चोरीकी अनुमोदना करनी चाहिये। नीतिसे धर्मानुकूल धनादि ग्रहण किया जावे व आरम्भ त्यागीको शुद्धताके साथ अन्तराय व दोष टालकर शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये। जो धर्म साधनकी वस्तु है उसमें अपनापना कभी न मानना चाहिये। जिनेंद्रकी आज्ञा प्रमाण वस्तुका स्वरूप विचारना चाहिये। वैसा ही कहना चाहिये व वैसा ही पालना चाहिये। जो जिनकी आज्ञाके विरुद्ध सोचते कहते व करते वे जिनाज्ञालोपी चोरीके दोषके भागी होते हैं। शुद्ध मन, वचन, काय रखके कपट त्यागके वर्तन करना ही अचौर्यव्रत है।

श्लोक—ब्रह्मचर्यं च शुद्धं च, अबंभं भाव त्यक्तयं।
विकहा राग मिथ्यात्वं, त्यक्तं बंभ व्रतं ध्रुवं ॥ ४४१ ॥

अन्वयार्थ—(ब्रह्मचर्यं च शुद्धं च) शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत पालना चाहिये (अबंभं भाव त्यक्तयं) अब्रह्म या कुशीलके भावको त्याग देना चाहिये। (विकहा राग मिथ्यात्वं त्यक्तं) विकथाका राग व मिथ्यात्वको छोडना चाहिये। तब (बंभ व्रतं ध्रुवं) ब्रह्मचर्य व्रत निश्चल होता है।

विशेषार्थ—चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। छठी प्रतिमातक श्रावक एकदेश पालता है, सातमी प्रतिमासे फिर पूर्ण पालता है। कुशीलके भावको त्यागना ब्रह्मचर्यव्रत है, स्पर्श इंद्रियके विषयकी चाहको रोकना, मनको ब्रह्म-स्वरूप आत्माके मननमें लगाना ब्रह्मचर्य व्रत है। स्त्री, भोजन, देश व राजाकी खोटी रागवर्द्धक कथाओंको त्यागना व संसारासक्ति रूप अग्रहीत मिथ्यात्वका भाव त्यागना व सदा वैराग्यकी भावना भाना। विषयोंको विषके समान समझना, ये सब साधन ब्रह्मचर्यकी रक्षाके हैं। बाहरमें सर्व स्त्री मात्रको माता, बहिन, पुत्रीके समान देखना। अंतरंगमें शुद्ध स्वरूपका मनन करना ब्रह्मचर्यव्रत है। यह ब्रह्मचर्यव्रत वीर्यका परम रक्षक है। मन, वचन, कायकी सर्व शक्तियोंका रक्षा करनेवाला है। आत्मध्यानका परम सहायक है। ध्यानका परम मित्र है। मोक्षमार्गमें बडा उपकारी है। श्रावकोंको उचित है कि इसके पालनमें दृढतासे वर्तन करें।

श्लोक—मनवचन कायं शुद्धं, शुद्धसमयं जिनागमं।
विकहा काम सद्भावं, त्यक्तते ब्रह्मचारिना ॥ ४४२ ॥

अन्वयार्थ—(मनवचन कायं शुद्धं) ब्रह्मचारीको मन, वचन, कायको अब्रह्मके संसर्गसे शुद्ध रखना चाहिये। (शुद्ध समयं जिनागमं) शुद्ध आत्मा व जिनवाणीका मनन करना चाहिये (ब्रह्मचारिना) ब्रह्मचारीको (विकहा काम सद्भावं) खोटी कथा जिनमें कामभावका अस्तित्व हो (त्यक्तवे) छोड देना चाहिये।

विशेषार्थ—ब्रह्मचर्यकी रक्षाके हेतु ब्रह्मचारीको मनमें भी कामभावको व रागभावको न लाना चाहिये। हास्यजनक, रागवर्द्धक, कामोत्पादक वचनोंको भी नहीं बोलना चाहिये, न शरीरकी कोई कुचेष्टा करना चाहिये, शुद्ध समय जो शुद्ध आत्मा उसपर लक्ष रखना चाहिये, उसका ध्यान करना चाहिये। जब आत्माके स्वरूपमें उपयोग स्थिर न होसके तब जिनवाणीका अभ्यास पठन पाठन मनन करना चाहिये। श्रुतका विचार मनको ज्ञान वैराग्यमें रमानेका बडा भारी अपूर्व आलम्बन है। काम भावको जागृति करनेवाली विकथा व काम कथा व श्रृंगार कथा न कभी करनी चाहिये और न कभी सुननी चाहिये। ब्रह्मचर्यकी रक्षाके साधनोंको जोडना चाहिये।

श्लोक—परिग्रहं प्रमाणं कृत्वा, पर द्रव्यं न दिष्टते।
अमृत असत्य त्यक्तं च, परिग्रह प्रमाणं तथा ॥ ४४३ ॥

विशेषार्थ—(परिग्रहं प्रमाणं कृत्वा) इस प्रकारके परिग्रहका प्रमाण करके (पर द्रव्यं न दिष्टते) उसके सिवाय परके द्रव्यपर दृष्टि न डाले (अमृत असत्य त्यक्तं च) मिथ्या भाव व मिथ्या वचन व मिथ्या आचरण छोडे (तथा परिग्रह प्रमाणं) इस तरह परिग्रह प्रमाण व्रतको पाले।

विशेषार्थ—श्रावकोंका पांचवा व्रत परिग्रह प्रमाण है। इस व्रतको प्रारंभ करते हुए जन्मपर्यंतके लिये क्षेत्र मकान आदि परिग्रहका प्रमाण अपनी इच्छाके अनुसार करले। फिर आगे जितनी जितनी इच्छा घटे घटाता जावे। ११ वीं प्रतिमा तक सर्व इच्छा मिट जानेसे एक लंगोट मात्र परिग्रह रह जाती है। ऐसा श्रावक अपने पुण्य योगसे प्राप्त सम्पत्तिमें संतोष रखे, परके द्रव्यकी चाह न करे और न मिथ्या संकल्प धनके कमानेका करे न वचन कहकर धन कमावे न मिथ्या अन्यायरूप व्यवहार करके धन कमावे। परिग्रह प्रमाण व्रती बहुत ही संतोषसे रहे। अपने धनकी मर्यादा पूरी करनेके लिये अन्यायसे धन संग्रहका विचार भी न करे। आवश्यक्तानुसार परिग्रह रखते हुए भी अन्तःकरणसे निर्मोही रहे।

श्लोक—एता तु क्रिया संयुक्तं, सम्यक्तं सार्द्धं ध्रुवं ।
ध्यानं शुद्ध समयस्य, उत्कष्टं श्रावकं ध्रुवं ॥ ४४४ ॥

अन्वयार्थ—(एता तु क्रिया संयुक्तं) इन ऊपर लिखित क्रियाओंको जो भलेप्रकार पालता हुआ उन्नति करे (ध्रुवं सम्यक्तं सार्द्धं) निश्चल सम्यग्दर्शन साथमें रक्खे (शुद्ध समयस्य ध्यानं) तथा शुद्ध आत्माका ध्यान करे (ध्रुवं उत्कष्टं श्रावकं) वही निश्चयसे उत्कृष्ट श्रावक होता है ।

विशेषार्थ—ग्यारह प्रतिमाओंकी क्रिया बताई हैं उन सबको यथायोग्य साधन करता हुआ तथा पांच अहिंसादि अणुव्रतोंकी भलेप्रकार उन्नति करता हुआ जो श्रावक शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित वर्ते। न सम्यक्तमें अतीचार लगावे, न बारह व्रतोंमें अतीचार लगावे। मुख्य लक्ष्य शुद्धात्माके ध्यान पर रक्खे। वही उत्कृष्ट श्रावक है। यही श्रद्धा रक्खे कि बाहरी चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है किंतु अंतरंग निश्चय मोक्षमार्गका निमित्त साधक होनेसे उसे भी व्यवहार मोक्षमार्ग कह देते हैं। वह श्रावक शुभोपयोग रूप व्यवहार चारित्रको हेय समझता हुआ उपादेय न समझता हुआ मात्र आलम्बन जानके सेवता है परंतु जो निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मध्यानको ही मोक्षमार्ग समझ उसीका ही निरंतर अभ्यास रखता है। परिणामोंमें वीतरागता आवे शुद्धात्मानुभव हो उसीको समझता है कि मैंने जो कुछ मोक्ष मार्ग वास्तवमें साधन किया है। आत्मज्ञान व आगम ज्ञानकी निर्मलतासे ही उत्कृष्ट श्रावककी महिमा है। यह उत्कृष्ट श्रावक देशाटन करता हुआ अपने जीवनमें अनेक जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देता हुआ मोक्षमार्गी बनाता है, धर्म रस आप पीता है तथा औरोंको पिलाता है, मुनि तुल्य भावना भाता है।

साधुका चारित्र ।

श्लोक—साधुओ साधयं लोके, रत्नत्रयं च संयुतं ।
ध्यानं तिअर्थ शुद्धं च, अबद्धं ते न दिष्टते ॥ ४४५ ॥

अन्वयार्थ—(साधुओ) साधु महाराज (लोके) इस लोकमें (रत्नत्रयं च संयुक्तं) व्यवहार रत्नत्रय सहित (ति अर्थ शुद्धं च ध्यानं) निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध ध्यानको (साधयं) साधन करते हैं (तेन) इस कारणसे वे (अबद्धं) बंध रहित व वीतरागी (दिष्टते) दिखाई पडते हैं।

विशेषार्थ—जो व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रके द्वारा निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध आत्मध्यानका साधन करते हैं वे साधु हैं। ये साधु सर्व परिग्रह रहित होते हैं मात्र पीछी कमण्डल रखते हैं। वीतरागमय ही उनकी सर्व चेष्टा दिखलाई पडती है। वे समताभावसे वर्तन करते हैं। निंदा व प्रशंसामें सम भाव रखते हैं। उपसर्ग व परीषहोंको शांतभावसे सहते हैं। जगतके प्रपंचसे बिलकुल उदासीन हैं। ख्यातिलाभ पूजादिकी चाह रहित शुद्ध धर्म पालते हैं। अवसर पाकर धर्मोपदेश देकर भव्य जीवोंको सुमार्ग पर आरूढ करते हैं।

श्लोक—ज्ञान चारित्र संपूर्णं, क्रिया त्रेपन संजुतं।
पंचव्रत पंच समर्ति, गुप्ति त्रय प्रतिपालकं ॥ ४४६ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञान चारित्र संपूर्णं) साधु सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे परिपूर्ण हैं (त्रेपन क्रिया संजुतं) त्रेपन श्रावककी क्रिया सहित हैं (पंचव्रत पंच समर्ति) पांच महाव्रत पांच समिति (गुप्ति त्रय प्रतिपालकं) और तीन गुप्तिके पालनेवाले हैं।

विशेषार्थ—निर्ग्रंथ जैन साधु शास्त्र ज्ञाता व आत्मज्ञानी होते हैं। पूर्ण चारित्रके अभ्यासी होते हैं। जहांतक श्रावक थे चारित्र अपूर्ण था। श्रावककी त्रेपन क्रिया साध चुके हैं, मुनिपदमें भी जो जो योग्य हैं, उनको अब भी साधते हैं। वे ५३ क्रियाएँ हैं=८ मूलगुण + १२ व्रत + १२ तप + समताभाव + ११ प्रतिमा + ४ दान + जल गालन + रात्रि भोजन त्याग + रत्नत्रय धर्म तीन कुल ५३।

इनमें १२ तप, समताभाव, रात्रिभुक्ति त्याग, रत्नत्रय इनका अभ्यास साधुपदमें भी रहता है। दानमें ज्ञानदान व अभयदान साधु देते हैं। शेष नियम आरम्भ त्याग होनेसे आवश्यक नहीं हैं। उनमेंसे जो आवश्यक हैं, वे तेरहप्रकार साधुके चारित्रमें गर्भित हैं। पांच महाव्रत १-अहिंसा—स्थावर व त्रस सर्व जन्तुओंकी पूर्णपने रक्षा करना। कोई आरम्भी क्रिया भी नहीं करना। २-सत्य—सदा शास्त्रोक्त वचन स्वपर हितकारी कहना। प्राण जानेपर भी असत्य न कहना। ३-

अचौर्य—विना दी हुई वस्तु जल आदि भी व वृक्षका पत्ता आदि भी कभी नहीं लेना। ४-ब्रह्मचर्य—मन, वचन, काय कृतकारित, अनुमोदनासे ९ प्रकार शीलव्रत पालना। देवी, तिर्यंचनी, मनुष्यणी व काष्ठ चित्रामकी स्त्रियोंसे पूर्णपने वैरागी रहना। उनकी संगतिसे वचना जिससे कामविकार हो। ५-परिग्रह त्याग—क्षेत्र, मकान, वस्त्रादि परिग्रहका त्याग कर नग्न होकर तप करना, मात्र धर्म साधक उपकरण रखना। जैसे जीव रक्षा हेतु मोरपिच्छिका, शौचके लिये काष्ठके कमण्डलमें जल व ज्ञानके लिये शास्त्र।

पांच समिति-ईर्या—चार हाथ भूमि निरखकर दिनमें रौंदे हुए मार्गमें समभावसे गमन करना। २-भाषा—शुद्ध मिष्ठ अल्प वचन कहना। ३-एषणा—शुद्ध भोजन जो उनके उद्देश्यसे न बनाया हो, गृहस्थने अपने लिये बनाया हो उसमेंसे भिक्षाविधिपूर्वक दिये जानेपर संतोषसे दिनमें एकवार लेना, हाथमें ही ग्रास लेना। ४-आदाननिक्षेपण—अपना शरीर, पीछी, कमण्डल, शास्त्रादि देखकर उठाना व धरना। ५-प्रतिष्ठापना—मल मूत्रादि शरीरका मल निर्जंतु भूमिपर क्षेपण करना।

तीन गुप्ति-मन—में धर्मध्यान रखना, आर्त व रौद्रध्यानसे व सांसारिक चिंतासे बचाना। वचन—मौन रहना, यदि कहना पडे तो धर्म साधक वचन कहना। काय—शरीरका निश्चल रखना, देख करके व झाड करके आसन बदलना, आलस्यरूप न रहना, दो घडीसे अधिक लगातार न सोना इन १३ प्रकार चारित्रको साधुगण भलेप्रकार पालते हैं।

श्लोक—चारित्रं चरणं शुद्धं, समय शुद्धं च उच्यते।
संपूर्ण ध्यान योगेन, साधओ साधु लोकयं ॥ ४४७ ॥

अन्वयार्थ—(साधु लोकयं) साधु महाराज (शुद्धं चारित्रं चरणं) शुद्ध निर्दोष व्यवहार व निश्चय चारित्रको पालते हैं (समय शुद्धं च उच्यते) निश्चय चारित्र शुद्ध आत्मा रूप कहा जाता है (संपूर्ण ध्यान योगेन साधओ) उसे पूर्णपने ध्यान समाधि द्वारा साधन करते हैं।

विशेषार्थ—निर्ग्रंथ साधुगण तेरह प्रकार चारित्रको निर्दोष पालते हुए मुख्य शुद्ध आत्माके अनुभव रूप स्वरूपाचरण या निश्चय चारित्रपर ध्यान रखते हैं। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यानके अभ्याससे नाना प्रकार कठिन स्थानोंमें तिष्ठकर परम वैराग्यके साथ निज आत्माका अनु-

भव करते हैं। उपसर्ग परीषहोंको शांत भावसे सहन करते हैं। ध्यानके द्वारा निश्चय चारित्रकी पूर्णता करते हैं ऐसा साधन करते हैं। धर्मध्यानको पूर्ण करके फिर श्रेणी चढनेकी योग्यता होनेपर उपशम या क्षपकश्रेणी पर चढके शुक्लध्यानका अभ्यास करते हैं। अरहंत पदपर जाकर सिद्ध होनेकी भावना साधुगण सदा रखते हैं।

श्लोक—सम्यग्दर्शनं ज्ञानं, चारित्रं शुद्ध संयमं।
जिनरूपं शुद्ध द्रव्यार्थं, साधओ साधु उच्यते ॥ ४४८ ॥

अन्वयार्थ—जो (सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यग्चारित्रको (शुद्ध संयमं) शुद्ध संयमको (जिनरूपं) जिनेन्द्रके स्वरूपको (शुद्ध द्रव्यार्थं) शुद्ध आत्म द्रव्यके भावको (साधओ) साधन करते हैं वे (साधु उच्यते) साधु कहलाते हैं।

विशेषार्थ—जो साधन करै वह साधु है। मोक्षकी सिद्धिके लिये जो मोक्षमार्ग साधै वह साधु है जिसके और कोई तीन लोकके किसी पर्यायकी सिद्धिकी भावना नहीं है। इन्द्र अहमिंद्र चक्रवर्ती आदि क्षणभंगुर पदोंसे जो उदास है। सिद्ध होनेके लिये वे साधु दृढतासे अपने श्रद्धानको शुद्ध दोष रहित रखते हैं यह सम्यग्दर्शनका साधन है। शास्त्रोंका रहस्य बडे भावसे विचारते रहते हैं। ज्ञानकी उन्नति करते रहते हैं। वह सम्यग्ज्ञानका साधन है। तेरह प्रकार चारित्रको दोष रहित पालते हैं यह सम्यक्चारित्रका साधन है। पांच इंद्रिय व मनका दमनरूप इंद्रिय संयम तथा षट्कायके जीवोंकी रक्षारूप प्राणि संयम इन दो प्रकार संयमको अथवा सामायिक, छेदोपस्थापना आदि संयमको शुद्धताके साथ साधन करते हैं। जिनेन्द्रका स्वरूप ध्यानमें लेकर उसी तरह आप वर्तन करते हुए अरहंत होनेकी भावना करते हैं तथा शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके आलम्बनसे शुद्ध आत्माका मनन करते करते शुद्धोपयोगमें जमनेका साधन करते हैं। जो इतनी क्रिया साधे वह साधु है।

श्लोक—ऊर्द्ध अधो मध्यं च, लोकालोक विलोकितं।
आत्मानं शुद्धात्मानं, महात्मा महाव्रतं ॥ ४४९ ॥

अन्वयार्थ—(ऊर्द्ध अधो मध्यं च) ऊपर नीचे व मध्यमें सब तीन लोकमें (लोकालोक विलोकितं) लोक

व अलोकको देखनेवाले (आत्मानं) आत्माको (शुद्धात्मानं) अर्थात् शुद्धात्माको जो ध्यावे वही (महात्मा महाव्रतं) महान आत्मा साधुका महाव्रत है।

विशेषार्थ—व्रत नाम प्रतिज्ञाका है। साधुओंके यही दृढ प्रतिज्ञा है कि वे शुद्धात्माको ध्यावे। जो सर्वज्ञ वीतराग प्रभु हैं, उस रूप अपने आत्माको द्रव्य दृष्टिसे जानकर निज आत्माको एकाग्र हो ध्यान करे। तीन लोकमें भरे हुए सर्व आत्माओंको शुद्ध नयके बलसे जो शुद्धात्मा देखें। सर्व जगतके जीवोंको एक आत्मामय देखें। परम समताभावमें लय होजावे यही परमसामायिक है व यही निश्चय महाव्रत है। यदि यह महाव्रत न हुआ और मात्र बाहरी पांच महाव्रत पाले गए तो मोक्षका साधन नहीं हुआ। वास्तवमें शुद्धात्माके अनुभवको ही मोक्षका साधन कहते हैं यही साधुका चारित्र है। इसको जो साधे वही साधु है।

श्लोक—धर्मध्यानं च संयुक्तं, प्रकाशनं धर्म शुद्धयं।
जिन उक्तं यस्य सर्वज्ञं, वचनं तस्य प्रकाशनं ॥ ४५० ॥

अन्वयार्थ—(धर्मध्यानं च संयुक्त) वे साधु धर्मध्यान सहित रहते हैं (शुद्धयं धर्म प्रकाशनं) शुद्ध दोष रहित धर्मका प्रकाश करते हैं। (सर्वज्ञं वचनं) सर्वज्ञ भगवानका कथन (यस्य जिन उक्तं) जिसको जितेन्द्रिय साधुओंने कहा हो, गणधरोंने बताया हो (तस्य प्रकाशनं) उसीका ही प्रकाश करते हैं।

विशेषार्थ—जैनके साधु बड़े विनयवान हैं, वे जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार चलनेवाले होते हैं। आप स्वयं चार प्रकार धर्मध्यान ध्याते हैं।

१–आज्ञा विचय—जिनेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार छः द्रव्य पांच, अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थका विचय करना। २–अपाय विचय—अपने रागादि दोषोंका व जगतके प्राणियोंके मिथ्यात्वादि दोषोंका किस तरह नाश हो यह विचारना। ३–विपाक विचय—अपनेमें व दूसरोंमें साता व असाताकारी अवस्थाओंको देखकर कौनसे कर्मका विपाक है या फल है ऐसा विचारना। ४–संस्थान विचय—तीन लोकका स्वरूप, सिद्ध लोकका स्वरूप व अपने ही आत्माका ध्यान करना। पिंडस्थादि चार ध्यान इस संस्थानविचय धर्मध्यानमें गर्भित हैं। जैसे वे साधु स्वयं निर्दोष धर्मका साधन करते हैं वैसे ही वे जगतके प्राणियोंको प्रकाश करते हैं। जिन वचनोंपर उनका विश्वास है

कि यह श्री सर्वज्ञ वीतराग अर्हंत भगवानकी परम्परासे कहा हुआ यथार्थ है उसी हीका वे उपदेश देते हैं। परम साम्यभावसे व मायाचार न करके जो जिनेन्द्रकी आज्ञा है उसीके अनुसार कथन करते हैं वे ही जैनके साधु हैं।

श्लोक—मिथ्यात्वं त्रय शल्यं च, कुज्ञानं त्रिति उच्यते।
रागदोषादि येतानि, त्यक्तंते शुद्ध साधवः ॥ ४५१ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्वं) मिथ्यादर्शनको (त्रय शल्यं च) तीन शल्य, माया मिथ्या निदानको (कुज्ञानं त्रिति उच्यते) तीन कुज्ञान कहे जाते हैं उनको (रागदोषादि) रागद्वेषादि विभावोंको (येतानि) इन सबको (शुद्ध साधवः) शुद्ध साधु महाराज (त्यक्तंते) छोड देते हैं।

विशेषार्थ—निर्दोष साधुका चारित्र पालनेवालेके भीतर न तो बहिरंग न अंतरंग मिथ्यात्व है न वहां कोई मायाचार व निदानका भाव होता है। वह कपट रहित व भोगोंकी इच्छा रहित होकर साधु धर्म पालता है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि तीन कुज्ञान नहीं होते हैं। सम्यक्तके प्रभावसे उसका सब ज्ञान सुज्ञान रूप होता है, रागद्वेषादि भावोंको जीतता हुआ साधु जिनधर्मको पालकर आत्माकी उन्नति करता है।

श्लोक—अप्पं च तारणं शुद्धं, भव्यलोकैकतारणं।
शुद्धं च लोक लोकांतं, ध्यानारूढं च साधवः ॥ ४५२ ॥

अन्वयार्थ—(अप्पं च तारणं शुद्धं) अपने आपको शुद्धतासे जो तारनेवाले हैं (भव्यलोकैकतारणं) तथा भव्य जीवोंके भी वे तारनेवाले हैं (लोकांतं शुद्धं च लोकं) लोक पर्यंत शुद्ध द्रव्यको ही देखनेवाले हैं (ध्यानारूढं च साधवः) ऐसे साधु ध्यानमें आरूढ रहते हैं।

विशेषार्थ—निर्ग्रंथ साधु तारणतरण होते हैं। जैसे जहाज आप तैरता है व बैठनेवालेको तार लेजाता है वैसे ही साधु स्वयं अपने आत्माका साधन करते हैं और अपने उपदेश व शिक्षासे अनेक भव्योंको मार्गमें लगा देते हैं, जो परम समताभावके धारी हैं, सर्व ही लोकमें भरी आत्माओंको शुद्ध रूपसे एकाकार देखनेवाले हैं तथा जो ध्यानका अभ्यास उत्तम प्रकारसे करते रहते हैं।

श्लोक—मननं शुद्ध भावस्य, शुद्ध तत्वं च दिष्टते ।
सम्यग्दर्शनं शुद्धं, शुद्धं तिअर्थ संयुतं ॥ ४५३ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध भावस्य मननं) वे साधु शुद्ध आत्मीक भावका मनन करते हैं (शुद्ध तत्वं च दिष्टते) शुद्ध आत्म तत्वका अनुभव करते हैं (सम्यग्दर्शनं शुद्धं) जिनके निर्दोष वीतराग सम्यग्दर्शन होता है। (शुद्धं तिअर्थ संयुतं) वे तीनों रत्नत्रय सहित शुद्ध भावके धारी होते हैं।

विशेषार्थ—निर्ग्रंथ साधुका मुख्य ध्यान आत्माकी तरफ रहता है, वे अध्यात्मीक ग्रन्थोंका विशेष मनन करते रहते हैं तथा शुद्धात्माके ध्यानको भलेप्रकार अनुभवमें लाते हैं। शुद्ध सम्यक्तको रखते हुए शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप आत्मीक भावको ध्याते हैं। जिनके साधु परम निस्पृही व परम वीत-रागी होते हैं। शुद्धात्माकी चर्चा सिवाय और चर्चा जिनको नहीं सुहाती है। वे आत्मरसके रसीले होते हैं। वे भलेप्रकार मोक्षमार्गपर चलते हैं।

श्लोक—रत्नत्रय शुद्ध संपूर्ण, संपूर्ण ध्यानारूढयं ।
रिजु विपुलं उत्पादंते, मनःपर्ययज्ञानं ध्रुवं ॥ ४५४ ॥

अन्वयार्थ—(रत्नत्रय शुद्धं संपूर्ण) वे साधु शुद्धतासे रत्नत्रय धर्मकी पूर्ति करते हैं। (संपूर्ण ध्यानारूढयं) पूर्ण प्रकारसे ध्यानमें लगे रहते हैं। जिसके प्रतापसे (रिजुं मनःपर्यय ज्ञानं ध्रुवं विपुलं उत्पादंते) साधु रिजु मनःपर्यय ज्ञानको व निश्चल विपुल मति मनःपर्यय ज्ञानको पालेते हैं।

विशेषार्थ—आत्मध्यानके प्रतापसे साधुको बडी बडी ऋद्धियां सिद्ध होजाती हैं। शुद्ध ध्यान जहां होता है वहां किसी साधुको ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान पैदा होजाता है जिसके प्रतापसे साधु प्रत्यक्ष रूपसे दूसरोंके मनमें तिष्ठे हुए वर्तमानके सूक्ष्म विषयको जान लेता है। यह मनःपर्यय ज्ञान छूट भी सक्ता है। किसी साधुके ध्यानके बलसे विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान होजाता है यह छूटता नहीं है। केवलज्ञानको अवश्य उत्पन्न करता है। तद्भव मोक्षगामीके ही यह विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान होता है। यह दूसरेके मनमें तिष्ठे हुए वर्तमान कालके व भूत व भाविष्य कालके भी प्रदार्थोंको जान सक्ता है।

श्लोक—वैराग्यं त्रितयं शुद्धं, संसारं त्यक्तयं तृणं।
भूषण रत्नत्रयं शुद्धं, ध्यानारूढ स्वात्मदर्शनं॥ ४५५॥

अन्वयार्थ—(वैराग्यं त्रितयं शुद्धं) जिन साधुओंके वैराग्य संसार शरीर भोगोंसे तीन तरहका निर्मल है (संसारं तृणं त्यक्तयं) संसारका मोह तृणके समान जानके जिन्होंने छोड़ दिया है (भूषण शुद्धं रत्नत्रयं) जिनका आभूषण निर्दोष रत्नत्रयका सेवन है (ध्यानारूढ स्वात्मदर्शनं) ऐसे साधु ध्यानमें आरूढ रहते हुए अपने आत्माका अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ—संसार असार है दुःखोंका घर है, जन्म जरा रोगसे पीड़ित है। शरीर अशुचि है। नाशवंत है, राग योग्य नहीं है, भोग रोगके समान आतापके बढ़ानेवाले हैं कभी तृप्ति देनेवाले नहीं हैं। ऐसा समझकर जिनके भावोंमें इन तीनोंसे पूर्ण वैराग्य है तथा जो संसारके पदार्थोंका सम्बन्ध तृणके समान तुच्छ समझते हैं, अकिंचित्कर जानते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रको जिन्होंने अपने आत्माका आभूषण बनाया है जो निरन्तर ध्यानमें आरूढ होकर आत्माका आनन्द लेते हैं वे ही सच्चे साधु हैं।

श्लोक—केवलं भावनं कृत्वा, पदवी अर्हंत सार्थयं।
चरणं शुद्ध समयं च, भावनानंत चतुष्टयं॥ ४५६॥

अन्वयार्थ—(केवलं भावनं कृत्वा) साधु महाराज केवलज्ञानकी प्राप्तिकी भावना भाते हैं (भावनानन्त चतुष्टयं) तथा अनन्त चतुष्टयकी भावना करते हैं (पदवी अर्हंत् सार्थयं) यथार्थ अर्हंत्पदका उद्देश्य रखते हैं इसीलिये (शुद्ध समयं च चरणं) शुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ—साधुओंके मात्र यही भावना है कि हम अर्हंत परमात्माका पद प्राप्त करें। जिससे अनंत दर्शन, अनंतज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य इन चार अनंत चतुष्टयका प्रकाश होजावे। इसीलिये वे शुद्ध आत्माका निश्चय चारित्र पालते हैं। अर्थात् शुद्धोपयोगमें तल्लीन रहते हैं, धर्मध्यान करते हैं, फिर शुक्लध्यान ध्याते हैं जिससे चार घातीय कर्मोंका नाश कर सकें।

श्लोक—साधओ साधुलोकेन, तव व्रत क्रियासंजुतं ।
साधओ शुद्ध ज्ञानस्य, साधओ मुक्तिगामिनो ॥ ४५७ ॥

अन्वयार्थ—(साधुलोकेन) साधु महाराज (क्रिया संजुतं तव व्रत साधओ) क्रिया सहित तप व व्रतको साधनेवाले हैं व (शुद्ध ज्ञानस्य साधओ) शुद्ध ज्ञानके साधनेवाले हैं। (साधओ मुक्तिगामिनो) ऐसे साधु मोक्षगामी हैं।

विशेषार्थ—निर्ग्रंथ साधु शास्त्रोक्त मार्गसे विधि सहित अनशनादि बारह व्रतोंका तथा पंच महाव्रतोंका साधन करते हैं। व्यवहार चारित्रके बलसे शुद्धात्माका ध्यान बढाते हैं। ध्यानके बलसे ज्ञानकी उन्नति करते चले जाते हैं। ऐसे ही साधु अवश्य मोक्षका लाभ करते हैं।

श्लोक—अर्हंतं अर्हं देवं, सर्वज्ञं केवलं ध्रुवं ।
नंतानंत दिष्टं च, केवल दर्शन दर्शनं ॥ ४५८ ॥

अन्वयार्थ—(अर्हंतं अर्हं देवं) अरहंत भगवान ही पूजने योग्य देव हैं (सर्वज्ञं केवलं ध्रुवं) सर्वज्ञ हैं स्वाधीन हैं, निश्चल हैं (नन्तानन्त दिष्टं च) अनन्तानन्त लोकालोकके सर्व पदार्थोंको जाननेवाले हैं (केवल दर्शन दर्शनं) केवल दर्शन व सम्यक्तके धारी हैं।

विशेषार्थ—साधु महाराज जिस पदकी भावना भाते हैं वह शरीर सहित जीवन्मुक्त परमात्माका पद अर्हंतपद है। जहां निर्मल ज्ञान स्वाधीन लोकालोक प्रकाशक व निर्मल दर्शन स्वाधीन लोकालोक दर्शक प्रगट होजाता है। सर्व ही गणधर देव, मुनिराज व चक्रवर्ती, महाराजा, राजा इन्द्र धरणेन्द्र उन ही की पूजा भक्ति करते हैं। उनके आत्मीक गुण अनंतकालके लिये प्रगट होगए हैं। उनपर पुनः आवरण नहीं आनेका है। आयुप्रमाण शरीरमें हैं फिर अवश्य सिद्ध हो जावेंगे।

श्लोक—सिद्धं सिद्धि संयुक्तं, अष्ट गुणं च संयुतं ।
अनाहतं त्यक्तरूपेण, सिद्धं शाश्वतं ध्रुवं ॥ ४५९ ॥

अन्वयार्थ—(सिद्धं) सिद्ध भगवान (सिद्ध संयुक्तं) आत्माकी सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं (अष्ट गुणं च संयुतं) आठ गुणोंकरके भूषित हैं (अनाहतं) अव्याबाध हैं (त्यक्तरूपेण सिद्धं) त्यक्त रूपसे प्रगटपने सिद्ध हैं (शाश्वतं) अविनाशी हैं (ध्रुवं) निश्चल हैं।

विशेषार्थ—अर्हंत भगवानके चार अघातीय कर्म, नाम, गोत्र, वेदनी, आयु शेष रहते हैं वे इन कर्मोंको नाश करके सर्व देहादि रहित मात्र शुद्ध आत्मा रूप रह जाते हैं। उनके आठ प्रसिद्ध गुण प्रगट होजाते हैं। सम्यग्दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अव्याबाध पना, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु। इनके सिवाय वचनातीत अनन्तगुण धारी सिद्ध हैं। कोई प्रकारकी बाधा जिनको नहीं होसक्ती है। जिनकी आत्मा प्रकाशमान होगई है। फिर कभी उनकी आत्मापर परदा नहीं आएगा। वे सदा ही शुद्ध रहेंगे। व आवागमन रहित सिद्धालयमें लोकके अग्रभागमें विराजमान रहेंगे। साधु महाराज ही ध्यानके बलसे ऐसे सिद्ध पदको पासक्ते हैं।

श्लोक—परमेष्ठी शरणं कृत्वा, शुद्ध सम्यक्त धारिनः।
ते नरा कर्म क्षपयंति, मुक्तिगामी न संशयः ॥ ४६० ॥

अन्वयार्थ—(परमेष्ठी शरणं कृत्वा) जो पांच परमेष्ठीका शरण ग्रहण करके (शुद्ध सम्यक्त धारिनः) शुद्ध सम्यग्दर्शनके धारी हैं (ते नरा) वे मानव (कर्म क्षपयंति) कर्मोंका नाश करते हैं। (मुक्तिगामी न संशयः) व मोक्ष जानेवाले हैं इसमें संशय नहीं है।

विशेषार्थ—मोक्ष प्राप्तिका मुख्य मूल साधन यह है कि अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय तथा साधु इन पांच परमेष्ठीकी भक्ति पूजा वंदना स्तुति व उनके गुणोंका मनन भलेप्रकार किया जावे तथा शुद्धात्माका पक्का श्रद्धान करके शुद्ध सम्यक्त प्राप्त किया जावे। शुद्ध सम्यक्त ही आत्मध्यानको बढानेवाला है और शनैः शनैः गुणस्थानोंके क्रमसे शुद्ध करता हुआ सिद्ध परमात्मा बना देता है, यह निःसंदेह है।

श्लोक—त्रिविधि ग्रंथं च प्रोक्तं च, सार्थं ग्यानमयं ध्रुवं।
धर्मार्थ काम मोक्षं च, प्राप्तं परमेष्ठिनं नमः ॥ ४६१ ॥

अन्वयार्थ—(त्रिविधि ग्रंथं च प्रोक्तं च) तीन प्रकार ग्रंथ कहा गया है (सार्थं ग्यानमयं ध्रुवं) शब्द रूप अर्थ रूप व ज्ञानमय सो ध्रुव है (धर्मार्थ काम मोक्षं च) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका बतानेवाला है (प्राप्तं परमेष्ठिनं) व पांच परमेष्ठी पदको प्राप्त करानेवाला है (नमः) उसको नमस्कार हो।

विशेषार्थ—ग्रन्थकर्ता प्रवाहरूपसे अनादिसे चले आए हुए जिन आगमको नमस्कार करते हैं। जिन आगम तीन प्रकार है-शब्दागम, अर्थागम, ज्ञानागम। अक्षरोंका समूह जिनमें पदार्थोंका स्वरूप लिखा गया हो वह शब्दागम है। इनमें जो पदार्थ समूह वर्णित है वह अर्थागम है। उन पदार्थोंका जो ज्ञान है वह ज्ञानागम है। ऐसे जिन आगमके द्वारा धर्मका उपाय मालूम होता है जिस धर्मकी सहायतासे ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधुके पद भी इसी आगमके अनुसार चलनेसे प्राप्त होते हैं। यह जिनागम परम कल्याणकारी है। जिनको सुखकी इच्छा हो व मानव जन्मको सफल करना हो उनके लिये उचित है कि वे चित्त लगाकर जिनागमका भलेप्रकार अभ्यास करें।

श्लोक—परमानंद आनंदं, जिन उक्तं शाश्वतं पदं।
एकोदेश उपदेशं च, जिनतारण पंथं श्रुतं ॥ ४६२ ॥

अन्वयार्थ—(जिन उक्तं शाश्वतं पदं) जिनेन्द्र भगवान कथित अविनाशी सिद्ध पद (परमानंद आनंदं) परमानन्दसे भरपूर है (एकोदेश उपदेशं च) उसको एकदेश किंचित् उपदेश करनेवाला (जिनतारण पंथं श्रुतं) यह संसारसे तारनेवाला जिन मार्गरूपी शास्त्र है अथवा जिनभक्त तारणतरण रचित यह शास्त्र है।

विशेषार्थ—शास्त्रके कहनेका उद्देश्य यही है कि प्राणियोंको अविनाशी सिद्ध पदकी प्राप्ति हो, उसीका जिसमें उपदेश हो वही शास्त्र है। जिन तारणतरण स्वामी रचित यह शास्त्र है इसमें थोड़ासा उपदेश मोक्षप्राप्तिका कहा गया है। जो कोई भव्य जीव इस शास्त्रको पढ़ेंगे, मनन करेंगे उनको संसारसे उद्धारक मोक्षमार्गका ज्ञान होगा। इस ग्रंथमें मुख्यतासे श्रावकाचारका कथन है इसी कारण इसमें एकोदेश मार्गका या अणुव्रतोंका उपदेश है। मोक्षका पूर्ण साधक साधुधर्मका उपदेश है उसकी इसमें गौणता है।

इति श्रावकाचार ग्रंथकी जिन तारणतरण विरचित हिन्दी टीका पूर्ण की, मिती आश्विन सुदी १० रविवार वीर सं० २४५८ विक्रम सं० १९८८ ता० ९ अक्टूबर १९३१ सागर (सी० पी०)

ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

अन्वयार्थ—(विदलं) दो दाल जिसकी हो ऐसेका दहीके साथ खाना (संधाननंधानं) अचार मुरब्बा बना हुआ (यस्य) जिस किसीके (अनुरागं) इनका राग (गीयते) पाया जावे (मनस्य भावनं कृत्वा) उसके मनसे मासकी भावना की गई होनेसे (तस्य) उसके (मांसं) मांस (न मुच्यते) नहीं छोडा गया है (संपूर्ण फलस्य भुक्तं) पूरे फलको विना देखे खाना (सम्मूर्छन त्रस विभ्रमं) उसमें सम्मूर्छन त्रस जंतुके होनेकी शंका रहती है। उनमें (जीवस्य) जंतुओंका (उत्पादनं) पैदा होना (दिष्टं) देखा जाता है। जो खाता है वह (हिंसानंदी) हिंसामें आनंद मानता है। उसे (मांसदूषनं) मांसका दूषण आता है।

विशेषार्थ—इन दो श्लोकोंमें ग्रंथकर्ताने मांसके दोषोंमें विदल, संधान, विना तोड़ा फल खाना मना किया है। दौलतरामजी उस सम्बन्धमें कहते हैं—

अन्न मसूर मूंग चणकादि, तिनकी दालि जु होय अनादि। अर मेवा पिस्ता जु बदाम, चारौली आदिक अति नाम ॥१३५॥
जिन जिन वस्तुनिकी है दाल, सो सो सब दधि भेला टालि। अर जो दधि भेली मिष्टान, तुरत हि खावो सूत्र प्रवाण ॥१३६॥
अंतर्मुहूर्त पीछे जीव, उपजे यह गावें जग पीव। ताते मीठा युत जो दही, अंतर्मुहूर्त पहले गही ॥१३७॥
दधि गुड खावो कबहि न जोग, वरजे श्रीगुरु वस्तु अजोग। फुनि तुम सुनहु भिन्न इक बात, राई लूण मिले उतपात ॥१३८॥
तातें दही महीमें करे, तनो रायता कांजी वरे ॥१३९॥

भावार्थ—विदलका स्वरूप यह है कि जिस किसी अन्नकी या मेवाकी दो दालें होजाती हों उसको दहीके साथ मिलाकर व दहीके साथ उनकी कोई चीज बनाकर न खावे। दहीके साथ शक्कर मिलाकर दो घडीके भीतर २ खावे, परन्तु गुडको दहीमें न मिलाना चाहिये। राई, लोण, दही व छाछमें रायता बनाकर व कांजीके वडे बनाकर खाना योग्य नहीं है।

संधाणा दोषीक विशेष, सो भव्यो छाडो जो असेस ॥ १०१ ॥
अथाणा संधान मथान, तीन जाति इनकी जु बखानि। राई लूण कलुँजी आदि, अम्बादिकमें डारें वादि ॥१०२॥
नाखि तेलमें कर हिं अथाण, या सम दोष न सूत्र प्रमाण। त्रस जीवां तामें उपजंत, भखियां आमिष दोष लहंत ॥१०३॥
नींबू आम्रादिक जो फला, लूण माहि डारे नहि भला। याको नाम होय संधान, त्यागे पंडित पुरुष सुजाण ॥१०४॥
अथवा चलित रसा सब वस्तु, संधाणा जानो अप्रशस्त। बहुरि जलेबी आदिक जोहि, डोहा राब मथाणा होय ॥१०५॥
लूण छाछ माहीं फल डार, केर्यादिक जे खाहिं संवार। तेहि बिगाड़े जन्म स्वकीय, जैसे पापी मदिरा पीय ॥१०६॥

भावार्थ—संधान तीन प्रकारका होता है। अथाणा, संधान, मथान। जिसमें राई, लोण, आम, नींबू व तेल डालकर बनाते हैं सो अथाना है। इनमें त्रस जीव पैदा होते हैं, नहीं खाना योग्य है। नीबू व आम आदिको लूणमें डालकर संधाना बनता है। जलेबी व राब आदि जिसमें खमीर उठे सो मथाणा है। इन तीनोंको खाना उचित नहीं है। कहीं२ अग्निसे पके हुए आचार व मुरबेको १४ घण्टे व कहीं कहीं १२ घण्टेके भीतर खाना योग्य है ऐसा कहा जाता है।

किसी भी फलको तोडकर खाना उचित है, क्योंकि उसके भीतर त्रस जंतु पैदा होनेकी संभावना है। चने, बादाम, सुपारी, जामफल, आम आदिके भीतर कभी २ कीडा निकल पडता है। अच्छी तरहसे देखे विना कोई फल नहीं खाना चाहिये। जो विना देखे खाते पीते हैं वे हिंसाकी परवाह नहीं करते हैं। वे हिंसामें आनन्द मानते हैं उनको मांसका दोष आता है। प्रयोजन यह है कि जिस चीजमें सन्मूर्छन त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होगई हो व होनेकी संभावना हो उस वस्तुको दयावान मांसाहार त्यागीको नहीं खाना चाहिये। शुद्ध रसोई खानपान करनेसे ही श्रावक यथार्थमें मांसके सर्व दोषोंसे वच सक्ता है।

श्लोक—मद्ये ममता भावेन, राज्यं आरूढ चिंतनं।
भाषाशुद्धि न जानाति, मद्ये वित्तस्य संचितं ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थ—(मद्ये) मद्य व्यसनके भीतर (ममताभावेन) ममताभावके द्वारा (राज्यं आरुढ़) मैं राज्य कर रहा हूं ऐसा (चिंतनं) विचार होता है (भाषाशुद्धि) भाषाकी शुद्धि (न जानाति) नहीं जानता है। (मद्ये) मद्यमें (वित्तस्य) धनका (संचितं) संचय किया जाता है।

विशेषार्थ—यहां तीसरे व्यसनका स्वरूप है। मदिरा पीना प्राणीको अचेत कर देता है। वह हित अहितको भूल जाता है, मदिरा अनेक जंतुओंके घातसे सडाकर बनती है, स्पर्श योग्य नहीं है, यह उदरमें जाकर अंग उपांगको आकुलव्याकुल कर देती है, तब मूढ प्राणी अपनी पुत्री तकको स्त्री मानके कुचेष्टा करने लग जाता है, यद्वा तद्वा बकता है, अधिक नशा चढा तो बेहोश हो पड़ जाता है। रास्तेमें मोरियोंमें पड जाता है, मानवको बावला अज्ञानी बनानेवाली यह मदिरा किसी भी तरह पीने योग्य नहीं है। सुभाषित रत्नसंदोहमें कहा है—

प्रचुरदोषकरीमिह वारुणीं पिवति यः परिगृह्य धनेन ताम् । असुहरं विषमुग्रमसौ स्फुटं पिवति मूढमतिर्जननिन्दितम् ॥ ९११ ॥
प्रचुरदोषकरीं मदिरामिति द्वितयजन्मविबाधविचक्षणम् । निखिलतत्वविवेचकमानसाः परिहरन्ति सदा गुणिनो जनाः ॥ ९१२ ॥

भावार्थ—जो कोई धन खरचकर महान दोषकारी मदिराको पीते हैं वे मूढमति अति निन्दित भयानक प्राणहारी विषका ही पान करते हैं। यह मदिरा इस जन्मको और परभवको दोनोंका विगाड करनेवाली है। तत्वके विचारमें चतुर गुणीजन इससे सदा ही बचते हैं। मदिराके पीनेकी आदतसे गरीब आदमी अपनी कमाई इसीमें खो देता है। कुटुम्बके लिये भोजन वस्त्रका भी प्रबन्ध नहीं होने पाता है। मदिरा पीनेवाला बहुतसे राज्यदंड योग्य पाप कर लेता है। उसके शरीरमें रोग भी अनेक प्रकारके होजाते हैं। मदिराका व्यसन बहुत ही बुरा है। जो विवेकी श्रावक हैं उनको मदिराके सिवाय और भी कोई वस्तु जो मनको मूढ बनादे, नशा पैदा करदे, कभी न लेनी चाहिये जैसे-गांजा, चरश, भंग, तम्बाकू, अफीम आदि। कोई भी नशा बुद्धिको विपरीत कर देता है व उसका खुमार जबतक जोरसे चढ़ा रहता है तबतक यह प्राणी अपने जीवनका समय वृथा खोता है। जो कोई वृक्षकी पत्ती आदि हो व जिसमें हिंसा न हो वह वस्तु किसी औषधके काममें तो ली जासक्ती है परंतु मद्यके रूपमें कभी न ग्रहण करना चाहिये। मदिराका सेवन तो औषधिमें भी लेना उचित नहीं है। क्योंकि यह प्राणियोंके बहुघातसे तैयार होती है। जिन औषधियोंमें मदिरा पडी हो, विचारवानको पीना योग्य नहीं है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहते हैं—

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं । विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंकमाचरति ॥ ६२ ॥

भावार्थ—मद्य मनको मोहित कर देती है, मोही चित्त धर्मको भूल जाता है। धर्मको भूला हुआ जीव निडर होकर हिंसा करने लगता है, अपना व परका घात व कष्ट प्रदान करने लगता है।

यहां ग्रन्थकर्तानें भीतरी धनादिके मद्यकी तरफ लक्ष्य देकर लिखा है कि जिसके तीव्र ममत्व संसारसे है वह भी मद्य पीनेवाला है। वह यदि राज्य करता हुआ हो तो घोर अभिमानमें होकर यही विचारता रहता है कि मैं राज्य आरूढ हूं, यदि राज्य नहीं हुआ तो राज्य स्वामी होकर अभिमान करूं, खूब स्वार्थ सिद्ध करूं, ऐसा विचारता रहता है। मदिरा पीनेवालेकी जैसे भाषा बिगडी हुई निकलती है वैसे धनादिके नशेमें चूर प्राणीकी भाषा मानसे भरी हुई कठोर निकलती है। वह

सबको छोटी दृष्टिसे देखकर निरादरके वचन कहता है। धनके मदमें प्राणी धनका ही संचय करता रहता है। उसे धनका नशा चढ़ जाता है। जितना धन होता है उतना अधिक मद होता है। वह धनको शुभ कार्यमें नहीं लगाता। मात्र मैं बडा हूं इस भावकी ही पूजा करनेमें लगा रहता है।

श्लोक—अनृतं सत्यभावं च, कार्याकार्यं न सूच्यते।
ये नरा मद्यपा होंति, संसारे भ्रमणं सदा ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थ—(ये नरा) जो मानव (मद्यपा) मदिरा पीनेवाले होते हैं या धनादिका मद करते हैं वे (अनृतं सत्यभावं) झूठ व सत्य पदार्थको (च) और (कार्याकार्यं) कर्तव्य व अकर्तव्यको (न सुच्यते) नहीं देखते हैं (संसारे) इस संसारमें (सदा) हमेशा (भ्रमणं) उनका भ्रमण होगा।

विशेषार्थ—जो मानव मदिरा पीते हैं या मदमें गृसित हैं उनकी विवेकबुद्धि नष्ट होजाती है, वे सत्य व जूठकी परीक्षा नहीं कर सक्ते हैं न यह विचारते हैं कि क्या काम करना चाहिये व क्या काम न करना चाहिये। वे स्वार्थके अंधे होकर धर्मको छोड बैठते हैं। अपना धनादि वढानेके लिये असत्य बोलते हैं, मायाचार रचते हैं, दूसरोंको ठगते हैं, अन्यायसे धन एकत्र करते हैं, अंध हो विषय-भोगोंमें धन खरचते हैं, नामवरीके भूखे रहते हैं, दूसरेसे इर्षा करके प्रचुर धन खरच करके भीतर धन रहित होते हुए भी अपना नाम करना चाहते हैं-जिन कुरीतियोंसे या व्यर्थ व्ययसे अपना बुरा या समाजका बुरा होता है उनको अभिमानवश नहीं छोड़ते हैं। हम अपने बड़ोंकी रीतिपर चलेंगे नहींतो हम छोटे होजायंगे। धन, धर्म, सुयशका नाश करके भी अंध हो व्यर्थके काम किया करते हैं। इन कठोर चित्तवालोंके भीतर दया नहीं रहती है। वे रौद्रध्यानी होजाते हैं, नर्क आयु बांधकर नर्क जाते हैं फिर संसारमें अनेक पशु आदिके दीन हीन जन्म पाकर भ्रमते रहते हैं, धर्मरत्नका मिलना कठिन होजाता है इसलिय विचारवानको न तो कोई नशा पीना चाहिये और न धनादिका मद करना चाहिये। वे सर्व पदार्थ अनित्य हैं ऐसी भावना भाना चाहिये।

श्लोक—जिन उक्तं न श्रद्धते, मिथ्यारागादि भावनं।
अनृतं ऋत जानाति, ममत्त्वं मानभूतयं ॥११५॥

अन्वयार्थ—मद्यमें फंसा हुआ अभिमानी पुरुष (जिन उक्तं) जिनेन्द्रके कहे हुए उपदेशका (न श्रद्धते) श्रद्धान नहीं करता है (मिथ्यारागादि भावनं) मिथ्यात्व व राग द्वेषकी भावना सदा किया करता है। (अनृतं) जो झूठ है कल्पित है उसे (ऋत) सच्चा (जानाति) जान लेता है (ममत्वं) ममता व (मान) अभिमानका (भूतयं) भूत उसपर चढ़ा रहता है।

विशेषार्थ—जैसे मदिरा पीनेवाला मदके नशेमें चूर होकर अपनी सुधबुध भूलकर पशुसे भी बुरा होजाता है वैसे ममता और मानका भूत जिसपर चढ़ जाता है ऐसा मोही प्राणी जिनेंद्रके उपदेशको एकतो सुनता नहीं है। यदि सुनता है तो ग्रहण नहीं करता है। यदि ग्रहण भी करता है तो इसपर विचार नहीं करता है और न उसपर अपना श्रद्धान जमाता है। मिथ्यात्वमें फँसा हुआ, संसारासक्त बना हुआ, कुदेवादिकी भक्ति किया करता है, रागद्वेष करता हुआ किसीसे अति प्रेम व किसीसे अति द्वेष कर लेता है। कषायकी पुष्टिमें लगा रहता है। जिसपर द्वेष होजाता है उसका सत्यानाश करता है, जिससे प्रेम होजाता है उसके लिये धन लुटा देता है। वह अंधा होकर कुमार्गमें चलता है। जो बात सच्ची है, कल्याणकारी है उसे तो झूठ जानता है और जो झूठी है उसे सच्ची समझ लेता है। यह संसार असार है, दुःखका घर है। यह शरीर अपवित्र है, क्षणभंगुर है। ये भोग तृष्णावर्द्धक अतृप्तिकारी हैं। ये कुटुम्बादि सब स्वारथके सगे हैं ऐसा वस्तु स्वरूप होनेपर भी यह मूढ प्राणी संसारको सुखकारी, शरीरको सदा बने रहनेवाला, भोगोंको तृप्ति देनेवाला, कुटुम्बादिको अपने सहाई व उपकारी समझ लेता है। इस तरह उल्टा मानके यह पदार्थको संचय करते हुए मान व मोहमें फंसता हुआ अपनेको और अधिक अंधबुद्धिके जालमें फंसा लेता है। धिक्कार हो मदिराको। धिक्कार हो धनादिके मदको। दोनों ही इस लोक व परलोक बिगाडनेवाले हैं, ज्ञानीको कभी भी अभिमानके नशेमें चूर न होना चाहिये।

श्लोक—शुद्ध तत्त्वं न वेदंते, अशुद्धं शुद्ध गीयते।
मद्ये ममताभावेन, मद्यदोषं तथा बुधैः ॥ ११६ ॥

अन्वयार्थ—जो कोई (शुद्ध तत्वं) शुद्ध आत्मतत्त्वको (न वेदंते) नहीं अनुभव करता है किंतु (अशुद्धं) रागादि सहित अशुद्ध आत्माको (शुद्ध गीयते) शुद्ध है ऐसा गाता है वह प्राणी (मद्ये)

मद्यके समान संसारमें (ममताभावेन) ममताभाव रूपसे वर्त रहा है। (तथा बुद्धैः) तैसे ही बुद्धिमानोंके द्वारा (मद्यदोषं) मदिराका दोष कहा गया है।

विशेषार्थ—यहांपर यह बताया है कि जो कोई निश्चय नयके द्वारा अपने आत्माको शुद्ध रागादि रहित जानकरके एकांती होजावे अर्थात् वर्तमानमें पर्याय अपेक्षा आत्माके कर्म बंध हैं, उसके राग द्वेष है, पुण्य या पापके फलका भोग है, इस बातको न मानता हो और अपने ही अशुद्ध आत्माको शुद्ध है ऐसा गाता हो, किन्तु रागादि छोडकर एकाग्र होकर आत्मध्यान करके शुद्ध आत्माको कभी अनुभवमें न लेता हो, व्यवहारमें रात दिन फंसा रहकर संसारी कार्योंमें लिप्त रहे और यह माने कि इन कार्योंसे मुझे बंध नहीं होता है–मात्र शुष्कज्ञानमें जो वास्तवमें एकांत है मिथ्यात्व है संतोष मान लेता है। आत्माकी शुद्धिका यत्न नहीं करता है वह निश्चयाभासी एकांती मिथ्यात्वी है। उसे भी एक प्रकारका मद चढ़ गया है। मैं परमात्मा रूप हूं इस मदमें लीन होकर मन, वचन, कायको स्वच्छंद वर्ताता है, प्रमादी होरहा है, भ्रममें पड़कर अशुद्धको शुद्ध मान रहा है। वास्तवमें दृष्टि दो हैं–एक द्रव्यदृष्टि, एक पर्याय दृष्टि। द्रव्य दृष्टिसे या द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यका असली स्वरूप जाना जाता है, पर्यायार्थिक नयसे उसकी अवस्थाओंका ज्ञान होता है। अपने आत्माको दोनों नयोंसे ठीकर जाने तब सम्यग्ज्ञान होगा कि यह द्रव्यके स्वभावसे तो शुद्ध है परन्तु अनादि कर्म बंधकी अपेक्षा यह अशुद्ध है। इसमें राग द्वेष मोह हैं इसको मेटकर वीतराग परिणति करनी है। ऐसा जो जानेगा वह अपनी अशुद्धता मेटनेके लिये आत्मध्यानका साधन करेगा, अशुभ भावोंसे बचेगा, शुद्ध भावोंमें रमेगा। जब शुद्ध भावोंमें न रमा जायगा तब शुभ भावोंमें रहनेका सहारा लेगा। इसतरह जो साधन करेगा वही समझदार सम्यग्दृष्टी है उसीको ही मिथ्यात्वका नशा नहीं है। परंतु जो एक पक्ष पकडकर सर्व साधन छोड़ बैठेगा वह मतवालेके समान अपने आपका बुरा करेगा। जैसे मिथ्यात्व मदका गृसित प्राणी सबको वास्तविक न जानकर औरका और जानता है वैसे ही मदिराका पीनेवाला वस्तुको औरका और जानकर दुःख उठाता है।

निश्चयका एकांत पकडनेवाला भी मतवाला है, वैसे ही व्यवहारधर्मका एकांत पकडनेवाला भी मतवाला है। दोनों ही भवमें डूबते हैं। ऐसा ही समयसारकलशामें अमृतचंद्राचार्य कहते हैं—

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यन्मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदति स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ॥
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं । ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥ १२-४ ॥

भावार्थ—जो मात्र क्रियाकांडके पक्षका ही आलम्बन लेते हुए आत्मज्ञानको नहीं अनुभव करते हैं वे संसारमें डूबते हैं तथा जो ज्ञानको चाहते हुए भी आत्मानुभवके लिये अत्यन्त मंद उद्यमी हैं व स्वच्छन्द व्यवहारमें प्रवर्तते हैं वे भी संसारमें डूबते हैं। वे ही इस संसारसे पार हो-सकेंगे जो आत्माका यथार्थ ज्ञान स्वयं रखते हुए कदाचित् क्रियाकांडमें लीन न होते हुए प्रमादके वश नहीं होते हैं-सदा आत्मानुभवके उत्साही रहते हैं। प्रयोजन यह है कि जैसे मदिरा पीना छोड़ना चाहिये वैसे एकांत मिथ्यात्वकी मदिराको भी त्यागना चाहिये।

श्लोक—जिनोक्तं शुद्धतत्वार्थं, न साधयन्त्यव्रतीव्रती ।
अज्ञानी मिथ्याममत्त्वस्य, मद्ये आरूढते सदा ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थ—(अव्रती) व्रत रहित हों या (व्रती) व्रतधारी हों जो (जिनोक्तं) जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए (शुद्धतत्वार्थं) शुद्ध आत्म पदार्थको (न साधयन्ति) नहीं साधन करते हैं वे (अज्ञानी) ज्ञान रहित हैं और (सदा) सदा ही (मिथ्याममत्त्वस्य) मिथ्यात्वकी ममतारूपी (मद्ये) मदमें (आरूढते) आरूढ़ हैं।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि कोई व्यवहार सम्यक्तको रखता हुआ सच्चे देव, शास्त्र गुरुको मानता हुआ, सात तत्वोंका श्रद्धान रखता हुआ व्रत रहित हो अथवा श्रावक या मुनिके व्रत रहित हो और शुद्ध आत्माके असली स्वरूपको पहचानता हो और न कभी शुद्धात्माका ध्यान करता हो न शुद्धात्माकी भावना भाता हो और अपनेको यह माने कि मैं सम्यक्ती हूँ, मैं चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानका धारी हूँ या मैं पंचम गुणस्थानका धारी श्रावक हूँ या मैं छठे, सातवें गुणस्थानका धारी मुनि हूं तो वह शुद्ध आत्माको अनुभव न करनेसे मिथ्याज्ञानी ही है। उसने व्यवहारको ही निश्चय मोक्षमार्ग मान लिया है। बंध कार्यको ही निर्वाणका मार्ग निश्चय कर लिया है। इसलिये वह मिथ्यात्व सहित है, परन्तु उसको यह नशा चढा है कि मैं सम्यक्ती हूं, मैं मोक्ष-मार्गी हूं, ऐसा अज्ञानी भी सदा मदिरा पीनेवालेके समान ही उन्मत्त है, असत्यको सत्य जानता हुआ उन्मत्तवत् चेष्टा कर रहा है।

श्लोक—वेश्या आसक्त आरक्तः, कुज्ञानं रमते सदा ।
नरयं यस्य सद्भावं, वेश्या तद्भावदिष्टितं ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थ—(वेश्या आसक्त) जो वेश्याके व्यसनमें (आरक्तः) लवलीन है वह (सदा) सदा (कुज्ञानं) मिथ्या ज्ञानमें (रमते) रंजायमान होता है। (यस्य) जिसको (नरयं) नरककी (सद्भावं) प्राप्ति होगी (वेश्या) वेश्या (तद्भाव) उसी नरक सम्बन्धी भावमें लीन (दिष्टितं) दिखलाई पड़ती है।

विशेषार्थ—यहां वेश्या व्यसनको कहते हैं। जो अज्ञानी विषय-लम्पटी, कामी, वेश्यासेवनकी महान खोटी आसक्ततामें फंस जाता है वह हमेशा मिथ्या सुखमें सुख जानकर भूलता है। वेश्याकी प्रीति पैसेसे होती है, जैसे नारकी अपनी नरककी अवस्थामें रमते नहीं, प्रेम नहीं करते हैं वैसे वेश्या मात्र द्रव्यका लोभ रखती है, उस द्रव्यदाता पुरुषमें प्रेम नहीं रखती है। यह समझता है कि वेश्या प्रेम करती है इसी धोखेमें यह वेश्यालम्पटी प्रचुर धन ला लाकर वेश्याको सौंप देता है। जब धन रहित होजाता है तब वेश्या तुरत निकाल देती है फिर बात भी नहीं करती है। यह मूर्ख वेश्याके जालमें फंसकर नष्ट होजाता है। वेश्याका अँग महान अशुचि स्पर्शने योग्य नहीं होता है। क्योंकि वह मांसाहारी, मद्यपायी, दुराचारी आदि पुरुषोंके साथ अधिक रमण करती है। वेश्याके अँगमें अनेक रोग भी पैदा होजाते हैं। वे रोग वेश्या प्रसंग करनेवालेके पीछे लग जाते हैं। जो वेश्या व्यसनका मोही होजाता है वह धर्म प्रीति, गृहस्थ प्रीति, लौकिक-पुरुषार्थ-साधन प्रीतिको गमा बैठता है। अपने जीवनको बेकार बना लेता है। वेश्याके पास कभी आना जाना भी व संगति भी नहीं करनी चाहिये। उसकी दृष्टि सदा धन लूटनेकी व अपने मोहमें फंसानेकी रहती है। यह व्यसन भी वेश्या लम्पटीको मांस, मद्य, परस्त्री, चोरी आदि व्यसनोंमें फंसा देता है। तीव्र लोभ जनित कृष्णादि लेश्याके वशीभूत हो वह प्राणी नरक आयु बांध लेता है और महान दुःखोंसे पूर्ण नर्क धरामें चला जाता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

तावदेव पुरुषो जनमान्यस्तावदाश्रवति चारुगुणश्रीः। तावदामनति धर्मवचांसि यावदेति न वशं गणिकायाः ॥ ६०८ ॥

मन्यते न धनसौख्यविनाशं नाभ्युपैति गुरुसज्जनवाक्यं। नेक्षते भवसमुद्रमपारं दारिकार्पितमना गतबुद्धिः ॥ ६०९ ॥

भावार्थ—जबतक वेश्याके वशमें नहीं होता है तब ही तक पुरुष माननीय होता है तब ही तक उत्तम गुणरूपी लक्ष्मी उसका आश्रय करती है तब ही तक धर्मके वचनोंको मान्य करता है। जब मन वेश्यामें फँस जाता है, तब बुद्धि चली जाती है, धनका व सुखका नाश होजाता है, गुरुजनोंके व सज्जनोंके वाक्योंको ध्यानमें नहीं लेता है और न अपार संसार-समुद्रकी तरफ देखता है कि मैं इसमें डूब रहा हूं-कैसे पार जाऊंगा। आत्मशुद्धि रूपी धर्म भावसे यह वेश्यासेवन अति दूर रखनेवाला है। बुद्धिमानोंको इससे बचकर रहना ही उचित है।

श्लोक—पारधी दुष्टसद्भावं, रौद्रध्यानं च संयुतं।
आरत ध्यान आरक्तं, पारधी दोषसंयुतं ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थ—(पारधी) शिकार खेलनेवाला (दुष्ट सद्भावं) दुष्ट भावोंको रखता है। (रौद्रध्यानं च संयुतं) व रौद्रध्यानका धारी होता है (आरत ध्यान) आर्तध्यानमें (आरक्तं) फंसा रहता है। (पारधी) शिकारी (दोष संयुतं) अनेक दोषोंका पात्र है।

विशेषार्थ—यहां आखेट व्यसनको कहते हैं-मृगया या शिकार खेलना बहुत बड़ी पापरूप हिंसा है। शिकारीके परिणाम सदा ही दुष्ट रहते हैं, वह अपने रागके कारण पशु पक्षीको ढूँढ ढूँढकर उनके पीछे दौडकर उनका घात करता है। हिंसानन्दी रौद्रध्यानमें प्रवर्तता है। जब शिकार हाथ नहीं आता है या आकरके निकल जाता है तब इष्टवियोगरूप आर्तध्यान करता है या कहीं सिंह आदिसे आक्रमण किया जाता है तो अनिष्ट संयोगमें पड जाता है। इंद्रियविषयकी लंपटतारूपी भावकी आशामें रहनेसे निदानरूप आर्तध्यान करता रहता है। शिकारी अनेक दोषोंका पात्र होता है। अपने किंचित् राग भावके कारण मृग आदि पशुओंको हननकर उनके बच्चोंको अनाथ बनाता है। शिकारी मांसाहार, वेश्या सेवन आदि व्यसनोंमें सुगमतासे फंस जाता है। हिंसानन्दी खोटे परिणामोंसे नरक गतिको बांध लेता है और दुर्गतिमें जाकर घोर कष्ट पाता है।

आत्मानुशासनमें कहते हैं—

भीतमूर्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तिका। दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा ॥ २९ ॥

भावार्थ—शिकारी जन ऐसे निर्दयी होते हैं कि जो मृगी भयभीत रहती है, जिसका कोई रक्षक नहीं है, जो कोई अपराध नहीं करती है, जिसके शरीर मात्र धन है, जो तृणको खानेवाली है ऐसी मृगीको भी मार डालते हैं तब अन्य पशुओंकी तो बात ही क्या है। एक शिकारी अपने जीवनमें हजारों पशुओंका घातक होकर घोर पापबंध करता है। किसी भी मानवको शिकारके व्यसनमें नहीं पडना चाहिये। यह व्यसन धर्मको नाश करनेवाला है।

श्लोक—मान्यते दुष्ट सद्भावं, वचनं दुष्टरतो सदा ।
चिंतनं दुष्ट आनंदं, पारधी हिंसानंदितं ॥ १२० ॥

अन्वयार्थ—(दुष्ट सदभावं) दुष्ट भावोंकी (मान्यते) जो मान्यता करता है। (सदा वचनं दुष्टरतः) जो सदा दुष्ट वचनोंमें रत है व (दुष्ट चिंतनं आनन्दं) दुष्ट चिंतवनमें आनंद मानता है सो (पारधी) पारधीके समान (हिंसा नंदितं) हिंसामें आनन्द माननेवाला है।

विशेषार्थ—जो दूसरोंके साथ दुष्टता करता है वह भी पारधीके समान है ऐसा बताते हैं। जो मानव, दुष्ट दुर्जन परका बिगाड़ करनेवाले खोटे मानवोंकी प्रतिष्ठा करता है, उनके साथ मित्रता करता है तथा जो सदा हिंसाकारी कठोर पापमय वचनोंको बोलता है, जिसके चित्तमें सदा ही दूसरेको ठगनेका, दूसरेका बुरा करनेका विचार रहता है वह हिंसानंदी मानव पारधीके समान है। जैसे शिकारी पशुओंके घातमें विचारता रहता है, उद्यमी होता है वैसे दुष्ट मानव अपने द्रव्यादिक स्वार्थवश दुष्टोंकी संगतिमें रहता है, स्वयं व उनकी सहायतासे दूसरोंको ठगनेके लिये मायाचारी, पूर्ण घातक, देखनेमें प्रिय परन्तु भीतरसे गला काटनेवाले वचनोंको कहता है। मायाचारसे ठगकर अपनी चतुराई पर बड़ा अभिमान करता है व आनन्द मानता है। कोई २ दुष्टतासे किन्हीं भोले जीवोंको किसी झूठे मुकदमेमें फंसा देते हैं और उनसे धनकी लूट करते हैं। यहां कहनेका मतलब यह है कि केवल पशुका शिकार ही मृगया नहीं है परंतु जो मानव मानवोंका शिकार करते हैं, उनको सताकर उनको विश्वास दिलाकर उनके धन धान्यको हर लेते हैं। दूसरोंका नाश करके, दूसरोंमें परस्पर मतभेद कराकर, उनको मुकद्दमा लड़ाकर अपना स्वार्थ साधते हैं वे भी शिकारके ही करनेवाले पापी हैं।

श्लोक—विश्वासी पारधी दुष्टः, मनकूटं वचकूटितं ।
कर्मना कूटकर्तव्यं, पारधी दोष संयुतं ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थ—(विश्वासी) जो दूसरेको अपना विश्वास दिलाता है ऐसा (दुष्टः) दुष्ट (पारधी) पारधीके समान ठगनेवाला है उसके (मनकूटं) मनमें मायाचार रहता है (वचन कूटितं) वचनोंमें मायाचार रहता है (कर्मना) कायकी क्रियासे (कूटकर्तव्यं) मायाचार व ठगाईके काम किया करता है। (पारधी) ऐसा शिकारी (दोषसंयुतं) महा दोषोंको रखनेवाला है।

विशेषार्थ—यहां विश्वासघाती, मायाचारी पुरुषको भी शिकारीकी उपमा दी है। शिकारी तो पशुओंको छिप छिप करके कष्ट देकर मारता है किन्तु यह विश्वासघाती जनोंको विश्वास दिलाकर ठगता है। शिकारी जैसे शिकारका चिंतवन मनमें करके हिंसानंदी रौद्रध्यान करता है वैसे यह भोले जीवोंको अपने फंदेमें फंसाकर ठगनेका सदा विचार किया करता है अतएव हिंसानंदी रौद्रध्यानमें फंसा रहता है। वचनोंमें विष भरा हुआ होता है, ऊपरसे प्यारे लगते हैं। मायाचारी वचनोंसे विश्वास दिलाकर ठगता है। तथा अपने शरीरसे ऐसी क्रियाएं करता है जिनका हेतु मायाचार है। कोई २ प्राणी परको ठगनेके अभिप्रायसे ब्राह्मण, साधु व शास्त्रीका रूप बनाकर ठगते हैं। कोई २ बाहरी जप, तप, पूजा, पाठ आदि धर्मक्रिया अपनेको धर्मात्मपनेका विश्वास जमानेके लिये करते हैं किन्तु भीतर ठगनेका भाव होता है। कुटिल मन, वचन कायकी प्रवृत्ति अतुल दोषोंको उत्पन्न करनेवाली है। अल्प क्षणिक धनादिके लिये मायाचार करके दूसरोंको ठगना वैसा ही दोषपूर्ण है जैसे मृगोंका वनमें शिकार करना।

श्लोक—जे जीवा पंथ लागंते, कुपंथं जेन दिष्टते ।
विश्वासं दोष संगानि, ते पारधी दुःखदारुणं ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (जीवा) जीवोंको (विश्वासं) विश्वास दिलाकर (पंथ) कुमार्गमें (लागंते) लगाते हैं। (जेन) जिनके द्वारा (कुपंथं) कुमार्ग (दिष्टते) दिखलाया जाता है (ते पारधी) वे पारधीके समान (दुःखदारुणं) भयानक दुःख उठाते हैं।

समान कोई जाल नहीं है। जगतमें यह बात प्रगट है कि क्रोधादि कषाय दुर्गुण हैं। जिस धर्मके आचरण करनेसे कषाय कम होनेकी अपेक्षा बढ़ जावें, राग द्वेषकी वृद्धि हो, संसारमें अधिक आसक्त होजावें, वीतराग विज्ञानमय धर्मसे बाहर रहे, हिंसामें मग्न रहें, खेल कूद लीलामें मग्न रहें, हास्य कौतूहलमें लीन रहें, जिह्वाकी लंपटता पोखे, नेत्र इंद्रियका व घ्राण इंद्रियका विषय पोखे, मनको मोहजालमें भ्रमावे या इंद्रिय भोगोंकी तृष्णा करके तप भी करे, शरीर भी सुखावे, कदाचित् जैन शास्त्रानुसार धर्म भी पाले, परन्तु शुभोपयोगको मोक्षमार्ग जानकर वर्ते। शुद्धोपयोगरूप सत्य मार्गको न जाने तो वह सब विचारे मिथ्यात्वकी कीचमें फंसकर संसार-सागरमें गोते ही खाते रहेंगे, पुनः पुनः जन्म मरण करेंगे, संसार तारक मार्गका मिलना दुर्लभ होजायगा। अतएव अधर्मसे बचना उचित है तथा अधर्मका उपदेश देना शिकारीसे भी कोटिगुणा पापका संचय करना है। इस पारधीपनसे बचना योग्य है।

श्लोक—मुक्ति पंथं तत्वसार्द्धं च, मूढलोकै न लोकितं।
पंथभृष्टं अचेतस्य, विश्वासं जन्म जन्मयं ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थ—(मूढलोकैः) अज्ञानी लोगोंके द्वारा (तत्वसार्द्धं च) तत्व सहित (मुक्तिपंथं) मोक्षका मार्ग (न लोकितं) नहीं देखा जाता है। वे (पंथभृष्टं) मार्गसे विपरीत (अचेतस्य) अज्ञानमई धर्मका (विश्वासं) विश्वास (जन्म जन्मयं) जन्म जन्ममें करते रहते हैं

विशेषार्थ—मोक्षका मार्ग तो आत्मतत्वकी यथार्थ प्रतीति सहित, ज्ञान सहित व चारित्र सहित है। वह तो अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्माकी एक शुद्ध परिणति विशेष है। संकल्प विकल्पसे रहित मात्र अनुभव गोचर है। इस परमानंदमय सच्चे मोक्षमार्गका जिनको ज्ञान व श्रद्धान नहीं होने पाता है, वे अज्ञानमई मिथ्या मार्गका विश्वास करके ठगे जाते हैं। मिथ्यात्वके विषको पीते हुए उससे ऐसे मूर्छित होजाते हैं कि अज्ञानमय पर्यायोंको–निगोद कीसी अवस्थाओंको, एकेन्द्रियादिमें जन्मको पुनः पुनः धारण करते हैं। उनको पंचेन्द्रिय सैनीकी पर्याय मिलना अतिशय कठिन होजाता है। कदाचित् पाले भी हैं तो उत्तम क्षेत्रमें धर्मका संयोग मिलना कठिन होजाता है। वे जन्म जन्ममें अज्ञान मिथ्यात्वके वशीभूत होते हुए वचनातीत कष्टको पाते हैं, पर्यायबुद्धि रहकर विषयसुखकी

तृष्णामें ही तड़फड़ाते रहते हैं-चाहकी दाहमें ही जलते रहते हैं-उनको सत्य धर्मका लाभ होना बहुत ही दुर्लभ होजाता है। इसी लिये सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

करोति दोषं न तमत्र केशरी न दन्दशूको न करी न भूमिपः। अतीव रुष्टो न च शत्रुरुद्धतो यमुग्रमिथ्यात्वरिपुः शरीरिणां ॥१४१॥

भावार्थ—इस जगतमें अति भयानक मिथ्यात्वरूपी शत्रु शरीरधारी प्राणियोंको जैसा दुःख देता है व जैसा बुरा करता है वैसा बुरा तो अतिशय क्रोधमें आया हुआ न तो सिंह करता है न नाग करता है, न हाथी करता है, न राजा करता है और न कोई दुष्ट शत्रु ही करता है। मिथ्यात्वके समान कोई शत्रु नहीं है जो अनेक जन्मोंमें कष्टप्रद होता हो।

श्लोक—पारधी पासि जन्मस्य, अधर्म पासि अनंतयं।
जन्म जन्मं च दुष्टं च, प्रापितं दुःखदारुणं ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थ—(पारधी) शिकारी तो (जन्मस्य पासि) एक जन्मकी ही फांसी है किन्तु (अधर्म) मिथ्याधर्म (अनंतयं) अनंत जन्मोंकी (पासि) फांसी है। इसके कारण (दुष्टं च) महान दोषपूर्ण (जन्म जन्म च) जन्म जन्ममें (दुःखदारुणं) भयानक दुःख (प्रापितं) प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—यदि कोई शिकारी अपना जाल डाले तो उसमें पक्षी या पशु फंस जावे या मरकर प्राण गमावें, ऐसा शिकारीका जाल प्राणीको एक जन्ममें ही दुःख देता है। परन्तु कुगुरु द्वारा या मिथ्या उपदेशक द्वारा दिखाया हुआ अधर्मका जाल ऐसा दोषप्रद है कि जिससे अनन्त जन्मोंमें खोटे खोटे अशुभ भव प्राप्त होते हैं। उनमें जो जो दुःख प्राप्त होते हैं उनका वर्णन मुखसे हो नहीं सक्ता है। इससे विवेकवान प्राणीको उचित है कि धर्मको परीक्षा करके ग्रहण करे या किसी परीक्षावान विश्वासपात्रकी आज्ञानुसार धर्मको पाले। जिससे संसारसमुद्रसे तिरना होसके वही तीर्थ है, वही धर्म है। वह धर्मरूपी जहाज रागद्वेषरूपी छिद्रोंसे रहित होना चाहिये। पूर्ण वीतरागतारूपी अभेद्यपना उसमें होना चाहिये तब ही तो वह जहाज मोक्षद्वीपमें लेजायगा। राग द्वेषके छिद्र सहित धर्मरूपी जहाज स्वयं डूबेगा व उसपर जानेवालोंको भी डुबोएगा। जहां वीतरागता है, अहिंसा है, आत्मानुभव है वहीं धर्म है। इसकी पोषक सब क्रियाएं धर्म हैं। राग द्वेष पोषक सब क्रियाएं अधर्म हैं, ज्ञानी ऐसा मानता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है—

विरागसर्वज्ञपदाम्बुजद्वये यती निरस्ताखिलसंगसगतौ । वृषे च हिंसारहिते महाफले करोति हर्षं जिनवाक्यभावितः ॥१५८॥

भावार्थ—जिनेन्द्रके वाक्योंको माननेवाला वीतराग सर्वज्ञ भगवानके चरणकमलोंमें आनन्द सहित भक्ति करता है, सर्व परिग्रहकी संगतिसे रहित गुरुके चरणोंमें नमन करता है, महा फलदाई अहिंसा धर्ममें हर्ष मानता है, इनके विपरीत जो कुछ है वह संसारमें निगोद नरकादि पर्यायोंमें पटकनेवाला अधर्म है, ऐसा मानता है।

श्लोक—जिन लिंगी तत्त्व वेदंते, शुद्ध तत्व प्रकाशकं ।
कुलिंगी तत्त्व लोपंते, परपंचं धर्म उच्यते ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थ—(जिन लिंगी) जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार जिनके भेषके धारी भावलिंग सहित निर्ग्रंथ द्रव्यलिंग धारी गुरु (शुद्ध तत्व प्रकाशकं तत्त्व) शुद्ध आत्माके स्वरूपको प्रकाश करनेवाले तत्वको (वेदंते) अनुभवमें लेते हैं ।(कुलिंगी) जो जिनाज्ञा विरुद्ध भावलिंग रहित द्रव्यलिंग धारी हैं वे (तत्त्व) तत्वको (लोपंते) छिपा देते हैं (परपंचं) बाहरी प्रपंचरूप क्रियाकांडको (धर्म) धर्म (उच्यते) कहते हैं ।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें मुख्यतासे द्रव्यलिंगी द्वारा दिखाए हुए मात्र व्यवहार धर्मका निषेध किया है। जो निर्ग्रंथ गुरु व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंसे जीवादि तत्वोंको जानते हैं तथा उपादेय रूप ध्यान करने योग्य एक अपने निर्विकल्प वीतराग आत्मसमाधिरूप भावको ही मानते हैं वे स्वयं भी शुद्धात्माके अनुभवसे आत्मानन्द पाते हैं व दूसरोंको भी इसी हेतुसे धर्मका उपदेश देते हैं। जो भव्यजीव ऐसे आत्मज्ञानी गुरुओंके द्वारा धर्मका लाभ करते हैं वे अपना कल्याण कर लेते हैं। जो आत्म तत्वको न पहचाननेवाले द्रव्यलिंगी मात्र हैं, बाहरी भेष तो साधुका है परन्तु भीतर मोक्ष साधक नहीं हैं, शुभ क्रियाकांडको ही मोक्षमार्ग मानते हैं उसीपर बडी दृढतासे चलते हैं, कभी शुद्ध आत्म तत्वपर लक्ष्य नहीं देते हैं, उनका उपदेश भी तत्वको लोपनेवाला होता है, वे व्यवहार प्रपंच क्रिया आचरणको ही एकांतसे मोक्षमार्ग उपदेश कर देते हैं, निश्चय नयका उपदेश ही नहीं देते हैं, आत्माकी तरफ लक्ष्य ही नहीं कराते हैं। उनके उपदेशसे अनेक प्राणी भी व्यहार धर्ममें ही अंध हो चलने लगते हैं, वे कभी भी निश्चय सम्यक्तको न पाते हुए संसारहीमें रुलेंगे।

विशेषार्थ—यहांपर ग्रन्थकर्ताने मिथ्या उपदेशकोंके ऊपर लक्ष्य दिया है। जगतमें मिथ्या मार्गके प्रचारक भी पारधीके समान हैं। जो प्राणियोंको सुख पानेका व पुण्य कमानेका विश्वास दिलाते हैं और वीतराग विज्ञानमय मार्गसे छुडाकर रागद्वेष पूर्ण कुमार्गमें लगा देते हैं, मिथ्या देवोंकी आराधनामें, पशु बलिमें, शृँगार रसमें फँसा देते हैं। तथा जो द्यूत रमण आदि व्यसनोंमें फँसा देते हैं। लाखों ही प्राणी मोक्षमार्गसे विरुद्ध उपदेशके द्वारा कुमार्गमें अपनी श्रद्धा करके अधर्ममें धर्म मानकर अपना अहित करते हैं। बहुतसे कुगुरु साक्षात् जानते हैं कि रागद्वेष वर्द्धक मार्ग कुमार्ग है फिर भी वे अपना स्वार्थ साधनके लिये, भक्तोंसे धन लेनेके लिये, अपने विषयोंकी कामनाकी तृप्तिके लिये कुमार्गका उपदेश देकर पत्थरकी नौकाका सा काम करते हैं। वे आप भी संसारमें डूबते हैं और औरोंको भी डुबाते हैं। धनकी तृष्णा मानवोंको अंध बना देती है। इसके लिये मानव क्या क्या कुकर्म नहीं करता है। जो ऐसा कुमार्ग चलाते हैं वे घोर पापका बंध करते हैं। अपना संसार अनन्त काल तक दृढ करते हैं। वे निगोदमें, कीटादि विकलत्रयोंमें, दीनहीन पशु पर्यायोंमें, दीन मानवोंमें, नर्कमें वारवार उपज कर कष्ट भोगते हैं और अज्ञान व तृष्णामें पडे हुए रात दिन चाहकी दाहमें दहते रहते हैं।

श्लोक—संसार पारधि विश्वासं, जन्ममरणं च प्राप्यते ।
जे जीव अधर्म विश्वासं, ते पारधी जन्म जन्मयं ॥१२३॥

अन्वयार्थ—(संसार पारधि) लौकिक शिकारीका (विश्वासं) विश्वास करनेसे (जन्म मरणं च) इस एक जन्ममें ही मरण (प्राप्यते) होता है। (जे जीव) जो जीव (अधर्म पारधी) मिथ्या धर्मरूपी पारधीका (विश्वासं) विश्वास करते हैं (ते) वे जीव (जन्म जन्मयं) अनेक जन्मोंमें मरण करते हैं।

विशेषार्थ—जो पशु या पक्षी पारधी द्वारा बिछाए हुए जालमें हमें सुख मिलेगा ऐसा विश्वास करके आते हैं और फिर अपने प्राण गमाते हैं। यह शिकारी तो एक ही जन्ममें मारता है परन्तु जो मूढ प्राणी अधर्मको धर्म मानकर उसकी सेवा करते हैं उनको मिथ्यात्व कर्मका ऐसा बंध होता है कि जिसका छूटना कठिन होता है। वे पुनः पुनः दुर्गतिमें पड़कर अशुभ कष्टदायक जन्म धारते हैं और मरते हैं। जो कुगुरु मिथ्या धर्मका उपदेश देते हैं वे बड़े भारी निर्दयी पारधी हैं। मिथ्यात्वके

समान कोई जाल नहीं है। जगतमें यह बात प्रगट है कि क्रोधादि कषाय दुर्गुण हैं। जिस धर्मके आचरण करनेसे कषाय कम होनेकी अपेक्षा बढ़ जावें, राग द्वेषकी वृद्धि हो, संसारमें अधिक आसक्त होजावें, वीतराग विज्ञानमय धर्मसे बाहर रहे, हिंसामें मग्न रहें, खेल कूद लीलामें मग्न रहें, हास्य कौतूहलमें लीन रहें, जिह्वाकी लंपटता पोखे, नेत्र इंद्रियका व घ्राण इंद्रियका विषय पोखे, मनको मोहजालमें भ्रमावे या इंद्रिय भोगोंकी तृष्णा करके तप भी करे, शरीर भी सुखावे, कदाचित् जैन शास्त्रानुसार धर्म भी पाले, परन्तु शुभोपयोगको मोक्षमार्ग जानकर वर्ते। शुद्धोपयोगरूप सत्य मार्गको न जाने तौ वह सब विचारे मिथ्यात्वकी कीचमें फंसकर संसार-सागरमें गोते ही खाते रहेंगे, पुनः पुनः जन्म मरण करेंगे, संसार तारक मार्गका मिलना दुर्लभ होजायगा। अतएव अधर्मसे बचना उचित है तथा अधर्मका उपदेश देना शिकारीसे भी कोटिगुणा पापका संचय करना है। इस पारधीपनसे बचना योग्य है।

श्लोक—मुक्ति पंथं तत्वसार्द्धं च, मूढलोकै न लोकितं।
पंथभृष्टं अचेतस्य, विश्वासं जन्म जन्मयं ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थ—(मूढलोकैः) अज्ञानी लोगोंके द्वारा (तत्वसार्द्धं च) तत्व सहित (मुक्तिपंथं) मोक्षका मार्ग (न लोकितं) नहीं देखा जाता है। वे (पंथभृष्टं) मार्गसे विपरीत (अचेतस्य) अज्ञानमई धर्मका (विश्वासं) विश्वास (जन्म जन्मयं) जन्म जन्ममें करते रहते हैं

विशेषार्थ—मोक्षका मार्ग तो आत्मतत्वकी यथार्थ प्रतीति सहित, ज्ञान सहित व चारित्र सहित है। वह तो अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्माकी एक शुद्ध परिणति विशेष है। संकल्प विकल्पसे रहित मात्र अनुभव गोचर है। इस परमानंदमय सच्चे मोक्षमार्गका जिनको ज्ञान व श्रद्धान नहीं होने पाता है, वे अज्ञानमई मिथ्या मार्गका विश्वास करके ठगे जाते हैं। मिथ्यात्वके विषको पीते हुए उससे ऐसे मूर्छित होजाते हैं कि अज्ञानमय पर्यायोंको–निगोद कीसी अवस्थाओंको, एकेन्द्रियादिमें जन्मको पुनः पुनः धारण करते हैं। उनको पंचेन्द्रिय सैनीकी पर्याय मिलना अतिशय कठिन होजाता है। कदाचित् पाते भी हैं तो उत्तम क्षेत्रमें धर्मका संयोग मिलना कठिन होजाता है। वे जन्म जन्ममें अज्ञान मिथ्यात्वके वशीभूत होते हुए वचनातीत कष्टको पाते हैं, पर्यायबुद्धि रहकर विषयसुखकी

श्लोक—ते लिंगी मूढदृष्टी च, कुलिंगी विश्वासं कृतं ।
दुर्बुद्धि पासि बंधंते, संसारे दुःखदारुणं ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थ—(ते लिंगी) वे भेषधारी (मूढदृष्टी च) जो मिथ्यादृष्टी हैं (कुलिंगी) कुलिंगी हैं। (दुर्बुद्धि) बुद्धि रहित प्राणी (विश्वासं कृतं) उनका विश्वास करके (पासि) जालमें (बंधंते) बंध जाते हैं और (संसारे) इस संसारमें (दुःखदारुणं) भयानक दुःख उठाते हैं।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि जिन किन्हीं भेषधारियोंको चाहे वह जैन भेष हो या अजैन भेष हो सम्यग्दर्शन नहीं है-मिथ्यादर्शन है, वे सब कुलिंगी हैं। यद्यपि भाव सम्यग्दर्शन रहित मात्र व्यवहार सम्यक्तवीको भी द्रव्यलिंगी कहा है तथापि जिसके व्यवहार सम्यक्त है वह जीवादि तत्वोंका देव गुरु शास्त्रका स्वरूप अन्यथा प्ररूपण नहीं करता है। उसको मात्र अनुभव नहीं है इसलिये स्वानुभव पूर्ण उसका कथन नहीं होता है। परन्तु आगमसे विरुद्ध वह कुछ नहीं कहता है। इसलिये उनको छोडकर जो अपनेको जैन साधु व अजैन साधु मानकरके व्यवहार तत्वोंका उपदेश औरका और देते हैं, सर्वज्ञके आगमके प्रतिकूल कहते हैं, उनका उपदेश वीतराग मार्गका पोषक न होनेसे विश्वास करने योग्य नहीं होता है। परंतु रागी पुरुषोंको यही सुहाता है कि रागकी पुष्टि हो और धर्मका नाम भी होजावे इसलिये ऐसे मूढबुद्धि लोग रागवर्द्धक धर्मको भ्रमसे अपना हितकारी समझकर उसीपर विश्वास कर लेते हैं। बस, वे अधर्मके जालमें बंध जाते हैं और संसारमें गहन कष्ट पाते हैं।

श्लोक—पारधीपासिमुक्तस्य, जिन उक्तं सार्थं ध्रुवं ।
शुद्धतत्वं च सार्द्धं च, अप्प सद्भाव चिन्हितं ॥१२८॥

अन्वयार्थ—जो कोई (जिन उक्तं) जिनेन्द्र कथित (ध्रुवं) अविनाशी (सार्थं) पदार्थोंको (अप्प सद्भाव चिह्नितं) आत्माकी सत्तासे लक्षण मय (शुद्धतत्वं च सार्द्धं च) शुद्ध तत्व सहित श्रद्धान करता है वह (पारधीपासिमुक्तस्य) पारधी जो अधर्म है या अधर्म उपदेष्टा साधु है उसके जालसे मुक्त होजाता है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि अनादि कालसे फंसे हुए अगृहीत मिथ्यात्वके जालमेंसे व

सादिकालसे फंसे हुए गृहीत मिथ्यात्वके जालमेंसे निकलनेका उपाय क्या है। वह उपाय एक स्याद्वाद नयसे अनेकांत स्वरूप बतानेवाली जिनवाणीकी शरण है। इस जिनवाणीके मूल उपदेशक आप्त श्री अरहंत भगवान हैं जिन्होंने इस लोकमें ध्रुव रूपसे पाए जानेवाले छः छः द्रव्योंका स्वरूप बताया है व जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा काल इन छः द्रव्योंसे लोक भरा है। जिनवाणीने यह भी बताया है कि जीव और अजीवकी प्रवाह रूप अनादिकी व मिलते बिछुडनेकी अपेक्षा सादि संगतिके कारण जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्व और पुण्य तथा पाप मिलाकर नौ पदार्थ बन जाते हैं। जो कोई इन छः द्रव्य व सात तत्व व नौ पदार्थोंका भलेप्रकार श्रद्धान करता है, साथमें अपने शुद्ध आत्म तत्वका भी श्रद्धान करता है जिसमें ज्ञान चेतना लक्षण झलक रहा है, ऐसा सम्यक्ती जीव, आत्मानंदका रसिक वीतरागताका प्रेमी अधर्मके जालसे छूट जाता है। सम्यग्ज्ञानकी अपूर्व महिमा है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है—

यथा यथा ज्ञानबलेन जीवो जानाति तत्त्वं जिननाथदृष्टं। तथा तथा धर्ममतिप्रसक्तः प्रजायते पापविनाशशक्तः ॥ १९० ॥

भावार्थ—जैसे जैसे ज्ञानके बलसे यह जीव जिनेन्द्र कथित तत्वको जानता जाता है तैसे तैसे पापके विनाशकी शक्ति होती जाती है और धर्ममें बुद्धि आसक्त होती जाती है। जिनवाणीका अभ्यास व मनन परम शरण है।

श्लोक—स्तेयं अनर्थमूलं च, विटंबं असुह उच्यते।
संसारे दुःखसद्भावं, स्तेयं दुर्गतिभाजनं ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थ—(स्तेयं) चोरी (अनर्थमूलं च) आपत्तिका मूल है (विटंब) आकुलतारूप (असुहं) अशुभ काम (उच्यते) कहा जाता है। इससे (संसारे) इस लोकमें (दुःखसद्भावं) दुःखोंकी प्राप्ति होती है तथा यह (स्तेयं) चोरीका व्यसन (दुर्गतिभाजनं) दुर्गतिमें पटकनेवाला है।

विशेषार्थ—अब यहां छठे व्यसन चोरीके सम्बन्धमें कहते हैं। यह चोरी महा भारी पाप है। यह घोर हिंसानंदी विचार है। परके प्राणोंको हरनेके समान दूसरेके धनादिको हरना है। चोरोंके

भावोंमें सदा ही आकुलता रहती है, वे भयभीत रहते हैं, वे सुखकी नींद नहीं सो सक्ते, धर्म कर्म तो उनसे दूर भाग जाता है, वे इस जगतमें राजा द्वारा तीव्र कष्ट पाते हैं, अशुभ परिणामोंसे कुगतिका बंध कर नरकके कष्टमय गतिके पात्र होते हैं। चोरीकी आदत एक पलकी भी अच्छी नहीं। जैसे मदिरा पीनेकी आदत पड जाती है तो वह बढती जाती है छूटना कठिन होजाता है उसी तरह चोरीकी आदत बढती चली जाती है, छूटना कठिन होजाता है। चोर स्वयं दुःखमें रहता है और हजारोंके परिणामोंको भय और दुःखोंके उत्पन्न करनेका कारण होजाता है। जो इस व्यसनमें फंस जाता है वह मानवजन्मको शीघ्र ही खो देता है, जगतमें महान अपयशका पात्र होजाता है। कुछ भी परोपकार व जगतहित नहीं कर सक्ता है। शुद्ध आत्मिकतत्वका ज्ञान तो उसकी मलीन बुद्धिमें अतिशय कठिन होजाता है, वह तीव्र विषयभोगोंका लोभी होजाता है। इस घोर लोभसे घोर पापकर्म बांधता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

दुःखानि यानि नरकेष्वतिदुःसहानि। तिर्यक्षु यानि मनुजेष्वमरेषु यानि।
सर्वाणि तानि मनुजस्य भवन्ति लोभादित्याकलय्य विनिहन्ति तमत्र धन्यः॥ ८०॥

भावार्थ—जो जो असहनीय दुःख नरकोंमें होते हैं व जो २ भारी कष्ट तिर्यंच योनिमें नर भवमें या देवगतिमें होते हैं वे सब इस मानवको लोभसे होते हैं। ऐसा जानकर जो लोभको नाश करता है वही धन्य है। चोरीका व्यसन महान लोभको बढ़ानेवाला है ऐसा जानकर इसके पास भी नहीं जाना चाहिये। चोरोंकी संगतिसे बचकर रहना चाहिये। न्यायका प्राप्त किया हुआ धन ही परिणामोंको निर्मल रखता है, अन्यायका धन महान अनर्थकारी होता है।

श्लोक—मनस्य चिंतनं कृत्वा—स्तेयं दुर्गति भावना।
कृतं अशुद्ध कर्मस्य—कूटभावरतो सदा॥ १३०॥

अन्वयार्थ—(मनस्य) मनके द्वारा (स्तेयं) चोरीका (चिंतनं कृत्वा) चिंतवन करनेसे (दुर्गतिभावना) दुर्गतिकी भावना हुआ करती है। जो (अशुद्ध कर्मस्य) इस मैले कामको (कृतं) करते हैं वे (सदा) हमेशा (कूटभावरतः) मायाचारीके भावोंमें फंसे रहते हैं।

विशेषार्थ—चोरी ऐसा बुरा पाप है कि जो मनमें चोरी करनेका विचार भी किया जाय, तो चौर्यानंद रौद्र ध्यानका भागी होकर नर्कायुके बंध होने लायक भावनाको करनेवाला होजाता है। जिसका विचार भी बुरा है उस चोरीके दुःखदायक अशुचि काममें जो प्रवृत्ति करते हैं वे तो निरंतर मायाचारीके कुभावोंमें लीन रहते हैं, कपटके जाल बिछाए विना चोरी नहीं होसक्ती है। चोरी महा अनर्थका मूल है। मायाचार और लोभ कषायोंके फंदोंमें उसका मन रात दिन लटका रहता है। वह सुखसे न खाता है न पीता है न शयन करता है, उसके परिणामोमें सदा ही आकुलता बनी रहती है। किसीको विश्वास दिलाकर उसके मालको हर लेना यह भी चोरी है। भोले भाई बहनोंको फुसलाकर उनका माल छीन लेना भी चोरी है। भय दिखाकर माल लेलेना, डाका डालना-गिरी पडी भूली वस्तुको उठा लेना आदि चोरी है। भीख मांगकर पेट भर लेना अच्छा है परन्तु चोरी कभी नहीं करनी चाहिये।

श्लोक—स्तेयं अदत्तं चिंतेय-वचनं अशुद्धं सदा।
हीन कृत कूटभावस्य-स्तेयं दुर्गतिकारणं ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थ—(स्तेयं) चोरी व्यसनमें फंसा हुआ जीव (अदत्तं) विना दी हुई वस्तुको लेना (चिंतेय) चाहता है। (सदा) निरंतर (अशुद्धं वचनं) मायाचारीसे पूर्ण मलीन वचनोंको कहता है (कूटभावस्य) मायाचारीके भावोंसे (हीन कृत) नीच काम परधन हरण आदि किया करता है ऐसा यह (स्तेयं) चोरीका व्यसन (दुर्गतिकारणं) दुर्गतिका कारण है।

विशेषार्थ—यह चोरीका व्यसन मन वचन काय तीनोंकी प्रवृत्तिको महान मायाचारीसे पूर्ण बना देता है। जैसे मार्जार मूषककी चिंतामें नित्य रहता है वैसे यह चोरीका करनेवाला दूसरेके मालको किसतरह अपना करूं-किसतरह हरूं इस चिंतामें विचार करता हुआ पापका बंध किया करता है। क्योंकि परिणामोंके अनुसार बंध होता है। तथा जब उसकी भावना चोरीकी रहती है तब वह अपने वचनोंसे दूसरोंको विश्वास दिलाकर उनका माल किसतरह हाथ लगे ऐसे मायाचारपूर्ण वचनोंको कहता है। उसकी कायाकी प्रवृत्ति भी हीन होती है। चोरी करनेके सिवाय वह

वेश्यासक्त, परस्त्री व्यसन, मदिरापान, आदि अशुभ कामोंमें फंसा रहता है। चोरका जीवन उसकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा महान अशुभ नारकी समान होजाता है। वह घोर पापका बंध करके दुर्गति जाता है।

श्लोक—स्तेयं दुष्टप्रोक्तं च, जिनवचनं विलोपितं ।
अर्थं अनर्थ उत्पादी, स्तेयं व्रतखंडनं ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थ—(दुष्टप्रोक्तं च) दुःखकारी हितकारी वचनोंका कहना भी (स्तेयं) चोरी है। (जिनवचनं विलोपितं) जिनेंद्रके वचनोंका लोप करना भी चोरी है (अर्थं अनर्थं) अर्थका अनर्थ (उत्पादी) करना भी चोरी है। (व्रतखण्डनं) व्रतोंका खण्डन करना भी (स्तेयं) चोरी है।

विशेषार्थ—यहांपर ग्रंथकर्ताने चोरीका दोष जिन २ बातोंमें आता है उनका यहां खुलासा किया है। ऐसे वचनोंका कहना जो दुष्टता लिये हुए हों, दूसरेका बिगाड़ करनेवाले हों, विश्वास दिलाकर घात करनेवाले हों, हिंसा, मृषा व चोरीसे गर्भित हों वे सब वचन स्तेयमें इसलिये आते हैं कि उनमें दूसरेके हितका नाश करनेका गूढ अभिप्राय छिपा होता है। शास्त्रका उपदेश करते हुए जिन आज्ञाको उल्लंघन करके जो कथन जिन शास्त्रोंमें नहीं है इसको प्रगट करके कहना कि जिन शास्त्रमें है अथवा शास्त्रके मन्तव्यको उल्टा समझाना, कमती बढ़ती बताना, इस तरह जान बूझकर अपना कोई पक्ष पुष्ट करनेको व स्वार्थके साधन करनेको जिन वचनको लोपकर व छिपाकर कहना सो भी चोरी है। क्योंकि यह जिनकी आज्ञाका उल्लंघन किया गया है। जो शब्दोंका अर्थ प्रकरणमें होना चाहिये उसको छिपाकर कुछका कुछ अर्थ किसी स्वार्थवश कर देना यह भी भावको छिपाना है, इसलिये चोरी है। अथवा किसी कार्यको बिगाड़ देना, कोई धर्मकार्य अति लाभकारी होता हो उसको अपने वचनोंसे वा अपनी कृतिसे न होने देना अर्थका अनर्थ करना है इसलिये यह भी चोरी है। जो व्रत या प्रतिज्ञा या नियम लिया हो उसको तोड डालना, जान बूझकर उसमें दोष लगाना, अपनी कही हुई बातका उल्लंघन कर डालना यह भी चोरी है। इस तरह जो चोरीके दोषोंसे बचना चाहें उनको जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार कहना, चलना व व्रत नियम सत्यतासे पालना चाहिये। व ऐसा वचन न कहना चाहिये जिससे दूसरेकी हानि होजाय। सरल सत्य व न्याय रूप

व्यवहार करना, लेन देनमें साफ रहना, मनमें भी किसीको कष्ट देनेका विचार न करना, एक पाई भी किसीकी हरनेका भाव न करना, तब ही चोरीके दोषसे बचा जासकेगा।

श्लोक—सर्वज्ञमुख वाणी च, शुद्ध तत्वं समाचरतु।
जिन उक्तं लोपनं कृत्वा, स्तेयं दुर्गतिभाजनं ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(सर्वज्ञ) सर्वज्ञ वीतराग अरहंत भगवानके (मुख) मुखारविंदसे प्रगट (वाणी च) वाणीके अनुसार (शुद्ध तत्वं) शुद्ध आत्मीक तत्वका (समाचरतु) अनुभव करो। (जिन उक्तं) जिनेन्द्रके कहे वचनको (लोपनं कृत्वा) जो न माना जायगा तो (स्तेयं) चोरी है सो चोरी (दुर्गति भाजनं) दुर्गतिमें पटकनेवाली है।

विशेषार्थ—यहांपर यह बताया है कि श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान ही यथार्थ तत्वोंके वक्ता आप्त हैं। इनकी परम्परासे चले आए हुए आगमके अनुसार जीव अजीव तत्वका भेद समझना चाहिये। प्रभुने बताया है कि यह संसारी जीव पुद्गल कर्मके साथ अनादिसे दूध पानीकी तरह मिले हुए चले आरहे हैं। जितनी विभाव परिणतियें होती हैं वे सब कर्मकृत विकार हैं। यदि कर्मका सम्बन्ध न हो तो आत्मामें राग, द्वेष, मोह आदि न प्रगटे। आत्माका स्वरूप यदि निश्चयनयसे विचारा जाय तो परम शुद्ध है, वीतराग है, ज्ञान, दर्शनमय ज्योति स्वरूप है, अखण्ड है, अमूर्तीक है। इस तरह भेदज्ञान सर्वज्ञके कथनानुसार प्राप्त करके अजीवसे मोह छोडकर सर्व पर पदार्थोंसे वृत्तिको निरोध कर, पांच इंद्रिय और मनके विषयोंको छोडकर, समताभाव लाकर, निश्चल हो शुद्ध आत्माको ध्याना चाहिये। जैसे प्राचीन कालमें श्री महावीर भगवानने, गौतमस्वामीने, सुधर्माचार्यने, जम्बूस्वामीने ध्याया था व श्री भद्रबाहु श्रुतकेवलीने व श्री कुंदकुंदाचार्यने भाया था। उसी तरह उस शुद्ध आत्मतत्वको सरल भावसे ध्याना चाहिये। जो कोई इस शुद्ध आत्मध्यानमय मोक्षमार्गका उपदेश न देकर मात्र व्यवहार धर्मका ही उपदेश देते हैं व आप भी व्यवहार क्रियाकांडमें मगन रहते हैं व दूसरोंको भी इसीमें लगाते हैं, इसीसे मोक्ष होगी, यही बुद्धि स्वयं रखते हैं व दूसरोंको कराते हैं वे भूले हुए हैं, जिनकी आज्ञाका लोप कर रहे हैं। अतएव चोरीके दोषके

भागी हैं, जिनेंद्रका मुख्य उपदेश शुद्धात्मानुभव है, इसीको लोप कर देना बड़ा भारी दोष है, जीवोंको सम्यक्त होनेका कारण ही यह यथार्थ उपदेश है। केवल पुण्य बंध संसार भ्रमणका ही कारण है। द्रव्यलिंगी साधु शुद्ध आत्मतत्वके अनुभवको न पाते हुए पुण्य बांध स्वर्ग चले जाते हैं फिर वहांसे आकर पशु पर्यायमें भ्रमण करते हैं। संसारसे पार करनेवाला एक सम्यग्दर्शन है, उसके विना सर्व क्रिया व सर्व ज्ञान संसारका ही कारण है, निश्चय सम्यग्दर्शनका छिपाना घोर पाप है, चोरी है, इससे भी बचना योग्य है।

श्लोक—दर्शन ज्ञान चारित्रं, अमूर्तं ज्ञानसंयुतं।
शुद्धात्मानं तु लोपंते, स्तेयं दुर्गतिभाजनं ॥१२४॥

अन्वयार्थ—जो कोई (दर्शन ज्ञान चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमई (अमूर्तं) अमूर्तीक (ज्ञानसंयुतं) ज्ञानमई (शुद्धात्मानं) शुद्ध आत्माको (तु लोपंते) तो नहीं जानते हैं। परन्तु उसके सिवाय किसी धर्मको पालते हैं वे (स्तेयं) चोरीके भागी हैं (दुर्गतिभाजनं) उनका मोक्षसे विपरीत संसारमें ही भ्रमण होगा।

विशेषार्थ—यहां फिर बताया है कि जिस धर्मके स्वरूपमें निश्चय धर्मका लोप किया हो मात्र व्यवहार धर्मका ही प्ररूपण हो, वहांपर भी चोरीका दोष आता है। क्योंकि असली धर्म निश्चयधर्म है, यही मोक्षका साक्षात् कारण है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चयनयसे एक शुद्ध आत्मा स्वरूप है। ये तीनों ही आत्माके गुण हैं, आत्मासे अभेद हैं। शुद्ध आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित अमूर्तीक है तथा ज्ञानाकार है, क्योंकि वह एक अखण्ड पदार्थ है, वह जैसा शरीर होता है उस आकारमें व्याप जाता है, विना आकारके कोई वस्तु नहीं होसकी है। वह मूर्तीक जड आकारसे शून्य है। उसका आकार हम अल्पज्ञानियोंके ध्यानमें नहीं आसक्ता है। वह अमूर्तीक अनन्त गुणोंका पुंज है। इनमें ज्ञान सर्वत्र व्यापक है इसलिये उसको ज्ञानाकार कहते हैं। द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, भाव कर्म रागद्वेषादि, नोकर्म शरीरादि, इन सबसे रहित स्वसंवेदन गम्य वह एक अद्भुत पदार्थ है। जहां पांच इंद्रिय और मनसे उपयोगको हटाकर देखा जायगा तो वही अनुभवमें आयगा। इस तरह जहां शुद्धात्मारूप अपने आपका श्रद्धान ज्ञान व चारित्र है वही अभेद रत्नत्रय

मोक्षका साधन है। जितना भी व्यवहार धर्म पाला जाता है वह इस स्वानुभव रूप निश्चय मोक्ष-मार्गके लिये। जहां इसको लोप कर दिया जाय वहां निःसार धर्म रह जाता है। जैसे चावल विना धान्यकी भूंसी, तेल विना तिलकी भूंसी निःसार है। व्यवहार धर्मको निश्चय धर्मकी अपेक्षा विना सेवन करना वालू पेलकर तेल निकालना है। शुद्धात्मानुभव ही साक्षात् उपादेय-आराधने योग्य धर्म है। योगसारमें योगेन्द्रदेव कहते हैं—

जो णिम्मल अप्पा मुणहि छन्डवि सहुववहारु। जिणसामी एहइ भणइ लहु पावहु भवपारु ॥ ३७ ॥

जाम ण भावहु जीव तुहुं णिम्मलअप्पसहाउ। ताम ण लब्भइ सिवगमणु जहिं भावहु तहिं जाऊ ॥ २७ ॥

भावार्थ—जो सर्व व्यवहारको छोडकर निर्मल आत्माका अनुभव करता है। जिनेन्द्र भगवान कहते हैं वही शीघ्र संसारसे पार होजाता है। हे जीव! जबतक तू निर्मल आत्माके स्वभावकी भावना न करेगा तबतक मोक्षमें गमन नहीं होसक्ता, चाहे जहां जाय व चाहे जो कुछ करे।

जो आत्मानुभवकी तरफ लक्ष्य दिलाते हुए व्यवहार क्रियाकांडका उपदेश देते हैं वे ही सच्चे जिनेन्द्रके तत्वको प्रकाश करनेवाले हैं। परन्तु जो मुख्य अंगको छिपाते हैं वे वास्तवमें आत्म हितकारी बातको छिपानेसे चोर हैं। चोरीके व्यसनमें प्रथम तो परकी वस्तुका ग्रहण मना किया है। जो अपने हकका पैसा है व सम्पदा है व पदार्थ है उसीमें हमको संतोष रखना चाहिये। फिर उसके दोष जो जो लगा सकते हैं उनको बताया है। जहां सरल मायाचार रहित परिणाम होगा वहां चोरीका कोई दोष नहीं लग सक्ता है। भावोंकी सम्हाल ही मुख्य धर्म है।

श्लोक—परदाराररतो भावः, परपंचं कृतं सदा।
ममत्वं अशुद्ध भावस्य, आलापं कूट उच्यते ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थ—(परदाराररतो भावः) परस्त्रीमें आसक्त जिसका भाव है वह (सदा परपंचं कृतं) सदा प्रपंच-जाल करे व करता रहता है (अशुद्ध भावस्य ममत्वं) उसके अशुद्ध भावका मोह है। वह (कूट आलापं) मायाचार सहित वातचीत (उच्यते) कहता रहता है।

विशेषार्थ—अब यहां परस्त्री रमन व्यसनको कहते हैं। वेश्या व्यसनमें अविवाहित व्यभिचा-

रिणी स्त्रीका ग्रहण है, यहां विवाहित व्यभिचारिणी स्त्रीका ग्रहण है। जो कोई परस्त्रीकी वांछा मनमें करते हैं उनको सदा ही मनमें उस परस्त्रीसे सम्बन्ध करनेकी चिंता रहती है। उनसे मिलनेके लिये नाना प्रकार जाल रचा करते हैं। अशुद्ध पापकारी कामके भावोंमें उनकी लीनता रहती है। वे इसी हेतु मायाचार सहित वार्तालाप भी करते हैं। मन, वचन, काय तीनोंकी कुचेष्टा परस्त्रीमें रति भाव करनेसे होने लगती है। परस्त्रीके रागीके धर्म, अर्थ, काम तीनों गृहस्थके पुरुषार्थ बिगड़ जाते हैं। वह गृही धर्मको बिगाड़ लेता है। गृहस्थीको विवाह करनेका यही अभिप्राय है कि यह संतोषी रहे, संतानकी मुख्य भावनासे स्वस्त्रीमें संतोष करे, परस्त्रीकी वांछा न करे। परस्त्रीका लोभ प्राणीको घोर संकटोंमें डाल देता है। इस लोकमें भी अपमान सहता है और परलोकमें भी अधोगतिका पात्र होता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

यो परिचिन्त्य भवार्णवदुःखमन्यकलत्रमभीप्सति कामी। साधुजनेन विनिन्द्यमगम्यं तस्य किमत्र परं परिहार्यम् ॥ ५८८ ॥

दृष्टिचरित्रतपोगुणविद्याशीलदया दमशौच शमाद्यान्। कामशिखी दहति क्षणतो नुर्वह्विरिवेन्धनमूर्जितमत्र ॥ ५९१ ॥

भावार्थ—जो कोई संसारसमुद्रके दुःखोंको चिंतवन करके भी कामी है, परस्त्रीकी इच्छा करता है उसको साधु जनोंने निंदनीय कहा है व अयोग्य बताया है। उसको यहां कुछ भी त्यागने योग्य नहीं रहा। कामकी अग्नि दर्शन, चारित्र, तप, गुण, विद्या, शील, दया, संयम, शौच, शांति आदि गुणोंको क्षणमात्रमें जला देती है जिस तरह अग्निकी शिखा ईंधनके समूहको जला देती है।

जो गृहस्थ श्रावक धर्म पालकर अपना हित करना चाहें उनको उचित है कि अपनी विवाहिता स्त्रीमें सन्तोष रखें और हर तरह परस्त्रीके सम्बन्धसे अपनी रक्षा करे। यह व्यसन भी पीछे पड जानेसे नहीं छूटता है।

श्लोक—अबंभं कूट सद्भावं, मन वचनस्य क्रीयते।
ते नरा व्रतहीनाश्च, संसारे दुःखदारुणं ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थ—(अबंभ) अब्रह्मभाव (मन वचनस्य) मन और वचनमें (कूट सद्भावं क्रीयते) मायाचारको जमा देता है। जो अब्रह्मकी सेवा करते हैं (ते नरा) वे मानव (व्रतहीनाश्च) व्रत रहित ही हैं (संसारे) इस संसारमें (दुःखदारुणं) महान दुःखको पाते हैं।

विशेषार्थ—परस्त्री भोगका भाव मन और वचनको कुटिल कर देता है। जो कोई श्रावकके व्रतोंको पालनेकी प्रतिज्ञा करके भी अब्रह्ममें रत होजाते हैं वे अपना महान् बुरा करते हैं। पांच अणुव्रतोंमें स्वस्त्री संतोष व्रत मुख्य है। जो इस बातको भूलकर पर स्त्रियोंकी संगति करते हैं, उनसे हास्यजनक वार्तालाप करते हैं, वे उनके मोहमें पडकर व्रतका स्वरूप मलीन कर देते हैं। उनके भावोंमें परस्त्रीका रूप बस जाता है। वे उसके देखनेकी, उससे बात करनेकी, उससे मिलनेकी चिंतामें पड जाते हैं। वास्तवमें ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये निमित्तोंके बचानेकी बहुत जरूरत है। स्त्री पुरुषका एकांत निमित्त बडे २ महाव्रती मुनि तकके भावोंमें मलीनता पैदा कर देता है। व्रतीको इसीलिये एकांतमें शय्या व आसन रखनेके लिये कहा गया है। उसको सब ही विकारकारी निमित्तोंसे अपनेको बचाना उचित है। श्रावक धर्मको पालकर जीवन सफल करनेका साधन परस्त्रीके व्यसनसे बचना ही है।

श्लोक—कषायेन हि विकहा स्यात्, चक्रइन्द्र नराधिपाः।
भावनं यत्र तिष्ठंते, परदाररतो नराः ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थ—(परदाररतो नराः) जो मानव परस्त्रीके व्यसनमें लीन हैं उनके भीतर (कषायेन) लोभ कषायके द्वारा (हि) निश्चयसे (विकहा) विकथा (स्यात्) करनेका भाव होता है (यत्र) जिस विकथामें (चन्द्र इन्द्र नराधिपाः) चक्रवर्ती, इन्द्र, तथा राजाओंके पदकी (भावनं) भावनाएं (तिष्ठंते) होती रहती हैं।

विशेषार्थ—चक्रवर्तीके छयानवे हजार स्त्रीका भोग होता है। इन्द्रकी सेवामें भी हजारों देवांगनाएँ होती हैं। बडे २ राजाओंके भी स्त्री भोग प्रसिद्ध है। ऐसी कथाएँ जिनमें इनके कामभोग सम्बन्धी वर्णन आते हैं उन पुरुषोंको बहुत रुचती हैं जो कामी परस्त्रियोंमें रत हैं। इन कथाओंको वे इसी भावसे सुनते या पढते हैं कि कामकी भावनामें रँजायमान हुआ जावे। ये कथाएं उनके मनमें यह भावना जागृत कर देती हैं कि हमको भी चक्रवर्ती व इन्द्रादिके व महाराजाओंके पद प्राप्त हों, जिसमें खूब स्त्रियोंके भोग करनेका अवसर मिले। कोई २ इसी भावनाको मनमें रखकर मुनि व श्रावकके व्रत भी पालने लगते हैं। वे शुद्ध अतीन्द्रिय सुखकी भावनाको भूलकर क्षणिक

इँद्रिय जनित अतृप्तिकारी सुखकी भावना करते हुए अपने मनको अशुभ निदान भावसे मलीन रखते हैं। उनका चारित्र पालन बहुत अल्प पुण्य बांधता है-परम्परा वे संसारके ही मार्गी होते हैं।

प्रयोजन कहनेका यह है कि परस्त्री व्यसनके लोभसे बचना ही हितकर है। जो सम्यक्ती हैं वे तो काम भावको रोग जानते हैं, स्वस्त्रीमें भी भोग करना अपना कर्तव्य नहीं समझते हैं। उसे भी काम रोगका एक दिल बहलानेवाला उपाय समझते हैं, वे पहचानते हैं कि काम भावका नाश आत्मध्यानके वीतरागमय भावके अभ्याससे ही होगा। वे गृहस्थमें रहते हुए नीतिसे चलते हैं, कभी भी परस्त्रीकी वांछा नहीं करते हैं। यह कामकी उत्कट वांछा महान आर्तध्यानमें व विकथाओंमें फंसा देती है और घोर कर्मका बंध कराती है।

श्लोक—कामकथा च वर्णत्वं, वचनं आलापरंजनं।

ते नरा दुःख सह्यंते, परदाररता सदा ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थ—(कामकथा च) काम भाव बढानेवाली कथाओंका भी (वर्णत्वं) वर्णन करना तथा (आलापरंजनं वचनं) कामकी चर्चामें रंजायमान करनेवाला वचन कहना। ऐसा जो करते हैं वे (परदाररता जनाः) वे मानव परस्त्री व्यसनमें रत हैं (ते नरा) वे मानव (दुःख सह्यंते) अनेक कष्ट सहते हैं।

विशेषार्थ—परस्त्रियोंकी सुन्दरताकी हावभाव विलास विभ्रमकी, उनके प्रेममें फंस जानेकी, उनको छल लेनेकी, उनके भोग विलासकी कथाएँ मनको शृंगार रसमें फंसानेवाली कहना तथा उनको सुनकर प्रसन्न होना। हांमें हां मिलाना। इत्यादि परस्त्रियोंमें रतिको पैदा करनेवाली जो कुछ भी चर्चा है व वचनालाप है वह सब परस्त्री व्यसनमें गर्भित है, परिणामोंमें कामकी उत्कटता बढानेवाली है। ये अशुभ भाव पाप बन्ध कारक हैं। उन पापोंके उदयसे प्राणीको संसारमें दुःख सहने पडेंगे। यहां भी यदि कोई किसी परस्त्रीकी सुन्दरताकी कथा सुनकर उसपर अपने भाव आसक्त कर लेगा वह रातादिन चिन्ताकी दाहमें जलकर दुःख पावेगा। उसके लिये महान प्रपंच करेगा-असफलतामें प्राण तक गमा बैठेगा। इसलिये गृहस्थ श्रावकको उचित है कि परस्त्री व्यसनके भीतर भयभीत प्रवर्ते इसहेतु कभी कामकी कथाएँ न कहें न सुनें। ऐसे खेल नाटक

तमाशे भी न देखें जो मनको कामके विकारसे आकुलित करदें। वेश्याओंके नाच, गानें भी न सुनें। ब्रह्मचर्यके पालनेके लिये यह आवश्यक है कि भावोंको बिगाडनेवाले निमित्तोंसे बचा जावे। क्योंकि काम भावकी आगका उत्पन्न होना महान संकटोंका कारण है। कुलभद्र आचार्यने सारसमुच्चयमें कहा है—

मदनोऽस्तिमहाव्याधिर्दुश्चिकित्स्यः सदा बुधैः। संसारवर्धनेऽत्यर्थं दुखोत्पादनतत्परः ॥ ९३ ॥

यावदस्य हि कामाग्निर्हृदये प्रज्वलत्यलम्। आश्रयन्ति हि कर्माणि तावदस्य निरन्तरम् ॥ ९४ ॥

संकल्पाच्च समुद्भूतः कामसर्पोऽति दारुणः। रागद्वेषद्विजिह्वोऽसौ वशीकर्तुं न शक्यते ॥ ९७ ॥

भावार्थ—कामभाव महान रोग है बुद्धिमानोंने इसका उपाय बड़ा ही कठिन कहा है, इससे संसार अतिशय बढ़ता है सदा ही दुःख हुआ करता है। जबतक यह कामकी अग्नि चित्तमें जला करती है तबतक निरंतर कर्मोंका बंध हुआ करता है। कामरूपी भयानक सर्प संकल्पसे ही उत्पन्न होता है जिसके राग द्वेषरूपी दो जिह्वा हैं। इसको वश करना बहुत कठिन है।

दुष्टा येयमनङ्गेच्छा सेयं संसारवर्धिनी। दुःखस्योत्पादने शक्ता शक्ता वित्तस्य नाशने ॥ ९८ ॥

भावार्थ—जो यह कामकी इच्छा है वह अति दुष्ट है यह संसारको बढानेवाली है, क्लेशको पैदा करनेवाली है तथा परस्त्री व्यसनमें फंसाकर धनका नाश करनेवाली है। इसलिये कामकी कथाओंसे बचना बहुत जरूरी है।

श्लोक—विकहा श्रुत प्रोक्तं च, कामार्थं श्रुत उक्तयं।
श्रुतं अज्ञानमयं मूढं, व्रतखंडं दार रंजितं ॥१३९॥

अन्वयार्थ—(विकहा श्रुत प्रोक्तयं) स्त्री कथारूपी विकथामें फंसानेवाले शास्त्रोंका व्याख्यान करना या (कामार्थं) काम भावके उत्पन्न करनेके लिये (श्रुत उक्तयं) किसी भी शास्त्रका कहना (अज्ञानमयं मूढं श्रुतं) तथा ऐसा जो अज्ञानमई मूढतासे पूर्ण शास्त्र है (दार रंजितं) वह स्त्रियोंमें रंजायमान करानेवाला है तथा (व्रतखण्डं) ब्रह्मचर्य व्रतका खण्डन करनेवाला है।

विशेषार्थ—चार विकथाओंमें स्त्री कथा बडी खोटी विकथा है, स्त्रियोंके मोहमें फंसानेवाली

है ऐसी कथाओंको व्याख्यान करनेवाले शास्त्रोंका रचना, उनका कहना सुनना व अन्य कोई भी शास्त्र हो, उसके वर्णनको इस तरह कहना कि जिसके सुननेसे काम भाव उत्पन्न होजावे विकथा रूप है। जैसे किसी जैन पुराणमें कहीं स्त्रियोंके शृंगारका वर्णन है उस वर्णनको आचार्यने पुण्यका फल या उसकी क्षणभंगुरता दिखानेके लिये किया है उस वर्णनको कोई व्याख्याता इस रूपमें कहें कि जिससे श्रोताओंका मन कामभावमें लिप्त होजावे, वह विकथाहीमें आजायगा। जहां ऐसा कथन आवे वहां वक्ताको इस तरह उसको समझाना चाहिये, जिससे रागके स्थानमें वैराग्य होजावे, बडे २ काव्य, नाटक, छन्द, अलंकार व कविताएं ऐसी बनाई जाती हैं जिनमें बडी भारी विद्वत्ता है, परन्तु कामभावकी उत्तेजक हैं वे सब ग्रन्थ कुज्ञानमय शास्त्र हैं। वे मूढतासे भरपूर हैं। ऐसे शास्त्रोंके रचने, कहने व सुननेसे स्त्रियोंमें अनुराग बढ जाता है, परस्त्री व वेश्याकी चाहना उठ आती है। परिणामोंमें परस्त्रीकी तरफ आसक्ति आनेसे ब्रह्मचर्य व्रतका खण्डन होजाता है। अतएव ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये स्त्रियोंकी विकथाओंसे बचना हितकर है।

श्लोक—परिणामं यस्य विचलंते, विभ्रमं रूप चिंतनं।
आलापं श्रुत आनन्दं, विकहा परदारसेवनं ॥ १४० ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस विकथाके करनेसे (परिणामं) भाव (विचलंते) डगमगा जाते हैं (विभ्रम) स्त्रियोंके विलास (रूप) व उनके रूप देखनेकी (चिंतनं) चिंता उत्पन्न होजाती है। (आलापं श्रुत आनन्दं) कामभावके गीत व वार्तालाप सुननेमें आनन्द भाव जागृत होजाता है इसीलिये (विकहा) स्त्री कथा करना (परदारसेवनं) परस्त्री सेवनमें गर्भित है।

विशेषार्थ—स्त्रियोंकी कथा जबतक कुकथा रूपमें की जायगी, उसके सुनते सुनते कहते कहते परिणाम शुद्ध ब्रह्मचर्यके भावसे डिगमगा जांयगे। भावोंमें विकार तो हो ही जायगा। तथा यह चिंता होजायगी कि हम स्त्रियोंके रूप देखा करें, उनके वस्त्राभूषण, चलने, फिरने, नाचने, गानेके विलास देखा करें, उनके मनोहर गान सुना करें, उनके साथ वार्तालाप किया करें। इस चिंताके साथ उसको परस्त्रियों या वेश्याओंके साथ वार्तालाप करनेमें व उनके मनोहर शब्द सुननेमें अति रंजायमानपना होजायगा। यदि कोई परस्त्री भोग नहीं भी करे तौ भी यह सब मनकी व वचनकी व कायकी

चेष्टा परस्त्री व्यसनके सदृश भावोंको विकारी बनानेवाली है अतएव परस्त्री व्यसनमें गर्भित है। यहां यही तात्पर्य है कि काम भावोंको उत्पन्न करनेवाली कथाओंको कभी भी सुनना, पढना व रचना न चाहिये। विवेकियोंको शील भाव दृढ करनेवाली कथाओंको सुनना व पढना व रचना चाहिये।

श्लोक—मनादिकाय विचलंति, इन्द्रियविषय रंजितं।
व्रतखण्डं सर्व धर्मस्य, अनृतं अचेतं सार्द्धं ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थ—(मनादिकाय) मनको आदि लेकर अर्थात् मन, वचन, काय तीनों (विचलंति) आकुलित होजाते हैं। (इन्द्रियविषय रंजितं) इंद्रियोंके विषयोंमें रंजायमान पना होजाता है। (व्रतखण्डं) ब्रह्मचर्यका खण्डन होजाता है। (सर्व धर्मस्य अनृतं) सर्व धर्ममें मिथ्यापना होजाता है (अचेतं सार्द्धं) साथमें मिथ्याज्ञान भाव दृढ होजाता है।

विशेषार्थ—स्त्री सम्बन्धी विकथाओंके करनेसे मनमें आकुलता होजाती है। राग सहित वचनोंका प्रयोग स्त्रियोंसे करने लग जाता है। स्त्रियोंके अंगादिको स्पर्श करनेकी कुचेष्टा भी कायसे होने लगती है। इस कामकी तीव्रताके वश होकर पांचों इंद्रियोंके विषयोंमें रंजायमान पना हो जाता है। मनोहर वस्त्रादि, पलङ्गादि व परस्त्री वेश्यादिका स्पर्श करनेमें मन राजी रहता है। जिह्वाकी लोलुपता बढ जाती है, मिष्ट व कामोद्दीपक पदार्थ व मादक पदार्थ खानेमें मन प्रसन्नता मानता है। अतर फुलेल लगानेमें व फूलोंकी माला सूंघनेमें अनुरक्त होजाता है। आंखोंमें चंचलता बढ जानेसे निरन्तर मनोहर रूपके देखनेकी कामना दृढ होजाती है। कानोंसे सदा मनोहर गान, सुर ताल सहित सुननेकी तीव्र रुचि होजाती है। इसीसे (व्रतखण्डं) ब्रह्मचर्य व्रतका खण्डन होजाता है। तब जो कुछ अहिंसादि व्रत होते हैं उनका उसके भावोंमें सत्यपना नहीं रहता है। वह अतिरागी होकर अपने शील भावका हिंसक होजाता है। परस्त्रियोंके लिये अभिलाला करके उनकी प्राप्तिकी भावनासे मिथ्या वचन बोलनेमें व गुप्तरूपसे चोरी करनेकी भावना होजाती है। परिग्रहकी लालसा बढ जाती है। कुशीलकी अन्याय जनित प्रवृत्तिकी भावनासे सर्व धर्म उसके मिथ्या होजाते हैं। साथमें उसका ज्ञान भी निर्मल नहीं रहता है, मिथ्यात्वका उदय आजाता है और उसका सर्व

शास्त्रज्ञान मिथ्याज्ञानपनेको प्राप्त होजाता है। इसलिये जो ब्रह्मचर्यव्रतको, सर्व देश या एक देश पालना चाहें उनको उचित है कि वे काम कथाके प्रपंचमें न पडे न ऐसी कुसंगति रक्खे जिससे मन भी किसी तरह विचलित होजावे। परिणामोंकी सम्हाल निमित्तोंके वचानेसे होगी। इसलिये ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये तत्वार्थसूत्रमें पांच भावनाएं वताई हैं—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंचः ॥ ७ ॥

भावार्थ—(१) स्त्रियोंमें राग बढानेवाली कथाओंका सुनना छोडना चाहिये, (२) उन स्त्रियोंके मनोहर अंगोंके देखनेका त्याग करना चाहिये, (३) पूर्वमें भोगे हुए भोगोंकी स्मृति न करनी चाहिये, (४) कामोद्दीपक पौष्टिक रस न खाना चाहिये, (५) अपने शरीरका शृँगार न करना चाहिये। मनकी चंचलता बडी विचित्र है। जरा भी विपरीत निमित्त होता है तो मन विकारी होजाता है। मनका विकारी होना ही कामदेवका उत्पादक है।

श्लोक—विषये रञ्जितं येन, अनृतानंद संजुतं।
पुण्योत्साहं उत्पादी, दोषे आनंदनं ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(येन विषये रंजितं) जो पांच इंद्रियोंके विषयोंमें रंजायमान होजाता है वह (अनृतानन्द संजुतं) मृषानंद रौद्रध्यान सहित होजाता है या मिथ्यात्वमें आनंदवान होजाता है। (पुण्योत्साहं उत्पादी) वह पुण्य करनेमें उत्साह पैदा कर लेता है। इस तरह (दोषे) जो संसारका कारण दोष है उसमें (आनंदनं कृतं) प्रसन्न होकर तन्मय होजाता है।

विशेषार्थ—स्त्री सम्बन्धी काम कथाका बुरा फल यह होता है कि यह प्राणी मूढ होकर जिन इंद्रियोंकी वांछा एक सम्यग्दृष्टीको नहीं होनी चाहिये उनहीमें यह रंजायमान होने लगता है। बस मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यात्वी होजाता है या सत्य मार्गसे हट जाता है और मिथ्या मार्गमें आनंद मानने लगता है। उसके भीतरसे वीतराग विज्ञानमय सत्य धर्मकी रुचि चली जाती है। ऐसा विषयोंका लोभी मोक्षमार्गको भूलकर पुण्य कर्म करनेमें बडा ही उत्साही होजाता है। अर्थात् पुण्यकी तीव्रता होगी तो मनोवांछित भोग स्वर्गोंमें व राजा महाराओंके पाकर खूब विषयभोग करूँगा, इस

भावनामें लिप्त हो बडे भावसे पूजा पाठ करता है, भजन पढता है, दान देता है, शास्त्र पढता है, नियम संयम पालता है, उपवास करता है, मुनि होकर दिगम्बर साधुका कठिन चारित्र पालता है या श्रावकके व्रतोंको पालता है तौभी मोक्षमार्गसे विपरीत चलता हुआ, भोगोंकी तृष्णाके उद्देश्यको रखता हुआ जो दोष है उसमें आनन्द मान लेता है। वह अपने कठोर चारित्रको विषयरूपी विषके बदलेमें वेच डालता है। जिस चारित्रसे स्वरूपाचरण चारित्र होकर अतीन्द्रिय आनन्दका लाभ होसक्ता था, निर्वाणका शाश्वत सुख प्राप्त होसक्ता था उस चारित्रको उतनी ही मिहनतसे पालता हुआ त्यागने योग्य मिथ्या वस्तुकी चाहमें ही फंसा रहता है, विषयोंकी आशामें आनन्द मानता है। जैसे कोई धनकी प्राप्तिके आनन्दमें तीव्र आतापमें भी नंगे पैर भारी भार लेकर ढोता है, बहुत उपसर्ग सहता है, ऐसे ही अज्ञानी जीव क्षणिक विषयसुखकी आशासे महान मुनिका या श्रावकका चारित्र शास्त्रोक्त पालता है–मिथ्यादृष्टी होता हुआ संसार वर्द्धक दोषकी ही सेवा कर रहा है। इस तरह यहां ग्रन्थकर्ताने परस्त्री व्यसनको बहुत अच्छी तरह बताया है। श्रावक गृहस्थियोंका यह मूल कर्तव्य होना चाहिये कि वे मोक्षकी भावनासे जीवन वितावें। निरंतर संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य भाव रक्खें, निजानन्द पदके गाढ प्रेमी होजावें, ऐसे गृहस्थी पांच इंद्रियोंके भोगोंको बहुत नियामित आवश्यक्तानुसार रोगके इलाजवत् रुचि रहित करते हैं। वे शुद्ध मनसे अपनी विवाहिता स्त्रीमें संतोषित रहते हैं। कामभावकी अग्निको उत्तेजित करनेवाली सर्व मन, वचन कायकी क्रियासे, कुसंगतिसे, कथा आलापसे सबसे बचते हैं। वास्तवमें ये सातों ही व्यसन मानवोंके परम वैरी हैं। जो अपना हित चाहे उनको इनसे बचकर रहना चाहिये तथा उनके सर्व अतीचारोंको भी बचाना चाहिये। इस कथनसे यह बात तत्वज्ञानीको झलक जायगी कि अनंतानुबंधी कषायके भाव किस तरह प्राणीको मिथ्यात्वमें पटक देते हैं अथवा मिथ्या ज्ञानसे किस तरह यह प्राणी व्रत तप करता हुआ अनंतानुबंधी कषायके फेरमें अचेत होजाता है।



आठ मद स्वरूप।

श्लोक—एतत्तु रागबन्धस्य, मद अष्टं रमते सदा।
ममत्त्वं असत्त्य आनंदं, मदाष्टं नरयं पतं ॥१४३॥

अन्वयार्थ—(एतत् तु) इस प्रकारके (रागबन्धस्य) रागसे बंधा हुआ प्राणी (सदा) निरंतर (मद अष्टं) आठ मदोंमें (रमते) रमण किया करता है (ममत्वं) जगतकी ममतामें फंसा रहता है (असत्त्य आनंदं) मिथ्या पदार्थोंमें आनन्द माना करता है। (मदाष्टं) ये आठों मद (नरयं पतं) नरकमें गिरा देते हैं।

विशेषार्थ—ऊपर लिखे हुए द्यूत रमण आदि सातों व्यसनोंके भीतर जो रंजायमान हुआ करता है, जिसको विषय रुचि व सेवन ही सुखरूप भासता है, जिसको आत्माके आनन्दकी खबर नहीं है ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव जाति कुल आदिके आठ प्रकारके घमण्डमें भी सदा रंजायमान रहता है। क्योंकि इससे संसारसे अति ममत्व है, स्त्री पुत्र धनादिके साथ गाढ स्नेह है। इन मदोंको करता हुआ यह अज्ञानी प्राणी मिथ्या जगतकी अवस्थाओंमें जो नाशवंत हैं, आनन्द माना करता है। जब उनका वियोग होजाता है तो अत्यन्त शोक करता है। तीव्र कषायमें गृसित होता हुआ यह अज्ञानी प्राणी नरकायु बांध लेता है, नरकमें जाकर घोर कष्ट पाता है। जो वस्तु थिर रहनेवाली नहीं है उनको थिर मानके घमण्ड करना वास्तवमें अज्ञान है। यह सबको प्रगट है कि धनके रहनेका कोई नियम नहीं है, कुछ दिनोंमें एक धनवान निर्धन होजाता है। युवानीके रहनेका नियम नहीं है। युवानसे शीघ्र वृद्ध होजाता है। जीवनके छुट जानेका कोई नियम नहीं है। तृणके ऊपर जल बूंदके समान पतन होजाता है। जगतमें जितने भी पर्याय हैं, स्कन्ध हैं, मिश्रित भाव हैं, औपाधिक परिणाम हैं, वे सब अथिर हैं। कर्मोदयसे उनका संयोग इस संसारी जीवको होता है। कर्मका उदय धूप छायाके समान कभी अच्छा कभी बुरा है। जो कोई धूप वा छायाके एक तरह बने रहनेका मिथ्या मोह करेगा वह अवश्य उनके वियोग पर कष्टका अनुभव करेगा। अतएव मद करना मात्र मिथ्यात्व भाव है और तीव्र कषायका झलकाव है।

श्लोक—असत्त्ये अशाश्वते रागं, उत्साहेन रतो सदा ।
शरीरे रागवर्धन्ते, ते तु दुर्गतिभाजनं ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थ—(असत्त्ये) मिथ्या (अशाश्वते) व अनित्य पदार्थमें (रागं) राग करना व (उत्साहेन) उत्साहके साथ (सदा) निरंतर (रतो) उनमें रति करना (शरीरे) शरीरमें (राग) मोहको (वर्धन्ते) बढा देते हैं। (ते तु) जो ऐसे मोही हैं वे (दुर्गतिभाजनं) अशुभ गतिके भागी होते हैं।

विशेषार्थ—जगतकी सर्व रचना जो बनती है व बिगडती है वह सब मिथ्या है व नाशवंत है जैसे क्षण क्षणमें समय बीतता जाता है ऐसे ही सर्व अवस्थाएं क्षण क्षणमें बदलती रहती हैं। इन अवस्थाओंमें राग करना व इनके बने रहनेमें उत्साह रखना व रंजायमान होते रहना, प्राणीको शरीरका अतिशय मोही बना देता है, वह आत्माको बिलकुल भूलकर अपनेको शरीर रूप ही माना करता है। मैं नृप हूं, मैं सेठ हूं, मैं बलवान हूं, मैं विद्वान हूं, मैं तपस्वी हूं, मैं सुन्दर हूं, मैं बडे वंशका हूं इत्यादि शरीरकी मूर्छामें मूर्छित होता हुआ तीव्र कर्म बांधकर दुर्गतिमें चला जाता है।

सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

गलत्यायुर्देहे व्रजति विलयं रूपमखिलं। जरा प्रत्यासन्नीभवति लभते व्याधिरुदयम् ॥
कुटुम्बः स्नेहार्तः प्रतिहतमतिर्लोभकलितो। मनो जन्मोच्छित्यै तदपि कुरुते नायमसुमान् ॥ २३३ ॥
भवन्त्येता लक्ष्म्यः कतिपयदिनान्येव सुखदास्तरुण्यः तारुण्ये विदधति मनः प्रीतिमतुलाम् ॥
तडिल्लोला भोगा वपुरपि चलं व्याधिकलितं। बुधाः संचिन्त्येति प्रगुणमनसो ब्रह्मणिरताः ॥ २३५ ॥

भावार्थ—यह आयु गलती जाती है, वह सब रूप विलय होता जाता है। जरा निकट आती जाती है। रोगोंका उदय होता रहता है। कुटुम्ब स्नेहमें फंसा हुआ लोभसे जकडा रहता है। तौ भी निर्बुद्धि प्राणी इस मिथ्या व नाशवंत संसारके नाशके लिये कुछ नहीं करता है। ये धन-संपदा कुछ दिनके लिये सुखदाई भासती है, युवती स्त्रियां युवानीमें ही गाढ प्रीतिको विस्तारती है। भोग बिजलीके चमत्कारके समान चंचल है। यह शरीर रोगोंसे भरा चलायमान है। गुणवान पंडितजन ऐसा विचार करके अपने शुद्ध आत्मस्वभावमें रमण करते हैं। वास्तवमें इन सांसारिक पदार्थोंके लिये मान व मूर्छा करना मात्र अज्ञानता है।

श्लोक—जाति कुली सुर रूपं, अधिकारं तपः बलं।
शिलीज्ञानं आरूढं, मदष्टं संसार भाजनं ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थ—(जाति) माताकी पक्षका (कुल) पिताकी पक्षका (ईसुर) धनके स्वामित्वका (रूपं) सुन्दर रूपका (अधिकारं) अधिकार व आज्ञा चलनेका (तपः) तप करनेका (बलं) शरीरके बलका (शिल्पाज्ञानं) शिल्पादि विद्याओंके ज्ञानका (आरूढं) अभिमान करना (मदष्टं) ये आठ मद (संसार-भाजनं) संसारके भाजन हैं।

विशेषार्थ—यहां आठ मदोंके नाम गिनाए हैं। सम्यग्दृष्टी इन मदोंको नहीं करता है। मिथ्या-दृष्टी जगतके मोही जीवके भीतर ये आठ मद अपना घर कर लेते हैं। यह मानव मानके पर्वतपर चढा हुआ दूसरोंको अपनेसे तुच्छ देखता है। इन आठ मदोंका स्वरूप इस भांति है—

(१) जातिमद—शरीरको जन्म देनेवाली माता होती है। इससे माताकी पक्षको जाति कहते हैं। जिसकी योनिमें जन्म हो वह माता है। उसके कुटुम्बीजनोंमें यह मान करना कि हमारे मामा, नाना, ऐसे २ हैं। उनके धनादि बलको होते हुए उनको अपना मानकर अहंकार करना जातिमद है।

(२) कुल मद—जिसके वीर्यसे पैदा होता है उसको कुल या वंश कहते हैं। अपने पिता, पितामह, पर पितामह आदिकी सम्पदा आदिका विचार कर उसके बलपर अपना बल मान अहं-कार करना सो कुलमद है।

(३) ऐश्वर्य मद—धन सम्पदा-माल मकान, खेती, गहना, सोना, चांदी आदि पास होते हुए उनका मैं स्वामी हूं, अतएव मैं धनिक हूं, मैं सुखी हूं, ऐसा मान निर्धनोंको तुच्छ दृष्टिसे देखता हुआ अहंकार करना सो धनमद है।

(४) रूप मद—शरीरका आकार सुन्दर सुहावना-आंख, नाक, कान, मुंह, शरीरका रंग शुभ होते हुए अपनेको रूपवान, दूसरोंको सुन्दरता हीन समझकर अपने शरीरके रूपका अहंकार करना रूप मद है।

(५) अधिकार मद—प्रभुताई, बडप्पन, हुकूमत चलते हुए यह मानना कि मैं जो चाहे सो कर सक्ता हूं चाहे जिसे झूठा दोष लगाकर भी दंडित कर सक्ता हूं। कोई साधारण भी अपमान

करे या दोष करे तो अपने अधिकारसे खूब कठोर दण्ड दे सक्ता हूं। मेरा कोई क्या बिगाड़ कर सक्ता है ऐसा अहंकार करना सो अधिकार मद है।

(६) तप मद—और मनुष्योंसे न बन सके ऐसा तप, उपवास, रस त्याग, ऊनोदर, कठिन प्रतिज्ञा लेकर आहारको जाना, न मिलनेपर फिर उपवास कर जाना, पर्वत, शिखर, वन, नदीतट, स्मशानभूमि आदि विषम स्थानोंपर जाकर तप करना। भूख प्यास, डांस, मच्छर, गाली आदि परीषहोंका सहना, इत्यादि नानाप्रकार साधु या श्रावककी अवस्थामें रहते हुए तप साधना, परंतु मनमें यह अहंकार कर लेना कि मैं बड़ा तपस्वी हूं-मेरे समान तप किसीसे नहीं बन सक्ता है। यदि कोई प्रतिष्ठा व विनयमें कमी करे तो मानवश क्रोध भाव रखना-ये सब तपका मद है।

(७) बल मद—शरीरमें व्यायामादि करनेसे औरोंसे अधिक बल होनेपर निर्बलोंको तुच्छ दृष्टिसे देखना, अपने बलसे निर्बलोंको सताना, निःशंक हो उनका बिगाड़ करना और यह अहंकार करना कि कोई मेरा क्या कर सक्ता है-मेरा सामना कोई नहीं कर सक्ता है, ऐसा मानके रहना सो बलमद है।

(८) शिल्पज्ञान या विद्या मद—अपनेको चित्रकारी, बढ़ाईका काम, लोहारका काम, यंत्र-विद्या, वस्त्रोंपर बेलबुटे निकालना, कवि कला, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार, तैरना, बजाना, गाना, धर्म-शास्त्रका सूक्ष्म ज्ञान आदि अनेक प्रकार लौकिक और पारलौकिक विद्याओंका स्वामीपना होनेपर अपनेसे औरोंको मूर्ख गिनना, किंचित् अपमानसे क्रोधित होजाना, अपनी पूजा प्रतिष्ठा चाहना, मेरे सामने कोई आ नहीं सक्ता है, मैं सबको कला चतुराईमें परास्त कर सक्ता हूं ऐसा अहंकार रखके मानके नशेमें चूर रहना ज्ञानमद या विद्यामद है। जो शरीर, भोग व संसारका मोही है वही मूर्छावान अज्ञानी प्राणी उन क्षणिक वस्तुओंको अपनी मानके मद करता है-ज्ञानी नहीं करता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

गर्वेण मातृपितृबान्धवमित्रवर्गाः। सर्वे भवन्ति विमुखा विहितेन पुंसः॥
अन्योऽपि तस्य तनुते न जनोऽनुरागं। मत्वेति मानमपहस्तयते सुबुद्धिः॥ ४९॥

भावार्थ—गर्व करनेसे माता पिता भाई मित्र सब मानी पुरुषसे विमुख रहते हैं, अन्य भी कोई मानीसे राग नहीं करता है, ऐसा जानकर बुद्धिवान मानको कभी भी नहीं करते हैं।

श्लोक—जातिं च रागमयं चिंते, अनृतं ऋतमुच्यते।
ममत्वं स्नेहमानन्दं, कुल आरूढ रतो सदा ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थ—जो कोई (जातिं च) अपनी माताकी पक्षरूप जातिको (रागमयं) रागसे बंधा हुआ अपनी (चिंते) मानता है। वह (अनृतं) मिथ्याको (ऋतं) सत्य (उच्यते) कहता है। जो (सदा) निरंतर (कुल आरूढ रतः) कूलके मदमें तल्लीन रहता है वह अपने कुलके जनोंमें (ममत्वं) ममता रखता है (स्नेहं) स्नेह बढाता है तथा (आनन्दं) उनको देख देखकर आनन्द माना करता है।

विशेषार्थ—यह अज्ञानी जिस जातिको अपनी मानता है वह इसकी जाति है ही नहीं। शरीरको जननेवाली माता होती है। शरीरकी जाति माता व उसके भाई पिता आदि हैं। आत्माको कोई जननेवाला नहीं है तब यह शरीरकी जाति अपने आत्माकी कैसे होसक्ती है। यह अज्ञानी मूर्ख प्राणी अपनी असली आत्मारूपी जातिको भूलकर शरीरके सम्बन्धसे शरीरकी जातिको अपनी मान लेता है। यही उसका मिथ्याको सत्य मानना है। इस मिथ्या मान्यतासे अपने नाना मामासे राग करता है व चाहता है कि वे कुछ इसका स्वार्थ साधन करते रहेंगे। इसी तरह यह अज्ञानी प्राणी अपने कुलके मदमें निरन्तर लिप्त हुआ अपने पिता, चाचा, स्त्री, पुत्र, पुत्री, बहिन, आदिसे बडा ही ममत्व करता है। उनके वियोग होनेपर व उनके रोगी होनेपर व परदेश जानेपर बडा ही कष्ट मानता है, शोक करता है, विह्वल होजाता है। उनकी स्नेहकी पासीमें ऐसा जकड जाता है कि उनके पीछे रातदिन धनकी तृष्णामें फंसा रहता है, धर्म कार्यको भूल जाता है। ध्यान, सामायिक, पूजा पाठकी तरफ उपयोग नहीं लगाता है। वे यदि खाते पीते निरोग दिखते हैं तो बडा आनन्द मानता है। उनहीके होते हुए अपनी जिन्दगीका सुख समझता है। कदाचित् उनमेंसे किसीका वियोग होता है तो बड़ा ही दुःख मानता है। कुलका मद करके यदि अपने पुत्र पुत्री अधिक होते हैं तो बड़ा अहंकार करता है, पुत्र रहितको देखकर पापी और अप-

नेको भाग्यवान समझता है। धिक्कार हो ऐसे जाति व कुल मदको जो जीवनको मोह पाशमें फंसाकर आत्मकार्यसे विमुख कर देते हैं।

श्लोक—रूपं अधिकारं दृष्ट्वा, रागं वर्धन्ति ये नराः ।
ते अज्ञानमये मूढाः, संसारे दुःखदारुणं ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ—(रूपं) सुन्दर रूपको तथा (अधिकारं) अपने अधिकारको (दृष्ट्वा) देखकर (ये नराः) जो मानव (रागं) रागको (वर्धन्ति) बढा लेते हैं। (ते) वे (अज्ञानमये) अज्ञानमई पदार्थमें या भावमें (मूढा) मूर्छित होते हुए (संसारे) इस संसारमें (दुःखदारुणं) भयानक दुःखको उठाते हैं।

विशेषार्थ—मोही प्राणी अपने शरीरका सुन्दर रूप देखकर बडा ही राग बढा लेते हैं। रागके साथ अहंकार भी बढ़ा लेते हैं। वे इस बातको भूल जाते हैं कि जिस शरीरकी ऊपरकी चमड़ी सुन्दर देखकर व आंख नाक मुखका आकार सुडौल देखकर राग या अहंकार किया जाता है वह शरीर तो महान अपवित्र घृणाके योग्य व क्षणभंगुर है। भीतर इसके कृमिकुल, राध आदि भरा है। यदि चमड़ीको अलग कर दिया जाय तो मक्खियोंसे भिनभिनाने लगेगा व अपनेसे भी अपना शरीर देखा नहीं जायगा। जिसके नव द्वारोंसे निरंतर मल बहता है, जो शरीर अचानक भूख प्यासकी अधिक बाधा होनेसे व रोगादि आनेसे व जरा आजानेसे बिगड जाता है—सुरूपसे कुरूप होजाता है, ऐसे मायाजालके समान अथिर रूपका राग करना व अहंकार करना मात्र मिथ्याज्ञान व मूर्खता है।

इसी तरह यदि उसका किसी कारणसे अधिकार है उसकी आज्ञा चलती है वह राजा, महाराजा, मंत्री, प्रधान, कोटवाल, नगरसेठ, चौधरी, हाकिम, जज, मजिष्ट्रेट है तो उसको बड़ा अहंकार होजाता है। वह मदमें कठोर परिणाम रखता है। कठोर वाणीसे छोटोंके साथ व्यवहार करता है। अपने आधीनोंके सुखका, शरीर स्वास्थ्यका ख्याल छोडके उसको अपनी मनमानी आज्ञामें चलाकर उनसे खूब काम लेता है, कहीं वे भूलसे कुछ काम बिगाड़ देते हैं तो विना सोचे समझे क्रोध कर लेता है, मार बैठता है, व दंडित कर देता है, नम्रता व मिष्टवादिता व विनयरूप

व दयारूप वर्ताव उसके पाससे विदा होजाता है। यह अधिकार भी क्षणिक है, जरासी भूल होने पर राज्य चला जाता है व मरण आजाता है तब सब अधिकार चला जाता है। बड़े २ राजा महाराजा थोड़े ही काल अपना अधिकार रख सके हैं, पापका उदय आनेपर शीघ्र ही राजासे रंक होजाता है-बड़ेसे छोटा होजाता है। इसलिये अज्ञानी प्राणी ही इस अज्ञानमें फंसकर मद करता है और मूढ़ मिथ्याती होता हुआ तीव्र कर्म बांधकर संसारमें भयानक दुःख उठाता है।

इस तरह रूपका व अधिकारका मान करना मूर्खता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

नीतिं निरस्यति विनीतिमुपाकरोति–कीर्तिं शशांकधवलां मलिनीकरोति।
मान्यान्न मानयति मानवशेन हीनः, प्राणीति मानमपहान्ति महानुभावः ॥ ४४ ॥

भावार्थ—यह मान नीति मार्गसे हटा देता है, विनयसे छुटा देता है, चन्द्र सम निर्मल कीर्तिको मैली कर देता है। हीन पुरुष मानके भीतर फंस करके माननीय पुरुषोंको भी नहीं मानता है ऐसा जानकर जो महान उदार प्राणी है वह मान नहीं करता है।

श्लोक—कुज्ञानं तप तप्तानां, रागं वर्धन्ति ते तपाः।
तप्तानि मूढ सद्भावं, अज्ञानं तप श्रुतं क्रिया ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थ—(कुज्ञानं) मिथ्या ज्ञान सहित (तप तप्तानां) तप करनेवालोंका (राग) राग (ते तपाः) वे मिथ्या तप (वर्धन्ति) बढ़ा देते हैं उन्होंने (मूढसद्भावं) मिथ्यात्व भावका (अज्ञानं तप श्रुतं क्रिया) व अज्ञानमई तप व अज्ञानमई शास्त्र व अज्ञानमई क्रियाका ही (तप्तानि) तप किया है।

विशेषार्थ—जो लोग आत्मज्ञान व आत्मानुभव न पाकर, आत्म सुखके रसिक न होकर किंतु इंद्रिय जन्य सुखकी लालसा रखकर इस आशासे तप करते हैं कि इसके फलसे स्वर्गादिमें जाकर बहुत सुख पाएंगे, ऐसा अज्ञान तप राग भाव घटानेकी अपेक्षा बढ़ा देता है। क्योंकि वे वीतराग भावकी सेवा नहीं कर रहे हैं, वे तो रागभाव हीकी सेवा कर रहे हैं। जितना अधिक तप करते हैं उतना विशेष राग बढ़ता जाता है कि अधिक सुख मिलेगा, हम इन्द्रादि होजांयगे। वास्तवमें ऐसे अज्ञानी प्राणी धार्मिक तप नहीं करते हैं किंतु अपने मद भावको अधिक ...

हैं। तथा अज्ञान तपको बढ़ा रहे हैं। उनका कुशास्त्र ज्ञान और मजबूत हो रहा है। उनका मिथ्या आचरण और भी जड पकड रहा है। वास्तवमें जो आत्मोन्नतिके लिये तप किया जावे वही तप है। शेष तो मात्र एक तरहका व्यापार है। जैसे व्यापारी धनके लोभसे अनेक कष्ट सहकर भूख, प्यास, गर्मी, शर्दी सहकर, कठिन स्थानोंमें जाकर बडा भारी परिश्रम करता है वैसे यह कुतपी शरीरको बहुत भारी कष्ट देता है, परीषह सहता है, कठिन २ स्थानोंमें जाकर ध्यान लगाता है। प्रयोजन-विषयभोग पानेका है, संसार बढानेका है, ऐसे मिथ्या तपके तपनेवालोंको ही तपका अहंकार होजाता है। वे मान व लोभके कषायोंको ही बढाते हुए अपना अहित कर रहे हैं। उनका तप गुणकारी नहीं होता है। सुभाषित०में कहा है—

दयादमध्यानतपोव्रतादयो गुणाः समस्ता न भवन्ति सर्वथा। दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो रजोयुतालाबुगतं यथा पयः ॥ ११७ ॥

भावार्थ—जैसे रज सहित तुंबीमें भरा हुआ दूध मलीन होजाता है, पीने योग्य नहीं रहता है वैसे महा मिथ्यात्वकी रजसे मलीन आत्माके द्वारा पाला गया दया, धर्म, संयम, ध्यान, तप, व्रतादि सर्व ही गुणकारी नहीं होते हैं।

श्लोक—अज्ञानं तप तसानां, जन्म कोटि कोटि भव।
श्रुतं अनेक जानंते, रागं मूढ़मयं सदा ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थ—(अज्ञानं तप तसानां) जो प्राणी मिथ्याज्ञान सहित तप करते हैं उनको (कोटि कोटि भव जन्म) करोड़ों भवोंमें जन्म लेना पड़ता है वे (अनेक श्रुतं) बहुत शास्त्रको (जानंते) जानते हैं तौभी (सदा) निरन्तर (मूढ़मयं रागं) मिथ्यात्व सहित रागभाव हीमें लिप्त हैं।

विशेषार्थ—सम्यक्त रहित जैन शास्त्रानुसार व्यवहारमें अनशनादि बारह प्रकारका तप भले प्रकार साधन किया हुआ भी संसारको छेदनकी अपेक्षा संसारको बढ़ा देता है। उनको मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायके उद्वेगसे कोटानुकोट भव ले लेकर जन्म मरणके अपार कष्ट सहने पडते हैं। अधिक काल तिर्यंच गतिमें, उसमें भी एकेंद्रिय पर्यायमें, उसमें भी साधारण वनस्पतिरूपी निगोदमें जन्म लेना पडता है। उनको सम्यक्तकी प्राप्तिका पुनः अवसर बड़ी कठिनतासे आता है।

वे इतना अधिक शास्त्र जानते हों कि ग्यारह अंग और नौ पूर्वके पाठी हों, उनके पढ़ाए हुए अन्य साधु यथार्थ मार्गको पालेवें परन्तु वे मिथ्यात्व भावसे वासित होते हुए वीतरागता मय कभी न होते हुए, अंतरंग विषयानुरागकी भावना हीमें रहते हैं। चाहे वे मोक्षके लिये यत्न कर रहे हों ऐसा मान रहे हों तथापि वे मोक्षको नहीं पहचानते हैं। मोक्षमें भी इंद्रियजन्य सुखकी अनंतता प्राप्त होगी ऐसी आशा भीतर बनी रहती है। क्योंकि उनको आत्मानुभव नहीं हो पाया है। उनको अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद नहीं मिला है। इसीसे वे विषय स्वादके लोलुपी ही भीतर वासनामें होरहे हैं, मिथ्यात्वको ही पुष्ट कर रहे हैं। नौ ग्रैवेयिक कदाचित् चले जाते हैं तौ भी संसार हीमें रुलते हैं।

श्लोक—मानं रागसम्बन्धं, तप दारुणं बहुकृतं।
शुद्धतत्वं न पश्यंति, ममता दुर्गतिभाजनं ॥१५०॥

अन्वयार्थ—(रागसम्बन्धं मानं) ऐसे मिथ्या तप करनेवालोंके ऐसे तपमें मोहके कारण यह अहंकार होजाता है कि (तप दारुणं बहुकृतं) हमने बहुत कठिन २ तप बहुत काल तक किया है। वे (शुद्धतत्वं) शुद्ध आत्मीक तत्वको (न पश्यंति) नहीं अनुभव करते हैं। (ममता) उनके भीतर जो मोह है वही (दुर्गतिभाजनं) उनकी कुगतिका कारण है।

विशेषार्थ—लोभ कषायकी वासनाको रखते हुए जो दीर्घकाल तक बहुत कठिन २ तप करते हैं उनके भीतर तपका मद सहजमें होजाता है कि हम बडे तपस्वी हैं। उनका बहुत परीषह सहन कषायको मेटनेके स्थानमें मान कषायकी तीव्रता कर देता है। खेद है वे शुद्ध आत्मीक तत्वका अनुभव न पाकर उस अमृतके स्वादसे शून्य है। इसीसे वीतरागता सहित निर्विकल्प समाधिको ये नहीं पाते हैं। यद्यपि वे विकल्पोंको मेटकर ध्यान लगाते हैं, परन्तु भीतर रागकी आग जला करती है, इसीलिये यह तप मिथ्या तप कहा जाता है। उनके भीतर जो संसारका ममत्व है वह उनके लिये मोक्षके विपरीत बहुतसी गतियोंमें भ्रमण कराता है। यद्यपि शुक्ल, पद्म या पीतलेश्याके कारण वे उस शरीरसे स्वर्गादि चले जाते हैं, वहांपर जाकर वे विषय-सुखमें अति आसक्त होजाते हैं, सम्यक्त न पाते हुए यदि जिनेन्द्रकी भक्ति करते हैं व जिन अकृत्रिम चैत्यालयोंका दर्शन करते

हैं तथापि विषयकी लोलुपताको न छोड़ते हुए, अन्य अपनेसे अधिक विभूतिवाले देवोंकी सम्पदाको देखकर ईर्षावान रहते हुए, देवांगनाके वियोगसे शोक भाव करते हुए, आयु पूर्ण होते हुए भारी आर्तध्यान करते हुए, यदि सौधर्म ईशान स्वर्गमें हुए तो मरकर एकेंद्रिय वृक्ष आदिमें आकर जन्म पालेते हैं, दीर्घ संसारके भागी होते हैं। इस तरह मिथ्या तप व उसका मद जीवका भारी अहित करता है। इसी तरह और भी मद प्राणीका अहित कारक है। आठों मदोंको विष तुल्य समझकर इनका संसर्ग करना उचित नहीं है। मान कषायको जीतकर विनय व नम्रताको रखते हुए शुद्ध तत्वको जाननेसे ही स्वहित होगा, यह तात्पर्य है।

चार कषायका स्वरूप।

श्लोक—कषायं येन अनंतानं, रागं च अनृतं कृतं।
चित्ते कुबुद्धि विश्वासं, नरयं दुर्गतिभाजनं ॥१५१॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (अनन्तानं) अनन्तानुबन्धी (कषायं) कषाय (च) तथा (अनृतं रागं) मिथ्यात्वसे राग (कृतं) किया है उनके (चित्ते) चित्तमें (कुबुद्धि विश्वासं) मिथ्याज्ञान व मिथ्या विश्वास रहता है जिससे (नरयं दुर्गतिभाजनं) वे नरकादि दुर्गतिके भाजन होते हैं।

विशेषार्थ—ऊपर लिखित सात व्यसनोंमें आसक्ति तथा आठ मदोंमें लीनता उनही प्राणियोंको होती है जो अनन्तानुबन्धी कषायोंके उदयके आधीन है। तथा मिथ्यात्वके उदयसे पर्याय बुद्धि होरहे हैं, जिनको अपने स्वरूपकी कुछ भी खबर नहीं है। मिथ्यात्वकी सहकारी कषायको अनन्तानुबन्धी कहते हैं। इसकी वासना दीर्घ काल तक चली जाती है। अनन्तानुबन्धी भी क्रोध, मान, माया, लोभके चार दृष्टांत हैं। जैसे पाषाणमें रेखा बनाई जावे व बहुत दीर्घकालमें मिटे ऐसा क्रोध जो बहुत कालमें मिटे सो अनंतानुबंधी क्रोध है। पाषाणका खंभा जैसे नमे नहीं खंड होजाय तोभी नमे नहीं ऐसा मान जिसके हो वह अहंकारमें रहे व कभी विनयरूप न प्रवर्ते, दीर्घकाल तक भी नम्र न हो सो अनंतानुबन्धी मान है। बांसका वीडा जैसा कुटिल होता है

वैसा कुटिल व मायाचार जिसका दीर्घकाल तक छिपा रहे उसके अनंतानुबन्धी माया है। जैसे किरमिचका रंग दीर्घकालमें न मिटे ऐसा दीर्घकाल तक न मिटनेवाला लोभ अनंतानुबंधी है। इन कषायोंके कारण व सात तत्वोंकी यथार्थ श्रद्धा न होनेके कारण व आत्मा व अनात्माका भेद न जाननेके कारण मिथ्याज्ञान व मिथ्या विश्वासमें रमता हुआ प्राणी प्रायः नरकगति व नरक आयुको बांधकर नरक जाकर बहुत कष्टोंमें पड जाता है। ये चार कषाय व मिथ्यात्व ये पांचों अनादिकालसे जीवके वैरी होरहे हैं। इन हीके वश अनेक पंच परावर्तन इस जीवने इस अनंत संसारमें किये हैं, विचारवानको इनके क्षयके लिये उद्यम करना योग्य है।

श्लोक—लोभं अनृत सद्‌भावं, उत्साहं अनृतं कतं।
तस्य लोभं न शमितं च, तं लोभं नरयं पतं ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थ—(अनृत सदभावं) मिथ्यात्वके साथमें रहनेवाला (लोभं) अनन्तानुबन्धी लोभ (अनृतं उत्साहं कतं) मिथ्यात्व सेवनका उत्साह करता रहता है। (तस्य) ऐसे जीवका (लोभं) लोभभाव (न शमितं च) ठडा नहीं होता है। (तं लोभं) वह लोभ (नरयं पतं) नरकमें डाल देता है।

विशेषार्थ—अनन्तानुबन्धी लोभका स्वरूप यहां बताया है कि ऐसे लोभके वशीभूत प्राणी धनकी, पुत्र पौत्रादिकी तृष्णामें फंसा हुआ रात दिन इनहीकी प्राप्तिमें, इनहीके रक्षणमें उत्साह दिखलाता है। धनादि कमानेमें ऐसा तत्पर होजाता है कि धर्मसेवनके लिये समय नहीं निकालता है न नीति अनीतिका खयाल रखता है। उसका मिथ्यात्व भाव जो अनादिकालका अग्रहीत है वह दृढ़ होता जाता है तथा गृहीत मिथ्यात्व भी जड पकड़ लेता है। वह अपने स्वार्थ साधनके लिये कुदेवोंकी मान्यता किया करता है। यदि किसी समय कोई मान्यता उसके पूर्वकृत पुण्य कर्मके उदयसे सफल होजाती है, तो वह किसी कुदेवने ही ऐसा कर दिया ऐसी कल्पना करके कुदेवोंमें और अधिक श्रद्धालु व भक्तिवान होजाता है। उसको जिस किसी पदार्थका लोभ पैदा होजाता है यह दीर्घकालतक मिटता नहीं। जैसे रावणको सीताजीका गाढ़ लोभ पैदा होगया। वह वारवार समझानेपर भी परस्त्री रमणके भावोंसे विरक्त नहीं हुआ। इसीलिये मानी बन गया, युद्धमें अपना

सर्व खोकर नरकका पात्र होगया। लोभ मनकी पवित्रताका नाश कर देता है। लोभ न करने योग्य हिंसा, अनृत, चोरी, कुशील व परिग्रहमें वर्तन कर देता है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

शीतो रविर्भवति शीतरुचिः प्रतापी-स्तब्धं नभो जलनिधिः सरिदम्बुतृप्तः।

स्थायी मरुद्विदहनो दहनोऽपि जातु। लोभनलस्तु न कदाचिददाहकः स्यात् ॥ ६३ ॥

भावार्थ—कदाचित् सूर्य तो ठण्डा होजावे और चन्द्रमा तापकारी होजावे, आकाश जड़ होवे, समुद्र नदियोंसे तृप्त होजावे, पवन स्थिर होजावे, अग्नि शीतल होजावे तथापि लोभकी आग कभी शांत नहीं होती है।

स्त्री रागमें, राज्यके रागमें, बड़े२ युद्ध होजाते हैं। सर्वस्व नाश करनेवाला लोभ है जो अंतमें नरकमें डालनेवाला है।

श्लोक—लोभं कुज्ञान सद्भावं, अनादी भ्रमते भवे।
असत्ये लोभ चिंतंते, लोभं दुर्गतिकारणं ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थ—(कुज्ञान सद्भावं) मिथ्या ज्ञान सहित लोभके कारण यह प्राणी (अनादी) अनादिकालसे (भवे) संसारमें (भ्रमते) भ्रमण करता चला आया है। (असत्ये) मिथ्या पदार्थोंमें (लोभ-) राग (चिंतते) का विचार किया करता है (लोभं) यह लोभ (दुर्गतिकारणं) खोटी गतिका कारण है।

विशेषार्थ—जहांतक अनंतानुबंधी लोभ मिथ्यादर्शनके साथमें है वहांतक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्र इन तीनोंकी ऐकतारूप मोक्षमार्गका लाभ नहीं होता है वहांतक यह मिथ्याज्ञानी प्राणी संसारासक्त, पर्याय बुद्धि, विषयोंका लोलुपी बना रहता है इसको अतीन्द्रिय सुखके रसका भान नहीं आता है। इस देह, वचन, मनमें आपा मान लेनेसे यह अनादिकालसे संसारमें भ्रमता आया है व जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होगा भ्रमण करता रहेगा। ऐसा अज्ञानी जीव निरंतर रागके कारणोंकी ही चिंता करता रहता है। धनके संग्रहकी, शरीर बने रहनेकी, स्त्री पुत्रादिके संयोगकी, मनोज्ञ पदार्थोंके लोभकी, अनिष्ट पदार्थोंके वियोगकी, शत्रुओंके नाशकी, विषयमें सहायी मित्रोंके बने रहनेकी, आगामी उत्तमोत्तम भोग पानेकी, इत्यादि रागसे

सनी हुई चिन्ताओंके जालोंमें अटका रहता है। अपनी बढती परकी हानि चाहता है। अनेक प्रकार अपध्यान करता है, परधन व परस्त्रीकी चाह किया करता है, मान पुष्ट करनेकी अनेक बातें विचारा करता है। खेद है इस अपध्यानसे निरर्थक बहुत पाप बांध लेता है। जैसे तंदुल मच्छ महामच्छके उदरमेंसे जीवित मच्छोंको निकालते देखकर यह भाव किया करता है कि यदि मैं होता तो किसीको नहीं छोडता। वह इस निरर्थक अपध्यानके कारण सातवें नरककी आयु बांधकर सातवें नर्क चला जाता है वैसे ही यह अज्ञानी मानव वृथा रागके जालमें उलझा हुआ अनंतानुबंधी लोभके कारण नरक व तिर्यंचकी आयु बांधकर कुगतिमें गिर जाता है। अतएव इस मिथ्याज्ञानका संहार करना उचित है। और सम्यग्दर्शनका प्राप्त करना उचित है जिसके होते ही भावना बदल जाती है, पर पदार्थके स्वागतकी भावना नहीं रहती है।

श्लोक—अशाश्वते भावनं कृत्वा, अनेककष्ट कृतं सदा।
चेतना लक्षणो हीनः, लोभं दुर्गतिबन्धनं ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थ—(आशाश्वते) अनित्य जगतके पदार्थोंमें (भावनं) भावना (कृत्वा) करते करते इस जीवने (सदा) सदा ही (अनेक कष्टं कृतं) अनेक कष्ट पाए हैं। (चेतना लक्षणो हीनाः) चेतना लक्षणधारी होकर भी हीन होरहा है। जिसके कारण यह दशा है ऐसा (लोभं) यह लोभ (दुर्गतिबन्धनं) दुर्गतिका बंध करनेवाला है।

विशेषार्थ—अनंतानुबंधी लोभके कारण यह जीव जिस जिस शरीरमें प्राप्त हुआ वहां उस शरीरमें प्राप्त इंद्रियोंके भोगकी चाहकी दाहमें ही जला किया। यही आशा लगाते हुए भावना करता रहा कि आगामी सुख मिलेगा। एक तो इस चाहके कष्टमें दुःखी हुआ। दूसरे जब मिले हुए इष्ट पदार्थका वियोग होगया तब दुःखी हुआ। तीसरे विषयानुरागसे या विषयोंकी प्राप्तिके लिये किये गए हिंसादि पापोंसे जो अशुभ कर्म बांधे उनके उदय आनेपर अनेक नरक निगोद व तिर्यंचगतिके दुःख भोगे। इसतरह चाहकी दाहसे सदा ही इस जगतमें दुःखी रहा। ये जगतके पदार्थ एकसी स्थितिमें नहीं रहते, इनकी अवस्था बिगड़ जाती है। तब यह अज्ञानी जिनको सदा बनाए

रखना चाहता था उनको नष्ट हुआ देखकर महान क्लेश भोगता है। ग्रंथकर्ता कहते हैं कि यह जीव चेतना लक्षणको रखनेवाला होकर फिर अचेत व दीन हीन दुखी होरहा है यह बड़े खेदकी बात है। इसका स्वभाव तो सर्वको साक्षीभूत होकर देखना जानना तथा अपने स्वभावमें तन्मय रहना है। अपने अतीन्द्रिय आनन्दका भोग करना है परंतु यह मोहके मदमें अचेत होकर अपने स्वरूपसे बाहर रहता हुआ बड़ा ही हीन व तुच्छ होरहा है। धिक्कार हो लोभको जो इस जीवनमें भी दुःख देता है और आगे भी दुःखका दाता होजाता है। लोभ कषाय वास्तवमें अन्य सर्व कषायोंकी उन्नतिका निमित्त कारण है। तथा इसका नाश भी सर्व कषायोंके पीछे होता है इसलिये सबसे पहले ग्रंथकर्ताने अनंतानुबंधी लोभको ही धिक्कारा है। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं–

तिष्ठंतु बाह्यधनधान्यपुरःसरार्थाः। संवर्धिताः प्रचुरलोभवशेन पुंसा॥
कायोऽपि नश्यति निजोऽयमिति प्रचिन्त्य। लोभारिमुग्रमुपहन्ति विरुद्धतत्त्वं ॥८२॥

भावार्थ—अधिक लोभके वशसे जो बाहरी धनधान्य आदि पदार्थ बढ़ा लिये जाते हैं उनकी तो बात ही क्या है, वे तो नष्ट हो ही जाते हैं किंतु जिसको अपना खास मानते हैं ऐसा शरीर भी नष्ट होजाता है–सब छोड़कर जाना होता है। ऐसा विचार कर बुद्धिमान इस आत्माके विरोधी स्वभावको रखनेवाले भयानक लोभरूपी शत्रुका नाश ही करते हैं।

लोभके नाशका उपाय जिनवाणीका पुनः पुनः मनन कर आत्मा और आत्मासे भिन्न पदार्थोंका भेदज्ञान है यही उपादेय है।

श्लोक—मानं असत्य रागं च, हिंसानंदी च दारुणं।
परपंचं चिंत्यते येन, शुद्धतत्वं न पश्यते ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थ—(मानं) अनंतानुबन्धी मान (च असत्य रागं) भी मिथ्या पदार्थोंमें रागसे होता है। इस मान कषायसे (दारुणं हिंसानंदी) भयानक हिंसानंदी ध्यान रहता है। (येन) जिस ध्यानके कारण (परपंचं) प्राणी नानाप्रकार झगड़े व मायाचारको (चिंत्यते) चिंतवन करता रहता है और (शुद्धतत्वं) शुद्ध आत्मीक तत्वको (न पश्यते) अवलोकन नहीं करता है।

विशेषार्थ—जिसको संसारके अनित्य पदार्थोंमें-स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, राज्य, भोगविलासमें तीव्र अनुराग होगा वह इन पदार्थोंको थोडे या बहुत होते हुए अपने मनमें अहंकार कर लेगा। तथा सदा ही यह चिन्तवन करेगा कि मेरेसे अधिक किसीका नाम न हो। वह दूसरोंकी बढती न चाहेगा किन्तु दूसरोंकी हानि विचारेगा। मेरेसे दूसरेके पास अधिक धन व कुटुम्ब आदि न हो ऐसा सोचते हुए दूसरोंकी हानि करके भी अपना लाभ चाहेगा। यदि कदाचित् किसीकी अकस्मात् धनकी व कुटुम्बकी हानि होजावे व कहीं २ अपमान होजावे तौ यह सुनकर बहुत प्रसन्नता मानता है। यदि किसीने कुछ भी अपमान किया तो उसका बदला लेनेका विचार करके उसको हानि पहुंचानेका प्रपंच रचता रहता है। रात दिन जगतकी विभूतिके मोहमें आसक्त हो 'मैं ऐसा मैं ऐसा' ऐसा मान भाव रखता हुआ व्यवहारके झंझटमें ही फंसा हुआ धर्मकी तरफ निगाह नहीं करता है। तत्वज्ञानीकी संगति नहीं करता है न तत्वज्ञानीके मुखसे कुछ उपदेश सुनता है। न उसपर विचार करता है। उसको शुद्ध आत्मस्वरूपका श्रद्धान होना अति दुर्लभ होजाता है। वास्तवमें मान कषायसे प्राणी अन्धा होजाता है। श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

अहंकारो हि लोकानां विनाशाय न वृद्धये। यथा विनाशकाले स्यात् प्रदीपस्य शिखोज्वला ॥१९४॥

भावार्थ—अहंकार लोभोंकी वृद्धि कुछ नहीं करता है किंतु हानि ही करता है जैसे दीपककी शिखा विनाशकालमें ही ऊंची होजाती है।

श्लोक—मानं अशाश्वतं दृष्टं, अनृतं रागनंदितं।
असत्ये आनंद मूढस्य, रौद्रध्यानं च संयुतं॥ १५६ ॥

अन्वयार्थ—(मानं) मानको (अशाश्वतं) अनित्य (दृष्टं) देखा गया है। (अनृतं) यह झूठा है। (रागनंदितं) मात्र रागमें मगन होता है। (असत्ये आनंद मूढस्य) जो मूढ मिथ्या वातोंमें आनंद मानता है वह (रौद्रध्यानं च संयुतं) रौद्रध्यान सहित होता है।

विशेषार्थ—मानीका मान सदा बना नहीं रहता है, शीघ्र ही नष्ट होजाता है। जिन पदार्थोंके आश्रयसे वह मान करता है वे पदार्थ थिर रहनेवाले नहीं हैं। यदि धन नष्ट होगया, पुत्रका वियोग

होगया, रोगग्रसित होगया, वृद्धावस्था होनेपर अशक्त होगया, कोई भारी अपमान होगया तो उसका मान स्वयं नष्ट होजाता है तब उसके चित्तमें बड़ी ही लज्जा घर कर लेती है। वह अपने कर्मोंके उदयकी ओर न खयाल करके किसी मानव विशेषके ऊपर क्रोध कर लेता है कि इनके बुरा विचारनेसे या इनके बुरे उपायसे ही मेरा नुकशान होगया है। इनकी ईर्षासे ही मेरा पुत्र मर गया है। इनके षड्यंत्रसे मेरा अपमान होगया है। इस तरह अपनी कल्पनासे दूसरोंको दोषी मानकर उनके साथ हिंसानंदी रौद्रध्यान कर लेता है। यह मान वास्तवमें झूठा है, क्योंकि उन पदार्थोंको लेकर मान किया जाता है वे पदार्थ एकसे नहीं रहते हैं। तथा मान करना ये भी झूठा है कि जगतमें उससे अधिक धनवान, पुत्रवान, रूपवान, विद्वान लोक पड़े हैं। फिर मैं बड़ा हूं और छोटे हैं यह मानना मिथ्या है। मानमें मात्र क्षणिक पदार्थोंके ममत्वमें मूर्छावान होकर दूसरोंको नीचा देखा जाता है। यह वास्तवमें मिथ्या राग है। इस मिथ्या आनन्दमें मूढ प्राणी निरन्तर परिग्रहानंद व हिंसानन्द रौद्रध्यानमें फंसा रहता है और तीव्र पाप कर्मका बन्ध करता है।

श्लोक—मानी पुन उत्पादंते, कुमते अज्ञानं श्रुतं।
मिथ्या माया मूढदृष्टी च, अज्ञानरूपी न संशयः ॥१५७॥

अन्वयार्थ—(मानी) ज्ञानके अहंकारसे पूर्ण मानी विद्वान (पुन) फिर (कुमते) अपनी खोटी बुद्धिसे (अज्ञानं श्रुतं) मिथ्या ज्ञानमई शास्त्रको (उत्पादंते) रचता है। उसका रचा शास्त्र (मिथ्या माया मूढदृष्टी च) मिथ्या होता है, मायाचारसे पूर्ण होता है, मूढ श्रद्धानसे भरा हुआ होता है। (अज्ञानरूपी) अज्ञानमई होता है, (न संशयः) इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—मानकी पुष्टि करनेको, राजा महाराजाओंसे व जनतासे मान प्रतिष्ठा चाह करके विद्याके अभिमानमें चूर मानी जीव परको रंजायमानकारी रचना गद्यमें या पद्यमें करते हैं। अपनी मिथ्यात्व वासित बुद्धिसे मिथ्यात्व गर्भित ज्ञानको पुष्ट करनेवाले शास्त्रकी रचना करते हैं। उस शास्त्रमें बहुतसे मिथ्या कथन मिला देते हैं। उसमें परको विषयकषायोंमें लगानेके लिये कपटरूप कथन होता है तथा वह शास्त्र सम्यक् धर्मसे विरोधी मिथ्या धर्मकी या संसारकी विषय-

वासनाको पुष्ट करनेवाला होता है। वह मिथ्या ज्ञानको ही विस्तारता है। जो जो उसको पढते हैं व आगे पढेंगे वे सब धर्मसे रुचि हटाकर अधर्ममें, व संसारमें व जगतके मोहमें फंस जायेंगे। उस मानीको इसका कुछ भी ध्यान नहीं होता है। वह काव्य छंद अलंकार आदिमें वाहवाह कराकर, अभिमानको बढाकर अपनेको कृतार्थ मान लेता है। उसका शास्त्रज्ञान उसके लिये विषवत् घातकका काम करता है। मलीन भावोंसे अशुभ कर्मको बांधकर वह दुर्गतिका पात्र होजाता है। जो आत्मज्ञानसे विमुख करनेवाला व संसारके झूठे मोहमें लिप्त करानेवाला शास्त्र हो वह शास्त्र नहीं है शस्त्र है। ऐसे घातक शास्त्रको रचकर जो विद्वानपनेका अभिमान पुष्ट करते हैं वे अपना संसार अनंतकालके लिये बढा लेते हैं।

श्लोक—मानस्य चिंतनं दुर्बुद्धिः, बुद्धिहीनो न संशयः।
अनृतं ऋत जानंते, दुर्गति पश्यंति ते नरा ॥१५८॥

अन्वयार्थ—(मानस्य) मानका (चिंतनं) चिंतवन करना (दुर्बुद्धिः) मिथ्या बुद्धि है। जो मानी है वह (बुद्धिहीनो) बुद्धि रहित है (न संशयः) इसमें कोई संशयकी बात नहीं है। (अनृतं) मिथ्याको (ऋत) सच्चा (जानंते) जो मानते हैं (ते नरा) वे मानव (दुर्गति) कुगति (पश्यंति) को देखते हैं।

विशेषार्थ—जिनकी बुद्धि निर्मल होती है वे यह समझते हैं कि संसारके सर्व पदार्थ नाशवंत हैं, छूट जानेवाले हैं, इनके संयोग होनेपर अभिमान करना व्यर्थ है। परन्तु जो बुद्धि रहित, विचार रहित हैं वे मान कषायमें फंसे हुए अपनी कुबुद्धिका फल भोगते हैं। वे यही रातदिन सोचते रहते हैं कि मेरा किसी तरह मान खंडन न हो, मैं बड़ा माना जाऊँ, मेरी खूब प्रतिष्ठा हो, दूसरे लोग मेरी सेवा करें। सर्व मेरे साथी कुटुम्बी मेरे अनुकूल वर्तन करें। वह यह ध्यानमें नहीं रखता है कि हरएक जीवका परिणमन उस उसके आधीन है। कोई जीव सदा ही किसीके अनुकूल नहीं चल सक्ता है। इस बातको भूलकर वह सदा ही स्त्रीको, पुत्रको, सेवकको अपनी इच्छाके अनुसार चलाना चाहता है। यदि कदाचित् वे न चले तो मान खंडन समझकर उनपर बहुत क्रोध कर लेता है व उनको बहुत कष्ट देता है। ग्रंथकर्ता कहते हैं कि ऐसा मानी जीव मिथ्याको सत्य मान लेता है। जितनी पर्यायें हैं या अवस्थाएं हैं वे सब क्षणिक हैं-नाशवंत हैं, वस्तुका मूल स्वरूप नहीं है।

यह अज्ञानी उन अथिर पर्यायोंको थिर मान लेता है। उनके बिगडनेपर या वियोग होनेपर यह महा खेद करता है। पुनः संयोग पानेकी लालसा करता है–आर्तध्यानमें फंस जाता है। इसतरह यह अपनी कुबुद्धिसे अनंतानुबंधी कषायके कारण कुगतिको बांधकर नरक या तिर्यंच गतिमें जन्म-लेकर दीर्घकाल तक मानके फलसे नीच, दीन, दुःखी होकर अपमान पाता है फिर नरजन्मका मिलना अति कठिन होजाता है।

श्लोक—मानबंधं च रागं च, अर्थं विचिंतनं परं।
हिंसानंदी च दोषं च, स्तेयं दुर्गतिबंधनं ॥ १५९ ॥

अन्वयार्थ—(मानबंधं च रागं च) मानके बंधमें फंसा हुआ रागी जीव (परं अर्थं) दूसरेके धनकी (विचिंतनं) खोटी चिंता किया करता है। वह (हिंसानंदी च दोषं च) हिंसानंदी दोषका भागी होता है व (स्तेयं) चौर्यानंदी रौद्रध्यानी होकर (दुर्गतिबंधनं) कुगतिका बंध कर लेता है।

विशेषार्थ—अभिमानी मानवको अपने मानको बढानेका इतना भारी राग होता है कि वह अपनेसे दूसरोंको छोटा देखना चाहता है। यदि किसीके पास धन है, या मिलनेवाला है, या राज्य-सम्पदा या अन्य सोना, चांदी, जवाहरात आदि पदार्थ हैं यह चाहता है कि वे घट जावे, उनकी हानि होजावे, उनकी चोरी होजावे तो ठीक है। ऐसा हिंसानंदी और चौर्यानंदी रौद्रध्यान वृथा ही कर करके खोटी गति बांध लेता है। धिक्कार हो इस मान कषायको जिसके कारण धनादि पदार्थोंके संचय करनेमें महान तृष्णा होजाती है। मैं सबसे बड़ा माना जाऊँ यह मान उस अज्ञानी जीवको न्याय व अन्यायके विवेकसे शून्य कर देता है। यह धनका लोभी असत्य बोलकर विश्वा-सघात करके घोर हिंसा करके अनाथ बालक व विधवाओंका धन छल बलसे हरण कर व बड़ी चतुराईसे उनको अपने वश करके अपने अभिमानकी पुष्टि करता है। यह मानी जीव धनवान विधवाओंको फुसलाकर उनके शीलको भी खंडन करता है और उनसे धन भी लूटता है। तथा यही अपनी समाजमें मुखिया बनकर बडा अभिमान दिखलाता है और यह बताना चाहता है कि यह बडा जातिहितैषी, न्यायवान व धर्मात्मा है। मानके पुष्ट करनेको यह दूसरोंके प्राण लेकर भी–

उनका सर्वस्व हरण करके भी राज्य धनादिका स्वामी होना चाहता है। यदि कहीं मान खंडन हुआ तो यह महान क्रोधके वशीभूत हो युद्धादि ठान लेता है, जिसमें घोर हिंसा होजाती है। मानीको मानके सामने इतना अंधेरा होजाता है कि उसे धर्म, न्याय, तथा अहिंसादि भावोंकी कुछ परवाह नहीं रहती है। वह घोर स्वार्थी वन जाता है। उसका हृदय महान कृष्ण होजाता है, जिसपर धर्मका उपदेश रंचमात्र भी असर नहीं करता है।

श्लोक—मानं रागसम्बधं, तप दारुणं बहुश्रुतं।

अनृतं अचेत सद्भावं, कुज्ञानं संसारभाजनं॥ १६०॥

अन्वयार्थ—(रागसम्बन्धं मानं) संसारके रागसे बंधा हुआ मानी जीव (तप दारुणं) घोर तपस्याको तथा (बहुश्रुतं) बहुत शास्त्रज्ञानको करता हुआ भी (अनृतं) मिथ्यात्व (अचेत) व अज्ञान (सद्भावं) की सत्ता रखता है। वह (कुज्ञानं) मिथ्याज्ञान (संसारभाजनं) उसे संसारका ही पात्र रखता है।

विशेषार्थ—जिसके मनमें वैराग्य व आत्मज्ञान नहीं होता है वह प्राणी परलोकमें स्वर्गादिके सुखोंके रागसे बंधा हुआ या मोक्षमें भी अनंत इंद्रिय सुख मिलेगा इस भावनासे घोर तप करता है। जिनका जैनधर्मका सम्बन्ध नहीं है वे पंच अग्नि तपना, हाथ उठाए रखना, जटा बढाना, शीत सहना, उष्ण सहना, आदि भयानक तप तपते हैं। जिनको जैन शास्त्रका सम्बन्ध है वे जैन शास्त्रके चारित्रके अनुसार यथार्थ बारह प्रकारके तप पालते हैं, चारित्रमें कोई दोष या अतीचार नहीं लगाते हैं, व्यवहार चारित्र पालते हुए मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायके उदयसे उस तपका ही घमंड कर लेते हैं कि हम बड़े तपस्वी हैं। कोई २ बहुतसी विद्याओंको पढकर अभिमान कर लेते हैं, कोई जैनके शास्त्रोंको पढ़कर हम शास्त्री हैं ऐसा मान कर लेते हैं, कोई तपस्वी मिथ्यात्वी मुनि ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक ज्ञानके धारी होजाते हैं, बहु श्रुती होकर मान कर लेते हैं। जिस कषायके नाशके लिये तप करना व शास्त्र ज्ञान प्राप्त करना उचित था उसी कषायको और बढ़ा लेते हैं। मिथ्यात्व और अज्ञानके होनेके कारणसे वे अपना सचा हित नहीं कर पाते हैं। वे मोक्षमार्गको न पाकर संसारके ही मार्गमें चलते रहकर संसारमें ही जन्म मरण करते रहते हैं।

हम ज्ञानी, हम तपस्वी, हम धर्मात्मा हम बडे योगी, यह अहंभाव मान कषायका ही रूपक है। यह मान कषाय उनको शुद्धात्मीक तत्वमें अनुभवके अयोग्य बना देता है। वे मानके विषको पीये हुए मान कषाय कारक कर्मका विशेष बन्ध कर लेते हैं और नीच गोत्रको बांधकर अनन्त नीच योनियोंमें जन्म ले लेकर कष्ट पाते हैं। सारसमुच्चयमें कहा है—

हीनयोनिषु बंभ्रम्य चिरकालमनेकधा। उच्चगोत्रे सकृत्प्राप्ते कोऽन्यो मानं समुद्वहेत् ॥ २९५ ॥

भावार्थ—यह प्राणी दीर्घकाल तक अनेक प्रकारकी हीन योनियोंमें भ्रमण करता है तब कहीं इसे एक दफे उच्च गोत्रका लाभ होता है। कौन बुद्धिमान इसका अभिमान करेगा, क्योंकि यह भी छूट जानेवाला है और फिर अनन्त हीन योनियोंमें पटक देनेवाला है। इसलिये ज्ञानीको क्षणभंगुर पर्यायकी प्राप्तिका मान न करके समभाव रखना चाहिये। मान परिणामोंको कठोर बनाकर इस जन्ममें भी बुरा करता है और परलोकमें भी बुरा करता है।

श्लोक—माया असत्य रागं च, अशाश्वतं जलविंदुवत्।
यौवनं अभ्रपटलस्य, माया बंधन किं कृतं ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थ—(माया) माया कषाय (असत्य रागं च) असत्य जगतके पदार्थोंमें राग करनेसे होती है। जगतके पदार्थोंकी अवस्था (जलविंदुवत्) जलकी बूंदके समान (अशाश्वतं) क्षणभंगुर है। (यौवनं) युवानी (अभ्रपटलस्य) मेघोंके समान विला जानेवाली है (मायाबन्धन) तेरी मायाके बंधनने (किं कृतं) क्या किया अर्थात् कुछ नहीं किया।

विशेषार्थ—अब अनन्तानुबन्धी माया कषायका वर्णन करते हैं। लोभ कषाय व मान कषाय व क्रोध कषाय वश यह प्राणी माया कषाय कर लेता है। राज्य, धन, संपदा, भूमि, गाय, भैंस, घोडा रथ आदि पदार्थोंके संग्रहकी इच्छासे यह प्राणी मायाचार या कपट करके बहुतोंको ठगता है। कभी मानके बढानेको मायाचार करके अपना महत्व दिखाता है, दूसरोंका ही महत्व घटाता है। कभी किसीपर द्वेष होता है तो उसको हानि पहुंचानेके लिये मायाचार रचता है। मूल हेतु विषयोंमें अपना राग है। जिस जीवनकी आशासे लक्ष्मी संचय करता है वह जीवन उसी

तरह नष्ट होजायगा जैसे पानीका बुदबुदा नष्ट होजाता है व घासकी नोकपर रक्खी हुई पानीकी बूंद गिर जाती है। जिस युवानीके मदको बनाए रखना चाहता है वह भी मेघ पटलके समान विला जाने वाली चीज है। धनादि सम्पदा भी मेघके समान देखते२ चल देती है। तब यह मायाका बंधन हमारा कुछ हित नहीं करता है। हम मायाचारके तीव्र पाप बांधकर तिर्यंच होजाते हैं।

सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

यां छेदभेददमनांकनदाहदोहवातातपान्नजलरोधवधादिदोषाम्।
मायावशेन मनुजो जननिन्दनीयां, तिर्यग्गतिं व्रजति तामतिदुःखपूर्णाम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—मायाके आधीन होकर मानव अति दुःखोंसे भरी हुई और निंदनीक तिर्यंच गतिको प्राप्त हो जाता है, जहां छेदन, भेदन, निरोध, दागा जाना, दुहा जाना, हवा, गरमी, अन्न जल निरोध आदि दोषोंको भोगना पड़ता है।

श्लोक—माया अशुद्ध परिणामं, अशाश्वतं संग संगतेः।
दुष्टं नष्टं च सद्भावं, माया दुर्गतिकारणं ॥१६२॥

अन्वयार्थ—(माया) मायाचारका भाव (अशुद्ध परिणामं) आत्माका अशुद्ध मलीन भाव है। जो (अशाश्वतं संग संगतेः) विनाशीक परिग्रहकी संगतिसे पैदा होता है (दुष्टं) यह दोष पूर्ण है (नष्टं च सद्भावं) जहां सत्य भावका नाश है (माया दुर्गतिकारणं) ऐसी माया दुर्गतिका कारण है।

विशेषार्थ—आत्माका स्वभाव कषाय रहित वीतराग व शुद्धोपयोग रूप है। माया कषायके उदयसे वंचक भाव व मलीन भाव होजाता है। जगतके जो २ पदार्थ विनाशीक हैं ऐसे धन, सुवर्ण, राज्य आदिके निमित्तसे उनमें तीव्र लोभ होनेसे उनकी प्राप्तिके लिये मायाचारके भाव उठाए जाते हैं। यह मायाचारका भाव अत्यन्त दुष्ट है। अति दुष्टता लिये हुये है। दूसरोंको ठगनेका विकराल भाव जहां प्राप्त होजाता है। इस मायाचारके होनेसे स्वाभाविक शांत भाव नष्ट होजाता है। यह माया दुर्गतिका ही कारण है। असत्य व चोरीका जितना कुकर्म है वह मायाके द्वारा ही किया जाता है। मायाचारी झूठा सिक्का चलाता है व झूठे नोट बना लेता है, झूठे दस्तावेज लिख लेता

है, झूठे मुकद्दमें चलाता है, सचको झूठ कर देता है, झूठको सच कर देता है। मित्र बनके प्रीति व विश्वासका भाजन बनता है परन्तु भीतरसे ठगनेके भाव होते हैं जिनसे वह मित्रको भी ठग लेता है। मायाचारीको जरा भी दया नहीं होती है। धर्मके नामसे अलग किये हुए पैसेको अपने काममें लेने लगता है। जब कोई मांगता है तो मायाचारीसे ऐसी बातें बनाता है मानो धर्म द्रव्य इसके पास सुरक्षित ही है। मायाचारी बड़े २ महन्त बनकर भोले भक्तोंको ठगते हैं। उनसे द्रव्य संचय करके मनमाने विषयभोग करते हैं। माया प्राणीके मनको महा नीच बना देती है इसीसे मायाचारी बहुधा तिर्यंच आयुका बंध कर लेता है।

श्लोक—माया अनंतानं कृत्वा, असत्ये रागरतो सदा।
मनवचनकाय कर्तव्ये, मायानंदी चुतो जड़ः ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थ—(अनंतानं माया कृत्वा) अनंतानुबंधी मायाके कारण (सदा) सदा ही (असत्ये रागरतः) मिथ्या पदार्थोंके रागमें आसक्त रहता हुआ (मायानंदी) मायाचार करनेमें आनंद मानता हुआ (मनवचनकाय कर्तव्ये) मन, वचन, काय द्वारा क्या उचित करने योग्य है उसमें (चुतः) हटा हुआ (जड़ः) अज्ञानी बना रहता है।

विशेषार्थ—अनन्तानुबन्धी माया कषाय सम्यक्तकी व शुद्ध स्वरूपके भीतर आचरण करानेकी विरोधी है। इस कषायके उदयमें प्राणीके भीतर ऐसा गाढ़ अंधेरा रहता है कि वह शुद्ध आत्माको न पहचानकर उसमें तो प्रेम नहीं करता किंतु जो शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि मिथ्या माने हुए व नाशवंत पदार्थ हैं उन हीमें तन्मय रहता हुआ, मन वचन कायके उचित व्यवहारको नहीं करता हुआ धर्मके ज्ञानसे रहित मूर्ख बना रहता है। वह रातदिन अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये मनमें कुटिलता व कपटका विचार करता है, वचनोंसे कपटभरी बातें करता है, कायसे कपटयुक्त क्रिया करता है, मनमें कुछ और ही होता है, वचनसे कुछ और ही कहता है, कायसे कुछ और ही क्रिया करता है। सरलता व आर्जव धर्मके विरुद्ध उसका व्यवहार होजाता है। उसको मायाचार करनेमें ही आनन्द आता है। यदि वह कपटसे किसीको ठग करके कुछ सम्पत्ति पैदा कर लेता है तो वह अपनेको बड़ा चतुर मानता है और अधिक मायाका जाल फैलानेके लिये कटिबद्ध होजाता है।

उसका जीवन ही मायाचारीके विकल्पोंमें वीतता है। रातदिन यही विचार किया करता है। ऐसा मूर्ख प्राणी यह नहीं देखता है कि जिस धनके लिये मैं दूसरोंको ठगता हूं वह धन छोडकर चला जाना पडेगा। तथा इससे जो घोर पाप कर्म बांधा जारहा है उसका कटुक फल प्राप्त होगा। जैसे उलूक सूर्यको नहीं देखता है, दिनको रात्रि समझता है वैसे ही अज्ञानी मायाचारी धर्म व परलोककी ओर दृष्टि नहीं करता है। मात्र क्षणिक स्वार्थमें ही लिप्त हो मायामें ही प्रसन्न हुआ करता है।

श्लोक—माया आनंद संयुक्तं, अनृतं अचेत भावनं।
मनवचनकाय कर्तव्ये, कुबुद्धी विश्वास दारुणं ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थ—(माया आनन्द संयुक्तं) मायाचारके आनंदमें भरपूर वह अज्ञानी (अनृतं) मिथ्यात्व व (अचेत) अज्ञानकी (भावनं) भावना किया करता है। (मनवचनकाय कर्तव्ये) मन, वचन, कायके करने योग्य व्यवहारमें (कुबुद्धी) खोटी बुद्धि रखता हुआ (दारुणं विश्वासं) तीव्र विश्वास रखता है।

विशेषार्थ—मायानंदी जीव मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञानकी निरन्तर भावना रखता है। आत्मीक तत्वसे विरुद्ध जो संसार तत्व है उसीमें तन्मय रहता है, विषयोंकी लम्पटता व मिथ्यात्व वर्द्धक कुदेव, कुगुरु, कुधर्मकी सेवा व मिथ्याज्ञान वर्द्धक ग्रन्थोंका आराधन किया करता है। उसकी भावना यही रहा करती है कि किसी तरह अपना मतलब सिद्ध करूं। कदाचित् वह जिनेंद्र प्रणीत देव, गुरु, धर्मकी भी भक्ति करता है व जिनवाणीका भी मन लगाकर अभ्यास करता है, परन्तु माया शल्यके कारण उस मिथ्यात्वीका उद्देश्य आत्मकल्याण न होकर स्वार्थ साधन होता है, वह इस तरह कि मैं अपने बाहरी धर्म साधनका प्रभाव, देखनेवाली जनतापर डालकर उनकी प्रतीतिमें यह विश्वास जमादूं कि वे मुझे धर्मात्मा मानने लगें फिर मैं उनसे अपना लौकिक स्वार्थ सिद्ध करूं। ऐसी मिथ्या वासनासे अपना सर्व धार्मिक कृत्य अधार्मिक बना देता है। तथा वह अपने मायाचारके फैलानेमें तीव्र विश्वास रखता है, बडी श्रद्धासे मायाकी जाल फैलाता है और मन, वचन, कायका कुटिल व्यवहार करता है। उनके मनमें यह श्रद्धा मिथ्याज्ञानके कारणसे जम जाती है कि मेरी कुटिलताको कोई जान नहीं सक्ता है, मैं ऐसा चतुर हूँ कि सबकी आंखोंमें धूल डालकर, अपना स्वार्थ सिद्ध कर सक्ता हूँ। इस तरह अपने कपटके व्यवहारमें घोर श्रद्धान रखता हुआ रातदिन

कपटके फंदेमें फंसा रहता है। उसका भाव बांसके बेड़ेके समान अदृश्य मायाचारकी गहरी वासनासे वासित होता है।

श्लोक—माया अचेत पुन्यार्थं, पाप कर्म च वर्धते।
शुद्ध तत्व न यस्यंते, मायावी नरयं पतं ॥१६५॥

अन्वयार्थ—(माया अचेत) मायामें लिप्त अज्ञानी जीव (पुण्यार्थे) पुण्यरूप किये हुए कार्योंसे भी (पाप कर्म च वर्धते) पाप कर्मोंका ही बन्ध बढ़ा लेता है (शुद्ध तत्व न यस्यंते) वह शुद्ध आत्मतत्वको नहीं अनुभव करता है ऐसा (मायावी) मायाचारी (नरयं पतं) नरकमें चला जाता है।

विशेषार्थ—मायाके अंधकारसे जिसकी बुद्धि मलीन होरही है ऐसा मिथ्याज्ञानी जीव अपनी माया फैलानेके लिये उन कामोंको बड़ी ही बाहरी भक्तिसे करता है। जिन कार्योंके सरलतासे व कपट रहित करनेसे पुण्य कर्मोंका बन्ध होता है, परन्तु वह बिचारा उन्हीं कार्योंसे घोर पाप कर्मका बन्ध कर लेता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, व दान–ये छः गृहस्थके कार्य पुण्यबंध करानेवाले हैं। परन्तु माया शल्यके साथ किये हुए इनहीसे पापका घोर बन्ध होजाता है। कर्मोंका बन्ध भीतरी वासनासे होता है। वीतरागताका जिसका अभिप्राय होगा उसके तो बहुतसे पापोंका क्षय होगा। निदान रूप विषयभोगोंका अभिप्राय होगा तो वह अल्प पुण्य बन्ध करेगा। यदि मायाचारका अभिप्राय होगा तो वह माया कषायके कारण तीव्र पापका बंध करेगा। मायावीके मात्र छल कपटकी भावना रहती है। वह तो उस ठगियाके समान है जो विश्वासपात्र मित्र बनकर मित्रता करता हुआ भी ठगनेका ही भाव रखता है। जैसे बिल्ली चूहेके लोभमें रहती है वैसे वह स्वार्थ साधनके लोभमें रहता है। अतएव पुण्यके स्थानमें पापोंका ही बन्ध करता है। वह मिथ्यादृष्टी जीव शुद्ध तत्वको नहीं पहचानता है, न उसकी रुचि करता है, न उसका अनुभव ही कर सक्ता है। वह कृष्णादि अशुभ लेश्याके कारण नरकगति बांध लेता है। माया कषाय इस जीवका बड़ा ही बुरा करनेवाला है, ऐसा जानकर जो अपना हित करना चाहें उनको माया कषायका त्याग करके सरलतासे ही व्यवहार करना चाहिये और इस मानवजन्मको आर्जवधर्मको पालकर सफल

करना चाहिये। थोडीसी आयुके लिये मायाचारकरके धनका एकत्र करना आगामी पापके उदयसे तीव्र दुःखका कारण होजायगा। सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

शीलव्रतोद्यमतपःशमसंयुतोऽपि, न चाश्नुते निकृतिशल्यधरो मनुष्यः।
आत्यंतिकीं श्रियमबाधसुखस्वरूपां, शल्यान्वितो विविधधान्यधनेश्वरो वा ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जो कोई मानव शील, व्रत, उद्यम, तप, शांत भावसे विभूषित है परन्तु माया-शल्यसे पीडित है वह बाधा रहित सुखमई मोक्षकी लक्ष्मीको नहीं पासक्ता है। जैसे नानाप्रकार धनका स्वामी होनेपर भी कांटा लग जानेपर वह दुःखहीको भोगता है।

श्लोक—कोहाग्निः अशाश्वते पोषितं, शरीरे मानबंधनं।
अशाश्वतं तस्य उत्पादं, कोहाग्निः धर्मलोपनं ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(कोहाग्निः) क्रोधकी अग्नि (अशाश्वते) क्षणभंगुर पदार्थके निमित्तसे (पोषितं) भड़क उठती है। (शरीरे मानबंधनं) शरीरमें अहंकार होनेसे इसका बंधन है। (तस्य) इस क्रोधसे (अशाश्वतं) विनाशीक संसारका (उत्पादं) जन्म होता है। (कोहाग्निः) यह क्रोधकी अग्नि (धर्मलोपनं) धर्मका लोप करनेवाली है।

विशेषार्थ—जिन प्राणियोंका ममत्व शरीरमें व शरीरके सुखके सहकारी स्त्री पुत्रोंमें व अन्य विषयके पदार्थोंमें होता है, जो अपनी पर्यायके ममत्वमें बंधे हुए होते हैं, उनको विनाशीक पदार्थोंके निमित्तसे क्रोध होजाता है। जब कोई उनको बिगाडता है या वे बिगडते तो स्वयं हैं परन्तु यह अज्ञानसे किसीको उसमें कारण मानकर उनपर बहुत क्रोध करता है। जिसके अनंतानुबन्धी क्रोध होता है वह जरासा भी निमित्त मिलता है कि क्रोधमें आगभभूका होजाता है, अपने आधीन निर्बल, स्त्री, पुत्र, पुत्री, सेवक आदिको बहुत कष्ट देता है। मान व लोभके तीव्र उदयसे यदि किसीके द्वारा मानमें व लोभके साधनमें बाधा पहुंचती है तो यह क्रोधित हो उस व्यक्तिसे अति द्वेष या वैरभाव बांध लेता है तथा उसको कष्ट पहुंचाए विना चैन नहीं पाता है। इस क्रोध कषायसे वह कर्म बांधकर इस विनाशीक संसारको और बढ़ा लेता है। क्रोधके कारण धर्मका भी

लोप कर दिया जाता है। यदि किसी धर्मात्माने कोई हितकी बात कही है तथा इसतरह पर कही है कि जिससे इसके दिलमें कुछ असर होवे। यह उस बातसे इतना बुरा मान लेता है कि जाने जो कुछ धर्म सेवता था उसको भी छोड़ बैठता है। क्रोधको यदि वश नहीं कर सके तो बडे २ तपस्वी भ्रष्ट हो दुर्गतिके पात्र होजाते हैं। क्षमा जहां है वहीं धर्मकी उन्नति है। जहां क्रोध है वहां धर्मका नाश है। क्रोध कषाय परिणामोंको अति मलीन व हिंसक बना देता है। सुभाषित० में कहते हैं–

धैर्यं धुनाति विधुनोति मतिं क्षणेन, रागं करोति शिथिलीकुरुते शरीरं।
धर्मं हिनस्ति वचनं विदधात्यवाच्यं, कोपो ग्रहो रतिपतिर्मदिरामदश्च ॥ १६ ॥

भावार्थ—यह क्रोधरूपी राक्षस कामके समान या मदिराके नशेके समान धैर्यको नाश कर देता है, क्षणमात्रमें बुद्धिको बिगाड देता है, रागको या हठको बढा देता है, शरीरको शिथिल कर देता है, धर्मको नाश कर देता है, व न कहने योग्य वचनोंको कहलाने लगता है।

वास्तवमें यह क्रोध इस लोक व परलोकमें महान् बाधाकारी है।

श्लोक—एतत्तु भावनं कृत्वा, अधर्मं तस्य पस्यते।
रागादि मल संजुक्तं, अधर्मं तत्तु गीयते ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थ—(एतत्तु भावनं कृत्वा) जहां ऊपर लिखित सात व्यसन, आठ मद व चार अनन्तानुबन्धी कषायोंकी भावनाएं की जाती हैं (तस्य) वहां उस प्राणीके भीतर (अधर्मं) अधर्म ही (पस्यते) देखा जाता है। (रागादि मल संजुक्तं) जो कुछ भाव या वचन या क्रिया रागद्वेषादि मलके साथमें है (तत्तु अधर्मं गीयते) उसको तो अधर्म ही कहा जाता है।

विशेषार्थ—ग्रंथकर्ताने कुधर्मका स्वरूप ऊपर बहुत विस्तारसे कहा है, तथा स्पष्ट कर दिया है कि भावना ही अधर्म है व भावना ही धर्म है। जहां अपने शुद्ध स्वरूपकी भावना नहीं है वहां संसारकी भावना होगी। जहां संसारकी भावना होगी वहां पांच इंद्रियोंके भोगकी व लोभ व मान कषायकी पुष्टिकी ही विशेष भावना होगी। इस अशुभ भावनासे पीडित होकर वह प्राणी अवश्य ही सात व्यसनोंकी भावनामें फंस जायगा, आठ प्रकारका मद करेगा, तीव्र क्रोधादि

कषायका भागी होगा। उसके भावोंमें अधर्म ही अधर्म हर समय पाया जायगा। वास्तवमें वीतराग विज्ञान तो धर्म है। उसके विरुद्ध जो कुछ भी रागद्वेष आदि मैलसे मैला भाव है वह सब अधर्म है, कुधर्म है, संसारका कारण है। मिथ्यात्व सहित सर्व भाव बाहरमें धर्म सरीखे दिखते हैं परन्तु वे अधर्म हैं। इस अधर्मको धर्म मानना यह गहरा मिथ्यात्व है। यहां ग्रंथकर्ताका भाव प्राणियोंको धर्ममें श्रद्धावान करनेका है इसलिये वे प्रेरणा करके कहते हैं कि जो इस नरभवको सफल करना चाहें और सुखसे वर्तमान जीवन व भविष्यका जीवन विताना चाहें उनको उचित है कि यथार्थ धर्मको समझें, कुधर्मको धर्म न जानें। जिस धर्ममें विषयकषायकी किसी भी तरह पुष्टि है वह अधर्म है व जहां वैराग्य और शुद्धात्म तत्वकी पुष्टि है वह धर्म है। सुभाषित०में कहते हैं—

विरागसर्वज्ञपदाम्बुजद्वये यतौ निरस्ताखिलसङ्गसङ्गतौ, वृषे च हिंसा रहिते महाफले करोति हर्षं जिनवाक्यभावितः ॥१५८॥

भावार्थ—श्री जिनवाणीके अनुसार भावना करनेवाला वीतराग सर्वज्ञके चरणकमलोंमें, सर्व परिग्रह रहित साधुमें व हिंसा रहित महा फलदाई धर्ममें आनन्द मानता है।

धर्मका स्वरूप।

श्लोक—शुद्धधर्मं च प्रोक्तं च, चेतनालक्षणो सदा।
शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन, धर्मं कर्मविमुक्तयं ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्धधर्मं च प्रोक्तं च) शुद्ध धर्म ऐसा कहा गया है कि वह (सदा) सदा (चेतनालक्षणः) आत्माका चेतना लक्षण है। (शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन) शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिसे (धर्मं) वह धर्म (कर्मविमुक्तयं) सर्व प्रकार कर्मसे रहित है।

विशेषार्थ—अब यहां निश्चय धर्म या शुद्ध धर्मको कहते हैं। यह साक्षात् मोक्षमार्ग है। निश्चयधर्मका आराधन करे विना न कोई मोक्ष गया है न जावेगा न अब किसी क्षेत्रसे जासक्ता है। यह असली धर्म आत्माका या अपना स्वरूप है। आत्माका लक्षण चेतना है अर्थात् स्वभावसे आत्मा ज्ञानचेतना स्वरूप है, अपने ही यथार्थ ज्ञानमय शुद्ध स्वरूपका अनुभव या स्वाद लेनेवाला है। यह

कर्म चेतना व कर्मफलचेतनाके स्वादसे रहित है। रागद्वेषरूप होकर कार्य करते हुए यह अनुभवना कि मैं काम करता हूं यह कर्म चेतना है। कर्मोंका फल होते हुए यह अनुभवना कि मैं सुखी हूं, या दुःखी हूं कर्मफल चेतना है। यह अशुद्ध आत्मामें कभी पाई जाती हैं। आत्मा स्वभावसे ज्ञान चेतनामई है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय उस नय या अपेक्षा या दृष्टिको कहते हैं जो शुद्ध द्रव्यको देखती है। एक ही द्रव्यको परसे भिन्न देखता है। इस नयके द्वारा देखते हुए आत्मा भी कर्मोंसे रहित दीखता है व उसका स्वभाव या धर्म भी कर्मोंसे रहित दीखता है। कर्म तीन प्रकार हैं। भाव कर्म-रागद्वेषादि मलीन भाव है। द्रव्य कर्म-ज्ञानावरणादि आठ कर्म है। नोकर्म शरीरादि हैं। ये सब ही आत्माके स्वभावमें नहीं हैं, इसलिये शुद्ध धर्म आत्मारूप ही है, आत्मका निजस्वभाव है, यह अभेद रत्नत्रय स्वरूप है। अपने आत्माको शुद्ध द्रव्यकी अपेक्षा शुद्ध है ऐसा निश्चय करना सम्यग्दर्शन है ऐसा संशयादि दोष रहित जानना सम्यग्ज्ञान है तथा इसीमें थिर होकर स्वाद लेना सम्यग्चारित्र है अर्थात् एक शुद्धात्मानुभव या स्वानुभव, या स्वसमय या आत्मध्यान ही शुद्ध धर्म है-मोक्षका साक्षात् उपाय है। श्री देवसेनाचार्य तत्वसारमें कहते हैं—

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पणितं च दंसणं णाणं। चरणंपि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥ ८ ॥

जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च। तं णाऊण विसुद्धं झायह होऊण णिग्गंथो ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो निश्चयसे शुद्ध आत्माका भाव है वह आत्मरूप है वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र कहा गया है-उसीको शुद्ध चेतना कहते हैं। वही निर्विकल्प तत्व है, वही सार है, वही मोक्षका कारण है उसीको जानकरके व उसीके शुद्ध स्वरूपको निर्ग्रंथ होकरके, सर्वसे ममता त्याग करके ध्याओ।

श्लोक—धर्मं च आत्मधर्मं च, रत्नत्रयमयं सदा।
चेतना लक्षणो यस्य, तत् धर्मं कर्म विवर्जितं ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मं च) धर्म तो (आत्म धर्मं च) आत्माका स्वभाव ही है। वह (सदा) तीनों कालोंमें (रत्नत्रयमयं) रत्नत्रयमई है (यस्य लक्षणः) जिसका लक्षण (चेतना) चेतना या स्वानुभव है (तत् धर्मं) वह धर्म (कर्मविवर्जितं) सर्व कर्मकी उपाधिसे रहित है।

आत्माके भीतर है। हरएक आत्माका अपना निज स्वभाव है। भेद दृष्टिसे देखें या कहें तो उसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमय कहेंगे परन्तु अभेद नयसे देखें या कहें तो यह मात्र एक स्वानुभवरूप या ज्ञानचेतना मात्र है। उस धर्ममें राग द्वेषादिकी व संकल्प विकल्पकी कोई उपाधि नहीं हैं।

जो कोई तत्वज्ञानी निश्चिन्त होकर सर्व चिन्ताओंको त्यागकर एक अपने शुद्ध आत्माको शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे देखता है, जानता है, अनुभवता है, तद्रूप होता है, तन्मय होजाता है, अतीन्द्रिय आनन्दके स्वादमें मग्न होजाता है वही अपने भीतर अपने धर्मको पाता है। यह धर्म वास्तवमें वचन अगोचर है। मनसे भी अगोचर है। जब काय भी थिर रहता है, वचन भी बंद रहता है, मनकी चंचलता भ मिट जाती है तब वह आत्मधर्म इन मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे बाहर होनेपर ही अनुभवमें आता है। चैत्यालयका सम्बन्ध व भक्ति, शास्त्रका पढना, तीर्थमें जाना, गुरुकी संगति, व्यवहार श्रावक व मुनिकी क्रिया मात्र मनको बाहरी प्रपंचजालसे बचानेको निमित्त है। इसलिये उनका संयोग हितकारी है। परंतु जो कोई इनहीको असली धर्म मानले और शुद्ध आत्माके तत्वको न पहचाने उसके लिये यहां कहा गया है कि असली धर्म तो आत्माका अपना स्वभाव है। इसतरफ लक्ष्य देनेसे ही मुमुक्षुको सच्चा मार्ग हाथ लगेगा और वह वास्तविक धर्मरत्नको पाकर कृतार्थ होजायगा। उसका जन्म जरा मरणरूपी रोगको मेटनेके लिये व कर्मका मैल धोनेके लिये यही एक अद्भुत गुणकारी औषधि है। इसीका पान या सेवन सदा सुखकारी है।

श्लोक—धर्मध्यानं य आराध्यं, ॐवंकारे च सुस्थितं।
ह्रींकारे श्रींकारे च, त्रि ॐवंकारे च सुस्थितं॥ १७० ॥

अन्वयार्थ—(धर्मध्यानं च) धर्मध्यानका ही (आराध्यं) आराधन करने योग्य है (ॐवंकारे च) वह ॐकारके भीतर (ह्रींकारे) ह्रींकारके भीतर (श्रींकारे च) तथा श्रींकारके भीतर (सुस्थितं) भले-प्रकार स्थित है (त्रि) ये तीनों (ॐवंकारे च) ॐकारमें ही (सुस्थितं) भलेप्रकार प्राप्त हैं। ॥१७०॥

विशेषार्थ—यहां धर्मध्यानके सेवनेकी प्रेरणा की है, यद्यपि धर्मध्यान वास्तवमें अपने ही शुद्ध आत्मामें स्थिति स्वरूप है, अपने आत्माका निर्विकल्प भाव है तथापि शिष्यको उसका अभ्यास करनेके लिये किन्हीं शब्दोंका आलम्बन लेना पड़ता है। उसके लिये यहां कहा है कि वे तीन पद हैं। ॐ, ह्रीं, श्रीं। पहले बताया जाचुका है कि—ॐ में अरहंतादि पांच परमेष्ठी गर्भित हैं, ह्रींमें चौवीस तीर्थंकर गर्भित हैं तथा श्रींमें परमैश्वर्य युक्त अरहंत व सिद्ध परमेष्ठी गर्भित हैं या किसी अपेक्षा अन्य तीन परमेष्ठी गर्भित हैं। इन तीनों पदोंका जो भाव है वह एक ॐमें भलेप्रकार गर्भित है। अर्थात् चाहे तीनों पदोंका अलग २ ध्यान करो या तीनोंको मिलाकर करो या मात्र एक ॐ हीका करो सर्व एक ही भावको झलकानेवाले हैं। निश्चयसे शुद्ध आत्मा ही अरहंत है। शुद्ध आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध आत्मा ही आचार्य है, शुद्ध आत्मा ही उपाध्याय है, शुद्ध आत्मा ही साधु है, शुद्ध आत्मा ही श्री ऋषभादि महावीर पर्यंत चौवीस तीर्थंकर हैं। ध्याताको अपना लक्ष्य शुद्ध आत्माकी तरफ रखके मनकी चंचलताको मेटनेके लिये, इन पदोंका आलम्बन लेकर इनको या तो जपना चाहिये या हृदयस्थानमें या दो भौंहोंके मध्यमें या नाभिकमलमें या मस्तकपर या नाशिकाकी नोकपर विराजमान करके इनको ज्योति–स्वरूप चमकता हुआ देखना चाहिये। फिर उसके द्वारा शुद्ध आत्मा पर पहुंच जाना चाहिये। वहांसे उपयोग हटे तब फिर इसी पदको देखना चाहिये। कभी कभी पांच परमेष्ठीके २४ तीर्थंकरोंके गुणोंको विचारते रहना चाहिये। शुद्धात्मामें जब उपयोग न रमे तब ये सब कार्य आलंबनरूप हैं। पुनः पुनः आलम्बन लेते हुए पुनः पुनः शुद्धात्मामें पहुंच जाना चाहिये। इसी रीतिसे आत्माका ध्यान करना चाहिये। यही धर्मध्यान है।

श्लोक—धर्मध्यानं त्रिलोकं च, लोकालोकं च शाश्वतं।
कुज्ञानं त्रिविनिर्मुक्तं, मिथ्या माया न दिष्टते ॥१७१॥

अन्वयार्थ—(धर्मध्यानं) धर्म ध्यान (त्रिलोकं च) तीन लोकका स्वरूप विचारना है (लोकालोकं च शाश्वतं) व अविनाशी लोकालोकका स्वरूप विचारना है (कुज्ञानं त्रिविनिर्मुक्तं) तीन मिथ्याज्ञानसे रहित है (मिथ्या माया न दिष्टते) वहां मिथ्यात्व व मायाचार नहीं दिखलाई पड़ते हैं।

विशेषार्थ—धर्मका क्या स्वरूप है सो ऊपर कहा है, शुद्ध आत्माके स्वरूपका ध्यान करना यह असली धर्मध्यान है। जब ध्यानमें उपयोग न लगे तब तीन लोकके स्वरूपका विचारना भी धर्मध्यान है। जैसे यह सोचना कि अधोलोकमें सात नरक हैं जहां तीव्र पापके फलसे उपजता है। पहली रत्नप्रभा पृथ्वीके खर भाग व पंक भागमें भवनवासी तथा व्यंतरोंके निवासस्थान हैं। मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप समुद्र एक दूसरेको वेढे हुए हैं व विस्तारमें एक दूसरेसे दूने २ हैं। इनमेंसे जंबूद्वीप, धातुकी खंड तथा पुष्करार्द्ध इन ढाई द्वीपको मानवलोक कहते हैं, यहींसे मानव धर्म साधन कर मोक्ष या स्वर्ग जाते हैं। असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें युगलिये पशु पैदा होते हैं, वहीं जघन्य भोगभूमि हैं। विदेह क्षेत्रोंमें सदा ही चौथा काल रहता है। वहां मोक्ष होना सदा चलता रहता है। ज्योतिष पटल मध्यलोककी ही हदमें है। भूमिसे ७९० योजन ऊपर जाकर है। ऊर्ध्वलोकमें १६ स्वर्ग, नौ ग्रैवेयिक, नौ अनुदिश, पांच अनुत्तर विमान फिर सिद्धक्षेत्र है, जहां कर्मोंसे मुक्त होकर शरीर रहित परमात्मा विराजमान रहते हैं। सर्वत्र लोकमें स्थावर जीव भरे हैं। त्रस जीव लोकके मध्य त्रस नाड़ीमें ही है। इस चतुर गतिमय संसारमें जीव पाप पुण्यके द्वारा दुःख व सुख उठाते हैं जो शुद्ध होते हैं वे मुक्तिमें विराजते हैं, इस तरह तीन लोकका स्वरूप विचारना धर्मध्यान है। लोकालोकके स्वरूपमें जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश इन छः अविनाशी मूल द्रव्योंका विचार करना चाहिये जिनसे यह लोकाकाश अलोकाकाश नाम पड़ा है। लोकाकाशमें छहों द्रव्य हैं, बाहर मात्र आकाश है। छः द्रव्योंकी पर्यायें स्वाभाविक या जीव पुद्गलोंकी वैभाविक पर्यायें भी हुआ करती हैं। पर्यायोंकी अपेक्षा यह विश्व अनित्य है परन्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है। इसे न किसीने बनाया न इसका सर्वथा नाश होगा। यह अनादि अनंत है। मिथ्या मति, श्रुत अवधिपना जहां नहीं है वहीं धर्म है क्योंकि वहीं सम्यग्दर्शन है। वास्तवमें सम्यग्दर्शन ही धर्मका मुख्य अंग है। जहां परिणाममें न मिथ्यात्व हो और न माया शल्य हो, मात्र आत्मोन्नतिके लिये सरलभावसे शुद्धात्मतत्वका अनुभव हो व उसके अनुकूल द्रव्योंका, तत्वोंका, पदार्थोंका विचार हो, कर्मके उदय व बंधका विचार हो, वह सब धर्मध्यान है यही करने योग्य है।

श्लोक—उत्तमक्षमा उत्पाद्यंते, उत्तम तत्व प्रकाशकं ।
अमलं अप्प सद्भावं, उत्तमधर्मं च निश्चयं ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थ—(उत्तम क्षमा उत्पाद्यंते) जहां उत्तम क्षमा पैदा हो, जो (उत्तम तत्व प्रकाशकं) उत्कृष्ट आत्मतत्वका प्रकाशक हो, जो (अमलं) रागादि मल रहित हो (अप्पसद्भावं) जो आत्माका स्वभाव हो वही (निश्चयं च उत्तम धर्मं) निश्चयसे उत्तम धर्म है ।

विशेषार्थ—यहां उत्तम धर्म या निश्चय धर्मका स्वरूप कहते हैं । जहां परिणामोंमें ऐसी आत्म-तल्लीनता हो व ऐसा उपेक्षा भाव हो कि परिणामोंकी भूमिका उत्तम क्षमामयी बन गई हो । क्रोधके कारण मिलनेपर भी क्रोध न उपजे । कोई सहस्रों दुर्वचन कहें कोई मारे पीटे अपमान करे, तौभी वज्रके समान स्थिर रहे, परम समताभाव धारी हों, जहां कंचन लोष्ट समान हो, शत्रु मित्र समान हो, जीवन मरण समान हो, जहां श्रुतज्ञानके बलसे भावश्रुतज्ञानको समझ लिया हो । सर्व द्वाद-शांगका सार शुद्धात्मा है, उसके अनुभवका प्रकाश होगया हो, राग द्वेषादि मलीन भावोंका राग छूट गया हो—अर्थात् आत्माका ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय स्वभावमें एकतानता हो, श्रुतज्ञानके द्वारा स्वसंवेदन प्रत्यक्षपने ज्ञात हो वही निश्चय उत्तम धर्म है । श्री योगेन्द्राचार्य योगसारमें कहते हैं—

रायरोस वे परिहरई जो अप्पा णिवसेइ । सो धम्मु वि जिणुउत्तियउ जो पंचम गइ देइ ॥ ४७ ॥

भावार्थ—राग द्वेष दोनोंको छोड़कर जो आत्मामें निवास करता है वही धर्मको सेवन करता है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है । तथा वही पंचमगति मोक्षको पासक्ता है ।

श्लोक—मिथ्यासमय मिथ्यात्व, रागादिमलवर्जितः ।
असत्यं अनृत न दिष्टंते, अमलं धर्म सदा बुधैः ॥ १७३ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्या समय) मिथ्या आगम व मिथ्या पदार्थ (मिथ्यात्व) मिथ्यादर्शन व (रागादि मल वर्जितः) रागादि मलसे रहित जहां (असत्यं अनृत न दिष्टंते) असत्य व मिथ्यात्व नहीं दिखलाई पडे ऐसा (अमलं धर्मं) निर्मल धर्म (सदा) सदा ही (बुधैः) बुद्धिमानोंसे माना गया है ।

विशेषार्थ—शुद्ध धर्म वही है जिस धर्ममें सत्य पदार्थोंका कथन हो, मिथ्या एकांत पदार्थोंका

कथन न हो व जिसका आगम मिथ्या कथनसे रहित हो, यथार्थ अनेकांतका प्ररूपक हो व जिस धर्ममें किसी मिथ्यात्वकी पुष्टि न हो, न अगृहीतकी न गृहीतकी, न जिसमें रागद्वेष क्रोधादि कषायकी तरफ झुकाव हो, किन्तु जहां वीतराग भावकी दृढ़ता हो, जिसमें असत्य न हो व जहां अनित्यको अनित्य व नित्यको नित्य जैसाका तैसा बताया गया हो, ऐसा निर्मल धर्म ही यथार्थ धर्म है। सम्यग्ज्ञानकी पुष्टि करनेवाला ही धर्म होना चाहिये। जिसका लक्षण रत्नकरण्डमें कहा है—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्। निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ ४२ ॥

भावार्थ—आगमके ज्ञाता उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं जो ज्ञान पदार्थको न कम कहे न अधिक कहे न विपरीत कहे न संदेहयुक्त कहे किंतु जैसा उसका स्वरूप कहे वैसा ही कहे। ऐसा सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण धर्म ही सच्चा धर्म है।

श्लोक—धर्मं उत्तम धर्मस्य, मिथ्यारागादि खंडितं ।
चेतना चेतनं द्रव्यं, शुद्धतत्त्वप्रकाशकं ॥१७४॥

अन्वयार्थ—(धर्मं) धर्म वही है जो (उत्तम धर्मस्य) उत्तम श्रेष्ठ रत्नत्रय धर्मका पोषक हो (मिथ्यारागादि खंडितं) जिसमें मिथ्यात्व व राग द्वेषादि विभाव भावोंका खंडन हो (चेतना चेतनं द्रव्यं) जो चेतन तथा अचेतन द्रव्योंको यथार्थ झलकाता हो (शुद्धतत्वप्रकाशकं) तथा जो शुद्ध तत्वका प्रकाश करनेवाला हो।

विशेषार्थ—मोक्ष शुद्ध आत्मीक परिणतिको कहते हैं। उनकी प्रगटताका मार्ग शुद्धात्मानुभव है। यही निश्चय उत्तम धर्म है। जिस धर्मका उद्देश्य स्वात्मानुभव हो वही माननीय धर्म है। जिस धर्ममें सम्यग्दर्शनकी पुष्टि हो तथा मिथ्यात्वका खंडन हो, वीतरागभावकी दृढता हो व राग द्वेषादि विभावोंका निषेध हो, बहुत अकाट्य युक्तियोंसे जहां मिथ्यात्वका व कषायका खंडन किया गया हो तथा जहां चेतनाको अचेतन पांच द्रव्योंसे भिन्न दिखलाया गया हो। आत्माको द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म रागद्वेषादि व नोकर्म शरीरादिसे भिन्न बताया हो, तथा पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल तथा आकाशसे भिन्न लक्षणवाला बताया हो। आत्माके शुद्ध तत्वके प्रकाशका उपाय बतानेवाला हो, अतीन्द्रिय आनन्दकी कुंजी देनेवाला हो वही सच्चा धर्म है। यह

लक्षण सर्वज्ञ वीतराग अरहंत कथित जिनधर्ममें भलेप्रकार गठित होते हैं। बुद्धिमानको परीक्षा करके धर्म व कुधर्मका निर्णय कर लेना चाहिये। जिनकी परीक्षाकी शक्ति न हो वह परीक्षावानके बचनानुसार धर्मपर श्रद्धा लावें। हमारा भंडार गुप्त है, हमारा अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख स्वभाव सब हमारे ही पास है। इसकी प्रगटताकी जो कुंजी है वही सच्चा धर्म है। संसारका ममत्व हटानेवाला ही सच्चा धर्म है। कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

ममत्वाज्जायते लोभो, लोभाद्रागश्च जायते। रागाच्च जायते द्वेषो, द्वेषादुःखपरम्परा ॥ २३३ ॥

निर्ममत्वं परं तत्वं निर्ममत्वं परं सुखं। निर्ममत्वं परं बीजं, मोक्षस्य कथितं बुधैः ॥ २३४ ॥

भावार्थ—ममतासे लोभ पैदा होता है, लोभसे राग उत्पन्न होता है, रागसे द्वेष होता है, द्वेषसे दुःखकी संतान चलती है। ममता रहित परम तत्व है, ममता रहित पना परम सुख है, ममता रहित पना मोक्षका श्रेष्ठ उपाय है, ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है। जिन्होंको आत्मीक आनन्दकी प्राप्तिकी भावना है उनके शुद्धोपयोगमई भावको असली धर्म समझना चाहिये।

धर्मध्यानका स्वरूप।

श्लोक—धर्म अर्थति अर्थ च, तीअर्थ वेदनं युतं।
षट्कमलं त्रि ॐकारं, धर्मध्यानं च संयुतं ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थ—(धर्म) धर्म (अर्थ च अर्थति) प्रयोजनका उद्देश्यको लिये हुए होता है (तीअर्थ) तीन अर्थ जो रत्नत्रय है उसकी (वेदनं) अनुभूति (युतं) सहित है। (षट्कमलं) छः अक्षररूप ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः कमल सहित व (त्रि ॐकारं) तीन ॐ सहित रत्नत्रयरूप ऐसे (धर्मध्यानं च संयुतं) धर्मध्यान सहित है।

विशेषार्थ—धर्म वही है जो अपने प्रयोजनके लिये हुए हो, वह प्रयोजन यह है कि निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यग्चारित्रमई तीनों भावोंका एक साथ अनुभव किया जावे, इस अनुभवका सहकारी कारण धर्मध्यान है।

उस धर्म-ध्यानके अनेक उपाय हैं। एक उपाय यह है कि एक कमल हृदयस्थानमें छः
पत्तोंका विचारा जावे। और उसके हरएक पत्तेपर क्रमशः-ॐ ह्रां, ह्रीं, ह्रें, ह्रौं, ह्रः, स्थापित करके
अथवा अरहंत सिद्ध इन छः अक्षरोंको विराजमान करके इन मंत्र पदोंके द्वारा शुद्धात्माका ध्यान
किया जावे अथवा तीन पत्रका कमल विचार करके हरएक पत्तेपर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, ॐ सम्यग्-
ज्ञानाय नमः, ॐ सम्यग्चारित्राय नमः, ऐसे तीन पद रखकर इनके द्वारा ध्यान करें। इस श्लोकका
जो भाव समझमें आया सो लिखा गया है, विशेष ज्ञानी अधिक विचार कर लेवें।

श्लोक—धर्मं अप्प सद्भावं, मिथ्या माया निकन्दनं।
शुद्ध तत्वं च आराध्यं, ह्रींकारं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मं) धर्म (अप्प सद्भावं) आत्माका यथार्थ स्वभाव है (मिथ्या माया निकन्दनं) जहां
न मिथ्यात्व है न मायाचार है (शुद्ध तत्वं च आराध्यं) जहां शुद्ध आत्मीक तत्वकी आराधना है व (ह्रींकारं)
जहां ह्रींका ध्यान है जिस ह्रींमें (ध्रुवं) अविनाशी (ज्ञानमयं) ज्ञानमई तत्व स्थापित है।

विशेषार्थ—हरएक आत्माका अपना जो यथार्थ द्रव्यका स्वभाव है वही धर्म है। अर्थात् यह
आत्मा स्वभावसे शुद्ध सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अविनाशी अमूर्तीक कर्म कलंकसे रहित
परम निर्मल है। इसी शुद्ध स्वभावका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है व इसीका
आचरण सम्यक्चारित्र है, यही यथार्थ धर्म है, इसपर लक्ष्य रखते हुए जिस उपायसे इसका ध्यान
होसके वह सब उपाय भी कर्तव्य हैं। उसीको धर्मध्यान कहते हैं। इस शुद्ध आत्मस्वभावमई धर्ममें
मिथ्यात्वका व मायाचारका नाम नहीं है। जहां अभिप्राय संसार सम्बन्धी रागद्वेष हो, विषय
कषायकी पुष्टि हो, शुद्ध आत्मानन्दके लाभके सिवाय अन्य कोई स्वर्गादिक सुखका पाना हो
वहीं मिथ्यात्वकी गन्ध कही जाती है, अथवा जहां कोई मायाचार ही हो, मात्र किसी लौकिक
प्रयोजनके लिये दूसरोंपर असर डालनेके लिये, धर्मका आचरण भी पाला जाता हो व
धर्मध्यानका अभ्यास किया जाता हो, वह भी सच्चा धर्म नहीं है। धर्म वहीं है जहां आराधन
करने योग्य एक शुद्ध आत्मीक तत्व हो। लक्ष्य बिंदु यही हो। इसी लक्ष्यको रखकर व्रत, उपवास,
जप, तप, ध्यान, धारणा, समाधि आदिका साधन किया जाता हो। धर्मध्यानके उपायमें ह्रींका

लक्षण सर्वज्ञ वीतराग अरहंत कथित जिनधर्ममें अलेप्रकार गठित होते हैं। बुद्धिमानको परीक्षा करके धर्म व कुधर्मका निर्णय कर लेना चाहिये। जिनकी परीक्षाकी शक्ति न हो वह परीक्षावानके वचनानुसार धर्मपर श्रद्धा लावें। हमारा भंडार गुप्त है, हमारा अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख स्वभाव सब हमारे ही पास है। इसकी प्रगटताकी जो कुंजी है वही सच्चा धर्म है। संसारका ममत्व हटानेवाला ही सच्चा धर्म है। कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

ममत्वाज्जायते लोभो, लोभाद्रागश्च जायते। रागाच्च जायते द्वेषो, द्वेषादुःखपरम्परा ॥ २३३ ॥

निर्ममत्वं परं तत्वं निर्ममत्वं परं सुखं। निर्ममत्वं परं वीजं, मोक्षस्य कथितं बुधैः ॥ २३४ ॥

भावार्थ—ममतासे लोभ पैदा होता है, लोभसे राग उत्पन्न होता है, रागसे द्वेष होता है, द्वेषसे दुःखकी संतान चलती है। ममता रहित परम तत्व है, ममता रहित पना परम सुख है, ममता रहित पना मोक्षका श्रेष्ठ उपाय है, ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है। जिन्होंको आत्मीक आनन्दकी प्राप्तिकी भावना है उनके शुद्धोपयोगमई भावको असली धर्म समझना चाहिये।

धर्मध्यानका स्वरूप।

श्लोक—धर्म अर्थति अर्थ च, तीअर्थ वेदनं युतं।
षट्कमलं त्रि ॐकारं, धर्मध्यानं च संयुतं ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थ—(धर्म) धर्म (अर्थ च अर्थति) प्रयोजनका उद्देश्यको लिये हुए होता है (तीअर्थ) तीन अर्थ जो रत्नत्रय है उसकी (वेदनं) अनुभूति (युतं) सहित है। (षट्कमलं) छः अक्षररूप ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः कमल सहित व (त्रि ॐकारं) तीन ॐ सहित रत्नत्रयरूप ऐसे (धर्मध्यानं च संयुतं) धर्मध्यान सहित है।

विशेषार्थ—धर्म वही है जो अपने प्रयोजनके लिये हुए हो, वह प्रयोजन यह है कि निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यग्चारित्रमई तीनों भावोंका एक साथ अनुभव किया जावे, इस अनुभवका सहकारी कारण धर्मध्यान है।

उस धर्म-ध्यानके अनेक उपाय हैं। एक उपाय यह है कि एक कमल हृदयस्थानमें छः पत्तोंका विचारा जावे। और उसके हरएक पत्तेपर क्रमशः-ॐ ह्राँ, ह्रीं, ह्रें, ह्रौं, ह्रः, स्थापित करके अथवा अरहंत सिद्ध इन छः अक्षरोंको विराजमान करके इन मंत्र पदोंके द्वारा शुद्धात्माका ध्यान किया जावे अथवा तीन पत्रका कमल विचार करके हरएक पत्तेपर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः, ॐ सम्यग्चारित्राय नमः, ऐसे तीन पद रखकर इनके द्वारा ध्यान करें। इस श्लोकका जो भाव समझमें आया सो लिखा गया है, विशेष ज्ञानी अधिक विचार कर लेवें।

श्लोक—धर्मं अप्प सद्भावं, मिथ्या माया निकन्दनं।
शुद्ध तत्वं च आराध्यं, ह्रींकारं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मं) धर्म (अप्प सद्भावं) आत्माका यथार्थ स्वभाव है (मिथ्या माया निकन्दनं) जहां न मिथ्यात्व है न मायाचार है (शुद्ध तत्वं च आराध्यं) जहां शुद्ध आत्मीक तत्वकी आराधना है व (ह्रींकारं) जहां ह्रींका ध्यान है जिस ह्रींमें (ध्रुवं) अविनाशी (ज्ञानमयं) ज्ञानमई तत्व स्थापित है।

विशेषार्थ—हरएक आत्माका अपना जो यथार्थ द्रव्यका स्वभाव है वही धर्म है। अर्थात् यह आत्मा स्वभावसे शुद्ध सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अविनाशी अमूर्तीक कर्म कलंकसे रहित परम निर्मल है। इसी शुद्ध स्वभावका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है व इसीका आचरण सम्यक्चारित्र है, यही यथार्थ धर्म है, इसपर लक्ष्य रखते हुए जिस उपायसे इसका ध्यान होसके वह सब उपाय भी कर्तव्य हैं। उसीको धर्मध्यान कहते हैं। इस शुद्ध आत्मस्वभावमई धर्ममें मिथ्यात्वका व मायाचारका नाम नहीं है। जहां अभिप्राय संसार सम्बन्धी रागद्वेष हो, विषय कषायकी पुष्टि हो, शुद्ध आत्मानन्दके लाभके सिवाय अन्य कोई स्वर्गादिक सुखका पाना हो वहीं मिथ्यात्वकी गन्ध कही जाती है, अथवा जहां कोई मायाचार ही हो, मात्र किसी लौकिक प्रयोजनके लिये दूसरोंपर असर डालनेके लिये, धर्मका आचरण भी पाला जाता हो व धर्मध्यानका अभ्यास किया जाता हो, वह भी सच्चा धर्म नहीं है। धर्म वहीं है जहां आराधन करने योग्य एक शुद्ध आत्मीक तत्व हो। लक्ष्य बिंदू यही हो। इसी लक्ष्यको रखकर व्रत, उपवास, जप, तप, ध्यान, धारणा, समाधि आदिका साधन किया जाता हो। धर्मध्यानके उपायमें ह्रींका

ध्यान भी है। इसका ध्यान श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थके आधारसे इस प्रकार करे कि मुखमें एक कमलका विचार करे जो आठ पत्तोंका हो, उसकी कर्णिकाके मध्यमें ह्रींको उज्वल चमकता हुआ विचारे फिर उसीको कमलके हरएक पत्तेपर घूमता हुआ विचारे, फिर उसे आकाशमें चलता हुआ विचारे फिर तालुके छिद्र द्वारा अमृत सिंचन करता हुआ भौंहोंके मध्यमें तिष्ठता ध्यावे। इस तरह इस माया वर्णके चिंतवन करे परन्तु अपना लक्ष इसके वाचक ज्ञानमई अविनाशी आत्माके ही ऊपर रक्खे। इस मंत्रके द्वारा अपने शुद्ध आत्माका ही ध्यान करे, मनको रोकनेके लिये ह्रींका सहारा उपयोगी है।

श्लोक—पदस्थं पिंडस्थं येन, रूपस्थं व्यक्त रूपयं ।
चतुर्ध्यानं च आराध्यं, शुद्ध सम्यक्दर्शनं ॥१७७॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसके (पदस्थं पिंडस्थं) पदस्थ पिंडस्थ (रूपस्थं) रूपस्थ (व्यक्त रूपयं) रूपातीत (चतुर्ध्यानं) ये चार प्रकारका ध्यान (आराध्यं) आराधन करने योग्य हैं। वही (शुद्ध सम्यक्दर्शनं) शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी है।

विशेषार्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी भव्य जीव आत्मकल्याणके लिये, मनकी चंचलताको रोकनेके लिये, अपना शुद्ध तत्वका भाव रखके चार प्रकारके धर्मध्यानका अभ्यास करता है—

(१) पदस्थ धर्मध्यान वह है जहां पदोंको किसी स्थानपर विराजमान करके उसके ऊपर मनको रोका जावे और वहीं शुद्धात्माकी भावना की जावे। (२) पिंडस्थ ध्यान वह है जहां अपने शरीरके भीतर अपने ही आत्माको सर्व कर्म कलंक रहित व शरीरादि रहित ध्याया जावे। (३) रूपस्थ ध्यान वह है जहां अरहंतका स्वरूप विचार किया जावे। (४) रूपातीत ध्यान वह है जहां सिद्ध भगवानका स्वरूप ध्याया जावे। अरहंत व सिद्धके स्वरूपके द्वारा अपना ही स्वभाव ध्यानमें लिया जावे। शुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव सर्व कामनाओंसे रहित होकर शांत स्वभावमई आत्माकी परिणतिको करनेके लिये इस तरह धर्मध्यानका अभ्यास करते हैं। सम्यक्त होनेके पीछे यथाख्यात चारित्र व केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिये ध्यानका अभ्यास जरूरी है। यद्यपि इस पंचमकालमें इस भरतक्षेत्रमें शुक्लध्यान व आठवां गुणस्थान नहीं होसक्ता है तथापि धर्मध्यान व सातवां गुणस्थान होसक्ता है।

जैसा श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासनमें कहते हैं—

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति । तेऽर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयं ॥ ८१ ॥
अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः । धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनां ॥ ८३ ॥

भावार्थ—जो कोई कहते हैं कि इस कालमें ध्यान नहीं होसक्ता वे अर्हतके मतके ज्ञाता नहीं हैं, वे अपने अज्ञानको प्रगट करते हैं। तीर्थंकरोंने इस कालमें मात्र शुक्लध्यानका निषेध किया है। श्रेणीके पहले रहनेवालोंके लिये धर्मध्यान कहा गया है। मुमुक्षुको उद्यम करके धर्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

श्लोक—पदस्थं पद विंदंते, अर्थ सर्वार्थ शाश्वतं ।
व्यंजनं तत्वसार्थं च, पदाथ तत्र संजुतं ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थ—(पदस्थं) पदस्थ धर्मध्यान (पद) पदोंको (विंदंते) ध्यानमें लेता है। (अर्थ) उसके भावको तथा (सर्वार्थ शाश्वतं) अविनाशी सर्व पदार्थको विचारता है। (व्यंजनं) शब्दको (तत्वसार्थ च) तत्व और अर्थके साथ ध्याता है (तत्र) वहां (पदार्थ संजुतं) पदार्थका संयोग मिलाता है।

विशेषार्थ—अक्षरोंके समूहको शब्द व शब्दके समूहको पद कहते हैं। जहां पदोंको अथवा शब्दको स्थापित करके उसके ऊपर चित्त रोका जावे, उन पदोंका व शब्दोंका क्या अर्थ है उसको विचारा जावे, उस अर्थसे जिन २ अविनाशी द्रव्योंका बोध होता हो तो उनको ध्यानमें लिया जावे, उनमेंसे त्यागने योग्यको त्यागा जावे व ग्रहण करने योग्य एक आत्मीय पदार्थको ग्रहण किया जावे। पदों या शब्दोंके आलम्बनको लेकर जहां आत्माका ध्यान किया जावे वह पदस्थ ध्यान है। श्री ज्ञानार्णवमें कहा है:—

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते । तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥ १-१९ ॥

भावार्थ—योगीजन पवित्र पदोंका आलम्बन लेकर जो ध्यान करते हैं उसको अनेक नयोंके ज्ञाता आचार्योंने पदस्थ ध्यान कहा है।

जैसे मंत्रराज हैं शब्द है। इसका योगी कुंभक प्राणायामसे अर्थात् पवनको व मनको स्थिर करके पहले दोनों भौंहोंके बीच चमकता हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिके समान ध्यावे फिर मुखकमलमें

प्रवेश करता हुआ तालुओंके छेदसे गमन करता हुआ अमृतमय जल वर्षाता हुआ नेत्रकी पलकोंपर चमकता हुआ फिर मस्तकके बालोंपर आता हुआ फिर ज्योतिषचक्रके भीतर भ्रमण हुआ फिर चन्द्रमाके पाससे निकलता हुआ, दिशाओंमें संचरता हुआ, आकाशमें उछलता हुआ, मोक्ष-स्थानको स्पर्श करता हुआ ध्यावे, फिर क्रमसे लाकर उसको भौंहोंके बीचमें या नाशिकाके अग्र-भागमें विराजमान करके ध्यावे। यह मंत्रराज श्री जिनेन्द्र भगवानका व उनकी शुद्ध आत्माका बोध करानेवाला है। जैसा ज्ञानार्णवमें कहा है—

मंत्रमूर्ति समादाय देवदेवः स्वयं जिनः। सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद व्यवस्थितः ॥ १२ ॥

भावार्थ—यह मंत्रराज है सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शांत, देवाधिदेव जिनेन्द्रको स्वयं साक्षात् बतानेवाला है, इसके ध्यानके बलसे अरहंतको ध्यावे फिर अरहंतके शुद्ध आत्माको ध्यावे, उनके शरीरादिसे लक्ष्य हटा लेवे फिर अपने शुद्धात्मापर लक्ष्य देवे, इसी तरह और भी पदोंका ध्यान करे।

श्लोक—कुज्ञानं त्रि न पश्यंते, माया मिथ्या विखंडितं।
व्यंजनं च पदार्थं च, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थ—(त्रि कुज्ञानं) तीन मिथ्याज्ञान कुमति कुश्रुत व विभंग अवधि (न पश्यंते) जहां न दिखलाई पड़े (माया मिथ्या विखंडितं) मायाचार व मिथ्यात्वका जहां खंडन होगया हो वहां (व्यंजनं च) शब्दको ही (पदार्थं च) व पदके अर्थको ही (सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं) ज्ञानमयी अविनाशी आत्मीक पदार्थके साथ ध्यावै।

विशेषार्थ—पदस्थ ध्यानके ध्याताको सम्यग्दृष्टी होना योग्य है तब ही वह ध्यान मोक्षमार्ग है व तब ही वह धर्मध्यान है। उस ध्यानके करनेवालेमें कुमति कुश्रुत व कुअवधि न हो और न उसमें कोई शल्य हो न मायाचार हो न मिथ्यात्व हो और न निदान भाव हो। निर्मल सरल भाव करके ध्यान किया जावे। जिस शब्दका व जिस पदका आलम्बन लिया जावे उससे जिस पदार्थका बोध हो उसको विचारा जावे। मुख्यतासे अविनाशी ज्ञानमय आत्मापर लक्ष्य रक्खा जावे। जैसे णमोकार मंत्रका ध्यान इसप्रकार किया जावे–एक कमल आठ पत्रोंका हृदयमें या नाभिमें या मुखमें

विचार किया जावे जो चंद्रमाके समान चमकता हुआ सफेद हो, उसकी बीचकी कर्णिकापर सात अक्षरका पद " णमो अरहंताणं " ध्यावे फिर चार दिशाओंके चार पत्रोंपर " णमो सिद्धाणं " ऊपरको, फिर बगलोंमें " णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं ", नीचे " णमो लोए सव्वसाहूणं " फिर चार विदिशाओंके पत्रोंपर सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः, इन चार पदोंको ध्यावे। पहले इन नौ पदोंको पत्तोंपर लिखा हुआ विचार ले फिर क्रमसे एक एकको ध्यावे-एक एक पर चित्तको रोके, उस पदके अर्थको विचारे, फिर उसके भावको विचारे। जैसे " णमो अरहंताणं " में अर्हंतोंका व तीर्थंकरोंका स्वरूप विचारे, विचारते हुए उनके शरीर व पुद्गल परसे चित्त हटाकर उनके शुद्धात्मापर चित्त लेजावे फिर अपने आत्मापर आजावे। मनको जमाता हुआ ध्यावे। इसी तरह " सम्यग्दर्शनाय नमः " में व्यवहारनयसे देव, शास्त्र, गुरुका व सात तत्वोंका स्वरूप विचार जावे फिर निश्चयनयसे पुद्गल कर्मसे भिन्न शुद्ध आत्मापर लक्ष्य दे, फिर अपनी ही आत्मापर आजावे, इस तरह धीरे २ नौ पदोंके द्वारा अपने आत्माको ही ध्यानमें लेकर शुद्ध भावना सहित ध्यावे यह पदस्थ ध्यानका एक प्रकार है।

श्लोक—पदस्थं शुद्धपद सार्थं, शुद्धतत्त्व प्रकाशकं ।



शल्यत्रयं निरोधं च, माया मिथ्या न दिष्टते ॥१८०॥

अन्वयार्थ—(पदस्थं) पदस्थ ध्यान (शुद्धपद सार्थं) शुद्ध पद अर्थ सहितका होता है। (शुद्धतत्त्व प्रकाशकं) यह शुद्ध आत्मतत्वका प्रकाशक होता है। (शल्यत्रयं निरोधं च) तीन शल्य जहां नहीं होती हैं (माया मिथ्या न दिष्टते) वहां माया व मिथ्यात्व दृष्टिगोचर नहीं होता है।

विशेषार्थ—शुद्ध शब्द जिसका अर्थ हो ऐसे शब्द व शब्दोंके समूह रूप पदोंको विराजमान करके पदस्थ ध्यान किया जाता है। इस ध्यानका हेतु यही होता है कि शुद्ध आत्मतत्वका अनुभव होजावे। ऐसे ध्यानीके भावोंमें माया मिथ्या निदान ये तीन शल्य नहीं होती हैं। वह सर्व प्रकार मायाचार व मिथ्या वासनासे रहित होकर मात्र शुद्धोपयोगके लिये पदस्थ ध्यान करता है। जैसे एक कमल हृदयस्थानमें विराजमान किया जावे उसके १६ पत्र हों उनपर १६ अक्षरी मंत्र एक एक अक्षरके क्रमसे लिखा हो वह है " अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नमः " इसका ध्यान करे

फिर इसका अर्थ विचारे फिर पांचों परमेष्ठीका स्वरूप अलग २ विचार जावे फिर उनमें निश्चयनयसे एक शुद्धात्माको देखे, फिर अपने शुद्ध तत्वको ध्यावे । इसी तरह और भी पदोंका ध्यान करें।

श्लोक—पदस्थं लोक लोकांतं, लोकालोक प्रकाशकं ।
व्यंजनं शाश्वतं सार्थं, ॐकारं च विंदते ॥ १८१ ॥

अन्वयार्थ—(पदस्थं) यह पदस्थ ध्यान (ॐकारं व्यंजनं सार्थं) ॐ शब्दको अर्थ सहित (लोक लोकांतं) लोकके अंततक झलकनेवाला व (लोकालोक प्रकाशकं) लोकालोकका प्रकाश करनेवाला व (शाश्वतं) अविनाशी रूप व अविनाशी पदार्थको प्रकाशक (विंदते) ध्याता है ।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें ॐ के ध्यान करनेपर लक्ष्य दिया है । ॐ को प्रणव मंत्र कहते हैं । ॐ शब्दको ध्यान करनेवाला हृदयकमलके मध्यमें या नाशिकाकी नोकपर या भौंहोंके मध्यमें परम तेजस्वी, चंद्रमाके समान गौर वर्ण चमकता हुआ ध्यावे । जिसकी दीप्ति लोकके अंत तक सर्वत्र फैल रही है ऐसा विचारे । फिर इसका अर्थ विचारे कि इसमें अरहंत आदि पांच परमेष्ठी गर्भित हैं । फिर उनमेंसे निश्चयनयसे लोकालोक प्रकाशक एक शुद्ध आत्मतत्वको ग्रहण करले । फिर अपने आत्मापर लक्ष्य देवे । इस तरह ॐ का ध्यान करे । ॐ के द्वारा अविनाशी अपने आत्मापर आजावे । इसी तरह अन्य पदोंका भी ध्यान करे । यह ॐ शब्द परम्परासे चला आया हुआ एक अविनाशी पद है ।

श्लोक—अंगपूर्वं च जानंते, पदस्थं शाश्वतं पदं ।
अनृतअचेत त्यक्तं च, धर्मध्यानमयं ध्रुवं ॥ १८२ ॥

अन्वयार्थ—(पदस्थं शाश्वतं पदं) पदस्थ ध्यानमें नित्य चले आए हुए पदोंको विराजमान करनेसे व ध्यान करनेसे (अंगपूर्वं च जानंते) ११ अंग १४ पूर्वका ज्ञान होजाता है । परन्तु वह विचार (अनृत अचेत त्यक्तं च) मिथ्यात्व व अज्ञानसे शून्य हो तथा (ध्रुवं धर्मध्यानमयं) निश्चल धर्मध्यानमई हो ।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें वर्णमातृकाका ध्यान करनेका संकेत किया गया है । श्री ज्ञानार्णवके अनुसार उसकी विधि यह है कि अपनी नाभिमें १६ पत्रोंका कमल सफेद वर्णका विचार करे और

उनके ऊपर एक एक अक्षर पीतवर्णका इन सोलह स्वरोंमें संक्रमणसे लिख ले। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। इन अक्षरोंको क्रमसे पत्तोंपर फिरता हुआ विचारे। दूसरा कमल अपने हृदयस्थानमें सफेद रंगका चौवीस पत्रोंका विचार करे। कर्णिकाको लेकर २५ स्थानोंपर पीले रंगके २५ अक्षर लिखे हुए विचारे। क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म। फिर तीसरा कमल मुख स्थानपर आठ पत्तोंका सफेद रंगका विचारे। इनके हरएक पत्तेपर क्रमसे पीत रंगका लिखा हुआ य र ल व श ष स ह इन आठ अक्षरोंको क्रमसे घूमता हुआ विचारे। ये सब अक्षर श्रुतज्ञानके मूल हैं। इनमें सर्व श्रुतज्ञान गर्भित है ऐसा श्रद्धान रखता हुआ इनको ध्यावे। फिर विचार करे कि द्वादशांग वाणीका सार एक शुद्धात्मा है। इस तरह शुद्धात्मापर लक्ष्य लेजाकर फिर अपने आत्मापर आजावे। इस तरह लगातार नित्य कुछ देरतक ध्यान करे। इसका लगातार अभ्यास करनेसे शास्त्रज्ञानमें बुद्धिकी प्रबलता होती है। श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है और धीरे धीरे द्रव्य, क्षेत्र, काल भावानुसार वह सर्व द्वादशांगका जाननेवाला होजाता है। इस ध्यानसे परिणामोंकी बहुत उज्वलता होती है। इस पदस्थ ध्यानको करते हुए ध्याताको पूर्ण श्रद्धा व निर्मल ज्ञानको रखना चाहिये। लक्ष्य शुद्धात्माका ही रखना चाहिये।

इसतरह यह पदस्थ ध्यान बहुत कार्यकारी है। इनहीं मंत्रोंका जप भी किया जाता है व ध्यान भी किया जाता है। द्रव्यसंग्रहमें कहा है:—

पणतीस सोल छ प्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह। परमेट्ठि वाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण ॥

भावार्थ—परमेष्ठीके स्वरूपको बतानेवाले ३५ आदि सात प्रकारके मंत्रोंको जपो और ध्यावो। और भी मंत्रोंको गुरुसे जानकर जपो और ध्याओ।

वे सात प्रकार मंत्र हैं—

(१) ३५ अक्षर—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

१६ अक्षर—"अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

६ अक्षर—अरहंत सिद्ध।

५ अक्षर—अ सि आ उ सा ।

४ अक्षर—अरहंत ।

२ अक्षर—सिद्ध अथवा ॐ ह्रीं ।

१ अक्षर—ॐ ।

जप करनेमें बहुधा १०८ दफे जपना चाहिये। मालामें १०८ दाने तो मंत्रके जापके लिये होते हैं व तीन दाने ऊपरके सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, इस रत्नत्रयधर्मके वाचक होते हैं। इनको जप लेना चाहिये। इस तरह पदस्थ ध्यानका कुछ स्वरूप कहा है।

श्लोक—पिंडस्थं ज्ञान पिंडस्य, स्वात्मचिन्ता सदा बुधैः ।
निरोधं असत्यभावस्य, उत्पाद्यं शाश्वतं पदं ॥ १८३ ॥

आत्मा सद्भाव आरक्तं, परद्रव्यं न चिंतये ।
ज्ञानमयो ज्ञानपिंडस्य, चिंतयंति सदा बुधैः ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थ—(पिंडस्थं) पिंडस्थ ध्यान (ज्ञान पिंडस्य) ज्ञान समूहरूप आत्माका ध्यान है (बुधैः) बुद्धिमानोंके द्वारा (सदा) निरंतर (स्वात्मचिंता) अपने आत्माका ध्यान करना योग्य है (असत्यभावस्य निरोधं) असत्य भावोंको रोकना योग्य है (शाश्वतं पदं उत्पाद्यं) अविनाशी मोक्षपद पाना योग्य है। (आत्मा) यह आत्मा (सद्भाव आरक्तं) अपने ही सत्स्वभावमें लवलीन होजावे (परद्रव्यं न चिंतये) पर द्रव्यकी चिंता न की जावे। (बुधैः) पंडितोंके द्वारा (ज्ञानमयो ज्ञानपिंडस्य चिंतयंति) ज्ञानमई ज्ञान घन आत्माका ही चिंतवन है।

विशेषार्थ—पिंडस्थ ध्यान अपने पिंड अर्थात् शरीरमें विराजित आत्माका ध्यान कहा जाता है, जहां अपने आत्माका द्रव्य दृष्टिसे सत्‌रूप शुद्ध स्वभावका ध्यान किया जाय, क्षणभंगुर कर्म-जनित सर्व पर्यायोंसे ध्यान हटा लिया जावे न परद्रव्यकी चिंता की जावे। अपने ही आत्माको छोडकर अन्य आत्माओंकी व पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालकी चिंता न की जावे। ज्ञान घन अपने आत्मामें तन्मय हुआ जावे। यह पिंडस्थ ध्यान अविनाशी मोक्षपदका कारण है।

श्री ज्ञानार्णव व अन्य ग्रंथोंके अनुसार इस पिंडस्थ ध्यानकी पांच धारणाएं हैं जिनका क्रमसे ध्याना योग्य है। एक एकका अभ्यास कुछ काल तक करता रहे। वे धारणाएं हैं (१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी, (३) मारुती, (४) वारुणी, (५) तत्त्वरूपवती। मारुतीको पवन व वारुणीको जलधारण भी कहते हैं।

(१) पार्थिवी धारणा—ध्यान करनेवाला इस सर्व मध्यलोकको निर्मल क्षीरसमुद्र सफेद जलसे भरा विचारे। इसके मध्यमें ताए हुए सोनेके समान एक हजार पत्रवाला कमल एक लाख योजन चौडा जम्बूद्वीपके समान विचार करे, फिर इस कमलके मध्यकी कर्णिकामें पीत रंगका सुमेरु-पर्वत चिंतवन करे।

फिर उस पर्वतके ऊपर पांडुक शिलापर एक स्फटिकमणिका सफेद सिंहासन विचारे तथा उसके ऊपर देखे कि आप स्वयं पद्मासन सुखरूप, शांतस्वरूप, क्षोभ रहित कर्मोंको दग्ध करनेके लिये बैठा है तथा यह श्रद्धान व उत्साह रक्खे कि यह आत्मा रागद्वेषादि सर्व कलंकोंको तथा कर्मोंको नाश कर सक्ता है इतना ध्यान जमाना सो पार्थिवी धारणा है।

(२) आग्नेयी धारणा—वह ध्यानी वहीं सिंहासनपर बैठा हुआ अपने नाभि मण्डलमें ऊपरको उठा हुआ सोलह व्रतोंका एक सफेद कमल विचार करे। इसके हरएक पत्रपर पीत रंगके सोलह स्वर अक्षरोंको लिखा हुआ सोचें "अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः" और कमलके बीचमें कर्णिकाके स्थानमें महामन्त्र र्हंको स्थापन करले। फिर दूसरा एक कमल हृदयमें आठ पत्तोंका अधोमुख पहले कमलके ऊपर चिंतवन करे। इन आठ पत्तोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय इन आठ कर्मोंको स्थापित करे। फिर यह सोचे कि नाभि-कमलके मध्यमें स्थित र्हं के रेफसे मंद मंद धूंआ निकला फिर ज्वाला प्रगटी, लपक बढी और वह हृदयमें स्थित आठ कर्मरूपी कमलको जलाने लगा। इस अग्निकी शिखा इस हृदयकमलके मध्यमेंसे ऊपर मस्तकपर आगई तथा उसकी शिखा शरीरके दोनों तरफ चली गई फिर नीचे जाकर मिल गई। शरीरके चारों तरफ अग्निमय त्रिकोण बन गया ऐसा विचारे। इस त्रिकोणकी तीनों लकीरोंको र र र र से व्याप्त विचारे। र अग्निका बीजाक्षर है फिर सोचे कि इस त्रिकोणके तीन बाहरी कोनों-

पर अग्निमय तीन साथियें बने हैं तथा भीतरी कोनोंपर तीनों जगह ॐ र्रं अग्निमय स्थापित हैं। इन अग्निमें लपके उठती हुई विचारे परन्तु धूंआ नहीं है। ऐसा अग्निका मंडल बाहर शरीरको, भीतर आठ कर्मको जलाता जलाता दोनोंको भस्म रूपमें करता हुआ धीरे २ शमन होता है और अग्निकी शिखा र्हंके रेफसे उठी थी उसीमें समा जाती है ऐसा वारवार ध्यान करना आग्नेयी धारणा है।

(३) मारुती धारणा—वही ध्यानी ऐसा चिंतवन करे कि आकाशमें पूर्ण एक प्रचण्ड पवन चल रही है जो मेघोंको वखेर रही है, समुद्रको क्षोभित कर रही है, दशोंदिशाओंमें फैल रही है तथा मेरे चारोंतरफ एक गोल मण्डल बनाकर घूम रही है। उस गोल मण्डलमें सब ओर पवनका बीजाक्षर स्वाय स्वाय लिखा हुआ विचारे। फिर यह सोचे कि यह पवन जो कर्मकी तथा शरीरकी भस्म थी उसको उडा रही है ऐसा वारवार चिंतवन करना सो पवन धारणा है।

(४) वारुणी धारणा—वही ध्यानी विचारे कि आकाशमें काले २ मेघोंके समूह छागए हैं, बादल गर्ज रहे हैं, विजली चमक रही है, उनसे मोती समान उज्वल जलकी धारा वरष रही है, लगातार जलकी वर्षासे यह अर्धचन्द्राकार जलका मंडल अपने ऊपर बन गया है उसपर हर जगह जलका बीजाक्षर प प प प लिखा हुआ है। यह धारा आत्माको धो रही है। जो कुछ कर्मकी व शरीरकी रज शेष रह गई थी उसको यह जलधारा बहा रही है ऐसा वारवार चिंतवन करें।

(५) तत्व रूपवती धारणा—फिर वही ध्यानी अपनेको सर्व शरीर व कर्म व राग दोष रहित पुरुषाकार अमूर्तीक शुद्ध निरंजन सिद्ध समान चिंतवन करे और निश्चल रूपमें अपने आपमें तन्मय हो आत्मानुभव करे, यही असलमें पिंडस्थ ध्यान है। चार जो धारणाएं हैं वे इस ही आत्माकार परिणति करनेके लिये सहायक हैं।”

यह ध्यान मोक्षके अविनाशी सुखको झलकानेवाला है।

श्लोक—रूपस्थं सर्वं चिद्रूपं, अधो ऊर्ध्वं च मध्ययं।
शुद्धतत्त्वे स्थिरी भूत्वा, ह्रींकारेन जोइतं ॥ १८५ ॥

चिद्रूपं सुय चिद्रूपं, धर्मध्यानं च निश्चयं।
मिथ्यात्व रागमुक्तस्य, अमलं निर्मलं ध्रुवं ॥ १८६ ॥
रूपस्थं अर्हत् रूपेण, ह्रींकारेण दिष्टते।
ॐकारस्य ऊर्ध्वस्य, शुद्धं ऊर्ध्वमयं ध्रुवं ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थ—(रूपस्थं) रूपस्थ ध्यानमें यह विचारे कि (सर्व चिद्रूपं) सर्व चैतन्यका स्वभाव अर्हत् भगवानकी आत्मामें (अधो ऊर्ध्वं च मध्ययं) नीचे ऊपर मध्य सर्व ठौर है (शुद्धतत्वे स्थितीभुत्वा) वे अर्हंत भगवान शुद्ध आत्मधर्ममें लीन हैं (ह्रींकारेन) ह्रीं बीजाक्षरसे (जोइतं) देखने योग्य हैं। (चिद्रूपं) चैतन्यका स्वभाव (सुय चिद्रूपं) श्रुतज्ञानके द्वारा जाना हुआ चैतन्यका रूप है। (च निश्चयं धर्मध्यानं) व यही निश्चय धर्मध्यान है। (मिथ्यात्व रागमुक्तस्य) जिसके ऐसा ध्यान होता है वह मिथ्यात्व व रागादि भावोंसे मुक्त होजाता है उसके ध्यानमें (अमलं) मल रहित (निर्मलं) निर्मल शुद्ध (ध्रुवं) अविनाशी आत्मतत्व है। (रूपस्थं) यह रूपस्थ ध्यान (अर्हत रूपेण) अर्हत् भगवानके स्वरूपके द्वारा होता है। (ह्रींकारेण) ह्रीं बीजाक्षरके द्वारा (दिष्टते) दिखलाई पडता है (ॐकारस्य ऊर्ध्वं) ॐ के ऊपर जो विराजित है वह (शुद्धं) शुद्ध आत्मा (ऊर्ध्वमयं) सबसे श्रेष्ठ व (ध्रुवं) अविनाशी है ऐसा ध्यानमें झलकता है।

विशेषार्थ—यहां तीसरे रूपस्थ ध्यानका स्वरूप है। रूपस्थ ध्यानमें श्री अरहंत भगवानका स्वरूप ध्यानमें लेकर शुद्धात्माकी तरफ लक्ष्य देना चाहिये। पहले तो अरहंत भगवानको समवसरणमें बारह सभाओंके साथ विचार करे। श्री मंडपके भीतर १२ सभाओंमें चार प्रकारकी देवियां चार सभाओंमें, चार प्रकारके देव चार सभाओंमें, एक सभामें मुनि, एक सभामें आर्जिका, एक सभामें मानव, एक सभामें पशु इस तरह भगवानको शांतरूप वैठे हुए सोचे। इन्द्रादि देव व बडे चक्रवर्ती आदिक भगवानकी पूजा व स्तुति कर रहे हैं ऐसा देखे, फिर यह देखे कि अरहंत भगवान परम शुद्ध सप्त धातुसे रहित अंतरीक्ष पदमासन ध्यानाकार विराजमान हैं, परम गंभीर हैं, इंद्रियोंके विजयी हैं, अर्द्धोन्मीलित नेत्रोंसे अंतरंग तत्वको देख रहे हैं, परम वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, जिनके ज्ञान दर्पणमें सर्व लोकालोक प्रकाशमान है, जो परमानन्दमें मग्न हैं। सर्व इच्छासे शून्य हैं, कृतकृत्य

हैं, जो रत्नमय सिंहासनपर चार अंगुल ऊंचे शोभायमान हैं, जिनकी दिव्यध्वनिसे धर्मामृतकी वर्षा होती है। जिनके शरीरकी आभाका मंडल चारों तरफ छाया हुआ है, जिसकी दीप्ति सूर्य चंद्रमाको जीतनेवाली है, रत्नत्रय स्वरूप तीन छत्र जिनके ऊपर शोभायमान हैं। हंसकी पंक्तिके समान उज्वल चमरोंके समूह दोनों तरफ ढुर रहे हैं, दिव्य पुष्पोंकी वृष्टि होरही है, देवों द्वारा दुंदुभि बाजे बज रहे हैं, भगवानके पीछे अशोक वृक्ष शोभायमान है। इस तरह आठ प्रातिहार्योंके द्वारा भगवान शोभनीक हैं। जिनकी आत्मामें नौ केवल लब्धियां विराजित हैं। अर्थात् १ अनंतज्ञान, २ अनंतदर्शन, ३ अनंतदान ४ अनंतलाभ, ५ अनंत भोग, ६ अनंत उपभोग, ७ अनंत वीर्य, ८ क्षायिक सम्यक्त, ९ क्षायिक चारित्र। जो अर्हंत भगवान समतारसमें या परम अद्वैतभावमें मग्न हैं, परम योगीश्वर हैं, परम वीर हैं, क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित हैं, परम दयालु, सर्व प्राणीमात्रके रक्षक, परम शांत, शुद्धात्मीक परिणतिमें तल्लीन हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य नियमसारमें अर्हंतका स्वरूप कहते हैं—

क्षुहतण्हभीरुरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू। स्वेदं खेद मदो रइ विह्मियणिद्दा जणुव्वेगो ॥ ६ ॥

णिस्सेस दोसरहिओ, केवलणाणाइपरमविभवजुदो। सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो अर्हंत भगवान क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मरण, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म, आकुलता ऐसे अठारहको लेकर अन्य सर्व दोषोंसे रहित हैं, केवलज्ञानादि विभव सहित हैं, यही पूजने योग्य अर्हंत परमात्मा हैं, इसके विपरीत कोई देव परमात्मा नहीं है। ऐसे अर्हंतको सर्वांग शुद्ध चिद्रूपमय शुद्ध आत्मतत्वमें स्थित ह्रीं मंत्र द्वारा विचारना चाहिये अर्थात् ह्रींमें २४ तीर्थंकर गर्भित हैं, ह्रीं मंत्रको कहते हुए भी हम अरहंतका स्वरूप विचार सक्ते हैं जिससे उपयोग और तरफ नहीं जावे, तथा ॐके मंत्रको भी कहते हुए विचार सक्ते हैं। ॐ के ऊपर जो अर्धचंद्राकार है वह सिद्धक्षेत्रका नमूना है। वहां उत्कृष्ट सिद्ध भगवान निश्चल विराजते हैं। वैसा ही शुद्ध आत्मा अर्हंतके भीतर है। चार अघातिया कर्म मात्र पुद्गलमय रजतुल्य हैं। उनके भीतर सिद्धवत् शुद्धात्मा विराजित हैं, ध्यान करनेवाला मिथ्यात्वभाव व सांसारिक भोगादिका सर्व राग त्यागकर ध्रुव व निर्मल अर्हंतकी शुद्धात्मा पर लक्ष्य देवे। फिर अपने ही

आत्माके स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप पर आजावे। इसतरह रूपस्थ ध्यानके द्वारा निश्चय धर्मध्यान करे। अर्थात् आत्मानुभवका आनन्द लेवे।

श्रुतज्ञानके आधारसे अरहंतका व अरहंतकी शुद्ध आत्माका स्वरूप विचार करे।

श्लोक—रूपातीत व्यक्त रूपेन, निरंजन ज्ञानमयं ध्रुवं।
मतिश्रुतअवधिं दिष्टं, मनपर्यं केवलं ध्रुवं ॥ १८८ ॥
अनंत दर्शनं ज्ञानं, वीर्यानंत सौख्ययं।
सर्वज्ञं शुद्ध द्रव्यार्थं, शुद्धं सम्यक् दर्शनं ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थ—(रूपातीत) रूपातीत ध्यान (व्यक्तरूपेण) प्रगट रूपसे (निरंजन) कर्म मैलसे रहित (ज्ञानमयं ध्रुवं) ज्ञान स्वरूप अविनाशी आत्मा होता है जहां (मतिश्रुत अवधि मनपर्यं केवलं ध्रुवं दिष्टं) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान ये पांचों ही एक रूप नित्य दिखलाई पडते हैं (अनंत दर्शनं ज्ञानं वीर्यानंत सौख्ययं) अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य व अनंत सुखमई है (सर्वज्ञं) सर्वज्ञ हैं (शुद्ध द्रव्यार्थं) शुद्ध आत्म पदार्थ है (शुद्धं सम्यक् दर्शनं) यही शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—रूपातीत ध्यानमें पहले तो मूर्तीक रूप रहित सिद्ध भगवानके गुणोंका विचार करके ध्यान करे फिर सिद्ध समान अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप निश्चय नयसे ध्यानमें लेकर ध्यावे अर्थात् परमात्मा और अपने आत्माका भेदभाव मिटाकर अपने आत्मामें एक होजावे। श्री सिद्ध भगवान रूपातीत हैं, प्रगट रूपसे आठ कर्मरूपी अंजनसे रहित हैं, ज्ञानाकार हैं, अविनाशी हैं, उनमें मतिश्रुत आदि पांच ज्ञानोंके विकल्प नहीं हैं। एक शुद्ध ज्ञानमई हैं जो ज्ञान सदा ध्रुव रहता है। अनंतदर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य इन चार अनंत चतुष्टय सहित हैं। वे ही सर्वज्ञ हैं, शुद्ध आत्मद्रव्य हैं, शुद्ध सम्यग्दर्शन स्वरूप है। अर्थात् जहां क्षायिक सम्यग्दर्शन परम शुद्ध प्रकाशमान है। वे सिद्ध लोकाग्र पुरुषाकार ध्यानमय आत्मानन्दमें मगन परमानंद स्वरूप स्वात्मामृतका पान करते हुए निश्चल स्फटिककी मूर्तिके समान शोभायमान हैं, ऐसा ध्यानमें लेकर उनका चिंतवन करता हुआ अपने आत्मामें आजावे व शुद्ध निश्चयनयसे अपने आपको सिद्धवत् ध्यावे।

जैसा ज्ञानार्णवमें अध्याय ४० में कहा है—

सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः । परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरंजनः ॥ १८ ॥

तदासौ निश्चलोऽमूर्तो निष्कलंको जगद्गुरुः । चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे सिद्ध भगवान हैं वैसे मैं हूं। मैं ही सर्वज्ञ हूं, ज्ञानापेक्षा सर्व व्यापक हूं, सिद्ध स्वरूप हूं, मैं ही साध्य हूं, संसारसे रहित हूं, परमात्मा हूं, परं ज्योतिमय हूं, सकलदर्शी हूं, मैं ही सर्व अंजनसे रहित निरंजन शुद्ध हूं, ऐसा ध्यान करे तब अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्तीक, कलंक रहित, जगत्‌में श्रेष्ठ, चैतन्य मात्र, ध्यान ध्याताके भेद रहित ऐसा अतिशयरूप प्रकाशमान होता है।

पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि । प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते ॥ ३० ॥

भावार्थ—तब वह मुनि परमात्मासे अपने आत्माका भिन्नभाव उल्लंघन करके एकपनेको साक्षात् प्राप्त होजाता है, ऐसा कि वहां भिन्नपनेका बिलकुल भान नहीं रहता है। अर्थात् स्वयं परमात्म-भावमें तन्मय होजाता है। मैं एक केवल शुद्ध आत्मा हूं, ऐसा ध्यान करते हुए परम अद्वैत स्वानुभवमें स्थिर होजाता है। यह परमानन्दमई रूपातीत ध्यानका स्वरूप है।

सम्यग्दर्शन महात्म्य।

श्लोक—प्रतिपूर्णं शुद्ध धर्मस्य, अशुद्ध मिथ्यातिक्तयं ।
शुद्ध सम्यक्त संशुद्धं, सार्थं सम्यग्दृष्टितं ॥ १९० ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध धर्मस्य प्रतिपूर्णं) शुद्ध धर्मसे जो भरा हुआ है। (अशुद्ध मिथ्यातिक्तयं) अशुद्ध व मिथ्याभावसे जो रहित है (सार्थं सम्यग्दृष्टितं) जहां आत्म-पदार्थको यथार्थ स्वरूप सहित भलेप्रकार अनुभव किया जाता है वही (संशुद्धं शुद्ध सम्यक्त) परम शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—यहां भाव निक्षेपसे सम्यग्दर्शनका स्वरूप है। जहां शुद्ध आत्माके शुद्ध व पूर्ण स्वभावका अनुभव किया जाता है। जहां न तो किसी प्रकारकी अशुद्धता है न कोई मिथ्यात्वका भाव है। शुद्ध आत्माका सम्यक् प्रकार मानो दर्शन जहां होरहा है, परम रुचि सहित आत्मामें

आप तन्मय है। यही भाव शुद्ध व क्षायिक सम्यग्दर्शन है। निश्चयसे विचारा जावे तो यह आत्मा स्वयं जब सर्व विकल्पोंसे रहित होता है, आप आपमें थिर होता है, स्वसंवेदन ज्ञानमय या स्वानुभव रूप होता है तब वहां रत्नत्रयकी एकतारूप साक्षात् मोक्षमार्ग है। वहां शुद्धात्माकी रुचि भी है, उसीका ज्ञान भी है, उसीका चारित्र भी है। उसीको शुद्ध सम्यग्दर्शन, उसीको शुद्ध सम्यग्ज्ञान व उसीको शुद्ध सम्यग्चारित्र कह सक्ते हैं। वास्तवमें वह तीनोंका अखण्ड पिंड एकीभावरूप मोक्षमार्ग है। ऐसा ही अमृतचन्द्राचार्य तत्वार्थसारमें कहते हैं—

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्तं चरितं हि सः। स्वस्थो दर्शनचारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥ ७ ॥

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ ८-८ ॥

भावार्थ—आत्मा ही जाना गया ज्ञान है, वही जब दर्शनमोह और चारित्रमोहके मैलसे अभावित है तब सम्यग्दर्शन है और सम्यक्चारित्र है। जो अपने ही स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान व चरण करता है ऐसा आत्मा ही दर्शन ज्ञान चारित्रमई कहा गया है। वास्तवमें शुद्ध सम्यक्त आत्माका ही एक अमिट अखंड गुण है।

श्लोक—देवगुरुधर्मशुद्धस्य, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं।
मिथ्या त्रिति विनिर्मुक्तं सम्यक्तं सार्थ ध्रुवं ॥ १९१ ॥

अन्वयार्थ—(देव गुरु धर्मशुद्धस्य) शुद्ध देव, शुद्ध गुरु, व शुद्ध धर्मका (सार्थं) अर्थ सहित (ज्ञानमयं) ज्ञानमय (ध्रुवं) निश्चल श्रद्धान (मिथ्या त्रिति विनिर्मुक्तं) तीन मिथ्यात्वसे रहित (सार्थं ध्रुवं सम्यक्तं) अर्थ सहित निश्चल सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—यहां बताया है कि जिसको शुद्धात्माका अनुभव सम्यग्दर्शन प्राप्त है उसे निर्दोष देव, गुरु, धर्मकी भी श्रद्धा है। वह श्रद्धा ज्ञानमई अटल है। इसका भाव यह है कि वह सम्यक्ती व्यवहारनयसे तो श्री अरहंत व सिद्ध भगवानको अपना पूज्य देव व निर्ग्रंथ आचार्य, उपाध्याय व साधुको अपना पूज्य गुरु व रत्नत्रयमई धर्मको पूज्य धर्म मानता है, निश्चयसे अपने ही शुद्धात्माको देव, उसीको गुरु व उसीकी परिणतिको धर्म जानता है। अथवा अरहंत व सिद्धमें जो ज्ञान स्वरूप निश्चल आत्मद्रव्य है उसीको शुद्ध देव मानता है तथा आचार्य उपाध्याय साधुमें जो उनका शुद्धात्मा

है उसे ही शुद्ध गुरु जानता है तथा रत्नत्रयमें एक अभेद रत्नत्रयमई स्वात्मानुभूतिको ही शुद्ध धर्म मानता है। जिसको यथार्थ देव, गुरु, धर्मका व्यवहारनय व निश्चयनयसे यथार्थ श्रद्धान है वही सम्यग्दर्शन है। जहां मिथ्यादर्शनका, सम्यक्त मिथ्यात्व प्रकृतिका तथा सम्यक्त प्रकृतिका इन तीनों क्षायिक सम्यक्तकी घातक दर्शन मोहनीयकी प्रकृतियोंका उदय नहीं है, किंतु इन तीनोंका सत्तामेंसे नाश हो, साथमें अनन्तानुबन्धी चार कषायका भी नाश होगया है। यही निश्चय यथार्थ सम्यग्दर्शन है। वास्तवमें जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त है वही सच्चे देव, गुरु, धर्मको पहचानता है तथा वही अपने आत्माको जानता है। उसकी रुचिमें एक स्वात्मानुमति है। वही उसे देव, गुरु व धर्मके भीतर भी झलक रही है।

श्लोक—देवं देवाधिदेवं च, गुरु ग्रंथस्य मुक्तयं।
धर्मस्य शुद्ध चैतन्यं, सार्थं सम्यक्तं ध्रुवं ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थ—(देवाधिदेवं च देवं) देवोंके देव श्री अरहंत सिद्ध भगवान तो देव हैं (ग्रंथस्य मुक्तयं गुरु) ग्रंथ अर्थात् परिग्रह रहित गुरु हैं (शुद्ध चैतन्यं धर्मस्य) शुद्ध चेतनाका भाव धर्म है इन तीनोंका श्रद्धान करना (सार्थं सम्यक्तं ध्रुवं) यथार्थ निश्चल सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—इंद्रादिक देव जिनके चरणोंको नमन करते हैं, जो सर्वसे महान तीनलोकमें श्रेष्ठ हैं वे ही पूज्यनीय देव श्री अरहंत और सिद्ध भगवान हैं। उनमें न तो कोई अज्ञान है और न कोई कषाय है, जो संसारी जीवोंके भीतर कम व अधिक पाए जाते हैं। ऐसे ही देवके भीतर सम्यक्तीकी दृढ श्रद्धा रहती है। गुरु वे ही हैं जो निर्ग्रंथ हों। जिनके ग्रन्थ अर्थात् ममताका कारण चौवीस प्रकारका परिग्रह न हो। मिथ्यादर्शन, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये चौदह प्रकार अन्तरंग और क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, दासी, दास, कपडे, वर्तन यह १० प्रकारके बाहरी परिग्रह होते हैं। इनसे साधुकी ममता नहीं होती है। इनमें बाहरी परिग्रह तो छोडने योग्य है, बुद्धिपूर्वक दूर किया जासक्ता है। अंतरंग परिग्रहमें जिन कषायोंका उदय नहीं है वे तो नहीं होना संभव है, परंतु जिनका उदय साधु अवस्थामें होना संभव है उन कषायोंसे भी साधु निर्ममत्व है। परिग्रह पोटकी चोटको बचाकर जो

नित्य आत्मध्यानकी अग्निको जलाकर कर्मोंके दग्ध करनेमें उत्साह सहित उद्यमवान हैं वे ही सच्चे मोक्षमार्ग प्रदर्शक गुरु हैं। शुद्ध चेतनाका स्वभाव ही धर्म है। आत्माका स्वभाव जो शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय है उसी स्वभावमें श्रद्धा ज्ञान सहित तन्मय होजाना धर्म है। ऐसे देव, गुरु, व धर्मका श्रद्धान करना यही यथार्थ सम्यक्त है। इनमेंसे एक शुद्धात्माकी निर्विकल्प परिणति ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी श्रद्धा सो निश्चय सम्यक्त है।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य जीवस्य, दोषं तस्य न पश्यते।

तस्य सम्यक्त हीनस्य, संसारे भ्रमनं सदा ॥ १९३ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य जीवस्य सम्यक्तं) जिस जीवके पास सम्यग्दर्शन है (तस्य) उसके पास (दोषं न पश्यते) कोई दोष नहीं देखा जाता है (तस्य सम्यक्त हीनस्य) जिसके पास यथार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है (सदा संसारे भ्रमनं) उसका इस संसारमें सदा ही भ्रमण रहनेवाला है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका महात्म्य अपूर्व है। यथार्थ निश्चय सम्यग्दर्शन जिसके होगा वह शुद्धात्मानुभवकी शक्तिको प्राप्त कर लेगा। उसको आत्माका स्वाद मिल जायगा। आत्मिक आनंद अमृतके तुल्य है, विषयसुख विष तुल्य है, ऐसा अनुभव उसकी श्रद्धामें होजाता है। वह ज्ञान वैराग्यसे परिपूर्ण होता है। उसका हरएक कार्य विवेक पूर्वक होता है। वह सम्यक्ती पचीस दोषोंको टालता हुआ वर्तन करता है, इसलिये निर्दोष व्यवहार करता है। वह बडा दयावान, परोपकारी, मिष्टवादी, शांत प्रकृति धारी, धर्मप्रेमी, नास्तिकता रहित होता है। यथार्थ तत्वको वह स्वयं अनुभव करता है तथा दूसरोंको वह तत्वज्ञानके मार्गमें प्रेरक होता है। वह संसारकी मायाको नाशवंत समझकर इसके लिये अन्याय नहीं करता है। परन्तु जिसके यह आत्मानुभव रूप यथार्थ तत्व ज्ञानमय सम्यग्दर्शन नहीं होता है वह विषयवासना सहित जीव व्यवहार धर्म व तप आदिको पालन करता है तौभी संसारसे कभी पार नहीं होसक्ता, स्वर्गादि जाकर भी फिर एकेन्द्रिय व पशु पर्यायमें जन्म लेलेता है। वह शरीरका मोही शरीरको वारवार धारण किया करता है।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य हृदये, व्रत तप क्रिया संयुतं।

शुद्धतत्वं च आराध्यं, मुक्तिगमनं न संशयः ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य हृदये) जिसके हृदयमें (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शन है तथा वह (व्रत तप क्रिया संयुतं) व्रत, तप, क्रिया सहित है (च) और (शुद्ध तत्वं आराध्यं) शुद्ध आत्मीक तत्वका आराधन करता है तौ वह (मुक्तिगमनं) मुक्ति अवश्य पायगा (न संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके समान कोई उपकारी नहीं है। जो श्रावक तथा मुनिके चारित्रको सम्यग्दर्शन सहित यथायोग्य पालेगा और निरंतर जिसका उद्योग आत्मध्यानकी तरफ रहेगा अर्थात् जो आत्मानुभवके ही लिये योग्य निमित्तोंको मिलानेके लिये व अयोग्य निमित्तोंके हटानेके लिये व्यवहार चारित्र पालेगा वह महात्मा यदि काललब्धि हुई व शरीर संहनन योग्य हुआ तो उसी जन्मसे निर्वाण लाभ करेगा। अन्यथा दो चार दश भवके भीतर मोक्ष चला जायगा। सम्यग्दर्शन वास्तवमें खेवटिया है। जैसा रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते। दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥ ३१ ॥

भावार्थ—मोक्षके मार्गमें सम्यग्दर्शनको खेवटिया कहा जाता है। ज्ञान चारित्रके द्वारा सम्यग्दर्शनकी उपासना की जाती है अर्थात् शुद्ध आत्मीक अनुभव किया जाता है।

सारसमुच्चयमें कहते हैं—

अतीतेनापिकालेन यन्न प्राप्तं कदाचन। तदिदानीं त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥ ४६ ॥

भावार्थ—गत कालमें जिसको कभी नहीं पाया था ऐसा उत्तम सम्यग्दर्शन अब प्राप्त हुआ है। यह बड़ा ही दुर्लभ लाभ है। इसलिये इसकी रक्षा करके इसके सहारे संसार-सागरसे पार हो जाना चाहिये।

सम्यग्दृष्टीका आचरण।

श्लोक—लिङ्गं च जिनं प्रोक्तं, त्रितय लिङ्गं जिनागमे।

उत्तमं मध्यम जघन्यं च, क्रियात्रेपण संयुतं ॥ १७५ ॥

उत्तमं जिनरूपी च, मध्यमं च मतं श्रुतौ ।
जघन्यं तत्व सार्धं च, अविरत सम्यक् दृष्टितं ॥ १९६ ॥
लिङ्गं त्रिविधि प्रोक्तं, चतुर्थलिङ्ग न उच्यते ।
जिनशासने प्रोक्तं च, सम्यग्दृष्टि विशेषतः ॥ १९७ ॥

अन्वयार्थ—(जिनागमे) जिन आगममें (जिनं प्रोक्तं) जिनेन्द्र भगवानके कहे गए (लिंगं त्रितय लिंगं) लिंग तीन हैं (उत्तम मध्यम जघन्यं च) उत्तम लिंग, मध्यम लिंग, व जघन्य लिंग (क्रियात्रेयण संयुतं) यह यथायोग्य त्रेपन क्रियासे संयुक्त होते हैं (उत्तमं जिनरूपी च) उत्तम लिंग जिनेन्द्रका स्वरूप नग्न दिगंबर वस्त्रादि परिग्रह रहित है (मध्यमं च श्रुतौ मतं) मध्यम लिंग शास्त्रमें कहा हुआ श्रावकका लिंग है। (जघन्यं तु) जघन्य लिंग (तत्व सार्धं) तत्वबोध सहित (अविरत सम्यग्दृष्टितं) अविरत सम्यग्दृष्टिका लिंग है। (त्रिविधि लिंगं प्रोक्तं) तीन प्रकार ही लिंग कहा गया है (चतुर्थ लिंगं न उच्यते) चौथा लिंग नहीं कहा गया है (विशेषतः) विशेष करके (जिनशासने) जिन शासनमें (सम्यग्दृष्टि) सम्यग्दृष्टिको (प्रोक्तं च) कहा गया है।

विशेषार्थ—मोक्षमार्गमें रत्नत्रयके साधनकी अपेक्षा तीन श्रेणी हैं-एक महाव्रती साधुकी दूसरे श्रावककी तीसरे व्रत रहित सम्यक्दृष्टीकी, चौथी श्रेणी नहीं है। इनमें सम्यग्दर्शनकी विशेषता इसलिये है कि इसके विना श्रावक व साधु सच्चा श्रावक व साधु नाम नहीं पाता है। अविरत सम्यग्दर्शन चौथा गुणस्थान है, यहांसे स्वरूपाचरण चारित्र या स्वानुभव प्रारम्भ होजाता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण कषायके उपशमसे श्रावक पंचम गुणस्थानी होता है। इसकी दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह श्रेणियां हैं। जितना जितना प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम अधिक २ बढता जाता है उतना उतना चारित्र प्रतिमा रूपसे या श्रेणी रूपसे बढता चला जायगा। जब प्रत्याख्यानावरण कषायका भी उपशम होजाता है तब वह श्रावक साधु होजाता है, पूर्ण व्रती होजाता है और सर्व परिग्रह रहित निर्ग्रंथ होजाता है। यही उत्तम लिंग है, मध्यम श्रावकका है, जघन्य व्रत रहित सम्यग्दर्शनका है। इनमें भी हरएकके भीतर तीन २ भेद उत्तम मध्यम जघन्यके भेदसे किये

जासक्ते हैं। अविरत सम्यग्दर्शनमें क्षायिक सम्यग्दर्शनके धारी उत्तम हैं। उपशम सम्यक्तका धारी मध्यम है। क्षयोपशम सम्यक्तका धारी जघन्य है। मध्यम लिंग श्रावकमें पहिली प्रतिमासे छठी तक जघन्य है, सातवींसे ९ मी तक मध्यम है व १० मी व ११ मी प्रतिमा धारी उत्तम है। उनमेंसे श्रेष्ठ ऐलक मात्र एक लंगोटधारी है, क्षुल्लक एक लंगोट व एक चद्दरधारी उससे नीचे हैं। जिनरुपधारी उत्तम लिंगमें तीर्थंकर उत्तम हैं, ऋद्धिधारी ऋषि मध्यम हैं, सामान्य साधु जघन्य हैं।

त्रेपन क्रियाएं।

गुणवय तव सम पडिमा, दाणं जल गालणं च अणत्थमियं। दंसण णाण चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥

(दौलतरामकृत क्रियाकोष)

आठ मूलगुण+बारह व्रत+बारह तप+समताभाव+ग्यारह प्रतिमा+चार प्रकारका दान+जल गालना+रात्रिको न खाना+रत्नत्रय धर्म तीन सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र=५३ त्रेपण क्रियाएं इस तरह जाननी।

इनमें रत्नत्रय धर्म तथा बारह तप व समताभाव उत्तम लिंग साधुकी मुख्य क्रियाएँ हैं श्रावककी गौण हैं। शेष सर्व श्रावकोंके लिये मुख्य हैं।

(१) आठ मूलगुण—मदिरा, मांस, मधु व पांच फल जिनमें त्रस होते हैं व होनेकी संभावना है जैसे वड फल, पीपल फल, गूलर फल, पाकर फल, अंजीर फल।

(१) बारह व्रत—(श्रावकके) १-अहिंसा अणुव्रत (संकल्पी त्रस हिंसाका त्याग); २-सत्य अणुव्रत, ३-अचौर्य अणुव्रत, ४-ब्रह्मचर्य अणुव्रत (स्वस्त्रीमें संतोष), ५-परिग्रहका प्रमाण (सम्पत्तिका आजन्म प्रमाण कर लेना), ६-दिग्विरति (जन्म पर्यंत लौकिक कार्योंके लिये १० दिशाओंमें जानेकी मर्यादा करना), ७-देशविरति (जो मर्यादा जन्म पर्यंतके लिये दिशाओंकी की हो उसमेंसे घटाकर एक दिन आदिके लिये करना), ८-अनर्थदंड विरति (व्यर्थके पाप करना जैसे पापका उपदेश, अपध्यान (खोटा विचार), हिंसाकारी वस्तुका दान, दुःश्रुति (खोटी कथाओंको पढना सुनना) प्रमादचर्या (आलस्यसे व्यवहार, अधिक जल आदि फेंकना), ९-सामायिक (सवेरे व

सांझ व दोपहर यथाशक्ति एकांतमें बैठ ४८ मिनटके लिये या कम यथा समय ध्यानका अभ्यास करना), १०-प्रोषधोपवास (अष्टमी व चौदसको उपवास करना), ११-भोगोपभोग परिमाण (पांच इंद्रियोंकी भोग्य वस्तुओंका नित्य प्रमाण करना), १२-अतिथि संविभाग (पात्रोंको दान देकर भोजन करना)।

(३) बारह तप—१-उपवास, २-ऊनोदर, भूखसे कम खाना, ३-वृत्ति परिसंख्यान (कोई प्रतिज्ञा लेकर साधु आहारको जाते हैं, पूरी होनेपर लेते हैं) ४-रस परित्याग (दूध, दही, घी, तेल, नमक मीठा इनमेंसे एक या अनेक रसोंका त्यागना) ५-विविक्त शय्यासन-(एकांतमें सोना बैठना), ६-कायक्लेश (शरीरका सुखियापन मेटनेको कठिन स्थानोंपर तप करना, ७-प्रायश्चित्त (कोई दोष लगनेपर दंड लेकर शुद्ध होना), ८-विनय (धर्म व धर्मात्माओंका आदर करना), ९-वैयावृत्य (रोगी, दुःखी, मांदे, धर्मात्मा भाइयों व बहिनोंकी सेवा करनी), १०-स्वाध्याय (शास्त्रोंको पढना व विचारना), ११-व्युत्सर्ग (शरीरादिसे ममत्व त्यागना), १२-ध्यान (आत्मध्यानका अभ्यास करना)।

(४) समताभाव—राग द्वेष छोडकर समताभाव रखनेका अभ्यास करना।

(५) ग्यारह प्रतिमा—ये ११ श्रावककी श्रेणियां हैं। १-दर्शन, २-व्रत, ३-सामायिक, ४-प्रोषधोपवास, ५-सचित्त त्याग, ६-रात्रि भोजन त्याग, ७-ब्रह्मचर्य, ८-आरम्भ त्याग, ९-परिग्रह त्याग, १०-अनुमति त्याग, ११-उद्दिष्ट त्याग, इनका कथन आगे आयगा।

(६) चार प्रकारका दान—आहार, औषधि, अभय, विद्या।

(७) जल गालन—पानी छानकर पीना व व्यवहार करना।

(८) अणत्थमिय—रात्रिको भोजन न करना।

(९) तीन सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र—चारित्रमें १३ प्रकार मुनिका चारित्र इस भांति—

पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व परिग्रहका त्याग।

पांच समिति—ईर्या (चार हाथ भूमि आगे देखकर चलना), २-भाषा-(शुद्ध वाणी बोलना) ३-एषणा (शुद्ध भोजन श्रावक दत्त लेना) ४-आदान निक्षेपण (देखकर रखना उठाना) ५-प्रतिष्ठापना (मल मूत्र देखकर निर्जंतु भूमिपर करना)।

तीन गुप्ति—मनको, वचनको व कायको वश रखना, मध्यम लिंगवाले श्रावक इन ५३ क्रियाओंको भलेप्रकार पालते हैं, मुनि सम्बन्धी क्रियाओंका यथाशक्ति अभ्यास करते हैं।

श्लोक—जघन्यं अव्रतं नाम, जिन उक्तं जिनागमं।
सार्धं ज्ञानमयं शुद्धं, क्रिया दस अष्ट संजुतं ॥ १९८ ॥

अन्वयार्थ—(जघन्यं) जघन्य लिंग या पात्र (अव्रतं नाम) अविरत सम्यग्दृष्टी है जो (जिन उक्तं) जिनेन्द्रके कहे हुए (जिनागमं, जैन आगमके (सार्धं) अनुसार (ज्ञानमयं शुद्धं) ज्ञानमय शुद्ध आत्माका अनुभव करता है (क्रिया दस अष्ट संजुतं) तथा अठारह क्रिया सहित होता है।

विशेषार्थ—यहां चौथे गुणस्थानवर्ती पात्रका कथन करते हैं कि वह जैन शास्त्रका व जैन शास्त्रमें कहे हुए जीवादि तत्वोंका दृढ श्रद्धालु होता है व उसीके अनुसार अपने आत्माका शुद्ध निश्चयनयसे सिद्धवत् शुद्ध अनुभव करता है, ज्ञान वैराग्यमें तन्मय रहता है। यद्यपि वह अविराति है तथापि वह श्रद्धामें परम साधु है। इसलिये आठ बाहरी लक्षणोंसे विभूषित है। जैसा कहा है—

संवेओ णिव्वेओ निंदा गरहा उवसमो भत्ती। अणुकम्पा वच्छलं गुणट्ठ सम्मत्त जुत्तस्स ॥

भावार्थ—उसमें संवेग गुण होता है जिससे वह जैनधर्मसे गाढ प्रीति रखता है। धार्मिक कार्योंको बडे उत्साहसे करता है। निर्वेद गुणके कारण संसार शरीर भोगोंसे परम उदासीन होता है, बिलकुल वीतराग रहना चाहता है तथापि पूर्वबद्ध कषायके उदयसे रह नहीं सक्ता है, कषाययुक्त हो संसारीक काम करता है। इस अपनी निर्मलताकी निन्दा दूसरोंके सामने करता रहता है तथा अपने मनमें भी करता रहता है यह गर्हा है। उपशम गुणके द्वारा शांत चित्त होता है। आकुलतामय घबडाया हुआ परेशान नहीं रहता है, भक्ति गुणके कारण देव शास्त्र गुरुकी सच्ची भक्ति करता है, गुणवानोंकी सेवा करता है, अनुकम्पा गुणसे बडा दयावान होता है, सर्व जीवमात्रके साथ प्रेम करता हुआ उनकी रक्षा चाहता है। वात्सल्य गुणसे साधर्मी भाई व बहनोंसे गौवत्सके समान प्रेम करता है, उनके लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर डालता है। ऐसा गुणवान सम्यक्ती यद्यपि अतीचार रहित व्रतोंको पाल नहीं सक्ता है तथापि इन त्रेपन क्रियाओंमेंसे अठारह क्रियाओंको पालता है, या पालनेका यथाशक्ति उद्योगी रहता है। आगेके दो श्लोकोंसे वे प्रगट कही गई हैं।

आठ मूलगुण+चार प्रकारका दान+सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रकी सेवा+रात्रि भोजन त्याग+छना हुआ पानी पीना+समताभावके लिये जिनागमका मनन करना। यह १८ क्रियाएं पालता है।

श्लोक—सम्यक्तं शुद्ध धर्मस्य, मूलं गुणं च उच्यते।
दानं चत्वारि पात्रं च, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ १९९ ॥
दर्शन ज्ञान चारित्रैः, विशेषितं गुणपूजयं।
अनस्तमितं शुद्ध भावस्य, फासूजल जिनागमं ॥ २०० ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध धर्मस्य सम्यक्तं) शुद्ध आत्मीक धर्मकी श्रद्धा रखनेवाले जीवके (मूलं गुणं च उच्यते) आठ मूल गुण कहे जाते हैं (पात्रं च चत्वारि दानं) पात्रोंको वह चार प्रकार दान देता है। उस दानको वह (ध्रुवं ज्ञानमयं सार्धं) निश्चल ज्ञानमय भावसे विवेक सहित देता है। (दर्शन ज्ञान चारित्रैः विशेषितं) वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रसे विभूषित होता है, (गुणपूजयं) रत्नत्रयधारी महात्माओंकी पूजा करता है, (शुद्ध भावस्य) निर्मल भावसे श्रद्धा पूर्वक (अनस्तमितं) रात्रिको भोजन नहीं करता है (जिनागमं फासूजलं) जिनागमके अनुसार छना पानी काममें लेता है।

विशेषार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टीके अप्रत्याख्यान कषायका उदय होता है जिससे अतीचार रहित त्याग नहीं कर सक्ता है तथापि जितना जितना कषाय मंद होता जाता है वह चारित्रको अंगीकार करता जाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी तो वह होता ही है। आठ मूलगुणोंमें पांच उदम्बर फल व मदिरा, मांस, मधुका वह सेवन नहीं करता है। तीन प्रकार पात्रोंको भक्तिपूर्वक आहार, औषधि, अभय व ज्ञान दान देता है, दयाभावसे प्राणी मात्रको चार प्रकारका दान देता है। दानमें विवेकसे काम लेता है तथा बदलेमें पुण्यकी व कोई लौकिक लाभकी इच्छा नहीं करता है, केवल परोपकार भावसे दान करता है। सम्यग्दर्शनका आचरण व सम्यग्ज्ञानका आचरण यह है कि वह नित्य जिन भक्ति, गुरु सेवा, स्वाध्याय, सामायिकमें लीन रहता है। जो रत्नत्रयके धारी हैं उनकी भक्ति करता है। गुणवानोंकी पूजा करता है, रात्रिको भोजन हिंसाकारी समझकर अपनी स्थितिके अनुसार छोडनेका उद्यम करता है। खाद्य (जिससे पेट भरे), स्वाद्य (पान इलायची), लेह्य (चाटनेकी

, पेय (पीनेका पानी आदि) इन चारोंको व क्रमको यथाशक्ति छोडनेका अभ्यासी शक्य होता है तो रात्रिको जल भी त्याग देता है, अशक्य होता है तो जिस तरह सा वर्तन करता है। अभी इसके अविरत भाव है। अभ्यास मात्र है। नियमसे रात्रि ॰ वस्थामें छठी प्रतिमा तकमें पूर्ण होजाता है, छठी प्रतिमाके नीचे यथाशक्ति है, लाचारी हीमें इस क्रियामें कमी रखता है। पानी भलेप्रकार छान क्रिया ठीक कराता है या करता है, जानता है कि पानीमें बहुत त्रस क्तिके अनुसार बचानेका उपाय यही है कि जलको छानकर काममें लाया स्थानकमें पहुंचाई जावे। इस क्रियाका भी यह अभ्यासी मात्र होता है। क नहीं पाल सके तो मनमें ग्लानि रखता है। अठारहवीं क्रिया ५३ क्रियाओं-में है उसका पालक होता है। सम्यक्चारित्रमें यह पांच अणुव्रतोंका स्थूल अभ्यास ता है, संकल्प करके वृथा हिंसा नहीं करता है, असत्य नहीं बोलता है, चोरी नहीं करता है, सेवन नहीं करता है, परिग्रहकी अधिक लालसा नहीं रखता है। इन पांच अणुव्रतोंका भी मात्र रखता है। एक श्रद्धालु जैनीको कैसा होना चाहिये यह बात इन अठारह क्रियाओंमें श होजाती है। यदि कोई साधारण जैनी इन बातोंको पाले तो वह नमूनेदार श्रावक चौथे । होजायगा।

श्लोक—एतत्तु क्रिया संजुक्तं, शुद्ध सम्यग्दर्शनं।
प्रतिमा व्रत तपश्चैव, भावना कृत सार्धयं ॥ २०१ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध सम्यग्दर्शनं) निर्मल सम्यग्दर्शनका धारी (एतत्तु क्रिया संजुक्तं) इन अठारह क्रियाओंको पालता हुआ (सार्धयं) इनके साथ (प्रतिमा व्रत तपश्चैव भावना कृत) ग्यारह प्रतिमा, बारह व्रत और बारह तपकी भावना करता रहता है।

विशेषार्थ—उक्त त्रेपन क्रियाओंमेंसे ऊपर लिखी अठारह क्रियाओंको पालता हुआ शेष पैंतीस क्रियाओंकी भावना भाता है। यह विचार रहता है कि मेरे कषाय कब मंद हों, जो मैं उनको

भलेप्रकार पालनेको समर्थ होजाऊँ। उन पैंतीसमें बारह व्रत, बारह तप तथा ग्यारह प्रतिमाएँ हैं इनको छोडकर शेष अठारह क्रियाओंको शक्तिके अनुसार पालता है।

ऐसा सम्यक्ती जीव सर्व लौकिक कामोंको कर सक्ता है, गरीब-अमीर सब कोई ऐसा जैन-धर्म पाल सक्ता है। असि (सिपाहीका काम), मसि (लिखनेका काम), कृषी, वाणिज्य, शिल्पकर्म, विद्याकर्म (गाना बजानादि) इन छः कर्मोंमेंसे अपनी २ स्थितिके अनुसार हरएक जैनी आजीविकाका उद्यम भलेप्रकार करता रहकर सच्चा जैनी रह सक्ता है। वह देशकी रक्षा कर सक्ता है। दुष्टोंका दमन कर सक्ता है, प्रचुर अन्न खेतीसे पैदा कर सक्ता है, देश परदेश भ्रमण करके व्यापार कर सक्ता है। नानाप्रकार कारीगरी, लकडी, कपडा, लोहा, पत्थर आदिके काम कर सक्ता है, मकान बना सक्ता है, चित्रकला, गाना, बजाना आदि काम कर सक्ता है। बुद्धि कम होनेपर नाना प्रकार सेवा कार्य कर सक्ता है। जिस क्षेत्रमें सर्व ही मानव जैनी होजावें उस क्षेत्रमें सारा काम जो गृहस्थियोंके लिये आवश्यक है करते हुए भी जैनधर्मका पालन होसक्ता है। जैनधर्म परिणामोंके आधीन है। बाहरी चारित्र अविरत सम्यक्ती यथासंभव ही पालता है।

श्लोक—आज्ञा सम्यक्त संयुक्तं भावं वेदक उपसमं।
क्षायिकं शुद्ध भावस्य, सम्यक्तं शुद्धं ध्रुवं॥ २०२॥

अन्वयार्थ—(आज्ञा सम्यक्त संयुक्तं भावं) श्री जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञानुसार तत्वोंका श्रद्धानरूप जो भाव है वही (वेदक) वेदक सम्यक्त है व (उपसमं) उपशम सम्यक्त है वही (क्षायिकं) क्षायिक सम्यक्त है। यह क्षायिक (शुद्ध भावस्य शुद्धं ध्रुवं सम्यक्तं) शुद्ध आत्मीक तत्वका शुद्ध निश्चल अमिट श्रद्धान है।

विशेषार्थ—जिन शास्त्रोंमें छः द्रव्य सात तत्वोंका जो स्वरूप कथन किया गया है उसको भलेप्रकार समझकर जिसने श्रद्धान कर लिया है वही आज्ञा सम्यक्त है। इस करके सहित जिसका भेद भाव-ज्ञानसे पूर्ण होता हुआ अपने आत्माको रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व रागद्वेषादि भावकर्मोंसे भिन्न अनुभव करता है वही भाव सम्यक्त है इसीके तीन भेद है-उपशम, वेदक, क्षायिक।

मिथ्यादृष्टी जीवको चार अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व प्रकृति अथवा मिथ्यात्व, सम्यक्-

मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति सहित अर्थात् पांच प्रकृति या सात प्रकृतिके उपशमसे जो सम्यग्दर्शन होता है वह उपशम सम्यक्त है। जहां सम्यक्त प्रकृतिका उदय हो और शेष छः का उपशम हो या क्षय हो उसको वेदक सम्यक्त कहते हैं। यह सम्यक्त कुछ मलीनता लिये हुए है। इसमें चल, मल, अगाढ़ दोष लगते हैं।

उपशमसे वेदक या क्षयोपशम सम्यक्त होता है। फिर वेदकसे सातों कर्मोके क्षय करडालने पर क्षायिक सम्यक्त होता है। यह फिर कभी छूटनेवाला नहीं है, यह ध्रुव है, शुद्ध भावरूप है। इसका धारी या तो उसी भवसे या तीसरेसे या चौथेसे अवश्य मुक्ति पासक्ता है। सम्यक्तकी महिमा अपार है।

श्लोक—उपाद्यो गुण पदवी च, शुद्ध सम्यक्त भावना।
पदवी चत्त्वादि सार्धं च, जिन उक्तं सार्थ ध्रुवं ॥ २०३ ॥

अन्वयार्थ—(गुण पदवी च उपाद्यो) अपने आत्मीक गुणोंकी पदवी अर्थात् सिद्ध पदवी प्राप्त करनी योग्य है (चत्वारि पदवी सार्धं च) चार पदवीके साथ अर्थात् अरहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु पदवीके साथ २ सिद्ध पदवी प्राप्त करना है जो कि (सार्थ ध्रुवं) यथार्थमें अविनाशी है (जिन उक्तं) ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। (शुद्ध सम्यक्त भावना) इसलिये शुद्ध सम्यग्दर्शनकी भावना करनी योग्य है।

विशेषार्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शनकी भावनाका क्या फल होता है सो यहां बताया है। जगतमें जो पांच उत्तम पद हैं वे इसही भावनाके प्रतापसे प्राप्त होते हैं। शुद्धात्माकी भावना करते ही करते एक अविरत सम्यग्दृष्टी अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका उपशम करके देशविरति पंचम गुणस्थानी होजाता है, वहां श्रावककी क्रियाओंको पालता हुआ व शुद्धात्माकी भावना करता हुआ प्रत्याख्यानावरण कषायोंका भी उपशम कर देता है तब अप्रमत्तविरत सप्तम गुणस्थानी साधु होजाता है। यहां अन्तर्मुहूर्त ठहरकर प्रमत्तविरत साधु होजाता है। यहां छठा सातवां वारवार हुआ करता है। जो साधु बहुत अनुभवी होजाते हैं और इस योग्य होते हैं कि वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, सम्यग्वीर्य व सम्यक्तप इन पांच तरहके आचारोंको स्वयं पाले और दूसरोंको पलवा सकें उनको आचार्य पद होता है। जो साधु विशेष शास्त्रज्ञाता होते हैं व पठन पाठनका काम

उत्तम प्रकारसे कर सक्ते हैं उनको उपाध्याय पद होता है। आचार्य व उपाध्यायके कार्य प्रमत्तविरत छठे गुणस्थानमें ही होते हैं। जब ये ही ध्यानमग्न होते हैं तब ७ वेंमें चढ जाते हैं। ८ वेंसे १२ वें गुणस्थान तक साधु ध्यानमग्न ही रहते हैं इसलिये वे साधु ही हैं, साधन करनेवाले हैं। जब चार घातीय कर्मोंका नाश होजाता है तब तेरहवें गुणस्थानमें अरहंत परमात्मा होजाते हैं। शुक्लध्यान सम्बन्धी शुद्धात्माकी भावनाका ही प्रताप है जो साधु आठवेंसे बारहवेंमें व फिर तेरहवेंमें आ जाते हैं। वहां आयु पर्यंत रहते हैं। अन्तर्मुहूर्त पहले दो शेष शुक्लध्यानोंको ध्याते हैं। चौदहवें गुणस्थानमें चौथे शुक्लध्यान द्वारा चार शेष अघातीय कर्मोंका भी विध्वंश करके सिद्ध परमात्मा होजाते हैं। पांचों ही परम पद शुद्ध सम्यक्तकी भावनाके फल हैं। इनमें चार पद अध्रुव हैं, केवल एक सिद्ध पद ही ध्रुव है व यथार्थ आत्माका स्वभावरूप है। सम्यक्ती उसीको उपादेय समझकर उसीपर अपना लक्ष्य-बिंदु रखकर शुद्धात्माकी आराधना करता रहता है।

श्लोक—मतिज्ञानं च उत्पाद्यं, कमलासने कंठ स्थिते ।
ॐ वंकारं च ऊर्ध्वं च, तिय अर्थ सार्धं ध्रुवं ॥ २०४ ॥

अन्वयार्थ—(कंठस्थिते कमलासने) कंठके स्थानपर एक कमल बनाकर उसपर (ॐ वंकारं च ऊर्ध्वं च) श्रेष्ठ ॐ को विराजमान करके जो (तिय अर्थ) तीनों तत्वोंसे पूर्ण है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमई है (ध्रुवं) और परम्परासे चला आया अविनाशी पद है। इस ध्यानके द्वारा (मतिज्ञानं च उत्पाद्यं) मतिज्ञानको विशेष उत्पन्न करना चाहिये।

विशेषार्थ—यहां पांच इंद्रिय व मनद्वारा जो सीधा पदार्थोंका ज्ञान होता है उस मतिज्ञानकी शक्तिको बढानेका उपाय बताया है जिससे अधिक दूर तकका विषय स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्रमें आसके तथा मनकी निश्चलता आत्मतत्वमें होसके। वह यह है कि एक कमल आठ पत्रोंका कंठस्थान पर विचारे, उसके मध्यमें श्रेष्ठ मंत्र ॐ को विराजमान करे। इसमें पांच परमेष्ठी गर्भित हैं। जिनमें रत्नत्रय धर्मका निवास है। इस ॐ को चमकता हुआ ध्यावे। कभी कभी पांचों परमेष्ठीके गुणोंपर लक्ष्य देकर विचार जावे, कभी कभी रत्नत्रयका स्वरूप व्यवहारनयसे व कभी निश्चयनयसे विचार जावे। इसीके द्वारा शुद्ध आत्माका विचार करे। शुद्धात्माके ध्यानसे आत्मशक्ति

बढती चली जाती है। ज्ञान तो आत्मामें परिपूर्ण है परन्तु ज्ञानावरण कर्मका आवरण पड़ा है जिससे प्रगट नहीं है। ध्यानके बलसे जितना जितना आवरण हटता जाता है उतना उतना ज्ञानका प्रकाश बढता जाता है।

श्लोक—कुज्ञानं त्रि विनिर्मुक्तं, मिथ्या छाया च त्यक्तयं ।
ॐ वं ह्रियं श्रियं शुद्धं, शुद्ध ज्ञानं च पंचमं ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थ—(कुज्ञानं त्रि विनिर्मुक्तं) तीन कुज्ञानको छोडकर (मिथ्या छाया च त्यक्तयं) मिथ्यात्वकी छाया भी न रखते हुए (ॐ ह्रियं श्रियं शुद्धं) ॐ ह्रीं श्रीं इन तीन मंत्रोंके द्वारा जो शुद्ध आत्माका अनुभव है वही (शुद्ध पंचमं ज्ञानं च) शुद्ध पंचम केवलज्ञानको उत्पन्न करानेवाला है।

विशेषार्थ—केवलज्ञान क्षायिकज्ञा कभी न छूटनेवाला ज्ञान आत्माका स्वभाव है। वह ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे प्रकाशमान नहीं है। जब सर्व ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय होजाता है तब केवलज्ञान प्रकाशमान होता है। इसका उपाय एक शुद्ध आत्माका निश्चल ध्यान है, जिसको पहले गुणस्थानोंमें धर्मध्यान फिर श्रेणीके ऊपर शुक्लध्यान कहते हैं। शुद्धात्माके स्मरण करानेवाले तीन मंत्र पद प्रसिद्ध हैं। ॐ ह्रीं श्रीं इनके द्वारा धर्मध्यानके समय पांच परमेष्ठी व चौवीस तीर्थंकर व उनके परम ज्ञानादि ऐश्वर्यका चिंतवन किया जाता है। इस चिंतवनके द्वारा जब स्वरूपमें थिरता होती है तब धर्मध्यान कहा जाता है। जहां बुद्धिपूर्वक स्वरूप मग्नता या शुद्धोपयोग है, परन्तु जहां अबुद्धिपूर्वक उपयोगकी पलटन होजाती है वह शुक्लध्यान है। ॐ ह्रीं श्रीं मंत्रोंके आलम्बनसे जैसे धर्मध्यानमें ध्यान किया जाता था वैसे शुक्लध्यानमें इनका आलम्बन है, परन्तु पूर्व अभ्याससे मात्र पलटन होती है। जैसे ॐ से ह्रीं में व ह्रीं मे श्रीं में बुद्धिपूर्वक नहीं। जहां धर्मध्यान व शुक्लध्यानको मिथ्यात्व शल्यकी छायासे रहित ध्याया जाता है व जहां कुमति, कुश्रुत, व कुअवधि इन मिथ्याज्ञानोंसे मुक्ति है ऐसा भावश्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका कारण है।

श्लोक—देवं गुरुं धर्म शुद्धं च, शुद्ध तत्व सार्थं ध्रुवं ।
सम्यग्दृष्टि शुद्धं च, सम्यक्तं सम्यक् दृष्टितं ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थ—(देवं गुरुं धर्मं शुद्धं च) जहां यथार्थ देव गुरु व शुद्ध धर्मकी श्रद्धा हो व (शुद्ध तत्व सार्धं ध्रुवं) शुद्ध यथार्थ अविनाशी आत्मतत्वकी श्रद्धा हो वहीं (सम्यग्दृष्टि शुद्धं च) शुद्ध सम्यग्दर्शन है। वास्तवमें (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शनका अर्थ ही यह है कि जहां (सम्यक् दृष्टितं) पदार्थको जैसाका तैसा यथार्थ जाना जावे।

विशेषार्थ—जैसा साध्य होता है वैसा साधन होता है। जब साध्य शुद्ध आत्माका लाभ है तब उसका साधन भी शुद्ध आत्माका लक्ष्य है। वास्तवमें शुद्धात्माका अनुभव ही मोक्षमार्ग है, यही सच्चा सम्यग्दर्शन है। शुद्धात्मानुभवके सहकारी वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेव व सिद्ध भगवान हैं तथा शुद्ध रत्नत्रयमई निश्चय धर्म है तथा इस निश्चयधर्मका उपकारक आवश्यकीय व्यवहार धर्म है। शुद्ध तत्वका पहचाननेवाला शुद्ध तत्वके स्मरणके लिये ही देव गुरु धर्मकी भक्ति करता है। इस भक्तिमें भी शुद्ध स्वरूपपर लक्ष्य रखता है। शरीर सम्बन्धी क्रियापर ध्यान नहीं है। असलमें आत्माका स्वभाव ही मोक्षमार्ग है। या उसीमें रमणता मोक्षमार्ग है।

देवसेनाचार्य तत्वसारमें कहते हैं—

सयल वियप्पे थक्के उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो। जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सोहु ॥ ६१ ॥

भावार्थ—सर्व विकल्पोंके रुक जानेपर कोई अविनाशी भाव ऐसा झलक जाता है जिसको आत्माका स्वभाव कहते हैं तथा यही मोक्षका कारण है। और भी कहा है—

जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं। सा सुद्धचेयणावि य णिच्छयणयमास्सिए जीवे ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जो आत्मा है वही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र है, वही शुद्ध चेतना है। जो निश्चयनयका आश्रय करते हैं उनके लिये रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही है।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य शुद्धस्य, व्रतं तप संजमं सदा।
अनेक गुण तिष्ठंते, सम्यक्तं सार्धं ध्रुवं ॥ २०७ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य शुद्धस्य सम्यक्तं) जिस शुद्ध भावना करनेवाले जीवके पास सम्यग्दर्शन है वह

(सदा) सदा ही (सार्धं) सम्यग्दर्शनके साथ (व्रतं तप संयमं अनेक गुण ध्रुवं तिष्ठंते) व्रत, तप, संयमं अनेक गुण सदा निश्चय रूपसे रह सक्ते हैं।

विशेषार्थ—यहां सम्यग्दर्शनका महात्म्य बताया है कि शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन ही धर्मकी जड है। वृक्षकी जडके विना वृक्षपर पत्ते शाखा फूल फल कुछ नहीं लग सक्ते हैं उस ही तरह सम्यग्दर्शनके विना धर्मका कोई भी अन्य अंग नहीं होसक्ता है। जिसकी आत्मामें शुद्धात्मा अनुभव है वही सच्चा सम्यग्दर्शन है तथा वही श्रावक व मुनिके व्रत व्रत कहलाते हैं अन्यथा मिथ्या व्रत हैं। सम्यग्दर्शनके साथ ही बारह प्रकारका तप तप है अन्यथा मिथ्या तप है। सम्यग्दर्शनके साथ ही इंद्रिय व प्राण संयम संयम है अन्यथा असंयम है। इसके लिये जितने भी उत्तम गुण हैं उनका गुणपना सम्यग्दर्शनके ही साथ है। दानीका दान व पात्रका पात्रपना सम्यक्त सहित ही प्रशंसनीय है। सम्यग्दर्शनको गाढ, अतिगाढ, परमावगाढ करनेवाले ही आत्मज्ञान चारित्रादि गुण होते हैं।

योगसारमें श्री योगेन्द्राचार्य देव कहते हैं—

वय तप संजम सील जिय ए सव्वे अक इच्छ। जामन जाणइ इक्क परु सुद्धउभाव पवित्तु ॥ ११७ ॥

भावार्थ—जबतक कोई शुद्ध पवित्र आत्मीक भावको नहीं जानेगा तबतक उसका व्रत, तप, संयम, शील ये सब निरर्थक हैं। शुद्ध आत्मीक अनुभवके साथ व्रत तप संयम शील आदि सब ही सफल हैं।

श्लोक—यस्य सम्यक्त हीनस्य, उग्रं तव व्रत संजमं।

सर्वा क्रिया अकार्या च, मूलविना वृक्षं यथा ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य सम्यक्त हीनस्य) जो सम्यग्दर्शन रहित है उसका (उग्रं तव) कठिन तप तपना (व्रत) व्रत पालना (संजमं) संयम धारणा (सर्वा क्रिया) इत्यादि सर्व व्यवहार आचरण (अकार्या च) व्यर्थ है या मोक्षमार्ग नहीं है (मूलविना वृक्षं) मूलके विना वृक्ष नहीं होसक्ता है।

विशेषार्थ—कोई ऐसा मानले कि मूल विना वृक्ष होजायगा तो उसकी पूरी अज्ञानता है। मूल या जड जब होगा तब ही वृक्ष अंकुरित होगा, फूटेगा, बढेगा, पत्र शाखावाला होगा, पुष्प फलसे

फलेगा। यदि जड़ नहीं है तो वृक्ष कभी लग नहीं सक्ता। क्योंकि जड़के द्वारा वृक्षका पोषण होता है। इसी तरह यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो कठिन२ तप करते हुए उपवास करना, कम खाना, रस छोडना, अटपटी आखडी लेकर भोजनको जाना, रूखा सूखा खाना, मासोपवासी, पक्षोपवासी रहना, कठिन २ स्थानोंपर जाकर तप करना, एकांत सेवना, घंटों ध्यान लगाना इत्यादि सर्व तपस्या सार रहित है। न तो आत्मानंद दाता है न स्वानुभव रूप है न कर्मनाशक है न मोक्षमार्ग है, मात्र कायक्लेश रूप है। भले ही पुण्य कर्मका बन्ध होजावे परन्तु संसारके जालको यह तप काट नहीं सक्ता। इसी तरह मुनिके महाव्रत, श्रावकके अणुव्रत व इंद्रियदमन व प्राणिरक्षा आदि सर्व ही व्यवहार धर्म पूजा, पाठ, जप, सामायिक, स्वाध्याय, शुद्धाहार, नीतिसे वर्तन, सत्यवादीपना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य पालन, करुणाका व्यवहार, चार प्रकार दानका देना, साधु सेवा, जनताका उपकार आदि क्रिया मात्र पुण्य बंधकारक है। सम्यग्दर्शनके विना मोक्षमार्ग नहीं है। जहां सम्यक्त होता है वहां मात्र आत्मोन्नतिके हेतुसे, वैराग्यभावसे, परिणामोंकी शुद्धताके लिये ही सर्व व्यवहार क्रिया तप आदि किया जाता है तब ये तपादि परिणामोंको शुद्धात्मानुभवमें लगानेके लिये विशेष सहकारी होजाता है। जहां आत्माके अनुभवकी कला नहीं आई है वहां ये सब तपादि किसी अंतरंगमें छिपी हुई कषायके हेतुसे ही किया जाता है। चाहे वह मान बडाईकी चाह हो, चाहे विषय भोगोंकी चाह हो, चाहे घरके कष्टोंसे दुःखित होकर किया जाता हो, चाहे किसी मायाचारसे हो। क्रोध, मान, माया, लोभ इनमेंसे किसी कषायकी पुष्टिके हेतुसे किया गया तपादि उस कषायको कैसे नाश कर सक्ता है जिसके नाशके लिये तपादि करनेका प्रयोजन है। इसलिये प्रथम सम्यग्दर्शनकी जड होनी चाहिये तब ही धर्मका वृक्ष लग सकेगा।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य मूलस्य, साहा व्रत नन्तनंताई।
अवरे वि गुणा होंति, सम्यक्तं हृदये यस्य ॥ २०९ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्तं यस्य मूलस्य) जिसके सम्यग्दर्शनरूपी जड है (साहा) शाखाएं (व्रत नन्तनन्ताई) व्रतरूपी अनन्तानन्त होसक्ती हैं (अवरे वि गुणा होंति) और भी बहुत गुण होते हैं (यस्य हृदये सम्यक्तं) जिसके अन्तरंगमें सम्यक्त है।

विशेषार्थ—जहां सम्यग्दर्शन है वहां परिणामोंकी अनन्तगुणी विशुद्धता बढती जाती है। कषायकी मंदताके साथ साथ विशुद्धता व वीतरागताके अनन्त अंश बढते जाते हैं। वे ही व्रतोंकी शाखाएं फूटना है। सम्यक्तीके भाव जहां बढते जाते हैं वह स्वयं अहिंसक होता जाता है। सत्य-वादी, न्याय मार्गी, ब्रह्मचर्य रक्षक, संतोषी, संयमी होता हुआ चला जाता है। सम्यक्तके प्रभावसे सर्व बाहरी आचरण स्वयं ही उत्तम प्रकारसे होता जाता है। रस सहित आनन्दरूप सर्व व्रत तप आदि होने लगता है। जहां भीतर शुद्ध आत्माके अनुभवकी चतुराई मौजूद है वहां अनेक गुण होते हैं। वह कर्मोंका फल सुख तथा दुःख अत्यन्त समता भावसे भोगता है। उसके कर्मफल देकर झड़ जाते है न घोर बंध अत्यन्त अल्प करता है जो भी शीघ्र छूट जानेवाला है। सम्यक्तीके कर्मकी निर्जरा अधिक होती है बंध थोडा होता है। इसीलिये वह मोक्षमार्गी है। सम्यक्ती सदा संतोषी या सुखी रहता है। यदि आपत्तियें आजावें तो घबडाता नहीं। यदि सम्पत्तियें हों तो उन्मत्त नहीं होता है। वह ज्ञाता दृष्टा समदर्शी रहता है। उसका लक्ष्य एक आत्माकी तरफ रहता है, उसके व्यवहारसे किसीको पीड़ा नहीं होती है, वह जगतका महान उपकारी होता है, वह जगतको अपना कुटुम्ब समझता है। सम्यक्तके प्रभावसे क्या क्या गुण प्रगट होते हैं यह कथनमें नहीं आसक्ता है। सम्यक्तकी जड़ अपूर्व वृक्षको फलती है, जिसका अंतिम फल परमात्मा होजाना है।

श्लोक—सम्यक्त विना जीवो जानै, श्रुत्यंग बहुभेदं।
अन्ये यं व्रतचरणं, मिथ्यातप वाटिकाजालं ॥ २१० ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त विना जीवो) सम्यग्दर्शनके विना जीव (श्रुत्यंग बहुभेदं जानै) ग्यारह अंग नौ पूर्वतक बहु प्रकार शास्त्रको जानै अथवा (अन्ये यं व्रतचरणं) अन्य जो कोई बहुत व्रतादिका आचरण करे सो सब (मिथ्या तप वाटिका जालं) मिथ्या तपका निवास रूपी जाल है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन एक अति सूक्ष्म आत्माका शुद्ध अनुभवन रूपी भाव है। जिसको इस सूक्ष्म तत्वका लाभ नहीं हुआ वह मुनि होकर ग्यारह अंग नौ पूर्व तक पढ लेवे अथवा अन्य कोई साधु बहुत प्रकार व्यवहार चारित्र पाले वह सब ज्ञान तथा चारित्र ऐसा बगीचा लगाना नहीं है जो सच्चा हो व जो मोक्षरूपी फलको देवे। किन्तु वह मिथ्या उपवनका जाल है। वह मिथ्या तप

है, कुनय है। अज्ञानी उसी जालमें मोहित हो अपना संसार बढानेके लिये ही प्रयत्न करता है न कि संसार हटानेके लिये। उसका ज्ञान व चारित्रका बाग मिथ्यात्वके आतापसे दूषित है जैसे वनमें अग्नि लग जावे तो सब वृक्ष भस्म होजावे इसी तरह मिथ्यात्वकी अग्निसे ज्ञान व चारित्रका बाग बढनेकी अपेक्षा भस्म ही होजायगा। इसलिये सम्यग्दर्शनके सिवाय और कोई आत्मोपकारी नहीं है।

श्लोक—शुद्धं सम्यक्त उक्तं च, रत्नत्रय संजुतं।

शुद्ध तत्वं च सार्धं च, सम्यक्तं मुक्ति गामिनो ॥२११॥

अन्वयार्थ—(शुद्धं सम्यक्त) शुद्ध सम्यग्दर्शन (रत्नत्रय संजुतं) रत्नत्रय सहित (च शुद्धतत्वं सार्धं च) और शुद्ध आत्मीक तत्व सहित (उक्तं च) कहा गया है। ऐसा सम्यक्त (मुक्ति गामिनो) मोक्षगामी जीवके होता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन जहां है वहां रत्नत्रय तीनों हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होते ही जितना ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान होजाता है और सम्यग्दर्शनके साथ ही अनंतानुबंधी कषायोंके उपशम होनेसे स्वरूपाचरण चारित्र पैदा होजाता है। यदि सम्यग्दर्शनके साथ तीनों ही न हों तो सम्यग्दर्शनको मोक्षमार्ग नहीं कह सक्ते। ऐसा सम्यग्दर्शन वास्तवमें शुद्ध आत्मीक तत्वके अनुभवके साथ साथ होता है। जिसको यह निश्चय सम्यक्त होजाता है वह अवश्य मोक्ष पहुंच जाता है। सम्यग्दर्शनमें आत्मानुभवमें कोई अंतर नहीं है। लब्धिरूप सम्यग्दर्शन तो अन्य कार्यकी तरफ उपयोग रखते हुए भी रहता है परन्तु उपयोगात्मक सम्यक्त तब ही होता है जब आत्मानुभूति जागृत होती है तब वहां कोई संकल्प विकल्प नहीं रहता है। ऐसी दशामें ही रत्नत्रयकी एकता कही जाती है। ऐसा ही देवसेनाचार्य तत्वसारमें कहते हैं—

सयल वियप्पे थक्कइ उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो। जो अप्पणो सहावो मोक्खस्सय कारणं सोहे ॥ ८६ ॥

भावार्थ—सर्व विकल्पोंके बंद होजानेपर ऐसा कोई अविनाशी निश्चल भाव पैदा होता है जो वास्तवमें आत्माका स्वभाव है तथा वही मोक्षका कारण है। वहां रत्नत्रय तीनों मौजूद हैं।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य त्यक्तं च, अनेक विभ्रम ये रताः।

मिथ्यात्वी मूढ दृष्टी च, संसारे भ्रमणं सदा ॥ २१२ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य सम्यक्तं त्यक्तं च) जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है (ये अनेक विभ्रम रताः) व जो अनेक प्रकार संकल्प विकल्पोंमें लीन हैं वे (मिथ्यात्वी मूढ दृष्टी च) मिथ्यात्वी बहिरात्मा हैं (सदा संसारे भ्रमणं) उनका सदा ही संसारमें भ्रमण होगा।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका लाभ जिनको नहीं हुआ है वे रातदिन पर्याय बुद्धि ही रहते हैं। शरीरमें ही अपनापना कल्पना करते हैं, उनके हर समय परमें ममता रूप व द्वेषरूप भाव रहता है। उनका उपयोग राग द्वेष भय सदा चंचल रहता है। वे आत्मज्ञानको न पाते हुए आत्मीक आनन्दके स्वादसे विमुख, मूढबुद्धि व मिथ्या श्रद्धान सहित होते हैं। वे अनंतानुबंधी कषायके सम्बन्धसे नीची गति बांधकर संसारमें ही भ्रमण करते हैं। जो जिसका स्वागत करता है वही उसको प्राप्त होता है। संसारका स्वागत करनेवाला संसार बढाता है, मोक्षका स्वागत करनेवाला संसारको हटाता है। इष्टोपदेशमें पूज्यपादस्वामी कहते हैं—

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः। स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वांछति ॥

भावार्थ—कर्म अपने कर्मके हितको देखता है। जीव अपने जीवके हितको देखता है जिसका प्रभाव जम जाता है वह अपने स्वार्थको चाहता है। मतलब यह है कि जब उपयोग आत्माकी तरफ प्रेमी होता है तब आत्माका हित होता है। जब उपयोग कर्मके उदयसे प्राप्त संसार, शरीर भोगोंमें अनुरक्त होता है तब संसार बढता है। सम्यक्तीके परिणामोंमें संसारसे उदासी है व मोक्षकी तरफ उत्साह है। इससे वह संसारसे पार हो जाता है। मिथ्यात्वी संसारसे प्रेमी है, मोक्षसे उदासीन है, इससे अपने संसारको बढा लेता है।

श्लोक—सम्यक्तं ये उत्पादंते, शुद्ध धर्मरता सदा।
दोषं तस्य न पश्यंते, रजनी उदय भास्करं ॥ २१३ ॥

अन्वयार्थ—(ये सम्यक्तं उत्पादंते) जो सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कर लेते हैं (सदा शुद्ध धर्मरताः) व निरंतर शुद्ध धर्ममें लीन रहते हैं (दोषं तस्य न पश्यंते) उनके भीतर कोई दोष नहीं दिखलाई पड़ते हैं जैसे (भास्करं उदय रजनी) सूर्यके उदयसे रात्रिका अंधकार नहीं दिखता है।

विशेषार्थ—इसका भाव यह है कि जहांतक मिथ्यादर्शन और अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदय रहता है वहांतक आत्माके ऊपर अज्ञान अंधकार छाया रहता है व अनेक दोष दीख पड़ते हैं। एक दफे सम्यग्दर्शन रूपी सूर्यका उदय हुआ कि सर्व अज्ञानका अंधेरा व अंधेरेमें होनेवाले सर्व दोष उसी तरह मिट जाते हैं जिस तरह सूर्यके उदय होते ही रात्रिका अंधेरा व रात्रि सम्बन्धी सर्व दोष मिट जाते हैं। सम्यग्दर्शन वास्तवमें बाल सूर्यवत् है, यही बढ़ते२ मध्याह्नका प्रतापशाली केवलज्ञानरूपी सूर्य होजाता है। जैसे सूर्यके उदय होनेसे सुमार्ग कुमार्ग व सर्व जगतके पदार्थ प्रगट रूपसे अलग २ दीखते हैं उन पदार्थोंके साथ कैसा व्यवहार करना यह सब विधि समझमें आ जाती है। उसी तरह सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही ऐसा सम्यग्ज्ञान झलक जाता है जिससे लोका-लोकके छहों द्रव्योंके द्रव्य गुण पर्याय अलग२ झलक जाते हैं। आत्मा और अनात्मा अनादिकालसे मिले हुए हैं, दूध व पानीके समान एकत्र होरहे हैं तथापि अपने२ लक्षण भेदसे जुदे २ दिखलाई पडते हैं। सम्यक्तीको शुद्ध निश्चयनयसे पदार्थोंके अवलोकनकी शक्ति पैदा होजाती है, जिससे वह वृक्षादिमें व पशु पक्षी आदिमें सर्व प्राणी मात्रके भीतर आत्मद्रव्यको एकरूप शुद्ध ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमय देखता है। पहले जो उसे विकाररूप ही अपना व परका आत्मा दीखता था अब विकार रहित अपना व परका आत्मा दीखता है। मिथ्यात्वके अन्धेरेमें रागद्वेषकी तीव्रता थी। संसारासक्तपना था, स्वार्थ सिद्धिके लिये अन्यायसे वर्तन था, पांच इंद्रियोंकी लम्पटता थी। सम्यक्त होते ही अंतरंगमें वैराग्य व साम्यभावकी जागृति होजाती है। संसारकी आसक्ति मिट जाती है। विषयभोगकी तृष्णा विदा होजाती है। जगतके व्यवहारमें अहिंसातत्व सामने आके खडा रहता है, जिससे वह अन्यायके साथ वर्ताव न करता हुआ न्याय, दया, सभ्यता, परोपकारके साथ व्य-वहार करता है। पहले पर पदार्थके संयोगमें अभिमान करता था, वियोगमें घोर विषाद करता था। सम्यक्तके होते ही कर्मोंके कार्यका ज्ञानी मात्र ज्ञाता दृष्टा रहता है। अच्छे व बुरे उदयमें तन्मय नहीं होता है। संसारके कारणीभूत सर्व भावोंके दोष सम्यक्त होते ही मिट जाते हैं।

श्लोक—सम्यक्तं ये न पश्यंति, अंधा इव मूढत्रयं।
कुज्ञानं पटलं यस्य, कोशी उदय भास्करं ॥ २१४ ॥

अन्वयार्थ—(ये सम्यक्तं न पश्यंति) जो कोई सम्यग्दर्शनका अनुभव नहीं करते हैं वे (अंधा इव) अंधोंके समान हैं। (यस्य पटलं मूढत्रयं कुज्ञानं) जिनकी ज्ञान चक्षुके ऊपर तीन मूढता व तीन कुज्ञानका पटल या परदा होरहा है। जैसे (कोशी) एक किसी बंद कोठरीमें बैठा हुआ या परदेके भीतर छिपा हुआ प्राणी (भास्करं उदय) सूर्यके उदयको नहीं देख सक्ता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यका दर्शन उसीको होगा जो अज्ञानके परदेको हटाएगा। जैसे परदे या बंद कोठरीमें बैठा हुआ मानव सूर्यके उदयको नहीं देख सक्ता है यद्यपि सूर्य प्रकट है तथापि उसको तो अंधेरा ही दिख पड़ता है, उसी तरह जिसके ज्ञान नेत्र देवमूढ़ता, पाखंड मूढता व लोक मूढतासे मुद्रित हैं व जो कुमति, कुश्रुत व कुअवधिके मिथ्याज्ञानमें वर्त रहा है उसके सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य जो अपने ही आत्मामें प्रकाशमान है नहीं दीखता है। वह अपने आत्माको रागी, द्वेषी, मोही ही अनुभव करता है। अभिप्राय यह है कि जो सम्यग्दर्शनका प्रकाश करना चाहें उनको उचित है कि तीन मूढताओंको पहले त्यागे, किसी लौकिक मिथ्या अभिलाषामें पड़कर मिथ्यादेवोंका, मिथ्या पाखण्डी साधुओंका व मिथ्या लौकिक क्रियाओंकी प्रतिष्ठा न करें। इस बातका निश्चय रक्खें कि जगतमें सुख दुख अंतरंगमें पुण्य पापके उदयसे होता है, बाहरी कारण यथायोग्य निमित्त है। कोई कुदेवकी पूजा भक्ति पुण्यको नहीं उत्पन्न कर सक्ती है न पापको काट सक्ती है। प्रथम यह निश्चय होना जरूरी है कि परिणामोंसे यह जीव पाप या पुण्यका बंध करता है। अशुभ भाव पाप व शुभ भाव पुण्यके बंधके कारण हैं। इसलिये जिस प्रकारकी पूजा व भक्तिसे भावोंमें मंद कषायपना झलके, रागद्वेषकी कमी हो, वीतरागताका अंश प्रगटे वे तो कार्यकारी हैं। परन्तु जिनसे कषाय बढे, राग बढ़े, वें अकार्यकारी हैं। अतएव सर्वज्ञ वीतराग भगवानकी भक्ति वास्तवमें परिणामोंको विशुद्ध करनेवाली है। इसलिये जो सम्यक्तके सूर्यको देखना चाहें उनको सच्चे देव, गुरु, धर्मकी भक्ति करनी चाहिये। मूढताईमें पडकर अन्धकारका बल और अधिक न बढाना चाहिये। इन तीन मूढताओंको त्याग देनेसे व जिनवाणीका प्रेमपूर्वक अभ्यास करनेसे कुमति व कुश्रुत ज्ञानका अन्धेरा हटता चला जायगा—अभ्यास करते २ एक समय ऐसा आजायगा जो यकायक सम्यग्दर्शन सूर्यका उदय होजावे।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य सूवन्ते, श्रुतज्ञानं विचक्षणं।
ज्ञानेन ज्ञान उत्पाद्यं, लोकालोकस्य पश्यते॥ २१५ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस आत्माके भीतर (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शन तथा (विचक्षणं श्रुतज्ञानं) यथार्थ श्रुतज्ञान (सूवन्ते) परिणमन कर रहा है वहां ही (ज्ञानेन) इस भाव श्रुतज्ञानके द्वारा (ज्ञान उत्पाद्यं) ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे (लोकालोकस्य पश्यते) लोकालोक दिखलाई पडते हैं।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि सम्यग्दर्शन सहित जिसको शास्त्रका यथार्थ ज्ञान है वही अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको ठीक२ अनुभव कर सक्ता है। सर्व द्वादशांग वाणीका सार स्वानुभव है। यही स्वानुभव धर्मध्यान है व यही स्वानुभव शुक्लध्यान है। इस हीके प्रतापसे घातिया कर्मोंका क्षय होकर केवलज्ञानका लाभ होता है। केवलज्ञानका कारण यथार्थ स्वसंवेदन ज्ञान है। इसी ज्ञानसे सर्व आवरण दूर होजाता है और केवलज्ञानका प्रकाश होजाता है। इस कथनसे यह बात दिखलाई है कि जिसको अपना परमात्म पद प्राप्त करना हो उसको उचित है कि सम्यग्दर्शनका लाभ करे और शास्त्रोंको भलेप्रकार मनन करे। जिनवाणीके अभ्यास व मननसे ही घातिया कर्मोंकी स्थिति घटती है, सम्यग्दर्शनके घातक कर्मोंका बल क्षीण होता है। सम्यग्दर्शन होनेके पीछे भी चारित्रकी शक्ति बढानेके लिये व अनन्त ज्ञानका प्रकाश होनेके लिये शास्त्रका विचार व आत्मानुभवका अभ्यास बराबर रखना जरूरी है।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य न साधंते, असाध्यं व्रत संजमं।
ते नरा मिथ्याभावेन, जीवंतोऽपि मृता इव॥ २१६ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य सम्यक्तं न साधंते) जिससे सम्यग्दर्शनका साधन नहीं होसक्ता है उससे (व्रत संजमं असाध्यं) व्रत व संयमका पलना असाध्य है। (ते नरा) वे मानव (मिथ्याभावेन) मिथ्यात्वकी भावना सहित होनेसे (जीवंतोऽपि) जीवते हुए भी (मृता इव) मृतकके समान ही हैं।

विशेषार्थ—यहां यह बतलाया है कि मानव जन्मकी सफलता सम्यग्दर्शनके लाभमें व सम्यक्त सहित व्रत व संयमके पालनेमें है। जिन मानवोंने मिथ्यात्वका ही सेवन किया उनका जीना न

जीना समान है। वे मृतकके तुल्य ही हैं क्योंकि उन्होंने अत्यन्त दुर्लभ मानव जन्म पानेका कोई सार नहीं पाया। जिस मिथ्यात्वके कारण एकेन्द्रिय पर्यायमें अनन्तकाल विताना पडता है व द्वेंद्रियादि कीटोंमें व पशु पक्षियोंमें व नरकमें घोर कष्ट उठाना पडता है, उस मिथ्यात्वको दूर करनेका व सम्यक्तके लाभ होनेका अवसर मन रहित पंचेंद्रियों तकमें नहीं है। जिस सम्यक्तका लाभ सुगमतासे इस मानव पर्यायमें होसक्ता है। यदि किसीने ऐसे अमूल्य अवसरको पाकर सम्यग्दर्शनका लाभ न किया, उसका साधन न किया व सम्यग्दर्शनके विना व्रत संयम भी यथार्थ न पाला तो सर्व तरहका सुभीता जो सम्यक्तके लाभका मिला था वह निरर्थक गया, इसके सिवाय जिसके परिणामोंमें सम्यक्त है, भेदविज्ञान है, वह मानव जन्मको संतोष व सुख पूर्वक विता सक्ता है। वह तृष्णाका दास न होकर जलमें कमलके समान गृही जीवनमें रह सक्ता है, शुद्धात्माकी भावनासे परमानन्दरूपी अमृतका पान कर सक्ता है। वही मुनि या श्रावकका चारित्र यथार्थ व शुद्ध भावसे पाल सक्ता है। सम्यग्दर्शनके विना महान् चारित्र भी एकके अंक विना शून्यके समान निष्फल है। जो सम्यक्ती है, वही जीवित मानव हैं, मिथ्यात्व सहित तो वह मृतकके समान है।

श्लोक—उदयं सम्यक्तं यस्य, त्रिलोकं उदयं सदा।
कुज्ञानं रागत्यक्तं च, मिथ्या माया विलीयते ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिसकी आत्मामें (सम्यक्तं उदयं) सम्यग्दर्शनका प्रकाश होगया है उसके (सदा) सदा ही (त्रिलोकं उदयं) तीन लोकका प्रकाश है। उसने (कुज्ञानं रागत्यक्तं च) कुज्ञान और रागको छोड दिया है (मिथ्या माया विलीयते) और वहां मिथ्यात्व व मायाका अभाव है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका प्रकाश होते ही तीन लोकमें भरे हुए जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल इन छः द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप झलक जाता है। मेरा आत्मा सर्व अनात्माओंसे व अन्य आत्माओंसे भिन्न है, एक ज्ञानानंद स्वभावमई है ऐसा प्रकाश होजाता है। यदि शास्त्रका ज्ञाता है तो अपनेको सर्व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भाव कर्म व शरीरादि नोकर्मसे भिन्न अनुभव करता है। जो शास्त्रका ज्ञाता नहीं व अन्तरङ्ग विरोधी कर्म प्रकृतियोंके उपशमसे जिसको सम्यग्दर्शन होजाता है वह भी अपनेको यथार्थ अनुभव कर लेता है। सम्यक्तके होते ही ज्ञान थोडा हो

या बहुत सब सम्यग्ज्ञान होजाता है, रागद्वेषका गाढा मैल कट जाता है। यदि चारित्र मोहके उदयसे कुछ राग भाव होता भी है तो उसे वह कर्मकृत विकार जानता है, अपना स्वभाव नहीं जानता है व उसके मेटनेके लिये भी अपना आत्मबल प्रगट करता रहता है। उसके भावोंमें न तो संसार-मई अहंकार ममकार रूप मिथ्याभाव है और न किसी प्रकारका मायाचार है। वह सरल भावोंसे मोक्षमार्गी होकर चलता है व जीवनको सफल बनाता है। सम्यग्दर्शनका लाभ परम लाभ है, सम्यक्तीका जीवन प्रशंसनीय जीवन है। सम्यक्ती सदा सुखी रह सक्ता है।

श्लोक—सम्यक्तयुत नरयम्मि, सम्यक्तहीनो न च क्रिया।
सम्यक्तं मुक्ति मार्गस्य, हीनो सम्यक् निगोदयं ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त युत नरयम्मि) सम्यग्दर्शन सहित नरकमें रहना अच्छा है (सम्यक्त हीनो न च क्रिया) सम्यग्दर्शनसे जो शून्य है उसके कोई भी क्रिया यथार्थ नहीं है (सम्यक्तं मुक्ति मार्गस्य) मोक्ष-मार्गमें सम्यग्दर्शन मुख्य है (सम्यक् हीनो निगोदयं) जो सम्यग्दर्शनसे हीन है वह निगोदमें चला जाता है।

विशेषार्थ—यहां भी सम्यग्दर्शनका महात्म्य बताया है कि सम्यग्दर्शन सहित हो और यदि नरकमें भी कर्मानुसार रहना पडे तो कोई हर्ज नहीं है। वहांपर भी सम्यक्ती आत्मिक आनन्दका अनुभव कभी कभी करता ही रहता है तथा सम्यग्दर्शनके प्रभावसे नरकके कष्टोंको कर्मोदय जान-कर समताभाव रखता है। सातों नरकोंमें सम्यक्त पैदा होजाता है तथा पहले नर्कमें सम्यग्दर्शनको साथ लेकर भी जासक्ता है। यदि सम्यग्दर्शन होनेसे पहले नरक आयु बांधली हो। सम्यग्दर्शनके विना मुनि धर्म व श्रावक धर्मकी कोई भी क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है, मात्र पुण्य बन्ध करानेवाली है। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गमें प्रथम इसीलिये कहा गया है कि इसके विना ज्ञान कुज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है। जो सम्यक्ती नहीं हैं वे अज्ञान भावसे जगतमें आचरण करते हुए पर्याय बुद्धिके गाढ ममत्वके कारण एकेन्द्रिय साधारण वनस्पति काय नाम कर्मको बांधकर निगोदमें चले जाते हैं। वहां दीर्घकाल तक घोर कष्ट पाते हैं। वहांसे उन्नति करके फिर मानव गति पाना अतिशय कठिन होजाता है। अतएव इस मानव जन्ममें जिस तरह बने उद्यम करके सम्यग्दर्शनका लाभ कर लेना चाहिये। यही भव समुद्रसे तारनेवाला खेवटिया है। यही इस लोक परलोक दोनोंको सुधारनेवाला है।

श्लोक—सम्यक्त युतपानस्य, ते उत्तम सदा बुधैः ।
हीनो सम्यक् कुलीनस्य, अकुली अपान उच्यते ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त युत पानस्य) सम्यग्दर्शन सहित जो कोई भी पात्र हो, चाहे हीन भी हो (ते बुधैः सदा उत्तम) उसको पंडितोंने सदा उत्तम कहा है । (सम्यक्त हीनो कुलीनस्य) जो उत्तम कुलवाला है परन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित है उसे (अकुली अपान उच्यते) नीच कुली व नीच पात्र कहा जाता है ।

विशेषार्थ—यहां पान शब्द पीनेके वर्तनको कहते हैं। मतलब कोई भी पात्र हो चाहे हीन मानव भी क्यों न हो या कोई पशु पक्षी भी क्यों न हो जिसके पास सम्यग्दर्शनरूपी रत्न है वह उत्तम है, माननीय है, क्योंकि वह मोक्षमार्गी है। भले ही उसकी मान्यता उसके शरीर व उसकी आजीविकाकी अपेक्षा हीन हो परन्तु सम्यग्दर्शनके प्रभावसे वह देवोंके द्वारा भी माननीय होजाता है। बड़े २ आचार्य भी उसकी प्रशंसा करते हैं। इसके विरुद्ध जो कोई उत्तम कुलमें पैदा हुआ हो, जगतमें माननीय हो परन्तु यदि वह सम्यग्दर्शनसे शून्य है, मिथ्यादृष्टी संसाराशक्त पर्याय-बुद्धि है तो आचार्यगण व विवेकी मानव उसे हीन कुली व हीन पात्र ही कहते हैं। क्योंकि उसकी आत्मा हीन है, दुर्गतिमें जानेवाली है। एक गृहस्थ जो सम्यक्ती है वह उस मुनिसे बहुत अच्छा है जो घोर तप करता हुआ भी मिथ्यादृष्टी है। जैसे अंधकार और प्रकाशका अन्तर है वैसे मिथ्यात्वका और सम्यक्तका अन्तर है। जैसे विष और अमृतका अन्तर है वैसे मिथ्यात्व और सम्यक्तका अंतर है। श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजं । देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥ २८ ॥

भावार्थ—यदि चांडालकी देहसे उत्पन्न हुआ है परन्तु सम्यग्दर्शन सहित है तो उसे भगवानने देववत् कहा है, वह जलते हुए अंगारके समान है जिसके ऊपर भस्म पडी है। भस्मके कारण उसका प्रकाश गुप्त है परन्तु भीतर वह यथार्थ अग्नि है। उसी तरह चांडालका शरीर भले ही हीन माना जाता हो परन्तु उसकी आत्मामें सम्यग्दर्शन होगया है इसलिये वह हीन नहीं है किंतु देवोंके समान उच्च है, माननीय है, मोक्षमार्गी है। वह एक अति कुलीन मिथ्यादृष्टीकी अपेक्षा बहुत कम पापकर्म बांधता है व अधिक पुण्यकर्म बांधता है। उसकी आत्मामें आत्मीक आनन्दामृतका स्वाद

आरहा है जब कि कुलीन मिथ्यादृष्टी मात्र विषयके स्वादका ही लोलुपी होरहा है।

और भी कहा है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्। अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥

भावार्थ—जो गृहस्थ मिथ्यादृष्टी नहीं है वह मोक्षमार्गपर चलनेवाला है और जो साधु मोहवान् मिथ्यादृष्टी है वह संसारमार्गपर चलनेवाला है। इसलिये एक मिथ्यादृष्टी मुनिसे एक सम्यक्ती गृहस्थ श्रेष्ठ है।

श्लोक—तीर्थं सम्यक्तं सार्थं, तीर्थंकर नाम शुद्धए।
कर्मं क्षिपति त्रिविधिं वा, मुक्तिपथं सार्थं ध्रुवं ॥ २२० ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्तं सार्थं) जो जीव सम्यग्दर्शन सहित है वही (तीर्थंकर नाम) तीर्थंकर नामकर्मको बांधकर (तीर्थं) तीर्थंकर जन्म लेता है। वह जन्म (शुद्धए) आत्माकी शुद्धिके लिये होता है। वहां (त्रिविधिं वा कर्मं क्षिपति) तीन प्रकारके कर्मोंका क्षय कर डालता है (मुक्तिपथं सार्थं ध्रुवं) उसके यथार्थ व निश्चल मोक्षका मार्ग विद्यमान है।

विशेषार्थ—जो सम्यक्ती होता है उसको ही तीर्थंकर नाम कर्मका बंध होता है। उस सम्यक्त व तीर्थंकर नाम कर्मके प्रभावसे वह जीव यातो उसी भवसे तीर्थंकर होकर धर्मका प्रचार करता है जैसा विदेहोंमें होसक्ता है अथवा एक भव और लेकर मनुष्य हो तीर्थंकर पदधारी होता है जिसके इन्द्रादिदेव पांचों ही कल्याणक करते हैं। भरत व ऐरावतमें पांचों ही कल्याणक धारी जन्मसे ही तीर्थंकर होते हैं। तीर्थंकरोंके ऐसा यथार्थ आत्मानुभव होता है कि वे अपना लक्ष्य निरंतर आत्माकी शुद्धिपर ही रखते हैं। किंचित् भी वैराग्यका बाहरी निमित्त पाते ही वे दीक्षा लेलेते हैं। और थोडे ही परिश्रमसे घातिया कर्मोंका नाश कर केवलज्ञानी होजाते हैं। फिर जब-तक आयु शेष है यत्र तत्र आर्यखंडमें विहार करके धर्मका उपदेश देते हैं। फिर सर्व कर्मोंसे रहित हो अर्थात् तीनों ही प्रकारके कर्मोंसे छूट करके अर्थात् भावकर्म राग द्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि व नोकर्म शरीरादि इन सबसे मुक्त हो शुद्ध सिद्ध होजाते हैं। यह परमोपकारी निश्चल सम्यग्दर्शन साथ साथ रहता है, वही तीर्थंकर कर्मके बंधका निमित्त मिलाता है। वही तीर्थंकरके जन्मका निमित्त

मिलाता है। उसीके प्रभावसे तीर्थका प्रचार होता है। वही मोक्षमें पहुंचा देता है। वहांपर भी यह निर्मल क्षायिक सम्यक्त सदाकाल बना रहता है। इसीके महात्म्यसे वहां भी सिद्धभगवान स्वात्मानंदका भोग करते रहते हैं। रत्नकरंडमें कहा है—

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादांभोजाः। दृष्ट्वा सुनिश्चितार्थां वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥ ३९ ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे धर्मचक्रके धारी तीर्थंकर होते हैं जिनके चरणकमलोंको इन्द्रादि, चक्रवर्ती व गणधरादि आचार्य नमन करते हैं, जिनको भलेप्रकार पदार्थोंका निश्चय है व जिनकी शरणमें तीनलोकके प्राणी आते हैं।

श्लोक—सम्यक्तं यस्य चिंतंति, वारं-वारेन सार्थयं।
दोषं तस्य न पश्यंते, सिंघ मातंग जूथयं ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जो कोई (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शनको (सार्थयं) यथार्थ रूपसे (वारंवारेन) वारंवार (चिंतंति) चिंतवन करते हैं (तस्य दोषं न पश्यंते) उसको दोष नहीं देखते हैं। जैसे (मातंग जूथयं) हस्तीके झुंड (सिंघ) सिंहको नहीं देखते हैं।

विशेषार्थ—जैसे सिंहका ऐसा प्रताप होता है कि उससे भय खाकर हाथियोंके समूह सिंहका सामना नहीं करते हैं, उसकी गर्जना सुनकर दूरसे ही भाग जाते हैं उसी तरह जिस भव्यजीवके अंतरंगमें सम्यग्दर्शनका वारवार चिंतवन रहता है अर्थात् जो अपने शुद्ध आत्मीक तत्वको सर्व अनात्मीक तत्वसे पृथक् करके एकाग्र मन हो अनुभव करते हैं उनके ऊपर रागद्वेषादि दोषोंका आक्रमण नहीं होता है। वे समताभावमें लीन रहते हैं। वे अपने आत्मीक धनके सिवाय किसी भी पर वस्तुको परमाणु मात्र भी अपनाते नहीं हैं। उनके भावोंमें अपने शुद्धात्माका मानो चित्रण होजाता है। उसके प्रेमके वे आसक्त होजाते हैं। वे कषायके मैलको मोहनीय कर्मका विकार समझते हैं। वे यही भावना करते हैं कि हमारे उपयोगमें कषायका मैल न झलके तौही उत्तम है। यदि कदाचित् चारित्र मोहके उदयसे राग द्वेषका भाव आजाता है तो उससे भी उदासीन रहते हैं। दोषको दोष पहचानते रहते हैं। वे सदा जागृत रहते हैं। कभी भी मिथ्याज्ञानके धोखेमें नहीं आते

हैं। उनके पास गुणस्थानकी परिपाटीके अनुसार बहुतसा कषायोंका दोष तो आता ही नहीं, जो कुछ आता भी है उसको वे सदा जीतनेका उद्यम रखते हैं। वास्तवमें सम्यग्दृष्टी एक सिंहके समान है, वह बडा साहसी है, आत्मबली है। उसके पास आत्मज्ञानरूपी तेज बडा प्रतापशाली है उस तेजके सामने रागादि दोषरूपी हाथी आते हुए अवश्य कांपते हैं।

श्लोक—सम्यक्तं शुद्ध पदं सार्थं, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
ति अर्थं शुद्ध संपूर्णं, सम्यक्तं शाश्वतं पदं ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्तं सार्थं शुद्ध पदं) सम्यग्दर्शन यथार्थ शुद्ध पद है (शुद्ध तत्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्मीक तत्वको प्रकाश करनेवाला है (ति अर्थं शुद्ध सम्पूर्णं) शुद्ध तीनों भावोंसे पूर्ण है (सम्यक्तं शाश्वतं पदं) सम्यग्दर्शन ही अविनाशी स्वरूप है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन निश्चयसे इस आत्माका एक शुद्ध निर्विकल्प गुण है। इसीके प्रतापसे शुद्ध आत्माका अनुभव होता है। जहां सम्यग्दर्शन उपयोगात्मक है वहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों ही पूर्णताको लिये विराजमान रहते हैं अर्थात् जब शुद्ध निश्चयनयके बलसे शुद्धात्माकी भावना करते शुद्ध आत्माका अनुभव किया जाता है तब वहां तीनोंकी पूर्णता ही स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे अनुभवमें आती है। यथार्थ आत्मा परोक्षरूपसे जाना जाता है। केवलज्ञानकी अपेक्षा वह परोक्ष है परंतु स्वसंवेदन ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है। सम्यग्दर्शन आत्माका एक अविनाशी गुण है। संसारी जीवोंके मिथ्यात्वके उदयसे ढक रहा है। जब मिथ्यात्वका अंधेरा हट जाता है तब यथार्थ प्रकाश होजाता है। सम्यग्दर्शनकी महिमा अपार है। आत्माको यही परमात्मा झलकानेवाला है। यही ध्यानकी अग्नि प्रकटानेवाला है। जिससे कर्मोंके समूह भस्म होजाते हैं।

श्लोक—यस्य हृदये सम्यक्तं, उदयं शाश्वतं स्थिरं।
तस्य गुण शेष नाथस्य, आसक्तं गुण अनंतयं ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य हृदये) जिसके अंतरंगमें (शाश्वतं स्थिरं सम्यक्तं उदयं) अविनाशी निश्चल क्षायिक

सम्यग्दर्शनका प्रकाश होजाता है (तस्य शेष गुण नाथस्य) उस अनन्तगुणके स्वामीके भीतर (अनंतयं गुण आसक्तं) अनंत गुण पाए जाते हैं।

विशेषार्थ—क्षायिक सम्यग्दर्शनके प्रकाश होते ही इस आत्माके भीतर गुणोंका विकाश होने लगता है। यह आत्मा स्वभावसे अनंतगुणोंका स्वामी है। घातिया कर्मोंके आवरणके कारण वे गुण प्रगट नहीं हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शनके होनेपर वह महात्मा अधिक काल तक छद्मस्थ नहीं रहता है। यातो उसी ही जन्ममें केवलज्ञानी होजाता है या बीचमें एक भव देव या नारकीका लेकर मनुष्य हो केवलज्ञानी होजाता है या यदि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिसे पहले तिर्यंच आयु या मनुष्य आयु बांधली हो तो भोगभूमिमें जाकर फिर वहांसे देव होकर फिर मनुष्य हो नियमसे केवलज्ञानी हो-जाता है। जैसे सूर्यके ऊपर मेघोंका आवरण था इससे उसकी किरणें नहीं फैलती थीं। सर्व आवरण हट जानेसे पूर्णपने किरणोंका प्रकाश होजाता है उसी तरह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके उदयसे आत्माके अनंतगुण प्रच्छन्न थे, अप्रगट थे। जब इन चारोंका क्षय होजाता है तब अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, यथाख्यातचारित्र, क्षायिक सम्यक्त, अनन्त सुख आदि प्रकाशमान होजाते हैं। इन सबमें प्रथम क्षायिक सम्यक्त होता है। जबतक क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट न हो तबतक कोई महात्मा क्षपकश्रेणीपर नहीं चढ सक्ता है। क्षपकश्रेणीपर जानेसे ही दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानके अंतमें चारित्र मोहका पूर्ण क्षय होजाता है। तब ही क्षीण मोह बारहवां गुणस्थानवर्ती होजाता है और वहां यथाख्यात चारित्र प्रकाशमान होजाता है। फिर इस गुणस्थानके अन्तमें शेष तीन घातीय कर्मोंका क्षय होता है, तब तेरहवें गुणस्थानमें सयोग केवली होकर अरहंत नाम पाता है। पूर्ण गुण विकाशी परमात्मा हो जाता है। भावार्थ यह है कि सम्यग्दर्शन ही वास्तवमें परमात्म पदका कारण है। इसलिये जो अपना सच्चा हित चाहें उनको उद्यम करके सम्यग्दर्शनको अपने भीतर अवश्य प्रकाश करना चाहिये। यही मोक्षकी सीढी है।

श्लोक—सम्यक्तं येन दिष्टंते, उदयं भुवनत्रयं।
लोकालोकविलोकंच, आलवाले मुखं यथा ॥ २२४॥

अन्वयार्थ—(येन सम्यक्तं दिष्टंते) जिसने सम्यग्दर्शनका अनुभव कर लिया है उसको (भुवनत्रयं

उदयं) तीन लोकका ज्ञान होगया है (लोकालोकविलोकं च) उसने लोक अलोकको उसी तरह देख लिया
है (यथा आलवाले मुखं) जैसे निर्मल जलके कुंडमें मुख दिख जाता है

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन तब ही होता है जब स्वपरका भेद विज्ञान हो, आत्मा व अनात्माका भिन्न २ लक्षण प्रगट होजावे। यह तीन लोक इनही दो पदार्थोंका समुदाय है। तथा अलोकाकाश भी अनात्मामें गर्भित है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका राजमार्ग यह है कि छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थोंका ज्ञान, व्यवहार नय तथा निश्चय नयसे यथार्थ प्राप्त किया जावे। जिसने इन सबको समझ लिया उसने तीन लोक व अलोकको वास्तवमें उसी तरह देख लिया जैसे निर्मल जलस्थानमें अपना मुख दिख जाता है। सम्यक्तीका आत्मा निर्मल होता है। उसमें कोई वस्तु आश्चर्यकारी नहीं भासती है। शास्त्रज्ञानके बलसे वह सर्व जगतके द्रव्योंके तत्वोंका जानकार होजाता है। यह तो परोक्ष लोकालोकका ज्ञान होता है। फिर यही सम्यक्ती जीव जब उन्नति करता है तब साक्षात् अर्हन्त परमात्मा होजाता है। उस समय तो प्रत्यक्ष ज्ञान भी सर्व लोकालोक अपने अनन्त गुण पर्याय सहित एक साथ स्पष्ट झलक जाते हैं। वास्तवमें सम्यक्त एक अपूर्व दर्पण है, जिससे अपना शुद्ध आत्मा कर्ममैलसे मिला हुआ होनेपर भी कर्मसे पृथक् झलकता है, स्वानुभवमें आता है, उसके आनन्दका स्वाद आता है। सम्यक्तीको जीवन्मुक्त कहें तो कुछ अनुचित नहीं है। वह सदा सुखी रहता है, वह सीधा मोक्षनगरको चला जारहा है। ऐसे सम्यक्तको जिस तरह बने प्राप्त करना चाहिये।

आठ मूल गुण।

श्लोक—मूलगुणं उत्पाद्यंते, फल पंच न दिष्टते।
बड पीपल कठुम्बर, पाकर उदंबरंस्तथा ॥ २२५ ॥

अन्वयार्थ—(मूलगुणं उत्पाद्यंते) सम्यग्दृष्टीको मुलगुण पालने चाहिये (फल पंच न दिष्टते) उसे पांच फल न लेने चाहिये (बड पीपल कठुम्बर पाकर उदंबरंस्तथा) बडका फल, पीपलका फल, अंजीरका फल, पाकर फल तथा उदम्बर या गूलर।

विशेषार्थ—वड आदि पांच फलोंमें त्रस जीव होते हैं। इसलिये दयावान प्राणी ऐसे फलोंको नहीं लेता है जिनके खानेसे त्रस जंतुओंका घात हो। इन फलोंको न गीला अर्थात् हरा खाना चाहिये और न सूखा खाना चाहिये। क्योंकि सूखनेपर वे त्रस जंतु सूख जांयगे। उनका कलेवर मांस होता है। सूखे मांसके खानेका दोष आता है। सागारधर्मामृतमें भी कहा है:—

पिप्पलोदुंबरप्लक्षवटफलगुफलान्यदन्। हंत्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः ॥ १३-२ ॥

भावार्थ—पीपल, गूलर, पाकर, वड और कठूमर या अंजीर इन पांच वृक्षोंके हरे फल या सूखे फल जो खाता है वह राग भावकी अधिकतासे अनेक त्रस जंतुओंका घात करनेवाला है। सम्यग्दृष्टी विवेकी होजाता है। वह खानपान ऐसा रखना चाहता है जिससे शरीर स्वास्थ्य ठीक रहे, धर्मध्यानमें बाधा न पड़े, तथा त्रस व स्थावर दोनों प्रकारके प्राणियोंकी हिंसा जितनी होसके उतनी कम होवै। वह जिह्वाका लम्पटी नहीं रहता है। इसलिये जिन फलोंमें प्रत्यक्ष कीडे उडते दीखते हैं अथवा कीडोंकी उत्पत्तिकी वहुत संभावना है उन फलोंको दयावान सम्यग्दृष्टी नहीं खाता है। ऐसे अनेक फल हैं जिनमें त्रस जंतु होते हैं, उनमें यहां पांच मुख्य गिनाए हैं। इसी तरहके और भी जो फल हों जिनमें त्रस जंतु पाए जावें उनको दयावान नहीं खाता है। शुद्धाहार शरीर व मन दोनोंका रक्षक है।

श्लोक—फलानि पंच त्यक्तंति, त्रसस्य रक्षणार्थं च।
अतीचारा उत्पादंते, तस्य दोष निरोधनं ॥ २२९ ॥

अन्वयार्थ—(त्रसस्य रक्षणार्थं च) त्रस जंतुओंकी रक्षा करनेके हेतुसे ही (पंच फलानि त्यक्तंति) पांच फलोंका त्याग किया जाता है। (अतीचारा उत्पादंते) इनके अतीचार जो जो पैदा होते हैं (तस्य दोष निरोधंन) उन दोषोंको भी रोकना उचित है।

विशेषार्थ—दयावान गृहस्थको यह विचार रखना चाहिये कि उसके खानपानके निमित्तसे त्रस जीवोंका घात न हो तौही ठीक है। इसलिये जैसे वड, पीपल आदि फलोंको त्रस जीवोंकी रक्षार्थ त्यागा जाता है वैसे ही और भी फलोंको जिनमें कीडोंके पैदा होनेकी सम्भावना है उनको

नहीं लेना चाहिये। तथा हरएक फलको या बंद बादाम, सुपारी, इलायची, छुहारा आदिको तोडकर व भले प्रकार देखकर खाना चाहिये। शरदी गरमी आदि कई निमित्तोंसे उनके भीतर त्रस जंतुओंका पैदा होना संभव है। बहुधा फलोंके भीतर कीडे चलते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

श्लोक—अन्नं यथा फलं पुहुवं, वीयं सम्मूर्छनं यथा।
तथा हि दोष त्यक्तंते, अनेके उत्पाद्यते यथा ॥ २२७ ॥

अन्वयार्थ—(अन्नं यथा) इसी तरहका जो अन्न हो घुन गया हो (फलं पुहुवं) फल तथा फूल, (वीयं) बीज, (सम्मूर्छनं यथा) घास शाक आदि (तथा हि दोष त्यक्तंते) वैसा ही दोष देखकर छोड़ देना चाहिये (अनेके यथा उत्पाद्यते) उसी समान अनेक त्रस जंतु जहां उत्पन्न हो।

विशेषार्थ—अन्न जो पुराना हो घुन गया है काली फुली पड़ गई हो वह भी त्रस जीवोंका स्थान जानकर त्याग देना चाहिये। फल जो सड गया हो उसमें त्रस जीव उत्पन्न होगए हैं ऐसा जानकर न खाना चाहिये। फूल जातिको न खाना चाहिये। फूलोंके आश्रय बहुतसे त्रस जंतु पैदा होते हैं और उनमें विश्राम करते हैं। गोभीका फूल बहुतसे त्रस जंतुओंका स्थान है। जिन बीजोंके भीतर त्रस जंतुकी संभावना हो उनको भी न खाना चाहिये। शाक पत्तियां जिनमें त्रस जंतुओंके बैठनेकी संभावना हो न लेना चाहिये। जहां २ त्रस जंतु पैदा होते हो उन उन वस्तुओंको न खाना चाहिये। वुसी हुई मिठाई आदि तथा पहले बता चुके हैं, कौनसा भोजन कितनी देर तकका बना खाना चाहिये, पीछे त्रस जंतु पैदा होजायंगे। दयावानोंको निरंतर ताजा शुद्ध भोजन करना चाहिये व अच्छे ताजे फलोंको तोडकर देखकर खाना चाहिये। अजान फलोंको भी विना जाने न खाना चाहिये। जिसमें त्रस जंतुओंकी रक्षा हो वह कार्य करना चाहिये। दयावान गृहस्थ अपने जीवनके समान क्षुद्र जंतुओंके भी जीवनको समझता है। तथा जब कोई प्राणी अपना मरण नहीं चाहता है तब हमारा कर्तव्य है कि उनके प्राणोंकी रक्षा करते हुए हम अपना खानपानादि करें।

श्लोक—मद्यं च मानसंबंधं, ममता रागपूरितं।
अशुद्ध अलाप वाक्यं, मद्यदोष संगीयते ॥ २२८ ॥

अन्वयार्थ—(मद्यं) मदिरा (च) और (मानसम्बन्धं) मान सम्बन्धी मद (ममता रागपूरितं) ममता व रागसे भरा हुआ (अशुद्ध आलापं वाक्यं) मिथ्यावाद रूपी वचन (मद्यदोष संगीयते) मदिराका दोष कहा जाता है।

विशेषार्थ—आठ मूलगुणोंमें पांच उदम्बर फलोंके सिवाय तीन प्रकार मदिरा, मांस व मधु भी हैं। यहां मदिरापानका निषेध करते हुए मदिरा सम्बन्धी दोष भी न लगानेकी प्रेरणा की गई है। मान कषायके तीव्र वेगसे मद चढ़ जाता है। धन मद, अधिकार मद, तप मद, विद्या मद, रूप मद, बल मद, कुल मद, जाति मद, यह मद भी मदिराके समान बाधा करनेवाला है। जैसे मदिराके नशेमें प्राणी कुछका कुछ बकता है वैसे इस तरहके मदमें भी यह धनादिकी ममता व रागके कारण मान पोषक मिथ्या बातें किया करता है। दूसरेका अपमान हो अपनी बड़ाई हो ऐसी बकबक करके अपना उन्मत्तपना प्रगट करता है। किसी प्रकारका भी नशा ग्रहण करना योग्य नहीं है। जिस किसी वस्तुके खाने पीनेसे व जिस किसी भावनाके भानेसे व जिस किसी क्रियाके करनेसे अपनी यथार्थ स्मृति, बुद्धि व प्रज्ञा व विवेक न रहे, सावधानी बिगड़ जावे उस सर्व खानपान, भावना व क्रियाका त्याग कर देना उचित है। भांग, चरस, गांजा, तम्बाकू आदि नशोंको भी नहीं पीना चाहिये। बाहरी सामग्रीके होते हुए अनित्य भावनाका विचार करते हुए उनके भीतर तीव्र ममत्व भाव न लाना चाहिये। शेखी मारनेकी आदत छोड देनी चाहिये। मानके वशीभूत हो अपनी आमदनी व खर्चका विचार न करके मर्यादासे अधिक विवाहादिमें खर्च करके उन्मत्त होकर अपना झूठा मान पुष्ट नहीं करना चाहिये। आकुलताको बढ़ानेवाले कार्य विना सावधानीसे कर लेना यह सर्व उन्मत्त विचारका फल है।

श्लोक—संधानं सन्मूर्छनं येन, त्यक्तंते ते विचक्षणाः।
अनंतभावना दोषं, न करोति शुद्धदृष्टितं ॥ २२९ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिससे (संधानं) संधानका दोष हो (सन्मूर्छनं) जहां सन्मूर्छन जंतु पैदा हो उनको (त्यक्तंते) छोड देते हैं (ते विचक्षणाः) वे ही चतुर हैं (शुद्धदृष्टितं) शुद्ध सम्यग्दृष्टी (अनंतभावना दोषं) अनंतानुबंधी कषायकी भावना सम्बन्धी दोषको नहीं लगाता है।

विशेषार्थ—अचार मुरब्बा आदि ताजा खाना चाहिये। मर्यादाके भीतरका भोजन छोडकर मर्यादाके बाहरका भोजन खानेमें वह पदार्थ रस चलित होजाता है इससे उसमें मदिराका अतीचार आता है। किस पदार्थकी क्या मर्यादा है यह कथन पहले किया जाचुका है। जिस किसीमें सन्मूर्छन त्रस जंतु पैदा होजावें वह सब पदार्थ मदिराके दोषको रखनेवाला है।

सागारधर्मामृतमें मदिराके अतीचारमें कहा है—

संधानकं त्यजेत्सर्वं दधितक्रं द्व्यहोषितं। कांजिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा॥ ३-११॥

भावार्थ—सर्व प्रकारका संधान न खावे, दो दिनका दही छाछ न खावे, दहीके बडे कांजी न खावे, जिसपर फफूंदी व फूली आगई हो सो न खावे, यह सब मद्यव्रतके अतीचार हैं। वहीं लिखा है—

जायंतेऽनन्तशो यत्र प्राणिनो रसकायिकाः। संधानानि न वल्भ्यंते तानि सर्वाणि भाक्तिकाः॥

भावार्थ—जिस वस्तुमें रसके सम्बन्धी अनंत जंतु उत्पन्न होजावें उन सबको संधाना जानके जिन-भक्त नहीं खाते हैं। सम्यग्दृष्टी जीव जिह्वाका लम्पटी नहीं होता है। इसलिये वह विवेकपूर्वक ही खानपान रखता है। शुद्ध भोजन करनेसे परिणाम निर्मल रहते हैं, आलस्य नहीं सताता है, रोग नहीं होते हैं, अनन्तानुबन्धी कषाय अन्याय व अभक्ष्यमें प्रेरित कर देती है। सम्यग्दृष्टीके ऐसी कषायकी भावना नहीं होती है इससे वह विचारपूर्वक वर्तता है।

श्लोक—मांसं भक्ष्यते येन लोनी मुहुर्तं गतस्तथा।
न च भोक्तं न च उक्तं च व्यापारं न च क्रियते॥ २३०॥

अन्वयार्थ—(ये मांसं न भक्ष्यते) जो कोई मांस नहीं खाते हैं (तथा) वैसे ही (मुहर्तं गतः लोनी) दो घडी पीछेकी लोनी (न च भोक्तं) नहीं खानी चाहिये। (न च उक्तं) और न खानेको कहनी चाहिये (व्यापारं न च क्रियते) और न व्यापार ही करना चाहिये।

विशेषार्थ—दूसरा प्रकार मांस है। मांसका भी त्याग भले प्रकार करना चाहिये। मांसके दोषोंको भी बचाना चाहिये। लोनी मक्खनको दो घडीके भीतर गर्म करके घी बना लेना चाहिये। उसी घीको खाना चाहिये। व दूसरेको खानेको कहना चाहिये व उसी घीका व्यापार करना चाहिये। जो लोनीको दो घडीसे अधिक रख छोडा जायगा तो उसमें अन गिनती त्रस जंतु सम्मूर्छन

पैदा होजांयगे फिर उनको गर्म करनेसे मांसका दोष आयगा। दो घडीके भीतर २ त्रस जंतु नहीं पैदा होते हैं तबतक घी बनानेका रिवाज देशमें प्रचलित करना चाहिये। ग्रामीणोंको समझा देना चाहिये। वही घी खानेलायक है व उसीका ही व्यापार करना उचित है। सागारधर्मामृतमें मांसके अतीचार कहे हैं—

चर्मस्थमंभः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च। सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते॥ ३-१२॥

भावार्थ—चमड़ेके वर्तनमें रक्खा हुआ जल, घी, तेल आदि-चमड़ेमें रक्खी हुई हींग तथा रस चलित सर्व भोजन मांसका अतीचार है। मर्यादाके भीतरके पदार्थ खाना पीना चाहिये जो मर्यादा पहले कही जाचुकी है। उसके बाहरके पदार्थोंमें त्रस जंतु पैदा होजांयगे। अतएव उन पदार्थोंके खानेसे मांसका भी अतीचार होगा व मदिराका भी दोष होगा। दयावान गृहस्थ स्वपर उपकारी होता है। अशुद्ध व अभक्ष्य भोजन करनेसे रागकी लम्पटता होती है, परिणाम बिगड़ते हैं व शरीर भी रोगी होता है। सम्यग्दृष्टी जीव जिह्वाका वश करनेवाला रहकर शुद्ध खानपान करनेमें ही संतोष मानता है।

श्लोक—दोदारि या महिदुग्धं च, जे नरा भुक्तभोजनं।
स्वादं विचलितं येन भुक्तं, मांसस्य दोषनं॥ २३१॥

अन्वयार्थ—(दोदारि या) जिनकी दो दाल होती हों। उनको (महि) दही छाछ (च दुग्धं) और दूध इनके साथ मिलाकर (जे नरा भुक्त भोजनं) जो मनुष्य भोजन करते हैं अथवा (येन स्वादं विचालितं भुक्तं) जिसने स्वाद चलित पदार्थको खाया उसको (मांसस्य दोषनं) मांसका दूषण लगता है।

विशेषार्थ—द्विदल अन्न मेवाको दही छाछके साथ खानेका निषेध पहले कर चुके हैं। ऐसेको खानेके साथ ही मुंहकी रालके संयोगसे त्रस जंतु पैदा हो जाते हैं। सागारधर्मामृतमें ५-१८ में-आमगोरससंपृक्तं द्विदलं-ऐसा वाक्य दिया है जिसका सीधा अर्थ यह होता है कि कच्चे गोरस (दूध, दही या छाछ) के साथ दो दाल वाली वस्तु मिलानेसे द्विदलका दोष होता है। यदि दूध, या दही या छाछको पका लिया जावे तो दोष नहीं रहता है ऐसा समझमें आता है। जिसका स्वाद विचलित हो जावे ऐसी वस्तुको खानेमें भी मांसका दोष आता है क्योंकि वह सडने लगता

साक पत्र सब निंद बखान, त्यगि करो जिन आज्ञा मान। कंद शाक फल फूल जु त्यागि, साधारण फलतें दूर भाग ॥

इसी कारणसे इस श्रावकाचारके कर्तानें भी अधिक स्थावरकी भी हिंसा जिनसे हो उनके खानेका त्याग आठ मूलगुण धारीके लिये कहा है। अतएव कन्दमूल, शाक, पत्ते, फूल जाति ये सब नहीं लेना चाहिये। जबानको वश करके संयमी होके रहना ही परम हित है।

रत्नत्रयका स्वरूप।

श्लोक—दर्शनं ज्ञान चारित्रं, सार्धं शुद्धात्मा गुणं।
तत्व नित्त्य प्रकाशेन, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ २२५ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनं ज्ञान चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (सार्धं) के साथ (शुद्धात्मा गुणं) शुद्धात्माके गुणोंके द्वारा (तत्व नित्त्य प्रकाशेन) अविनाशी तत्वका प्रकाश होता है। यही तत्व (सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं) यथार्थ ज्ञानमई निश्चल है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टी श्रावकको रत्नत्रय धर्मका पालन भले प्रकार करना चाहिये। यहां बताया है कि ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र आत्माके गुण हैं। आत्मामें ही पाए जाते हैं। इसलिये जहां शुद्ध आत्माका तत्व ज्ञानमई निश्चल अनुभवमें आरहा है वहीं मोक्षका मार्ग है। हरएक श्रावकको इस निश्चय मोक्षमार्गपर अपना लक्ष्य-बिंदु रखना चाहिये। तथा शुद्धात्माके मनकी निरंतर भावना भानी चाहिये। जैसी भावना भाई जाती है वैसा भाव ऊँचा चढता चला जाता है। इस निश्चय रत्नत्रयमई भावका आराधक अविरति सम्यग्दृष्टीसे लेकर हरएक जैनी होता है। इसीके लिये अन्य बाहरी साधन मिलाए जाते हैं। रत्नत्रयसे ही मेरी शोभा है, मेरा हित है, मेरा उद्धार है, रत्नत्रय ही मेरा क्रीडावन है, ऐसी भावना भानी चाहिये। तत्वार्थसारमें कहा है—

ये स्वभावाद्दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १५ ॥
स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः। एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद्द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो स्वभावसे होनेवाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूपी क्रिया है उन ही रूप इन तीनों रत्नत्रयमें तन्मय आत्मा ही मोक्षमार्ग है। पर्याय या भेदनयसे मोक्षमार्ग

पैदा होजांयगे फिर उनको गर्म करनेसे मांसका दोष आयगा। दो घडीके भीतर २ त्रस जंतु नहीं पैदा होते हैं तबतक घी बनानेका रिवाज देशमें प्रचलित करना चाहिये। ग्रामीणोंको समझा देना चाहिये। वही घी खानेलायक है व उसीका ही व्यापार करना उचित है। सागारधर्मामृतमें मांसके अतीचार कहे हैं—

चर्मस्थमंभः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च। सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते॥ ३-१२॥

भावार्थ—चमड़ेके वर्तनमें रक्खा हुआ जल, घी, तेल आदि-चमड़ेमें रक्खी हुई हींग तथा रस चलित सर्व भोजन मांसका अतीचार है। मर्यादाके भीतरके पदार्थ खाना पीना चाहिये जो मर्यादा पहले कही जाचुकी है। उसके बाहरके पदार्थोंमें त्रस जंतु पैदा होजांयगे। अतएव उन पदार्थोंके खानेसे मांसका भी अतीचार होगा व मदिराका भी दोष होगा। दयावान गृहस्थ स्वपर उपकारी होता है। अशुद्ध व अभक्ष्य भोजन करनेसे रागकी लम्पटता होती है, परिणाम बिगड़ते हैं व शरीर भी रोगी होता है। सम्यग्दृष्टी जीव जिह्वाका वश करनेवाला रहकर शुद्ध खानपान करनेमें ही संतोष मानता है।

श्लोक—दोदारि या महिदुग्धं च, जे नरा भुक्तभोजनं।
स्वादं विचलितं येन भुक्तं, मांसस्य दोषनं॥ २३१॥

अन्वयार्थ—(दोदारि या) जिनकी दो दाल होती हों। उनको (महि) दही छाछ (च दुग्धं) और दूध इनके साथ मिलाकर (जे नरा भुक्त भोजनं) जो मनुष्य भोजन करते हैं अथवा (येन स्वादं विचलितं भुक्तं) जिसने स्वाद चालित पदार्थको खाया उसको (मांसस्य दोषनं) मांसका दूषण लगता है।

विशेषार्थ—द्विदल अन्न मेवाको दही छाछके साथ खानेका निषेध पहले कर चुके हैं। ऐसेको खानेके साथ ही मुंहकी रालके संयोगसे त्रस जंतु पैदा होजाते हैं। सागारधर्मामृतमें ५-१८ में-आमगोरससंपृक्तं द्विदलं-ऐसा वाक्य दिया है जिसका सीधा अर्थ यह होता है कि कच्चे गोरस (दूध, दही या छाछ) के साथ दो दाल वाली वस्तु मिलानेसे द्विदलका दोष होता है। यदि दूध, या दही या छाछको पका लिया जावे तो दोष नहीं रहता है ऐसा समझमें आता है। जिसका स्वाद विचलित हो जावे ऐसी वस्तुको खानेमें भी मांसका दोष आता है क्योंकि वह सडने लगता

है, त्रस जंतु पैदा होने लगते हैं। मर्यादाका भोजन लेना त्रस रक्षाका उपाय है। रसोई साफ शुद्ध प्रकाशवाले स्थानपर बनवानी चाहिये। तथा जो सामग्री रसोईमें काममें लीजावे वह जंतु रहित शुद्ध होनी चाहिये। चार बातोंकी शुद्धिको चौका कहते हैं।

द्रव्य शुद्धि—पानी, अन्न, आटा, घी, दूध आदि सर्व मर्यादाका नित्यका देखा हुआ लेना चाहिये। लकडी घुनी न हो, जंतु रहित हो।

क्षेत्र शुद्धि—रसोईका स्थान साफ जंतु रहित हो, भीतें साफ की जांय, छतपर या तो चंदोआ हो या रोज साफ की जावे। भूमिको नित्य साफ करें। पक्की हो तो पानीसे धोवे, कच्ची हो तो मिट्टीसे लीपे।

काल शुद्धि—दिनमें मुनिदानके समयके पहले रसोई तैयार करले।

भावशुद्धि—रसोई बनानेवालेके भावोंकी शुद्धि यह हो कि वह दयावान हो, जंतुओंकी रक्षा करता हुआ रसोई बनावे व प्रेमालु हो। ऐसी भक्तिसे बनावे कि भोजन पानेवाले स्वास्थ्य लाभ करें तथा शरीर शुद्ध वस्त्र सहित हो। ऐसी शुद्ध रसोई शुद्ध स्थानमें ही जीमना हितकारी है। जितना त्रस घात बचेगा उतना मांस दोष टलेगा।

श्लोक—मधुरं मधुरश्चैव, व्यापारं न च दृश्यते।
मधुरं मिश्रिते येन, द्वि मुहूर्तं सम्मूर्छनं ॥ २३२ ॥

अन्वयार्थ—(मधुरं) शहत (मधुरश्चैव) और दूसरा मीठा इनका (व्यापारं न च दृश्यते) व्यापार नहीं करना योग्य है (येन मधुरं मिश्रिते) जिस वस्तुमें गीला, मीठा या मधु मिलावेंगे उसमें (द्वि मुहूर्तं सम्मूर्छनं) चार घडीके पीछे सम्मूर्छन त्रस जंतु पैदा होजायंगे।

विशेषार्थ—तीन मकारोंमें मधुको भी नहीं खाना चाहिये, यह मक्खियोंका उगाल है तथा गीले रसमें चार घड़ी पीछे त्रस जंतु सम्मूर्छन पैदा होजाते हैं ऐसा ऊपरके श्लोकसे झलकता है। मधुका व्यापार भी नहीं करना चाहिये तथा गीला मीठा अर्थात् गुडका व्यापार भी न करे। गीले मीठे या गुडमें भी चार घडीमें त्रस जंतु पैदा होंगे व जिसके साथ मधु या गीला मीठा मिलाया जायगा, उसमें त्रस जंतु चार घडी पीछे पैदा होजायंगे इससे उस रावके खानेकी मनाई

माॡम होती है जिस घड़ेमें ढककर बहुत दिनों तक रख छोडते हैं। मधुके अतीचारोंको बचानेके लिये फूलोंको नहीं खाना चाहिये ऐसा सागारधर्मामृतमें कहा है, क्योंकि वहींसे रस मक्खियां ले आती हैं।

श्लोक—सन्मूर्छनं यथा जानंते, सांकं पुहवादि पत्रयं।
त्यक्तंते न च भुक्तं च, व्यापारं न च क्रियते ॥ २३३ ॥
कंदं बीयं यथा नेयं, सम्मूर्छनं विदलस्तथा।
व्यापारं न च भुक्तं च, मूलगुणं प्रतिपालए ॥ २३४ ॥

अन्वयार्थ—(सम्मूर्छनं यथा) **सम्मूर्छनके बराबर** (सांकं पुहवादि पत्रयं जानंते) **शाक, पुष्प आदि पत्रोंको जानना चाहिये** (त्यक्तंते न च भुक्तं च) **इनका भी भोजन त्यागना चाहिये** (व्यापारं न च क्रियते) **और न इनका व्यापार करना चाहिये।** (यथा सम्मूर्छनं विदलः) **जैसे सम्मूर्छन विदल है** (तथा कंद बीजं नेयं) **तैसे कंद मूलको जानना चाहिये** (व्यापारं न च भुक्तं च) **इनको भी न खाना चाहिये न व्यापार करना चाहिये** (मूलगुणं प्रतिपालए) **तब आठ मूल गुण अतीचार रहित पाले जाते हैं।**

विशेषार्थ—यहां ग्रंथकर्ता अतीचार रहित आठ मूलगुणोंको पालनेका उपदेश देरहे हैं। जैसा कि दर्शनप्रतिमामें पालनेके लिये पंडित आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें कहा है। यद्यपि श्री समन्तभद्राचार्यने कंदमूल पुष्पादि खानेका त्याग भोगोपभोग परिमाणव्रतमें दूसरी व्रत प्रतिमामें लिखा है तथापि यहां ग्रंथकर्ताने उनका त्याग निरातिचार आठ मूलगुण पालनेवालेके लिये भी बताया है। जैसे सडे घुसे पदार्थमें व द्विदलमें सन्मूर्छन त्रस जंतु उत्पन्न होते हैं, वैसे शाक, फूल, पत्रों तथा कन्दमूलमें साधारण अनन्तकायका दोष आता है जिससे अनन्त एकेंद्रिय जीवोंका घात होता है। अनन्त एकेंद्रियोंका घात भी बहुतसे त्रस जन्तुओंके घातके बराबर है ऐसा जानकर दयावानोंको उनका त्याग ही करना उचित है। पत्रों व फूलोंमें, शाकमें बहुधा त्रस जंतुओंका भी आश्रय रहता है। जैसे गोभीके फूलमें–आलू, घुइया, शकरकंदी आदि जो जो कंद-मूल हैं जो जडके वहां फलरूप होते हैं उनमें साधारणका चिह्न बहुत अंशमें मिलता है वे सीधी

टूट जाती है इसलिये इनको न खाना ही चाहिये और न इनका व्यापार ही करना चाहिये क्योंकि व्यापारमें खिलानेका व अनुमोदना करनेका दोष अवश्य आता है। जिस वस्तुको हम अभक्ष्य समझते हैं उनको दूसरोंको भी खिलाना न चाहिये। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें भोगोपभोग परिमाण व्रतमें लिखा है—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ ८५ ॥

भावार्थ—जिसमें फल तो अल्प हो मात्र कुछ जीभका स्वाद सधे और बहुतसे एकेंद्रिय जीवोंकी हिंसा करनी पडे ऐसे मूली, गीले अदरक आदि व मक्खन व नीम व केतकीके फल आदि नहीं खाना चाहिये। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी भोगोपभोग परिमाणव्रतमें कहा है—

एकमपि प्रजिघांसुः निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यं। करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानां ॥ १६१ ॥

भावार्थ—जिस एक वनस्पतिके घात करनेसे अनन्त जीवोंकी कायोंका नाश होता हो उन सर्व अनन्तकायवाली वस्तुओंका त्याग करना योग्य है।

सागारधर्मामृतमें भी भोगोपभोग परिमाण व्रतमें नीचेके श्लोक दिये हैं—

नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत्। आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसां ॥ १६ ॥

अनंतकायाः सर्वेऽपि सदा हेया दयापरैः। यदेकमपि तं हन्तुं प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान् ॥ १७ ॥

आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवं। वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥ १८ ॥

भावार्थ—धर्मात्मा पुरुषोंको नाली (कमलकी डंडी), सूरण, कालिंद, द्रोणपुष्प, मूली, अदरक, नीमके फूल, केतकी आदि पदार्थोंका मरण पर्यंत त्याग करना चाहिये। इनके खानेसे अल्पफल परंतु बहुत प्राणियोंकी हिंसा है। दयावानोंको अनंतकाय वनस्पतियोंको सदा त्याग करना चाहिये। इसमें एकके खानेसे अनंतका घात होता है। जमीनके भीतर उत्पन्न होनेवाली मूली, गाजर आदि प्रायः अनंतकाय हैं। प्याज, सूरण आदि कंदज भी प्रायः अनंतकाय हैं। जैसे द्विदलको दहीके साथ नहीं खाना उचित है वैसे पुराने अनाजको न खावे व वर्षामें विना दले मूंग चना आदि न खावे व पत्तोंवाले शाक भी न खावे। दौलतरामजीने कहा है:—

त्यागो कन्दमूल बुद्धिवन्त, कन्दमूलमें जीव अनन्त। फूल जाति सब ही दोषीक, जीव अनन्त भरे तहकीक।

साक पत्र सब निंद बखान, त्यागि करो जिन आज्ञा मान। कंद शाक फल फूल जु त्यागि, साधारण फलतें दूर भाग॥

इसी कारणसे इस श्रावकाचारके कर्ताने भी अधिक स्थावरकी भी हिंसा जिनसे हो उनके खानेका त्याग आठ मूलगुण धारीके लिये कहा है। अतएव कन्दमूल, शाक, पत्ते, फूल जाति ये सब नहीं लेना चाहिये। जबानको वश करके संयमी होके रहना ही परम हित है।

रत्नत्रयका स्वरूप।

श्लोक—दर्शनं ज्ञान चारित्रं, सार्धं शुद्धात्मा गुणं।
तत्व नित्य प्रकाशेन, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं॥ २३५॥

अन्वयार्थ—(दर्शनं ज्ञान चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (सार्धं) के साथ (शुद्धात्मा गुणं) शुद्धात्माके गुणोंके द्वारा (तत्व नित्य प्रकाशेन) अविनाशी तत्वका प्रकाश होता है। यही तत्व (सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं) यथार्थ ज्ञानमई निश्चल है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टी श्रावकको रत्नत्रय धर्मका पालन भले प्रकार करना चाहिये। यहां बताया है कि ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र आत्माके गुण हैं। आत्मामें ही पाए जाते हैं। इसलिये जहां शुद्ध आत्माका तत्व ज्ञानमई निश्चल अनुभवमें आरहा है वहीं मोक्षका मार्ग है। हरएक श्रावकको इस निश्चय मोक्षमार्गपर अपना लक्ष्य-बिंदु रखना चाहिये। तथा शुद्धात्माके मननकी निरंतर भावना भानी चाहिये। जैसी भावना भाई जाती है वैसा भाव ऊँचा चढता चला जाता है। इस निश्चय रत्नत्रयमई भावका आराधक अविरति सम्यग्दृष्टीसे लेकर हरएक जैनी होता है। इसीके लिये अन्य बाहरी साधन मिलाए जाते हैं। रत्नत्रयसे ही मेरी शोभा है, मेरा हित है, मेरा उद्धार है, रत्नत्रय ही मेरा क्रीडावन है, ऐसी भावना भानी चाहिये। तत्वार्थसारमें कहा है—

ये स्वभावाद्दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥ १५॥

स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः। एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद्द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः॥ ११॥

भावार्थ—जो स्वभावसे होनेवाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूपी क्रिया है उन ही रूप इन तीनों रत्नत्रयमें तन्मय आत्मा ही मोक्षमार्ग है। पर्याय या भेदनयसे मोक्षमार्ग

तीनरूप है-सम्यक्त ज्ञान चारित्र, परन्तु द्रव्य दृष्टिसे एक ही ज्ञाता दृष्टा अनुपम आत्मा ही सदा मोक्षमार्ग है।

श्लोक—दर्शनं तत्वार्थश्रद्धानं, तीर्थं शुद्धं दृष्टितं।
ज्ञानमूर्तिः संपूर्णं, स्वात्म दर्शन चिंतनं ॥ २३६ ॥

अन्वयार्थ—(तत्वार्थश्रद्धानं दर्शनं) तत्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। (तीर्थं) यह भवसागरसे तारनेका तीर्थ या जहाज है (शुद्धं दृष्टितं) यही शुद्ध दृष्टिमई है जहां (ज्ञानमूर्तिः) ज्ञानमूर्ति (संपूर्णं) अपने सर्व गुणोंसे पूर्ण (स्वात्म दर्शन चिंतनं) अपने ही आत्माका दर्शन है और चिन्तवन है।

विशेषार्थ—सात तत्वोंका व्यवहार और निश्चय नयसे यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यही वास्तवमें भवसागरसे पार करनेवाला तीर्थ या जहाज है। जहां सम्यग्दर्शन होजाता है वहां अशुद्ध, मलीन, मिथ्यादृष्टि नहीं रहती है। किंतु शुद्ध, निर्मल, सम्यग्दृष्टि पैदा होजाती है। वास्तवमें अपने ही आत्माका श्रद्धान व मनन ही सम्यग्दर्शन है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे अपने ही आत्माको सर्व कर्मकलंकसे रहित, ज्ञानाकार, अमूर्तीक, अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, आनन्द, आदि गुणोंसे पूर्ण एकाकार श्रद्धानमें लाकर अनुभव करना चाहिये यही सम्यग्दर्शन है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है:—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्। श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ २२ ॥

भावार्थ—जीव अजीवादि तत्वोंका सदा ही श्रद्धान करना चाहिये। उसमें कोई विपरीत अभिप्राय न हो। केवल आत्मशुद्धिके प्रयोजनसे ही भलेप्रकार जीव अजीवादि तत्वोंका दृढ विश्वास करना व्यवहार सम्यक्त है। निश्चयसे यह सम्यग्दर्शन सर्व आत्मासे भिन्न शुद्ध आत्माका एक स्वभाव है। सम्यग्दर्शन एक रत्न है जो अपने ही पास है, मिथ्यात्वकी कीचमें फंसा हुआ है। मिथ्यात्वके अंधकारके दूर होजाने पर यह स्वयं प्रकाशमान होजाता है।

श्लोक—दर्शनं सप्ततत्त्वानां, द्रव्य काय पदार्थकं।
जीवद्रव्यं च शुद्धं च, सार्थं शुद्धं दर्शनं ॥ २३७ ॥

अन्वयार्थ—(सप्ततत्त्वानां द्रव्य काय पदार्थकं दर्शनं) सात तत्व, छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नौ पदार्थोंका श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है (जीवद्रव्यं च शुद्धं च सार्थं शुद्धं दर्शनं) तथा शुद्ध जीव द्रव्यका श्रद्धान करना यथार्थ निश्चय सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनके लिये निमित्त कारण है। व्यवहार सम्यक्के विषय छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्व और नौ पदार्थ हैं।

छः द्रव्य—१-जीव चेतना स्वरूप है। इसके तीन भेद बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्माका स्वरूप कहा जाचुका है। २-पुद्गल-स्पर्श, रस, गंध, वर्ण मय जड परमाणु व स्कंधको कहते हैं। हमारे आत्माके साथ लगे तैजस, कार्माण व औदारिक तीनों शरीर पुद्गलके बने हैं। ये दो द्रव्य अनंतानंत हैं। येही क्रियावान हैं, हलन चलन करते हैं व इनहीमें विभाव पर्यायें होती हैं। यद्यपि शुद्ध आत्मा निश्चल है व स्वभावरूप है। ३-धर्म द्रव्य-लोक व्यापी असंख्यात प्रदेशी अमूर्तीक द्रव्य है जो जीव पुद्गलके गमनमें उदासीन निमित्त कारण है। ४-अधर्म द्रव्य-लोकव्यापी अमूर्तीक द्रव्य है जो जीव पुद्गलकी स्थितिमें उदासीन निमित्त कारण है। ५-आकाश-जो सबसे बड़ा अनंत है यह सबको अवकाश देता है। ६-काल द्रव्य-जो अमूर्तीक है। इसके निमित्तसे सब द्रव्योंकी अवस्थाएँ नएसे पुरानी हुआ करती हैं। ये छः द्रव्य अनादि अनन्त अकृत्रिम, सदासे हैं। शुद्ध द्रव्योंमें स्वभाव पर्यायें होती हैं, अशुद्ध द्रव्योंमें अशुद्ध पर्यायें होती हैं। यह जगत इनहीका समुदाय है।

पांच अस्तिकाय—छः द्रव्योंमेंसे कालको छोडकर पांचको अस्तिकाय कहते हैं। क्योंकि जीवादि पांच द्रव्य बहु प्रदेशी हैं। परन्तु काल द्रव्य असंख्यात संख्यामें हैं और रत्नराशिके समान लोकाकाशके असंख्यात प्रदेशोंपर अलग २ फैले हैं वे कभी मिलते नहीं इससे कायरूप नहीं हैं। जितने आकाशको एक पुद्गल परमाणु रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस प्रदेशरूपी गजसे माप किये जानेपर काल सिवाय पांच द्रव्य बहुप्रदेश रखनेवाले हैं। इसलिये पांचको अस्तिकाय कहते हैं।

सात तत्व—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।

जीव और अजीव तत्वमें ऊपर लिखित छः द्रव्य गर्भित हैं।

आस्रव—कर्मोंके आनेको आस्रव कहते हैं। मन, वचन, कायकी क्रियासे व मिथ्यादर्शन,

हिंसादि पांच पाप, प्रमाद व कषायके सम्बन्धसे आठ कर्म योग्य पुद्गल वर्गणा आती हैं। शुभ मन, वचन, कायकी क्रियासे मुख्यतासे पुण्य कर्मका, अशुभ मन, वचन, कायकी क्रियासे पाप कर्मका आस्रव होता है।

बंध—आए हुए कर्म पुद्गलोंमें तुर्त चार प्रकारका बंध पड जाता है। १ प्रकृति–ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वभाव पडना। २ प्रदेश–कितनी संख्या किस किस कर्मकी बंधी। ३ स्थिति–कर्मोंमें मर्यादा-कालका पडना। ४ अनुभाग–कर्म तीव्र या मंद फल देंगे ऐसा रस पडना।

संवर—कर्मोंके आनेको रोकना–मिथ्यात्वके रोकनेको सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, पांच पापोंको छोडकर अहिंसादि पांच व्रतोंको पालना, प्रमादको रोकनेको अप्रमादभाव रखना, कषायको जीतनेके लिये वीतरागका अभ्यास करना, मन वचन कायको थिर रखना ये सब कारण कर्मोंके रोकनेके हैं।

निर्जरा—कर्म अपने समयपर पकते हैं तब झडते हैं, यह सविपाक निर्जरा है। आत्मध्यानादि वीतराग भावसे कर्मको उदयकालके पहले झाड डालना अविपाक निर्जरा है।

मोक्ष—सर्व कर्मोंसे छूटकर शुद्ध आत्मा होकर लोकशिखरपर सिद्धक्षेत्रोंमें अपने स्वरूपमें सदाके लिये विराजमान रहना।

नौ पदार्थ—सात तत्वोंमें पुण्य कर्म व पाप कर्म मिलानेसे नौ पदार्थ होजाते हैं। ये दोनों पदार्थ आस्रव व बंधमें गर्भित हैं तथापि विशेषताके लिये पृथक् गिनाया है।

इन सबमें व्यवहारनयसे जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष चार ग्रहण करने योग्य हैं जब कि निश्चयनयसे एक अपना शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है। इस तरह श्रद्धान करके जब आत्माका मनन किया जाता है तब कुछ कालके अभ्याससे अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व उपशम होनेसे उपशम सम्यग्दर्शन पैदा होजाता है। यही शुद्ध आत्मानुभव करानेवाला धर्मतीर्थ है।

श्लोक—दर्शनं ऊर्ध्वं अर्धं च, मध्यलोकं च दृष्टते।
षट् कमलं ति अर्थं च, जोयं सम्यक्दर्शनं ॥ २३८ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनं) सम्यग्दर्शनके प्रभावसे (ऊर्ध्वं अर्धं च मध्यलोकं दृष्टते) ऊर्ध्व लोक अधोलोक व

मध्यलोक स्पष्ट दिखलाई पडता है। (षट्कमलं) छः पत्तेके कमलके भीतर (ति अर्थ) तीन तत्त्वोंके भीतर (सम्यग्दर्शनं जोयं) सम्यग्दर्शन दिखलाई पडता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टी छः द्रव्योंके स्वरूपको यथार्थ श्रुतज्ञानके बलसे जानता है और इस लोककी सर्व रचना छः द्रव्योंसे बनी हुई है। इसलिये वह इस लोकको भी जानता है अथवा वह श्रुतज्ञान द्वारा नारकी, तिर्यंच, मानव तथा देव इन चार गतियोंके स्थानोंको जानता है। कहां २ नर्क व स्वर्ग है, कहां २ जम्बूद्वीप आदि है, कहां २ अकृत्रिम चैत्यालय है, कहां अहमिंद्र लोक है, कहा लोकांतिक देव रहते हैं। लोकके ऊपर सिद्धक्षेत्र है जहां अनन्त सिद्ध रहते हैं। संस्थान विचय धर्मध्यानके द्वारा तीन लोकका स्वरूप जानता है। वैराग्यभावसे किसीसे रागद्वेष नहीं करता है। उसका अनुराग अपने शुद्ध स्वभावसे है।

षट् कमल व ति अर्थका भावार्थ स्पष्ट नहीं है, जो समझमें आया वह लिखा गया है। हृदयस्थानमें छः पत्तोंका कमल बनाकर उनके ऊपर ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः इन छः बीजाक्षरोंके आलम्बनसे विचारते हुए सम्यग्दर्शनके प्रभावसे शुद्धात्माका अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र इन तीन तत्वोंके भीतर मुख्यता सम्यग्दर्शनकी झलकती है क्योंकि ज्ञान और चारित्रको सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही प्राप्त हुआ है। वास्तवमें सम्यग्दर्शन ऐसी ज्ञान चक्षु है जिसके द्वारा देखते हुए सर्व पदार्थ ठीक २ जैसे हैं वैसे दिखलाई पड़ते हैं। सम्यग्दृष्टिको छः द्रव्योंके गुणपर्यायके कार्योंमें पूर्ण विश्वास है। उसको किसी भी क्रियामें आश्चर्य नहीं मालूम होता है। वह सम्यग्ज्ञानको रखता हुआ परम संतोषी है। अनेक प्रकारके धर्मध्यानके द्वारा जिनका कथन पहले किया जाचुका है सम्यग्दृष्टि अपने आत्माके अवलोकनका अभ्यास रखता है। वह आत्मरसका पिपासु होरहा है। जिस तरह बने आत्मानन्दका स्वाद लेता है।

श्लोक—दर्शन यत्र उत्पादंते, तत्र मिथ्या न दृष्टते।
कुज्ञानं मलश्चैव, त्यक्तं योगं समाचरति ॥ २३९ ॥

अन्वयार्थ—(यत्र दर्शन उत्पादन्ते) जहां सम्यग्दर्शन उत्पन्न होजाता है (तत्र मिथ्या न दृष्टते) वहां

मिथ्यात्व नहीं दिखलाई पडता है (कुज्ञानं मलश्चैव त्यक्तं) कुज्ञान व सर्व मल भी छूट जाते हैं (योगं समाचरति) धर्मध्यानका आचरण होने लगता है।

विशेषार्थ—जैसे जहां प्रकाशका उदय होता है वहां अन्धकार नहीं दिखलाई पडता है वैसे जहां आत्मामें सम्यग्दर्शन नामक गुणका प्रकाश हुआ वहां मिथ्यादर्शनकी छाया बिलकुल नहीं दिखलाई पडती है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्वके उपशमके विना सम्यग्दर्शन होता ही नहीं है। पहले जो संसारासक्ति थी सो मिट जाती है। शुद्धात्मस्वरूपकी प्रीति पैदा होजाती है। सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके पहले जो मिथ्याज्ञान था सो सम्यग्दर्शनके होते ही सम्यग्ज्ञान होजाता है। कुमति कुश्रुत कुअवधि, सुमति सुश्रुत सुअवधि होजाते हैं। मिथ्यात्वके होते हुए जो पचीस मल होते थे वे सब मल भी दूर होजाते हैं। जब भावोंमें आत्माका तथा परमात्माका यथार्थ स्वरूप झलक जाता है तब शंका आदि दोष व कुदेव कुगुरु कुधर्मकी मान्यता किसतरह ठहर सक्ती है। तथा वह सम्यक्ती सर्व जगतकी आत्माओंको पहचाननेवाला होजाता है, इससे उसकी मैत्री सर्व प्राणीमात्रसे रहती है। दुखियोंको देखकर उनपर करुणा बुद्धि रखकर उनका दुःख निवारण करना चाहता है। धर्मका सच्चा पालक, नीतिका सच्चा नमूना बन जाता है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टीके भीतर यथार्थ योगाभ्यास होता है वही यथार्थ धर्मध्यानके बलसे निज शुद्धात्माके तत्वको सर्वसे पृथक् अनुभव करता है। विना सम्यक्तके मिथ्यादृष्टीका सर्व योगाभ्यास आत्मानुभव करनेमें समर्थ नहीं है।

श्लोक—मलं विमुक्त मूढादी, पंचविंशति न दृष्टते ।
आशा स्नेह लोभं च, गारव त्रिविधि मुक्तयं ॥ २४० ॥

अन्वयार्थ—(मूढादी मलं विमुक्त) तीन मूढ़ता आदि मलोंसे छूटे हुए सम्यक्तीके भीतर (पंचविंशति न दृष्टते) पचीस दोष नहीं दिखलाई पड़ते हैं। (आशा स्नेह लोभं च गारव त्रिविधि मुक्तयं) आशा, स्नेह, लोभ, तीन प्रकार अहंकार आदि कुभावोंसे मुक्त होजाता है।

विशेषार्थ—सम्यक्तीके भीतर पहले कहे हुए मूढ़ता आदि पचीस दोष नहीं दिखलाई पड़ते हैं। शुद्ध सम्यग्दर्शनको जो पालनेवाला है उसके मात्र एक शुद्धात्मानुभवका ही उद्देश्य है। इसी

उद्देश्यसे वह धर्मध्यान करता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय, संयम, तप व दान इन नित्य गृहस्थोंके छः कर्मोंको भले प्रकार पालता है, जिसका फल मात्र परिणामोंकी शुद्धि चाहता है। सम्यक्तीको क्षणभंगुर विषयभोगोंकी कोई इच्छा नहीं होती है, इसलिये वह इन्द्र नागेन्द्र अहमिंद्र चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, तीर्थंकर आदि बडे २ ऐश्वर्यशाली महत्वशाली पदोंकी आशा बिलकुल नहीं रखता है और न जगतके विनाशीक चेतन अचेतन पदार्थोंसे स्नेह रखता है। स्त्री पुत्र मित्र सेवकादिसे यथायोग्य व्यवहार करता हुआ व जगतके प्राणियोंके साथ सभ्यता व नीतिसे वर्ताव करता हुआ वह भीतरसे उसी तरह अलिप्त रहता है, जैसे कमल जलसे अलिप्त रहता है। ज्ञानी सम्यक्तीके लोभ अति मंद होता है। अपने २ पदके अनुसार संतोषपूर्वक आजीविकाका साधन करता है। दूसरोंको बहुत लोभ होते देखकर परिणामोंमें लोभपना नहीं जगाता है। किसी तरहका गारव या अभिमान नहीं रखता है। रस गारव, ऋद्धि गारव, बुद्धि गारव ये तीन गारव प्रसिद्ध हैं। सो सम्यक्तीके नहीं होते हैं। रसायन विद्यासे रस बनानेका गारव या मिष्ट रसीले पदार्थोंके मिलनेका गारव रस गारव है। ऋद्धि आदि कोई चमत्कार तपके बलसे पैदा होजावे तो उसका अहंकार करना यह ऋद्धि गारव है। बुद्धि प्रबल होनेसे पदार्थोंके समझनेकी अधिक शक्ति होते हुए बुद्धिका घमंड करना बुद्धि गारव है। ज्ञानी सम्यक्ती इन लाभोंको क्षणिक समझता है। इनकी शक्ति होनेपर भी कोई प्रकारका मद नहीं करता है।

श्लोक—दर्शनं शुद्ध तत्वार्थं, लोक मूढं न दृष्टते।
यस्य लोकं च सार्थं च, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं ॥ २५१ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनं शुद्ध तत्वार्थं) शुद्ध आत्मतत्वमें दृढ प्रतीतिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। वहां (लोकमूढं न दृष्टते) लोकमूढता नहीं दिखलाई पडती है। (यस्य लोकं च सार्थं च त्यक्तते) जिसने सर्व लोकको व उसके सर्व पदार्थोंको पर जानकर उनसे मोह छोड दिया है (शुद्ध दृष्टितं) मात्र शुद्ध दृष्टिको धारण कर लिया है।

विशेषार्थ—जिसके पूजनीय, माननीय, दर्शनीय, मननीय, अनुभवनीय एक मात्र अपना शुद्ध आत्मा है, जो सिद्ध भगवानको भी पर जानता है, उनकी पूजा व भक्ति भी आलम्बन जानकर

करता हुआ भी उनसे वैरागी है, जानता है जहांतक स्वात्मानुभव नहीं होगा वहांतक मोक्षका मार्ग नहीं है। ऐसा सम्यक्ती जीव लोक मूढतामें कैसे फंस सक्ता है। लोगोंकी देखादेखी मूढ प्राणी धन, पुत्र, जय, यश आदिके लोभसे लोक मूढतामें फंस जाते हैं। सम्यक्तीको इन बातोंकी तरफ आसक्ति नहीं है। यह जानता है कि वे सब पुण्य वृक्षके फल हैं। यदि मैं गृहस्थ हूं तो मेरा कर्तव्य समताभावसे नीतिपूर्वक उद्यम करना है। पुण्यकी सहायता होगी तो ये पदार्थ मिल सकेंगे। सम्यक्ती लोकके पदार्थोंका स्वभाव शास्त्र द्वारा जानता हुआ भी किसीमें ममता भाव नहीं रखता है। परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, मेरे शुद्ध गुण व पर्याय हैं वे मेरेमें सदा विराजित हैं, इस प्रकारके ज्ञान वैराग्यसे पूर्ण सम्यग्दृष्टी जीव रहता हुआ सदा आनन्द भोगता है।

श्लोक—देवमूढं च प्रोक्तं च, क्रियते येन मूढयं।
दुर्बुद्धि उत्पाद्यते जाव, तावदिष्टि न शुद्धए ॥ २४२ ॥

अन्वयार्थ—(देव मूढं च प्रोक्तं च) देव मूढताका स्वरूप कह चुके हैं (येन मूढयं क्रियते) जिससे ऐसी मूढता की जाती है (जाव दुर्बुद्धि उत्पाद्यते) व उसके देव मूढताकी खोटी बुद्धि पैदा होती रहती है (ताव) तबतक (दिष्टि न शुद्धए) श्रद्धा निर्मल नहीं है।

विशेषार्थ—देव मूढताका स्वरूप कहा जाचुका है कि संसारीक प्रयोजनकी इच्छासे जो रागी द्वेषी देवोंको पूजना है सो देव मूढता है। जो कोई अपनेको श्रद्धालु मानकर भी रागी द्वेषी देवोंकी पूजारूपी मूढताको नहीं छोडता है, उसके सदा काल खोटी बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है। अमुक देवको मानूंगा तो यह लाभ होगा, अमुक देवीको मानूंगा तो यह लाभ होगा, अमुकको मानूंगा तो यह हानि होगी। जानता हुआ भी कि कुदेवोंकी भक्ति व्यर्थ है फिर भी पूर्व संस्कारसे पुत्रकी बीमारी अच्छी करनेको, किसी धनके लाभको चाह करके कुदेवोंकी भक्ति स्वयं करता है, कराता है व अनुमोदना करता रहता है। यह मिथ्या शल्य जबतक उसके भावोंमें गडी रहती है वह कभी भी निःशंक निर्भय व शुद्ध श्रद्धावान नहीं होने पाता है। वह इस बातको भूल जाता है कि इन कुदेवोंकी भक्तिसे वृथा ही श्रद्धानको मलीन करना है। हरएक प्राणी अपने २ किये हुए पुण्यकर्म व पापकर्मके आधीन है उसको कोई मेट नहीं सक्ता है। वीतराग जिनेन्द्र भगवानकी

भक्तिसे तो परिणामोंकी उज्वलता होकर भले ही पापकर्म कम होजावे या टल जावे और पुण्यकर्मका विशेष लाभ होजावे परन्तु कुदेवोंकी भक्तिसे तो सिवाय पाप दृढ़ न होनेके पापका शमन नहीं होसक्ता है। ऐसा जान कर जो सम्यक्तको दृढ रखना चाहता है वह भूलकर भी कुदेवोंकी भक्ति व पूजा नहीं करता है, अपने श्रद्धान भावको अति दृढ रखता है।

श्लोक—अदेवं देव उक्त च, मूढ दृष्टिः प्रकीर्तितं।
अचेतं अशाश्वतं येन, त्यक्तये शुद्ध दृष्टितं ॥ २४३ ॥

अन्वयार्थ—(अदेवं देव उक्तं च) जिनमें देवपना कुछ भी नहीं ऐसे अदेवको जो देव कहते हैं सो (मूढदृष्टिः प्रकीर्तितं) मूढ श्रद्धा कही गई है (येन) क्योंकि (अचेतं अशाश्वतं) यह माने हुए अदेव अज्ञानी है व विनाशीक है (त्यक्तये शुद्धदृष्टितं) शुद्ध सम्यग्दृष्टी इनकी भक्ति नहीं करता है।

विशेषार्थ—पहले अदेवका स्वरूप कह चुके हैं। चार प्रकार भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी जो संसारी रागी द्वेषी देव हैं इनमेंसे किसीको देव मानकर श्रद्धा रखनी सो कुदेव श्रद्धा है। इनके सिवाय गाय, घोडा, हाथी, बैल, गरुड, मोर, पीपल, तुलसी, वरगत, आम, आदि तिर्यंच गतिवाले अज्ञानी विनाशीक पर्यायधारी जीवोंको अथवा कुम्हारका चाक, दूकानकी देहली, मिट्टीका ढेर, पाषाणका खण्ड आदि अजीव विनाशीक वस्तुको जिससे सच्चा देवपना अर्थात् सर्वज्ञ वीतरागपना या अरहंत सिद्धपना कुछ भी न झलके, कोई ध्यानमय भाव नहीं प्रगट हो देव मानना अदेव श्रद्धा है मूढता है। यह भी देव मूढतामें गर्भित है। शुद्ध सम्यग्दृष्टी तो शुद्धात्माके पदको प्राप्त जो अरहंत और सिद्ध भगवान हैं उनहीको सुदेव मानेगा और उनहीकी भक्ति करेगा सो भक्ति भी इसीलिये कि जिससे परिणामोंमें निर्मलता प्राप्त हो तथा अपने ही शुद्धात्माकी स्मृति होजावे। सम्यग्दृष्टी व्यवहारनयसे सकल और निकल परमात्मा जो अरहंत और सिद्ध हैं उनकी गाढ़ श्रद्धा व भक्ति रखता है अन्य किसी कुदेव या अदेवकी नहीं।

श्लोक—पाषंडी मूढ जांनंते, पाषंडं भ्रम ये रताः।
परपंचं पुद्गलाथ च, पाषंडिमूढ न संशयः ॥ २४४ ॥

अन्वयार्थ—(पाषंडी जानंते) जे मूढ़ अज्ञानी आत्मज्ञान रहित साधु जाने जाते हैं (ये पाषंडं भ्रमरताः) जो मिथ्यात्व भ्रम जालमें आसक्त हैं (पुद्गलार्थं परपंचं च) जो इस शरीरके लिये ही सर्व प्रपंचजाल करते रहते हैं उनको गुरु मानना (पाषंडमूढ़ न संशयः) पाषंड मूढ़ता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—सुगुरु कुगुरुके स्वरूपमें पाषंड मूढ़ताका कथन आचुका है। फिर भी ग्रंथकर्ताने यहां शिष्योंको समझाया है कि परिग्रह रहित निर्ग्रंथ साधुओंके सिवाय और किसी साधुको अपना सच्चा पूज्यनीक गुरु न मानना चाहिये। जगतमें अनेक साधु साधुके भेषमें रहते हैं। न उनकी क्रिया ही मोक्षमार्ग रूप है और न उनको शुद्धात्माका ज्ञान ही है। जो स्वयं मिथ्यात्वभाव सहित हैं, जिनके संसारकी लालसा छूटी नहीं है, जो परिग्रह व धनके लोभी, इंद्रियके विषयोंके लम्पटी हैं, स्वयं कुदेवोंके व अदेवोंके उपासक हैं और वैसा ही उपदेश अन्योंको देते हैं, जिनका जप तप भजन आदि व अन्य उपदेशादि, विहारादि सर्व क्रियाओंका हेतु जगतका प्रपंच है, वे इस शरीरके लिए और आगामी शोभनीक विषय भोगने योग्य शरीर पानेके लिए ही मनमाना साधन करते रहते हैं। जिनके दिलोंमें हिंसा व अहिंसाका विचार भी नहीं है। गांजा, चरस आदि नशोंके पीनेसे जिनको ग्लानि नहीं है। इत्यादि मोक्षमार्गसे विपरीत आत्मानुभवसे शून्य साधु नामधारी साधुओंको साधु मानकरके भक्ति करना, उनमें साधुपनेकी श्रद्धा रखनी, पाखण्ड मूढ़ता है। सम्यग्दृष्टीको प्रथम ही त्याज्य है।

श्लोक—अनृतं अचेत उत्पादं, मिथ्या माया लोक रंजनं।
पाषंडि मूढ विश्वासं, नरये पतंति ते नरा ॥ २४५ ॥

अन्वयार्थ—(अनृतं अचेत उत्पादं) मिथ्यात्व व अज्ञानको ही वे उत्पन्न करनेवाले हैं। वे स्वयं (मिथ्या माया लोक रंजनं) मिथ्यात्व, मायाचार व लोगोंके रंजायमान करनेमें लगे रहते हैं। जो कोई (पाखंडि मूढ विश्वासं) ऐसे मूढ साधुओंका विश्वास करते हैं (ते नरा नरये पतंति) वे मानव नरकमें पडते हैं।

विशेषार्थ—कुगुरुओंकी सेवा करनेसे सेवकोंका मिथ्यात्व और अज्ञान और अधिक बढ जाता है, वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिसे बहुत दूर होते जाते हैं क्योंकि वे साधु स्वयं मिथ्यात्व-वासित है, संसारानुरागी है, विषयभोगोंमें आसक्त हैं। वे जैसे स्वर्गादिमें कामभोगकी चाहको

रखके साधुपना पालते हैं वैसा ही वे दूसरोंको उपदेश देते हैं। उनके दिलोंमें काम भोगका लोभ स्वर्ग सम्पदाका मोह उत्पन्न कर देते हैं। वे पाखंडी साधु मायाचारमें फंसे रहते हैं। अपना साधुपना बताकर अंतरंगमें साधु न रहते हुए भी लोगोंसे पूजा करवाते हैं और अपना खानपान आदिका स्वार्थ सिद्ध करते हैं। उनकी प्रति समय यही चेष्टा रहती है कि हम लोगोंको खुश रखें। उनके दिलोंको राजी रखनेके लिये नाना प्रकार रसीली कथाएं रच रचकर सुनाते हैं। मूढतासे भरा गाना कराते हैं। ऐसे साधु जिनके पास न वैराग्य है न संयम है न आत्मज्ञान है न मोक्षकी भावना है, मात्र संसारके बढानेवाले पाषाणके नावके समान हैं, जो आप भी डूबेंगे व दूसरोंको भी डुबाएंगे। जो अज्ञानी ऐसे पाखंडी साधुओंको सच्चा गुरु मानके उनके विश्वासमें फंस जाते हैं वे स्वयं मिथ्यात्व पोषक व विषयलम्पटी व परिग्रहके पिपासु बनकर नरक आयुको बांधकर नरक चले जाते हैं।

श्लोक—पाषंडि वचन विश्वासं, समय मिथ्या प्रकाशनं।
जिनद्रोही दुर्बुद्धि ये, स्थानं तस्य न जायते ॥ २४६ ॥

अन्वयार्थ—(पाषंडी वचन विश्वासं) पाषंडी साधुओंके वचनोंका विश्वास करना (समय मिथ्या प्रकाशनं) मिथ्या आगम या मतका प्रकाश करना है (ये जिनद्रोही दुर्बुद्धी) जो पाषंडी साधु जिनेन्द्रके अनेकांत मतके शत्रु हैं व मिथ्या दुष्ट बुद्धिको रखनेवाले हैं (तस्य स्थानं न जायते) ऐसे पाषंडी साधुके स्थानमें भी जाना उचित नहीं है।

विशेषार्थ—पाषंडी साधुओंने बहुतसे मिथ्या शास्त्र बना दिये हैं जिनमें मिथ्यात्वको व राग द्वेषको व हिंसाको पोषण किया है, उनके वचनोंपर विश्वास करना कभी उचित नहीं है।

जिनेन्द्रका आगम स्याद्वाद नयसे जैसा पदार्थ अनेकांत स्वरूप है वैसा ही झलकानेवाला है तथा ज्ञान वैराग्यका प्रकाश करनेवाला है, आत्माको सुख शांतिके मार्गमें लगानेवाला है। संयमकी दृढता करानेवाला है। ऐसे आगमका विरोधी वचन पाखंडी साधुओंका होता है, वे एकांतको पुष्ट करते हैं, आत्मीक आनन्दके उपवनमें जानेसे रोकते हैं, विषय कषायमें लगा देते हैं इसलिये वे जिनद्रोही हैं तथा उनकी बुद्धि भी सरल मंगलकारी नहीं है, वे दुष्ट बुद्धि रखते हुए आप भी कुमार्गमें चलते हैं और अपने भक्तोंको भी कुमार्गपर चलाते हैं। ऐसे पाखंडी साधुओंके स्थानोंपर

ही जाना न चाहिये, उनकी संगति न करनी चाहिये। संगतिका भी बड़ा असर होता है। सच्चे साधुओंकी संगति मंगलकारी है, आत्मोन्नतिके मार्गमें प्रेरित करनेवाली है तब स्वयं आत्मज्ञान-शून्य इंद्रिय सुखके लोलुपी साधुओंकी संगति संसारके ही मार्गको दृढता करानेवाली है व इस मानव जन्मको निरर्थक व पापका भार बनानेवाली है अतएव खोटे साधुके संगसे बचना ही श्रेष्ठ है।

श्लोक—पाखंडि कुमति अज्ञानी, कुलिंगी जिन लोपनं।
जिन लिंगी मिश्रेण यः, जिनद्रोही ज्ञानलोपनं ॥ २४७ ॥

अन्वयार्थ—(पाखंडी) पाखंडी साधु (कुमति अज्ञानी) कुमति व कुश्रुतका धारी है (कुलिंगी) मिथ्या भेषी है (जिन लोपनं) जिनके स्वरूपको लोपनेवाला है (यः) जो (जिन लिंगी मिश्रेण) जिन लिंगीके साथ अपनेको मिलाके अर्थात् जिन लिंगी दिखाके (जिनद्रोही) जिन भगवानका द्रोही होता हुआ (ज्ञानलोपनं) सम्यग्ज्ञानको छिपानेवाला है।

विशेषार्थ—यहांपर यह दिखलाया है कि जो जिन भेषी नहीं हैं अर्थात् परिग्रह धारी साधु हैं उनके कुमति कुश्रुत ज्ञान होता ही है। वे तो जिनेन्द्र भगवानके मतको लोपनेवाले हैं ही परन्तु जो अपनेको जिन भेषी सरीखा मानते हैं, परिग्रह कुछ रख करके भी अपनेको जैन साधु मानते हैं या परिग्रह त्याग नग्न होकरके भी अपनेको जैन साधु मानते हैं परंतु जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार तत्वोंका न अनुभव करते हैं न यथार्थ तत्वोंका उपदेश करते हैं वे भी जिनद्रोही हैं। वे सम्यग्ज्ञानको लाभ करनेवाले हैं। कोई २ जैनका भेष धार करके भी तत्वज्ञानसे शून्य होते हुए व किसी ख्याति पूजा लाभादिके हेतुसे मुनिका चारित्र पालते हुए मात्र भक्ति करानेमें लीन हैं, गृहस्थोंको रुचे ऐसा ही उपदेश देनेवाले हैं। उनको व्यवहार पूजा पाठमें ही उलझाए रखते हैं, आध्यात्मिक ज्ञानकी तरफ नहीं लेजाते हैं किन्तु मना करते हैं कि आत्माकी कथनी गृहस्थको पढ़नी योग्य नहीं है। वे स्वयं भी आत्मानुभव करते हुए कषायका ही पोषण करते हैं और दूसरोंको भी कषाय पोषणका मार्ग दिखाते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शनके लिखनसे स्वयं भी दूर हैं और दूसरोंको भी दूर रखते हैं, ऐसे जिनभेषी साधु भी हितकारी नहीं हैं। वे जिन लिंगी बन करके भी श्री जिनेन्द्रके मार्गका लोप करनेवाले हैं, ऐसोंकी संगति भी हितकारी नहीं है।

श्लोक—पाखंडी उक्त मिथ्यात्वं, वचनं विश्वास क्रीयते ।
त्यक्तते शुद्ध दृष्टी च; दर्शनं मल विमुक्तयं ॥ २४८ ॥

अन्वयार्थ—(पाखंडी उक्त मिथ्यात्वं) पाखंडी भेषी साधुओंके द्वारा कहे हुए मिथ्यात्व पोषक (वचनं) वचनोंका (विश्वासं क्रीयते) विश्वास किये जानेपर (शुद्ध दृष्टि च त्यक्तते) शुद्ध आत्मीक दृष्टिका त्याग होजाता है (मल विमुक्तयं दर्शनं) मल रहित सम्यग्दर्शन नहीं रहता है।

विशेषार्थ—जिन शास्त्रोंके रचनेवाले निर्ग्रंथ वीतरागी साधु न हों; किन्तु सरागी भेषी एकांती साधु हों उन शास्त्रोंमें जो उपदेश होगा वह मोक्षमार्गसे विपरीत राग पोषक आत्मानुभवसे विपरीत होगा। उन शास्त्रोंको पढनेसे शिथिल श्रद्धावालेका श्रद्धान बिगड सक्ता है तथा ऐसे पाखंडी साधुओंका उपदेश भी सुनना उचित नहीं है क्योंकि वह भी सम्यक् श्रद्धानको जो पक्का नहीं है गिरा सक्ता है। शुद्ध आत्मीक दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। जहां एक आत्मीक आनन्दकी गाढ रुचि पाई जावे, संसार शरीर भोगोंसे पूर्णतया वैराग्य हो ऐसी रुचि जिन वचनोंके सुननेसे जाती रहे उनको न सुनना ही न पढना ही हितकर है। सम्यग्दर्शनके अतीचारोंमें यह बात बता चुके हैं कि कुगुरु और उनके भक्तोंकी संगति करनाअनायतन है, धर्मकी प्राप्तिका ठिकाना न होकर धर्मसे शिथिल करनेवाला है। जैसे अपने पास रत्न हो तो उसकी रक्षा भलेप्रकार करना उचित है उसी तरह बडी कठिनतासे प्राप्त जो सम्यग्दर्शन उसकी रक्षा भलेप्रकार कर्तव्य है। संगतिका बडा भारी असर होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी वीतरागी साधुओंकी संगति ही करना उचित है। इसीसे सम्यक्तको मजबूती प्राप्त होगी व आत्मभावना दृढ होगी व संसारसे वैराग्य बना रहेगा।

श्लोक—मदाष्टं मान सम्बंधं, शंकादि अष्ट विमुक्तयं ।
दर्शने मल न दिष्टंते, शुद्ध दृष्टिं समाचरतु ॥ २४९ ॥

अन्वयार्थ—(मान सम्बंधं मदाष्टं) मान कषाय सम्बन्धी आठ प्रकारका मद व (शंकादि अष्ट विमुक्तयं) व आठ शंकादि दोषसे रहित (दर्शने मल न दिष्टंते) सम्यग्दर्शनमें कोई भी मैल न दिखलाई पडे ऐसे (शुद्ध दृष्टिं समाचरतु) शुद्ध सम्यग्दर्शनको आचरण करना उचित है।

विशेषार्थ—गृहस्थ श्रावकको रत्नत्रयके आचरणमें प्रथम सम्यग्दर्शनके आचरणका उपदेश है। इस दर्शनाचारमें यही उचित है कि २५ दोषोंको न लगाता हुआ सम्यक्तकी दृढतां जिस तरह रहे उस तरह वर्तन करें। श्रद्धान कभी शिथिल न होने पावे किन्तु दिनपर दिन दृढ होता चला जावे, ऐसा उद्यम रखना योग्य है। २५ दोषोंका वर्णन पहले कर आए हैं। जाति, कुल, धन, अधिकार, रूप, तप, बल व विद्या इन आठ प्रकारकी शक्तियोंके होते हुए कभी भी अभिमान नहीं करना चाहिये। जो पर वस्तुओं या क्षणभंगुर पदार्थको अपनी मानेगा वही मान करेगा। सम्यक्ती तो सिवाय अपनी शुद्ध आत्माके और किसीको अपनी नहीं मानता, इससे उसके धनादिका कभी भी मान नहीं होता है। वह सदा अनित्य भावना भाता हुआ इनकी तरफसे उदासीन भाव ही रखता है। इसी तरह आठ शंकादि दोष भी नहीं लगाता है। वह निर्भय होकर व निःशंक दृढ श्रद्धालु होकर धार्मिक क्रियाओंको पालता है। विषयभोगोंकी अभिलाषा करके कांक्षा दोष नहीं लगाता है। रोगी दुःखी मानवों व पशुओंको देखकर घृणा नहीं करता है। मूढतासे कोई धर्मक्रियाको नहीं करता है। धर्मात्माओंके कर्मउदयसे लगे हुए दोषोंको ढूंढकर उनकी निंदा नहीं करता है, आपको व परको धर्ममें स्थिर रखता है। धर्मात्माओंसे गोवत्स सम प्रीति रखता है। धर्मकी उन्नतिमें सदा उत्साही रहता है। लोक मूढता, देव मूढता व पाखण्ड मूढतासे बचता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म उनके भक्तोंकी गाढ संगति नहीं करता है। इस तरह २५ दोषोंको बचाकर निर्मल सम्यक्तका आचरण पालता है। व्यवहार धर्मकी ऐसी क्रियाओंको पालना जिनसे श्रद्धान दृढ रहे यही सम्यक्तका आचरण है। जैसे श्री जिनेन्द्र भगवानकी पूजा, भक्ति, स्तुति, वंदना, गुरुओंके द्वारा उपदेश श्रवण, शास्त्रोंका भले प्रकार स्वाध्याय करना, सवेरे सांझ आत्माके मननके लिये सामायिकका अभ्यास रखना। इत्यादि कार्य करते रहना चाहिये तब ही सम्यक्त दृढ रह सकेगा।

श्लोक—ज्ञानं तत्वानि वेदंते, शुद्ध समय प्रकाशकं।
शुद्धात्मानं तीर्थं शुद्धं, ज्ञानं ज्ञान प्रयोजनं ॥ २५० ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानं तत्वानि वेदंते) ज्ञान वही है जो जीवादि सात तत्वोंको अनुभव करावे (शुद्ध समय प्रकाशकं) जो शुद्ध निर्दोष पदार्थोंका व शास्त्र सम्बन्धी विषयोंका प्रकाशक हो (शुद्धात्मानं शुद्धं तीर्थं)

तथा शुद्ध तीर्थस्वरूप शुद्धात्माका झलकानेवाला हो (ज्ञानं ज्ञान प्रयोजनं) ज्ञानसे ज्ञानकी उन्नतिका ही प्रयोजन हो वही ज्ञानाचार है।

विशेषार्थ—अब सम्यग्ज्ञानाचारको कहते हैं। सम्यग्ज्ञान वही है जो जीवादि सात तत्वोंको यथार्थ बतावे तथा निर्दोष वस्तु स्वभाव बतावे व मुनि श्रावकका यथार्थ आचरण बतावे, लोकालोकका ठीक स्वरूप समझावे, महान पुरुषोंके जीवनचरित्रोंको यथार्थ बतावे। अर्थात् जो यथार्थ रूपसे प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग रूप हो। इन चार अनुयोगोंके प्रकाशक यथार्थ ज्ञानके दाता शास्त्रोंका पढना सुनना सम्यग्ज्ञानका आचरण है। मुख्य अभिप्राय शास्त्रज्ञानका यही है कि संसार तारक शुद्ध आत्माका अनुभव प्राप्त हो। स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है या तीर्थ है। सम्यग्ज्ञानका या स्वसंवेदन ज्ञानका आचरण ही ज्ञानकी वृद्धिका कारण है, यही केवलज्ञानका द्योतक है। अतएव अतिशय प्रेम करके आत्मज्ञानकी वृद्धिकारक शास्त्रोंका पठन पाठन रखते हुए ज्ञानाचारका पालन करना उचित है।

श्लोक—ज्ञानेन ज्ञानमालम्ब्यं, पंच दीप्ति परस्थितं।
उत्पन्नं केवलज्ञानं, सार्धं शुद्धं दिष्टितं ॥ २५१ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानेन) सम्यग्ज्ञान या श्रुतज्ञानके द्वारा (ज्ञानं) आत्मज्ञानको (आलम्ब्यं) दृढ करना चाहिये, जिससे (पंच दीप्ति परस्थितं) पंच प्रकार ज्ञानोंके भीतर श्रेष्ठ रूपसे स्थित जो (केवलज्ञानं) केवलज्ञान सो (उत्पन्नं) पैदा होजावे। और (सार्धं) साथ ही (शुद्धं दष्टितं) शुद्ध आत्मीक प्रत्यक्ष दर्शन होजावे।

विशेषार्थ—शास्त्र ज्ञानका भलेप्रकार अभ्यास ऐसा करना चाहिये जिससे आत्मा व अनात्माका दृढ ज्ञान संशय रहित होजावे, भेदविज्ञान पैदा होजावे। भीतरसे ऐसा झलक जावे कि मेरा आत्मा वास्तवमें सर्व राग द्वेषादि विकारोंसे व ज्ञानावरणादि कर्म मलोंसे व शरीरादिसे रहित है। ऐसा भेद ज्ञान होनेपर जब इसीकी भावना वारवार की जाती है और आत्माका अनुभव किया जाता है तब जितना २ आत्मध्यान बढ़ता है उतना २ ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है; मतिज्ञान, श्रुतज्ञानकी शक्ति बढती जाती है। इसी आत्मध्यानकी योग्यतासे संपूर्ण द्वादशांगका ज्ञान होजाता है, आत्मा श्रुतकेवली होजाता है, अनेक ऋद्धियें सिद्ध होजाती हैं,

शुद्ध आत्मीक ज्ञानकी भावना करते रहनेसे अवधिज्ञानकी दीप्ति व मनःपर्यय ज्ञानकी दीप्ति भी चमक जाती है। जिन ज्ञानोंके प्रभावसे सूक्ष्म रूपी पदार्थोंका ज्ञान होने लगता है तथा उसी आत्मध्यानसे उन्नति करते २ जब वह ध्यान शुक्लध्यानके रूपमें होजाता है-एकाग्र शुद्धोपयोग होजाता है तब वही ज्ञान केवलज्ञानके रूपमें परिणत होजाता है। अर्थात् पांच प्रकारके ज्ञानावरणीय कर्मका नाश होजाता है और केवलज्ञान प्रकाशमान होजाता है। यह केवलज्ञान सर्व ज्ञानोंमें श्रेष्ठ है। इसके प्रगट होते हुए अन्य चार ज्ञानोंकी जरूरत नहीं रहती है। यह केवलज्ञान सर्व द्रव्योंको और सर्व द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको एक साथ जान लेता है। साथ ही निजात्माका प्रत्यक्ष दर्शन जो अबतक न था सो होजाता है। श्रुतज्ञानसे शुद्धात्माका अनुभव यद्यपि स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष है तथापि शास्त्र बलपर खडा हुआ परोक्ष ही है। जब केवलज्ञानका प्रकाश होजाता है तब प्रत्यक्ष शुद्ध आत्माका यथार्थ अनुभव होजाता है। निरालम्ब केवल आत्मबोध होजाता है। इसलिये उपासकको नित्य ही सम्यग्ज्ञानकी आराधना करते रहना चाहिये।

श्लोक—ज्ञानं लोचन भव्यस्य, जिनोक्तं सार्थं ध्रुवं।
सुये तत्वानि विज्ञानं, शुद्ध दृष्टिः समाचरतु ॥ २५२ ॥

अन्वयार्थ—(भव्यस्य) भव्य जीवकी (लोचन) आंख (ज्ञानं) ज्ञान है। जो (सार्थं ध्रुवं) यथार्थ है निश्चल है (जिनोक्तं) ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। (शुद्ध दृष्टिः) सम्यग्दृष्टी जीव (सुये) श्रुतज्ञानके द्वारा (तत्वानि विज्ञानं समाचरतु) तत्वोंका विशेष ज्ञान प्राप्त करें।

विशेषार्थ—भव्यजीव जगतके पदार्थोंको ज्ञानरूपी आंखसे देखता है जो अंतरंगमें प्रकाशमान रहती है। दोनों आखें तो मात्र रूपी स्थूल पदार्थोंको ही जो वर्तमानमें सामने हैं उनहींको देख सक्ती हैं। परन्तु शास्त्र ज्ञानसे प्राप्त हुई सम्यग्ज्ञानकी आंख सर्व पदार्थोंको यथार्थ देख लेती है। जैसे पदार्थ जगतमें यथार्थ हैं उनको वैसा ही ठीक२ जान लेना ही ज्ञान लोचनका कार्य है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवानने कहा है। जहांतक केवलज्ञानका लाभ न हो वहांतक सम्यग्दृष्टीको उचित है कि शास्त्रोंका अभ्यास करते हुए तत्वोंका विशेष ज्ञान बढाता रहे। शास्त्र समुद्र अगाध है, नित्य अभ्यास करते हुए भी १०० वर्षका जीवनवाला मानव बहुत थोडा ही पार पासक्ता है।

तौभी एक श्रावकका मुख्य कर्तव्य है कि शास्त्रोंका मनन करता हुआ ज्ञानका आचरण करता रहे। ज्ञानाचार ही आत्माकी भावना दृढ रखनेको बड़ा भारी आलम्बन है।

श्री मूलाचारमें ज्ञानाचारका स्वरूप कहा है—

जेण तच्चं वि वुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि। जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥७०॥

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सएसु रज्जदि। जेण मित्ती प्रभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥७१॥

भावार्थ—जिसके द्वारा तत्वोंका यथार्थ ज्ञान हो, जिसके द्वारा मनके व्यापारका निरोध हो, जिससे आत्मा रागादि रहित वीतराग हो वही जिनशासनमें ज्ञानाचार कहा गया है। जिससे यह जीव रागादि विकारोंसे वैरागी हो, जिससे अपने निर्वाणके भीतर अनुरागी हो, जिससे प्राणी मात्रमें मैत्रीभाव बढ़ जावे वही जिनशासनमें ज्ञानाचार है।

इस प्रकार ज्ञानका महात्म्य जानकर भव्य जीवको उचित है कि योग्य कालमें विनय पूर्वक चित्तको समाधान करके ज्ञानकी आराधना करे। ज्ञानाभ्यास जीवनको सदा आनन्द प्रदान करनेवाला व चिंताओंको मेटनेवाला है।

श्लोक—आचरणं स्थिरीभूतं, शुद्ध तत्व ति अर्थकं।
ॐ वंकारं च विंदंते, तिष्ठते शाश्वतं पदं ॥ २५३ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध तत्व ति अर्थकं स्थिरीभूतं) शुद्ध आत्मीक तत्वमें जो तीन गुणोंका अर्थात् रत्नत्रयका स्थिर होजाना सो (आचरणं) सम्यकचारित्र है। जहां (ॐ वंकारं च विंदन्ते) ॐमें गर्भित परमात्माका अनुभव होता है जो (शाश्वतं पदं तिष्ठते) अविनाशी पदमें विद्यमान है।

विशेषार्थ—पहले दर्शनाचार व ज्ञानाचारको कह चुके हैं, अब चारित्राचारको कहते हैं। निश्चय सम्यग्चारित्रका वही स्वरूप है जो अपने ही शुद्ध आत्मस्वरूपमें उपयोगको जमा दिया जाय। यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र स्वरूप है। आत्माका अनुभव करते हुए तीनों गुणोंकी एकतामें परिणति जम जाती है वही साक्षात् मोक्षमार्ग है। ॐकारको नमस्कार किया जाता है क्योंकि उससे पांच परमेष्ठीमें गर्भित शुद्धात्माका संकेत होता है। उसी शुद्धात्माका अनुभव स्वानुभवमें होता है। शुद्धात्माका शुद्धात्मा रूप रहना यही अविनाशी पद है। यहां यह दिखलाया है कि श्रावकको

भी इस निश्चय सम्यग्चारित्रका अभ्यास करना चाहिये। सम्यग्दृष्टीका मुख्य कर्तव्य है कि निज आत्माकी भावना करे। यद्यपि यह आत्मा कर्मोंसे लिप्त अशुद्ध है तथापि इसको शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे कर्मोंसे अलग करके देख लेना चाहिये। जैसे विवेकी मानव रंगसे मिले पानीमें पानीको रंगसे भिन्न देखता है। तेली तिलोंमें भूसीसे भिन्न तैलको देखता है। धान्यमें चावल और छिलका मिला है तौभी पहचाननेवाला चावलको छिलकोंसे भिन्न देखता है। म्यानमें तलवार है उसे चांदीकी तलवार चांदीकी म्यान होनेके कारणसे कहते हैं तथापि समझदार चांदीकी म्यानको अलग और तलवारको अलग देखता है। उसी तरह भेद विज्ञानी सम्यग्दृष्टी महात्मा आत्माको अलग और कर्म प्रपंचको अलग देखता है। इस शुद्ध नयकी दृष्टिसे बुद्धिबलसे अपने आत्माको शुद्ध रूप ठहराकरके उसमें थिरता करना ही निश्चय सम्यग्चारित्र है, इसीका अभ्यास हितकारी है।

श्लोक—आचरणं त्रिविधं प्रोक्तं, सम्यक्तं संयमं ध्रुवं।
प्रथमं सम्यक्तचरणस्य, अस्थिरीभूतस्य संयमं ॥२५४॥
चारित्रं संयमं चरणं, शुद्ध तत्त्व निरीक्षणं।
आचरणं अवंध्यं दिष्टं, सार्थं शुद्ध दृष्टितं ॥२५५॥

अन्वयार्थ—(आचरणं द्विविधं प्रोक्तं) आचरण दो प्रकारका कहा गया है (सम्यक्तं संयमं ध्रुवं) एक सम्यक्त आचरण, दूसरा निश्चल संयम आचरण (प्रथमं अस्थिरीभूतस्य सम्यक्तचरणस्य संयमं) प्रथम जो सम्यक्त आचरण है वह श्रद्धानमें स्थिर होकरके भी चारित्र अपेक्षा चंचल रूप है। उस चंचलपनेको मेटकर स्थिर होना सो संयम है (संयमं चरणं चारित्रं) ऐसे संयम भावमें चर्या करना सो दूसरा संयम आचरण या सम्यग्चारित्र है। जहां (शुद्ध तत्त्व निरीक्षणं) शुद्ध आत्मीक तत्वका ही अनुभव होता है वही (आचरणं अवंध्यं दिष्टं) आचरण सफल देखा जाता है वही (सार्थं शुद्ध दृष्टितं) यथार्थ शुद्धात्माका दर्शन है।

विशेषार्थ—यहां निश्चयनयकी अपेक्षा लेकरके भी व्यवहारनयसे चारित्रके दो भेद बताये हैं—एक दर्शनाचरण, दूसरा संयमाचरण। मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई एक पदार्थ हूं, रागद्वेषादिसे

भिन्न हूं ऐसा जो श्रद्धान उसमें स्थिर होना सो सम्यक्दर्शनका आचरण है, अर्थात् अपने आत्माके स्वरूपको यथार्थ निश्चय, जिसमें कोई शंका न रहे, वही दर्शनाचार है। वह सम्यक्ती इस बातको जानता है कि मेरा आत्मद्रव्य पर्यायकी दृष्टिसे वर्तमानमें अशुद्ध होरहा है कर्म बन्ध सहित है तौ भी यह आत्मा अपने द्रव्य स्वभावकी अपेक्षासे शुद्ध है। इसका स्वभाव अनादिकालसे कर्मोंके साथ रहते हुए भी चला नहीं गया है। जैसे सोना दीर्घकालसे पाषाणसे मिला है, तौभी सुवर्णने अपना सुवर्णपना नहीं त्यागा वैसे निगोद पर्यायसे लेकर इस मनुष्य पर्यायमें आते हुए अनंतभव धारण करते हुए भी इस आत्माने अपना आत्मपना कभी ही नहीं त्यागा। ऐसे अपने सच्चे आत्म-स्वरूपका दृढ निश्चय रखना सो सम्यक्त आचरण है। यह स्वरूप स्थिरतारूप नहीं है, मात्र श्रद्धारूप है। जब उपयोग अनेक पदार्थोंसे हटकर इस निश्चय किये हुए अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपमें एकाग्र होजाता है तब संयमाचरण प्राप्त होजाता है। तब उपयोग मनके संकल्प विकल्पोंसे व इंद्रिय द्वारा जाननेके कार्यसे छूटकर अपने ही स्वामी उपयोगवान आत्मामें उसी तरह लय होजाता है जैसे निमककी डली खारे पानीमें लय होजाती है। शुद्धात्माके अनुभवमें स्थिरता पाना ही संयमाचरण है। यहीं शुद्धात्माका दर्शन होता है। यहीं आचरणकी सफलता प्राप्त होती है। यदि कोई बाहरी पांच अणुव्रत या महाव्रत पालता है-उपवास, व्रत, जप, तप करता है, घंटों आसन लगाता है, ऊनोदर आदि रस परित्यागादि तप करता है परंतु शुद्धात्मामें थिरता नहीं पाता है तो उसका आचरण सफल नहीं है। परंतु यदि अपने शुद्ध आत्माके अनुभवमें ठहर जावे तो वह चारित्र सफल है। जहां स्वरूपाचरण चारित्र है वहीं शुद्धात्मीक दृष्टि है। यही परम मंगलकारी है। यही कर्मोंके बंधको संहार करनेवाली है। यही वारवार आराधने योग्य है। यही धर्मध्यान है व यही शुक्लध्यानका नाम पाती है। तत्वानुशासनमें कहा है—

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादि रहितत्वतः। वितर्कास्तन्न पश्यंति ते ह्यविस्पष्टतर्कणाः ॥ १६६ ॥

उभयसिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियं। स्वसंवेदनं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यतां ॥ १६७ ॥

भावार्थ—यह शुद्धात्मा इंद्रिय ज्ञानसे नहीं देखा जासक्ता है क्योंकि इंद्रियें रूपी पदार्थको देखती हैं परन्तु यह आत्मा रूपादिसे रहित अमूर्तीक है। और न मनके वितर्क या विचार आत्माको

देख सके हैं। क्योंकि वे सर्व तर्कनाएं स्पष्ट व स्थिर नहीं हैं। जब इन्द्रिय ज्ञान व मनके संकल्प विकल्प दोनों रोक दिये जाते हैं तब विशेष स्पष्ट साफ साफ इंद्रिय रहित अतीन्द्रिय अपना स्वरूप जो अपनेसे ही अनुभव करने योग्य है अनुभवमें आता है। उसीको स्वानुभवके द्वारा ही अनुभव करना चाहिये, देखना चाहिये, यही यथार्थ सम्यक्चारित्र है, हरएक गृहस्थ श्रावकको अभ्यास करना योग्य है।

दानका स्वरूप।

श्लोक—पात्रं त्रिविधि जानंते, दानं तस्य सुभावना।
जिनरूपी उत्कृष्टं च, अव्रतं जघनं भवेत् ॥ २५६ ॥

अन्वयार्थ—(त्रिविधि पात्रं जानंते) पात्र तीन प्रकार जानने चाहिये (सुभावना तस्य दानं) शुभ भावोंसे उनको दान करना चाहिये (उत्कृष्टं च जिनरूपी) जो तीर्थंकरके समान नग्न दिगम्बर रूपके धारी निर्ग्रंथ मुनि हैं वे उत्कृष्ट पात्र हैं (अव्रतं जघनं भवेत्) जो व्रत रहित सम्यग्दृष्टी हैं वे जघन्य पात्र हैं।

विशेषार्थ—अब यहां यह बताते हैं कि गृहस्थोंको दान करना बहुत जरूरी है। गृहस्थोंका दान धर्म मार्गका चलानेवाला है। दानका लक्षण कहा है–"अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं" अपना और दूसरेका उपकार हो इसलिये अपने धनादिका त्याग करना सो दान है। अपना उपकार तो लोभका त्याग होना व मंद कषायसे पुण्यका लाभ होना है। व दान लेनेवाले पात्रका धर्म साधन व धर्ममें अनुराग बढता है। धर्मकी उन्नति गृहस्थोंके आधीन है। सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रके साधक तीन प्रकारके पात्र होते हैं, उनको भक्तिपूर्वक दान करना उचित है। उत्तम पात्र जिनरूपी हैं, अर्थात् निर्ग्रंथ साधु परिग्रह त्यागी हैं। जघन्य पात्र बाहरी प्रतिज्ञारूप बारहव्रत रहित सम्यग्दृष्टी हैं। मध्यम पात्र व्रत पालनेवाले श्रावक हैं। इनकी यथायोग्य भक्ति करके बहुत ही श्रद्धा व उत्साह पूर्ण भावोंसे आहारादिका दान करना चाहिये। दान देते हुए अपनेको धन्य मानना चाहिये। दातारका यह भाव रहना चाहिये कि मेरे निमित्तसे यदि धर्मात्माओंके धर्मसाधनमें स्थिरता न हुई तो मेरा धन निरर्थक है। मेरे गृहस्थपनेकी शोभा ही दानसे है। नित्य मुझे दान किये विना अन्न नहीं खाना चाहिये।

श्लोक—उत्तमं जिनरूवं च, जिन उक्तं समाचरति ।
ति अर्थ जोयते येन, ऊर्ध अर्ध च मध्यमं ॥ २५७ ॥

अन्वयार्थ—(उत्तमं जिनरूवं च) उत्तम पात्र जिनरूपी निर्ग्रंथ साधु हैं जो (जिन उक्तं समाचरति) जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञा प्रमाण चारित्रको पालते हैं (येन) जिसने (ति अर्थ जोयते) तीनों तत्व सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रको अनुभव किया है तथा जो (उर्ध अर्ध च मध्यमं) ऊर्ध्व लोक, अधोलोक व मध्यम लोकका स्वरूप जानते हैं ।

विशेषार्थ—यहां उत्तम पात्रका स्वरूप कहते हैं। मुनि महाराज उत्तम पात्र हैं । वे जिन आगमके अनुसार अपना चारित्र भलेप्रकार पालते हैं । पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्तिके पालक हैं तथा जो निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके स्वरूपको यथार्थ जान करके व्यवहार रत्नत्रयको यथा-योग्य साधन करते हुए निश्चय रत्नत्रय मई आत्मानुभवके अभ्यासी हैं । जिन्होंने श्रुतज्ञानके द्वारा तीन लोकका स्वरूप जाना है, छः द्रव्योंके गुणपर्यायोंको पहचाना है । सारसमुच्चयमें कहा है—

संगादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः । शांता दांतास्तपोभूषा मुक्तिकांक्षणतत्पराः ॥ १९६ ॥
मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणाः । वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापराः ॥ १९७ ॥
धृतिभावनया युक्ता शुभभावनयान्विताः । तत्वार्थाहितचेतस्कास्ते पात्रं दातुरुत्तमाः ॥ १९८ ॥

भावार्थ—जो परिग्रहादिसे रहित हैं, धीर हैं, रागादि मलोंसे वर्जित हैं, शांत हैं, इंद्रियदमन-शील हैं, तप आभूषणके धारी हैं, मोक्षकी भावनामें तत्पर हैं, मन वचन कायकी एकतामें लीन हैं, चारित्रवान हैं, ध्यानी हैं, दयावान हैं, धैर्यवान हैं, शुभ भावनाके कर्ता हैं, तत्वोंके भीतर जिनका चित्त लीन हैं वे ही उत्तम पात्र दातारके लिये दानयोग्य हैं ।

श्लोक—षट् कमलं त्रि ॐकारं, ध्यानं ध्यायति सदा बुधैः ।
पंचदीप्ति च विंदते, स्वात्मादर्शन दर्शनं ॥ २५८ ॥

अन्वयार्थ—(बुधैः सदा षट् कमलं त्रि ॐकारं ध्यानं ध्यायति) विद्वान उत्तम पात्र साधुओंके द्वारा सदा छः बीजाक्षर और तीन ॐको कमलमें स्थापित करके ध्यानका अभ्यास किया जाता है । (पंचदीप्ति

च विंदते) इसीसे वे पाचों ज्ञानोंका प्रकाश करते हैं तथा (स्वात्मादर्शन दर्शनं) अपने आत्माका दर्शन-रूपी दर्शनको प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ—यहां षट् कमल त्रिॐकारका कोई खुलासा नहीं है इसमें जैसा समझा वैसा हम पहले ही लिख चुके हैं कि एक कमल हृदयस्थानमें आठ पत्तेका विचार किया जाय। बीचमें ॐ लिखके फिर हर पांच पत्तेपर ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः लिखे। तीन पत्तोंपर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः ॐ सम्यक्चारित्राय नमः लिखे और क्रमशः नौ स्थानोंपर ध्यान जमावे और हरएकके द्वारा शुद्धात्माका स्वरूप विचार जावे व अपने आत्माकी तरफ आजावे अथवा ऐसा भी ध्यान किया जासक्ता है कि इसी आठ पत्तेके कमलके ऊपर बीचमें ॐ विराजमान करके पांच पत्तों पर णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं लिखें। फिर तीनों पत्तोंपर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः ॐ सम्यक्चारित्राय नमः लिखें। और हरएकको भिन्न२ कर स्वरूप विचार जावे। यह पदस्थ ध्यानका एक प्रकार है। इससे चित्तकी एकाग्रता होती है, संकल्प-विकल्प हटते हैं, तब ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम विशेष होता है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान बढता जाता है। इसी ध्यानके बलसे शुद्धात्माका अनुभव रूप आत्मदर्शन होने लगता है। उसके प्रतापसे साधुके अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञान तथा अंतमें केवलज्ञानका भी प्रकाश होजाता है। अरहंत पद पानेका उपाय मात्र आत्मध्यान है जिसे श्री मुनिगण ध्याते हैं वे ही उत्तम पात्र हैं।

श्लोक—अवधिं येन संपूर्ण, रिजु विपुलं च दिष्टते।
मनपर्यय केवलज्ञानं; जिनरूपं उत्तमं बुधैः ॥ २५९ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस उत्तम मुनि चारित्रके द्वारा (संपूर्ण अवधिं) परमावधि सर्वावधि ज्ञान (रिजु विपुलं च मनपर्यय) रिजु व विपुल मनःपर्यय ज्ञान (केवलज्ञानं दिष्टते) और केवलज्ञान प्रकाशित होता है वही (जिनरूपं) जिनेन्द्रका निर्ग्रंथ रूप (बुधैः) आचार्योंके द्वारा (उत्तमं) उत्तम कहा गया है।

विशेषार्थ—यहां उत्तम पात्र साधु महाराजकी महिमा बताई है कि यथार्थ रत्नत्रयके साधक आत्मध्यानी साधु आत्मध्यानके बलसे परमावधि सर्वावधि पूर्ण अवधिज्ञानको पा लेते हैं। दोनों

ही प्रकारके रिजुमति, विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानका प्रकाश कर लेते हैं और वही साधु सर्व ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय करके केवलज्ञानको जगा लेते हैं। ऐसे ही परम साधु गणधर देवादि आचार्योंके द्वारा उत्तम पात्र कहे गए हैं। उत्तम पात्र साधुओंके भी तीन भेद हैं-उत्तम, मध्यम, जघन्य। जो तीर्थंकर भगवान साधु अवस्थामें हैं वे उत्तममें उत्तम हैं। जो ऋद्धिधारी साधुसे लेकर चार ज्ञानके धारी तक हैं वे उत्तममें मध्यम पात्र हैं। जो इसके सिवाय मात्र साधन करनेवाले, निश्चय आत्मानन्दके विलासी परमात्मतत्वके रमणकर्ता हैं वे उत्तममें जघन्य हैं। इन उत्तम पात्रोंको गृहस्थोंके द्वारा दान दिया जाना मोक्षप्राप्तिमें उनके लिये परम सहायक है। साधुगण न स्वयं भोजन-पानका प्रबन्ध करते न कराते हैं न ऐसी भावना भी करते हैं कि कोई हमारे लिये प्रबन्ध करें। वे उस आहारको भी नहीं लेते हैं जो किसीने मुनिको देनेके निमित्त ही बनाया हो। इसमें उद्दिष्टका दोष है। गृहस्थने जो अपने लिये बनाया हो उसीमेंसे भक्तिपूर्वक दिये हुए आहारको जो लेते हैं वे नहीं चाहते कि उनके निमित्तसे कोई आरम्भ हो। क्योंकि आरम्भमें हिंसा थोडी बहुत अवश्य होती है। वे स्वनिमित्त हिंसा कराकर अहिंसा व्रतमें कमी करना नहीं चाहते हैं। इसीलिये विना संकेत किये भिक्षारूप कहीं भी निकल जाते हैं। वहां गृहस्थने यदि भक्तिपूर्वक लेजाकर कुछ भाग हाथोंमें रख दिया तो उसे भी बडे ही संतोष व समताभावसे लेकर संयमकी रक्षा विचार कर धर्म भावनामें निरत रहते हैं। मूलाचार अनगार भावनामें कहा है—

ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं ण वि य किंचि जायंति। मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता ॥ ५१ ॥

भावार्थ—मुनि महाराज न तो भोजनके लिये किसीकी स्तुति करते हैं न याचना करते हैं। मौनव्रतसे भिक्षाको जाते हैं, विना बोले हुए जो शुद्ध मिल गया उसे ही लेलेते हैं। यदि लाभ नहीं हुआ तो लौट आते हैं। और भी लिखा है—

पयणं व पायणं वा ण करेंति अ णेव ते करावेंति। पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण ॥ ५२ ॥

भावार्थ—वे साधु न स्वयं भोजन पचाते हैं न पचन कराते हैं, वे भोजन क्रियाके आरम्भसे विरक्त हैं, भिक्षामात्रसे संतोषी रहते हैं। ऐसे संतोषी साधुओंको भिक्षा देना परम धर्मकी रक्षा करना है, साधुओंको मोक्ष पहुंचानेका साधन करदेना है। इसलिए दातार गृहस्थ बड़ा भारी धर्मका

सहायक है। इन उत्तम पात्रोंको नवधाभक्तिसे दान करना चाहिए। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है-

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च। वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥ १६८ ॥

भावार्थ—१-संग्रह अर्थात् अत्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ, आहार पानी शुद्ध है ऐसा तीनवार कहकर यदि मुनि उधर भाव करें तो उनको आप आगे जाता हुआ भीतर ले जावे। २-फिर उच्च आसनपर पाट आदिपर विराजमान करे, ३ फिर शुद्ध जलसे किसी बर्तनमें उनके पग प्रच्छालन करे, ४ फिर आठ द्रव्योंसे पूर्ण पूजा या अर्घ देवे जैसा समय हो, ५ फिर उनको तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करे, ६ मनकी शुद्धि, ७ वचनकी शुद्धि, ८ कायकी शुद्धि, ९ व आहारकी शुद्धि रक्खे। इस नौ प्रकार विधिसे मुनि दान करना चाहिये। दातारमें सात गुण होना चाहिये—

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वं। अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥ ११२ ॥

भावार्थ—दातारके ये गुण हैं-१ इस लोकके किसी फलकी इच्छा न करे, २ क्षमाभाव रक्खे-उस समय किसीपर क्रोध न करे, ३ कपट रहित हो, ४ इर्षाभाव न करे, ५ विषाद न करे, ६ प्रसन्न रहे, ७ अहंकार न करे।

गृहस्थी स्वयं भी धर्मसाधक भोजन खाता है व वैसा ही निरोगी आहार मुनिको देता है। यहाँ बताया है कि ऐसा द्रव्य देना चाहिये—

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते। द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०॥

भावार्थ—ऐसा पदार्थ दानमें देना चाहिये जो रागद्वेष, असंयम दुःख, भय आदिको नहीं उत्पन्न करे तथा उत्तम तप व स्वाध्यायकी वृद्धिमें सहकारी हो। ऋतुके अनुसार सादा व पौष्टिक भोजन मुनिको देना उचित है। शुद्ध दूध, दाल-रोटी, चावल बहुत हितकारी है। प्रासुक फल भी योग्य हैं। गरिष्ट मिठाई आदि व पकवानादि न देना ही अच्छा है।

श्लोक—उत्कृष्टं श्रावकं येन, मध्यपात्रं च उच्यते।
मतिश्रुतज्ञान संपूर्ण, अवधी भावना कृतं ॥ २६० ॥

अन्वयार्थ—(येन श्रावकं उत्कृष्टं) जो भाई उत्कृष्ट श्रावक हैं उनको (मध्यपात्रं च उच्यते) मध्यम

पात्र कहा जाता है वे (मतिश्रुतज्ञान संपूर्ण) वे मति व श्रुतज्ञानसे पूर्ण होसक्ते हैं (अवधी भावना कृतं) तथा अवधिज्ञानकी भावना होती है।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट श्रावक दसमी व ग्यारमी प्रतिमाधारी होते हैं। दसमी प्रतिमावालेको अनुमति त्यागी श्रावक कहते हैं, ग्यारमी प्रतिमावालेको उद्दिष्ट त्यागी कहते हैं। यह भी अपने उद्देश्यसे किया हुआ आहार मुनिके समान नहीं लेते हैं। इस ११ मी प्रतिमाके दो भेद प्रसिद्ध हैं–एक क्षुल्लक, दूसरे ऐलक। क्षुल्लक एक खण्ड वस्त्र व लंगोटधारी होते हैं। मोर पिच्छिका व कमण्डल रखते हैं। पात्रमें बैठकर भोजन करते हैं। कई एक ही घरसे भिक्षा या भोजन करते हैं। कोई अपने भिक्षाके पात्रमें कई घरसे थोडा २ लेकर अंतिम घरमें बैठ भोजन करते हैं। ऐलकमें विशेषता यह है कि वे मात्र एक लंगोट रखते हैं, हाथोंसे केशोंका लोंच करते हैं व बैठकर एक ही घर भिक्षासे अपने हाथोंमें दिया हुआ भोजन करते हैं। मध्यम पात्र दर्शन प्रतिमासे लेकर उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक ११ प्रतिमावाले होते हैं। इनमें उत्तम १०मी व ११मी प्रतिमाधारी हैं। मध्यम सातमीसे नौमी तक होते हैं। पहलीसे छठी तक मध्यममें जघन्य हैं। कोई कोई तीर्थंकर जन्मसे मति श्रुत अवधिज्ञानी होकर श्रावकके व्रत धारते हैं, अन्य कोई मतिश्रुतज्ञानी होते हैं। यहां पूर्णसे भाव पूर्ण द्वादशांग वाणीसे नहीं है क्योंकि पूर्ण द्वादशांगके ज्ञाता श्रुतकेवली साधु होते हैं, परंतु श्रावक भी यथार्थ मति व श्रुतज्ञानके धारी होते हैं व शास्त्रोंके विशेष मर्मज्ञ होते हैं। प्रयोजन यह है कि शास्त्रका यथार्थ ज्ञान हुए विना श्रावकका चारित्र ठीक २ नहीं पल सक्ता है इसलिये श्रावकको मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी होना चाहिये। तथा उत्कृष्ट श्रावकको यथायोग्य भक्तिपूर्वक दान देना चाहिये। उनमेंसे ११ मी प्रतिमावालेको तो आहार पानी शुद्ध कह करके पडगाहना चाहिये व उच्च आसनपर बिठा पग प्रछालन करना चाहिये व यथायोग्य वन्दना करनी चाहिये, पूजन व अर्घ चढ़ानेकी जरूरत नहीं है। पूजन मात्र देव, गुरु, शास्त्रकी होती है। जो क्षुल्लक अनेक घर आहारी हैं उनको खंड खंड ही पात्रमें भोजन दिया जायगा। भोजन व मन, वचन, कायकी शुद्धि तो होनी ही चाहिए। १० मी प्रतिमावालेको भोजनके समय बुलाकर जिमाना चाहिए, शेष पहलेसे निमंत्रण मानसक्ते हैं।

श्लोक—आज्ञावेदक सम्यक्तं, उपशमं सार्धं ध्रुवं।
पदवी द्वितीय आचर्यं, मध्यपात्रं सदा बुधैः ॥ २६१ ॥

अन्वयार्थ—(आज्ञावेदक सम्यक्तं उपशमं ध्रुवं सार्धं) आज्ञा सम्यक्त, वेदक सम्यक्त, उपशम सम्यक्त तथा ध्रुव अर्थात् क्षायिक सम्यक्त सहित (पदवी द्वितीय आचर्यं) जो दूसरी श्रावककी पदवीका आचरण करते हैं उनको (बुधैः सदा मध्यपात्रं) आचार्योंने सदा ही मध्यमपात्र कहा है।

विशेषार्थ—यहां ऐसा अभिप्राय झलकता है कि मध्यम पात्रको सम्यग्दर्शन सहित श्रावकके व्रतोंका आचरण करना चाहिये। यदि वह एकदम मिथ्यात्वसे पांचवें गुणस्थानमें अनंतानुबंधी कषाय और अप्रत्याख्यानावरण कषायोंके उपशमके व मिथ्यात्वके उपशमसे आए तौ वह श्रावक उपशम सम्यक्त सहित होगा अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्ती उपशम श्रेणीसे गिरकर पांचवेंमें आवे तौभी उपशम सम्यक्त सहित श्रावक होगा। यदि वेदक सम्यक्त चौथे या पांचवेंमें प्राप्त करे या वेदक सहित छठेसे पीछे आवे तो वेदक सम्यक्त सहित श्रावक होगा। यदि क्षायिक सम्यक्त चौथे या पांचवेंमें प्राप्त करे या क्षायिक सम्यक्तवाला छठेसे पीछे आवे तो क्षायिक सम्यक्त सहित श्रावक होगा। यदि कोई जिनेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार तत्वोंका श्रद्धान करके श्रावकके व्रत पालने लगे तो उसको आज्ञा-सम्यक्त सहित श्रावक कहेंगे परन्तु वह यदि उपशम या वेदक या क्षायिक सम्यक्त सहित नहीं है तो वह निश्चयसे न सम्यक्दृष्टी है और न श्रावक पंचम गुणस्थानवर्ती है। किंतु उसको श्रावक चारित्र-वान निश्चय सम्यक्त रहित मानेंगे और व्यवहार सम्यक्तका धनी व व्यवहार चारित्रका धनी मानते हुए उसे कुपात्रोंमें गिनेंगे, परन्तु वह भी दानका पात्र होगा। जैन सिद्धांतमें कहा है कि जो सम्यक्त सहित चारित्रवान हैं वे सुपात्र हैं, जो निश्चय सम्यक्त रहित यथार्थ चारित्रवान हैं वे कुपात्र हैं। ये दोनों ही दान देनेके योग्य हैं। जिसका व्यवहार चारित्र दोनों ही ठीक न होंगे वह अपात्र है, दान देनेका पात्र नहीं है।

सुपात्र और कुपात्रमें व्यवहार चारित्रकी अपेक्षा कोई अंतर नहीं है, मात्र निश्चय सम्यक्त कुपात्रमें नहीं होता। ऐसा ही अमितगति श्रावकाचारमें कहा है—

चरति यश्चरणं परदुश्चरं, विकटघोरकुदर्शनवासितः। सकलसत्वहितोद्यतचेतनो वितथकर्कशवाक्यपरांमुखः ॥अ० १०-३४॥

धनकलत्रपरिग्रहनिस्पृहो नियमसंयमशीलविभूषितः। कृतकषायहृषीकाविनिर्जयः प्रणिगदंति कुपात्रमिमं बुधाः ॥३१॥

भावार्थ—जो कठिन चारित्रको पालते हैं, परन्तु विकट व भयानक मिथ्यादर्शन सहित हैं, सर्व प्राणी मात्रके हितमें उद्यमी हैं, झूठ और कठोर वचनके त्यागी हैं, धन, स्त्री परिग्रहसे ममता रहित हैं, नियम संयम शीलसे विभूषित हैं, कषायको घटानेवाले व इंद्रियोंके विजयी हैं ऐसोंको पंडितजन कुपात्र कहते हैं। ये दानके पात्र हैं। अपात्रका स्वरूप इसप्रकार है—

दृढकुटुम्बपरिग्रहपञ्जरः, प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः। गुरुकषायभुजंगमसेवितं, विषयलोलमपात्रमुशंति तम् ॥ ३८ ॥

भावार्थ—जो इस कुटुम्ब या परिग्रहके पींजरेमें बंद है, शांति शील गुण व व्रतसे रहित है, तीव्र कषायरूपी सर्पसे सेवित है, विषयोंका लोलुपी है, उसको अपात्र कहते हैं।

सुपात्र या कुपात्रको दान—

पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टिः प्रयच्छति। स याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदयः ॥ ६२–११ ॥

कुपात्रदानतो याति कुत्सितां भोगमेदिनीम्। उप्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते ॥ ८४ ॥

येऽतरद्वीपजाः संति ये नरा म्लेच्छखंडजाः। कुपात्रदानतः सर्वे ते भवंति यथायथम् ॥ ८५ ॥

वर्यमध्यजघन्यासु तिर्यंचः संति भूमिषु। कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुंजते तेऽखिलाः फलम् ॥ ८६ ॥

दासीदासद्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये। कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम् ॥ ८७–११ ॥

भावार्थ—मिथ्यादृष्टी यदि उत्तम सुपात्रोंको दान दे तो उत्तम भोगभूमिमें मानव होवें। कुपात्र दानसे कुभोग भूमिमें पैदा हो। जैसे खोटे क्षेत्रमें बोए बीजका फल सुक्षेत्रमें बोऐ बीजके समान कैसे होसक्ता है? कुपात्र दानसे उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमिमें तिर्यंच पैदा होता है। अपात्रको दान देना ठीक नहीं, निर्फल है। कहा है—

अपात्राय धनं दत्ते व्यर्थं संपद्यतेऽखिलं। ज्वलिते पावके क्षिप्तं बीजं कुत्रांकुरीयति ॥ ८९ ॥

भावार्थ—अपात्रको दिया धनादि सो सब व्यर्थ जाता है जैसे जलती आगमें डाला हुआ हुआ बीज कभी उग नहीं सक्ता है।

श्लोक—ॐ वंकारं च वेदंते, ह्रींकारं श्रुत उच्यते।
अचक्षुदर्शन जोयंते, मध्यपात्रं सदा बुधैः ॥ २६२ ॥

अन्वयार्थ—(ॐ वंकारं च वेदंते) जो श्रावक ॐकारका अनुभव करते हैं (ह्रींकारं श्रुत उच्यते) व ह्रीं बीजाक्षरका उच्चारण करते हैं (अचक्षुदर्शन जोयंते) अचक्षुदर्शनद्वारा आत्माको देखते हैं (सदा बुधैः मध्यपात्रं) उनको ही आचार्योंने सदा मध्यम पात्र कहा है।

विशेषार्थ—मध्यम पात्र श्रावक भी ॐका ध्यान करके पांच परमेष्ठीके स्वरूपका चिंतवन करके उसके द्वारा अपने शुद्धात्मापर उपयोग लेजाते हैं तथा वे ह्रींका भी अंतरंगमें जप करते हैं व उसका ध्यान करते हैं व इसके द्वारा चौवीस तीर्थंकरोंका स्वरूप विचारते हैं, फिर उनके द्वारा अपने शुद्धात्मापर उपयोग लेजाते हैं। तथा मन द्वारा अचक्षु दर्शनका प्रयोग करके निर्विकल्प आत्माका दर्शन करते हैं। मनका विषय आत्मा है, मन द्वारा अचक्षु दर्शन अमूर्तीक आत्मापर उपयोग लेजासक्ता है। इस तरह जो आत्माके प्रेमी, आत्मध्यानी व शुद्धात्माके अनुभवशील होते हैं वे ही मध्यम पात्र कहे गए हैं।

श्लोक—प्रतिमा एकादशं येन, व्रतं पंच अणुव्रतं ।
सार्द्धं शुद्धतत्वार्थं, धर्मध्यानं च जोइतं ॥ २६३ ॥

अन्वयार्थ—(येन एकादशं प्रतिमा) जो ग्यारह प्रतिमाओंको पालते हैं (पंच अणुव्रतं व्रतं) पांच अणुव्रत व उनके सहकारी तीन गुण व्रत व चार शिक्षाव्रतोंको पालते हैं (शुद्ध तत्वार्थं सार्द्धं) शुद्ध तत्वके अनुभव करनेवाले हैं (धर्मध्यानं च जोइतं) और धर्मध्यानका अभ्यास करते हैं, वे मध्यम पात्र हैं।

विशेषार्थ—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रि भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग ये ग्यारह प्रतिमाएँ हैं। इनका स्वरूप इस ग्रन्थमें आगे कहा है। मध्यम श्रावक इस श्रेणियोंके द्वारा चारित्रकी उन्नति करते हैं। तथा बारह व्रतोंको उत्तरोत्तर बढाते जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व परिग्रह प्रमाण इन पांच अणुव्रतोंको पालते हैं। दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंड त्याग व्रत इन तीन गुण व्रतोंको पालते हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथिसंविभाग इन चार शिक्षाव्रतोंको पालते हैं। बाहरी चारित्र इसतरह पालते हुए शुद्ध आत्मिक तत्वका अनुभव किया करते हैं। उनकी मुख्य दृष्टि अपने आत्मीक विचारपर रहती है। इसी हेतु ये सब श्रावक धर्मध्यानका अभ्यास भले-

प्रकार करते रहते हैं। श्रावकोंकी अंतरंग भावना मोक्ष प्राप्तिकी रहती है, इससे यही चाहते हैं कि कब हम मुनि व्रतके योग्य होजावें जो ध्यानकी विशेष वृद्धि कर सकें। इन ग्यारह प्रतिमाओंमें आगे२ चारित्रकी वृद्धि होती जाती है। दूसरी प्रतिमावाला पहलीके नियमोंको व तीसरीवाला दूसरीके नियमोंको पालता रहता है। आगे२ उन्नति करता जाता है। ये ११ श्रेणिया श्रावकाचारकी क्रमशः वृद्धिके लिये बहुत ही उपयोगी हैं।

श्लोक—अव्रतं त्रितियं पात्रं, देवशास्त्र गुरु मान्यते।
सद्दहति शुद्ध सम्यक्तं, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ २६४ ॥

अन्वयार्थ—(त्रितियं पात्रं अव्रतं) तीसरा जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टी है जो (देव शास्त्र गुरु मान्यते) यथार्थ देव शास्त्र गुरुमें दृढ श्रद्धा रखता है। व (शुद्ध सम्यक्तं ज्ञानमयं ध्रुवं सार्थं सद्दहति) जो ज्ञानमय निश्चल यथार्थ तत्वके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शनकी श्रद्धा रखता है।

विशेषार्थ—जघन्य पात्र वह है जिसके नियमसे अणुव्रत तो नहीं है परन्तु व्रतोंके धारणकी तीव्र भावना है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे अतीचार रहित व्रत नहीं पाल सक्ता है तथापि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य सहित होता है। अर्थात् इसके परिणामोंमें आकुलता व अन्ध कषायपना नहीं रहता है। आत्माका पक्का श्रद्धान होनेसे उसके भीतर शांति झलका करती है। जिसके भीतर संवेग भाव होता है अर्थात् जो संसार शरीर भोगोंसे दृढ वैराग्यवान होता हुआ धर्मसे परम प्रीति रखता है—अनुकम्पा भावके कारण वह सर्व प्राणी मात्रपर दया रखता है। दुःखियोंको दुःखी देखकर उसका हृदय कम्पायमान होजाता है। यथाशक्ति वह दुःख दूर करनेका प्रयत्न करता है, कराता है, व दुःखीका दुःख मिट जानेपर हर्ष मानता है। आस्तिक्यभाव तो ऐसा है कि उसे अपने आत्माके ऊपर पूर्ण विश्वास होता है, परलोकका श्रद्धान होता है, कर्मके बंध व उसकी मुक्तिके ऊपर विश्वास रखता है, सच्चे वीतराग सर्वज्ञ भगवान अर्हंत सिद्ध भगवानको देव मानता है, परिग्रह त्यागी निर्ग्रंथ साधुको गुरु मानता है तथा जिनप्रणीत अहिंसा धर्मको धर्म मानता है व जिनवाणीको अनेकांत वस्तु स्वरूप प्रकाशक शास्त्र मानता है। उसका

सम्यक्तभाव निर्मल होता है। वह शुद्धात्माको पहचानता है तथा शुद्धात्माका अनुभव करता है। यह तीसरा पात्र भी मोक्षमार्गी है व दान देने योग्य है।

श्लोक—शुद्धदृष्टि च सम्पूर्ण, मलमुक्तं शुद्ध भावना।
मति कमलासने कंठे, कुज्ञानं त्रिविधि मुक्तयं ॥ २६५ ॥

अन्वयार्थ—(सम्पूर्ण शुद्धदृष्टी च) यह अविरत सम्यग्दृष्टी पूर्ण शुद्ध आत्माका श्रद्धावान होता है (मलमुक्तं) अतीचार रहित होता है (शुद्ध भावना) शुद्ध आत्माकी भावना करता रहता है (कण्ठे कमलासनं) कण्ठमें कमलको विराजमान करके (मति) बुद्धि स्वरूप ॐको ध्याता है (त्रिविधि कुज्ञानं मुक्तयं) तीन कुज्ञान रहित होता है।

विशेषार्थ—यह जघन्य पात्र शुद्धात्मापर पूर्ण विश्वास रखता हुआ उसी शुद्ध आत्माके स्वरूपकी भावना भाता है। अपने कण्ठमें कमल विराजमान करके उसमें ॐ स्थापित करके ॐके द्वारा परमात्माका ध्यान करता है। इसके कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान नहीं होते हैं। यह पांच अतीचारोंको बचाकर निर्मल सम्यक्त पालता है।

वे पांच अतीचार हैं-शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तव।

शंका-जिनधर्मके प्रयोजनभूत सात तत्वोंमें दृढ़ श्रद्धा रखता हुआ उनमें शंका नहीं लाता है। यदि शास्त्रोंमें कही हुई कोई बात समझमें नहीं आती है तो अपनी समझकी कमी समझता है व विशेष ज्ञानियोंसे समझनेकी चेष्टा करता है। उसके ऊपर मिथ्या श्रद्धा नहीं रखता है। तथा वह सात प्रकारका भय नहीं रखता है। इसलोक भय-ये जगतके लोग मेरा बिगाड़ करेंगे व मुझे हंसेंगे, २-परलोक भय-परलोकमें बुरी गतिमें जाऊंगा तो क्या होगा, ३-रोग भय-रोग होजायगा तो मैं क्या करूंगा, ४-अनरक्षा भय-मेरा कोई रक्षक नहीं है, कैसे मेरे प्राण बचेंगे, ५-अगुप्त भय-मेरा माल कोई चुरा लेगा तो मैं क्या करूंगा। ६-मरण भय-यदि मर जाऊंगा तो सब कुछ छूट जायगा इससे न मरूं तो ठीक, ७-अकस्मात् भय-कहीं मकान न गिर पड़े, भूचाल न आजावे, ऐसा होगा तो क्या करूंगा। इस तरह सात तरहका भय सम्यक्ती नहीं रखता है। यथायोग्य हर

प्रकारकी सम्हाल रखता हुआ निर्भय सिपाहीके समान संसारके युद्धक्षेत्रमें कर्मोंसे लड़ाई करता है, शंका दोषसे दूर रहता है।

कांक्षा—संसारके क्षणिक विषयभोगोंकी इच्छा नहीं रखता है। इन भोगोंको अतृप्तिकारी विनाशीक व हेय समझता है, इनकी इच्छा करके धर्मका सेवन नहीं करता है, केवल सुखका अभिलाषी होता है।

विचिकित्सा—किसीको रोगी, दुःखी, दलिद्री, गरीब देखकर घृणा नहीं करता है, वस्तु-स्वरूप विचारकर-दया लाकर उनकी सहायता करता है।

अन्यदृष्टि प्रशंसा—मिथ्यादृष्टी अज्ञानी अधर्मको धर्म जानकर जो क्रिया करें-पूजा, भक्ति, जप, तप, दान करें उसकी मनमें प्रशंसा नहीं करता है क्योंकि उनमें मिथ्यात्वका आशय है, जिस आशयको त्यागना चाहिये। इस आशयसे किया हुआ धर्म कर्म प्रशंसनीय नहीं होसक्ता है।

अन्यदृष्टि संस्तव—अपने वचनोंसे भी सम्यक्ती मिथ्यात्व धर्मक्रियाकी प्रशंसा नहीं करता है क्योंकि वह मिथ्या अभिप्रायको पुष्ट करनेवाली होजायगी। इस तरह पांच अतीचारोंको टाल-कर सम्यक्त भावको निर्मल रखता है।

नोट—यहां 'मति कमलासने' का जो अर्थ समझमें आया सो लिखा है।

श्लोक—मिथ्या त्रिविधि न दिष्टंते, शल्यत्रय निरोधनं।
सुयं च शुद्ध द्रव्यार्थं, अविरत सम्यग्दृष्टितं ॥ २६६ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्या त्रिविधि न दिष्टंते) उस आविरत सम्यक्तीमें तीन प्रकार मिथ्यात्वभाव नहीं दिखलाई पडता है। (शल्यत्रय निरोधनं) उसने तीन प्रकार शल्यको निकाल डाला है। (सुयं च शुद्ध द्रव्यार्थं) श्रुतज्ञानी है व शुद्ध द्रव्यार्थिक नयको समझता है ऐसा (अविरत सम्यग्दृष्टितं) यह अविरत सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ—इस सम्यक्तीके भीतर तीन प्रकारका मिथ्यात्व नहीं होता है-मिथ्यात्व, सम्य-ग्मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति मिथ्यात्व, क्योंकि इसने इन तीन कर्मकी प्रकृतियोंका उपशम या क्षय कर डाला है।

तत्वोंको औरका और समझना मिथ्यात्व है-मिथ्या और सत्य दोनों तत्वोंपर मिश्र श्रद्धा रखना सम्यग्मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन रखते हुए भी उसमें चल, मल, अगाढ तीन प्रकार दोष लगाना निर्मल सम्यक्तका न होना सो सम्यक्त प्रकृतिका भाव है। ये तीनों दोष इस जघन्य पात्रमें नहीं होते न उसमें माया, मिथ्या, निदान तीन शल्य होती हैं। वह सम्यक्ती कपट रहित, श्रद्धा सहित व आगामी भोगाभिलाष रहित धर्म पालता है, शास्त्रज्ञानका प्रेमी होता है-शास्त्रोंके मर्मको समझता है तथा शुद्ध द्रव्यार्थिक नयपर विशेष लक्ष्य रखता है क्योंकि इस नयसे हरएक शरीरमें आत्माका पवित्र शुद्ध दर्शन होता है। ऐसा अविरत सम्यक्ती मोक्षका पात्र है।

श्लोक—त्रिविधि पात्रं च दानं च, भावना चिंत्यते बुधैः।
शुद्धदृष्टिरतो जीवः, अठावन लक्ष त्यक्तयं ॥ २६७ ॥
नीच इतर अप तेजं च, वायु पृथ्वि वनस्पती।
विकलत्रयं च योनी च, अठावन लक्ष त्यक्तयं ॥ २६८ ॥

अन्वयार्थ—(बुधैः) बुद्धिमान लोग (त्रिविधि पात्रं च दानं च भावना चिंत्यते) तीन प्रकारके पात्रोंको दानकी भावना विचारते रहते हैं। ऐसा दानी (शुद्धदृष्टिरतः जीवः) जो जीव शुद्ध आत्मीक श्रद्धामें लवलीन है, सम्यग्दृष्टी है, वह (अठावन लक्ष त्यक्तयं) ८४ लाखमेंसे ५८ लाख योनियोंमें जन्म लेता है। (नीच) नित्य निगोद (इतर) इतर निगोद, (अपतेजं च वायु पृथ्वि वनस्पति) जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, पृथ्वीकायिक तथा वनस्पती कायिककी तथा (विकलत्रय च योनी च) द्वेन्द्रिय, तेंद्रिय, चौन्द्रियकी योनि। (अठावन लक्ष त्यक्तयं) इस तरह अठावन लाख योनियोंसे बचा रहता है।

विशेषार्थ—जो सम्यग्दृष्टी शुद्ध आत्माका अनुभवी बुद्धिवान प्राणी है वह अति भक्तिपूर्वक बडी श्रद्धासे उत्तम, मध्यम, जघन्य इन तीन प्रकारके पात्रोंको दान देता है। निरन्तर भावना भाता है कि मैं दान दूं। जब अवसर पाता है दान देनेसे चूकता नहीं है। श्रद्धावान जैनियोंको जो गृहस्थ हैं व अविरति हैं उनको भी मोक्षमार्गी समझकर आदरसे बुलाकर दान करता है। दान करना श्रावकका मुख्य कर्तव्य है। दानसे दातार व पात्र दोनोंके भाव प्रफुल्लित होजाते हैं। दान

धर्मके भावोंको बढानेवाला है। वास्तवमें पात्रोंको दान देना है वह रत्नत्रय धर्मकी प्रतिष्ठा करना है। जो गृहस्थ सम्यक्ती है व दानी है वह कभी ८४ लाखमेंसे ५८ लाख योनियोंमें पैदा नहीं होता है। ५८ लाखका वर्णन इस भांति है—

नित्य निगोद साधारण वनास्पतिकायिक				....	....७ लाख
इतर निगोद साधारण वनास्पतिकायिक				....	....७ ,,
पृथ्वी कायिक	७ लाख	जल कायिक	७ लाख	अग्नि कायिक	७ ,,
वायु कायिक	७ ,,	प्रत्येक वनस्पतिकायिक	१० ,,	द्वेन्द्रिय प्राणी	२ ,,
तेन्द्रिय प्राणी	२ ,,	चौन्द्रिय प्राणी	२ ,,	कुल	५८ लाख

इससे सिद्ध हुआ कि सम्यक्ती कभी एकेन्द्रियसे चौन्द्रिय तककी किसी पर्यायमें जन्म नहीं लेता है। पराधीन व अज्ञानमई पर्यायोंसे तो छूट जाता है। सम्यक्त अवस्थामें यदि आयु बाधे तो मनुष्य या यदि पशु हो तो देव आयु बांधेगा व देव या नारकी होगा तो मानव आयु बांधेगा, परंतु जो सम्यक्त होनेके पहले नरक, तिर्यंच, मानव आयु बांध ली हो तो मानव या तिर्यंचको भी नारक, तिर्यंच या मानव पंचेंद्रिय जन्मना होता है। इसलिये ८४ लाखमेंसे पंचेंद्रियकी योनियां जो २६ लाख हैं उनको यहां नहीं गिनाया है। वे २६ लाख हैं—

पंचेंद्रिय तिर्यंच	४ लाख	नारकी	४ लाख
देव	४ लाख	मानव	१४ लाख
कुल	२६ लाख		

कुल ५८+२६=८४ लाख योनियां होती हैं। वास्तवमें सम्यक्तकी बड़ी अपूर्व महिमा है।

श्लोक—शुद्धसम्यक्त संयुक्ताः, शुद्ध तत्व प्रकाशकाः।
ते नरा दुःखहीना स्युः, पात्रदानरता सदा ॥ २६९ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध सम्यक्त संयुक्ताः) जो शुद्ध सम्यक्तके धारी हैं (शुद्ध तत्व प्रकाशकाः) व शुद्ध आत्मीक तत्वके प्रकाशक हैं। व (सदा पात्रदानरताः) सदा पात्रोंको दान देनेमें रत हैं (ते नरा दुःखहीना स्युः) वे मानव दुःखोंसे छूट जाते हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके धारी जो व्रत रहित भी हैं, परन्तु शुद्धात्मीक तत्वके अनुभव करनेवाले हैं तथा नित्य ही पात्रोंको दान देते रहते हैं वे पुण्यको बांधकर उत्तम गतिमें जाते हैं-वे कभी दुःखोंसे भरी गतियोंमें नहीं जाते हैं। मिथ्यादृष्टी यदि पात्र दान करे तो भोगभूमिमें जाता है तब यदि सम्यग्दृष्टी दान करे तो वह तो स्वर्ग हीको प्राप्त होगा। वहांपर भी नीच जातिका देव नहीं होगा। सम्यक्तके धारी जीवोंके सदा ही परिणामोंमें विशुद्धता रहती है। अंतरंगमें किसीसे अति द्वेषपूर्ण भाव नहीं करता है। यदि कदाचित् वैरभाव होता भी है तो वह उस वैरीके कृत्य मात्रसे होता है। सम्यक्ती उसकी आत्माका तो हित ही चाहता है।

रत्नकरंडश्रावकाचारमें कहा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि। दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥

ओजस्तेजो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः। महाकुलाः महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जिनके सम्यग्दर्शन शुद्ध है वे नारकी, पशु, नपुंसक, स्त्री, नीच कुल, विकलांगी, अल्पायु, दलिद्री नहीं होते हैं। व्रत रहित हैं तौभी खोटी अवस्था नहीं पाते हैं। वे दीप्तवान, तेजस्वी, विद्वान, वीर्यवान, यशस्वी, विजयी, सम्पत्तिके धारी, उन्नतिशील, महा कुलवान, महान कार्य करनेवाले पुरुषश्रेष्ठ होते हैं। सम्यग्दर्शनकी शुद्धता परमोपकारिणी है।

श्लोक—पात्रदानं च चत्वारि, ज्ञानं आहार भेषजं।
अभयं च भयं नास्ति, दानं पात्र सदा बुधैः ॥ २७० ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं च चत्वारि) पात्र दान चार प्रकारका होता है (ज्ञानं आहार भेषजं अभयं च) ज्ञान दान, आहार दान, औषधि दान, तथा अभय दान (सदा बुधैः पात्रदानं) बुद्धिमान सदा पात्रोंको दान दिया करते हैं इससे उनको (भयं नास्ति) भय नहीं होता है, वे निर्भय रहते हैं।

विशेषार्थ—पात्रोंके दो भेद कहे गए हैं जो दान देने योग्य हैं-एक सुपात्र व कुपात्र। यदि कुपात्रोंको भी दान होजावे तो कुभोगभूमिका फल होता है तब पात्रदानकी तो महिमा ही क्या कही जासक्ती है। ज्ञानी गृहस्थ निरन्तर धर्मके तीन प्रकार पात्रोंको दान दिया करते हैं। जैन सिद्धांतमें चार ही दान मुख्य हैं। ये ही सच्चे दान हैं। ज्ञान दान अर्थात् ज्ञान सिखाना, शास्त्रोंको देना, शास्त्र

प्रकाश करना, विद्यालय स्थापन करना, छात्रोंको सहाय करना, विद्वतापूर्ण भाषण देना, मिथ्यात्वभाव हटाकर सम्यक्तकी प्राप्ति कराना, उत्तम पात्रोंको शास्त्र भेट करना, मध्यम पात्रोंको भी शास्त्र देना। यदि विद्याकी कमी हो तो विद्याके साधन जोड देना। जघन्य पात्रोंको भी शास्त्र देना। व उनकी ज्ञान वृद्धिका उपाय कर देना।

२-आहारदान—तीनों पात्रोंको यथायोग्य भक्ति करके भोजन कराना। यह धर्मकी वृद्धि व शरीरकी स्थिरताका कारण है।

३-औषधिदान—पात्रोंको रोगग्रस्त जानकर रोग मेटनेके लिये औषधिका दान करना, औषधालय खुलवाना, शुद्ध प्रासुक दवा बटवाना, रोगियोंकी टहल चाकरी करना।

४-अभयदान—पात्रोंको आश्रय देना, निर्भय करना, योग्य स्थान बताना, उनके ऊपर संकट पड़ें तो निवारण करना। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें भी चार दान यही कहे हैं—

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन। वैय्यावृत्त्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥ ११७ ॥

भावार्थ—अरहंत भगवानने चार तरहसे पात्रोंकी सेवा करनेको कहा है। आहार देकर, औषधि देकर, उपकरण अर्थात् शास्त्र देकर व आवास अर्थात् निर्भय आश्रय स्थान देकर। श्री अमितगति श्रावकाचारमें नवम परिच्छेदमें कहा है—

अभयान्नौषधिज्ञानभेदश्चतुर्विधम्। दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८१ ॥

भावार्थ—ज्ञानियोंने प्राणियोंके उपकार करनेवाले चार ही दान कहे हैं-अभयदान, अन्नदान, औषधिदान तथा ज्ञानदान।

न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः। न च पात्रं गृहीताऽस्य जिनानामिति शासनं ॥ ७९ ॥

भावार्थ—सुवर्ण आदिक नहीं देना चाहिये। न दाता सच्चा दातार है न लेनेवाला सच्चा पात्र है ऐसी श्री जिनेन्द्रोंकी आज्ञा है। कन्यादान भी दान नहीं है। वहीं कहा है—

या धर्मवनकुठारी पातकवसतिरतपोदया चौरी। वैरायासासूया, विषादशोकश्रमक्षोणी ॥ ९७ ॥

यस्यां सक्ता जीवा दुःखतमान्नोत्तरंति भवजलधेः। कः कन्यायां तस्यां दत्तायां विद्यते धर्मः ॥ ९८ ॥

भावार्थ—जो कन्या धर्मवन काटनेको कुल्हारी समान, पापकी वसती, तप व दयाकी चोर, वैर, उद्यम, ईर्षा, विषाद, शोक, खेदकी भूमिका जननी है जिस कन्यामें आसक्त जीव दुःखमई

संसारसागरसे पार नहीं होसक्के हैं, उन कन्याके देनेमें कौनसा धर्म होता है ? अर्थात् कन्यादान धर्म नहीं है।

दयापूर्वक प्राणीमात्रको चार प्रकारका दान करना यह करुणादान है। सम्यक्ती गृहस्थ सदा कृपालु होता है, जगत मात्रको उपकारी होता है, दुखित, भुखित, रोगी, अविद्याग्रसित व आश्रय रहितको निरंतर चार दानोंसे संतोषित करता है, पशु पक्षी आदिकी भी दानसे सेवा करता है।

श्लोक—ज्ञानदानं च ज्ञानं च, आहारं दान आहारयं।
अबाध्यं भेषजश्चैव, अभयं अभयदानयं ॥ २७१ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानदानं च ज्ञानं च) ज्ञान दान करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है (आहारं दान आहारयं) आहारदानसे आहारकी कमी नहीं रहती है (भेषजश्चैव अबाध्यं) तथा औषधि दानसे शरीरमें व्याधि नहीं होती है (अभयदानयं अभयं) अभयदानसे भय नहीं प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—यहां चारों दानोंके फल बताए हुए हैं। जो ज्ञान दान देते हैं, पात्रोंके ज्ञानकी वृद्धि चाहते हैं उनको स्वयं ज्ञानावरणीय कर्मका विशेष क्षयोपशम होता है। वे यहां भी तथा परलोकमें भी ज्ञानी होते हैं। व थोडे ही प्रयासमें ज्ञानवान विद्वान होजाते हैं। जो आहारदान देते हैं वे अटूट पुण्य बांधते हैं, यहां भी अन्नसे दुःखी नहीं रहते हैं व परलोकमें ऋद्धिधारी देव व धनशाली मानव होते हैं, औषधिदान करनेसे ऐसे पुण्य बांधते हैं जिससे भविष्यमें निरोग सुन्दर शरीर होता है। व अभयदान करनेसे सदा निर्भयताका साधन मिलता है, आश्रयहीन कभी नहीं होते हैं, वे सुन्दर आवास व रक्षकोंके मध्यमें रहते हैं। ये चार दान अटूट पुण्यको बांध देते हैं।

अमितगति श्रावकाचारमें एकादश परिच्छेदमें कहा है—

यत्किंचित्सुन्दरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये। तदन्नदायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽखिलम् ॥ ३० ॥
वातपित्तकफोत्थानैः रोगैरेष न पीड्यते। दावैरिव जलस्थायी भेषजं येन दीयते ॥ ३४ ॥
शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम्। वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्यातशिक्षः प्रजायते ॥ ९० ॥
विचित्ररत्ननिर्माणः प्रोत्तुंगो बहुभूमिकः। लभ्यते वासदानेन वासश्चंद्रकरोज्ज्वलः ॥ ९१ ॥

भावार्थ—जो तीन लोकमें सुन्दर वस्तु है सो सब आहारदानीको शीघ्र प्राप्त होती है। जो

औषधि दान करता है वह वात, पित्त, कफसे होनेवाले रोगोंसे पीडित नहीं होता है, जैसे जलमें रहनेवाला अग्निसे पीडित नहीं होता। जो शास्त्र देता है वह सज्जनोंमें पूज्य, पंडितोंसे सेवनीय, वादीको जीतनेवाला, वक्ता, कवि, मान्य और प्रसिद्ध शिक्षक होता है। जो वस्तिका देता है वह विचित्र रत्नोंसे बना हुआ ऊंचा बहुत खणवाला चन्द्रमाके समान उज्वल महल पाते हैं।

श्लोक—पात्रदानं च शुद्धं च, कर्म क्षिपति सदा बुधैः।
जे नरा दान चिंतंते, अविरत सम्यग्दृष्टितं ॥ २७२ ॥

अन्वयार्थ—(सदा बुधैः शुद्धं च पात्र दानं) सदा बुद्धिमानोंके द्वारा दिया हुआ शुद्ध पात्र दान (कर्म क्षिपति) कर्मोंको क्षय करता है (जे नरा दान चिंतंते) जो मानव दानकी भावना भाते हैं वे ही (अविरत सम्यग्दृष्टितं) अविरत सम्यग्दृष्टी सामान्य गृहस्थ श्रावक हैं।

विशेषार्थ—जो ज्ञानी वीतरागभावसे मात्र दान करते हैं, पात्रोंके आत्मीक गुणोंमें प्रीति रखते हैं। उनके शुद्धात्मीक भावनारूप निश्चय रत्नत्रयकी भावना दृढ रहे ऐसी भावना मनमें रखकर दान करते हैं व दान देते हुए व देखते हुए पात्रके अंतरंग गुणोंके प्रेमालु होते हुए संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यकी भावना भाते हैं, उनके परिणामोंकी बहुत निर्मलता होजाती है। उन भावोंसे वे अपने बहुतसे पापकर्म क्षय कर डालते हैं व जितना अंश उन भावोंमें मंद कषायरूप शुभ राग होता है उनसे वे अतिशयकारी पुण्यकर्म बांध लेते हैं। दान यद्यपि शुभ कार्य है परन्तु सम्यग्दृष्टी ज्ञानी गृहस्थके लिये मोक्षमार्ग रूप होजाता है वह ज्ञानी दानके द्वारा भी शुद्धातमाकी भावना कर लेता है। पात्रोंको दान देना रत्नत्रयके पालनमें उत्साह बढानेवाला है। इसीलिये सम्यग्दृष्टी निरंतर पात्र दान करनेकी चिन्ता करता रहता है और जब अवसर पाता है, दान करके अपने जन्मको सफल मानता है।

श्लोक—पात्रदानं वट बीजं, धरणी वर्द्धति जेतवा।
ज्ञानं वर्द्धति दानं च, दान चिंता सदा बुधैः ॥ २७३ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं) पात्रोंको दिया हुआ दान (धरणी वट बीजं जेतवा वर्द्धति) पृथ्वीमें बोए हुए

वर्गतके बीजके समान बहुत भारी फलता है (दानं च ज्ञानं वर्द्धंति) ज्ञान दान ज्ञानको बढाता है (बुधैः सदा दान चिंता) बुद्धिमानोंको सदा दान करनेको उत्साह रखना चाहिये।

विशेषार्थ—जैसे बर्गतका बीज बहुत छोटा होता है, परन्तु पृथ्वीमें बोए जानेपर बडा भारी वृक्ष होकर फलता है, तैसे पात्रोंको दिया हुआ दान बहुत भारी फल देता है। जो ज्ञान दान करते हैं उनका ज्ञान बढते २ केवलज्ञानरूप होसक्ता है। जो आहारदान करते हैं वे भविष्यमें विपुल धनशाली होते हैं, जो औषधि दान करते हैं वे बडे बलिष्ठ, वीर्यवान, साहसी मानव होते हैं। जो अभयदान करते हैं वे कभी किसी शत्रु द्वारा भयको प्राप्त नहीं होते हैं। केवलज्ञानके समान और कोई फल नहीं है। जो दान अरहंत पदमें सहकारी है उस दान देनेकी भावना बुद्धिमान सदा करते रहते हैं। गृहस्थोंके घरकी शोभा ही पात्र दानसे है। जो लक्ष्मी कमाई जाती है वह लोभ और मान कषायको बढा देती है। यदि उसे दानमें न लगाई जावे तो वह कुगतिमें पटकनेका कारण होजाती है। और यदि निरंतर दान व परोपकारमें व्यय की जावे तो लक्ष्मीके कारण न तो लोभ बढने पाता और न मान भाव ही बढता है। लक्ष्मी अपनी नहीं है, पर वस्तु है, चंचल है। जबतक इसका स्वामीपना मेरे पास है मुझे यही योग्य है कि इसे दानमें लगाकर सफल करलें, ऐसा विचार दानी उदारचित्त मंदकषाई व संतोषी रहता है इसीसे वह धन द्वारा धर्म कमाता है। कृपण दान न करता हुवा कठोर भावोंसे पाप कमाता है।

श्लोक—पात्रदानं मोक्षमार्गस्य, कुपात्रं दुर्गतिकारणं।
विचारनं भव्यजीवानां, पात्रदानरता सदा ॥ २७४ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं मोक्षमार्गस्य) पात्र दान मोक्षमार्गकी सिद्धिका उपाय है (कुपात्रं दुर्गतिकारणं) परन्तु अपात्र दान दुर्गतिका कारण है। (भव्यजीवानां विचारनं) भव्य जीवोंका कर्तव्य है कि वे भले प्रकार विचार करके (पात्रदानरता सदा) पात्र दानमें सदा रत हों।

विशेषार्थ—यहां कुपात्रका अर्थ कुत्सित पात्र अर्थात् अपात्र है। अपात्रका भाव यही है कि जिसमें न व्यवहार सम्यक्त है न व्यवहार चारित्र है। जो जिन मार्गसे विरुद्ध आचरण करते हैं, मिथ्यात्वमें लीन हैं, मिथ्या मार्गके पोषक हैं, उनको अपात्र कहते हैं। पात्र दान अर्थात् सुपात्र दान

जब मोक्षमार्गको दृढ करनेवाला है तब अपात्र दान दुर्गतिका कारण है। अपात्रोंको भक्ति पूर्वक दिया हुआ दान मिथ्या श्रद्धान व मिथ्या चारित्रका पोषक है, मिथ्यात्वरूपी पापका प्रचारक है इसलिये पाप बंधकारक है। पापकी अनुमोदना अवश्य पाप लानेवाली है क्योंकि दाताकी विनय मिथ्यामार्गसे होगई। इसलिये भव्य जीव सम्यग्दृष्टी भलेप्रकार विचार करके अपात्रोंको दान नहीं देकर सुपात्रोंको दान देते हैं और मोक्षमार्गका प्रचार कराते हैं। उत्तम पात्र मुनि, मध्यम पात्र श्रावक, जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टी तीनोंको भक्ति पूर्वक दिया हुआ दान मोक्षमार्गकी भक्ति करना है अतएव कर्तव्य है व महान पुण्यबंध करनेवाला है। जिनके निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है परंतु व्यवहार सम्यक्त व व्यवहार चारित्र वैसा ही है जैसा एक मोक्षमार्गीको होना चाहिये वे कुपात्र हैं, उनको भी धर्मात्मा पुरुष दान देते हैं क्योंकि दान देना भी व्यवहार है तथा व्यवहारमें व्यवहार ही देखा जाता है व व्यवहारकी ही प्रतिष्ठा की जाती है। निश्चय वचन अगोचर है तथा निश्चय सम्यक्त अंतर्मुहूर्तमें होसक्ता है व छूट सक्ता है। अतएव दातार तो जिसका व्यवहार चारित्र शास्त्रोक्त पाएगा उसको पात्र जानकर दान देगा। यदि उस पात्रके अंतरंगमें निश्चय सम्यक्त होगा तो दातारके भाव अधिक निर्मल होंगे। यदि वह सम्यक्त रहित होगा तो भाव कम निर्मल होंगे क्योंकि जैसा निमित्त होता है वैसा परिणाम होजाता है। परिणामोंके अनुसार अधिक व कम पुण्यका बंध होगा। अपात्रोंको भक्ति पूर्वक दानका निषेध है। परंतु यदि कोई अपात्र करुणाका पात्र दीखे, भूखा प्यासा हो, रोगी हो, आश्रय रहित हो व विद्या व ज्ञानकी जरूरत रखता हो तो धर्मात्मा श्रावक उसको दया बुद्धिसे विना भक्ति किये उसका क्लेश मेट सक्ता है। करुणा दानमें पात्र अपात्रका विचार नहीं है, मात्र परोपकार भाव है।

श्लोक—कुगुरु कुदेव उक्तं च, कुधर्मं प्रोक्तं सदा।
कुलिंगी जिनद्रोही च, मिथ्या दुर्गतिभाजनं ॥ २७५ ॥
तस्य दानं च विनयं च, कुज्ञान मूढ दृष्टितं।
तस्य दानं चिंतनं येन, संसारे दुःखदारुणं ॥ २७६ ॥

अन्वयार्थ—(कुगुरु) अपात्र जो कुगुरु हैं वे (कुदेव उक्तं च) कुदेवोंकी भक्तिका उपदेश देते हैं (कुधर्म सदा प्रोक्तं) सदा ही कुधर्मका व्याख्यान करते हैं (कुलिंगी जिनद्रोही च) वे मिथ्यात्वके धारी हैं व जिनेन्द्रके अनेकांत मतसे द्वेष करनेवाले हैं (मिथ्या दुर्गति भाजनं) वे मिथ्यात्वके कारण दुर्गतिके पात्र हैं। (तस्य दानं च विनयं च) ऐसे कुगुरुको दान देना व उनकी विनय करना (कुज्ञान मूढ दृष्टितं) मिथ्या ज्ञान व मूढ श्रद्धा है (येन तस्य दान चिंतनं) क्योंकि उनके दान देनेकी चिंता (संसारे दुःखदारुणं) संसारमें भयानक दुःखोंका कारण है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि जो कुगुरु हैं वे ही अपात्र हैं जिनकी कथा पहले भी बहुत कर चुके हैं। ये कुगुरु स्वयं भी रागी द्वेषी देवोंकी आराधना करते हैं व रागद्वेष पूर्ण धर्मकी सेवा करते हैं व दूसरोंको भी मिथ्या देव व मिथ्या धर्मकी सेवाका उपदेश करते हैं उनका भेष यथार्थ जिनेन्द्रके मार्गके भेषसे विपरीत है तथा वे जिनधर्मका स्वरूप ठीक न समझकर अपने अज्ञानसे जिनमतसे द्वेष रखते हैं। एकांतकी पक्ष लेकर मिथ्यात्वके योगसे स्वयं दुर्गति जाते हैं तब जो उनकी भक्ति करेंगे, विनयपूर्वक दान देंगे उन्होंने वास्तवमें मिथ्यात्वकी भक्ति की, मिथ्यादर्शन व मिथ्या ज्ञानको ही पुष्ट किया। इसलिये उनको दान देनेकी चिंतासे जो भावोंकी परिणति होती है वह अशुभ ही है तथा पापको बांधनेवाली है, नर्क निगोदके भीतर पटकनेवाली है। भक्ति वास्तवमें उसीकी ही करनी योग्य है जिसमें भक्तियोग्य गुण हों। भक्तियोग तो रत्नत्रय धर्म है। जहां ये पाए जावेंगे वे पात्र ही भक्ति करने योग्य हैं। जब रत्नत्रयसे विरुद्ध धर्म अमाननीय है तब उस विरुद्ध धर्मके धारी माननीय कैसे होसक्ते हैं। इसलिये श्रावकको विवेकपूर्वक दान करना चाहिये। जो जिन-शास्त्रोक्त साधुका व श्रावकका आचरण पालनेवाले हैं व जिन शास्त्रोक्त श्रद्धा रखनेवाले हैं उनको ही पात्र मानकर उनको यथायोग्य भक्ति सहित दान करना योग्य है। उनकी भक्ति वास्तवमें रत्नत्रयकी ही भक्ति है अतएव हितकारी है। अपात्रोंकी भक्ति अधर्मकी भक्ति है अतएव पाप बंधकारी व मिथ्या मार्गकी अनुमोदना करानेवाली है। भक्तिपूर्वक यथार्थ चारित्रवानको ही दान देना योग्य है यह तात्पर्य है। विनय योग्य वे ही पात्र हैं।

श्लोक—पात्र अपात्र विशेषत्वं, पन्नग गवं च उच्यते ।
तृणभुक्तं च दुग्धं च, दुग्धं भुक्तं विषं पुनः ॥ २७७ ॥

अन्वयार्थ—(पात्र अपात्र विशेषत्वं) पात्र अपात्रका विशेषपना (गवं च पन्नग उच्यते) गाय और सर्पिणीके समान कहा गया है (तृणभुक्तं च दुग्धं च) गाय तृण खाती है परन्तु दूध देती है (दुग्धं भुक्तं विषं पुनः) परन्तु सर्पिणी दूध पीती है व विष उगलती है ।

विशेषार्थ—यहां ग्रंथकर्ताने स्वयं बता दिया है कि कुपात्रसे प्रयोजन अपात्रसे है क्योंकि श्लोकमें अपात्र शब्द है । पात्र तो हितकारी है जब कि अपात्र हानिकारी है । इसका दृष्टांत दिया है । जैसे गाय तृण चारा खाती है परन्तु दूध प्रदान करती है वैसे धर्मके पात्र अल्प शुद्ध आहार संतोष पूर्वक करते हैं परन्तु स्वयं रत्नत्रय धर्मका साधन करते हैं और दूसरे अनेक प्राणियोंको सत् धर्ममें लगाते हैं । उनको अल्प भी दान स्वपर मंगलकारी है । उन पात्रोंका भी हित होता है और जो दान करते हैं उनकी रुचि मोक्षमार्गमें बढती है तथा महान पुण्यका बंध होता है, यदि सर्पिणीको दूध पिलाया जावे तो वह विषरूप होजाता है जो विष हानिकारक है उसी तरह अपात्रोंको पोषना, उनकी भक्ति करना, विनय करना, मिथ्यात्वका मार्ग प्रचार करानेवाला है । जिस कुधर्मसे प्राणियोंके जीवनका बिगाड हो, मानव जन्म कुगतिका देनेवाला होजावे । ऐसे कुधर्मका प्रचार उचित नहीं है । वे अपात्र यदि इस कुधर्मको छोड दें तो वे पात्र होजानेपर भक्ति व दानके योग्य हैं । अभिप्राय यहां यही है कि दान भक्तिसे पात्रोंको ही देना योग्य है । अपात्रोंको कदापि नहीं देना योग्य है । तथापि यदि कोई जैनधर्मके श्रद्धान व चारित्रसे बाहर है व भूखा है रोगी है तथा उनके भक्त और उनके रक्षक नहीं हैं तो दयावान श्रावकोंका यह कर्तव्य नहीं है कि उनपर करुणाभाव न लावें । दयाभावसे जब श्रावकोंका धर्म प्राणी मात्रके साथ उपकार करना है तो अपात्र होनेपर भी वे करुणाके पात्र हैं । उनका कष्ट निवारण करना ही योग्य है, साथ ही उनको सम्यक् धर्मका उपदेश भी देना योग्य है, यदि वे सुधर जावे तो उत्तम है, ऐसा प्रेम भाव श्रावकको रखना योग्य है, द्वेषभाव तो किसीसे करना न चाहिये । मात्र भक्ति करनेका निषेध है क्योंकि वह भक्ति मिथ्या धर्मकी पोषक है ।

श्लोक—पात्रदानं च भावेन, मिथ्यादृष्टी च शुद्धए ।
भावनाशुद्ध सम्पूर्ण, दानं फलं स्वर्गगामिनं ॥ २७८ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं च भावेन) पात्रदान करनेसे व उसकी भावना करनेसे (मिथ्यादृष्टी च शुद्धए) मिथ्यादृष्टीकी शुद्धि होसक्ती है । (शुद्धभावनं संपूर्ण) जो शुद्ध आत्माकी भावनासे परिपूर्ण सम्यग्दृष्टी है उसको (दानं फलं स्वर्गगामिनं) पात्रदानका फल स्वर्गगमन है ।

विशेषार्थ—पात्रदानका यह महात्म्य है कि यदि कोई शुद्ध आत्माकी भावना करनेवाला सम्यग्दृष्टी जीव पात्रोंको दान करे तो स्वर्गमें जाकर देव होने योग्य पुण्य बांधेगा । यहां भाव यह है कि सम्यक्ती गृहस्थ स्वभावसे पात्र भक्त होजाता है व वह पात्रोंको दान देता है। सम्यक्ती तो स्वर्गमें देव अवश्य ही होता है। यदि सम्यक्तके पहले और आयु बांधी होगी तो अन्यत्र पैदा होगा। जो कोई मिथ्यादृष्टी जीव है अर्थात् निश्चय सम्यक्ती तो नहीं है किंतु व्यवहारमें देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धावान है और पात्रोंको दान देता है तो उसका वह पात्रदान व रत्नत्रयधारियोंकी भक्ति निश्चय सम्यक्तके लिये कारणरूप है । ऐसे ही निमित्तोंके मिलानेसे वह सम्यक्तके बाधक कर्मोंका उपशम करके निश्चय सम्यक्ती होजाता है । तथा पात्रदानके फलसे मिथ्यादृष्टी भोगभूमिमें जानेलायक पुण्य बांध लेता है।

यहां प्रयोजन यह है कि पात्रदान हरएक श्रद्धावानको करते रहना चाहिये। अपना गृहस्थका घर दान विना पवित्र नहीं होसक्ता है । दान करनेसे परिणाम उदार रहते हैं। लक्ष्मीके संचयका मोह कम होजाता है।

श्लोक—पात्रदानरतो जीवः, संसारदुःखं निपातए ।
कुपात्रदानरतो जीवः, नरयं पतितं ते नरा ॥ २७९ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानरतो जीवः) जो जीव पात्रोंको दान देनेमें लवलीन हैं वह (संसारदुःखं निपातए) संसारके दुःखोंको दूर कर देता है (कुपात्रदानरतो जीवः) परन्तु जो अपात्रोंके दानमें रत हैं (ते नरा नरयं पतितं) वे मानव नरकमें जाते हैं।

विशेषार्थ—पात्रदान धर्मका पोषक है तब अपात्र दान अधर्मका पोषक है। पात्रदानसे रत्नत्रयका लाभ होता है क्योंकि दातार रत्नत्रय स्वरूप मुनि, श्रावक, व श्रद्धावानोंकी भक्ति करता है उनकी संगति ही परिणामोंमें वैराग्यभाव ला देती है, उनका उपदेश भी भावोंको शांत कर देता है। धर्ममें गाढ रुचि पैदा कर देता है। जो कुछ मिथ्यात्वकी व मायाकी व निदानकी शल्य अंतरंगमें हो उसको निकाल डालता है। छिपा हुआ सम्यग्दर्शन रूपी रत्न प्रकाशमान होजाता है। वीतरागके अंशोंके बढनेसे मिथ्यादृष्टी जीव पात्रोंके संपर्कसे सम्यग्दृष्टी होजाता है। व धर्मके पात्र साधु व श्रावक बडे दयालु होते हैं। उनके निरंतर अपायविचय धर्मध्यान होता है कि हम किसी तरह संसारी प्राणियोंके मिथ्यात्व अंधकारके मिटानेमें कारणीभूत हो। जैसे हमको आत्मीक सुखशांतिका लाभ है वैसा ही लाभ जगतके प्राणियोंको हो। ऐसे महात्माओंका सन्मान-उनको दान देना अपने परम कल्याणका उपाय है। धर्मके इच्छावानोंको निरन्तर पात्र दान करना चाहिये। दान किये विना आहार ही न करना चाहिये। नित्य पात्र दान करना मानों नित्य सुख शांतिके सागर पात्रोंकी संगतिसे आत्म-धर्मका लाभ करना है। इसलिये जैसे मधुमक्खी, मधुके एकत्र करनेमें आसक्त रहती है उसी तरह विवेकी मानवको पात्रोंकी सेवामें तल्लीन रहना चाहिये। इसीसे धर्मका संग्रह होगा। पापोंका नाश होगा तब संसारके दुःखोंसे रक्षा रहेगी। इसके विरुद्ध जो अपात्रोंको मान या लोभके वशीभूत हो दान करते रहते हैं वे कुधर्मकी शिक्षा लेते हुए संसारासक्त बन जाते हैं। जगतकी मायाजालमें फँसे हुए वे नरकायु बांधकर नरकमें चले जाते हैं। अतएव अपात्रोंकी भक्तिसे बचकर पात्रोंकी भक्तिसे स्वहित करना चाहिये।

श्लोक—पात्रदानं च प्रति पूर्ण, प्राप्तं च परमं पदं।
शुद्धतत्वं च सार्धं च, ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं ॥ २८० ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं च प्रति पूर्णं) पात्रदानका पूर्ण फल यह है कि (परमं पदं प्राप्तं) परमपद जो मोक्ष उसकी प्राप्ति होती है (शुद्धतत्वं च सार्धं च) जो शुद्ध आत्मीक तत्व सहित है (ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं) व ज्ञानमय यथार्थ निश्चल है।

विशेषार्थ—पात्रदानका फल अंतमें मोक्षकी प्राप्ति है। जो पात्रोंको भक्तिपूर्वक दान देते हैं

उनके भीतर रत्नत्रय धारकोंसे श्रद्धा बढती जाती है जिसका असर उनकी बुद्धिमें यह पडता है कि वे सम्यक्ती होजाते हैं। सम्यक्ती होना ही मोक्षमार्गको प्राप्त कर लेना है। एक दफे सम्यक्त होगया तो वह प्राणी अवश्य मोक्षको पहुंचेगा। जहां ज्ञानमई शुद्ध आत्मीक तत्व निश्चल अपने स्वरूपमें कल्लोल किया करता है। गृहस्थ श्रावकोंको और कोई इच्छा मनमें न रखके मात्र शुद्ध आत्मीक तत्वके लाभके लिये ही पात्र दान करना चाहिये। पात्रोंकी सच्चे भावसे भक्ति करना चाहिये। मुनि उत्तम पात्र हैं, उनका समागम कठिन है, परन्तु श्रावक पदके धारी मध्यम पात्र पहलीसे ग्यारहमी प्रतिमा तक सुगमतासे मिल सक्ते हैं उनको आहार, औषधि, आश्रय दान व ज्ञान दान करना चाहिये-उनको शास्त्र बांटना चाहिये, किसी विद्वान शास्त्रीका निमित्त मिलाकर उनके ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये। जघन्य पात्र तो बहुतसे स्त्री, पुरुष, बालक, बालिकाएँ मिल सक्ते हैं। जिनके यहां कुदेवोंकी भक्ति नहीं है, उनको चार प्रकार दानसे सन्तुष्ट करना चाहिये। ज्ञानकी वृद्धिके लिये धर्म शिक्षा देना चाहिये, पुस्तकोंको बांटना चाहिये, स्वयं धर्मोपदेश देना चाहिये, अनाथोंकी रक्षाके हेतु अनाथालय खोलना चाहिये, ब्रह्मचर्याश्रम खोलना चाहिये, जिससे बालक ब्रह्मचारी रूपमें रहकर विद्याका अभ्यास करें। श्राविकाश्रम व कन्याशाला आदि खोलना चाहिये यह सब पात्र दानका अंग है, धर्मकी वृद्धिका कारण है।

श्लोक—पात्रं प्रमोदनं कृत्वा, त्रिलोकं मुदा उच्यते।
यत्र तत्र उत्पाद्यंते, प्रमोदं तत्र जायते ॥ २८१ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रं प्रमोदनं कृत्वा) जो पात्रोंको देखकर मनमें प्रसन्नता लाते हैं उनके लिये (त्रिलोकं मुदा उच्यते) तीन लोकके प्राणी प्रसन्नता देनेवाले कहे गए हैं (यत्र तत्र उत्पाद्यंते) जहां तहां पात्रदानी पैदा होता है (तत्र प्रमोदं जायते) वहां वहां उसको प्रमोदभाव प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—उत्तम, मध्यम, जघन्य तीनों ही प्रकारके पात्रोंका दर्शन करके जिनका चित्त प्रमोद-भावसे भरकर प्रसन्न होजाता है उनके ऐसा अपूर्व पुण्यका बंध होता है। ऐसा सातावेदनीय, सुभग नामकर्म, आदेय नामकर्म, यशःकीर्ति, उच्च गोत्र आदि पुण्य प्रकृतियोंका बंध पडता है, जिससे वे तीन लोकमें जहां कहीं भी उत्पन्न होते हैं उनको हरजगह प्रसन्नता प्राप्त होती है।

वे दुःखी, म्लानित व खेदित नहीं होते हैं। पात्रदानके फलसे भोगभूमिमें यदि जावे तो वहां तीन पल्य, दो पल्य, एक पल्य तक कोई शारीरिक बाधा नहीं होती है न मानसिक तीव्र दुःख होता है किन्तु जन्म पर्यंत तक संतोष व सुख बना रहता है। यदि स्वर्गमें देव होजावे तो वहां भी वह उच्च देव होता है उसको देखकर अनेक देवी देव प्रसन्न होते हैं। उसके मनकी प्रसन्नताके कारण ही उपलब्ध होते हैं। भोगभूमिसे भी देव ही होता है। देवगतिमें भी पूर्व संस्कारसे वहां पात्रोंकी भक्ति करता है। मुनिगणोंको धर्मका आराधन करते देखकर व श्रावकोंको धर्म पालते देखकर वह भक्ति करता है, उपदेश सुनता है, कभी साधु संतोंपर पडनेवाले उपसर्गोंको दूर करता है। इससे पुण्यको बांधकर फिर उत्तम तेजस्वी मानव होता है जिसे देखकर सबको प्रमाद होवे। वास्तवमें पात्रोंकी भक्ति व प्रतिष्ठाका अपूर्व फल प्राप्त होता है।

श्लोक—पात्रं अभ्यागतं कृत्वा, त्रिलोकं अभ्यागतं भवे ।
यत्र तत्र उत्पाद्यंते, तत्र अभ्यागतं भवेत् ॥ २८२ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रं अभ्यागतं कृत्वा) जो पात्रोंका स्वागत करता है-उनको दान देता है उसके लिये (त्रिलोकं अभ्यागतं भवे) तीन लोकमें स्वागत प्राप्त होता है (यत्र तत्र उत्पाद्यंते) जहां जहां वह पैदा होता है (तत्र अभ्यागतं भवेत्) वहां वहां उसका स्वागत व सन्मान होता है।

विशेषार्थ—पात्रोंको देखकर प्रसन्न होना उससे अधिक क्रिया यह है कि पात्रोंका भक्तिपूर्वक स्वागत करके उनको दान देना। इस क्रियासे और भी अटूट पुण्यबंध होता है। तीन लोकके प्राणी उसका स्वागत करते हैं, उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। वह दानी दुर्गतिसे बचता है, मानव व देव-गतिके ऐसे ऊंचे पद पाता है कि उसका अन्य देव तथा मानव बड़ी प्रतिष्ठासे स्वागत करते हैं। उनका कभी अपमान नहीं करते हैं, उनको देखते ही प्रभावित होजाते हैं। उनकी आत्मामें बंधा हुआ पुण्यकर्मबंध उनके तेज व महात्म्यको ऐसा बढा देता है कि सर्व कोई उसके वशीभूत होजाते हैं। ऐसे ज्ञानी प्राणी यदि कहीं निर्जन वनमें भी चले जाते हैं तो उनको सब प्रकारका शारीरिक आराम देनेवाले वहां भी मिल जाते हैं। जिन्होंने पुण्यात्मा जीवोंके प्रवास पढ़े हैं वे जानते हैं कि ऐसे मानवोंको जंगलमें मंगल मिलते है। श्री रामचन्द्र, सीता, लक्ष्मण अपने वनके प्रवासमें जहां

भी आते थे अपूर्व स्वागत पाते थे। धन्यकुमार सेठ पुत्र अकेला उज्जैनीसे राजग्रहीमें जाता है और वहां पुण्यके बलसे धनका लाभ, स्त्रीका लाभ व राज्यका लाभ तक कर लेता है। पूर्व जन्ममें धन्यकुमारके जीवने पात्रदान भक्ति पूर्वक किया था, ऐसा जानकर गृहस्थ श्रावकोंको निरंतर पात्रदान करना चाहिये।

श्लोक—पात्रस्य चिंतनं कृत्वा, तस्य चित्तं सुचिंतये।
चेतयति प्राप्तं वीर्यं, पात्र चिंता सदा बुधैः ॥ २८३ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रस्य चिंतनं कृत्वा) जो श्रावक गृहस्थ निरंतर चित्तमें पात्रोंके लाभकी चिंता किया करता है (तस्य चित्तं सुचिंतये) उसका मन सदा शुभ भावोंमें लीन रहता है (चेतयति प्राप्तं वीर्यं) वह अपने आत्म वीर्यका भलेप्रकार उपभोग करता है अर्थात् चिंतित कार्य सिद्ध कर लेता है (सदा बुधैः पात्र चिंता) इसलिये बुद्धिमानोंको सदा पात्रोंकी चिंता रखना चाहिये।

विशेषार्थ—जो गृहस्थ निरंतर यह भावना भाता है कि मुझे पात्रोंका लाभ होजावे तो मैं दान दूं। इस पात्रदानकी भावनासे वह अपनी कषायोंकी शक्तिको ऐसी मंद कर देता है कि उसके चित्तमें सदा ही शुभ कार्योंके करनेकी भावना रहा करती है। और जिन शुभ कार्योंको वह करना चाहता है उनके करनेका आत्मबल वह अपनेमें जागृत कर लेता है। आत्मबलके प्रतापसे उसके सर्व ही शुभ कार्य सिद्ध होजाते हैं। यहां ग्रंथकर्ताने पात्रदानकी बड़ी महिमा बताई है सो बिलकुल ठीक है। दानके भावोंसे, पात्रोंकी भक्तिसे अपूर्व पुण्यकर्मका बंध होजाता है। जैसे हिंसाकर्मकी चिंतासे, असत्य भाषणकी चिंतासे, चोरीकी चिंतासे, कुशीलकी चिंतासे, परिग्रहकी चिंतासे निरंतर पापकर्मका बंध होता है वैसे पात्रदानकी चिंतासे जबतक चिंता रहेगी अपूर्व पुण्यकर्मका बंध होता है। दानी गृहस्थको प्रतिदिन पात्रकी चिंता करके पात्रोंका समागम मिलाकर दान करके फिर भोजन करना चाहिये। यदि पात्रका लाभ न मिले तो दुःखित भुक्षितको जिमाकर आप जीमना चाहिये। वास्तवमें पात्रदान व करुणादान दोनोंके भाव गृहस्थके सदा रहने चाहिये। दानसे ही गृहीकी शोभा है।

श्लोक—कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा, दुर्गति अभ्यागतं भवेत् ।
सुगतिः तत्र न दिष्टंते, दुर्गतिं च भवे भवे ॥ २८४ ॥

अन्वयार्थ—(कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा) जो कोई अपात्रोंका स्वागत करते हैं वे (दुर्गति अभ्यागतं भवेत्) अपने लिये कुगतिका स्वागत करते हैं (तत्र सुगतिः न दृष्टते) उनको सुगतिका दर्शन नहीं होता है (दुर्गतिं च भवे भवे) उनको भव भवमें दुर्गतिकी प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ—जो मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान व मिथ्या चारित्रसे वासित भेषी कुलिंगी हैं उनका जो स्वागत करना है, उनको भक्ति पूर्वक दान देना है सो संसारके कारण मिथ्या दर्शन आदिका ही पोषण करना है। जिसका फल कुगतिका ही बंध है। तथा मिथ्यात्वके बंधकी अति दृढता पाना है। उस मिथ्यात्वके उदयसे प्राणीको अनंत भवमें दुर्गतिका सामना करना पडेगा । वारवार एकेन्द्रिय पर्यायमें जन्मना होगा। उनको फिर उन्नति करके पंचेंद्रिय सैनीका जीवन पाना अति कठिन होजायगा। गुण और औगुणका ही आदर या निरादर है। मिथ्यात्वादि दुर्गुण अप्रतिष्ठाके योग्य हैं इसलिये उनके धारी व्यक्ति भी भक्ति करनेके योग्य नहीं है। यदि द्यूत रमन बुरी वस्तु है तो द्यूतके रमनवालेका आदर भी उचित नहीं है उससे जूए खेलनेवालेको जूएके खेलनेकी उत्तेजना मिलती है व स्वयं भी जूएके फंदेमें पड जानेकी आशंका है। इसलिये प्रतिष्ठाके योग्य रत्नत्रय हैं व उनके धारी सुपात्र हैं। अपात्रोंको दान देना केवल निरर्थक ही नहीं है उल्टा पापबंध कारक है। मिथ्यादृष्टी ही किसी मान व लोभ व आशाके वशीभूत हो ऐसे अपात्रोंका स्वागत करके तीव्र दर्शनमोहका बंध करते हैं। विवेकीको ऐसा करना उचित नहीं है।

श्लोक—कुपात्रं प्रमोदनं कृत्वा, एकेन्द्रि थावरे उत्पाद्यं ।
तिरियं नरय प्रमोदं च, कुपात्रदान फलं सदा ॥ २८५ ॥

अन्वयार्थ—(कुपात्रं प्रमोदनं कृत्वा) जो अपात्रोंको देखकर आनन्द मनाते हैं। वे (एकेन्द्रि थावरे उत्पाद्यं) एकेन्द्रिय स्थावरोंमें जन्मते हैं (तिरियं नरय प्रमोदं च) उनको नरक व तिर्यंचगति आनन्दसे ग्रहण करती है (कुपात्रदान फलं सदा) अपात्र दानका सदा ही ऐसा फल होता है।

विशेषार्थ—अपात्रोंको देखकर आनन्द मनाना, उनकी अपात्रताका अनुमोदन करना है। मिथ्यात्व भावोंकी ही उनमें पात्रता है। मिथ्यात्व भावोंकी वासनासे व अनन्तानुबन्धी कषायकी तीव्रतासे एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म, साधारण नाम कर्म, अपर्याप्ति नाम कर्म आदि प्रकृतियोंका बंध होनेसे यह जीव एक मानवसे मरकर सीधा साधारण वनस्पति रूप निगोद पर्यायमें चला जाता है, वहांसे फिर अनंतकालमें भी निकलना कठिन होजाता है। अथवा नरकगति बांधकर नरक चला जाता है या अन्य पशु पक्षीकी पर्याय पालेता है। मिथ्यात्वके समान कोई पाप नहीं है। मिथ्यात्व सहित व्यक्तिको धर्मात्मा मानके उसके अधर्मकी प्रतिष्ठा करनी उसे भी पतित रखना है व आप भी पतित होना है। विवेकी मानवको पात्र व अपात्रका विचार करके ही दान देना चाहिये। श्री अमितगति श्रावकाचारमें कहा है:—

यथा रजोधारिणि पुष्टिकारणं, विनश्यति क्षीरमलाबुनि स्थितम्।
प्रकृष्टमिथ्यात्वमलाय देहिने, तथा प्रदत्तं द्रविणं विनश्यति ॥ १६ ॥

भावार्थ—जैसे पुष्टिकारी दूध रजकी रखनेवाली तूंबीमें रक्खा हुआ नाश होजाता है वैसे मिथ्यात्व मलरूपी मलधारी प्राणीको दिया हुआ द्रव्य नाशको प्राप्त होजाता है।

श्लोक—पात्रदानं च शुद्धं च, दात्र शुद्धं सदा भवेत्।
तत्र दानं च मुक्तं च, शुद्ध दृष्टि यथा मतं ॥ २८६ ॥

अन्वयार्थ—(पात्रदानं च शुद्धं च) पात्रदान शुद्ध दान है इससे (दात्र शुद्धं सदा भवेत्) दातार निरंतर शुद्ध होता है। (तत्र दानं च मुक्तं च) पात्रोंको दान देना मुक्तिका उपाय है (यथा शुद्धदृष्टि मतं) जैसे शुद्ध सम्यग्दर्शन मोक्षका उपाय माना गया है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन सहित सुपात्रोंको दान देना शुद्ध दान इसलिये है कि उस दानके कारण दातारके परिणाम शुद्ध होजाते हैं। उसको मोक्षमार्गकी गाढ रुचि पैदा होजाती है। यदि कदाचित् दातार शिथिल श्रद्धानी हो तो दानके पीछे सुपात्रोंके द्वारा ऐसा योग्य धर्मोपदेश मिलता है जिससे वह मोक्षमार्गके सन्मुख होजावे। इसलिये जहां पात्रोंको दान देना है वहां मोक्षके मार्गपर चलना है। जिसतरह सम्यग्दर्शन मोक्षका उपाय है वैसे पात्रदान मोक्षका उपाय है। जैसी

संगति होती है वैसा प्रभाव आत्माके परिणामों पर पडता है। यही कारण है जो मिथ्यादृष्टी भी सुपात्रोंको दान दे तो भोगभूमिका पुण्य बांध लेता है और यदि पात्र सम्यग्दर्शन रहित कुपात्र हो तो उनकी संगतिसे कुभोगभूमिका पुण्य बंध जाता है। सुगंधित वस्तुके संपर्कसे वस्त्रोंमें सुगंध व दुर्गंधित वस्तुके संसर्गसे वस्त्रोंमें दुर्गंध आने लगती है। बाहरी पदार्थोंका बडा भारी असर प्राणीके भावोंमें पडता है। इसलिये विचारवान गृहस्थको उचित है कि सदा ही पात्रदानके लिये उत्साहित रहे, पात्रदान निरंतर करे। पात्रदान मोक्षके परम्पराय साधनोंमें एक प्रबल कारण है। रत्नत्रय-धारीकी भक्ति रत्नत्रयकी भक्ति ही है।

श्लोक—पात्रशिक्षा च दात्रस्य, दात्रदानं च पात्रये।
दात्र पात्रं च शुद्धं च, दानं निर्मलितं ध्रुवं ॥ २८७ ॥

अन्वयार्थ—(दात्रस्य) दातारको (पात्रशिक्षा च) पात्र द्वारा योग्य शिक्षा प्राप्त होती है (दात्र पात्रये दानं च) दातार द्वारा पात्रको दान होता है (दात्र पात्रं च शुद्धं च) जहां दातार तथा पात्र दोनों ही शुद्ध हैं (दानं निर्मलितं ध्रुवं) वहां निरंतर दान निर्मल होता है।

विशेषार्थ—यहां बताया है कि सुपात्र दानका बडा भारी महात्म्य है। दातार और पात्र दोनोंका उपकार पात्रदानसे होता है। धर्मके पात्र धर्मके साधक हैं, उनको दान देनेसे उनके परिणामोंकी थिरता होती है। उनके संयमका साधन होता है। उनकी रुचि धर्मके सम्मान होनेसे विशेष बढ जाती है। यह उपकार तो दाता द्वारा पात्रका होता है। पात्र द्वारा दाताका उपकार यह है कि पात्र उत्तम धर्मोपदेश देते हैं। उत्तम शिक्षाके मिलनेसे दातारके भीतर जो कुछ मलीनता होती है वह दूर होजाती है। वह धर्मका विशेष अनुरागी होजाता है। बहुधा धर्मके पात्र मुनि या श्रावक दान ले चुकनेके पश्चात् किसी तरहके संयम धारनेका उपदेश देते हैं। दातार यथायोग्य नियम लेकर धर्मकार्यमें विशेष आचरण करने लग जाता है। वास्तवमें सुपात्र दातारके लिये बडे ही उपकारी हैं। अपात्रोंको दान देनेसे जब मिथ्यात्वकी शिक्षा मिलती है तब सुपात्रोंको दान देनेसे सम्यग्दर्शनकी शिक्षा मिलती है। जहां दातारका भाव शुद्ध है, सम्यग्दर्शनसे पूर्ण है व पात्र भी शुद्ध भाव धारी सम्यग्दृष्टी है वहां अपूर्व निर्मल दान होता है। दोनोंके भाव अति पवित्र होजाते

है। यह दान सदा ही भावोंकी अति विशुद्धता करनेवाला है। पात्रदान धर्मका मुख्य साधक है।

श्लोक—दात्रं शुद्धसम्यक्तं, पात्रं तत्र प्रमोदनं।
दात्र पात्रं च शुद्धं च, दानं निर्मलितं सदा ॥ २८८ ॥

अन्वयार्थ—(दात्रं शुद्धसम्यक्तं) दातार शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी होता है (तत्र पात्रं प्रमोदनं) तब वह पात्रोंके लिये प्रमोद भाव रखता है (दात्र पात्रं च शुद्धं च) जहां दातार और पात्र शुद्ध हों (दानं निर्मलितं सदा) वहां निरंतर दानकी निर्मलता है।

विशेषार्थ—जिस दाताके भीतर शुद्ध सम्यक्त है, जो निज शुद्धात्माका अनुभव करनेवाला है, जो धर्मका परम अनुरागी है, जो धर्मात्माओंकी सेवामें नित्य भाव रखता है। ऐसा दातार नित्य मनमें ऐसा चाहता है कि मुझे पात्रदानका अवसर मिले। जब कभी वह किसी उत्तम पात्र मुनिको, मध्यम पात्र श्रावकको व जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टीको देखता है, उनका मन प्रफुल्लित होजाता है वह उनकी सेवाके लिये अति अनुरागी होजाता है और भक्तिपूर्वक उनको यथायोग्य दान देता है। इस सम्यग्दृष्टी दातारका भाव शुद्ध आत्मीक भावकी तरफ झुका हुआ है। वह यही चाहता है कि जो जो मोक्षमार्ग पर आरूढ हैं वे वंदनीय, आदरणीय व प्रतिष्ठाके योग्य हैं। उसका रत्नत्रयका अनुराग अपूर्व रहता है। सम्यग्दृष्टी पात्रोंका भी भाव रत्नत्रयके प्रेमसे पूर्ण होता है। दाता और पात्र दोनोंकी दृष्टि जहां स्वात्मानुभव पर हो और वे दोनों दानके समय परस्पर मिलें तब परस्पर भावोंकी उज्वलतामें बडा ही प्रभाव पडता है। सम्यग्दृष्टी द्वारा सम्यग्दृष्टीको दान होजाना ही सच्चा पवित्र दान है। यह दान अतिशयकारी पुण्यबंधका कारण है। यह बांधा हुआ पुण्य जीवको संसारमें आसक्त करनेवाला नहीं होता है। किन्तु ऐसे उत्तम निमित्त मिला देता है जिससे संयम पालनेकी योग्यता होजाती है तथा मोक्ष प्राप्त करने योग्य वज्रऋषभनाराच संहनन आदिका लाभ होजाता है। सम्यक्ती दाता व पात्र दोनों दानके समय आनंद पाते हैं।

श्लोक—पात्रं यत्र शुद्धं च, दात्र प्रमोद कारणं।
पात्र दात्र शुद्धं च, उक्तं दान जिनागमे ॥ २८९ ॥

अन्वयार्थ—(यत्र पात्रं शुद्धं च) जहां पात्र शुद्ध सम्यग्दृष्टी होता है (दात्र प्रमोद कारणं) वह दातारको प्रमोद उत्पन्न करनेका कारण होता है. (पात्र दात्र शुद्धं च) जहां पात्र और दातार दोनों शुद्ध सम्यग्दृष्टी हो (जिनागमे दान उक्तं) वही दान जिनागममें उचित कहा गया है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका ऐसा महात्म्य है कि जिसके कारण मुखपर एक अपूर्व शांतिका झलकाव होता है। सम्यक्ती पात्रके दर्शन करते ही दाता शांत रसमें पहुंच जाता है। सम्यक्ती पात्रके द्वारा कोई ऐसी क्रिया नहीं होती है जिससे दातारको कुछ भी कष्ट हो, वह बडा ही संतोषी होता है। जो उद्दिष्ट आहारके त्यागी हैं वे तो रस नीरस जो मिला उसे लेकर अपने आत्म कार्यमें लग जाते हैं। वे तो यहांतक सम्हाल रखते हैं कि उनके निमित्त कोई आरम्भ नहीं किया जावे। जो गृहस्थके स्वकुटुम्बके लिये भोजन तय्यार किया हो उसीमेंसे मुनिगण आहार लेते हैं। जिससे उनके निमित्तसे न तो हिंसा हो और न कुछ भी कष्ट हो। अन्य मध्यम या जघन्य पात्र भी बडे ही उत्साही व धर्मके प्रेमी होते हैं। किसी तरहका अभिमान नहीं रखते हैं। यदि कोई भक्तिपूर्वक निमंत्रण करे तो वे कभी मानसे उसका निषेध नहीं करते हैं। जैन आगममें उसहीको उत्तम दान कहा गया है जहां पात्र और दान दोनों योग्य हों। सम्यग्दृष्टी द्वारा सम्यग्दृष्टीको दान होजाना ही प्रशंसनीय दान है। जहां सम्यग्दृष्टी मोक्षगामी दातार हो और तीर्थंकर सरीखे मोक्षगामी महात्मा पात्र हों वह दान महान है। राजा श्रेयांस द्वारा श्री रिषभदेव भगवानको दान होजाना व चन्दना सती-द्वारा श्री महावीर भगवानको दान होजाना ऐसे सुयोग्य दानके उदाहरण हैं। सम्यग्दर्शनकी अपूर्व सुगन्ध है।

श्लोक—मिथ्यादृष्टी च दानं च, पात्र न गृहिते पुनः।
यदि पात्र गृहिते दानं, पात्रं अपात्र उच्यते ॥ २९० ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यादृष्टी च दानं च) मिथ्यादृष्टीके द्वारा दिये हुए दानको (पात्र न गृहिते पुनः) पात्र नहीं ग्रहण करते हैं (यदि पात्रदानं गृहिते) यदि पात्रदानको ग्रहण करले तो (पात्रं अपात्र उच्यते) वह पात्र अपात्र कहा जाता है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि जो सम्यग्दृष्टी पात्र होते हैं वे श्रद्धावान भाई बहन दातारके

ही हाथसे भोजन लेते हैं। जो मिथ्यादृष्टी हैं, सच्चे देव, गुरु, शास्त्रके श्रद्धानी नहीं हैं, उनके सच्ची भक्ति सुपात्रोंसे नहीं होसक्ती है। यदि कदाचित् वे किसी कारणवश पात्रोंको दान देनेके लिये तय्यार भी होजावें तो पात्र जो सम्यग्दृष्टी हैं वे उनको उपदेश देकर पहले सम्यग्दृष्टी अर्थात् व्यवहार श्रद्धावान बना लेंगे तब उनको दातार मानके उनके यहां भोजन करेंगे। जो सच्चे देव, गुरु, शास्त्रके श्रद्धानी हैं वे ही शुद्ध भोजन तय्यार कर सक्ते हैं, छना पानी व्यवहार कर सक्ते हैं। शुद्ध अन्न, घी, दूधादि काममें लेंगे, जीवदया पूर्वक रसोई बनायेंगे। मिथ्यादृष्टीकी भोजनकी क्रिया जैन शास्त्रोक्त नहीं होगी। इसलिये जो श्रद्धावान तीन प्रकारके पात्र हैं वे ऐसी अशुद्ध रसोईको स्वीकार नहीं कर सक्ते। न तो वह वस्तु ही लेने योग्य है न दातार मिथ्यादृष्टीकी भक्ति उस रत्नत्रय धर्ममें है जिसके धारी वे पात्र हैं। भक्ति विना पात्रदान नहीं होता है। यदि कोई पात्र ऐसी अशुद्ध रसोईको मिथ्यादृष्टीके द्वारा दिये जानेपर लेलेवे तो वह स्वयं अपात्र होजाता है अर्थात् स्वयं मिथ्यादृष्टी व जैनाचारके विरुद्ध होजाता है, ऐसा आचार्योंने कहा है। जब तक श्रद्धा न हो तबतक दातापना नहीं। जहां श्रद्धा विगडी वहां पात्रपना नहीं। पात्रको वही दान लेना योग्य है जो उसको दातार द्वारा धर्मपात्र समझकर शुद्धताके साथ दिया जावे। जो पात्र इसके विरुद्ध आहार करता है वह स्वयं अपात्र होजाता है।

श्लोक—मिथ्यादान विषं प्रोक्तं, घृतं दुग्ध विनाशए।
नीचसंगेन पात्रं च, गुणं नाशन्ति यत्पुनः ॥ २९१ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यादान विषं प्रोक्तं) मिथ्यात्वीका दान विषरूप कहा गया है (घृतं दुग्धं विनाशए) जैसे विषके संयोगसे घी और दूधके गुण नष्ट होजाते हैं वैसे (नीचसंगेन पात्रं च गुणं नाशंति यत्पुनः) मिथ्यादृष्टीकी संगतिसे पात्रके गुण भी नाश होजांयगे।

विशेषार्थ—दान श्रद्धावानका ही गुणकारी है। जो अन्नादि ग्रहण किया जाता है उसमें दातारके भावोंका भी असर होजाता है। मिथ्यात्व भावसे मिला हुआ वह दान है। अतएव ऐसा दान ग्रहण करनेवाले पात्रकी बुद्धिको मलीन कर लेता है। जैसे विषके संयोगसे घी व दूध नष्ट होजाते हैं वैसे मिथ्यादानके संयोगसे पात्रके सम्यक्तादि गुण नष्ट होजाते हैं। यदि कोई पात्र न हो परन्तु

अपनेको पात्र मानकर मिथ्यादृष्टी दातारसे दान लेनेका अभ्यास बनाले तो उस पात्रका प्रेम उस मिथ्यादृष्टीसे होजायगा अर्थात् मिथ्यात्वकी अनुमोदना उसके होजायगी। वह दातार भी समझेगा कि मुझे इन पात्रोंने योग्य ही समझा तब ही तो मेरा दान लिया। वह और भी मिथ्यात्व ग्रंथिको दृढ कर लेगा। अतएव ऐसा दान उपकारक न होकर अपकारक होगा।

यहां तात्पर्य यह है कि सुपात्र वही है जो धर्मका दृढ श्रद्धावान हो व धर्ममें दृढ श्रद्धानियोंके ही भक्ति द्वारा दिये हुए दानको ग्रहण करे तब ही वह शुद्ध दान दातार व पात्र दोनोंको मोक्षमार्गमें प्रेरक है। मिथ्यात्वीके पात्रोंमें सच्ची भक्ति नहीं होती है। अतएव उनका दिया हुआ दान पात्रके लिये उचित नहीं है। यदि कोई ले ले तो वह अपात्र हो जायगा। दातारके अशुद्ध द्रव्यका व दातारके कुभावोंका भोजन करनेवालेके परिणामोंमें असर होता है वह विकारका हेतु है। एक वेश्याने मायाचारसे श्राविका बनकर धोखेसे एक जैन साधुको आहार करा दिया। आहार करते हुए उनकी दृष्टि ऊपर गई। उन्होंने एक मोतियोंका हार टंगा हुआ देखा। उनके परिणाम ऐसे हुए कि हम हारको चुरा लेजावें तब उस साधुने अपने गुरुसे यह हाल कहा। गुरुने कहा कि तुमने अशुद्ध दातारका अशुद्ध भोजन खाया है। प्रायश्चित्त लेकर दोषसे मुक्त होना चाहिये। अतएव श्रद्धावानके द्वारा शुद्ध भोजन ही पात्रोंको ग्रहण करना चाहिये।

श्लोक—मिथ्यादृष्टी च संगेन, गुणं निर्गुणं भवेत्।
मिथ्यादृष्टी जीवस्य, संगं तजंति ये बुधाः ॥ २९२ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यादृष्टी च संगेन) मिथ्यादृष्टीकी संगतिसे (गुणं निर्गुणं भवेत्) पात्रके गुण औगुण रूप होजाते हैं अतएव (ये बुधाः) जो बुद्धिमान हैं वे (मिथ्यादृष्टी जीवस्य संगं तजंति) मिथ्यादृष्टी जीवकी संगति छोड देते हैं।

विशेषार्थ—जो सच्चे तत्वके श्रद्धावान नहीं हैं उनकी संगतिसे लाभ होनेके बदलेमें हानि होना बहुत संभव है। उनके प्रभावमें आकर सच्चे श्रद्धावानोंकी श्रद्धा बहुधा बिगड जाती है। तथा गुणोंका नाश होकर औगुणोंकी उत्पत्ति होजाती है। बहुधा कुसंगतिसे ही लोग जुआरी, शिकारी, नशेबाज, वेश्यागामी, मांसाहारी, परस्त्रीरत, चोर होजाया करते हैं। कुसंगतिसे विषयासक्ति हो-

जाती है। जिन दातारोंकी संगतिसे सम्यक्त दृढ हो उन हीके द्वारा दान लेनेसे सम्यक्तादि गुणोंकी वृद्धि होगी। यदि दातार सम्यक्त रहित है, मिथ्या देव शास्त्र गुरुका श्रद्धानी है तो पात्रके भीतर उसके भावोंका असर पडनेसे सम्यक्त भावमें बाधा होजायगी। अतएव सम्यक्ती सर्व ही पात्र उन अनायतनोंकी संगति नहीं करते हैं जिनसे श्रद्धान, ज्ञान, चारित्रमें अन्तर पड जावे। इसीलिये मिथ्यादृष्टीके दानको वे ग्रहण नहीं करते। श्रद्धावान श्रावक गृहस्थके ही द्वारा दिया हुआ दान लेते हैं।

श्लोक—मिथ्याती संगते येन, दुर्गति भवति ते नरा।
मिथ्यासंग विनिर्मुक्तं, शुद्धधर्म रता सदा ॥ २९३ ॥

अन्वयार्थ—(येन) क्योंकि (मिथ्याती संगते दुर्गति भवति) मिथ्याती संसारासक्त मानवोंकी संगतिसे खोटी गति होती है अतएव (ते नरा मिथ्यासंग विनिर्मुक्तं) वे मानव मिथ्यात्वीकी संगतिको छोडकर (शुद्ध धर्म रता सदा) सदा ही शुद्ध रत्नत्रय धर्ममें लीन रहते हैं।

विशेषार्थ—संगतिका बडा भारी असर होता है। कुसंगतिसे यह प्राणी मिथ्यादृष्टी होकर कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरुका भक्त बन जाता है व इंद्रियोंके विषयोंका लम्पटी होकर विषयांध होजाता है। या ख्याति पूजा लाभादिके लोभमें पड जाता है, आत्मानुभवके हेतु रूप सच्चे धर्मका श्रद्धान खो बैठता है। अतएव नरक व पशुगति बांधकर नारकी या तिर्यंच होजाता है। इसीलिये जो पंडित पात्र हैं, चाहे मुनि हों या श्रावक हों या व्रत रहित सम्यक्ती हों वे कुसंगतिसे सदा बचते हैं। मिथ्यादृष्टीकी संगति नहीं करते हैं तब वे मिथ्यात्वी द्वारा दिया हुआ दान भी नहीं लेते। क्योंकि भोजनकी संगति व मिथ्यात्वी दातारकी संगति परिणामोंमें विकार उत्पन्न कर देगी। ज्ञानी पात्र सदा ही शुद्ध आत्मीक तत्वमें रमण किया करते हैं। व उसके साधक पांच परमेष्ठीकी भक्ति करते हैं। धर्मात्मा गृहस्थोंकी ही संगति रखते हैं व धर्मात्मा गृहस्थोंके ही द्वारा दिया हुआ दान लेते हैं। उनके इस बातकी बडी सम्हाल रहती है कि हमारा रत्नत्रय धर्म किसी तरह भी मलीन न हो। वह पूर्णपने सुरक्षित रहे, इसलिये वे श्रद्धावान श्रावक गृहस्थोंके द्वारा दिया हुआ दान ही लेते हैं। मिथ्यातियोंको सम्यक्ती बनाकर फिर उनका आहार वस्त्र लेसक्ते हैं।

श्लोक—मिथ्या संगं न कर्तव्यं, मिथ्या वासना वासितं ।
दूरे त्यजंति मिथ्यात्वं, देश इत्यादि त्यक्तयं ॥ २९४ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यासंगं न कर्तव्यं) मिथ्यात्वका संग न करना चाहिये (मिथ्या वासना वासितं) मिथ्यात्वकी वासनासे वासित (देश इत्यादि त्यक्तयं) क्षेत्र आदिका त्याग करना चाहिये। ज्ञानीजन (मिथ्यात्वं दूरे त्यजंति) मिथ्यादर्शनको दूरसे ही त्याग देते हैं।

विशेषार्थ—मिथ्यादर्शनके समान कोई पाप नहीं है। सम्यग्दर्शनके समान कोई गुण नहीं है। व्यवहार मिथ्यात्वका सेवन अंतरंग मिथ्यात्वकी वासनाको दृढ करनेवाला है, जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शनका सेवन अंतरंग सम्यग्दर्शनको दृढ करनेवाला है इसलिये धर्मात्मा श्रावक गृहस्थोंको मिथ्यात्वके पोषक अपात्रोंका संग नहीं करना चाहिये। उनको उस क्षेत्रमें भी नहीं जाना चाहिये जहां मिथ्यात्वकी पुष्टि हो व सम्यग्दर्शनकी विराधनाकी शंका हो। मिथ्यादर्शनसे उसी-तरह बचना चाहिये जैसे दुर्गंध वायु, जल, भूमिसे बचा जाता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्मकी संगति मिथ्यात्वकी वासनाको पैदा करनेवाली है। इसलिये उनकी संगति न करना ही उचित है। जिस देशमें मिथ्यात्वका ही प्रचार है, व्यवहार सम्यग्दर्शनके साधन नहीं हैं उस देशमें प्रथम तो जाना ही उचित नहीं है। यदि लौकिक कार्यवश जाना पडे तो सम्यग्दर्शनकी साधक क्रियाओंको करता रहे। जप, पाठ, सामायिक ध्यानादिको कभी न छोडे तथा मिथ्यात्व क्रियाओंकी संगतिमें आप न बैठे। धर्मबुद्धिसे मिथ्या धर्मके धारकोंका सन्मान आदि न करे। जैसे शुद्ध श्वेत वस्त्रका धारी इस बातकी सम्हाल रखता है कि कहीं कोई कीचडका धब्बा मेरे कपडोंपर न लग जावे, वैसे विवेकीको सम्हाल रखना चाहिये कि मेरे श्रद्धानमें कोई मलीनता न आनी चाहिये। इसीलिये अपात्रोंकी भक्ति करनी उचित नहीं है।

श्लोक—मिथ्या दूरे हि वाचंति, मिथ्या संग न दिष्टते ।
मिथ्या माया कुटुंबस्य, संगं विरचे सदा बुधैः ॥ २९५ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्या दूरे हि वाचंति) मिथ्यात्वसे दूरसे ही बचना चाहिये (मिथ्या संग न दिष्टते)

मिथ्यात्वका संग न दिखना चाहिये (मिथ्या माया कुटुम्बस्य संगं) मिथ्यात्व व मायामें फंसे हुए कुटुंबका संग (बुधैः सदा विरचे) बुद्धिमान सदा ही बचावे ।

विशेषार्थ—यहांपर भी मिथ्यात्वकी संगतिका निषेध किया है। ग्रंथकर्ताका अभिप्राय यही है कि गृहस्थजन शुद्ध सम्यक्तमें परिपक्व रहें। क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्गकी प्रथम सीढी है। इसके विना व्रत, जप, तप सब असार है। आत्मानुशासनमें कहा है—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः। पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥ १५ ॥

भावार्थ—शमभाव, ज्ञान, चारित्र, तपका मूल्य सम्यग्दर्शनके विना पाषाण खण्डके समान है परन्तु यदि वे सम्यग्दर्शनके समान हो तो उनका मूल्य व आदर महामणिके समान होता है। इसीलिये मिथ्यात्वसे भले प्रकारसे बचनेका उपदेश है। ज्ञानी गृहस्थको उचित है कि सदा ही सम्यग्दर्शनकी दृढताके कारक आयतनोंकी संगति रखे। जिनचैत्यालय, जिनशास्त्र, जैन गुरु, जैन धर्मात्मा ज्ञानी पुरुष, जिनेन्द्र भक्ति, सद्गुरुको दान, सद्गुरु द्वारा उपदेशश्रवण आदि निमित्तोंको मिलाता रहे, इनके विरुद्ध निमित्तोंकी संगति न करे, उनसे माध्यस्थ भाव रक्खे, लौकिक व्यवहार न बिगड़े उतना मात्र सहयोग देवे परन्तु अपनी श्रद्धामें किसी तरह मलीनता आजावे ऐसा सहयोग न करे। जो गृहस्थ कुटुम्बी मिथ्यात्वके पोषक हैं व जो मायाचारके पोषक हैं, ठग हैं, अन्यायी हैं उनकी संगतिसे बचना ही उचित है। जिसतरह बने सम्यग्दर्शनकी रक्षा करे यह अभिप्राय है।

श्लोक—मिथ्यात्वं परमं दुःखं, सम्यक्तं परमं सुखं।
तत्र मिथ्यामतं त्यक्तं, शुद्ध सम्यक्त सार्द्धयं ॥ २९६ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्वं परमं दुःखं) मिथ्यादर्शन परम दुःखका कारण है (सम्यक्तं परमं सुखं) सम्यग्दर्शन परम सुखका कारण है (तत्र मिथ्यामतं त्यक्तं) इसीलिये मिथ्यादर्शनका त्याग करे (शुद्ध सम्यक्त सार्द्धयं) शुद्ध सम्यग्दर्शनको अपना साथी बनाए रक्खे।

विशेषार्थ—संसारमें नरक, निगोद, एकेंद्रिय, विकलत्रय, पशु आदिके घोरसे घोर दुःखोंमें पटकनेवाले कर्मोंका बंध मिथ्यादर्शनसे होता है इसलिये मिथ्यादर्शन ही परम दुःखरूप है अथवा

मिथ्यात्वी जीव संसारमें तीव्र रागी होता है, वह निरंतर इष्टका समागम चाहता है। जब इष्टका वियोग होजाता है या कोई उसके अनुकूल नहीं चलता है तो उसे महा दुःख होता है। वह रात दिन तृष्णाकी व्याधिसे पीडित रहता है, विषयोंके कारण आकुलित रहता है। इच्छा व चिंता ये ही महान दुःख हैं। इच्छित वस्तुओंको मिलनेपर भी वह तृष्णाको बढाकर अधिक चाहकी दाहमें जला करता है। मिथ्यात्वीका जीवन सदा दुःखरूप रहता है। वह परलोकमें भी कष्ट पाता है। सम्यग्दर्शन परम सुखका कारण है। सम्यक्ती जीव मोक्ष पाता है। सम्यक्ती इस लोक व परलोक दोनोंमें सुखी रहता है। यहां यदि कर्मोंके उदयसे दुःखके सामान मिलते हैं तौभी समभाव रखता है। यदि पुण्यके उदयसे सुखके सामान मिलते हैं तो उनसे वैरागी रहता हुआ उनमें रंजायमान नहीं होता है। इसीलिये इस बातकी बडी आवश्यक्ता है कि शुद्ध सम्यक्तकी रक्षा की जावे, सम्यक्तमें कोई दोष न लगाया जावे। मिथ्यादर्शनको भलेप्रकार त्याग दिया जावे। जिनकी संगतिसे विषय कषायोंमें लीनता हो, मिथ्या पूजापाठ व रूढियोंमें भी जकडना पडे उनकी संगति विवेकी न करें। इसी हेतुसे भक्तिपूर्वक अपात्रोंको दान न करे। व्यवहार सम्यग्दर्शनके धारी पात्रोंको ही भक्तिसे दान करे चाहे वे सुपात्र हों या कुपात्र अर्थात् निश्चय सम्यक्त रहित हो। परन्तु व्यवहार सम्यक्तसे शून्य मिथ्यादृष्टीको भक्तिपूर्वक दान करना उचित नहीं है क्योंकि वहां धर्मकी पात्रता नहीं है। दया बुद्धिसे हरएक प्राणीको आहार, औषधि, अभय व विद्यादान करना उचित है, उसमें पात्र अपात्रका विचार नहीं है। धर्मबुद्धिसे मिथ्यात्वकी भक्ति हानिकारक है जिसे करना उचित नहीं है। सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी रक्षा करना विवेकीका कर्तव्य है।

रात्रि भोजन त्याग।

श्लोक—अनस्तमितं वेघडियं च, शुद्ध धर्म प्रकाशये।
सार्धं शुद्ध तत्वं च, अनस्तमितं रतो नराः ॥ २९७ ॥

अन्वयार्थ—(अनस्तमितं वेघडियं) दो घडी सूर्यके अस्त पहले भोजन कर लेना चाहिये (शुद्ध धर्म-

प्रकाशये) ऐसा अहिंसाधर्म प्रकाशित करता है (शुद्धतत्वं च सार्द्धं) जो धर्म शुद्ध वस्तुस्वरूपको बतानेवाला है इस तरह (नराः अनस्तमितं रताः) मानवोंको रात्रिभोजन त्यागमें रत होना योग्य है।

विशेषार्थ—अब ग्रन्थकर्ता रात्रि भोजन त्यागके सम्बन्धमें कहते हैं कि धर्मात्मा श्रावकोंको जो अहिंसाधर्मके प्रेमी हैं, जो चाहते हैं कि वृथा ही जंतुओंका वध न हो, यह उचित है कि रात्रिको भोजन न करें। दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट सूर्यके अस्तमें शेष रहे तब भोजनपान समाप्त करलें व दो घडी दिन निकले विना भोजनपान प्रारम्भ न करे। शुद्ध वस्तु स्वरूपको बतानेवाला यह जैनधर्म हिंसासे बचनेके लिये ऐसा उपदेश करता है। रात्रिको अंधेरा रहता है। यदि दीपक जलाया जावे व उस प्रकाशमें रसोई बनाई जावे व खाई जावे तो उसमें अनेक चौइंद्रिय प्राणियोंका वध होगा, जो दिनमें विश्राम करते हैं व रात्रिको उडा करते हैं। अहिंसा व्रतकी पूर्णताके लिये रात्रिको पूर्ण उपवास पालना चाहिये। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा। हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥ १२९ ॥

अर्कालोकेन विना भुंजानः परिहरेत् कथं हिंसां। अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनां ॥ १३३ ॥

भावार्थ—जो रात्रिको भोजन करते हैं उनको नियमसे हिंसा करनी पडती है इसलिये जो हिंसासे बचना चाहते हैं उनको रात्रिको भोजन भी न करना चाहिये। सूर्यके प्रकाश विना खाते हुए हिंसा कैसे छोडी जासक्ती है। क्योंकि प्रदीपके जलानेपर अनेक छोटे२ जन्तु आजावेंगे व उनका भोजनमें सम्बन्ध होनेसे उनकी हिंसा होगी व उनका कलेवर भोजनके साथ खाया जायगा।

विवेकी गृहस्थ रात्रिको जल भी नहीं लेते हैं तथापि गृहस्थोंको रात्रिभोजन त्यागका यत्न करना उचित है। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय, चार प्रकारका आहार है-अभ्यास करनेवाला यथाशक्ति त्याग करे। उद्यम इस बातका करे कि रात्रिको जल भी न लेना पडे तो उत्तम है। रात्रिको पूर्ण खानपानके त्याग करनेसे वर्षमें छ मासके उपवासका फल होता है।

श्लोक—अनस्तमितं कृतं येन, मन वच काय योगभिः।
शुद्ध भावं च भावं च, अनस्तमितं प्रतिपालए ॥ २९८ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (मन वंच काय योगभिः) मन वचन काय तीनों योगोंके द्वारा (अनस्तमितं

कृतं) रात्रि भोजनका त्याग कर दिया (शुद्ध भावं च भावं च) उसीने शुद्ध भावोंकी भावना भाई है। (अनस्तमितं प्रतिपालए) और रात्रिभोजन त्याग व्रत प्रतिपालन किया है।

विशेषार्थ—रात्रिको भोजनकी इच्छा मनसे भी न करे, न रात्रिभोजन सम्बन्धी वचन बोले, न कायसे रात्रिभोजन करे। मन वचन कायसे जिसने रात्रिभोजनका त्याग किया उसने अहिंसा-धर्मको यथार्थ पालन किया है। धर्मात्मा श्रावकोंको उचित है कि रात्रिको भोजनका सर्व विकल्प मेटकर परम सन्तोष रक्खें, और धर्मध्यानमें समय लगावें। शुद्ध भावकी भावना करें, आत्मतत्वका चिंतवन करें। भोजनादि कुकथाको भी त्यागे। पूर्णपने इस रात्रिभोजन त्याग व्रतको पालें।

जैन गृहस्थोंके अहिंसाधर्म व वीतराग धर्मकी यही शोभा है जो सूर्यप्रकाशमें ही भोजनपान कर लिया जावे। भोजन सम्बन्धी आरम्भ भी दिनमें किया जावे। दिनमें ही रसोई तैयार की जावे। दिनमें ही खाया खिलाया जावे। सम्यक्ती स्वभावसे ही दयालु होता है। वह यह उद्यम रखता है कि जितना अधिक हिंसासे बचा जावे उतना धर्म है।

श्लोक—अनस्तमित्वं पालंते, वासी भोजन त्यक्तये।
रात्रि भोजनं कृतं येन, भुक्तं तस्य न शुद्धए॥ २९९॥

अन्वयार्थ—(अनस्तमित्वं पालंते) जो रात्रि भोजन त्याग व्रत पालते हैं वे (वासी भोजन त्यक्तये) रात्रि वासी भोजन छोड़ देते हैं। (येन रात्रिभोजनं कृतं) जिसने रात्रि भोजन किया (तस्य भुक्तं न शुद्धए) उसका भोजन शुद्धिके लिये नहीं है।

विशेषार्थ—रात्रि भोजनके त्यागीको न तो रातका बनाया खाना चाहिये न रोटी पुरी आदि जिसकी मर्यादा मात्र दिनभरकी है रात्रि वासी सबेरे खाना चाहिये। भोजनकी शुद्धि भी अति आवश्यक वस्तु है। शुद्ध भोजन वही है जिसमें हिंसाका दोष जितना बचाया जासके बचता हो। रात्रिका पीसा आटा व मसाला आदि न खाना चाहिये। हिंसा त्रस जंतुओंकी बचाना बहुत जरूरी है। त्रस जंतुके कलेवरको मांस कहते हैं। ऐसा मांस अपने खानेमें न आवे इसलिये रात्रिको बनाना व रात्रिको खाना उचित नहीं है। परिणामोंकी उज्वलताके लिये शुद्ध भोजन बहुत उपकारी है।

गृहस्थी श्रावकको उचित है कि अपने यहां भोजन ऐसा शुद्ध तैयार करे जो मुनि आदि पात्रोंको दान भी किया जासके व अपनेको भी शुद्धतापूर्ण भोजन प्राप्त हो।

श्लोक—खाद स्वाद पीवं च, लेयं आहार क्रीयते।
वासी स्वाद विचलंते, त्यक्तं अनस्तमितं कृतं ॥ ३०० ॥

अन्वयार्थ—(खाद स्वाद पीवं च लेयं आहार क्रियते) खाद, स्वाद, पेय, लेह्य ऐसे चार प्रकार आहार होता है इनको रात्रिमें तथा (वासी स्वाद विचलंते) वासी भोजनको, जिनका स्वाद चलायमान होगया है (त्यक्तं) छोड दिया जाय तब ही (अनस्तमितं कृतं) रात्रि भोजन त्याग व्रत पूर्ण हुआ समझना चाहिये।

विशेषार्थ—भोजनके चार भेद हैं। जिससे पेट भरे ऐसे अन्नादि खाद्य है। इलायची ताम्बूल आदि स्वाद्य है। दूध, पानी आदि पेय है तथा चाटनेकी चीज चटनी आदि लेह्य है। रात्रिभोजन त्यागीको इन चारों ही प्रकारका भोजन नहीं लेना योग्य है। न रात्रिका बनाया हुआ न रात्रिका वासी भोजन जिसका स्वाद औरका और होगया है लेना योग्य है। वास्तवमें सन्तोष व इंद्रियविजयका भाव श्रावक गृहस्थमें होना चाहिये। जो सचे धर्मके श्रद्धावान हैं उनको इस व्रतके पालनमें कोई कठिनाई नहीं होती है। वे बडे दयावान होते हैं। जितना बचे उतना हिंसाको बचाते हैं, उनको विश्वास होता है कि दिनकी अपेक्षा रात्रिको खानपानका आरम्भ करनेमें या खानेमें बहुत त्रस जन्तुओंका घात होता है। यदि हमको कोई लाचारी नहीं है तौ हमें अवश्य खानपान दिन हीमें कर लेना चाहिये। यद्यपि जो गृहस्थ ऐसी स्थितिमें हो कि एकदम रात्रिभोजन नहीं त्याग सक्के वे छठी प्रतिमामें पहुंचकर अवश्य रात्रिभोजनका पूर्ण त्याग कर देते हैं।

श्लोक—अनस्तमितं पालितं येन, रागदोषं न चिंतये।
शुद्ध तत्त्वं च भावं च, सम्यग्दृष्टी च पश्यते ॥ ३०१ ॥

अन्वयार्थ—(येन अनस्तमितं पालितं) जिसने रात्रिभोजन त्याग व्रत पाला है वह (रागदोषं न चिंतये) रागद्वेष भावोंकी चिंता नहीं करता है किंतु (शुद्धतत्वं च भावं च) शुद्ध आत्मीक तत्त्वकी भावना करता है (सम्यग्दृष्टी च पश्यते) वही सम्यग्दृष्टी देखा जाता है।

विशेषार्थ—यहांपर ग्रन्थकर्ता रात्रि भोजन त्यागीके भावोंकी तसवीर बताते हैं कि उसमें बडा ही सन्तोष व दयाभाव होता है। वह निस्पृही सम्यग्दृष्टी जीव अपने अंतरंगसे राग व द्वेष बढानेवाली चर्चा या चिंता नहीं करता है, निरन्तर शुद्ध निश्चय नयका आश्रय लेता हुआ शुद्ध आत्माका विचार किया करता है। यद्यपि अपनी २ स्थितिके अनुसार सम्यग्दृष्टी लौकिक क्रिया करता है तथापि उसकी भावना आत्मीक तत्वकी ही रहती है। रागद्वेष करना मात्र हिंसा है। इससे वह अपनेको बचाता है। कोई २ ऐसा मानते हैं कि दिनमें भोजन न करके रात्रिको करे तो क्या दोष है। सम्यक्ती ऐसा तर्क नहीं करता है क्योंकि दिनकी अपेक्षा रात्रिको घोर हिंसा होती है।

श्रावकाचारमें अमितगति महाराज कहते हैं—

ये ब्रवंति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुण्यपापयोः। ते प्रकाशतमसोः समानतां दर्शयंति सुखदुःखकारिणोः ॥१२-९॥

भावार्थ—जो ऐसा कहते हैं कि दिन व रात दोनोंमें भोजन समान है, वे पुण्य व पापको समान कहते हैं, वे प्रकाश व अन्धकारको समान बताते हैं व सुख व दुःखके कारणको समान कहते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि दिनमें भोजन दयाका अंग है, धर्मरूप है, पुण्यरूप है, जब कि रात्रिको भोजन पापरूप है, अधर्म है।

श्लोक—शुद्ध तत्वं न जानंते, न सम्यक्तं शुद्ध भावना।
श्रावकं तत्र न उत्पायं, अनस्तमितं न शुद्धए॥ ३०४॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध तत्वं न जानंते) जो कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मीक तत्वको नहीं समझते हैं (न सम्यक्तं शुद्ध भावना) न उनके सम्यग्दर्शन है न शुद्ध आत्मीक तत्वकी भावना है (तत्र श्रावकं न उत्पायं) वहां श्रावकपना नहीं उत्पन्न होसक्ता (अनस्तमितं न शुद्धए) उनको रात्रिका आहार त्याग कर देना उनकी आत्माकी शुद्धिके लिये कारणभूत नहीं है।

विशेषार्थ—यहां यह दिखलाया है कि सम्यक्त सहित ही यह रात्रिभोजन त्याग व्रत उपकारी है व मोक्षका साधक है। यदि कोई सम्यक्ती नहीं है और वह शुद्ध तत्वकी भावना नहीं करता है तो उसका त्याग व नियम व व्रत सर्व पुण्य बन्धकारक नहीं होगा। बिना सम्यक्तके श्रावकपना नहीं होसक्ता है। इसलिये श्रावकको मात्र हिंसाके बचावके लिये ही रात्रिमें भोजन नहीं करना

चाहिये। व उस व्रतके बदलेमें मुझे पुण्य होगा ऐसा निदान न करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक शुद्ध भावसे रात्रिभोजन त्याग व्रत पालना चाहिये। सम्यक्तीके रात्रिभोजनके त्यागका फल विशेष होता है। वह रात्रिके बहुत समयको धर्मध्यानमें लगाकर सफल करता है।

अमितगति श्रावकाचारमें फल बताया है—

ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः सर्वयाचितविधानपण्डिताः। सर्वलोकपतिपूजनीयता, रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते ॥ ६४-५ ॥

भावार्थ—सर्व वांछित कार्य करनेमें समर्थ ऐसी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी विभूतियें व सर्व इन्द्रादिसे पूज्यनीयपना रात्रिभोजन त्यागीके प्राप्त होता है। वास्तवमें ऐसा व्रती बडा ही संतोषी दयावान आत्मानुभवी होता हुआ उत्तम फल पाता है।

श्लोक—जे नरा शुद्धदृष्टी च, मिथ्या माया न दिष्टते।
देवं गुरुं श्रुतं शुद्धं, तं अनस्तमितं व्रतं ॥ ३०३ ॥

अन्वयार्थ—(जे नरा शुद्धदृष्टी च) जो मानव शुद्ध सम्यग्दृष्टी हैं (मिथ्या माया न दिष्टते) जिनमें मिथ्यात्व व मायाचार नहीं दिखलाई पडता है, जो (शुद्धं देवं गुरुं श्रुतं) शुद्ध वीतराग देव, वीतरागी साधु व वीतराग विज्ञानमय शास्त्रको मानते हैं (तं अनस्तमितं व्रतं) उनहीका रात्रिभोजन त्याग व्रत सफल है।

विशेषार्थ—यहां यह दिखलाया है कि कोई रात्रिभोजन मात्र त्यागकर अपनेको धर्मात्मा श्रावक मान ले तो वह सच्चा श्रावक गृहस्थ नहीं होसक्ता। हरएक मानवको जो इस व्रतको पाले शुद्ध सम्यग्दृष्टी होना चाहिये-उसके भीतर भेदविज्ञानके प्रतापसे आत्मा निजस्वभावरूप अनुभवमें आरहा हो, जिनको जीवादि सात तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान हो, जिनमें न तो मिथ्यात्व हो, न कोई मूढता हो, न कोई मायाचार हो, सरल शुद्ध भावसे जिनकी श्रद्धा जैन धर्मके तत्वोंमें हो तथा जो सर्वज्ञ वीतराग देवको ही देव, निर्ग्रंथ वीतरागी साधुको ही गुरु, स्याद्वादनयसे वस्तुके अनेकांत स्वरूपको बताने व आत्माको वीतराग विज्ञानके मार्गपर चलानेका उपदेश देनेवाले शास्त्रको न मानते हो। ऐसा सम्यग्दृष्टी श्रावक अहिंसा तत्वका प्रेमी व आत्मध्यानका अभ्यासी होगा। दिव-

समें संतोषपूर्वक शुद्ध भोजन करना श्रावकके आत्मध्यानमें सहायक होगा, व उसके अहिंसा व्रतको दृढ करेगा। रात्रिको वह भोजन सम्बन्धी आरंभसे विरक्त हो, खानपानकी चर्चासे अलग हो अपना समय धर्मध्यानमें देसकेगा। जो आत्मज्ञानी होगा उसीके सच्चा रात्रिभोजन त्याग व्रत होगा।

पानी छानना।

श्लोक—पानी गालितं येनापि, अहिंसा चित्त शंकए।
विलछितं शुद्ध भावेन, फासू जल निरोधनं ॥ ३०४ ॥

अन्वयार्थ—(येनापि पानी गालितं) जिस किसीने भी पानीको छाननेकी विधि की वह वही श्रावक होगा (अहिंसा चित्त शंकए) जिसके चित्तमें अहिंसाके पालनेका भय होगा वह (शुद्ध भावेन विलछितं) शुद्ध भावसे विलछन पहुंचावेगा तथा (फासू जल निरोधनं) प्राशुक जलको बंद रक्खेगा–ढका रक्खेगा।

विशेषार्थ—अब श्रावककी त्रेपन क्रियाओंमें जो पानी छाननेकी आज्ञा है उसपर ग्रंथकर्ताने प्रकाश डाला है कि पानीके छाननेकी विधि वही करेगा जो अहिंसाव्रत भलेप्रकार पालनेका उद्योगी होगा व स्थावर व त्रसकी हिंसासे भयभीत होगा। बिना छना पानी काममें लेनेसे अनगिनती त्रस जंतुओंका घात होता है। दयावान गृहस्थ गाढेके दोहरे छन्नेसे कूप, वावडी, नदी आदिका पानी सम्हालकर छानेगा, एक वर्तनसे दूसरे वर्तनमें छानेगा। छन्ना इतना बडा होना चाहिये कि दोहरा करनेपर वर्तनके मुखसे तीनगुणा चौडा हो ताकि बिना छना पानी वर्तनमें न आवे। पानी छानकर उसका विलछन या जीवानी वहीं सम्हालकर पहुंचा देनी चाहिये जहांसे पानी भरा गया हो। छना पानी दो घडी या ४८ मिनटसे अधिक नहीं चल सक्ता है इसलिये पुनः पुनः छाननेकी जरूरत पडेगी। उचित है कि सब विलछन एक वर्तनमें एकत्र कर लिया जावे। जब फिर पानी भरनेको जावे तब उसी वर्तनमें रखकर वर्तनको कूपमें डाल दे। नदी व सरोवरमें तो तुर्त छने पानीकी धारसे छन्नेको धोदेना चाहिये। इस छने पानीको सदा ढका हुआ रखना चाहिये, जिससे कोई जंतु उसमें पडे नहीं। ४८ मिनट बीतनेपर फिर छानकर वर्तना चाहिये। यदि प्राशुक करना हो तो लवंग, कसायला द्रव्य, निमक, मिरच आदि कोई पदार्थ कूट करके ऐसा मिलाया जावे

जिससे पानीका स्वाद व रंग बदल जावे। ऐसा प्राशुक पानी छः घंटे चल सकेगा। यदि उसको औटा लिया जावे तो वह चौवीस घंटे चलेगा। यदि अधन न हो, मात्र खूब गर्म हो तो १२ घंटे चलेगा। या १२ या २४ घंटेके भीतर २ उस प्राशुक पानीको वर्त लेना चाहिये, वह फिर छाननेसे कामके लायक नहीं होता है। जिसमें स्थावर जलकायिक जीव भी न हों उस जलको प्राशुक कहते हैं। दयावान गृहस्थ अनछने पानीका वर्ताव नहीं रक्खेगा।

श्लोक—जीवरक्षा षट्‌ कायस्य, शंकये शुद्ध भावना।
श्रावको शुद्धदृष्टी च, जलं फासु प्रवर्तते ॥ ३०५ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध भावना) शुद्ध सम्यग्दर्शनकी भावना करनेवाला (श्रावको शुद्धदृष्टि च) श्रावक शुद्ध दृष्टि रखनेवाला (षट्‌कायस्य जीवरक्षा) छः कायके प्राणियोंकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है इसलिये (फासु जलं प्रवर्तते) प्रासुक जल काममें लेता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टी श्रावकके भीतर सर्व प्राणी मात्र पर दयाभाव होता है। वह सर्व प्राणियोंपर मैत्रीभाव रखता है। इसलिये वह पृथ्वी कायिक, जल कायिक, वायु कायिक, अग्नि कायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक, इन शरीरधारी छहों जातिके प्राणियोंपर परम दयालु होता है। वह जीवरक्षाके हेतुसे पानी छाननेमें कोई प्रमाद नहीं करता है। यहां ग्रन्थकर्ताने लिखा है कि श्रावक प्रासुक जलका व्यवहार करता है। इससे पता चलता है कि प्राचीन कालमें यही रीति होगी कि पानीको छानकर गर्म कर लेते होंगे इससे वारवार छाननेका काम मिट जाता है। तथा प्राशुक जल बहुत मर्यादाका बहुत देरतक विना चिंताके वर्ता जाता है। उसमें न तो त्रस जंतु पैदा होते हैं न स्थावर। गृहस्थ श्रावकके यहां ऐसा रिवाज होना उचित दीख पडता है। इसतरह प्राशुक जल गृहमें रखनेसे मुनि आदि पात्रोंको बडी सुगमतासे दान होसकता है। पुनः पुनः छाननेमें प्रमाद होना संभव है। जलको छानके तुर्त प्राशुक कर लिया गया, अब छाननेमें प्रमादको अवकाश भी न रहा, यह प्रवृत्ति उचित मालूम पडती है।

सर्व काम प्राशुक जलसे ही करना उचित है। यद्यपि इसमें एकदफे जलकायिक जंतुओंकी हिंसा होती है परंतु मर्यादा तक उसमें ऐसे जीव उत्पन्न न होंगे न फिर उनके घातकी जरूरत होगी।

श्लोक—जलं शुद्धं मनः शुद्धं, अहिंसा दया निरूपणं ।
शुद्ध दृष्टी प्रमाणं च, अव्रत श्रावक उच्यते ॥ ३०६ ॥

अन्वयार्थ—(जलं शुद्धं मनः शुद्धं) जलकी शुद्धतासे मनकी शुद्धता होती है (अहिंसा दया निरूपणं) अहिंसा तथा दयाका पालन होता है (शुद्ध दृष्टी प्रमाणं च) जिसका सम्यक्त निर्मल है व ज्ञान सम्यक् है वही (अव्रत श्रावक उच्यते) अविरत श्रावक कहा जाता है ।

विशेषार्थ—शुद्ध प्रासुक जल पीनेसे मनके विचारोंमें निर्मलता रहती है । यह कहावत प्रसिद्ध है—"जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीवे पानी वैसी बोले वाणी ।" वास्तवमें पुद्गलका असर जीवके भावोंमें और जीवोंके भावोंका असर पुद्गलपर पडता रहता है, जहांतक आत्मा अशुद्ध है । पुद्गलके कारण उसकी शुद्ध शक्ति आच्छादित है । जब मन या आत्माका अशुद्ध उपयोग प्रसन्न होता है, सर्व शरीर सुख दिखता है, रुधिरका संचार ठीक होता है, भोजन ठीक पाचन होता है, उसी तरह जब शरीर निर्बल, अस्वस्थ व खेदित होजाता है, थक जाता है तब जीवोंके अशुद्ध भाव म्लानित व ढीले पड जाते हैं । मादक पदार्थोंके खाने पीनेसे बुद्धि उन्मत्त होजाती है । आत्मध्यान करनेसे शरीर प्रफुल्लित व निरोग होजाता है, इसी तरह शुद्ध खानपान करनेसे उससे रुधिर व वीर्य शुद्ध होता है । जिसका असर सर्व शरीरपर पडता है—उपयोगपर भी असर पडता है । जो मोक्षमार्गका पंथी है चाहे वह अविरत सम्यग्दृष्टी क्यों न हो उसे शुद्ध खानपान करके अपने भावोंको शुद्ध रखना चाहिये तथा अहिंसा पालना चाहिये । अशुद्ध खानपानका राग हटनेसे भाव अहिंसा व अशुद्ध खानपानमें जो प्राणी घात होता था वह नहीं होता है इससे द्रव्य अहिंसा पलती है, जीवोंकी रक्षा हो यह शुभ राग होता है । इस तरह दयाका पालन होता है । जो शुद्ध जल पीवे उसको सम्यग्दृष्टी व सम्यग्ज्ञानी होना चाहिये । तब ही वह अविरत सम्यग्दृष्टी होगा । मात्र पानी छानकर पीनेसे ही कोई जैनी नहीं होसकेगा, उसे आत्मानुभवी व संसार शरीर भोगोंसे वैरागी होना चाहिये ।

श्रावकके छः नित्यकर्म ।

श्लोक—अव्रतं श्रावकं येन, षट्कर्म प्रतिपालए ।
षट्कर्म द्रविधश्चैव, शुद्ध अशुद्ध पश्यते ॥ ३०७ ॥

अन्वयार्थ—(अव्रतं श्रावकं येन) जो अव्रती श्रावक है उसको भी (षट्कर्म प्रतिपालए) छः नित्यकर्म पालने चाहिये (षट्कर्म द्रविधश्चैव) वे छः कर्म दो प्रकारसे हैं (शुद्ध अशुद्ध पश्यते) कोई शुद्ध कोई अशुद्ध दिखाई पडते हैं।

विशेषार्थ—श्रावकोंको व्रतोंका नियम न होनेपर भी सम्यग्दर्शनकी दृढताके लिये तथा सम्यक्‌चारित्रपर आरूढ होनेकी तैयारी करनेके लिये नित्य छः कर्म पालने चाहिये-देव पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप तथा दान। इनके पालनसे परिणामोंमें निर्मलता व आत्मभावना होती है, कषायोंकी मंदता होती है, परिणाम उदार होते हैं, जगतके मानव इन कर्मोंको करते हुए दिखलाई पडते हैं। कोई तो शुद्ध रीतिसे पालते हैं, कोई अशुद्ध रीतिसे पालते हैं। मिथ्यात्व सहित सर्व कर्म अशुद्ध हैं। सम्यक्त सहित सर्व कर्म शुद्ध हैं। जहांपर यह आशय या अभिप्राय है कि मुझे पुण्यका लाभ हो जिससे धन, पुत्र, राज्य, स्वर्गके भोग, देवियोंका समागम प्राप्त हो वहांपर बाहरमें यथार्थ दीखनेवाले छः कर्म किये हुए भी अशुद्ध कहे जाते हैं। क्योंकि अभिप्रायकी मलीनता साथमें है। जहां आशय मात्र आत्मशुद्धिका है, निर्वाणका है-वहां ये षट्कर्म शुद्ध कहे जाते हैं। क्योंकि वह ज्ञानी इन छः कर्मोंमें भी शुद्ध आत्मीक भावकी खोज कर रहा है।

श्लोक—शुद्ध षट्कर्म जानीते, भव्यजीव रतो सदा ।
अशुद्धं षट्कर्म रत, अभव्य जीव न संशयः ॥ ३०८ ॥

अन्वयार्थ—(भव्य जीव) भव्य जीव जो मोक्षगामी है सम्यक्ती है वह (शुद्ध षट्कर्म जानीते) शुद्ध छः कर्मोंको समझता है और (सदा रतः) निरंतर उनके पालनमें लीन रहता है (अशुद्धं षट्कर्म रत) जो अशुद्ध षट्कर्ममें लीन है वह (अभव्य जीव न संशयः) अभव्य जीव है इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—यहां भव्य अभव्यका स्थूलपने कथन है, सूक्ष्मदृष्टिसे कथन नहीं है। यहां सम्यक्तीको

व सम्यक्तके सन्मुखको, व्यवहार सम्यग्दृष्टीको भव्य कहा है। जिसको शुद्ध आत्माकी रुचि है व आत्माके पवित्र करनेका चाव है तथा जिसको शुद्ध आत्माकी रुचि न होकर विषयोंके भोगकी रुचि है उसको अभव्य कहा है। भव्य जीव देवपूजादि छहों कार्योंका यथार्थ आशय समझता है कि ये मात्र आलम्बनरूप हैं, शुभ रागरूप हैं, परन्तु उनहीके सहारेसे शुद्ध भावका लाभ होसकेगा ऐसा जानता है इसलिये शुद्ध भावोंकी खोज करता हुआ व शुद्ध भावोंकी तरफ दृष्टि रखता हुआ वह ज्ञानी देवपूजादि छः कर्मोंको करता है तो उसे इनके भीतरसे स्वात्मानुभव होजाता है। देवपूजामें जिनेन्द्र गुणगान करते हुए जब उपयोग शुद्ध गुणोंके मननमें तन्मय होजाता है तो तुरत शुद्ध भाव जग जाता है। गुरुभक्ति करते हुए आत्मध्यानी गुरुकी संगतिसे भावोंमें आत्मध्यान जग उठता है। शास्त्र स्वाध्यायमें, मुख्यतासे अध्यात्म ग्रंथोंको पढनेसे भावोंमें आत्मानुभव झलक जाता है। संयमका विचार करते हुए, प्रतिदिन सबेरे १७ नियम लेते हुए ज्ञानीको आत्मसंयमका भाव आजाता है। प्रतिदिन सबेरे व शाम सामायिक करते हुए साक्षात् आत्मानुभव प्राप्त कर लिया जाता है। सम्यग्दृष्टीके श्रावका, तीन प्रकार पात्रोंमेंसे किसीको दान देते हुए, उनकी सम्मुखतासे रत्नत्रयमें भक्ति होते होते अभेद रत्नत्रय या स्वात्मानुभूतिमें पहुँच जाना होजाता है। भव्य जीव पुण्यकी प्राप्तिका आशय बिलकुल नहीं रखता है। केवल शुद्धोपयोगके अभिप्रायसे इन छः कर्मोंको साधता है। इसी कारण उसके जितने अंश वीतरागता होती है उतने अंश भावसे बंध न होकर कर्मकी निर्जरा होती है व जितने अंश सरागता होती है उतने अंश कर्मका बंध होता है। खेद है मिथ्यादृष्टी जीव इस रहस्यको नहीं पहचानता है। वह लोभके लिये लाभ रहित देवकी भक्ति आदि करता हुआ मानो मैल लपटनेके लिये मैलको जलसे धोता है, वह संसारमार्गी ही है। पुण्य बांधकर फिर देव होकर फिर एकेंद्रियादि पर्यायोंमें रुलनेवाला है।

श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें कहा है—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः। स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो कोई धन रहित पुरुष इसलिये धन कमावे कि धन कमाकर दान करूंगा व दानसे पुण्य बांधूंगा तो वह ऐसा ही मूर्ख है जो अपने शरीरको इसलिये कीचडसे लपटे कि फिर स्नान करके साफ कर लूँगा। अभव्यकी क्रिया जब संसारवर्द्धक है तब भव्यकी संसार छेदक है।

श्लोक—अशुद्धं अशुचिं प्रोक्तं, अशुद्धं अशाश्वतं कृतं !

शुद्धं मुक्तिमार्गस्य, अशुद्धं दुर्गति भाजनं ॥ ३०९ ॥

अन्वयार्थ—(अशुद्धं अशुचिं प्रोक्तं) अशुद्ध षट्कर्म अपवित्र कहे गए हैं। (अशुद्धं अशाश्वतं कृतं) अशुद्ध षट्कर्म शाश्वत नहीं हैं, कल्पित हैं। (शुद्धं मुक्तिमार्गस्य) शुद्ध षट्कर्म मोक्षमार्गके साधक हैं। (अशुद्धं दुर्गतिभाजनं) अशुद्ध षट्कर्म दुर्गतिके कारण हैं।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व सहित जो षट्कर्मोंका सेवन है वह अशुद्ध है, अपवित्र है, कल्पित है। वह अनादिका सनातन मार्ग नहीं है, मनोकल्पनासे चलाया हुआ है। अशुद्ध षट्कर्मके सेवनका फल कुगतिमें भ्रमण है, जब कि शुद्ध षट्कर्म सेवनका फल परम्पराय मोक्ष है।

मिथ्यात्व दो प्रकारका है–एक अन्तरंग या अग्रहीत, दूसरा बहिरंग या ग्रहीत। अन्तरंग मिथ्यात्वके होते हुए व व्यवहार मिथ्यात्वके न होते हुए यह प्राणी कुदेवादिकी भक्ति तो नहीं करता है न कुगुरुकी सेवा करता है न कुशास्त्रोंको पढता है न अपात्रोंको दान देता है। जैनधर्मके अनुसार सर्व बाहरी चारित्र पालता है। परन्तु अन्तरंगमें शुद्धात्माकी रुचि नहीं प्राप्त हुई है, आत्मानुभव नहीं है किन्तु विषयवासना ही वर्त रही है, ऐसा प्राणी यद्यपि अतिशय रहित पुण्यका बंध कर लेता है व उससे देवादि गति पालेता है, परन्तु फिर वह एकेन्द्रियादि पर्यायोंमें जाकर दुःख उठाता है। उसका संसार कभी नाश नहीं होसक्ता। अन्तरंग मिथ्यादर्शन सहित व्यवहारसे योग्य षट्कर्मका साधन भी मोक्षमार्ग नहीं है। यदि शुद्धात्मानुभवकी रुचि सहित व्यवहार षट्कर्मका साधन करे तो मोक्षमार्ग व्यवहारनयसे कहा जासक्ता है। जिनके व्यवहारमें भी मिथ्यात्व है, जो कुदेवादिकी भक्ति करते हैं, अपात्रोंको दान देते हैं, कुशास्त्रोंको पढते हैं, हिंसात्मक क्रियाको धर्म मानते हैं, उनके तो व्यवहारमें भी अशुद्ध षट्कर्म हैं। ये पापको बांधनेवाले व दुर्गतिमें पटकनेवाले हैं।

श्लोक—अशुद्धं प्रोक्तश्चैव, देवलि देवंपि जानते।

क्षेत्र अनंत हिंडंते, अदेवं देव उच्यते ॥ ३१० ॥

अन्वयार्थ—(अशुद्धं प्रोक्तश्चैव) अशुद्ध देवभक्ति यह कही गई है जो (देवलि देवंपि जानते) मंदिरमें

ही देवको जाने। जो (अदेवं देव उच्यते) अदेवको देव कहता है वह (अनंत क्षेत्र हिंडंते) अनंत क्षेत्र परावर्तन करता है।

विशेषार्थ—अब यहां अशुद्ध षट्कर्मका विस्तार कहते हैं। पहले देव पूजा है। अशुद्ध देव पूजा वह है जो मंदिरमें ही देव विराजित हैं ऐसा जाने परन्तु यह न जाने कि मंदिरमें देवकी मूर्ति मात्र स्थापनारूप है, देवका स्वरूप बतानेवाली है उसमें साक्षात् देव नहीं है। साक्षात् देव तो सिद्ध भगवान मोक्ष क्षेत्रमें है या अपना आत्मारूपी देव शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध परमातम देव है। जैसे किसी बादशाहकी तसबीर मात्र इसलिये होती है कि उससे बादशाहके स्वरूपका ज्ञान हो तथा उसका आदर वह बादशाहका आदर व उसका निरादर बादशाहका निरादर समझा जाता है। कोई मूर्ख यह भले ही समझे कि चित्रमें बादशाह साक्षात् है, परन्तु बुद्धिमान ऐसा कभी नहीं समझेगा। वह उसे बादशाहकी प्रतिमूर्ति मात्र समझेगा। इसी तरह भगवानकी मूर्तिको साक्षात् भगवान समझना मूर्खता है। वह भगवानकी स्थापना है जिसमें भगवानके ध्यानमय रूपकी कल्पना की गई है। उस रूपके देखनेसे ध्यानमय स्वरूपकी याद आती है व उसके द्वारा की गई भक्ति भगवानकी ही भक्ति समझी जाती है। उसे कोई बुद्धिमान साक्षात् महावीर भगवान नहीं मान सक्ता, मात्र उनकी स्थापना उनके स्वरूपकी द्योतक है। जो कोई मोक्ष प्राप्त आत्माको व अपने आत्माके असली स्वभावको जो साक्षात् देव है उसको न समझकर मात्र मूर्तिको ही भगवान मानके पूजे तो उसकी मूढता ही कही जायगी। वह कभी शुद्ध तत्वपर नहीं पहुँचेगा। इसी तरह जो अदेव हैं जिनका स्वरूप पहले कहा जाचुका है। जैसे गौ, घोडा, हाथी, पीपल, वगैरह आदि, उनको देव मानकर पूजना अशुद्ध देवभक्ति है। जो मिथ्यात्वी जीव ऐसी मूढ भक्तिमें लगे हैं वे ज्ञानावरणीय कर्मका विशेष बन्ध कर अनंत दफे क्षेत्र परिवर्तनमें जन्म धार धार करके मरेंगे और जीवनके कष्ट उठाएँगे।

श्लोक—मिथ्या माया मूढदृष्टी च, अदेवं देव मानते।
प्रपंचं येन कृतं सार्द्धं, मान्यते मिथ्यादृष्टितं॥ २११॥

अन्वयार्थ—(मिथ्या माया मूढदृष्टी च) जो मिथ्यात्वी है, मायाचारी है, मूढ श्रद्धा सहित है वह

(अदेवं देव मान्यते) अदेवको देव मान लेता है (सार्द्धं येन प्रपंचं कुर्वं) साथमें वह प्रपंच करता है (मान्यते मिथ्यादृष्टितं) जो ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टी है।

विशेषार्थ—जिनमें देवपना बिलकुल नहीं है ऐसे अदेवोंको जो देव मानके पूजते हैं वे वास्तवमें संसारकी वासनाओंमें लिप्त होते हैं। उनको यदि किसीने कह दिया कि अमुक देवकी मान्यता करनेसे धन लाभ होगा, पुत्र लाभ होगा, यश लाभ होगा, जयका लाभ होगा तो वे अज्ञानी इस बातका विना विचार किये कि इनमें देवके लक्षण सर्वज्ञ वीतरागपना मिलते हैं या नहीं, लोभके वशीभूत हो चाहे जिस कुदेवको या अदेवको पूजने लग जाते हैं, उनकी यह मूढभक्ति मिथ्यात्व रूप है। मायाचार रूप यों है कि कपटसे भरी हुई है। इस मूढभक्तिके कारण उसको अनेक प्रपंच रचना पडते हैं, अनेक आडम्बर करने पडते हैं। इस प्रकारकी कुदेवकी या अदेवकी पूजा भक्तिसे अंतरंग मिथ्यात्व दृढ होता है। मिथ्यादृष्टी ऐसी अशुद्ध देवकी भक्ति किया करता है। इससे रागद्वेष मोहको बढा ही लेता है, घोर पाप बांधकर दुर्गतिका पात्र होता है।

श्लोक—ग्रन्थं राग संयुक्तं, कषायं रमते सदा।
शुद्ध तत्वं न जानंते, ते कुगुरुं गुरु मान्यते ॥ ३१२ ॥
मिथ्या माया प्रोक्तं च, असत्यं सत्य उच्यते।
जिनद्रोही वच लोपंते, कुगुरुं दुर्गति भाजनं ॥ ३१३ ॥

अन्वयार्थ—(रागसंयुक्तं ग्रन्थं) राग सहित धन धान्यादि परिग्रहमें (कषायं) व क्रोधादि कषायोंमें जो (सदा रमते) सदा रमते हैं (शुद्ध तत्वं न जानंते) वे शुद्ध आत्मीक तत्वको नहीं पहचानते हैं (ते कुगुरुं) वे कुगुरु हैं उनको (गुरु मान्यते) मिथ्या श्रद्धानी मूढबुद्धि गुरु मान लेता है। (मिथ्या माया प्रोक्तं च) वे कुगुरु मिथ्यात्व व मायाचारसे पूर्ण उपदेश देते हैं। (असत्यं सत्य उच्यते) जो असत्य है उसे सत्य कहते हैं। (जिनद्रोही वच लोपंते) वे जिनेन्द्र भगवानके मतके द्रोही हैं। तथा जिन वचनका लोप करके वे कथन करते हैं (कुगुरुं दुर्गतिभाजनं) वे कुगुरु दुर्गतिके पात्र हैं।

विशेषार्थ—यहां अशुद्ध कुगुरु भक्तिको बताया गया है। कुगुरुका स्वरूप पहले बहुत विस्तारसे

कहा जाचुका है। परिग्रह आरंभ रहित आत्मध्यानी वैरागी अनेकांत मतके ज्ञाता निर्ग्रंथ साधु ही सुगुरु हैं। इनके सिवाय जो परिग्रहधारी, विषयानुरागमें व मान लोभ माया कषायमें अनुरक्त हैं, जिनको शुद्ध आत्मीक तत्वका अनुभव नहीं है न द्रव्योंका व तत्वोंका व पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है, जो स्वयं मिथ्याती हैं व मिथ्यात्वका ही उपदेश देते हैं, जो मायाचारसे परिपूर्ण होते हुए अपना स्वार्थ साधन करते हैं, जो असत्य है, एकांत है, अवस्तु है उसे सत्य कहते हैं, जैन धर्मका भीतरसे द्रोह रखते हैं, वे जिन वचनका लोप हो ऐसा उपदेश करते हैं, वीतराग विज्ञानमय धर्मको न तो वे स्वयं पालते हैं न दूसरोंको उस मार्गपर लेजाते हैं, वे कुगुरु पाषाणकी नाव समान हैं, स्वयं संसारमें डूबते व दूसरोंको डुबाते हैं।

संसारमें बहुतसी रागवर्द्धक हिंसा पोषक पशुओंकी बलि आदि क्रियाएं व मूढतासे भरा हुआ पूजा पाठ कुगुरुओंने ऐसा चला दिया है जिसके द्वारा वे द्रव्यके कमानेका उपाय कर लेते हैं। उस द्रव्यसे मनमाने विषयसेवन करते हैं, महन्त बनकर रहते हैं, न्याय अन्याय, भक्ष्य अभक्ष्यका विचार छोडकर वर्तन करते हैं, अपनेको साधु, गुरु, गुसाईं व महन्त कहते हुए भी राजाओंसे भी अधिक भोगविलास करते हैं, भक्तोंको नाना प्रकार लौकिक लोभ दिखाकर उनसे धन संग्रह करते हैं। जैसे वे कुगुरु राग रंगसे लिप्त हैं वैसे वे पूज्य परमात्मा ईश्वरके भीतर भी रागभावकी कल्पना कर लेते हैं। वीतराग विज्ञानमय जैन मार्गका खण्डन करते हैं। अनेकांतको संशय वाद बताते हैं। परम निस्पृही जिनदेवके वीतराग स्वरूपकी निंदा करते हैं। ऐसे कुगुरुओंकी भक्ति अशुद्ध कुगुरु भक्ति है वह न करनी चाहिये। अथवा जो अपनेको जैन गुरु मानके परिग्रह रखते हैं, आरम्भ करते हैं, बाहरी व्यवहारपूजा पाठ करानेमें लीन हैं, कभी शुद्ध आत्मीक तत्वका न स्वयं मनन करते हैं न भक्तोंको उपदेश देते हैं, मात्र कथाएँ सुनाकर मनको रंजायमान करके अपनी मान्यता कराते हैं, वे भी कुगुरु ही हैं, उनकीभक्ति भी अशुद्ध गुरुभक्ति है।

अथवा जो जैनका साधु चारित्र पालते हुए नग्न दिगम्बर रहते हुए, ख्याति लाभ पूजादिकी चाह वश वर्तन करते हैं, जैन भेष होकर भी ईर्या समिति नहीं पालते हैं भाषा समिति नहीं पालते हैं, उद्दिष्ट भोजन कर लेते हैं, शीत उष्ण नग्नादि परीषहोंके जीतनेमें कायर हैं। न स्वयं

आत्माका मनन करते न दूसरोंको उपदेश देते हैं वे भी कुगुरु हैं। उनकी भक्ति भी अशुद्ध कुगुरु भक्ति है। ऐसे कुगुरुओंकी सेवा उन कुगुरुओंका भी बिगाड करनेवाली है व उनके पूजकोंका भी बिगाड करनेवाली है, क्योंकि यह मूढ भक्ति संसार वर्द्धक है।

मिथ्या सामायिक।

श्लोक—अनेक पाठ पठनं च, वंदना श्रुत भावना।
शुद्धतत्व न जानंते, सामायिक मिथ्या उच्यते ॥ ३१४ ॥

अन्वयार्थ—(अनेक पाठ पठनं च) अनेक पाठोंका पढना (वंदना श्रुत भावना) वंदना करनी, शास्त्रकी भावना करनी। यदि (शुद्ध तत्वं न जानंते) शुद्ध आत्मीक तत्वका ज्ञान नहीं है तो यह (सामायिक मिथ्या उच्यते) सामायिक मिथ्या कहलाती है।

विशेषार्थ—यहां तीसरे अशुद्ध कर्म स्वाध्यायका कथन है। शास्त्र पढनेका नाम भी स्वाध्याय है तथा अपने आत्माके मननको भी स्वाध्याय कहते हैं। यहां सामायिकको भी स्वाध्यायमें गर्भित करके कहा है कि जो कोई अनेक पाठोंको पढें, शास्त्रोंको पढें, तीर्थंकरोंकी वन्दना करे, स्तुति करे, प्रतिक्रमण करे, प्रत्याख्यान करे, कायोत्सर्ग करे, णमोकार मंत्रका जप करे परंतु शुद्ध आत्माका यथार्थ तत्व न जाने, न माने न अनुभव करे तो वह सच्ची सामायिक नहीं, अशुद्ध स्वाध्याय कर्म है। अथवा जो कोई एकांत नय पोषक व राग द्वेष वर्द्धक शास्त्रोंको पढें व विषय भोगोंकी इच्छासे राग-वर्द्धक, एकांतपोषक पाठ पढें, व रागी द्वेषी देवोंकी आराधनारूप जप करे, ध्यान करे सो भी अशुद्ध स्वाध्याय कर्म है। अशुद्ध स्वाध्याय व सामायिकका फल परिणामोंमें शांति व वैराग्य व आत्मानुभवकी रुचि उत्पन्न होना न होगा। किंतु कषायोंकी पुष्टिरूप भाव होगा जो ज्ञानावरणादि कर्मोंका तीव्र बंध करनेवाला होगा इसलिये अशुद्ध स्वाध्याय कर्म त्यागने योग्य है।

श्लोक—संयमं अशुद्धं येन, हिंसा जीव विराधनं।
संयम शुद्ध न जानंते, तत्संयम मिथ्या संयमं ॥ ३१५ ॥

अन्वयार्थ—(येन हिंसा जीव विरावनं) जिससे हिंसा हो, प्राणियोंका घात हो वह (अशुद्धं संयमं) अशुद्ध संयम है (संयम शुद्ध न जानंते) अथवा जो शुद्ध आत्म-संयमको नहीं जानते (तत्संयम मिथ्या संजमं) वह संयम भी मिथ्या संयम है।

विशेषार्थ—जो संयमका नाम तो लें परन्तु असंयम पालें वह साक्षात् मिथ्या संयम है। जैसे जिन नियम व्रतोंसे इंद्रियोंका स्वाद अधिक पुष्ट हो व प्राणियोंकी अधिक हिंसा हो वह हिंसाकारक संयम अशुद्ध असंयम है, असंयम ही है। जैसे दिनको अन्न न खाकर रात्रिको स्वादिष्ट फलाहार मिठाई आदि खाना और अपनेको व्रती संयमी मानना। इससे असंयम ही हुआ क्योंकि रात्रिको खाना हिंसाकारक है, स्वादिष्ट भोजन जिह्वाकी लोलुपता वर्द्धक है। कोई यह नियम ले कि मैं अन्न न खाऊँगा, कंदमूल खाऊँगा। इसमें संयम अशुद्ध ही हुआ क्योंकि कंदमूलके खानेमें अधिक हिंसा हुई। अन्नमें उतनी न होती। जहां मन व इंद्रिय वशमें रहें वहीं संयम होसक्ता है। जहां इन्द्रियोंका पोषण हो वह अशुद्ध संयम ही है।

अथवा कोई जैन शास्त्रानुसार श्रावकका बाहरी संयम पाले, रात्रिको अन्न न खावे, कंदमूल न खावे, रस चलित न खावे, रस त्यागे, उपवास करे, नित्य १७ नियमका विचार करे, अनेक प्रकारकी प्रतिज्ञाएँ पालें। परन्तु निश्चय संयम जो आत्माकी सामायिक है उसको न पहचाने, मन व इंद्रियोंके अगोचर जो आत्माराम है उसके अनुभवमें लीन न हो, आत्मानन्द रसका पान न करें तौ वह संयम भी मिथ्या संयम है। केवल कुछ पुण्यकर्म बंधका कारण है, मोक्षका मार्ग नहीं। अशुद्ध संयमसे श्रावकको बचना योग्य है।

श्लोक—अशुद्धं तप तप्तं च, तीव्र उपसर्ग सहं।
शुद्धतत्वं न पश्यंते, मिथ्या माया तपं कृतं ॥ ३१६ ॥

अन्वयार्थ—(अशुद्धं तप तप्तं च) जो अशुद्धको तपते हैं (तीव्र उपसर्ग सहं) व कठिन कठिन शरीरके कष्टोंको सहन करते हैं परन्तु (शुद्धतत्वं न पश्यंते) शुद्ध आत्मतत्वका अनुभव नहीं करते हैं वे (मिथ्या माया तपं कृतं) मिथ्यात्व व मायाचारमय तप करते हैं।

विशेषार्थ—अशुद्ध तप वह है जहां शुद्ध तत्वका ज्ञान व अनुभव न हो किन्तु नानाप्रकार

शरीरको कष्ट दिया जावे, क्षुधा तृषा दंश मशकादिका परीषह तथा देव, मनुष्य, पशु व अचेतन कृत उपसर्ग सहन किये जावे। जो कोई जैन शास्त्रोंके अनुसार अनशन, ऊनोदर आदि बारह प्रकार तप करे, नग्न रहे, शास्त्रोक्त शुद्ध आहार ग्रहण करे, कोई क्रिया शास्त्रके विरुद्ध न हो परंतु यदि आत्मीक ध्यान अग्निमें तपनरूप तप न हो तो वह अशुद्ध ही मिथ्या तप है। समयसारमें कहा है-

वदणियम्माणिधरन्ता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता। परमट्ठवाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥ १६० ॥

भावार्थ—जो व्रत, नियम धारण करे, शील पाले तथा तप करे परंतु शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप परमार्थसे शून्य हो तो वह अज्ञानी ही है। सम्यक्त रहित द्रव्यलिंगी मुनिका तप अशुद्ध तप है। इसी तरह कोई श्रावक व्रत उपवास करे रस छोडे, कठिन २ तप करे, परंतु सम्यग्दर्शन रहित हो तो उसका सब तप मिथ्या तप है। यदि कोई बाहरसे भी मिथ्या तप पाले, पंचाग्नि तपे, भस्म रमावे, काष्ट जलावे, शरीर शोखे, वनफल खावे, एक हाथ ऊँचा करे, खडा रहे, अल्पाहार करे तो वह भी मिथ्या तप है अथवा कोई परको वश करनेके लिये नानाप्रकार तप करके अपना महत्व दिखावे वह भी मिथ्या व मायाचार सहित तप है। गृहस्थोंका भी वह तप जो शरीर-कष्टरूप है, हिंसारूप है व किसी मायाचारके अभिप्रायको लिये हुए है वह सब मिथ्या तप है।

श्लोक—दानं अशुद्ध दानं च, कुपात्रं दिंति सर्वदा।
व्रतभंगं कृतं मूढा, दानं संसारकारणं ॥ ३१७ ॥

अन्वयार्थ—(कुपात्रं दिंति सर्वदा दानं च) अपात्रोंको निरन्तर दिया हुआ दान (अशुद्ध दानं) अशुद्ध दान कर्म है (व्रतभंगं कृतं मूढा) इससे मिथ्यादृष्टी मूढ पुरुषोंका सम्यक्दर्शनका व्रत भी भंग होजाता है (दानं) ऐसा दान संसारका कारण है।

विशेषार्थ—अशुद्ध दान भी दो प्रकार है-एक तो सम्यग्दर्शन रहित कुपात्रोंको दिया हुआ दान यह भी संसार मूलक है, पुण्य बांधकर कुभोग भूमिमें जन्म कराता है। फिर भवनत्रिकादिमें फिर अन्य जन्ममें संसारका भ्रमण करानेवाला है। जिनका बाहरी चारित्र ठीक है शास्त्रोक्त है परन्तु अन्तरंगमें सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभव नहीं है वे कुपात्र हैं, यह भी सम्यक्त रहित दान होनेसे अशुद्ध दान है। दूसरा अशुद्ध दान वह है जो उनको दिया जाता है जो अपात्र हैं, जो बाहरी

चारित्र जिन शास्त्रसे विरुद्ध पालते हैं। जो एकांत व मिथ्या मतके पोषक हैं। जिनको दान देनेसे मिथ्यामतकी सराहना होती है वह बिलकुल मिथ्या दान है व पापका बंध करनेवाला है। गृहस्थ श्रावकको उचित है कि अपात्रोंको भक्तिपूर्वक दान न करें। दान करुणाभावसे हरएकको किया जासक्ता है, उसमें भक्तिकी जरूरत नहीं है। जिस दानमें सम्यक्तकी प्रतिष्ठा हो वही शुद्ध दान है यह पहले बता चुके हैं। अपात्र दान संसार भ्रमणका ही कारण है।

श्लोक—ये षट्कर्म पालंते, मिथ्या अज्ञान दिष्टते।
ते नरा मिथ्यादृष्टी च, संसारे भ्रमनं सदा ॥ ३१८ ॥

अन्वयार्थ—(ये षट्कर्म पालंते) जो कोई इन अशुद्ध छः कर्मोंको पालते हैं (मिथ्या अज्ञान दिष्टते) उनमें मिथ्यात्व व अज्ञान दिखलाई पडता है (ते नरा मिथ्यादृष्टी च) वे मानव मिथ्यादृष्टी ही हैं (संसारे भ्रमणं सदा) उनका सदा इस संसारमें भ्रमण रहेगा।

विशेषार्थ—जो कोई कुदेव पूजा करते हैं, कुगुरु सेवा करते हैं, मिथ्यात्व वर्द्धक शास्त्रोंका पठन करते हैं, हिंसाकारक संयम पालते हैं, कायक्लेशादि तप आत्मज्ञान रहित करते हैं तथा अपात्रोंको दान देते हैं इस तरह जो कोई इन छः गृहस्थोंके अशुद्ध षट्कर्म पालते हैं वे मिथ्या ज्ञानी व मिथ्या श्रद्धानी हैं। ऐसा मिथ्यादृष्टी मानव मिथ्या धर्मका पुरुषार्थ करते हुए मिथ्या फल ही पाते हैं। पाप ही बांधते हैं व दुर्गतिमें जाकर कष्ट पाते हैं। जिन गृहस्थोंको अपना आत्महित करना हो उनको विवेकपूर्वक पहचानना चाहिये कि कौन देव सच्चा है, कौन गुरु सच्चा है, तथा कौन धर्म सच्चा है। फिर उनकी ही भक्तिमें रहकर उनकी आज्ञा पालन करना चाहिये। यह भलेप्रकार समझना चाहिये कि रागद्वेष मोह संसार है व वीतरागमय आत्मज्ञान ही मोक्ष या मोक्षका उपाय है। यह प्राणी कषायोंके कारण जगतमें अनादिकालसे भ्रमण कर रहा है। जब जहां कषायोंकी पुष्टिको धर्म पोषा जावे तो वह उल्टा अधर्म सेवन ही है, धर्म नहीं होसक्ता है। जहां शुद्धात्म लाभपर दृष्टि है वह तो यथार्थ धर्म है। जहां सांसारिक सुख प्राप्तिकी भावना है वहीं अधर्म है। गृहस्थ श्रावकको बहुत विचारपूर्वक अपना श्रद्धान निर्मल करना चाहिये और सच्ची श्रद्धा सहित धर्माचरण करना चाहिये।

अमितगति श्रावकाचारमें कहा है—

मिथ्यात्वदूषणमपास्य विचित्रदोषं, संरूढसंसृतिवधूपरितोषकारि ।

सम्यक्तरत्नममलं हृदि यो विधत्ते, मुक्त्यंगनामितगतिस्त्वमुपैति सद्यः ॥ ९८–४ ॥

भावार्थ—बढती हुई संसार वधूके संतोष देनेवाले नानाप्रकार दोषसे पूर्ण मिथ्यात्वके दोषको दूर करके जो निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी रत्न हृदयमें धरते हैं वे अनंतज्ञान सहित मुक्ति स्त्रीको शीघ्र ही पाते हैं।

श्लोक—ये षट्कर्म जानंते, अनेय विभ्रम कृते ।
मिथ्यात्त्व गरुवे संते, दुर्गतिभाजन ते नरा ॥ ३१९ ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो कोई (अनेय विभ्रम कृते) अनेक प्रकार मिथ्याभावको करनेवाले (षट्कर्म) छः अशुद्ध कर्मोंको (जानंते) जानते हैं (ते नरा) वे मानव (मिथ्यात्त्व गरुवे संते) मिथ्यादर्शनसे भारी होते हुए (दुर्गतिभाजन) दुर्गतिके पात्र होते हैं।

विशेषार्थ—जिनको शुद्ध देवपूजादि षट्कर्मका न ज्ञान है न श्रद्धान है न उसका आचरण है वे अशुद्ध षट्कर्मको ही करने योग्य कर्म मान लेते हैं। अनेक प्रकारके मिथ्या भावोंमें पड़े हुए अनेक प्रकारके कुदेवोंकी व अदेवोंकी भक्ति करते हैं, कुगुरुओंकी सेवा करते हैं, रागद्वेष मोहवर्द्धक ग्रंथोंको पढते हैं, असंयम व हिंसाको संयम मान लेते हैं, मात्र कायक्लेशको तप ठान लेते हैं, अपात्रोंको दान देकर संतोष मान लेते हैं ऐसे अशुद्ध षट्कर्मके सेवनेवालोंके परिणामोंमें कषायोंके पोखनेका ही भीतरी अभिप्राय रहता है। या तो वे पुत्र व सम्पत्तिके लोभसे या स्वर्गादि सुखोंके लोभसे षट्कर्म करते हैं या अपनी मान बडाई पुष्ट करनेको या किसी तरहके कपट भावसे करते रहते हैं। जैसा अभिप्राय होता है वैसा ही फल होता है। कषाय पुष्टिका अभिप्राय संसारका ही बढानेवाला है। वे दुर्गतिमें रुलते हुए जन्म-मरणके महान कष्ट पाते हैं। जहां आत्माकी शुद्धिके प्रयोजनसे देव पूजादि षट्कर्म किये जाते हैं वहीं मोक्षमार्गका उपाय होरहा है, ऐसा कहा जायगा। रागद्वेष मोह संसार है, जहां इनकी पुष्टि है वहां संसारकी पुष्टि है।

शुद्ध षट्कर्म विचार।

श्लोक—षट्कर्म शुद्ध उक्तं च, शुद्ध समय शुद्धं ध्रुवं ।
जिनोक्तं षट्कर्मस्य, केवलि दृष्ट जिनागमे ॥ ३२० ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध षट्कर्म उक्तं च) अब शुद्ध षट्कर्मोंको कहा जाता है, जहां अभिप्राय (शुद्ध शुद्धं ध्रुवं समय) रागादि भावोंसे शून्य तथा ज्ञानावरणादिसे शून्य निश्चल शुद्धात्माका लाभ है वे ही शुद्ध षट्कर्म हैं। (जिनोक्तं षट्कर्मस्य) ये जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए षट्कर्म (केवली दृष्ट जिनागमे) केवलीकी परम्परासे जिनागममें प्रमाणिक कहे गए हैं।

विशेषार्थ—शुद्ध षट्कर्म वेही हैं जहां आत्माकी शुद्धताका अभिप्राय हो। देवपूजादि हरएक कार्यको करते हुए भावना परिणामोंकी शुद्धि की हो, शुद्धोपयोगकी प्राप्ति हो, अन्य कोई सांसारिक प्रयोजन जहां न हो। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीवको यह निश्चय होगया है कि उसका आत्मा वास्तवमें शुद्ध है, मात्र कर्म-कलंकसे मलीन होरहा है। इस कर्म-मैलके धोनेका उपाय निश्चय रत्नत्रय धर्म ही यथार्थ है जहां शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र है-जिसको आत्मानुभव कहते हैं। इसीसे कर्मोंका मैल कटता है। श्री जिनेन्द्र भगवानकी कही हुई वे ही छः क्रियाएं यथार्थ हैं जो शुद्धात्माकी तरफ लेजावें। जिन आगम परम पूज्य ऋषियोंके द्वारा निर्मापित है जिनका मूल श्रोत तीर्थंकर भगवानका उपदेश है, उस जिनवाणीमें जिन शुद्ध षट्कर्मोंके पालनेकी आज्ञा है उन्हें ही हरएक श्रद्धावानको पालना चाहिये। उनमें यही अभिप्राय है कि रागद्वेष मोह जो बंधके कारण भाव हैं उनको दूर किया जावे और वीतराग विज्ञानमय शुद्ध आत्मीक भावको झलकाया जावे, जहां रञ्च मात्र भी सांसारिक सुखकी भावना न हो। ख्याति लाभ पूजादिकी चाह न हो वहीं शुद्ध षट्कर्म है। पद्मनंदि मुनिने श्रावकाचारमें रत्नत्रयको मोक्षमार्ग कहकर शुद्ध षट्कर्म बताए हैं—

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते। मुक्तेः पंथा स एव स्यात्प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥ ६–१ ॥
देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः। दानञ्चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ६–७ ॥

भावार्थ—प्रमाणसे निश्चय किया गया सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही धर्म कहा गया है, यही

मोक्षमार्ग है इसीलिये गृहस्थोंको नित्य प्रति देव पुजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन। छ कर्मोंको नित्य करना चाहिये।

श्लोक—देवं देवाधिदेवं च, गुरु ग्रंथ मुक्तं सदा।
स्वाध्याय शुद्ध ध्यायंते, संयमं संयमं श्रुतं ॥ ३२१ ॥
तपश्च अप्पसद्भावं, दानं पात्रं च चिंतनं।
षट् कर्मं जिन प्रोक्तं, सार्धं शुद्ध दृष्टितं ॥ ३२२ ॥

अन्वयार्थ—(देवाधिदेवं च देवं) इन्द्रादि देवों करके पूज्यनीय वीतराग भगवानको देव मानके पूजे (सदा ग्रंथ मुक्तं गुरु) सदा ही परिग्रह रहित ही गुरु माने (शुद्ध स्वाध्याय ध्यायंते) शुद्ध आत्माका मनन रूपी स्वाध्यायको ध्यावे (संयमं सयमं श्रुतं) शास्त्रके कहे प्रमाण मन व इंद्रिय विरोध करके प्रतिज्ञा ले सो संयम है (तपश्च अप्प सद भावं) आत्माके स्वभावमें तपना सो ही तप है (दानं पात्रं च चिंतनं) पात्रोंको दान देनेका चिंतवन करना दान है (जिनप्रोक्तं षट् कर्मं) यह जिनेन्द्र कथित छः कर्म हैं (शुद्ध दृष्टितं सार्धं) इन सबके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शन होना उचित है।

विशेषार्थ—इन दो श्लोकोंमें छहों कर्मको बता दिया है जो शुद्ध षट्कर्म है। जहां शुद्धात्माकी ओर दृष्टि हो, आत्मानुभवकी तरफ प्रेम हो। जहां सच्चा सम्यग्दर्शन हो वहीं ही शुद्ध षट्कर्म होते हैं। वीतराग सर्वज्ञ अरहंत और सिद्धकी निरंतर भक्ति करें, जिनको सर्व ही मुनिगण, इन्द्रगण आदि नमन करते हैं। इनकी भक्तिके द्वारा शुद्धात्माका मनन करता रहे, तब ही यह शुद्ध देव-पूजा कर्म है। रागद्वेषादि अन्तरंग १४ प्रकार व क्षेत्र धनादि १० प्रकार बाह्य इन २४ प्रकारके परि-ग्रहसे रहित परम जितेन्द्रिय-सौम्यदृष्टि यथाजात नग्नरूप सहित, आत्मध्यानी ही जैन गुरु हैं। उनको गुरु मानके उनकी सेवा करके उनसे ज्ञानका लाभ लेवे यह शुद्ध गुरुभक्ति है। अनेक प्रका-रके शास्त्रोंको पढता हुआ व शुद्धात्माके मनन करानेवाले ग्रन्थोंको विशेष रूपसे पढके आत्माका मनन करना स्वाध्याय है। शुद्धात्माकी दृष्टिकी मुख्यता जिस पठनपाठनमें है वही शुद्ध स्वाध्याय है। आत्माके ध्यानके हेतु मनकी एकाग्रता प्राप्त करनेको जो जो भोग उपभोग बाधक हैं उनको

त्याग करें या उपभोगने योग्य पदार्थोंका नित्य सवेरे प्रमाण करके व उसी तरह चले सो शुद्ध संयम है। अनशन ऊनोदर रस त्याग आदि बाहरी तपोंको यथाशक्ति करता हुआ सवेरे-सांझ दो दफे कुछ देर एकांतमें बैठकर अपने शुद्ध आत्माके स्वभावमें तन्मय हो तप करे, सो शुद्ध तप है। उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार पात्रोंमेंसे जो मिल सके, उनको भक्तिपूर्वक दान देनेका विचार करके शुद्ध आहारदान औषधिदान, अभयदान व ज्ञानदान देना सो शुद्ध पात्रदान है। इस तरह शुद्ध षट्कर्मोंको जिनेन्द्र भगवानने कहा है। इनके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शनका होना अत्यंत आवश्यक है। सम्यक्त सहित ये षट्कर्म गृहस्थ श्रावकको परम्परासे मोक्षके कारण हैं। व उसी भवसे स्वर्ग गतिके देनेवाले हैं। शुद्धात्माकी भावना सहित ही जैनके षट्कर्म एक जिन भक्तके लिये आवश्यक हैं इस हीसे परम कल्याण है।

पांच परमेष्ठीका स्वरूप।

श्लोक—देवं च जिन उक्तं च, ज्ञान मय अप्प सद् भावं।
अनंत चतुष्टय जुत्तं, चौदस प्राण संजुदो ॥ ३२३ ॥

अन्वयार्थ—(देवं च उक्तं च जिन) देव उसको कहा है जो जिन हों (ज्ञान मय अप्प सद् भावं) ज्ञान मय आत्माके स्वभावमें लीन हों (अनंत चतुष्टय जुत्तं) अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख व अनंत वीर्य इन चार चतुष्टय सहित हों तथा (चौदस प्राण संजुदो) चार प्राण या दस प्राण सहित हों।

विशेषार्थ—यहां अरहंत परमात्माको पूज्यनीय आप्त देव कहा है। जो चार घातिया कर्मोंके व रागादिके जीतनेवाले जिन हों, जो निरंतर आत्माके रसमें तन्मय हों, जिनको अनंत ज्ञानादि चतुष्टय प्राप्त हो, जिनमें कोई प्रकारका अज्ञान व मोह न हो, जो शरीर सहित रहते हुए-इंद्रिय, बल, आयु व श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोंको धारते हैं या इनके भेदरूप दस प्राणोंको धारते हैं अर्थात् पांच इंद्रिय, तीन शरीरादि बल, आयु व श्वासोच्छ्वास ये १० प्राण जिनमें हों वे ही अरहंत देव हैं। यद्यपि ये १० बाहरी प्राण अरहंत भगवानमें होते हैं तथापि इनमेंसे कर्मके उदयसे शरीर व वचन

बल तो काम करता है। मनमें द्रव्य मनमें हलन चलन होता है क्योंकि मनोवर्गणा भी उनके आती है। पांच इंद्रियोंसे काम नहीं लेते क्योंकि मतिज्ञान उनके नहीं रहा। इंद्रियोंके आकार है परंतु वे कुछ काम नहीं आते हैं। आयु कर्म समय समय खिरता है। मंद मंद श्वास आता है। इस तरह शरीर सहित परमात्माको पूज्यदेव मानके भलेप्रकार पूजा व भक्ति करनी योग्य है। उनके गुणोंमें एकाग्र होना योग्य है। पद्मनंदी मुनिने श्रावकाचारमें कहा है—

ये जिनेन्द्रं न पश्यंति पूजयन्ति स्तुवन्ति न। निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो जिनेन्द्रका दर्शन, पूजन, स्तवन, नहीं करते हैं उनका जीवन निष्फल है, उनके गृहाश्रमको धिक्कार है।

श्लोक—देवो परमेष्ठि मइओ, लोकालोकं विलोकितं।
परमप्पा ज्ञानमइओ, तं अप्पा देह मज्झंमि ॥ ३२४ ॥

अन्वयार्थ—(परमेष्ठि मइओ देवो) परम पदमें तिष्ठनेवाला देव सिद्ध है (लोकालोकं विलोकितं) जिसने लोकालोकको देख लिया है जो (ज्ञान मइओ) ज्ञानमई (परमप्पा) परमात्मा है (देह मज्झंमि तं अप्पा) इस देहके मध्यम वही आत्मा है।

विशेषार्थ—इसके पहले श्लोकमें अरहंत देवका स्वरूप कहा है यहां सिद्ध परमात्माका स्वरूप कहते हैं। सिद्ध भगवान सर्वोत्कृष्ट पदमें विराजित हैं आठ कर्म रहित होनेसे अशरीर परमात्मा हैं ज्ञानाकार हैं व जिनके ज्ञानमें लोकालोक दर्पणमें प्रतिविम्बकी तरह झलक रहा है। वे सर्व रागादि दोष, आठ कर्म मल व शरीरादिसे रहित केवल आत्मा ही मात्र हैं। जैसा सिद्धका स्फटिकमणिमय निर्मल स्वरूप है वैसा ही इस शरीरके भीतर जो आत्मा है उसका निश्चयनयसे स्वरूप है अर्थात् जब द्रव्यकी दृष्टिसे देखा जावे तो अपने शरीरके भीतर यह आत्मा भी आत्मा-रूप सिद्ध सम कर्मबंध रहित दिखलाई पडता है। इस आत्मामें और परमात्मामें कोई अंतर नहीं है। दोनोंके गुण स्वभाव समान हैं। मात्र प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्नता है। यद्यपि प्रदेशोंकी संख्या भी असंख्यात प्रदेशी समान है। वास्तवमें जो अपने आत्माको भेद विज्ञानके द्वारा सर्व अनात्मासे

निराला व सर्व कर्मजनित विकारी भावोंसे भिन्न अनुभव करेगा वही सिद्ध परमात्माको पहचान सकेगा। योगसारमें योगेन्द्राचार्य कहते हैं—

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु। इउ जाणेविणु जोइआ अण्ण म करहु वियप्पु ॥ २२ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा है वैसा ही मैं हूं और जैसा मैं हूं वैसा परमात्मा है। हे योगी! ऐसा जानकर अनुभव कर और विकल्प न कर। सोहं शब्द इसी भावको झलकाता है। सोहं द्वारा अपने आत्माकी पूजा वही निश्चयसे सिद्ध पूजा है।

श्लोक—देहह देवलि देवं च, उवइट्ठो जिन वरिं देहं।
परमेष्ठी संजुत्तं, पूजं च शुद्ध सम्यक्तं ॥ ३२५ ॥

अन्वयार्थ—(देहह देवलि) शरीररूपी मंदिरमें (देवं च) आत्मारूपी देव है ऐसा (जिन वरिं देहिं उवइट्ठो) जिनेन्द्रोंने कहा है (परमेष्ठी संजुत्तं) वही सिद्ध परमेष्ठीके गुणों सहित है (पूजं च शुद्ध सम्यक्तं) उसकी भक्ति पूजा ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—शरीरके भीतर यदि शुद्ध द्रव्यदृष्टिसे देखा जावे तो आत्मा आत्मारूप सिद्ध सम शुद्ध विराजमान है, उसको जब परमात्मा सम देखा जाता है तो वही पूज्यनीय देव दिखलाई पड़ता है। तब उस देवके तिष्ठनेका मंदिर अपना शरीर ही हुआ। अतएव निश्चल मनके द्वारा अपने शरीरको देवस्थान मानो और अपने आत्माको परमात्मा मानो और उपयोगको थिर करो अर्थात् उसकी पूजा करो, उसीका एकाग्रतासे अनुभव करो। अपने ही आत्माका स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा अनुभव करना यही शुद्ध सम्यग्दर्शनका अनुभव है व यही सिद्ध पूजा है व यही देव पूजा है। पं० द्यानतराय कह गए हैं-"निज घटमें परमात्मा, चिन्मूरति भइया, ताहि विलोकि सुदृष्टि धर पंडित परखैया।" जो शुद्धात्मानुभवी हैं वे ही सच्चे निज आत्मादेवके आराधक हैं, वे ही यथार्थ उपासक हैं। व्यवहार नयसे सिद्धोंका स्तवन व पूजन भी इसी हेतुसे किया जाता है कि निज आत्मामें परिणति थंमे। जब उपयोग सर्व विकल्पोंको तजकर आत्मस्थ होता है तब ही सच्ची देव-पूजा या सिद्धपूजा है। यही वास्तविक मोक्षमार्ग है। योगसारमें कहा है—

जो अप्पा सुद्ध वि मुणइ असुइसरीरविभिण्णु। सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खहलीणु ॥ ९४ ॥

भावार्थ—जो कोई अपवित्र शरीरसे भिन्न अपने आत्माको शुद्ध अनुभव करता है वह अविनाशी आनन्दमें लीन होता हुआ सर्व शास्त्रोंको जानता है। जिनवाणीका सार मात्र एक समयसार रूप परिणाम है।

श्लोक—देवं गुरुं विशुद्धं, अरहन्तं सिद्ध आचार्यं ।
उवझायं साधु गुणं, पंच गुणं पंच परमेष्ठी ॥ ३२६ ॥

अन्वयार्थ—(विशुद्धं देवं गुरुं) वीतराग देव व वीतरागी गुरु (अरहंतं सिद्ध आचार्यं, उवझायं साधु गुणं) अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु गुणवान हैं (पंचगुणं) ये पांच गुणी आत्माएँ (पंच परमेष्ठी) पांच परमेष्ठी कहलाती हैं।

विशेषार्थ—जैनोंमें ३५ अक्षरी णमोकार मंत्र प्रसिद्ध है उसमें इस लोकमें सर्व अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय तथा साधुको भाव पूर्वक नमस्कार किया गया है। वही भाव यहांपर भी बताया है कि जगतमें जितने महान पद हैं उन सबमें श्रेष्ठ शुद्ध गुणोंके धारी ये पांच ही परम पद हैं उनमें अरहंत सिद्ध तो वीतराग देव हैं तथा शेष तीन आचार्य, उपाध्याय और साधु परम गुरु हैं। इनकी दृढ भक्ति परम पदकी परम्पराका कारण है।

इनके इस क्रमसे करनेका प्रयोग यह है कि जिनसे साक्षात् विशेष उपकार होता है उनका नाम पहले लिया गया है। परमात्माको पहले नमन करना चाहिये फिर अंतरात्माको, इस हेतु अरहंत सिद्ध परमात्माको नमन करके फिर तीन अंतरात्माको नमन किया है। यद्यपि सिद्ध भगवान आठों कर्म रहित महान हैं उनको पहले नमन करना चाहिये तथापि जगत जीवोंका उपकार उनकी अपेक्षा अरहंत परमात्मासे विशेष होता है, अरहंत दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश करते हैं क्योंकि वे शरीर सहित हैं सिद्धके शरीर न होनेसे उपदेशकपनेका अभाव है, अरहंत हीकी वाणीसे सिद्धोंका ज्ञान होता है ऐसा उपकार विचारकर पहले अरहंतोंको फिर सिद्धोंको नमस्कार किया गया है क्योंकि आचार्यादि तीनों अंतरात्मा भी अरहंत सिद्धकी भक्ति करके ही अपनी उन्नति करते हैं इसलिये अरहंत सिद्धके पीछे ही उनको नमन किया गया है, उन तीन अंतरात्माओंमेंसे सर्वोच्चपदधारी व सबसे अधिक उपकारक आचार्य हैं जो संघके नायक, दीक्षा शिक्षा दाता, संरक्षक

व सञ्चालक होते हैं इसलिये उनको पहले नमन करके फिर उपाध्यायको नमन किया है, जो आचार्यकी आज्ञानुसार शास्त्रोंकी शिक्षा देनेका काम मुख्यतासे करते हैं। साधुगण मात्र साधन करनेवाले हैं। साधुओंसे अधिक उपकारी उपाध्याय हैं, इसलिये अंतमें साधुओंको नमन किया गया है। इन सबमें रत्नत्रयके आस्तित्वकी प्रधानता है। रत्नत्रयकी पूर्णताके निकट अरहंत हैं, सिद्धोंके रत्नत्रयकी पूर्णता है। शेष तीनों रत्नत्रयके अभ्यासी हैं, निश्चय रत्नत्रयरूप निर्विकल्प समाधि व आत्मानुभवकी प्रधानतासे ही ये सर्व तीन लोकके प्राणियोंसे उच्च हैं, परम पदधारी हैं, अतएव इंद्रादि देवोंसे नमन योग्य हैं–भवनवासी देवोंके ४०, व्यन्तर देवोंके ३२, ज्योतिषियोंके चन्द्र व सूर्य, कल्पवासी देवोंके २४, चक्रवर्ती राजा व अष्टापद पशु इस तरह १०० इन्द्र जिन चरणोंको पुनः पुनः नमन करते हैं इसलिये ही वे परमेष्ठी हैं।

श्लोक—अरहंतं ह्रियं कारं, ज्ञानमय त्रिभुवनस्य।
नंत चतुष्टय सहिओ, ह्रींकारं जाण अरहंतं ॥ ३२७॥

अन्वयार्थ—(अरहंतं) पूजने योग्य (ह्रियं कारं) ह्रीं मंत्रमें चौवीस तीर्थंकर गर्भित हैं जो (त्रिभुवनस्य ज्ञानमयं) तीनलोकके पदार्थोंका ज्ञाता हैं (अनंत चतुष्टय सहिओ) और अनंत चतुष्टय सहित हैं इसलिये (ह्रींकारं जाण अरहंतं) ह्रीं में अरहंतोंको गर्भित जानना चाहिये।

विशेषार्थ—ह्रीं में ह व र अक्षरोंकी प्रधानतासे र से २ ह से ४ इसलिये बांइ तरफसे जोडनेसे २४ तीर्थंकरोंका बोध होता है। परमोपकारी धर्मोपदेशक व धर्म प्रचारक होनेके कारण भरत व ऐरावत क्षेत्रमें हरएक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी कालकी किरणमें चौवीस चौवीस तीर्थंकर होते रहते हैं। जब धर्मका लोपसा व धर्ममें अंधकारसा छा जाता है तब एक दूसरेके बहु काल पीछे तीर्थंकर होते हैं जो जीवन पर्यंत धर्मबोध देते हुए विहार करते हैं। जिनके समवसरणमें बारह प्रकारकी सभाएं होती हैं जिनमें प्रत्येकमें अलग २ भवनवासीकी देवी, व्यंतरोंकी देवी, ज्योतिषियोंकी देवी, स्वर्गवासी देवोंकी देवी, भवनवासी देव, व्यंतर देव, ज्योतिषी देव, स्वर्गवासी देव, मुनिगण, आर्यिकागण, मानव तथा पशु बिराजते हैं जिनका उपदेश हरएक मानव व सैनी पंचेंद्रिय पशु व हर प्रकारका देव सुन सक्ता है, जहां किसीको जानेकी रुकावट नहीं है। जो तीर्थंकर

सबेरे, दोपहर, सांझ व मध्यरात्रि इस तरह २४ घंटेमें चार दफे प्रत्येकमें छः छः घडी पर्यंत धर्मोपदेश लगातार देते हैं। विशेष पुरुषके प्रश्नवश अन्य समयमें भी उपदेश प्रदान करते हैं, जिनकी वाणीको सुनकर अनेक गृहस्थ मुनि, अनेक श्रावक व्रतधारी, अनेक देव, मानव, पशु सम्यग्दृष्टी होजाते हैं, सुखशांतिका परम लाभ कर लेते हैं। जो स्वयं अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, व अनंत वीर्यके धनी हैं ऐसे अरहंतोंके स्वरूपका चिंतवन व मनन ही मंत्र द्वारा करना योग्य है।

श्लोक—सिद्धं सिद्ध ध्रुवं चिंते, ॐ वंकारं च विंदते।
मुक्ति च ऊर्द्ध सद्भावं, ऊर्द्ध च शाश्वतं पदं ॥ ३२८ ॥

अन्वयार्थ—(सिद्धं सिद्ध ध्रुवं चिंते) सिद्ध भगवानको ऐसा विचारे कि वे सिद्ध हैं व ध्रुव हैं (ॐ वंकारं च विंदते) ॐ शब्दसे जिनका अनुभव होता है (मुक्ति च ऊर्द्ध सद्भावं) जो मुक्तिमें तीन लोकके ऊपर अग्रभागमें तिष्ठे हैं (ऊर्द्ध च शाश्वतं पदं) जो श्रेष्ठ अविनाशी पदके धारी हैं।

विशेषार्थ—यहां सिद्ध भगवानके स्वरूपको झलकाया है कि वे सिद्ध हैं क्योंकि उन्होंने जो साधन योग्य कार्य आत्माकी शुद्धि करनेका था उसको साध लिया है, उनको अब कुछ करना नहीं रहा, वे कृतकृत्य होगए हैं तथा वे ध्रुव हैं अब उनकी स्वाभाविक अवस्था कभी वैभाविकरूप न होगी। वे कभी भी संसारी न होंगे, उनका कभी आवागमन न होगा। वे निश्चल अपने प्रदेशोंमें भी पुरुषाकार जैसे मोक्ष जाते समय शरीरमें थे वैसे विराजमान रहते हैं इसलिये ध्रुव हैं, यद्यपि द्रव्यके स्वरूपकी अपेक्षा उनमें भी स्वाभाविक परिणमन अगुरुलघु नामा गुणके द्वारा जलमें सूक्ष्म कल्लोलवत् प्रति समय हुआ करता है परंतु वह सदृश स्वाभाविक परिणमन कोई मलीनता पैदा नहीं करता है। स्वभावकी ध्रुवताको नहीं मिटाता है इसलिये सिद्ध भगवान ध्रुव हैं। ॐ शब्द द्वारा जिनका ध्यान किया जाता है। यद्यपि ॐ में पांचों परमेष्ठी गर्भित हैं तथापि शुद्ध निश्चय नयसे उनमें शुद्ध आत्माके स्वरूपके झलकानेकी प्रधानता है इसलिये ध्यातागण ॐ के भौंहोंके बीच, हृदयकमल व मस्तक आदिपर चमकता हुआ विराजमान करके उसपर चित्तको रोककर फिर सिद्ध स्वरूपमें चले जाते हैं। व सिद्ध भगवान लोकके अग्रभाग तनु वातवलयमें सबसे ऊपर सिद्धक्षेत्रमें विराजमान हैं। उनका पद सबसे ऊंचा

इस अपेक्षासे है कि वह अविनाशी पद है। अरहंत आदि अन्य चार परमेष्ठीके पद सब अनित्य हैं, नाशवन्त हैं, शरीर सहित होनेसे पतन सहित हैं परन्तु सिद्धका पद सर्व कर्म व सर्व शरीर रहित होनेसे सदा ही रहनेवाला अविनाशी है। इस तरह सिद्धोंका ध्यान करना चाहिये।

श्लोक—आचार्य आचरणं शुद्धं, ती अर्थं शुद्ध भावना।
सर्वज्ञे शुद्ध ध्यानस्य, मिथ्या त्यक्तं त्रि भेदयं ॥ ३२९ ॥

अन्वयार्थ—(आचार्य आचरणं शुद्धं) आचार्य शुद्ध आचरण करते कराते हैं (ती अर्थ शुद्ध भावना) रत्नत्रय स्वरूपकी शुद्ध भावना करते हैं (सर्वज्ञे शुद्ध ध्यानस्य) सर्वज्ञ परमात्माके शुद्ध ध्यानमें लगे रहते हैं (त्रि भेदयं मिथ्या त्यक्तं) तीन प्रकार मिथ्यात्वसे रहित हैं। या तीन प्रकार मिथ्याज्ञानसे रहित हैं।

विशेषार्थ—अब यहां आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप बताते हैं। जो निर्ग्रंथ मुनि पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्ति ऐसे १३ प्रकार चारित्रका व दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार इन पांच प्रकार आचारका निर्दोष पालन स्वयं करते हैं व दूसरोंसे पालन कराते हैं— जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी भावना व्यवहार नय द्वारा करते हुए उसका अनुभव निश्चय नयसे शुद्धोपयोगरूप करते हैं। क्योंकि शुद्धोपयोगमें ही निश्चय रत्नत्रयका लाभ होता है व वीतरागता होती है। आचार्य महाराजके प्रमत्त व अप्रमत्त दो गुणस्थान ही होते हैं। जब ध्यानमग्न निश्चल होते हैं तब सातवां अप्रमत्त और जब दीक्षा शिक्षा आहार विहार कार्योंमें निरत होते हैं तब प्रमत्त छठा गुणस्थान होता है। इन दोनोंका काल अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है इसलिये उन आचार्योंका आत्मा पुनः पुनः ध्यानमग्न होता हुआ आत्मानन्दका विलास करता रहता है, वे वचन व कायसे बाहरी कार्यको करते हुए भी मनसे आत्मकार्यमें ही लवलीन रहते हैं। जो शुद्ध धर्मध्यान करते हैं, सर्वज्ञ परमात्माका आलम्बन लेते हुए कभी स्तवन वन्दना भी करते हैं। जो क्षयिक सम्यक्ती या उपशम सम्यक्ती होते हैं उनके तीनों दर्शन मोह नहीं होते हैं। वे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, व सम्यक् प्रकृतिसे रहित होते हैं। क्षयोपशम सम्यक्तमें सम्यक् प्रकृति या अतिमंद उदय होता है। अथवा जिनमें कुमति, कुश्रुत व कुअवधिज्ञान नहीं होते हैं अथवा जो मिथ्या माया व निदान इन तीन शल्यसे रहित होते हैं। ऐसे परम मुनि वीतरागी परमोपकारी आचार्य हैं उनका ध्यान करना चाहिये। ॥१२०॥

श्लोक—उपाध्याय उपयोगेन, उपयोगो लक्षणं ध्रुवं।
अंग पूर्वं च उक्तं च, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ ३२० ॥

अन्वयार्थ—(उपाध्याय) उपाध्याय (उपयोगेन) ज्ञानोपयोगमें लगे रहते हैं (उपयोगो ध्रुवं लक्षणं) उपयोग जीवका निश्चित लक्षण है (अंग पूर्वं च उक्तं च) जो ग्यारह अंग व १४ पूर्वको कहते हैं (ज्ञानमयं ध्रुवं सार्धं) साथमें अविनाशी ज्ञानमय आत्माका भी वर्णन करते हैं।

विशेषार्थ—यहां उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप कहते हैं कि जो साधु निरंतर ज्ञानोपयोगमें लगे रहते हैं, पठन पाठनमें दत्तचित्त हैं, द्वादशांग वाणीको भलेप्रकार जानकर दूसरोंको पढाते हैं तथा जिनवाणीका सार जो शुद्धात्म तत्व है उसको भी बताते हैं वे उपाध्याय हैं।

बारह अंगोंका स्वरूप संक्षेपसे यह है—

१-आचारांग—इसमें मुनियोंके बाहरी आचरण हैं, कैसे चले, बैठे, उठे आदि।

२-सूत्रकृतांग—इसमें सूत्ररूप संक्षेपसे ज्ञानका विनय आदि धर्म क्रियाका वर्णन है।

३-स्थानांग—इसमें दो तीन चार इसतरह बढते२ स्थानोंका कथन है। जैसे संग्रह नयसे जीव एक प्रकार है, व्यवहार नयसे संसारी मुक्त ऐसे दो प्रकार व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप तीन प्रकार है इत्यादि।

४-समवायांग—जिसमें समानतासे जीवादि पदार्थ बताए हों। जैसे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय समान हैं, मुक्त जीव सब समान हैं, द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा समानता बताई है।

५-व्याख्याप्रज्ञप्ति—इसमें गणधरके साठ हजार प्रश्नोंके उत्तर हैं। जैसे जीव अस्ति है कि नास्ति है, एक है कि अनेक है, नित्य है कि अनित्य है इत्यादि।

६-ज्ञातृ धर्मकथा या नाथधर्मकथा—इसमें त्रेशठ शलाका पुरुषोंके धर्मकी कथा है।

७-उपासकाध्ययन—इसमें श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमा, क्रिया, मंत्र आदिका ...

८-अंतःकृतदशांग—इसमें हरएक तीर्थंकरके समय ...

गए उनका कथन है। श्री वर्द्धमानस्वामीके ...

५ सुदर्शन, २ यमलीक ...

९–अनुत्तरोपपादिक दशांग—इसमें हरएक तीर्थंकरके समयमें दश मुनि उपसर्ग सह समाधि मरण कर विजयादिक अनुत्तरोंमें जन्मे उनका कथन है। श्री वर्द्धमानस्वामीके समय ऐसे १० मुनि १ ऋजुदास, २ धन्य, ३ सुनक्षत्र, ४ कार्तिकेय, ५ नंद, ६ नंदन, ७ शालिभद्र, ८ अभय, ९ वारिषेण, १० चिलाती पुत्र ये दश भए।

१०–प्रश्न व्याकरणांग—इसमें अतीत अनागत वर्तमान काल सम्बन्धी लाभ अलाभ आदि प्रश्नोंके उत्तर कहनेकी विधि तथा चार प्रकार कथाओंका वर्णन है।

आक्षेपिणी–धर्ममें दृढ करनेवाली, विक्षेपिणी, एकांत मत खंडनेवाली संवेजिनी–धर्मानुराग करानेवाली निर्वेजिनी–संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य करानेवाली।

११–विपाकसूत्र—कर्मोंके उदय बंध सत्ता आदिका जिसमें वर्णन है।

१२–दृष्टिप्रवाद—इसके पांच अधिकार हैं। १–परिकर्म, २–सूत्र, ३–प्रथमानुयोग, ४–पूर्वगत ५–चूलिका। परिकर्म वह है जिसमें गणितादिके सूत्र हों। उसके पांच भेद हैं। चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति। इसमें जीवादि पदार्थोंका स्वरूप है।

सूत्र उसे कहते हैं जिसमें क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद मतोंके ३६३ भेदोंका वर्णन हो। प्रथमानुयोगमें त्रेसठ सलाका पुरुषोंका जीवनचरित्र हो।

चौदह पूर्व हैं वे इसप्रकार हैं—

१–उत्पाद पूर्व—पदार्थोंका उत्पाद व्यय ध्रौव्य कथन है।

२–अग्रायणीय पूर्व—७०० सुनय, कुनय व सात तत्वादिका वर्णन है।

३–वीर्यानुवाद पूर्व—जिसमें जीव अजीवादिके वीर्यका व क्षेत्र, काल, भाव व तपके वीर्यादिका कथन है।

४–अस्तिनास्ति पूर्व—अस्ति नास्ति आदि सात भंगोंका स्वरूप है।

५–ज्ञान प्रवाद पूर्व—आठ प्रकारके ज्ञानका स्वरूप।

६–सत्य प्रवाद पूर्व—१० प्रकार सत्य आदिका वर्णन है।

७–आत्म प्रवाद पूर्व—आत्माके स्वरूपका कथन है।

८-कर्म प्रवाद पूर्व—कर्मोंके बंधादिका कथन है।

९-प्रत्याख्यान पूर्व—त्यागका विधान कथित है।

१०-विद्यानुवाद पूर्व—७०० अल्पविद्या, ५०० महाविद्या साधनेके मंत्र यंत्र व आठ निमित्त ज्ञानका कथन है।

११-कल्याणवाद पूर्व—महापुरुषोंके कल्याणकोंका कथन है।

१२-प्राणवाद पूर्व—वैद्यकका कथन है।

१३-क्रिया विशाल पूर्व—संगीत, छन्द, अलंकार ७२ पुरुषकी ६४ स्त्रीकला आदिका कथन है।

१४-त्रिलोक बिंदुसार—तीन लोकका स्वरूप बीज गणितादिका कथन है।

चूलिका पांच प्रकार हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता, आकाशगता। इसमें जल, थल, आकाशमें चलनेके रूप बदलनेके मंत्रादि हैं।

इन बारह अंगोंके अपुनरुक्त अक्षर—

१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ हैं अर्थात् अ आ आदि ६४ अक्षरोंके सब भेद उतने होते हैं। यदि दो के अंकको छ दफे वर्ग करे और एक घटादें तो इतने अक्षर आएंगे। जैसे २ × २ = ४, ४ × ४ = १६, १६ × १६ = २५६, २५६ × २५६ = ६५५३६ इसी तरह करनेसे निकलेंगे।

एक मध्यम पदमें १६३४८३०७८८८ अपुनरुक्त अक्षर होते हैं तब कुल अक्षरोंके ११२८३५८००५ पद निकलेंगे शेष ८०१०८१७५ अक्षर बचेंगे।

बारह अंगोंमें इतने पद नीचे प्रकार बांट दिये गए हैं—

१-आचारांग	१८०००	२-सूत्रकृतांग	३६०००
३-स्थानांग	४२०००	४-समवायांग	१६४०००
५-व्याख्या प्रज्ञप्ति	२२८०००	६-ज्ञातृ कथा	५५६०००
७-उपासकाध्ययन	११७००००	८-अंतकृतदश	२३२८०००
९-अनुत्तरोपपादिक	९२४४०००	१०-प्रश्न व्याकरण	९३१६०००
११-विपाक सूत्र	१८४०००००	१२-दृष्टिप्रवाद	१०८६८५६००५

कुल पद ११२८३५८००५ हुए

शेष ८०१०८१७५ अक्षरोंमें १४ प्रकीर्णक हैं, उनको अंग बाह्य कहते हैं।

१-सामायिक—सामायिकके भेद।

२-चतुर्विंशतिस्तव—२४ तीर्थंकरकी स्तुति।

३-वंदना—एक तीर्थंकरकी वंदना मुख्यतासे।

४-प्रतिक्रमण—गत दोष निवारण ७ प्रकार।

५-वैनयिक—पांच प्रकार विनय।

६-कृति कर्म—नित्य क्रिया कथन।

७-दशवैकालिक—काल विकाल कथन।

८-उत्तराध्ययन—मुनिका उपसर्ग परीषह सहन कथन।

९-कल्प व्यवहार—मुनि योग्य आचरण कथन।

१०-कल्पाकल्प—मुनिके योग्य व अयोग्य द्रव्य क्षेत्रादि कथन।

११-महाकल्प—जिनकल्पी स्थविरकल्पी मुनि कथन।

१२-पुण्डरीक—चार प्रकार देवोंमें उपजनेके कारण दान पूजादि।

१३-महापुण्डरीक—इन्द्र अहमिन्द्रमें उपजनेके कारण।

१४-निषिद्धिका—प्रायश्चित्त कथन।

ये सब अंग प्रकीर्णक अब मिलते नहीं हैं। श्वेताम्बरोंने इन्हीं नामके धारक ग्रन्थ वीर भगवानके मोक्षके नौसो वर्ष बाद संकलन किये हैं। उनमें कुछ२ अंशिक कथन है।

उपाध्याय शास्त्रके विशेष ज्ञाता होते हैं। इन साधुओंका कर्तव्य पढना पढाना है।

श्लोक—साधुश्च सर्वसाध्यं च, लोकालोकं च साधये।
रत्नत्रयमयं शुद्धं, ति अर्थं साधु जोइतं ॥ २३१ ॥

अन्वयार्थ—(साधुश्च) साधु महाराज भी (सर्वसाध्यं च) सर्व प्रकार साधन करनेवाले हैं (लोकालोकं च साधये) जो लोकालोकके दिखानेवाले केवलज्ञानको साधते हैं (रत्नत्रयमयं शुद्धं) रत्नत्रयमई शुद्ध आत्माको साधते हैं (ति अर्थ साधु जोइतं) जिन्होंने तीनों पदार्थोंको भलेप्रकार जाना है।

विशेषार्थ—साधु परमेष्ठीकी मुख्यता मोक्षकी सिद्धि करनेकी है। वे निरंतर व्यवहार रत्नत्रयके द्वारा निश्चय रत्नत्रय मई शुद्ध आत्माको साधन करते हैं। उनको इन तीनों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र पदार्थोंका भलेप्रकार ज्ञान होता है। उनका ध्येय केवलज्ञान प्राप्ति है। छठे प्रमत्त-गुणस्थानसे बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक सर्व मुनि साधु हैं। साधु मुनि ही तेरहवें गुणस्थानमें जाकर अरहंत केवली होजाते हैं। आचार्य व उपाध्याय पदके धारी मुनि छठे व सातवें गुणस्थानमें ही होते हैं। जब आगेका साधन करना होता है तब ये मुनि आचार्य व उपाध्याय पदको छोड़ देते हैं। मात्र स्वयं साधनमें लग जाते हैं। जिनको न तो संघकी रक्षाकी चिंता है न पठन पाठनकी चिंता है। जो नित्य आत्मध्यानमें व वैराग्यकी भावनामें व बारह प्रकारके तपके साधनमें लगे रहते हैं, कठिन २ तपस्या करते हैं, उपसर्ग परीषह सहते हैं, एकांतवास कर धर्मध्यानकी शक्ति बढाते हैं, फिर उपशम श्रेणी या क्षेपकश्रेणीपर शक्तिके अनुसार आरूढ होते हैं, कर्मोंके क्षयका निरंतर उद्यम करते रहते हैं। सामान्य साधुसे बारहवें गुणस्थान तक सब ही साधु हैं। उन्होंमेंसे आचार्य व उपाध्याय होजाते हैं। सर्वका भेष नग्न होता है। पीछी कमंडल या शास्त्र रखते हैं, अन्य परिग्रहसे रहित हैं।

श्लोक—देवं पंच गुणं शुद्धं, पदवी पंच संयुतो।
देवं जिनं पणणत्तं, साधए शुद्ध दृष्टितं ॥ ३३२ ॥

अन्वयार्थ—(पदवी पंच संजुतो) अरहंत आदि पांच पदवी सहित (पंच गुणं) पांच परमेष्ठीको (शुद्ध देवं) शुद्ध पुज्यनीय देव (देवं जिनं) देव जिनेन्द्र (पण्णत्तं) कहा गया है (शुद्ध दृष्टितं साधए) ये पांचों शुद्ध सम्यग्दर्शनको साध चुके हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि अरहंत सिद्धको देव और आचार्य, उपाध्याय, साधुको गुरु कहते हैं तथापि ये पांच परमेष्ठी पद पूज्यनीय महान कहे जाते हैं। ये सभी शुद्ध आत्मीक अनुभव करनेवाले शुद्ध सम्यग्दृष्टी हैं, अपने२ यथार्थ गुणोंके स्वामी हैं। व्यवहार नयसे ये पांच पद हैं, निश्चयनयसे इन सबमें एक ही जातिका शुद्धात्मा विराजमान है। ऐसा विचार कर अपने शुद्धात्माका ध्यान मुख्यतासे करना योग्य है।

श्लोक—अरहंतं भावनं येन, षोडशभाव भावितं ।
ति अर्थं तीर्थकरं येन, प्रतिपूर्णं पंच दीतयं ॥ २३२ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (षोडशभाव भावितं) षोडशकारण भावना भाई हैं तथा (अरहंत भावनं) अरहंत पदकी भावना भाई है (येन) वह (ति अर्थं) तीन पदार्थ स्वरूप (तीर्थकरं) तीर्थंकर (प्रतिपूर्णं पंच दीतयं) पूर्ण पांच ज्ञानमई होता है।

विशेषार्थ—अरहंत पदमें यद्यपि तीर्थंकर व सामान्य केवली दोनों गर्भित हैं। तथापि तीर्थंकरके पुण्यबंध विशेष होता है। उनकी इन्द्रादि देव भक्ति करते हैं। उनसे धर्मका प्रचार भी बहुत होता है। ऐसा तीर्थंकर वही महान आत्मा होता है जो १६ कारण भावनाका हृदयसे विचार करता है। उन भावनाओंके भानेसे व केवली श्रुतकेवलीकी निकटतासे तीर्थंकर नामकर्मका बंध होजाता है। तीर्थंकरोंकी इन्द्रादि देव पंचकल्याणक रूप भक्ति करते हैं जो तीर्थंकर नाम कर्म बांधे हुए उत्पन्न होते हैं। उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण पांचों कल्याणक होते हैं। जो उसी जन्ममें तीर्थंकर नाम कर्म बांधकर तीर्थंकर होते हैं उनके तप, ज्ञान, निर्वाण अथवा ज्ञान निर्वाण दो कल्याणक होते हैं। तीर्थंकर सम्यक्ती, सम्यग्ज्ञानी, सम्यक्चारित्री होते हैं। तीनों पदार्थ जो रत्नत्रय है उनसे पूर्ण होते हैं। तीर्थंकर नामकर्मका बंध भी सम्यक्तके होते हुए होता है। वास्तवमें तीर्थंकर नाम कर्मका उदय केवलज्ञान अवस्थामें होता है जहां पांचों ज्ञानोंकी पूर्णता या ज्ञानकी पूर्णता होजाती है। ये १६ कारणभावना परमोपकार करनेवाली है। इनके भावनेसे या इनपर चलनेसे यदि तीर्थंकर नाम कर्मका बंध न भी हो तौभी महान पुण्यबंध होता है। वे भावनाएं नीचे प्रकार हैं—

१-दर्शनविशुद्धि भावना—सम्यग्दर्शन शुद्ध रहे उसमें पचीस दोष न लगें ऐसी भावना करनी।

२-विनयसम्पन्नता—रत्नत्रय धर्म व उनके धारकोंकी विनय करता रहूँ ऐसी भावना।

३-शीलव्रतेष्वनतीचार—शील स्वभाव व व्रतोंके पालनमें कोई दोष न लगे ऐसी भावना करनी।

४-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—निरंतर आत्मज्ञान व शास्त्र ज्ञानके भीतर उपयोग लगा रहे यह भावना करनी।

५-संवेग—संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य व धर्ममें अनुराग बढ़ता रहे ऐसी भावना करनी ।

६-शक्तिस्त्याग—शक्तिके अनुसार आहार, अभय, औषध व ज्ञान दान करता रहूँ ऐसी भावना करनी ।

७-शक्तिस्तप-शक्तिके अनुसार बारह तप पालता रहूँ ऐसी भावना करनी ।

८-साधुसमाधि-साधुओंपर कोई उपसर्ग आवे तो उसको दूर करूँ ऐसी भावना करनी ।

९-वैयावृत्यकरण—धर्मात्माओंकी सेवा करता रहूँ यह भावना करनी ।

१०-अर्हत् भक्ति—अर्हंतदेवकी भक्ति करता रहूं यह भावना ।

११-आचार्य भक्ति—आचार्यकी भक्ति करता रहूं यह भावना ।

१२-बहुश्रुत भक्ति—उपाध्यायकी भक्ति करता रहूं यह भावना ।

१३-प्रवचन भक्ति—शास्त्रकी व धर्मकी भक्ति करता रहूं यह भावना ।

१४-आवश्यकापरिहाणि—नित्य आवश्यक धर्मक्रियाओंको न छोड़ूं यह भावना ।

१५-मार्ग प्रभावना—जिन धर्मकी उन्नति करता रहूं यह भावना ।

१६-प्रवचन वत्सलत्व—साधर्मियोंसे प्रेम रखता रहूं ऐसी भावना करनी ।

क्योंकि इन भावनाओंमें सर्व जीवोंके कल्याणकी भावना होती है इसीसे तीर्थंकर नामकर्मका बंध होजाता है ।

श्लोक—तस्यास्ति षोडशं भावं, तीर्थं तीर्थंकरं कृतं ।
षोडशभाव भावेन, अरहंतं गुण शाश्वतं ॥ ३३४ ॥

अन्वयार्थ—(तस्य षोडशभावं अस्ति) उसीके षोडश भावना यथार्थ भाई गई होती है जिसके (तीर्थं कृतं तीर्थंकरं) तीर्थ जो धर्मरूपी जहाज उसको चलानेवाला तीर्थंकर कर्मबंध होजावे (षोडशभाव भावेन) सोलहकारण भावनाके भानेसे (अरहंतं गुण शाश्वतं) अरहंत पद गुणमई व अविनाशी आत्माका स्वभाव प्रकट होता है ।

विशेषार्थ—जिनके द्वारा सोलहकारण भावना सर्व ही या कुछ वा एक भी परिपूर्ण भाई जाती है उसीके तीर्थंकर नामकर्म बंधता है । तीर्थंकरके समान ऊँचा अरहंत पद दूसरा नहीं है । अवि-

नाशी आत्माका स्वभाव जब झलक जाता है तब तीर्थंकर देव अपनी दिव्यध्वनिसे उपदेश देकर अनेक भव्य जीवोंका उद्धार करते हैं। उनके महान उपकारको स्मरण कर हमें श्री ऋषभादि महावीर पर्यंत चौवीस तीर्थंकरोंकी सच्चे भावसे भक्ति करनी योग्य है।

श्लोक—सिद्धं च शुद्ध सम्यक्तं, ज्ञान दर्शन दर्शितं।
वीर्यं सुहमं अव्याधि, अवगाहना गुरु लघू ॥ २३५ ॥

अन्वयार्थ—(सिद्धं च शुद्ध सम्यक्तं) सिद्ध भगवानके शुद्ध सम्यक्त होता है (ज्ञान दर्शन दर्शितं) अनंत ज्ञान व अनंत दर्शन प्रगट होता है (वीर्यं सुहमं अव्याधि) अनंत वीर्य, सुक्ष्मपना, अव्याबाधपना (अवगाहना गुरु लघू) अवगाहना व अगुरुलघूपना ये आठ गुण प्रगट होजाते हैं।

विशेषार्थ—सिद्धात्मा पूर्णात्माको कहते हैं। सर्व बाधक कर्मोंका अभाव होनेसे आत्माकी पूर्ण शक्तियें वहां प्रकाशमान होजाती हैं। उनमें गुण तो अनंत होते हैं परंतु यहां आठ कर्मोंके नाशसे जो आठ गुण प्रकाशमान होते हैं उनका कथन किया गया है। मोहनीय कर्मके नाशसे शुद्ध सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण चारित्र सहित प्रगट होजाता है। ज्ञानावरणीय कर्मके नाशसे अनंत ज्ञान व दर्शनावरणीय कर्मके नाशसे अनंत दर्शन प्रगट होजाता है जिससे वे सर्व द्रव्योंके गुण पर्यायोंको एक समयमें ही देखते व जानते हैं। अंतराय कर्मके नाशसे अनंत बल प्रगट होजाता है। जिससे उनको कभी भी आकुलता व निर्बलता किसी प्रकारकी नहीं होती है। वेदनीय कर्मके नाशसे अव्याबाधपना प्रगट होता है। अब कोई पर वस्तु उनके सुखके भोगमें बाधक नहीं रही है। गोत्र कर्मके नाशसे अगुरुलघु गुण प्रगट होगया है। उनमें अब यह कल्पना ही नहीं रही है कि हम गुरु हैं या लघु हैं, ऊंच हैं या नीच हैं, वे स्वयं समदर्शी हैं, परम साम्यभावमें लीन हैं, नामकर्मके नाशसे सूक्ष्मपना प्रगट होगया है, शरीरादि न रहनेसे वे सिद्ध भगवान इंद्रियगोचर नहीं हैं, ज्ञानगम्य हैं, आयुकर्मके नाशसे अवगाहना गुण प्रगट होगया है, जहां एक सिद्ध विराजते हैं वहां अन्य सिद्धोंको ठहरनेमें कोई बाधा नहीं होती है, सिद्धोंका ऐसा स्वरूप विचार करना चाहिये।

श्लोक—सम्यक्तं आदि गुण सार्द्धं, मिथ्यात्व मल विमुक्तयं।
सिद्धं गुणस्य संपूर्ण, साध्यं भव्य लोकयं ॥ २३६ ॥

... साध्यं भव्य लोकयं ॥ ३२६ ॥

अन्वयार्थ—(संम्यक्तं आदि गुण सार्द्ध) सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके धारी (मिथ्यात मल विमुक्तयं) मिथ्यादर्शन रूपी मलसे रहित (गुणस्य संपूर्ण) सर्व आत्मीक गुणोंसे पूर्ण (भव्य लोकयं साध्यं) भव्य जीवोंके द्वारा साधने योग्य (सिद्धं) ऐसे सिद्ध होते हैं।

विशेषार्थ—सिद्धोंमें कर्मजनित कोई भी विभाव मिथ्यात्व आदि नहीं होता है क्योंकि सर्व कर्मोंसे रहित आत्माको ही सिद्ध कहते हैं, उनके सम्यग्दर्शन आदि अनंत गुण जितने आत्माके भीतर हैं वे सब पूर्णपने विकासको प्राप्त होजाते हैं, वे आदर्श परमात्मा हैं, निरन्तर आत्मीक आनन्दका स्वाद लेते रहते हैं, उनको ही ईश्वर, भगवान, परब्रह्म, परमेश्वर, निरंजन, चिदानंद प्रभु आदि नामोंसे भव्य जीव ध्याते हैं। वे ही साधने योग्य हैं। तीर्थंकर भी जबतक गृहस्थ व मुनि अवस्थामें होते हैं उनही सिद्धोंका ध्यान करते हैं। हरएक मुमुक्षुको उन सिद्धोंके गुणोंका स्मरण करके अपने आत्माको सिद्ध सम ध्याना चाहिये।

श्लोक—आचार्य आचरणं धर्मं, ती अर्थं शुद्ध दर्शनं।
उपाध्याया उपदेशांति, दशलक्षण धर्म ध्रुवं ॥ ३२७ ॥

अन्वयार्थ—(आचार्यं ती अर्थं धर्म शुद्ध दर्शनं आचरणं) आचार्य परमेष्ठी तीन अर्थरूप अर्थात् रत्नत्रय स्वरूप धर्मका तथा मुख्यतासे शुद्ध सम्यग्दर्शनका आचरण आप करते हैं व कराते हैं (उपाध्याया ध्रुवं दशलक्षण धर्म उपदेशांति) उपाध्याय परमेष्ठी यथार्थ दशलक्षणमय धर्मका पाठ पढाते हैं।

विशेषार्थ—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रयमय धर्मका व्यवहार नय तथा निश्चय नयसे स्वयं आचरण करते हैं व अन्य साधुओंसे आचरण कराते हैं उनको आचार्य परमेष्ठी कहते हैं। मुख्यतासे शुद्ध आत्मीक अनुभवका अभ्यास करते हैं जहां शुद्ध सम्यक्त गर्भित है तथा इसी स्वात्मानुभवका अभ्यास कराते हैं क्योंकि यही निश्चय रत्नत्रयकी एकतारूप मोक्षका मार्ग है, यही कर्मोंका विध्वंश करनेवाला है।

उपाध्याय परमेष्ठी उत्तम दशलक्षण धर्मको स्वयं पालन करते हुए उनहीकी शिक्षा अन्य साधुओंको देते हैं उनका काम पढानेका है।

वे दशलक्षण धर्म नीचेप्रकार हैं:—

१-उत्तम क्षमा-उत्कृष्ट क्षमा—दूसरोंके द्वारा पीडित व वध व आक्रोषित किये जानेपर भी किंचित् भी क्रोधका विकार न पैदा करके पूर्ण क्षमा रखना। मात्र अपने कर्मोदयको विचारना। क्योंकि अपने कर्मके उदय विना कोई किसीको कष्ट नहीं देसक्ता है। शांतभावसे कर्मनिर्जरा विशेष होती है।

२-उत्तम मार्दव—विद्या, तप, वक्तापना, ध्यानादिमें अति प्रवीण होनेपर भी या अज्ञानियों द्वारा अपमानित होनेपर भी किंचित् भी मान भाव चित्तमें न लाकर परम कोमल भाव रखना, मान अपमानमें समता रखना तथा धर्म व धर्मधारियोंकी विनय करना। कोमल आत्मामें ही धर्म वृक्ष फलता है।

३-उत्तम आर्जव—अनेक कष्ट पडनेपर भी, भोजनका अलाभ होनेपर भी लोभके वश या मानके वश कभी भी कपट भाव चित्तमें न लाना, अपना दोष सरलतासे गुरुसे कहते हुए शुद्ध भाव रखना। मायाचार रहित शुद्ध शास्त्रोक्त वर्तना वैसा ही वर्तना। कुटिलतारूप मन, वचन, कायको कभी न वर्तना।

४-उत्तम शौच—लोभ कषायको सर्व पापोंका मूल जानकर परम संतोषकी भावनासे मनको पवित्र रखना। पंचेन्द्रियके भोगोंकी कुछ भी कामना न करना। इष्ट व अनिष्ट संयोगमें समभाव रखना। आत्माकी पवित्रताका साधन करना।

५-उत्तम सत्य—स्वयं सत्य धर्मपर चलना, सत्य ही विचारना, सत्य ही उपदेश देना, सत्यको जीवनका सार समझना। निर्भय होकर सत्यका अनुयायी रहना। असत्यके मैलसे बचना।

६-उत्तम संयम—भलेप्रकार पांच इंद्रिय व मनके विकल्पोंको रोककर इंद्रिय संयम पालना। तथा पृथ्वी आदि छः कायके प्राणियोंकी दया निमित्त उनकी रक्षा करना सो प्राणि संयम पालना। आत्माको आत्मामें निरोध करना। मुनिके चारित्रको यथार्थ साधना।

७-उत्तम तप—भलेप्रकार उपवास आदि बारह प्रकार तपका साधन करना। तपस्या करते हुए उपसर्ग व परीषह आजावे तो समतासे सहना। किंचित् भी क्षोभित न होना। निर्जन स्थानोंपर जाकर तप करना। परमानन्दका स्वाद लेते हुए तप साधना।

८-उत्तम त्याग—स्वयं संकल्प विकल्प त्यागकर निर्विकल्प रहना तथा अन्य प्राणियोंकी रक्षा करते हुए अभयदान देना व मिथ्यात्वादिके मिटानेको सम्यक्ज्ञानका उपदेश करना। दुःखी थके रोगी साधुओंकी सेवा करके औषधि दान देना। क्षुधा तृषाकी बाधा होनेपर धर्मामृत पिलाकर तृप्त करना यही आहारदान देना।

९-उत्तम आकिंचिन्य—इस जगतमें परमाणु मात्र भी अपना नहीं है, आत्माके गुण पर्याय ही मेरी आत्माके हैं ऐसी भावना भाते हुए अंतरंग रागादि, बहिरंग क्षेत्रादि परिग्रहसे निर्ममत्व रहना। एक केवल स्वयं आपको ध्याना।

१०-उत्तम ब्रह्मचर्य—निश्चयसे अपने ब्रह्म स्वभावमें थिर रहना, व्यवहारसे मन, वचन, काय व कृतकारित अनुमोदनासे स्त्री मात्रसे व कामके विकारसे विरक्त रहना, शीलको ही आत्माका आभूषण समझना।

ये दश धर्म व्यवहारसे दश भेदरूप हैं, निश्चयसे सर्व एक आत्मारूप हैं। जहां आत्माकी थिरता आपमें हुई वहां क्रोधादि कषायोंका विकार न होनेसे क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच स्वयं होजाते हैं। सत्य पदार्थ एक आत्मा है उसमें थिरता एक उत्तम सत्य है। आत्मामें संयमरूप रहना संयम, उसीमें तपना तप है। अपनेको अतीन्द्रिय आनन्द देना त्याग है। परसे ममत्व न होना आकिंचन्य व आपमें आपी जमना ब्रह्मचय है।

इन १० धर्मोंका एक देश पालन गृहस्थ भी करते हैं। वे इन धर्मोंको इतना पालन करेंगे जिससे धर्म, अर्थ काम पुरुषार्थ साधे जासकें, नीति न बिगड़े, दुष्टोंका दमन हो, सज्जनोंकी रक्षा हो, जगतका उपकार हो, अन्यायका दमन हो, आप व पर सब सुखसे निराबाध जीवन बिता सकें, पूर्ण साधन साधु ही कर सके हैं। यदि दुष्टोंपर क्षमा की जाय तो गृहस्थ व साधु दोनोंका धर्म नहीं चल सक्ता इसलिये गृहस्थ यथावसर विवेक पूर्वक इनका साधन करते हैं।

श्लोक—सार्द्ध चेतनाभावं, आत्मधर्मं च एक यं।
आचार्य उपाध्यायेन, धर्म शुद्धं च धारिना ॥ ३३८ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्धं धर्म च धारिना) शुद्ध निश्चय धर्मको पालनेवाले (आचार्य उपाध्यायेन) आचार्य व

उपाध्यायके द्वारा (चेतनाभावं सार्द्धं) चेतना भाव सहित (एक यं च आत्मधर्मं) एक ही आत्मधर्मकी भावना की जाती है।

विशेषार्थ—यद्यपि व्यवहार नयसे भेद रूप धर्मको आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी साधन करते हैं, परन्तु निश्चयसे वे शुद्ध ज्ञान चेतनामई एक आत्मधर्मकी ही आराधना करते हैं व कराते हैं। यदि किसी आचार्य व उपाध्यायका ध्यान मात्र व्यवहार धर्मके प्रवर्तनेपर हो, निश्चयधर्मके चलानेपर न हो तो वे यथार्थ आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी नहीं होसक्ते। वे परम गुरु जानते हैं कि साध्य जैसा होता है वैसा साधन होना चाहिये। साध्य शुद्ध आत्म-स्वरूप है तब उसका साधन भी शुद्ध आत्म-स्वरूपमें थिरता है। इसके सिवाय जो कुछ अन्य भेदरूप धर्माचरण है वह आत्मध्यानके लिये निमित्त मात्र है। इस तत्वको सदा सामने रखते हुए जिस तरह साध्यकी सिद्धि हो उसी तरह आप चलते हैं व अन्य शिष्योंको चलाते हैं। अन्तरंग धर्मकी वृद्धि करनेपर ही इन दोनों परमेष्ठियोंका ध्यान रहता है। कर्मकी निर्जराका मुख्य कारण शुद्धात्माका ध्यान है। आचार्य व उपाध्याय स्वयं जबतक अपने पदोंपर आरूढ हैं तबतक धर्मध्यानको ध्याय सक्ते हैं, परन्तु शुक्लध्यानको नहीं पासक्ते हैं। जब शुक्लध्यान करना होता है तब वे इन पदोंका त्यागकर साधु पदमें आजाते हैं।

श्लोक—तत् धर्म शुद्ध दृष्टी च, पूजितं च सदा बुधैः।
उक्तं च जिनदेवेन, श्रूयते भव्यलोकयं ॥ ३३९ ॥

अन्वयार्थ—(तत् धर्मं) वह धर्म (शुद्धदृष्टी च) शुद्ध आत्माका दर्शन ही है (सदा बुधैः च पूजितं) यह धर्म सदा ही बुद्धिमानों द्वारा आदरणीय है (जिनदेवेन उक्तं च) जिनेन्द्रदेवने उसका उपदेश दिया है (भव्यलोकयं श्रूयते) भव्य लोगोंने इसी धर्मका श्रवण किया है।

विशेषार्थ—वह निश्चय धर्म एक शुद्ध आत्मीक अनुभव है, वचन व मनसे अगोचर है, आत्माका ही आत्मामें ही थिरता रूप है, इसीको चाहे शुद्ध सम्यग्दर्शन कहो, चाहे शुद्ध ज्ञान कहो, चाहे स्वरूपाचरण चारित्र कहो, चाहे संयम व तप कहो। इसी धर्मकी जगतमें गणधरादि द्वारा व संतों द्वारा पूजा की जाती है तथा जितने तीर्थंकर व अन्य सामान्य अर्हत् परमेष्ठी उपदेष्टा हुए हैं उन्होंने

इसी परम धर्मका उपदेश दिया है इसीको सुनकर भव्य जीव आनन्दमें मगन होजाते हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि आचार्य परमेष्ठीका कर्तव्य है कि इसी धर्मका प्रचार करावें। उपाध्यायोंका धर्म यह है कि इसी धर्मका पाठ पढावें। जहांतक आत्मज्ञान न होगा वहांतक अन्य अनेक शास्त्रोंका ज्ञान उपकारी न होगा, सर्व शास्त्रोंका सार अध्यात्म शास्त्र है, सर्व विद्याओंमें श्रेष्ठ अध्यात्मविद्या है, सर्व कलाओंमें उत्तम आत्मानुभवकी कला है। इसीलिये जो इस कलाका प्रचार करते हैं वे ही सच्चे आचार्य व उपाध्याय हैं।

श्लोक—साधओ साधुलोकेन, दर्शनं ज्ञानसंयुतं।
चारित्रं आचरणं येन, उदयं अवश्य शुद्ध यं ॥ ३४० ॥

अन्वयार्थ—(साधुलोकेन) साधुओंके द्वारा (दर्शनं ज्ञान संयुतं साधओ) ज्ञान सहित सम्यग्दर्शनका साधन किया जाता है (येन चारित्रं आचरणं) और जो सम्यक्चारित्रका आचरण करते हैं (अवश्य शुद्ध यं उदयं) तथा उनके अवश्य अर्थात् निर्विकल्प स्वावलम्बन रूप शुद्ध भावका भी प्रकाश होता है।

विशेषार्थ—अब साधु परमेष्ठीका विशेष स्वरूप कहते हैं। जो रत्नत्रयका साधन करे उसको साधु कहते हैं। उनमें मुख्यता ज्ञान सहित सम्यग्दर्शनकी है, उनको तत्वोंका यथार्थ ज्ञान होता है तथा दृढ विश्वास पदार्थोंका होता है। पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार या अठाइस मूल गुण रूप चारित्र साधुजन भले भावसे पालते हैं। तथा शुद्ध आत्मीक भावका प्रकाश करते रहते हैं। यदि कोई साधु मात्र व्यवहार रत्नत्रय पाले और निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धात्मानुभव न पावे तो वह साधु परमेष्ठी पूज्य नहीं है, वह मात्र द्रव्यलिंगी साधु-मिथ्यादृष्टी है। भावलिंग सहित ही द्रव्यलिंगकी शोभा है। भावलिंग विना द्रव्यलिंग केवल पुण्यबंधका कारण है-मोक्षका कारण नहीं है।

श्लोक—ऊर्ध अधो मध्यं च, दृष्टि सम्यग्दर्शनं।
ज्ञानमयं च संपूर्णं, आचरणं संयुतं ध्रुवं ॥ ३४१ ॥

अन्वयार्थ—(ऊर्ध अधो मध्यं च) ऊर्धलोक, अधोलोक व मध्यलोक तीनों लोकमें (सम्यग्दर्शनं दृष्टि)

सम्यग्दर्शनके द्वारा जो देखनेवाले हैं (संपूर्ण ज्ञानमयं च ध्रुवं आचरणं संयुतं) व सम्पूर्ण ज्ञानमय निश्चल आचरणके करनेवाले हैं वे साधु हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे साधुजन तीनों लोकोंको यथार्थ देखते व श्रद्धान करते हैं। जब व्यवहार नयसे देखते हैं तो विचारते हैं कि अधोलोक नर्कमें नारकियोंको महान कष्ट है। मध्यलोकमें मानव व तिर्यंच अनेक मानसिक व शारीरिक कष्ट पारहे हैं व भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी तीन प्रकार देव तथा ऊर्ध्व लोकके कल्पवासी देव भी मानसिक दुःखसे पीडित हैं। सर्व जीव तीन लोकमें एकेंद्रियसे पंचेंद्रिय पर्यंत पर्यायोंमें जन्म ले लेकर मरते हैं। एक सिद्ध लोक ही सार है जहां सिद्ध भगवान जन्म जरा मरण रहित नित्य आनन्दमग्न रहते हैं। फिर निश्चय दृष्टिसे देखता है तो इस जगतको छः द्रव्योंका समुदाय जानकर हरएक द्रव्यका भिन्न २ स्वभाव विचारता है। अनन्तानन्त जीवोंको एकाकर शुद्ध ज्ञानदर्शनमय देखता है। परम समताभाव प्राप्त करता है, रागद्वेषको मिटा देता है। वीतरागताको पाकर आत्मध्यानमें निश्चिन्त होजाता है। ज्ञानी साधु तत्वोंपर यथार्थ ज्ञान सहित विश्वास रखते हुए मात्र आत्म-शुद्धिके लिये व्यवहार आचरणको पालते हैं तथा निश्चय शुद्ध आचरणमें आरूढ़ होजाते हैं। जिनके मुख्य साधन आत्मध्यान है वे ही साधु हैं।

श्लोक—साधु गुणस्य संपूर्णं, रत्नत्रयालंकृतं।
भव्यलोकस्य जीवस्य, रत्नत्रयं प्रपूजितं ॥ ३४२ ॥

अन्वयार्थ—(साधु) साधु परमेष्ठी (गुणस्य संपूर्ण) अट्ठाईस मूलगुणोंसे पूर्ण होते हैं (रत्नत्रयालंकृतं) रत्नत्रयसे शोभायमान होते हैं (भव्यलोकस्य जीवस्य) भव्य लोक जीवोंके द्वारा (रत्नत्रयं प्रपूजितं) रत्नत्रय पूजने योग्य हैं।

विशेषार्थ—साधुमें २८ मूलगुण पूर्ण होने चाहिये, वे इस प्रकार हैं—

पांच महाव्रत अहिंसादि + पांच समिति ईर्या भाषा आदि + पांच इन्द्रियका दमन + छः आवश्यक-समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग + केशलोंच + नग्नपना + स्नान त्याग + दंत धावन त्याग +खड़े भोजन + एकबार भोजन + भूमि शयन = २८।

तथा वे निश्चय व व्यवहार रत्नत्रयके साधक होते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन निमित्त है जब कि निश्चय सम्यग्दर्शन साक्षात् मोक्षमार्ग है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान निमित्त है जब कि निश्चय सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षमार्ग है, व्यवहार सम्यक्चारित्र निमित्त है जब कि निश्चय सम्यक्चारित्र साक्षात् मोक्षमार्ग है। तीनोंकी एकता मोक्षमार्ग है, पृथक् पृथक् नहीं। जहां शुद्धात्मानुभवका अभ्यास है वहां स्वयं तीनोंकी एकता है। साधुओंके इसीका मुख्य साधन रहता है, क्योंकि साधुजन रत्नत्रयसे विभूषित होते हैं इसलिये भव्य जीव उनकी पूजा करते हैं, उनके गुणोंका स्मरण करते हैं, उनको दान देते हैं, उनसे धर्मोपदेश लेकर स्वयं उसपर चलते हैं।

श्लोक—देवं गुरुं पूज सार्धं च, अंग सम्यक्त शुद्धये।
सार्धं ग्यानमयं शुद्धं, सम्यग्दर्शनमुत्तमं ॥ ३४३ ॥

अन्वयार्थ—(देवं गुरुं अंग सार्धं च पूज) देव, गुरु और शास्त्रकी पूजा (सम्यक्त शुद्धये) सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके लिये कर्तव्य है (ज्ञानमयं शुद्धं सार्धं) साथमें ज्ञान स्वरूप शुद्ध आत्माका अनुभव करना (उत्तमं सम्यग्दर्शनं) उत्तम सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—यहां यह उपदेश दिया है कि पांच परमेष्ठी जैसे पूज्य हैं वैसे उनकी अंग पूर्वरूप वाणी भी पूज्य है। देवमें अरहंत सिद्ध, गुरुमें आचार्य, उपाध्याय, साधु गर्भित हैं। देव शास्त्र गुरुकी पूजा निश्चय सम्यक्तकी प्राप्तिके लिये तथा यदि निश्चय सम्यक्त हो तो उसकी दृढ़ता व शुद्धिके लिये निरन्तर करना योग्य है। भक्ति करनेसे मनपर उनके पवित्र गुणोंके स्मरणका प्रभाव पड़ता है। जिससे परिणामोंमें कषायकी मंदता होती है। एक वस्तु आतापमय होरही है, उष्णतामें जाज्वल्यमान है, उसको पुनः पुनः शांत जलमें डुबानेसे उसका आताप धीरे २ शमन होजाता है। उसी तरह हम संसारी जीव भवकी आतापसे संतापित हैं, विषय कषायके दोषसे दूषित हैं तब हमें उचित है कि हम अपनेको परम वीतराग देव शास्त्र गुरुकी भक्तिमें डुबावें। उनकी शांति हमारे भवातापको शांत करनेमें व उनका विषय-कषायोंसे वैराग्यमय बनानेमें निमित्त पडेगा, इसलिये नित्य व्रती श्रावकको देव शास्त्र गुरुकी पूजा करनी योग्य है, भलेप्रकार भाव लगाकर करनी योग्य है, जिसमें पूज्यमें पूजकका भाव लवलीन होजावे। इससे अनंतानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्वको

उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका बल घटेगा और यदि सम्यक्त होगा तो अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका बल घटेगा। इस व्यवहार सम्यग्दर्शनकी सेवा करते हुए श्रावकको यह भी योग्य है कि वह ज्ञानमई शुद्धात्माकी भावना भी करें। यही भावना उत्तम या निश्चय सम्यक्तकी भावना है।

श्लोक—ज्ञानं च ज्ञानशुद्धं च, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
ज्ञानमयं च संशुद्धं, ज्ञानं सर्वत्र लोकितं ॥ ३४४ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानं च) व्यवहाररूप अंग पूर्वादिका ज्ञान (ज्ञान शुद्धं च) तथा शुद्ध आत्माका ज्ञान (शुद्ध तत्त्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्माके स्वरूपको प्रकाश करनेवाले हैं (ज्ञानमयं च संशुद्धं ज्ञानं) ज्ञानमई परम शुद्ध केवलज्ञान (सर्वत्र लोकितं) सर्व पदार्थोंको देखनेवाला है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि सम्यग्ज्ञानकी आराधना परम कार्यकारी है। शुद्ध आत्माके प्रकाशके लिये, आत्माके आवरणको काटनेके लिये, शुद्ध आत्मज्ञानका अनुभव, मनन, चिंतवन परमावश्यक है। समयसार कलशमें कहा है—

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया। तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितं॥

भावार्थ—जबतक पर परिणातिसे छूटकर ज्ञान ज्ञानमें स्थिरता न पाले अर्थात् जबतक केवलज्ञान न हो बराबर भेदविज्ञानकी भावना करते रहो अर्थात् अपने आत्माको सर्व परभाव, परद्रव्य व कर्म जनित नैमित्तिक भावोंसे जुदा अनुभव करते रहो। इस आत्मीक भावनाकी शुद्धि व दृढताके लिये जिनवाणीका अभ्यास परमावश्यक निमित्त कारण है। जहांतक निर्विकल्प समाधि न हो व शुक्लध्यानका प्रारम्भ न हो तथा छठा सातवां गुणस्थान पुनः पुनः होता रहता हो वहांतक शास्त्रका पढना आवश्यक आलम्बन है। सम्यग्ज्ञानके आराधनसे ही सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होता है, श्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका कारण है। और जब शुद्ध केवलज्ञान होजाता है तब सर्व जानने योग्य जान लिया जाता है, क्योंकि ज्ञानका बाधक ज्ञानावरणका कोई अंश उदयमें नहीं रहा है तब सूर्य प्रकाशके समान पूर्ण ज्ञानका प्रकाश क्यों न हो। सर्वज्ञत्वपना सर्वदर्शीपना शुद्धात्माका मुख्य गुण है। अतएव सम्यग्ज्ञानकी आराधना नित्य करनी योग्य है।

श्लोक—ज्ञानं आराध्यते येन, पूज्य तत्वं च विंदते ।
शुद्धस्य पूज्यते लोके, ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं ॥ ३४५ ॥

अन्वयार्थ—(येन ज्ञानं आराध्यते) जिसने ज्ञानकी आराधना की हो व (पूज्य तत्वं च विंदते) व पुज्यनीय आत्मतत्वका अनुभव किया है ऐसे (शुद्धस्य लोके पूज्यते) शुद्ध ज्ञानधारीकी ही लोकमें प्रतिष्ठा होती है (ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं) ज्ञानमय रहना ही निश्चल यथार्थ तत्व है ।

विशेषार्थ—ज्ञानाराधनाका महात्म्य बताते हैं कि पांचों परमेष्ठी ज्ञानकी आराधना करके ही हुए हैं। इस ही आराधनाके द्वारा पूज्यपना है। जगतके भव्य जीव पांच परमेष्ठी महाराजको ज्ञानाराधनके गुणके द्वारा ही पूजते हैं । सिद्ध भगवान सिद्ध अवस्थामें शुद्ध आत्मामें तल्लीन होते हुए ज्ञानचेतनाका आराधन कर रहे हैं । जब साधक अवस्थामें थे तब भी यही आराधना थी ।

अरहंत परमेष्ठी भी निरंतर शुद्ध ज्ञानचेतनाका स्वाद लेते रहते हैं । पहले भी इसीका ही आराधन किया था । आचार्य, उपाध्याय तथा साधु शुद्धात्माकी आराधनाके कारण ही स्वयं मोक्षमार्गी हैं तथा भव्योंके द्वारा पूज्यनीय हैं ।

इसलिये ज्ञानमई शुद्ध आत्मीक तत्व ही यथार्थ निश्चल तत्व है । इस तत्वको जिस जिसने ध्याया वही यथार्थ ज्ञानका आराधक है । इसलिये सम्यग्दृष्टीको देव, शास्त्र, गुरुकी पूजा भक्ति करते हुए उसीमें ही संतोष मानके न रह जाना चाहिये परंतु एकांत स्थानमें बैठकर शुद्ध आत्मीक तत्वका शुद्ध नयके द्वारा अवलोकन करके उसीका मनन करना चाहिये । उसीके सिवाय सर्व पर वस्तुओंसे राग छोड देना चाहिये । कर्मफलचेतना व कर्मचेतनाका व्यवहार बंद करके ज्ञानचेतनामय रहनेका पुरुषार्थ करना योग्य है। इसीसे मोक्षकी सीढीपर चढना होगा, यही परम दृढ आलंबन है।

शास्त्र भक्ति ।

श्लोक—ज्ञानगुणं च चत्वारि, श्रुत पूजा सदा बुधैः ।
धर्मध्यानं च संयुक्तं, श्रुतपूजा विधीयते ॥ ३४६ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञान गुणं च चत्वारि) ज्ञान गुणके देनेवाले चार अनुयोग हैं (श्रुतपूजा सदा बुधैः) उन शास्त्रोंकी पूजा सदा बुद्धिमानोंको करनी चाहिये (धर्मध्यानं च संयुक्तं) धर्मध्यान सहित ही (श्रुतपूजा विधीयते) श्रुतपूजा करनी योग्य है।

विशेषार्थ—जिनवाणीके शास्त्र चार अनुयोगोंमें वटे हैं-प्रथमानुयोग आदि। इन शास्त्रोंको पढनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। अतएव किसी प्रकारकी लौकिक कांक्षा न रखके मात्र आत्मकल्याणके हेतु ही उन शास्त्रोंका पठन पाठन करना उचित है। तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करनी उचित है। ज्ञानाभ्यास यह बहुत ही आवश्यक गृहस्थ कर्म है। शास्त्रके ध्यान पूर्वक पढनेसे मनके कुभाव बंद होजाते हैं, चिंताएं मिट जाती हैं, अज्ञानका नाश होता है, ज्ञानका प्रकाश होता है, कर्मकी निर्जरा होती है। प्राचीन आचार्योंने जो तत्वोंका मनन किया है उसका बोध होनेसे ज्ञान स्पष्ट होता है। यथार्थ भक्ति शास्त्रकी यही है जो उसका अर्थ भलेप्रकार समझकर धारणामें लिया जावे-उसको कालांतरमें भूला न जावे। रात दिन तत्वका विचार मनको प्रसन्न रखनेके लिये बडा भारी साधन है। विषय कषायोंके मार्गसे बचानेवाला ज्ञानोपयोग है, आत्मा व अनात्माका भिन्न२ स्वरूप सामने रखनेवाला तत्वका अभ्यास है, एक ही विषयके अनेक शास्त्रोंको पढकर हमें ज्ञानको निर्मल करना चाहिये। जितना अधिक शास्त्रोंका विशेष ज्ञान होगा उतना ही उपयोग अधिक देर तक वस्तुके विचारमें लग सकेगा। व्यवहारमें श्रुतपुजा यह है कि हम उच्चासनपर शास्त्रोंको विराजमान करके उनकी स्तुति करके उनके भीतर अपनी गाढ भक्ति उत्पन्न करें। श्रुतभक्ति ज्ञानकी प्राप्तिमें दृढ निश्चय करानेवाली है। आत्महितके हेतु शास्त्र पढना व श्रुतपूजा करना धर्मध्यान है।

श्लोक—प्रथमानुयोग करणं, चरणं द्रव्याणि विंदंते।
ज्ञानं ति अर्थ संपूर्णं, साध्यं पूजा सदा बुधैः ॥ २४७ ॥

अन्वयार्थ—(प्रथमानुयोग करणं चरणं द्रव्याणि विंदंते) प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग ऐसे चार प्रकार शास्त्र जानने चाहिये। (ज्ञानं ति अर्थ सम्पूर्णं) तीन अर्थ रत्नत्रय सहित जो ज्ञान है उसीकी (पूजा सदा बुधैः साध्यं) पूजा सदा पंडितोंको करनी योग्य है।

विशेषार्थ—अनुयोगके चार भेद हैं जिनमें प्रथम अवस्थाके शिष्योंको धर्ममें रुचि बढानेके

हतुसे भिन्न २ महापुरुषोंके व महान महिलाओंके जीवनचारित्र दिखलाए हों, कर्मोंका बंध व फल बताया हो, संसारका नाटक क्षणभंगुर दिखलाया हो, मिथ्यात्वके सेवनसे क्या दुर्गति होती है, सम्यक्तके आराधनसे क्या २ सुख व कैसी सुगति होती है यह बताया हो, किन किनने आत्मध्यान करके मोक्ष पाई। मोक्ष प्राप्त आत्माएं किसतरह अनंतकाल तक सुखभोगती हैं ये सब दृष्टांत बताए हों। मोक्षकी सारता व संसारकी असारता कथाओंके द्वारा झलकाई हो, धर्ममें रुचि बढाने व अधर्मसे रुचि हटानेकी युक्तिसे कथाएं लिखी गई हों सो प्रथमानुयोग बहुत ही उपयोगी शास्त्र विभाग है। दूसरा करणानुयोग है जिसमें तीन लोककी रचना, कहां२ कौन२ जीव पैदा होते हैं उनकी क्या व्यवस्था है, जीवोंके परिणाम कितनी जातिके होते है, उनके कैसे२ कर्मोंका बंध होता है, कर्मोंकी आप उदय आदि व भावोंके भेद आदिका गुणस्थान व मार्गणाके रूपमें कथन हो, हरएक वस्तुका सूक्ष्म परिणमन जिससे मालूम हो, हरएकका हिसाब समझमें आवे। जैसी कुछ पर्यायें होती हैं व नाश होती है उनकी सर्व चर्चाएँ मालूम पडे सो करणानुयोग है। जिनसे मुनियोंके श्रावकोंके बाहरी चारित्र पालनेके नियम मालूम हों, क्या२ व्रत उपवास किसतरह करना चाहिये, क्या क्या अतीचार बचाना चाहिये, श्रावकके आचरणकी ११ श्रेणियोंमें क्या २ चारित्र पालना चाहिये, साधुओंका चारित्र क्या है, उनको कैसे भिक्षा करना, विहार करना, भाषण करना, किसतरह समय विताना यह सब कथन किया हो वह चरणानुयोग है। जिन शास्त्रोंमें जीवादि छः द्रव्योंका व सात तत्वोंका स्वरूप दिखलाते हुए आत्मा द्रव्यकी विशेष महिमा बताई हो, शुद्ध निश्चय नयकी मुख्यतासे शुद्ध आत्माका विशेष कथन किया हो, आत्मानुभवकी रीति बताई हो, आत्मोन्नतिके मार्ग झलकाए हों, अतीन्द्रिय आनन्द पानेका उपाय समझाया हो, व्यवहार नय व निश्चय नयसे पदार्थको बताकर निश्चय नयके विषय पर आरूढ कराया हो, वीतरागताका विशेष चित्रण जिसमें हो, द्रव्योंकी सूक्ष्मताका विवेचन हो सो सब द्रव्यानुयोग शास्त्र है। इन चारों प्रकारके शास्त्रकी पूजा करते हुए ज्ञान लाभ करना चाहिये।

श्लोक—प्रथमानुयोग विंदंते, व्यंजन पद शब्दयं।
तदर्थ पदशुद्धं च, ज्ञानं आत्मालं गुणं ॥ ३४८ ॥

अन्वयार्थ—(प्रथमानुयोग विंदंते) प्रथमानुयोग शास्त्रका अनुभव करना चाहिये (व्यंजन पद शब्दयं तदर्थं पद शुद्धं च) उनके अक्षर, शब्द, वाक्य तथा उसके अर्थ व उसके भावार्थ व उससे प्रगट पदार्थको शुद्ध जानना चाहिये (ज्ञानं आत्मालं गुणं) यथार्थ ज्ञान ही आत्माका गुण है।

विशेषार्थ—प्रथमानुयोगमें महान पुरुषोंके जीवनचारित्र होते हैं। उनमें कविता व अलंकार छंद व मनोहरता भी होती है जिससे प्रथम अवस्थाके रागी शिष्योंका मन कथाओंके पढनेमें रंजायमान होसके। अनेक दृष्टांत दे करके नगरकी, शरीरकी व अन्य पदार्थोंकी शोभा कही जाती है, युद्धादिका भी वर्णन आता है। धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थोंको गृहस्थोंने कैसा साधा उसका कथन आता है। कहीं शृंगार, कहीं वीर, कहीं भय, कहीं शोक, कहीं रुदन, कहीं रौद्रध्यान आदि अनेक भावोंका कथन आता है। कहीं वैराग्य व संसारकी असारताका वर्णन आता है। पढनेवालेको उचित है कि अक्षरोंको ठीक २ पहचाने, उनके मिले हुए शब्दोंको अलग २ जाने, उन शब्दोंके मिले हुए वाक्योंको अलग २ समझें, वाक्योंके अर्थ ठीक २ लगावें, फिर उनका भावार्थ ठीक २ समझें, फिर उनसे किस पदार्थका वर्णन झलकता है सो जाने, नौ पदार्थोंमेंसे किसका वर्णन है सो पहचाने, जीवका है कि अजीवका है, आश्रवका है कि बंधका है, संवरका है कि निर्जराका है, मोक्षका है कि पुण्य तथा पापका है। जहां आश्रव बंध पुण्य पाप अजीवका कथन आवे उसको त्यागने योग्य जाने, जहां संवर, निर्जरा व मोक्ष तथा जीवका कथन आवे उसको व्यवहार नयसे ग्रहण योग्य माने। प्रथमानुयोगके कथा-ग्रंथोंको पढते हुए कथाओंके राग द्वेषमई वर्णनमें रंजायमान न होवे, किन्तु उनको जानकर पाप पुण्य कर्मका फल विचारे। किन २ भावोंसे कैसा २ कर्मोंका आश्रव व बंध किस २ जीवने किया व कौन २ धर्म पाला जिससे पापोंको रोका व कैसा २ तप किया जिससे कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्ष पाई, इसतरह पढनेवालेकी दृष्टि धर्मध्यानकी तरफ व तत्वके विचारकी तरफ रहनी चाहिये, तब ही आत्मामें यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति होगी। यह प्रथमानुयोग भी जीवनका चारित्र उत्तम बनानेके लिये बहुत उपयोगी है।

श्लोक—व्यंजनं च पदार्थं च, शाश्वतं नाम सार्थयं।
ॐ वंकारं च विंदंते, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं॥ ३४९॥

अन्वयार्थ—(व्यंजनं च पदार्थं च शाश्वतं नाम सार्थयं) अक्षर, शब्द व पदार्थ, नाम व उनके अर्थ सब सदासे चले आरहे हैं (ॐ वंकारं च विंदते) ॐ के भावको अनुभव करना चाहिये (ध्रुवं ज्ञानमयं सार्थं) निश्चल ज्ञानमई आत्माको साथ २ जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यद्यपि देशकालानुसार भाषाओंका परिवर्तन होजाता है तथापि अनादिकालीन जगतमें मानवोंकी वाणी प्रचलित है व शास्त्रका ज्ञान प्रचलित है, सदा ही तीर्थंकर होते रहे हैं, उनका उपदेश होता रहा है, उसको गणधरोंने सुना है। द्वादशांगवाणीकी रचना की है। पदार्थोंके नाम रक्खे हैं, नामसे अर्थ निकलता है, अर्थसे नौ पदार्थोंके भाव झलकते हैं। ये सब श्रुतज्ञान व शास्त्रज्ञान प्रवाहकी अपेक्षा शाश्वत है, चला आया है, चला जायगा। प्रवाहकी अपेक्षा अनादि व अनन्त है। एक विशेष व्यक्तिकी अपेक्षा सादि व सांत होसक्ता है। ऐसे प्रथमानुयोग शास्त्रके भीतर भी ज्ञानीको ॐ का अनुभव करना चाहिये तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुका स्वरूप जानना चाहिये। पढनेवालेकी दृष्टि उनके स्वरूपकी खोजपर रहनी चाहिये, जहां कहीं बारह भावनाका, व्रतोंके स्वरूपका, साधुके चारित्रका, उनके अरहंत होनेका, उनके द्वारा वाणीके प्रकाशका व सिद्ध होनेका कथन आवे उसको विशेष ध्यानमें लेना चाहिये। चौवीस तीर्थंकरोंके जीवनचरित्रोंमें यह सब कथन आता ही है। फिर इनके भीतर शुद्ध निश्चय नयसे ज्ञानमई शुद्ध निश्चल आत्माको भी पहचाने। जितने प्राणी सिद्ध हुए हैं वे स्वभावसे वैसे ही थे, कर्मोंके पटलमें ढके हुए थे। पटल हट गया प्रकट होगए। इसतरह हरएक जीवका स्वभाव निश्चयसे शुद्ध बुद्ध अविनाशी परमानंदमय है, ऐसा समझकर वस्तुका आनन्द लूटे। इस दृष्टिसे प्रथमानुयोगके ग्रंथोंको पढनेसे यथार्थ शास्त्रकी भक्तिका फल प्राप्त होसकेगा।

श्लोक—करणानुयोग संपूर्णं, स्वात्मचिंता सदा बुधैः।
स्व स्वरूपं च आराध्यं, करणानुयोग शाश्वतं ॥ ३५० ॥

अन्वयार्थ—(करणानुयोग सम्पूर्णं) करणानुयोग पूर्ण पढना चाहिये (स्वात्मचिंता सदा बुधैः) उसके द्वारा पंडितोंको अपने आत्माकी चिंता करनी चाहिये (च स्वस्वरूपं आराध्यं) फिर अपने स्वरूपका ध्यान करना चाहिये (करणानुयोग शाश्वतं) यह करणानुयोग सदासे वस्तुका स्वरूप बतानेवाला है।

विशेषार्थ—करणानुयोग सूक्ष्म पदार्थोंका व उनकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म अवस्थाका बतानेवाला है। रत्नकरंड श्रावकाचारमें इसका स्वरूप है।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च। आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥ ४४ ॥

भावार्थ—यह करणानुयोग लोक और अलोकके विभागको, युगके परिवर्तनको, चार गतिके जीवोंके स्वरूपको दपणके समान यथार्थ बतलानेवाला है। करण तीसरी विभक्तिको भी कहते हैं जो किसी वस्तुका साधन हो उसे करण कहते हैं। अंक गणित, रेखा गणित, बीज गणित, क्षेत्र समास आदिका ज्ञान भलेप्रकार करके तीन लोकका आकार, माप, नारकी, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, मनुष्य, तिर्यंच, कल्पवासी देव व कल्पातीत अहमिंद्र व सिद्धलोक इन सबका कहां २ क्षेत्र है, वह क्षेत्र कितना बडा है, किस तरह स्थित है यह सब जानना चाहिये। अवसर्पिणी उत्सर्पिणी कालका परिवर्तन कहां होता है कैसे होता है व कहां नहीं होता है यह जानना चाहिये। चार गतिके जीवोंके भाव किस तरहके होते हैं उनकी क्या २ अवस्थाएं होती हैं, उनके परिणाम कैसे चढते हैं, कौन २ गुणस्थान किस गतिमें होते हैं, किस गतिमें किसके कितने कर्मोंका बंध, उदय व कितने कर्मोंकी सत्ता रहती है, परिणामोंका चढन किस तरह होता है, सूक्ष्मसे सूक्ष्म हिसाब हरएक प्राणीकी अवस्थाका बतानेवाला यह करणानुयोग है। जिन परिणामोंसे सम्यक्त होता है उन अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण भावोंको झलकाता है। सम्यक्तीको बंधक क्यों कहते हैं व अबंधक क्यों कहते हैं यह भेद करणानुयोगके हिसाबसे मालूम पडता है कि वह मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियोंका बंध नहीं करता है परंतु चारित्र मोहके उदयजनित मलीनताकी अपेक्षा बंध करता है। करणानुयोग बताता है कि किसतरह कषायोंका धीरे २ घटाव गुणस्थान गुणस्थानपर होता है व किसतरह कषायके यकायक उदय आजानेसे यह जीव छठे गुणस्थानसे मिथ्यात्वमें व पांचवें व चौथेसे मिथ्यात्वमें चला आता है। जो यह बाहरी क्रियापर लक्ष्य न देता हुआ भावोंकी तौल करना बताता है। एक मुनि यदि संसारासक्त है, आत्मानुभवकी कलासे खाली है तो यह करणानुयोग उसको मिथ्यादृष्टी कहता है। तथा एक चंडाल यदि सम्यक्तसे विभूषित है तो यह उसको सम्यग्दृष्टी, ज्ञानी व मोक्षमार्गी कहता है। श्री त्रिलोकसार, गोमट्टसार,

लब्धिसार, क्षपणासार आदि ग्रंथोंसे तीन लोकका व चार गतिके जीवोंका स्वरूप भलेप्रकार झलकता है। इसतरह जानकर अपने आत्माकी इस अनादि संसारमें कैसी कैसी दुर्व्यवस्था हुई है उसको विचारना चाहिये। यह किसतरह चतुर्गतिमें भ्रमण करके व किन२ भावोंसे क्या२ कर्म बांधकर दुःख उठा चुका है, इसतरह विचारकर संसारसे वैराग्य व मुक्तिपदसे रुचि करके उसके उपाय रूप अपने निज शुद्ध स्वरूपको ध्याना चाहिये, यही इस अनादिकालीन करणानुयोग शास्त्रको पढ़नेका प्रयोजन है।

श्लोक—शुद्धात्मा चेतनं येन, ॐ वं ह्रियं श्रियं पदं।
पंचदीप्तिमयं शुद्धं, सुयं शुद्धात्मा गुणं ॥ २५१ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस कारण, योगकी सहायतासे (शुद्धात्मा चेतनं) शुद्ध आत्माका अनुभव होवे तथा (ॐ वं ह्रियं श्रियं पदं पंच दीप्तिमयं शुद्धं) ॐ, ह्रीं, श्रीं पदको व पांच परमेष्ठीके शुद्ध स्वरूपको तथा (शुद्धात्मा गुणं) शुद्धात्माके गुणोंको जाना जावे यही (सुयं) करणानुयोग श्रुत है।

विशेषार्थ—यहां इस बातको स्पष्ट किया है कि जो कोई मात्र तीन लोकका स्वरूप जानले व गुणस्थान मार्गणाका स्वरूप जानले व कर्मोंके बंध, उदय सत्ताका स्वरूप जानले व चार गतिके जीवोंका स्वरूप जानले व कालचक्रके स्वरूपको जानले और विशेष पंडित होके ज्ञानका मद करे, मात्र पंडिताई प्रकाश करे, मान कषायको बढावे, अपना सच्चा हित न करे उनको शिक्षा दी है कि करणानुयोगके जाननेका फल यह है कि हम ॐ, ह्रीं, श्रीं पदोंसे प्रकाशित अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके स्वरूपको गुणस्थानकी अपेक्षा व कर्मोंके उदय, बंध, क्षयकी अपेक्षा तारतम्य सूक्ष्मतासे जानें और इनके सच्चे स्वरूपको यथार्थ पहचानें, न कम जाने न अधिक जाने। तथा यह भी जाने कि शुद्धात्माके गुण क्या क्या है तथा उनको आवरण कर्म किस किस तरह करते हैं। तथा कर्मोंके क्षयका उपाय एक शुद्धात्मानुभव है ऐसा समझकर निरंतर शुद्धात्माका अनुभव व चेतना व ध्यान करना योग्य है। यदि करणानुयोगको जानकर अपने परिणामोंको शांत, वीतराग व स्वस्वरूपमें रमणरूप न बनाया तो करणानुयोगके पढनेका कोई सच्चा फल न हुआ। यदि शुद्ध वीतराग परिणतिका उद्देश्य रखते हुए करणानुयोगका ज्ञान है तो वह सच्चा श्रुतज्ञान है। व अवश्य मोक्षका कारण है।

श्लोक—शल्यं मिथ्यामयं त्यक्तं, कुज्ञान त्रिविध त्यक्तयं ।
ऊर्धं च ऊर्ध सद्भावं, ॐ वं कारं च विंदते ॥ ३५२ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यामयं शल्यं त्यक्तं) मिथ्यारूप तीन शल्यको त्यागना चाहिये (कुज्ञान त्रिविध त्यक्तयं) तीन प्रकार कुज्ञानको त्यागना चाहिये (ऊर्धं च ऊर्ध सद्भावं च ॐ वंकारं विंदते) तथा ऊर्ध अर्थात् सिद्ध भगवानको और उनके स्वभावको तथा ॐ को भलेप्रकार जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—करणानुयोगसे सूक्ष्मज्ञान करके उनका उपयोग मिथ्यात्वकी पुष्टिमें, मायाचारके प्रयोगमें व किसी विषयभोगकी प्राप्तिकी कामनारूप निदानमें नहीं करना चाहिये । तीन शल्यको छोडकर धर्मध्यानके हेतु उसका उपयोग करना चाहिये, तथा ज्ञानके तीन दोष बचाने चाहिये । संशय, विपरीत व अनध्यवसाय (बेपरवाही) इन तीन दोषोंसे रहित ज्ञानको यथार्थ स्पष्ट प्राप्त करना चाहिये । अथवा कुमति, कुश्रुत, कुअवधि तीन कुज्ञानोंसे बचना चाहिये अर्थात् मिथ्यात्वके परिणामको दिलसे निकाल डालना चाहिये । सर्वसे उत्कृष्ट जो ऊर्धलोकमें विराजमान ऐसे सिद्ध-भगवानको भलेप्रकार समझना चाहिये । तथा उनके शुद्ध गुणोंका वार वार मनन करना चाहिये । ॐ के भीतर गर्भित पांच परमेष्ठीका स्वरूप विचार करके निश्चय नयसे उनमें शुद्धात्माको देखना चाहिये ।

श्लोक—द्रव्यदृष्टी च सम्पूर्णं, शुद्धं सम्यग्दर्शनं ।
ज्ञानमयं सार्थं शुद्धं, करणानुयोग चिंतनं ॥ ३५३ ॥

अन्वयार्थ—(द्रव्यदृष्टी च सम्पूर्णं) द्रव्यदृष्टि या द्रव्यार्थिक नय पूर्ण द्रव्यको देखनेवाली है इसीके द्वारा (शुद्धं सम्यग्दर्शनं) शुद्ध सम्यग्दर्शनका लाभ होता है (ज्ञानमयं सार्थं शुद्धं) ज्ञानमई यथार्थ शुद्ध आत्माका अनुभव होता है । यही (करणानुयोग चिंतनं) करणानुयोगकी चिंताका फल है ।

विशेषार्थ—करणानुयोगमें यद्यपि मुख्यतासे पर्यायार्थिक नयसे अनेक भेद प्रभेदका कथन है उसको भलेप्रकार जानकरके ही संतोष न कर लेना चाहिये, मात्र भेदरूप अशुद्ध ज्ञान अकेला सम्यग्यदर्शनकी प्राप्ति नहीं करा सक्ता है इसलिये शुद्ध द्रव्यार्थिक नय या निश्चय नयसे भी द्रव्योंका

स्वरूप देखना चाहिये। शुद्ध नय आत्माको शुद्ध एकाकार अभेद अपने शुद्ध गुणोंसे पूर्ण, सिद्ध सम परमात्मा रूप झलकाती है। इस दृष्टिसे जब बार बार विचार किया जाता है और कर्मजनित भावोंको व आठ कर्मकी रचनाको व शरीरादिको भिन्न अनुभव किया जाता है-इसी भेदज्ञानके अभ्याससे ही धीरे धीरे अनतानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्व कर्मका उपशम होजाता है और शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त होजाता है। जिस समय यह निश्चय सम्यक्त पैदा होता है उस समय ही मोक्षमार्गका प्रारंभ है व तब ही स्वरूपाचरणचारित्र होता है, स्वात्मानुभव होता है, परमानन्दका लाभ होता है। शुद्ध ज्ञानमई यथार्थ आत्मीक तत्व अपनी दृष्टिके सामने द्रव्यदृष्टिसे ही रहता है इसलिये व्यवहार या पर्याय दृष्टिसे पर्यायोंको ठीक ठीक समझनेका काम लेना चाहिये तथा स्वात्मानुभवके लिये शुद्ध द्रव्यदृष्टिका आलम्बन लेकर पुरुषार्थ करना चाहिये। जहां स्वानुभव होता है वहां तो नय सम्बन्धी विकल्प रहता ही नहीं है। करणानुयोगके चिंतवनका यही फल है जो शुद्ध सम्यग्दर्शनका लाभ हो।

श्लोक—चरणानुयोग चारित्रं, चिद्रूपं रूप दिष्टते।
ऊर्द्ध अधो च मध्यं च, संपूर्ण ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ ३५४ ॥

अन्वयार्थ—(चरणानुयोग चारित्रं) चरणानुयोग चारित्रका वर्णन करता है उसके द्वारा (चिद्रूपं रूप दिष्टते) चैतन्य स्वभाव आत्माका अनुभव होता है जिससे (ऊर्द्ध अधो च मध्यं च) ऊपर नीचे व मध्यमें (सम्पूर्ण ज्ञानमयं ध्रुवं) सर्व तरफ ज्ञानमय निश्चल आत्माका दर्शन होता है।

विशेषार्थ—चरणानुयोगमें मुनि व गृहस्थके व्यवहार चारित्रका वर्णन है। यह व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्रका निमित्त कारण है। मन वचन कायकी चंचलता ध्यानमें बाधक है। जितना अधिक हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म व परिग्रहके प्रपंचमें अनुरक्त रहा जायगा उतना ही अधिक मन वचन कायका विशेष व अविवेकरूप प्रवर्तन होगा। इन पांचों पापोंका त्याग मनके संकल्पोंको मिटानेवाला है। मनके अनेक विचार हटे कि वचन व कायकी प्रवृत्ति थम जाती है। मनको निश्चलतामें लानेके लिये चिंताओंका अभाव करना चाहिये। ये चिंताएं गृह, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिके निमित्तसे ही अधिक होती हैं इसलिये इनके पूर्ण निवारणके लिये सर्व परिग्रहका त्याग आवश्यक है, साधुका

चारित्र धारना जरूरी है, साधु हो एकान्तमें तिष्ठकर जब आत्माका मनन किया जायगा तब निश्चय चारित्र जो आत्माका अनुभव है सो प्राप्त होगा। विना व्यवहार चारित्रकी सहायताके परिणामोंमें निराकुलताका लाभ होना कठिन है, इसलिये चरणानुयोगमें कहे अनुसार सम्यग्दृष्टी जीवको श्रावकका चारित्र ग्यारह प्रतिमारूप व मुनिका चारित्र अट्ठाईस मूलगुण रूप पालते हुए मनको निर्विकल्प करते हुए निश्चय चारित्रको पाना चाहिये। यदि आत्मानुभव रूप निश्चय चारित्र न मिला तो व्यवहार चारित्र मोक्षका साधक न हुआ। यहां श्लोकमें निश्चय चारित्रकी प्रधानता करके कहा है कि वहां शुद्धात्माका स्वभाव ऐसी एकाग्रतासे अनुभव किया जाता है कि तीनों लोकमें सर्वत्र उस ध्याताको वही चिदानंद एक रूप ही दिखता है उसके भीतरसे अन्य विचार निकल जाते हैं। अथवा वह ध्याता भावना करता हुआ तीन लोकमें भरे सूक्ष्म तथा स्थूल जीवोंको शुद्ध निश्चय नयसे देखता हुआ, सर्वको परमात्मा देखता हुआ परम समतामई एक रसमें मगन होजाता है वही आत्मीक चारित्र है।

श्लोक—षट् कमलं त्रि ॐ वं च, सार्द्ध शुद्धधर्म संयुतं।
चिद्रूपं रूप दिष्टंते, चरणं पंच दीप्तयं ॥ ३५५ ॥

अन्वयार्थ—(षट् कमलं त्रि ॐ वं च) छः अक्षरी मंत्र वाले व तीन ॐ सहित कमलके (सार्द्ध) साथ या सहारेसे (शुद्ध धर्म संयुतं) शुद्ध धर्मध्यान सहित अभ्यास करनेसे (चिद्रूपं रूप दिष्टंते) चिदाकार स्वभाव अनुभवमें आता है (चरणं पंच दीप्तयं) सम्यक्चारित्र ही पंच परमेष्ठीका प्रकाशक है।

विशेषार्थ—षट्कमलं आदि वाक्य पहले भी आचुके हैं इनका जो अर्थ पहले किया है वही यहां कहा जाता है। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः इन अक्षरोंको एक आठ पत्तेके कमलपर जो कमल हृदय-स्थानपर हो, इस तरह विराजमान करें कि ॐ को मध्य कमलकी कर्णिकामें और पांच पत्तोंपर शेष ५ अथवा शेष तीन पत्तोंपर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः, ॐ सम्यक्चारित्राय नमः, इस तरहका कमल विचार करके कर्णिकाके व एक एक पत्ते परके एक एक अक्षर पदपर चित्त रोके, फिर गुणोंका विचार करता जावे। इन सबमें व्यवहार नयसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु गर्भित हैं। फिर निश्चयसे उनहीके भीतर शुद्धात्माको देखें। इस तरह वारवार

अभ्यास करनेसे शुद्धात्माका अनुभव होता है। यही स्वरूपाचरण निश्चय चारित्र है। इसीके साधक साधु, उपाध्याय तथा आचार्य होते हैं।

अरहंत भगवानके प्रत्यक्ष आत्माका साध्यरूप स्वरूपाचरण चारित्र विद्यमान है। सिद्ध भगवानके भी साक्षात् यही चारित्र है। पांचों ही परमेष्ठियोंके भीतर स्वरूपाचरणमई निश्चय चारित्रकी ही महिमा है। इसके विना कोई भी परमेष्ठी नहीं होसक्ता है। चरणानुयोगका अभ्यास निश्चय चारित्रका बहुत सहायी है।

श्लोक—द्रव्यानुयोग उत्पाद्यं, द्रव्यदृष्टी च संयुतं।
अनंतानंत दिष्टंते, स्वात्मानं व्यक्तरूपयं॥ ३५६॥

अन्वयार्थ—(द्रव्यानुयोग उत्पाद्यं) द्रव्यानुयोगका अभ्यास करना चाहिये (द्रव्यदृष्टी च संयुतं) साथमें द्रव्यार्थिक नयसे शुद्ध आत्माकी दृष्टी भी प्राप्त करनी चाहिये जिससे (स्वात्मानं अनंतानंत व्यक्तरूपयं दिष्टंते) अपने शुद्ध आत्माके समान जगतकी अनंतानंत आत्माएं प्रगट रूपसे दिखलाई पडें।

विशेषार्थ—चौथा अनुयोग द्रव्यानुयोग है जिसमें छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थोंका स्वरूप निश्चय तथा व्यवहार नयसे दिखलाया गया है। इन शास्त्रोंका रहस्य भलेप्रकार जानकर बंध और मोक्षका व संवर तथा निर्जराका स्वरूप समझकर छः द्रव्योंका परस्पर कार्य व सम्बन्ध जाकर सर्व लोककी व्यवस्थाको समझ ले फिर द्रव्यदृष्टिको प्रधान करके सामने लावे और उन्हीं द्रव्योंको जिनसे यह जगत भरा है अलग अलग शुद्ध अपने२ स्वरूपमें देखे। तब सब पुद्गल परमाणु अलग अलग, सर्व जीव शुद्ध अलग अलग, सर्व असंख्यात कालाणु अलग२, धर्मास्तिकाय अलग, अधर्मास्तिकाय अलग, आकाश अलग दिखलाई पड़ेगा। जैसा आप अपनेको द्रव्य दृष्टिके द्वारा शुद्ध आत्मा जानेगा वैसा ही सर्व जगतमें भरे हुए अनंतानंत जीवोंको शुद्धात्मा जानेगा। ऐसा जानना ही द्रव्यानुयोगके जाननेका फल है। फिर वह अभ्यास करनेवाला सर्व विकल्पोंको छोडकर मात्र एक अपने शुद्धात्मामें लयता प्राप्त करेगा, स्वसमयरूप होजायगा, स्व चारित्रमें मगन होजायगा यही द्रव्यानुयोगके शास्त्रोंको पढनेका फल है।

श्लोक—दिव्यं द्रव्यदृष्टी च, सर्वज्ञं शाश्वतं पदं ।
नंतानंत चतुष्टं च, केवलं पद्मं ध्रुवं ॥ ३५७ ॥

अन्वयार्थ—(द्रव्यदृष्टी च दिव्यं) द्रव्यदृष्टि अपूर्व है, शोभनीक है (सर्वज्ञं शाश्वतं पदं) जो अपने आत्माको सर्वज्ञ व अविनाशी पदमें दिखाती है (नंतानंत चतुष्टं च) जो अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख व अनंत वीर्यमय (केवलं) केवल असहाय पर संग रहित (ध्रुवं) निश्चल अविनाशी (पद्मं) प्रफुल्लित कमलके समान विकसित व निर्लेप झलकाती है ।

विशेषार्थ—यहां शुद्ध निश्चयनय या द्रव्यार्थिक नयकी महिमा बताई है । जैसे भेदविज्ञानी विवेकीको तिलोंमें तेल व भूसी अलग२, धान्यमें चावल व भूसी अलग२, स्फटिकके माणिकमें स्फटिक पाषाण व लाल डांक अलग २, चांदी सोनेके गहनेमें चांदी सोना अलग२, माणकसे जडी सोनेके अँगूठीमें माणक व सोना अलग२, खीरमें दूध, मीठा, चावल अलग२, रंगीन वस्त्रमें वस्त्र और रंग अलग २ दिखता है वैसे भेदविज्ञानीको शुद्ध नय या द्रव्य दृष्टिके द्वारा देखते हुए अपना व परका हरएक आत्मा सर्व ही आत्माएँ एक रूप, शुद्ध, परमात्मा सर्वज्ञके तुल्य सदा अविनाशी, अनंतचतुष्टयादि गुणोंसे अखण्ड भरपूर, सर्व पर द्रव्यके संग रहित, एकाकी केवल स्वरूप, अपने स्वरूपमें निश्चल, सर्व कर्मबंधकी व शरीरकी व रागादि मैलकी रचनासे जैसे जलसे कमल अलिप्त है वैसे अलिप्त दिखते हैं । इस दृष्टिके द्वारा देखनेका अभ्यास समताभावको जागृत कर देता है, रागद्वेषका विलय कर देता है, वीतरागताकी व आत्मानुभवकी गुफामें पहुँचा जाता है, यह द्रव्यानुयोग द्रव्यदृष्टिको जो संसारके तमसे आच्छादित थी खोल देता है । यह मोक्षमार्गमें परम सहाई है ।

श्लोक—चतुरगुणं च जानंते, पूजा वेदंते बुधैः ।
संसारभ्रमणं मुक्तस्य, सुयं मुक्तिगामिनोः ॥ ३५८ ॥

अन्वयार्थ—(बुधैः) बुद्धिमान पंडितोंको (चतुरगुणं च जानंते) इन चार अनुयोगोंको जानना चाहिये (पूजा वेदंते) व उनकी पूजा करनी चाहिये (सुयं) यह श्रुतज्ञान (मुक्तिगामिनोः) मोक्षमें जानेवाले प्राणीको (संसारे भ्रमणं मुक्तस्य) संसारके भ्रमणसे छुडानेवाला है ।

विशेषार्थ—जो गृहस्थ अपना परम कल्याण करना चाहें व मानव जीवनको सफल करना चाहें उनका कर्तव्य है कि वे चारों अनुयोगोंके ग्रन्थोंको भलेप्रकार स्वाध्याय करें, प्रचलित वर्तमान दि० जैन ग्रंथोंमें ऋषिप्रणीत माननीय नीचे लिखे ग्रन्थ अवश्य पढ जाने चाहिये:—

प्रथमानुयोग—पद्मपुराण, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, पार्श्वपुराण, महावीरचरित्र, जम्बूस्वामीचरित्र, जीवंधरचरित्र, धन्यकुमारचरित्र, भविष्यदत्त चरित्र, सुदर्शन सेठ चरित्र, सुकुमाल चरित्र।

करणानुयोग—त्रिलोकसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, जयधवल, धवल, महाधवल, त्रिलोकप्रज्ञप्ति।

चरणानुयोग—मूलाचार, आचारसार, भगवती आराधना, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा।

द्रव्यानुयोग—द्रव्यसंग्रह, तत्वार्थसूत्र, वृहत् द्रव्यसंग्रह, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, परमात्मप्रकाश, ज्ञानार्णव, समाधिशतक, इष्टोपदेश, आप्तमीमांसा, प्रमेय रत्नमाला।

चारों अनुयोगोंके कुछ सुगम शास्त्रोंको पढकर जिनवाणीका रहस्य जानना चाहिये फिर स्वाध्यायको बराबर बढाते रहना चाहिये। इस चार अनुयोगरूप शास्त्रकी भाव पूजा व द्रव्य पूजा भलेप्रकार करनी चाहिये। मुख्य भक्ति उनका ज्ञान प्राप्त करना है। जो संसारभ्रमणसे उदास हैं और मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये आगमकी सेवा बहुत ही जरूरी है। शास्त्रज्ञानके ही प्रतापसे भेदविज्ञान होगा। भेदज्ञानसे स्वानुभव होगा-स्वानुभवसे ही केवलज्ञान होगा और यह संसारसे पार होजायगा। श्रुतभक्ति संसार उद्धारक है।

श्लोक—श्रियं सम्यग्दर्शन च, सम्यग्दर्शनमुच्यमं।
सम्यक्तं सम्पूर्णशुद्धं च, ति अर्थ पंच दीप्तयं ॥ ३५९ ॥

अन्वयार्थ—(श्रियं सम्यग्दर्शन च) श्री अर्थात् केवलज्ञानादि लक्ष्मी उसमें विश्वास अर्थात् देव, उनकी वाणी व उसके अनुसार चलनेवाले गुरु इन तीनमें भलेप्रकार श्रद्धान करके भक्ति करना

(सम्यग्दर्शनमुद्यमं) वह सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उद्योग है (सम्यक्तं संपूर्णशुद्धं च) जो निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध है (ति अर्थ पंचदीप्तयं) वह तीनों अर्थ अर्थात् रत्नत्रय स्वरूप है और पांच परमेष्ठीपदका प्रकाशक है।

विशेषार्थ—देव शास्त्र गुरु जो परमार्थरूप हैं, जिनका स्वरूप कथन इस ग्रन्थमें बहुतसे स्थलोंपर किया है उनका दृढ श्रद्धान रखके उनकी भक्ति करना यही निश्चय सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उद्योग करना है। देव शास्त्र गुरुकी भक्ति करनेसे परिणामोंमें जितनी २ उज्वलता होगी उतनी २ सम्यग्दर्शनके निरोधक अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्मकी कमी होगी, उनका बल घटता जायगा। इस तरह मनन करते करते एक दिन पांचों प्रकृतियोंका उपशम होकर निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन पैदा होजायगा। हमें अपना उद्यम चार तरहका रखना चाहिये। (१) श्री जिनेन्द्रदेवकी स्तुति, भक्ति व गुणानुवाद गाना, उनके स्वरूपको देखना, विचारना, उनकी पूजा करनी। (२) जिनवाणीका नित्य प्रति स्वाध्याय करके सात तत्वोंको समझना। (३) अध्यात्म ज्ञाता परम ध्यानके अभ्यासी गुरुओंकी भक्ति करके सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करना। (४) प्रातःकाल और संध्याकाल कुछ देर एकांतमें बैठकर सामायिक करना, बारह भावनाका विचार करना, आत्मा व अनात्माका भिन्न२ स्वरूप भाना। इन चार उपायोंके करनेसे कभी न कभी सम्यक्त होजाना संभव है। जबतक सम्यक्त न होगा तबतक भी परिश्रम वृथा नहीं जायगा। जितना पुण्य बांधोगे वह संसारमें साताको पैदा करेगा, असातासे बचाएगा।

निश्चय सम्यग्दर्शन जब उदय होगा तब वहां सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र भी प्रगट होजाता है। ऐसा ही सम्यक्त रत्नत्रयमई स्वात्मानुभवमें जब लिया जाता है तब यही कषायको मंद करता हुआ श्रावकसे साधु, साधुसे आचार्य व उपाध्याय, आचार्य उपाध्यायसे फिर साधु–साधुसे अरहंत, अरहंतसे सिद्ध बना देता है। अतएव पांच उत्तम पदोंके प्रकाशका परम्पराय कारण श्रीकी भक्ति है, देव शास्त्र गुरुकी आराधना है।

श्लोक—श्रियं सम्यग्दर्शनं, श्रियं कारेण उत्पद्यते।
सर्वं ज्ञानमयं शुद्धं, श्रियं सम्यग्दर्शनं ॥ ३६० ॥

अन्वयार्थ—(श्रियं सम्यग्दर्शनं) परम ऐश्वर्यशाली महत्वपूर्ण निश्चय सम्यग्दर्शन (श्रियं कारेण उत्पद्यते)

श्री अर्थात् देव शास्त्र गुरुकी भक्तिके द्वारा उत्पन्न होता है (सर्वं ज्ञानमयं शुद्धं श्रियं सम्यग्दर्शनं) यह निश्चय सम्यग्दर्शन सर्व प्रकारसे ज्ञानमई शुद्ध आत्माका अनुभव करनेवाला है।

विशेषार्थ—जैसा पहले कहा गया है देव, शास्त्र, गुरुकी सेवा जो उनके गुणोंको पहचान करके करते हैं, सेवा करते हुए कोई विषय कषायकी पुष्टिकी चाहना नहीं रखते हैं। मात्र उनके पवित्र गुणोंमें इसी तरह रंजायमान होते हैं जैसे भ्रमर कमलमें आसक्त होता है। उनके द्वारा जो शुद्ध आत्माका लक्ष्य रखते हैं उनके लिये यह देव शास्त्र गुरुकी भक्ति आत्माका अनात्मासे भेद-विज्ञान करानेके लिये निमित्त कारण है। जैसा श्री मोक्षशास्त्रके मङ्गलाचरणमें है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

भावार्थ—मैं संसारसे छूटनेका मार्ग बतानेवाले, कर्मरूपी पर्वतोंको तोडनेवाले व सर्व तत्वोंके जाननेवाले इन तीन गुण विशिष्ट देवको उन ही गुणोंकी प्राप्तिके हेतुसे वंदना करता हूँ। निश्चय सम्यग्दर्शन आत्माका स्वभाव है। जिसके भीतर यह प्रकाशमान होजाता है उसके शुद्धात्माका अनुभव अवश्य होता है। तथा वह लोकके पदार्थोंमें यथार्थ ज्ञानी होजाता है, आत्माको आत्मा अनात्माको अनात्मा देखता है।

श्लोक—ज्ञानं च सम्यक्तं शुद्धं, संपूर्णं त्रिलोकमुद्यमं।
सर्वं ज्ञानमयं शुद्धं, पद वन्द्यं केवलं ध्रुवं ॥ ३६१ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्तं ज्ञानं च शुद्धं) सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान है वही शुद्ध है उसीके द्वारा ही (संपूर्णं त्रिलोकं उद्यमं) सर्व तीन लोकको देखनेवाले ज्ञानके लाभका उद्यम होता है वह ज्ञान (सर्वं) सर्व सम्पूर्ण है (ज्ञानमयं शुद्धं) ज्ञानमय है, सर्व आवरण रहित शुद्ध है (केवलं ध्रुवं वंद्यं पद) केवल असहाय है, नित्य है, वंदनीक पद उसीसे होता है।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान विना सम्यग्दर्शनके हुए सम्यक् नाम नहीं पाता है। यद्यपि न्याय शास्त्र द्वारा व युक्ति बलसे व गुरुकी आज्ञा प्रमाण या शास्त्रके वचन प्रमाण कोई जीवादि तत्वोंको संशय विपर्यय अनध्यवसाय रहित ठीक ठीक जानले तथापि जबतक मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शन नामी आत्मीक गुणका प्रकाश नहीं होता है तबतक ज्ञानको सम्यग्ज्ञान

यथार्थ नहीं कह सक्ते हैं। आत्मप्रतीति विना द्रव्यलिंगी साधुका ग्यारह अंग नौ पूर्व तकका ज्ञान भी मिथ्यात्व सहित होनेसे मिथ्याज्ञान नाम पाता है। जहां आत्मानुभूति जागृत होजाती है उसी ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान वास्तवमें दोयजका चन्द्रमा है। इसी ज्ञानके द्वारा जितना २ शुद्ध आत्माका अनुभव किया जायगा, ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता जायगा। इसी ज्ञानके बलसे सर्व श्रुतज्ञानका लाभ पाकर श्रुतकेवली मुनि होजाता है जो सर्व श्रुतज्ञानके बलसे अपने शुद्धात्माका अनुभव करते हैं। इसी ज्ञानके बलसे किसीको अवधिज्ञान या मनःपर्यय ज्ञान होजाता है, यही शुद्धात्मानुभव रूप सम्यग्ज्ञान पूर्णमासीके चन्द्रमा समान केवलज्ञानको पैदा कर देता है। चाहे किसीको पूर्ण श्रुतज्ञान या अवधि या मनःपर्यय ज्ञान न भी हो तौभी शुद्धात्मानुभवमें यह शक्ति है कि वह कमसे कम एक अंतर्मुहूर्त मात्रके लगातार ध्यानसे सर्व ज्ञानावरणीय कर्मको क्षय करके केवलज्ञानको जगा देता है। केवलज्ञान असहाय है इसको किसी इंद्रिय या मनकी जरूरत नहीं है, यह सर्व जानने योग्य पदार्थोंको एक साथ जान सक्ता है, यह फिर कभी आवरण नहीं पाता है, सदा ही रहता है व इसीके प्रकाशसे ही आत्मा अरहंत कहलाता है। सर्व ही अल्पज्ञानियोंके द्वारा वंदनीक पद इसीसे प्राप्त होता है।

श्लोक—श्रियं सम्यक्ज्ञानं, च, श्रियं सर्वज्ञ शाश्वतं।
लोकालोकमयं रूपं, श्री सम्यक्ज्ञान उच्यते ॥ ३६२ ॥

अन्वयार्थ—(श्रियं सम्यक्ज्ञानं च) परम ऐश्वर्यशाली सम्यग्ज्ञान (श्रियं सर्वज्ञ शाश्वतं) अतिशय रूप सर्व पदार्थोंका ज्ञाता व अविनाशी है (लोकालोकमयं रूपं) लोकालोकके प्रकाश करनेको दर्पण है (श्री सम्यक्ज्ञान उच्यते) ऐसा प्रभावशाली सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

विशेषार्थ—यहां केवलज्ञानकी महिमा बताई है। यह केवलज्ञान पूर्ण शुद्ध स्पष्ट ज्ञान है जिस ज्ञानके बलसे मूर्तीक व अमूर्तीक पदार्थ सर्व प्रत्यक्ष दीख जाते हैं। मति श्रुतज्ञान यद्यपि अमूर्तीक जीव धर्म अधर्म आकाश काल इन पांच पदार्थोंको जानते थे, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं जानते थे–परकी सहायतासे जानते थे। यह मात्र केवलज्ञानमें ही शक्ति है जो सबको एक साथ प्रत्यक्ष जानले। यही ज्ञान सर्वज्ञका ज्ञान कहलाता है, इसका कभी न क्षय है, न अंत है। इस ज्ञानमें यह शक्ति

है कि सर्व लोक व अलोकके भीतर भरे हुए छः द्रव्योंकी अनन्त गुण पर्यायोंको एक काल जान सक्ता है। तथापि मोहनीय कर्मके उदय विना इस ज्ञानमें कोई रागद्वेष मोह नहीं होता है। यह परम शुद्ध वीतरागी बना रहता है। इसीको यथार्थमें सम्यक्ज्ञान कहते हैं। इसीका प्रकाशक आत्मानुभवरूप सम्यक्ज्ञान है। जो सम्यक्दर्शन सहित होता है उसीको उपादेय जानके उसका लाभ करना योग्य है।

श्लोक—श्रियं सम्यक्चारित्रं, सम्यक उत्पन्न शाश्वतं।
अप्पा परम पयं शुद्धं, श्री सम्यक् चरणं भवेत् ॥ ३६३ ॥

अन्वयार्थ—(श्रियं सम्यक्चारित्रं) ऐश्वर्यशाली सम्यक्चारित्र (सम्यक् शाश्वतं उत्पन्न) भले प्रकार श्री अविनाशी वीतराग यथाख्यात सम्यक्चारित्रको उत्पन्न कर देता है। तब (अप्पा परम पयं शुद्धं) आत्मा परम पदको प्राप्त हुआ शुद्ध होजाता है (श्रीसम्यक्चरणं भवेत्) यही परम प्रभावशाली सम्यक्चारित्र है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होते ही जो स्वरूपाचरण चारित्र पैदा होता है वही सम्यक्चारित्र है। जितना२ स्वरूपका अनुभव बढता जाता है उतना उतना कषायोंका उपशम होता जाता है। उतना उतना सम्यक्चारित्र भी बढता जाता है, इसी उपाय श्रावकका एक देश संयम तथा मुनिका सकल संयम प्राप्त होता है। जब संज्वलन कषायका अति मंद उदय होता है तब श्रेणी चढकर चारित्र मोहको उपशम करे तो ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थानमें यथाख्यात चारित्रको पालेता है। यदि चारित्र मोहको क्षय करे तो बारहवें क्षीण मोह गुणस्थानमें यथाख्यात चारित्रवान होजाता है। फिर तेरहवें गुणस्थानमें जब केवलज्ञान होता है तब वह परम यथाख्यात चारित्रवान होजाता है क्योंकि तब वह प्रत्यक्षपने आत्माका थिरपना पालेता है। आत्माकी परम शुद्धि चारित्रके प्रतापसे ही होती है। जितनी २ ध्यानकी शक्ति बढती जायगी नवीन कर्मोंका संवर अधिक होगा व पूर्व बद्धकर्मकी निर्जरा विशेष होगी। स्वात्मानुभव करते२ यह परम एकाग्र स्वचारित्रमें पहुँच जाता है वही यथार्थ सम्यक्चारित्र है जो अरहंत भगवान सिद्ध परमेष्ठीके पाया जाता है।

श्लोक—श्रियं सर्वज्ञ सार्थं च, स्वरूपं व्यक्त रूपयं।
श्रियं सम्यक् ध्रुवं सार्थं, श्री सम्यक् चरणं बुधैः ॥ ३६४ ॥

अन्वयार्थ—(श्रियं सर्वज्ञ सार्थं च) श्री सर्वज्ञ भगवान यथार्थ आत्मीक गुणरूपी लक्ष्मी कर सहित हैं (स्वरूपं व्यक्त रूपयं) जिनके भीतर आत्माका स्वरूप व्यक्त है, प्रगट प्रकाशमान है (श्रियं सम्यक् ध्रुवं सार्थं) वहीं परम प्रभावशाली निश्चय यथार्थ सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है (श्री सम्यक्चरणं बुधैः) तथा वहीं परम सम्यक्चारित्र है ऐसा बुद्धिमानोंने माना है।

विशेषार्थ—व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान तथा व्यवहार सम्यक्चारित्रकी सहायतासे निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्रकी एकता जो आत्माकी निर्विकल्प समाधि उसके द्वारा अभ्यास करते करते जब यह केवलज्ञानी अर्हंत होजाता है तब वहां निश्चय रूपसे शुद्ध सम्यग्दर्शन भी है, शुद्ध सम्यक्ज्ञान भी है तथा शुद्ध सम्यक्चारित्र भी है। रत्नत्रय धर्मकी अपूर्णता साधक है, रत्नत्रय धर्मकी पूर्णता साध्य है। ऐसा जानकर बुद्धिमानोंको रत्नत्रय धर्मकी सेवा करनी योग्य है। इसीकी प्राप्तिके लिये यथार्थ देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति सदा करनी चाहिये।

श्लोक—पचहत्तर गुण वेदंते, सार्द्धं च शुद्धं ध्रुवं ।
पूजितं संस्तुतं येन, भविजन शुद्ध दृष्टितं ॥ ३९५ ॥

अन्वयार्थ—(पचहत्तर गुण वेदंते) जो पिछत्तर गुणोंको अनुभव करते हैं (सार्द्धं च शुद्धं ध्रुवं) साथमें आत्माके शुद्ध निश्चल गुणोंका अनुभव करते हैं (येन पूजितं संस्तुतं) जिसने इन गुणोंकी पूजा की व स्तुति की है (भविजन शुद्ध दृष्टितं) वही भव्य जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टी है।

विशेषार्थ—पिछत्तर गुणोंको जानना, विचारना, उनकी पूजा करना, उनकी स्तुति करना, उनका अनुभव करना ऐसा उपदेश यहां भव्य जीव गृहस्थ सम्यग्दृष्टीको दिया गया है। वे ७५ गुण कौनसे हैं उनका यहां खुलासा नहीं है। अपनी बुद्धिसे विचारते हुए एक तो पांच परमेष्ठीके ७५ गुण होसक्ते हैं, दूसरे सम्यग्दृष्टी गृहस्थको ७५ गुण पालने चाहिये। दोनों ही अर्थ लेकर ७५ गुणोंकी संख्या नीचे प्रकार जानना—

अरहंत परमेष्ठीके....	अनंतचतुष्टय	४
सिद्ध परमेष्ठीके	सम्यक्त आदि गुण	८

आचार्य परमेष्ठीके	....	दशलक्षण धर्म	१०
उपाध्याय परमेष्ठीके	....	११ अंग १४ पूर्व	२५
साधुके	....	मूल गुण	२८
पांच परमेष्ठीके	....	मुख्य गुण	७५

गृहस्थको उचित है कि इन गुणोंको चिंतवन करता हुआ ॐ के द्वारा पांच परमेष्ठीका मनन करे। सम्यग्दृष्टी गृहस्थके भीतर नीचे लिखे ७५ गुण होने चाहिये—

२५	मल दोष रहित पना	२५ गुण
८	संवेगादि—अर्थात् १ संवेग या धर्मानुराग, २ निर्वेद-संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य, ३ गर्हा-अपने मनमें अपनी बुराई, ४ निन्दा-दूसरोंसे अपनी बुराई, ५ उपशम या शांत भाव, ६ भक्ति-अर्हंतादिकी भक्ति, ७ वात्सल्य-धर्मात्माओंसे प्रेम, ८ अनुकम्पा-दुःखियोंपर दया।	८ गुण
५	अतीचार न लगाना—१ शंका, २ कांक्षा, ३ विचिकित्सा, ४ अन्य-दृष्टि प्रशंसा, ५ अन्यदृष्टि संस्तव	५ गुण
७	भय रखना—१ इस लोक, २ परलोक, ३ रोग, ४ अनरक्षा, ५ अगुप्ति, ६ मरण, ७ अकस्मात्	७ गुण
३	शल्य छोडना—माया, मिथ्या, निदान	३ गुण
८	मूलगुण—३ मकार, पांच उदम्बरका त्याग	८ ,,
७	व्यसन—द्यूतादिका त्याग	७ ,,
१२	व्रतोंका अभ्यास—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत	१२ ,,
		७५ गुण

यदि यहां अन्य तरहसे ७५ गुणोंका प्रयोजन हो तो विद्वान विचार लेवें।

गृहस्थी सम्यग्दृष्टी उन गुणोंकी पूजा भक्ति आदर मनन करता हुआ शुद्ध निश्चल आत्माका अनुभव अवश्य करता रहना है क्योंकि वही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

श्लोक—एततु गुण सार्द्धं च, स्वात्मचिंता सदा बुधैः ।
देवाश्च तस्य पूजंते, मुक्तिगमनं न संशयः ॥ ३६६ ॥

अन्वयार्थ—(एततु गुण सार्द्धं च) इन गुणोंको विचारते हुए (बुधैः सदा स्वात्मचिंता) बुद्धिमानोंको सदा अपने आत्माका चिन्तवन करना चाहिये। (देवाश्च तस्य पूजंते) ऐसे सम्यग्दृष्टी देवता भी पूजन करते हैं (मुक्तिगमनं न संशयः) तथा वह मोक्षमें अवश्य जायगा इसमें कोई संशय नहीं है ।

विशेषार्थ—बुद्धिमान गृहस्थ श्रावकोंको प्रथम कहे प्रमाण ७१ गुणोंको जो पांच परमेष्ठीमें पाए जाते हैं या जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थमें होने चाहिये भलेप्रकार ध्यानमें रखना चाहिये तथा मुख्यतासे अपने ही आत्माको भेदविज्ञानके द्वारा शुद्ध निश्चयनयकी सहायतासे, रागादि भाव कर्मोंसे, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंसे, शरीरादि नो कर्मोंसे भिन्न अनुभव करना चाहिये। यह अपने आत्माका मनन, विचार व ध्यान सदा ही प्रतिदिन प्रातःकाल, सायंकाल तो अवश्य कुछ देर एकांतमें बैठकर करना चाहिये। जो सच्चे श्रद्धावान गृहस्थ हैं, पांच परमेष्ठीके भक्त हैं व देव, शास्त्र, गुरुके भक्त हैं उनकी महिमा इंद्रादि देव गाते हैं तथा कभी कोई संकट पड जावे तो उनकी सहायता भी करते हैं। ऐसा गृहस्थ अवश्य मोक्षका पात्र होजाता है। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुकूल हुआ तो उसी भवसे साधु हो ध्यान करके क्षपकश्रेणी चढकर केवलज्ञानी हो सिद्ध होजाता है। यदि अनुकूल न हुआ तो कुछ जन्मोंके पीछे वह अवश्य सिद्ध होजाता है। क्योंकि जिसकी रात्रि दिन भावना अपने आत्माकी तरफ है वह क्यों नहीं भवसागरसे पार होगा व क्यों नहीं बंधनसे मुक्त होगा व क्यों नहीं वह अनन्त सुखको प्राप्त करेगा।

सुगुरु भक्ति ।

श्लोक—गुरुस्य ग्रंथमुक्तस्य, रागदोषं न चिंतए ।
रत्नत्रय मयं शुद्धं, मिथ्या माया विमुक्तयं ॥ ६६७ ॥

गुरुं त्रिलोक वेदंते, धर्मध्यानं च संजुतं ।
तद्गुरुं सार्द्धं नित्यं, रत्नत्रयालंकृतं ॥ ३६८ ॥

अन्वयार्थ—(ग्रन्थमुक्तस्य) परिग्रह रहित (गुरुस्य) गुरुकी सेवा करनी चाहिये वे गुरु (रागदोषं न चिंतए) रागद्वेषकी चिंता नहीं करते हैं किंतु (मिथ्या माया विमुक्तयं) मिथ्यात्व व मायाचारसे रहित (शुद्धं रत्नत्रय मयं) शुद्ध रत्नत्रयमई आत्माका मनन करते हैं। (गुरु त्रिलोक वेदंते) ऐसे गुरु तीन लोकके यथार्थ स्वभावको जानते हैं (धर्मध्यानं च संजुतं) तथा धर्मध्यान सहित वर्तन करते हैं (रत्नत्रयालंकृतं) वे रत्नत्रयसे शोभित रहते हैं (तस्य गुरुं नित्यं सार्द्धं) ऐसे गुरुका नित्य साथ करना चाहिये।

विशेषार्थ—यहां गुरु भक्तिको दृढ किया है। गृहस्थ श्रावकका मुख्य कर्तव्य है कि सच्चे गुरुओंकी सेवा करे, उनकी संगति करे, उनके साथ रहे, उनकी वैयावृत्य करे, उनके उपसर्ग दूर करे, तथा उनसे शास्त्र ज्ञान व ध्यानका मार्ग जाने। गुरु बडे अनुभवी होते हैं, थोडेसे परिश्रमसे ही उनके द्वारा धर्मका लाभ होजाता है। उनकी संगतिसे भावोंमें वैराग्य रहता है। ऐसे गुरुओंका स्वरूप यह है कि परिग्रहसे रहित निर्ग्रन्थ हों। क्षेत्र, मकान, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कपडे, वर्तन आदि बाहरी १० प्रकारके परिग्रहसे तथा अंतरंग मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद इन १४ प्रकारके परिग्रहसे बिलकुल ममत्व रहित हो, इनके बुद्धिपूर्वक त्यागी हों, नग्न दिगम्बर रूपके धारी हों, मात्र जीवदयाके लिये मोरपिच्छिका व शौचके लिये काष्ठ कमंडल, व ज्ञानके लिये आवश्यक हो तो शास्त्रको पास रखते हों। जो निर्भय हों, बालकवत् विहार करते हों, जिनमें राग द्वेष न हो, परम समताभावके धारी हों, शत्रु मित्र, कनक कांच, लाभ अलाभ, मान अपमान, जन्म मरण, रोग निरोग आदि अनेक संसारकी राग द्वेष मूलक अवस्थाओंकी तरफ राग द्वेष न करके समताभावके धारी हों, मिथ्या माया व निदान तीन प्रकारके शल्यसे रहित होकर व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान व व्यवहार सम्यक्चारित्रका यथार्थ शास्त्रोक्त आचरण करते हुए निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध आत्माका निरंतर अनुभव करनेवाले हों, आत्मानन्दके स्वादी हों, इंद्रिय विषयोंके स्वादसे विरक्त हों तथा शास्त्रोंके ऐसे ज्ञाता हों कि छः द्रव्योंका स्वरूप जानते हुए तीन लोककी

वस्तुओंका मूल स्वरूप, कारण व भेद प्रभेद यथार्थ जानते हों। स्वरूप विपर्यय, कारण विपर्यय, भेदाभेद विपर्यय इन तीन दोषोंसे रहित जिनका निर्मल ज्ञान हो तथा जो कभी आर्तध्यान व रौद्रध्यान नहीं करते हो किंतु धर्मध्यानमें आसक्त हों। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत इन ध्यानोंका अभ्यास करते हों, ऐसे गुरुओंकी सदा ही भक्ति करके अपने भावोंको वैराग्यमय, ज्ञानमय बनाना गृहस्थका मुख्य कर्तव्य है। गुरुओंमें और गृहस्थोंमें परस्पर उपकार होता है। गुरु महाराज तत्वोंका उपदेश करते हैं, साचा मार्ग बताते हैं, जागृत करते हैं, मिथ्यात्वीको सम्यक्ती, अव्रतीको व्रती बनाते हैं तब गृहस्थ उनकी सेवा आहार औषधि दानसे व वैयावृत्य आदिसे करते हैं। यह गुरुभक्ति नित्य करनी चाहिये, यही धर्मवृद्धिका साधन है।

स्वाध्यायका लाभ।

श्लोक—स्वाध्याय शुद्धं ध्रुवं चिंते, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
शुद्ध संपूर्णदृष्टी च, ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं ॥ ३६९ ॥
स्वाध्याय शुद्ध चित्तस्य, मनवचनकाय रुंधनं।
विलोकं ति अर्थं शुद्धं, अस्थिरं शाश्वतं ध्रुवं ॥ ३७० ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध तत्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्मीक तत्वके प्रकाश करनेवाले (शुद्धं स्वाध्याय) शुद्ध दोष रहित शास्त्रका पठन या मनन या श्रवनका (ध्रुवं चिन्ते) सदा ही विचार करता रहे। (शुद्ध संपूर्ण दृष्टी च) शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिके द्वारा (ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं) ज्ञानयोग यथार्थ निश्चय आत्मद्रव्यका ज्ञान होता है। (स्वाध्याय चित्तस्य शुद्ध) स्वाध्याय करनेसे मनकी शुद्धि होती है (मनवचनकाय रुंधनं) मन, वचन, काय वशमें होजाते हैं। (शुद्धं अर्थं) शुद्ध पदार्थको (अस्थिरं) विनाशनीक (शाश्वतं) व अविनाशी पदार्थको (ध्रुवं) निश्चयसे ठीक २ जानता है।

विशेषार्थ—देवपूजा गुरुभक्तिको कह करके अब तीसरा नित्यकर्म जो स्वाध्याय है उसपर कहते हैं कि वास्तविक स्वाध्याय स्व अर्थात् अपने शुद्ध तत्वका अध्याप अर्थात् मनन है। जहां

शुद्धात्माके प्रयोजनसे शास्त्रोंको पढा जाय, विचारा जाय, धारण किया जाय वह स्वाध्याय है। जिनवाणीमें कथन दो दृष्टिसे है–पर्यायार्थिक दृष्टि और द्रव्यार्थिक दृष्टि। पर्यायार्थिक दृष्टिसे या पर्यायकी अपेक्षासे छहों द्रव्योंकी जो जो अवस्थाएं जगतमें प्रगट हैं उन सबका व्याख्यान है। जीव और पुद्गलके सम्बन्धसे चार गतियां हैं व चार गति सम्बंधी भाव हैं, गुणस्थान व मार्गणा स्थान हैं। सात तत्व व नौ पदार्थ हैं इन सबका स्वरूप भलेप्रकार जानना चाहिये और द्रव्यार्थिक नयसे जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल इन छः द्रव्योंका शुद्ध स्वरूप जानना चाहिये। दोनों नयोंसे जानकर द्रव्यार्थिक दृष्टिको मुख्य ध्यानमें लेकर अपने आत्माका द्रव्य स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्दमय स्वभाव अनुभव करना चाहिये। स्वाध्यायका प्रयोजन संसारसे वैराग्य तथा निज स्वरूपकी प्राप्तिका उत्साह है। स्वाध्यायके पांच भेद हैं। उसी तरह स्वाध्याय करे। पहले पढे सो वाचना है। किसी बातमें शंका रह जावे तो विशेष ज्ञानीसे पूछकर निर्णय करे यह पृच्छना है। जानी हुई बातको वारवार विचार कर दिलमें धारणा करे यह अनुप्रेक्षा है। शुद्ध शब्द व अर्थको कण्ठस्थ करे यह आम्नाय है, फिर अन्य श्रोताओंको समझावे यह धर्मोपदेश है। स्वाध्याय करना बडा ही जरूरी है। हरएक गृहस्थ श्रावक व श्राविकाको उचित है कि एक शास्त्र मुख्यतासे स्थापित करके थोडी देर रोज बहुत विनयसे बैठकर पढे, जो समझमें न आवे उसको एक अलग पुस्तकपर लिखता जावे, जब बहु ज्ञानीका निमित्त मिले तब उसका निर्णय करले। स्वाध्याय करनेसे तुर्त लाभ यह है कि चित्त शुद्ध होजाता है। मनसे शोक, भय, क्रोध, मान आदि कषायका मैल शांत होजाता है। यदि कोई तीनों मन, वचन कायकी गुप्तिको पालना चाहे तो शास्त्र स्वाध्याय बडा भारी उपाय है। बिना तीनोंके एकत्र हुए समझमें नहीं आयगा। यह तप इसी लिये कहा गया है कि उसके द्वारा उपयोग ज्ञानमें तप जाता है जिससे कर्मकी निर्जरा होजाती है। शास्त्र स्वाध्यायसे, पर्यायकी दृष्टिसे सब जगत क्षणभंगुर है परंतु द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य दीखता है। इस पंचमकालमें गृहस्थका ध्यान सामायिककी अपेक्षा स्वाध्यायमें विशेष सुगमतासे लग जाता है। इसलिये ध्यानका परम सहकारी समझकर नित्य भाव सहित स्वाध्याय करनी योग्य है। जैसे शरीरकी शुद्धिके लिये गृहस्थको नित्य जलका स्नान जरूरी है, वैसे अंतःकरणके क्लेश व कुभावोंको दूर करनेके लिये यह स्वाध्याय एक प्रकारका

स्नान है। चारों अनुयोगोंके ग्रंथोंको पढते हुए आध्यात्मिक साहित्य पर विशेष ध्यान देना चाहिये, शुद्धात्माका मनन इसहीके द्वारा भले प्रकार होता है। स्वाध्यायके समान कोई उपकारी उपाय नहीं है।

संयम पालन।

श्लोक—संयमं संयमं कृत्वा, संयमं दुविधं भवेत्।
इन्द्रियाणां मनो नाथः, रक्षणं त्रस स्थावरं ॥ ३७१ ॥

अन्वयार्थ—(संयमं संयमं कृत्वा) संयम अपनेको यम नियममें रखनेको कहते हैं। (संयमं दुविधं भवेत्) संयम दो प्रकारका होता है-इंद्रिय संयम व प्राणि संयम। (इन्द्रियाणां मनो नाथः) पांच इंद्रियोंको और उनके स्वामी मनको वश रखना इंद्रिय संयम है तथा (त्रस स्थावरं रक्षणं) त्रस और स्थावर प्राणियोंकी रक्षा करना प्राणि संयम है।

विशेषार्थ—चौथा कर्म गृहस्थका संयम पालना है। अपनेको यम नियममें चलाना संयम है। जो कार्य अन्याय व पापमय हैं उनका आजन्म त्याग कर देना चाहिये। जैसे जूआ आदि सात व्यसन तथा अभक्ष्य भोजन। और जो भोग उपभोग आजन्मके लिये छोडे न जासकें उनका गृहस्थको रोज प्रमाण कर लेना चाहिये। नीचे लिखे १७ नियमका नित्य विचार करना चाहियेः—

भोजने[1] षट्रसे[2] पाने[3] कुंकुमादि[4] विलेपने। पुष्प[5] तांबूल[6] गीतेषु[7] नृत्यादौ[8] ब्रह्मचर्यके[9] ॥
स्नान[10] भूषण[11] वस्त्रादौ[12] वाहने[13] शयन[14] आसने[15]। सचित्त[16]वस्तु संख्यादौ[17] प्रमाणं भज प्रत्यहं ॥

१ भोजन-कै दफे करूँगा। २ षट्रस-दूध, दही, घी, नमक, तेल, मीठा, इनमेंसे क्या २ त्यागा। ३ पान-भोजनके सिवाय पानी कै दफे पीऊँगा। ४ कुंकुमादि विलेपन-तेल चंदन विलेपन कै दफे लगाऊँगा या नहीं। ५ पुष्प-फूल सूंघूंगा या नहीं, या कै दफे। ६ ताम्बूल-पान खाऊँगा या नहीं यदि खाऊँगा तो कै दफे। ७ गीत-संसारी गीत सुनूँगा या नहीं। ८ नृत्यादौ-नाच देखूँगा या नहीं। ९ ब्रह्मचर्य-आज ब्रह्मचर्य पूर्ण पालूंगा या नहीं। १० स्नान-कै दफे नहाऊँगा। ११ भूषण-गहने कौन२ पहनूँगा। १२ वस्त्र-कपडे कितने जोड काममें लूंगा। १३ वाहन-सवारी कौन रक्खी या त्यागी।

१४ शयन–सोनेकी शय्या आदि कौन २ रक्खी। १५ आसन–बैठनेके आसन कौन २ रक्खे। १६ सचित्त–हरी तरकारी फल कौन २ रक्खे। १७ वस्तु संख्या–कुल खाने पीनेकी वस्तुएं कितनी रक्खीं।

संयमके दो भेद हैं–पांच इन्द्रिय व मनको अपने आधीन रखके सदा ही उपयोगी कामोंमें लगाए रखना। वृथाके कामोंमें इनको उलझाना नहीं। उनका ऐसा उपयोग करना कि ये स्वस्थ रहें और धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थके साधनमें सहायक हो, यह इंद्रिय संयम है। छः कायके प्राणियोंकी दया पालनी प्राणि संयम है। त्रस जंतुओंकी भलेप्रकार रक्षा करनी, स्थावरका भी वृथा घात नहीं करना। मिट्टी, पानी, आग, हवा, वनस्पतिका उपयोग प्रयोजनसे अधिक नहीं करना। हरएक काम देखभालके करना जिससे कीडे, मकोडे आदिकी वृथा जान न जावे। पशुओंको सताना नहीं। मानवोंके चित्तको दुखाना नहीं। जो गृहस्थ इन दो प्रकारके संयमका अभ्यास रखते हैं वे मानव–जन्मको सफल करते हैं और आत्माकी उन्नति भलेप्रकार कर सक्ते हैं, श्रावकका धर्म उत्तम प्रकारसे निर्वाह कर सक्ते हैं। समयको वृथा न खोकर समयका सदुपयोग करना भी संयम है।

श्लोक—संयमं संयमं शुद्धं, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
तीर्थं ज्ञानजलं शुद्धं, सुस्नानं संयमं ध्रुवं ॥ ३७२ ॥

अन्वयार्थ—(संयमं) अपने आत्मामें तिष्ठना सो (शुद्ध संयमं) शुद्ध संयम या निश्चय संयम है। यह संयम (शुद्ध तत्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्मीक तत्वको प्रकाश करनेवाला है। यही (शुद्धं ज्ञानजलं तीर्थं) शुद्ध ज्ञानरूपी जलसे भरा हुआ तीर्थ है अर्थात् समुद्र है (सुस्नानं) इसमें भले प्रकार स्नान करना (ध्रुवं संयमं) निश्चय व निश्चल संयम है।

विशेषार्थ—इन्द्रिय संयम तथा प्राणि संयम पालना या नित्य प्रति नियम करना या श्रावकका संयम पालना यह सब व्यवहार संयम है। निश्चय या शुद्ध संयम यह है जो मन वचन कायको संयममें लाकर व इन्द्रियोंकी सर्व इच्छाओंको निरोध कर अपने आत्माके स्वरूपमें आप ही तन्मय होजाना। इस तरह संयमका अभ्यास करना शुद्धात्माका अनुभव करानेवाला है तथा आत्माके कर्म रूपी मलको काटनेवाला है। तथा इसी संयमको तीर्थकी उपमा दी है। जिसमें तिराजाय सो तीर्थ है। तीर्थ नदी या समुद्रको कहते हैं। जगतके लौकिकजन गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा,

कृष्णा, कावेरी आदि नदियोंको तीर्थ कहकर इनमें स्नान करना धर्म मानते हैं। ये तो वास्तवमें तीर्थ नहीं हैं, क्योंकि जल स्नान हिंसाका कारण होनेसे धर्म नहीं होसक्ता। शरीर स्वच्छ करके यदि ध्यान स्वाध्याय करे तो यह जल-स्नान व्यवहार बाहरी शौचका मात्र कारण होसक्ता है। वास्तवमें पवित्रपना आत्माके भावोंका शुद्ध होना तथा आत्माके कर्ममैलका धुलना है, उसके लिये आत्मामें लवलीन होना ही सच्चा तीर्थस्नान है। जो निरन्तर आत्मारूपी गंगामें स्नान करते हैं उनके कर्मके ढेरके ढेर गल जाते हैं। अतएव गृहस्थ श्रावकको उचित है कि व्यवहार संयमके आश्रयसे आत्मीक ध्यानका अभ्यास करे। यही शुद्ध संयम परम हितकारी व यही सच्चा मोक्ष मार्ग है, यही परम उपादेय है। यही निरंतर भावने योग्य है।

तपका अभ्यास।

श्लोक—तपश्च अप्प सद्भावं, शुद्ध तत्व सुचिंतनं।
शुद्ध ज्ञानमयं शुद्धं, तथा हि निर्मलं तपः ॥ ३७३ ॥

अन्वयार्थ—(तपश्च) तप भी (अप्प सद्भावं) आत्माके यथार्थ स्वभावमें ठहरना है (शुद्ध तत्व सुचिंतनं) शुद्ध आत्मीक तत्वका भलेप्रकार चिंतवन करना है (शुद्ध ज्ञानमयं शुद्धं) शुद्ध ज्ञान चेतनामय होना ही शुद्ध तप है (तथा हि निर्मलं तपः) इसीको ही मल रहित निश्चय तप कहते हैं।

विशेषार्थ—गृहस्थीके छः कर्मोंमें जैसे नित्य देव पूजा, गुरु भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, संयमका नियम लेना जरूरी है वैसे तप करना जरूरी है। मुख्य तप आत्मध्यान है। इसलिये गृहस्थको प्रातः-काल और सायंकाल एकांत स्थानमें तिष्ठकर सामायिकका अभ्यास करना चाहिये। सूर्योदय व सूर्यास्तके करीब ध्यान करनेका अभ्यास करे। एकांत स्थानमें मन, वचन, कायको शुद्ध करके आसन बिछाकर बैठे। सामायिककी विधि यह है कि पहले पूर्व या उत्तरकी तरफ मुख करके कायोत्सर्ग हाथ लटकाके खडा होकर नौ दफे णमोकार मंत्र पढे फिर भूमिमें दंडवत् करके सामायिक स्वीकार करे। यह प्रतिज्ञा करे कि जबतक सामायिक करता हूँ जो कुछ मेरे पास है व जितना क्षेत्र मैंने रोका

है या इसके चारों तरफ दो दो जज और बाकी सब क्षेत्र व सर्व वस्तुका मुझको त्याग है, फिर उसी दिशामें खडे हो कायोत्सर्ग तीन या नौ दफे णमोकार मंत्र पढकर हाथजोडके तीन आवर्त व १ शिरोनति करे। दोनों हाथ जोडे हुए बाएंसे दाहनी तरफ तीन दफे घुमावे उसे आवर्त कहते हैं। फिर जोडे हुए हाथ मस्तक झुकाकर स्पर्श करे इसे शिरोनति करे। फिर हाथ जोडकर खडे ही खडे दाहनी तरफ मुड जावे। इधर भी उसी तरह तीन या नौ दफे णमोकार मंत्र पढकर तीन आवर्त तथा शिरोनति करे। ऐसा ही मुडते हुए शेष दोनों दिशाओंमें करके पद्मासन या अर्द्ध पद्मासन बैठ जावे। बैठकर पहले कोई संस्कृत या भाषा सामायिक पाठ पढे, फिर जाप देवे, फिर पिंडस्थ पदस्थ आदि ध्यानका अभ्यास करे, बारह भावनाओंको विचारे, निज आत्माका स्वरूप ध्यावे व उसमें एकाग्र होजावे। अन्तमें खडे होकर नौ दफे णमोकार मंत्र पढकर कायोत्सर्ग करके दंडवत् करे। इस विधिसे यदि गृहस्थ कमसेकम दोनों संध्याओंमें अभ्यास करे तो धीरे धीरे उसको ध्यानकी सिद्धि होने लगे। वास्तवमें निर्मल या शुद्ध तप वही है जो आत्मा अपनी आत्मामें तपे, शुद्धात्मानुभव हो, वही तप कर्मकी अविपाक निर्जरा करनेवाला है, परमानन्दका देनेवाला परमोपकारी है। ज्ञानमें रमण करना ही सच्चा तप है।

दान नित्य कर्म।

श्लोक—दानं पात्र चिन्तस्य, शुद्ध तत्व रतो सदा।
शुद्ध तत्व रतो भावः, पात्र चिंता दानसंयुतं ॥ ३७४ ॥

अन्वयार्थ—(पात्र चिन्तस्य दानं) पात्रोंकी भक्तिका भाव करना सो दान है (सदा शुद्ध तत्व रतः) सदा शुद्ध आत्मीक तत्वमें रमना भी दान है। (शुद्ध तत्व रतो भावः) शुद्ध तत्वमें लीन होना शुद्ध या निश्चय दान है सो (पात्र चिन्ता दान संयुतं) पात्रोंकी चिंता या पात्रोंको दान सहित व्यवहार दान सहित होना योग्य है।

विशेषार्थ—छठा कर्म गृहस्थका दान करना है। शुद्ध दान यह है कि आप ही अपने आत्माको आत्मीक रसका आहार दिया जावे। यह शुद्ध या निश्चय दान अपने आत्मामें लवलीनता रूप है। सच्चा पात्र

रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा है। उसको स्वात्मानन्दामृतका दान देना परम शुद्ध दान है। व्यवहार दान यह है कि गृहस्थोंको नित्य प्रति पात्रोंका विचार करके भोजनके पहले दान करके भोजन करे। निरंतर पात्रदानकी भावना भावे। उत्तम पात्र मुनि, मध्यम पात्र श्रावक, जघन्य पात्र व्रत रहित श्रद्धावान। इन तीनोंमेंसे जिनका संयोग मिल सके उनको पात्रदान करके बड़ा हर्ष माने। नित्यका दान तो भोजनके पहले आहारदान है, सो पात्रोंको करके अपना जन्म सफल माने, अपना घर पवित्र माने। गृहस्थी श्रद्धावान पुरुष या स्त्रीको भी भक्तिपूर्वक निमंत्रण देकर दान करना धर्मका अंग है। जिसको भक्ति पूर्वक निमन्त्रण दिया जावे उसको भी धर्मकी प्रतिष्ठा करते हुए निमन्त्रण स्वीकार कर लेना चाहिये। हम दान क्यों लें ऐसा अभिमान नहीं रखना चाहिये। परस्पर श्रावक व श्राविका पात्र दान कर सक्ते हैं, इससे धर्मकी वृद्धि होती है, धर्मप्रेम बढ़ता है। यदि भोजनके पहले किसी पात्रका लाभ न होवे तो दुःखित, बुभुक्षित, दयापात्र, किसीको भी दान देकर भोजन करे, यदि न मिले तो उसके लिये निकाल दे। कमसे कम हरएक जीमनेवालेको भोजनसे पहले रोटी आधी रोटी अलग निकालके भोजन करना चाहिये। वह निकली रोटी किसी मानव या पशुको दी जासक्ती है। इसके सिवाय गृहस्थीको अपनी कमाईमेंसे चौथाई, छठा, आठवां व कमसे कम दशवां भाग निकालना चाहिये। उसे आहार, औषधि, अभय व विद्यादानमें खर्च करना चाहिये। जैन श्रावक श्राविकाओंको औषधिका प्रबन्ध कर देना। गरीब कुटुम्बोंको अन्नादिकी सहाय करना। अनाथ विधवा आदिकी पालना करनी, शास्त्रोंका प्रकाश करना, शास्त्र व पुस्तकें बांटना, विद्यालय खोलना, छात्रोंको वृत्तियें देना आदि जो चार दानके कार्य जैनधर्मके धारी जैन समाजके लिये किये जांयगे वे सब पात्रदानमें आजांयगे। करुणाभाव करके जगतमात्रके मानव व पशुओंको अन्नादि देना, उनकी औषधि करना, उनके प्राणोंको बचाना, सर्व मानवोंमें विद्याका प्रचार करना, यह करुणादान है। गृहस्थको उचित है कि निरंतर पात्रदान व करुणादान दोनों प्रकारका दान भावपूर्वक करे। दानसे ही गृहस्थकी शोभा है। दान करते हुए कभी आकुलित नहीं होना चाहिये। जितना धन दानमें निकल जाय वह बो दिया गया है ऐसा समझना चाहिये। दानी गृहस्थ उदार-चित्त होते हैं। कषाय मंद रहती है जिससे निरन्तर पुण्य बांधते हैं व असाताके कारणोंसे बचनेका साधन करते हैं।

शुद्ध षट्कर्म संक्षेप ।

श्लोक—ये षट्कर्म शुद्धं च, जे साधंति सदा बुधैः ।
मुक्ति मार्ग ध्रुवं शुद्धं, धर्मध्यानरतो सदा ॥ ३७५ ॥

अन्वयार्थ—(सदा बुधैः) सदा ही बुद्धिमानोंको उचित है कि (ये षट्कर्म शुद्धं च साधन्ति) इन छः कर्मोंको शुद्धताके साथ साधन करें (जे मुक्तिमार्ग ध्रुवं शुद्धं) वे निश्चल शुद्ध मोक्षमार्गपर चलनेवाले हैं (धर्मध्यानरतो सदा) वे सदा ही धर्मध्यानमें लवलीन हैं ।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन या दृढ श्रद्धा पूर्वक देव पूजादि छहों कर्मोंको व्यवहार व निश्चय दोनों नयोंके द्वारा जानकर सेवन करना चाहिये। श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना व्यवहार देवपूजा है। उनके शुद्ध आत्मीक गुणोंके समान अपने आत्मीक गुणोंका अनुभव करना निश्चय देव पूजा है। श्री निर्ग्रंथ गुरुकी भक्ति करना, उनसे धर्मोपदेश लेना व्यवहार गुरुभक्ति है। उनकी संगतिसे अपने शुद्ध आत्मा-का साधन करना निश्चय गुरुभक्ति है। शास्त्रोंको पढकर ज्ञान प्राप्त करना व्यवहार स्वाध्याय है। तथा अपने आत्माके शुद्ध स्वभावका आराधन निश्चय स्वाध्याय है।

पांच इंद्रिय व मनका दमन व छः कायके प्राणियोंकी रक्षाके हेतु यम नियमरूप संयम पालना व्यवहार संयम है। निश्चल शुद्धात्मामें रमण करना निश्चय संयम है। उपवास आदि बारह प्रकार तपका, शक्तिके अनुसार आराधन करना व्यवहार तप है। अपने ही शुद्ध आत्मामें अपने आत्माको तपाना निश्चय तप है। पात्रोंको भक्तिपूर्वक व दुःखियोंको दयापूर्वक दान देना, व्यवहार दान है। तथा अपने ही आत्माको अनुभव करके ज्ञानामृतका दान करना निश्चय दान है। ये छहों कर्म गृह-स्थोंको मोक्षमार्गमें परम सहाई हैं। इनको निरंतर पालते हुए धर्मध्यानमें तन्मय रहना योग्य है।

श्लोक—षट्कर्म च आराध्यं, अव्रतं श्रावकं ध्रुवं ।
संसार सरनि मुक्तस्य, मोक्षगामी न संशयः ॥ ३७६ ॥

अन्वयार्थ—(अव्रतं श्रावकं) व्रत रहित श्रावकको (ध्रुवं) सदा (षट्कर्म च आराध्यं) देव पूजादि छहों

कर्मोंका आराधन करना चाहिये (संसार सरनि) संसारके मार्गसे (मुक्तस्य) छूट करके वह (मोक्षगामी) मोक्षमार्ग पर चलनेवाला है (न संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—निश्चय तथा व्यवहार नयसे ऊपर कहे हुए छहों कर्मोंको जो कोई नित्य भक्ति व भावसे सेवन करता है, अपने लौकिक कार्योंकी बहुतायत होनेपर भी बहुत आरंभ काम धंधा होनेपर भी, इनके लिये समय निकालता है वही सच्चा धर्मप्रेमी है। जिस कामके लिये अधिक प्रेम होता है उसके लिये समय अपने आप निकाल लिया जाता है। गृहस्थ श्रावक व्रतोंको प्रतिमा-रूपसे पालनेका नियम न रखने पर भी बडा ही दृढ श्रद्धावान होता है। जिस आत्मानन्दका एक दफे स्वाद पाचुका है उसीकी वारवार प्राप्तिकी भावनासे यह देवपूजादि छः व्यवहार कार्योंके आलम्बनसे शुद्धात्माका मनन करके संसारके मार्गसे हटा हुआ है और मोक्षके मार्गपर जारहा है। इसके जीवनका ध्येय ही आत्मोन्नति करना है।

श्लोक—एतत्तु भावनं कृत्वा, श्रावक सम्यक् दृष्टितं।
अव्रतं शुद्ध दृष्टी च, सार्थं ज्ञान मयं ध्रुवं ॥ ३७७॥

अन्वयार्थ—(एतत्तु भावनं कृत्वा) इन छः कर्मोंके करनेकी भावना करके (श्रावक सम्यग्दष्टितं) यह श्रावक सम्यक्दर्शनका आचरण करता है। (अव्रतं शुद्धदृष्टी च) यद्यपि यह व्रत रहित है तथापि विशुद्ध सम्यग्दृष्टी है। (सार्थं ज्ञान मयं ध्रुवं) यह यथार्थ ज्ञानमई निश्चल परमात्माका ध्यान करनेवाला है।

विशेषार्थ—यहांतक ग्रंथकर्ताने मुख्यतासे अविरत सम्यक्दृष्टीका चारित्र वर्णन किया है। यह धर्मका प्रेमी व संसारसे वैरागी होकर देवपूजादि छः कर्मोंकी उन्नतिकी भावना रखता है। तथा आठ मूलगुण पालता है, सात व्यसनोंसे बचता है, रत्नत्रयकी भावना भाता है, पांच परमेष्ठीकी दृढ भक्ति रखता है। जल छानकर पीता है। रात्रिके भोजन त्यागका अभ्यास करता है। कुदेवादिकी भक्ति भूलकर भी नहीं करता है। इनके उत्साह आत्मोन्नतिका रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जबतक उपशम न होजावे तबतक यह पांचवें देश विरत गुणस्थानमें नहीं जासक्ता है। तथापि सम्यक्दर्शन होनेके पीछे आत्मतत्वकी भावना भाते हुए जितना २ अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय कमकम होता जाता है उतना उतना इसका चारित्र ऊँचा होता जाता है। चारि-

त्रके प्रभावसे इसका भाव कोमल, विवेकी, धर्मयुक्त, न्यायमार्गी व दया धर्मसे गर्भित होता है। यह व्रती न होनेपर भी व्रतीके समान आचरण करता है। धर्मध्यानका प्रारम्भ चौथे गुणस्थानसे होजाता है। यह सदा संसार शरीर भोगोंसे वैराग्ययुक्त होकर आत्माके शुद्ध स्वरूपकी भावना करता है। जगतमें सुख दुःखकी प्राप्तिके नाटकके दृष्टाके समान देखकर न उन्मत्त होता है और न विषाद करता है, भीतरसे समता भावका प्रेमी है।

ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप।

श्लोक—श्रावकधर्म उत्पायंते, आचरणं उत्कृष्टं सदा।
प्रतिमा एकादशं प्रोक्तं, पंच अनुव्वय शुद्धयं ॥ ३७८ ॥

अन्वयार्थ—(श्रावकधर्म उत्पायंते) श्रावकका धर्म उत्पन्न करना चाहिये (सदा उत्कृष्टं आचरणं) जिससे निरंतर आचरण बढता हुआ उत्कृष्ट मुनि होने तक होजावे। श्रावककी (एकादशं प्रतिमा प्रोक्तं) ग्यारह प्रतिमा या श्रेणी कही है (पंच अनुव्वय शुद्धयं) जिनके द्वारा पांचों अणुव्रतोंकी शुद्धता होती है।

विशेषार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टीमें मात्र यथाशक्ति आचरणका अभ्यास है। नियमरूप व्रतोंका पालन नहीं है। प्रतिमाएं पांचवें देशविरत गुणस्थानमें प्रारम्भ होती हैं। यहां जो श्रेणी होती है उसमें प्रतिज्ञाएँ दोष रहित पाली जाती हैं व आगेकी श्रेणीका अभ्यास किया जाता है, इनमें नियम आगे २ बढते जाते हैं, पिछले नियम छूटते नहीं हैं। ये ग्यारह श्रेणियां बाहरी आचरणकी उन्नति रूप होते होते मुनिपदके चारित्रमें बडी सुगमतासे आरूढ कर देती हैं। मुख्य बाहरी आचरण पांच व्रत हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, व परिग्रह त्याग। इनको पूर्ण पालनेवाले महाव्रती मुनि होते हैं तब उनको एक देश थोडा शक्तिके अनुसार पालनेवाले श्रावक होते हैं। पहली प्रतिमामें इनका पालन प्रारम्भ होता है सो ग्यारहवीं प्रतिमा तक महाव्रतके निकट पहुंच जाता है। जैसे किसी कार्यके १०० अंश हों, प्रथम १० अंश करे फिर बढते बढते ९९ अंश तक पहुंचे वहांतक वह कार्य अपूर्ण किया गया। जब १०० अंश होजावे तब वह पूर्ण हुआ। जैसे बाहरी चारित्र बढता जाता

है वैसे अन्तरंग शुद्धात्मानुभवकी शक्ति भी बढती जाती है। वैराग्य भी बढता जाता है। कषायका उदय भी मंद होता जाता है। प्रत्याख्यानावरणका उदय जितना २ मंद होता जाता है, प्रतिमाका दरजा बढता जाता है। जब वह बिलकुल बंद होजाता है मात्र संज्वलनका उदय रहता है तब श्रावकसे साधु होजाता है।

श्री रत्नकरण्ड श्रा० में कहा है—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु। स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठंते क्रमविवृद्धाः ॥ १३६ ॥

भावार्थ—श्री गणधर देवोंने श्रावकोंके ग्यारह पद कहे हैं उनमें पहले पहिलेके गुणोंके साथ आगे २ के गुण क्रमसे बढ़ते हुए चले जाते हैं। अंतरंग आत्म शुद्धि व बाहरी चारित्र दोनों बढ़ते जाते हैं। इनका पालन गृहस्थ श्रावकोंको भले प्रकार कर्तव्य है।

श्लोक—दंसण वय सामाइक, पोसह सचित्त चिंतनं।
अनुरागं बंभवयं, आरम्भ परिग्रहस्तथा ॥ ३७९ ॥
अनुमति उद्दिष्ट देशं, प्रतिमा एकदशानि च।
व्रतानि पंच उत्पाद्यंते, श्रूवते जिनआगमं ॥ ३८० ॥

अन्वयार्थ—(दंसण वय सामाइक) दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा (पोसह सचित्त चिंतनं) प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त विरत प्रतिमा (अनुरागं बंभवयं) अनुराग भक्ति प्रतिमा, ब्रह्मचर्यव्रत प्रतिमा (आरम्भ परिग्रहस्तथा) आरम्भ त्याग प्रतिमा तथा परिग्रह त्याग प्रतिमा (अनुमति उद्दिष्ट देशं च) अनुमति त्याग प्रतिमा, उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा यहांतक एक देशव्रत है (प्रतिमा एकदशानि च) ये ग्यारह श्रेणियां हैं (पंचव्रतानि उत्पाद्यंते) यहां पांच व्रतोंकी शक्ति पैदा की जाती है (जिनागमं श्रूयते) व जिन आगमको सुना जाता है।

विशेषार्थ—जो जिनवाणीको साधुओंके मुखारविंदसे प्रेमपूर्वक व भक्तिपूर्वक सुनें उसको श्रावक कहते हैं यह शब्दार्थ है। जिन आगमका अभ्यासी व भक्त हो वह श्रावक है, जो शास्त्रज्ञानसे अपने भीतर संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य बढाता चला जावे। यहां जो ग्यारह प्रतिमाके नाम

आए हैं इनमें छठी प्रतिमाका नाम अनुराग भक्ति है। जब कि रत्नकरंडमें इसका नाम रात्रि भुक्ति त्याग है व अमितगति श्रावकाचारमें दिवामैथुन त्याग है। इस भेदका कारण यह समझमें आता है कि श्री समंतभद्राचार्यके मतमें रात्रिभोजनका त्याग छठी प्रतिमाके पहले तक यथाशक्ति अभ्यास रूप था, कोई यदि पूर्णतया त्यागे तो उचित ही था, परंतु यदि न त्याग कर सके तो छठी श्रेणीमें भले प्रकार त्यागना उचित था, स्वयं करे भी नहीं, करावे नहीं, अन्य आचार्योंने यह विचारा होगा कि रात्रि भोजनका त्याग तो दर्शन व व्रत प्रतिमामें ही होजाना चाहिये, छठी तक शेष न रहना चाहिये। इसलिये दिवामैथुन त्याग कराया है। तारणतरणजीने अनुराग भी नाम रक्खा है कि राग गृहस्थका हटा देना, आत्मामें विशेष भक्ति रखना जिससे आगे ब्रह्मचर्य पाल सके। दिवा मैथुन त्यागमें करीब २ अनुराग त्याग आजाता है। जब राग घटाएगा तब दिवसमें मैथुनसे पूर्णपने विरक्त रहेगा। शेष सब नाम श्री समन्तभद्राचार्यके अनुकूल हैं। इनमें पांच अणुव्रतोंको अधिक अधिक बढाया जाता है।

श्लोक—अहिंसा अनृतं येन, स्तेयं पंच परिग्रहं।
शुद्ध तत्व हृदये चिंते, सार्द्धं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ ३८१ ॥
प्रतिमा उत्पाद्यते येन, दर्शनं शुद्ध दर्शनं।
ॐ वंकारं च विंदते, मल पच्चीस विमुक्तयं ॥ ३८२ ॥

अन्वयार्थ—(येन अहिंसा अनृतं) जो अहिंसा, असत्य त्याग (स्तेयं पंच परिग्रहं) चोरी त्याग, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इनको अणुव्रत रूपसे पाले (हृदये शुद्ध तत्व चिंते) हृदयमें शुद्ध तत्वोंको-यथार्थ सात तत्वोंको चिंतवन करे (सार्द्धं ज्ञानमयं ध्रुवं) साथमें ज्ञानमई निश्चय शुद्धात्माका अनुभव करे (येन प्रतिमा उत्पाद्यते) तब वह प्रतिमाको प्रारम्भ करता है (दर्शनं शुद्ध दर्शनं) दर्शन प्रतिमामें सम्यग्दर्शन अतीचार रहित शुद्ध होना चाहिये (ॐ वंकारं च विंदते) ॐ मंत्रका जहां अनुभव किया जावे (मल पचीस विमुक्तयं) जहां पचीस दोष छोडे जावें।

विशेषार्थ—दर्शन प्रतिमाका स्वरूप यह है कि श्रावक अहिंसादि पांच अणुव्रतोंका पालना

प्रारम्भ करदे। स्थूलपने यथाशक्ति पाले। इनके अतीचारोंका विचार व्रत प्रतिमामें होसकेगा यहां अभ्यास मात्र अतीचार बचानेकी कोशिश करे तथा स्वपर तत्वको भिन्न२ विचारे तथा मुख्यतासे शुद्धात्मानुभवका विशेष अभ्यास करे। सम्यग्दर्शनको २५ दोष रहित शुद्ध पाले। ॐ के द्वारा पांच परमेष्ठीका ध्यान करे। परिणाम सदाकाल मोक्षमार्गमें उमंगरूप रक्खे।

श्री रत्नकरंड श्रावकाचारमें लिखा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पंचगुरुचरणशरणो, दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥ १३७ ॥

भावार्थ—जो दर्शन प्रतिमाका धारी है वह शुद्ध सम्यग्दर्शनको पाले, संसार शरीर व भोगोंसे वैरागी हो, पंच परमेष्ठीके चरणोंका भक्त रहे व मोक्षमार्ग पर चलने लगे अर्थात् पांच अणुव्रतोंका स्थूलपने अभ्यास करे।

अहिंसा अणुव्रतमें—संकल्पी हिंसा त्यागे, आरंभीके त्यागका मात्र अभ्यास करे, वृथा न करे। अमितगति श्रावकाचारमें जैसा कहा है—

स्थावरघाती जीवत्रससंरक्षी विशुद्धपरिणामः। योऽक्षविषयान्निवृत्तः सः संयतासंयतो ज्ञेयः ॥ ५–६ ॥

हिंसाद्वेधा प्रोक्ताऽरंभानारंभजत्वतोदक्षैः। गृहवासतो निवृत्तो द्वेधापि त्रायते तां च ॥ ६–६ ॥

गृहवाससेवनरतो मंदकषायः प्रवृत्तिरम्भाः। आरम्भजां स हिंसां शक्नोति च रक्षितुं नियतम् ॥ ७–६ ॥

भावार्थ—जो जीव स्थावरोंकी हिंसाको त्यागने असमर्थ है तथा त्रस जीवोंकी भलेप्रकार रक्षा रहित है, इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त है, विशुद्ध परिणामधारी है वह देश व्रतका धारी श्रावक होता है। हिंसा दो प्रकारकी है-आरम्भी दूसरी अनारम्भी या संकल्पी। जो गृहवासके त्यागी मुनि हैं वे दोनों प्रकारकी हिंसाके त्यागी होते हैं। जो गृहवासमें हैं मंद कषायधारी हैं व आरम्भमें प्रवृत्ति रखते हैं वे नियम रूपसे आरम्भ जनित हिंसाके छोडनेको असमर्थ होते हैं। आरम्भी हिंसा तीन प्रकारसे होसक्ती है।

१–उद्यमी—असिकर्म (शस्त्र प्रयोग द्वारा), मसिकर्म (लेखन कर्म), कृषि कर्म, वाणिज्य कर्म, शिल्प कर्म, विद्या कर्म (कला नृत्य गानादि) इन छः प्रकारके कार्योंके द्वारा न्यायपूर्वक गृहस्थीको आजीविका करनी पडती है तब इन उद्यमोंमें विचार पूर्वक करते हुए भी जो त्रस स्थावरकी हिंसा होती है वह उद्यमी हिंसा है।

२-गृहारंभी—जो घरके कामकाजमें, भोजनादि आरंभमें, मकान, कूप, बावड़ी, बाग बनानेमें हिंसा होती है वह गृहारंभी है।

३-विरोधी—जो कोई दुष्ट चोर, बदमाश या शत्रु जान मालको कष्ट देनेको उतारू हो व देशका नाश करे तथा किसी अन्य उपायसे उनका निरोध न होसके तो उनसे अपनी व अपने आधीनोंकी रक्षाके हेतु जो शस्त्रका प्रयोग करना उसमें जो विरोधी मानवोंकी हिंसा होगी वह विरोधी हिंसा है।

गृहस्थ श्रावक इन तीन प्रकारकी हिंसाको छोड़ नहीं सक्ता-यथाशक्ति कम करता है परंतु संकल्पी हिंसा त्रस जंतुओंकी नहीं करता है। वृथा त्रस घात नहीं करता है जैसे शिकार खेलकरके, पशुबलि करके व मांसाहारके निमित्त वध नहीं करता व कराता है। जैसा अमितगति महाराज कहते हैं—

देवातिथिमंत्रौषधिपित्रादिनिमित्ततोपि संपन्ना। हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥ २९–६ ॥

भावार्थ—देव, गुरु, औषधि, पितर आदिके निमित्त की गई हिंसा भी नरकमें डालती है तो और प्रकार करी हुई नर्कमें क्यों न डारे ?

हिंसादि पांच पापोंसे गृहस्थीके छः कोटि त्याग होता है, ९ कोटि साधुओंके होता है। जैसा अमितगति कहते हैं—

त्रिविधा द्विविधेन मता विरतिर्हिंसादितो गृहस्थानां। त्रिविधा त्रिविधेन मता गृहचारकतो निवृत्तानां ॥१९–६॥

भावार्थ—गृहस्थोंके हिंसादि पापोंका त्याग तीन मन, वचन, कायके द्वारा करना व कराना नहीं इस तरह छः प्रकार त्याग है। मुनियोंके जो गृह त्यागी हैं-मन, वचन कायके द्वारा करना, कराना व अनुमोदना ऐसे ९ प्रकार त्याग है। गृहस्थीकै अनुमोदना त्याग १० वीं प्रतिमामें होती है। ९वीं तक करना व कराना मात्रका त्याग है। जहांतक गृहस्थ हैं वहांतक अनेक कार्योंमें अनुमति देनी पड़ जाती है।

सत्य अणुव्रतमें गृहस्थीको आरम्भ कार्य सम्बन्धी वचन जो हिंसाके कारण हैं उनके सिवाय अन्य प्रकार असत्य वचनका त्याग होता है। जैसा पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुं । ये तेपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुंचंतु ॥ १०१ ॥

भावार्थ—गृहस्थी भोग व उपभोगके साधन करनेके लिये हिंसाकारी वचन बोलना छोड नहीं सक्ता। उसके सिवाय समस्त प्रकार असत्यको नित्य ही छोडता है। जैसे प्रमत्त भाव सहित प्राणी-वध करना हिंसा है, वैसे प्रमत्त भाव सहित अप्रशस्त या प्राणी पीडाकारी वचन बोलना अनृत है। प्रमत्त भाव सहित परवस्तुको विना दिये लेना चोरी है। प्रमत्त भाव सहित मैथुन करना अब्रह्म है। परिग्रहमें मूर्छा रखना परिग्रह है।

असत्य चार प्रकार है-१—वस्तु हो कहना नहीं है। २—वस्तु नहीं है कहना है। ३—वस्तु हो कुछ कहना कुछ, ४—गर्हित, सावद्य, अप्रिय, कठोर, हास्यमय, बकवादमय, मर्मछेदक वचन कहना गर्हित है, आरंभ सम्बन्धी वचन कहना सावद्य है। अरति, भय, शोक, वैर कलह करानेवाला वचन कहना अप्रिय है। इन सबमें मात्र सावद्य वचनोंका त्याग गृहस्थी अणुव्रतीके नहीं बन सक्ता है, परन्तु अन्य सर्व प्रकारके असत्य वचनोंका वह त्याग करता है। गिरी, पडी, भूली हुई विना दी वस्तुको कषाय भावसे उठा लेना चोरी है, इसका त्याग गृहस्थको जरूरी है। अपनी विवाहिता स्त्रीके सिवाय परस्त्रीका त्याग ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें कहा है—

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्। तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥ १०६ ॥

भावार्थ—गृहस्थ श्रावक कूपादिका जल विना दिये लेनेका त्याग नहीं कर सक्के, इसी तरह अन्य फल लकडी मिट्टी आदिको भी विना दिये लेसक्के हैं, जिनके लिये मनाई नहीं है। अन्य सर्व विना दी हुई वस्तुको लेनेका त्याग करना उचित है। ईमानदारी व सचाईका पैसा लेना यही अचौर्य अणुव्रत है। ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप यहीं कहा है—

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवंति न हि मोहात्। निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥ ११० ॥

भावार्थ—जो मोहके कारण अपनी विवाहिता स्त्री मात्रका भी त्याग नहीं कर सक्के उनको उचित है कि शेष सर्व प्रकारकी स्त्रियोंके सेवनका त्याग करें। वेश्या, परस्त्री, दासी आदिसे विरक्त रहे।

योपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्यादि। सोपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥ १२८ ॥

भावार्थ—जो धन धान्यादि परिग्रहको बिलकुल छोड न सके उसको कम करना योग्य है क्योंकि त्यागरूप ही मोक्षतत्व है।

१० प्रकारका परिग्रहका जन्म पर्यंतके लिये नियम करना चाहिये। १–क्षेत्र—जगह कितनी रक्खी, २–वास्तु—अपनी मालकीके कितने मकान रक्खे, ३–हिरण्य—चांदी या रुपये कितने रक्खे, ४–सुवर्ण—सोना या जवाहरात क्या २ रक्खे, ५–धन—गाय भैंसादि कितने रक्खे, ६–धान्य—अनाज अपने खर्चका एक साथ कितना रक्खूंगा, ७–दासी—दासी कितनी रक्खूंगा, ८–दास—दास कितने रक्खूंगा, ९–कुप्य—कपडे कितने रक्खूंगा, १०–भांड—वर्तन कितने रक्खूंगा।

इनका प्रमाण जन्म पर्यंत करले। कुल जायदाद कितनेकी रखूंगा यह एक मुष्ट भी प्रमाण करले। जब उतना प्रमाण पूरा होजावे तब आप फिर कमाना छोड दे। अपनी मिलकियत हटाले। पुत्रादि अपनी सम्पत्तिके लिये स्वयं उत्तरदायी है। इन पांच अणुव्रतोंको सरलपने धारण दर्शन प्रतिमासे ही होजाना चाहिये। इन पांच व्रतोंको दृढतासे पालनेके लिये व उनकी वृद्धिके लिये हर-एक व्रतकी पांच पांच भावनाएं हैं उनको विचारते रहना चाहिये। ये भावनाएं मुनिके लिये पूर्ण हैं, श्रावकके लिये यथाशक्ति हैं।

१–अहिंसा अणुव्रतकी पांच भावनाएँ—

वांगमनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥ ४ ॥

अर्थात्—१–वचन गुप्ति—वचनकी सम्हाल कि हिंसाकारी वचन न बोलूं, २–मनोगुप्ति—मनमें हिंसक भाव न लाऊँ, ३–ईर्या समिति—आगे जमीन देखकर चलूँ, ४–आदान निक्षेपण समिति—कोई वस्तु उठाऊँ व धरूं तो देखकर, ५–आलोकित पान भोजन—खानपान देखकर बनाऊं व करूं।

२–सत्य अणुव्रतकी पांच भावनाएं—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ॥ ५–७ ॥

अर्थात्—१–क्रोधका त्याग करूं–वश रक्खूं, २–लोभका त्याग करूं, ३–भीरुता या भयका त्याग करूं, ४–हास्यका त्याग करूं क्योंकि क्रोध लोभ भय हास्यके कारण असत्य बोला जाता है, ५–अनुवीची भाषण–शास्त्रके अनुसार वचन बोलूं।

३-अचौर्यव्रतकी पांच भावनाएं—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्म्माविसंवादाः पंच ॥ ६-७ ॥

अर्थात्—१-शून्य स्थानमें ठहरना, २-छोडे हुए स्थानमें ठहरना, ३-दूसरा मना करे वहां न ठहरना व आप दूसरेको आनेसे मना न करना, ४-भोजनकी शुद्धि रखना, अंतरायका कारण होने-पर भोजन न कर लेना, ५-साधर्मी भाई व बहनोंसे झगडा धर्म वस्तुके निमित्त न करना कि यह मेरी या तेरी नहीं है।

४-स्त्री ब्रह्मचर्य व्रतकी पांच भावनाएं—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरागनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ ७-७ ॥

अर्थात्—१-स्त्रियोंमें राग बढानेवाली कथाओंको पढना, २-उनके मनोहर अंगका देखना, ३-पूर्व भोगोंकी स्मृति, ४-कामोद्दीपक पदार्थ खाना, ५-अपने शरीरका शृंगार करना।

परिग्रह त्याग व्रतकी पांच भावनाएं—

मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥ ८-७ ॥

अर्थात्—पांचों इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थ मनोज्ञ या अमनोज्ञ हों उनमें राग द्वेष नहीं करना। व्रतीको और भी भावनाएं भानी चाहिये।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनं ॥ ९-७ ॥

भावार्थ—ये हिंसादि पांच पाप इस लोक व परलोकमें नाशकारी व निन्दाकारी हैं।

दुःखमेव वा—॥ १०-७ ॥ ये पांच पाप दुःखरूप ही हैं, दुःखोंके कारण हैं।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥ ११-७ ॥

अर्थात्—सर्व प्राणियोंपर मैत्रीभाव रहे, २-गुणवानों पर प्रमोदभाव रहे, ३-दुःखियोंपर दयाभाव रहे, ४-विनय रहितों पर माध्यस्थभाव रहे।

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं।

अर्थात्—जगतका दुःखमय स्वभाव व कायका अशुचि स्वभाव धर्मानुराग व वैराग्यके लिये विचारते रहना चाहिये।

इन भावनाओंको ध्यानमें लेते हुए पहली प्रतिमावालेको पांच अणुव्रतोंका अभ्यास करना चाहिये। देव पूजादि षट्कर्म पालते रहना चाहिये। पांच परमेष्ठीमें दृढ़ भक्ति रखना चाहिये तथा सम्यक्वको २५ दोष रहित पालना चाहिये।

श्लोक—मूढत्रयं न उत्पाद्यंते, लोकमूढं न दिष्टते।
जेतानि मूढदृष्टी च, तेतानि दृष्टि न दीयते ॥ ३८३ ॥

अन्वयार्थ—(मूढत्रयं उत्पाद्यंते) दर्शन प्रतिमाधारीके तीन मूढता नहीं उत्पन्न होती हैं (लोकमूढं न दिष्टते) पहली लोकमूढता नहीं दिखलाई पडती है (जेतानि मूढदृष्टी च) जितनी जगतमें मूढताईकी श्रद्धाएँ हैं (तेतानि दृष्टि न दीयते) उनपर यह श्रावक अपनी दृष्टि नहीं देता है। उनपर कभी श्रद्धा नहीं लाता है।

विशेषार्थ—यद्यपि २५ मल दोषका कथन पहले कर चुके हैं तथापि प्रकरणवश उपयोगी जानकर यहां कहते हैं। तीन मूढतामें यह श्रावक नहीं फंसता है। प्रथम लोकमूढतामें जितने प्रकारकी लोकमें मूढताएं फैली हुई हैं उन सबको मूढता समझकर कभी उनपर श्रद्धा नहीं लाता है। जैसे नदीमें स्नानसे व समुद्रमें स्नानसे पुण्य होगा, पर्वतसे गिरनेसे व नदीमें पडनेसे पुण्य होगा, अग्निमें सती होनेसे पतिव्रत धर्म पलेगा, थैली पूजनेसे रुपया आयगा, तलवार पूजनेसे विजय होगी, कलम दावात पूजनेसे खूब व्यापार चलेगा, दूकानकी दिहली पूजनेसे बहुत व्यापारी आएंगे, दिनमें भूखा रहनेसे व रात्रिको खानेसे पुण्य होगा, दिवालीमें जूआ खेलनेसे बहुत धन मिलेगा, होलीमें भांग पीना धर्म है, होली जलाना व होलीमें बकना धर्म है इत्यादि हजारों लोकमूढता हैं उन सबको विचारवान दार्शनिक नहीं मानता है।

श्लोक—लोकमूढं देवमूढं च, अनृत अचेत दिष्टते।
त्यक्तये शुद्धदृष्टी च, शुद्ध सम्यक् रतो सदा ॥ ३८४ ॥

अन्वयार्थ—(लोकमूढं च देवमूढं) लोकमूढताके समान देवमूढताको भी (अनृत अचेत दिष्टते) मिथ्यारूप व अज्ञानरूप ज्ञानी सम्यग्दृष्टी देखता है। इसलिये (शुद्धदृष्टि च त्यक्तये) शुद्ध सम्यग्दृष्टी इन

मूढताओंको छोड देता है (शुद्ध सम्यक्त रतः सदा) वह सदा ही शुद्ध आत्मानुभव रूप सम्यग्दर्शनमें तन्मय रहता है।

विशेषार्थ—जैसे लोकमूढता मिथ्यात्व व अज्ञान है वैसे देवमूढता भी मिथ्यात्व व अज्ञान है। रागी द्वेषी देव तो स्वयं संसारासक्त हैं, उनकी पुजा करना वीतरागताका कारण नहीं होसक्ता है। अतएव किसी लौकिक प्रयोजनवश इन देव जातिके जीवोंकी भक्ति करना बिलकुल मूर्खता है अथवा जिनमें देवपना बिलकुल नहीं है ऐसे, गौ, मोर, घोडा आदिको देव मानकर पूजना या किसी पत्थरके खंडको रागी द्वेषी देवकी स्थापनामें पूजना सो सब देवमूढता है। सम्यग्दृष्टी सम्यग्ज्ञानी होता है। वह जानता है कि परिणामोंको उज्वल करना चाहिये। उसका उपाय मात्र सर्वज्ञ वीतराग देवका आराधन है। तथा किसी विषयकी चाह करके किसी देवको पूजना मिथ्यात्वका अंग है, निःकांक्षित अंगसे विरुद्ध है। इस तरह वह ज्ञानी कभी भी मिथ्या श्रद्धान व मिथ्याज्ञानके वश हो मूढतासे देखादेखी किसी कुदेवको या किसी अदेवको पूज्यनीय देव नहीं मान बैठता है। वह तो शुद्ध सम्यक्त भावमें प्रेमी बन रहा है। हरसमय आत्मानुभवका खोजी है। आत्मानन्दका विलासी है, वह संसार शरीर भोगोंसे उदास है, वह क्षणभंगुर भोगोंकी कामनासे कभी भी देव मूढता नहीं करता।

श्लोक—पाखण्डी मूढ उक्तं च, अशाश्वतं असत्य उच्यते।
अधर्मं च प्रोक्तं येन, कुलिंगी पाखण्ड त्यक्तयं ॥ ३८५ ॥

अन्वयार्थ—(पाखंडी मूढ उक्तं च) पाखंडी या गुरु मूढताको कहते हैं। जो (अशाश्वतं असत्य उच्यते) क्षणिक पदार्थोंको क्षणिक न कह करके चिरस्थायी कहे। (येन च अधर्मं प्रोक्तं) अधर्मका भाषण करे सो (कुलिंगी पाखण्ड) कुभेषधारी साधु हैं उनकी भक्ति (त्यक्तयं) छोडनी योग्य है।

विशेषार्थ—जो निर्ग्रंथ आरम्भ परिग्रह रहित वीतरागी तत्वज्ञानी साधु हैं वे मोक्षमार्गी हैं उनकी भक्ति मोक्षमार्गमें प्रेरक है, परन्तु जो साधु भेष धारकरके आरम्भ परिग्रहमें लीन हैं, हिंसा होते हुए अहिंसा मानते हैं, संसारके प्रपंचसे बाहर नहीं हैं, ऐसे साधुओंकी कोई बाहरी महिमा या उनका चमत्कार देखकर या जानकर उनपर मोहित होजाना व उनकी भक्ति करने लग जाना

सो पाखंड या गुरु मूढता है। सम्यक्ती कभी भी शास्त्रके मार्गसे विरुद्ध चलनेवालोंकी भक्ति नहीं करता है। बहुधा कोई लौकिक आशासे शिथिल श्रद्धावान कुभेषी साधुओंकी सेवा करने लग जाता है जो उसके सम्यक्त भावको मलीन करनेवाली है। सम्यक्ती भलेप्रकार गुरु मूढताके दोषसे बचता है।

श्लोक—अज्ञान षट्कश्चैव, त्यक्तते ये विचक्षणाः।
कुदेव कुदेव धारी च, कुलिंगी कुलिंग मान्यते॥ ३८६ ॥
कुशास्त्रं विकहा रागं च, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं।
कशास्त्रं राग वर्द्धते, अभव्यं नरयं पतं॥ ३८७ ॥

अन्वयार्थ—(अज्ञान षट्कश्चैव) अज्ञान स्वरूप छः अनायतन सेवा भी है। (ये विचक्षणः त्यक्तते) जो चतुर हैं वे इनकी संगति त्याग देते हैं (कुदेव कुदेव धारी च) एक तो कुदेव, दूसरे कुदेवोंके भक्त, (कुलिंगी कुलिंग मान्यते) कुभेषी साधु और उनके मानने वाले (कुशास्त्र विकहा रागं च) खोटे शास्त्र जिनमें विकथाएं हों व राग वर्द्धक हों व उनके पढने व मानने वाले (शुद्ध दृष्टितं त्यक्तते) इन छः ही संगति सम्यग्दृष्टी छोड देता है (कुशास्त्रं राग वर्द्धते) खोटे शास्त्र राग बढानेवाले होते हैं (अभव्यं नरयं पतं) अभव्य जीवका पतन नरकमें होजाता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन पालनेके लिये जैसे तीन मूढतासे बचना चाहिये वैसे छः अनायतनसे भी बचना चाहिये। संगतिका बडा भारी असर बुद्धिपर पडता है इसलिये सम्यग्दर्शनकी रक्षाके हेतु यह सम्हाल बताई है कि वह ऐसी संगति न रक्खे व इस तरह संगति कोई न करे जिससे व्यवहार व निश्चय सम्यक्तमें कोई प्रकारकी बाधा होजावे। धर्मकी वृद्धिके स्थानोंको आयतन कहते हैं। जो इनके प्रतिकूल हों वे अनायतन हैं। सर्वज्ञ वीतराग देवकी संगति जब धर्मायतन है तब रागी द्वेषी देवोंकी संगति अधर्मायतन है। क्योंकि उनकी संगति करनेसे उनकी भक्तिकी अनुमोदना होना व बुद्धिमें विपरीत भाव होजाना संभव है। इसीतरह रागी द्वेषी देवोंके जो भक्त हैं वे भी धर्मायतन नहीं हैं। जो वीतराग सर्वज्ञ भगवानके भक्त हैं उनकी संगतिसे सच्चा श्रद्धान दृढ

होगा परंतु जो उनसे विपरीत देवके श्रद्धानी हों उनकी संगति शिथिलता करनेवाली हैं इससे ऐसी न करे जिससे अपने धार्मिक ज्ञान व आचरणमें व श्रद्धामें कमी आजावे। बहुधा रागी द्वेषी देवोंके आराधकोंकी संगतिसे उनके मोक्षमार्गविपरीत सेवाभक्तिकी अनुमोदना करनी पडती है तथा दबावमें आनकर इच्छा न रहते हुए भी उनके समान भक्ति करनेमें बाध्य होना पडता है। वे यदि अनछना पानी पीते हैं तो कभी२ अपनेको भी वे लाचार कर सक्ते हैं। वे यदि अभक्ष्य भक्षण करते हैं तो संगति करनेवालेको भी ऐसे अभक्ष्य खानेमें झुक जाना पडता है। इसी तरह कुलिंगी रागी द्वेषी साधुओंकी भी सेवा न करनी चाहिये। वे यदि मोक्षमार्गसे विपरीत जारहे हैं तो उनकी संगतिका ऐसा असर मनमें पड़ेगा कि आप भी सुमार्गसे कुमार्गपर आजायगा व उनके यथार्थ न प्रवर्तावनेवाले उपदेशोंको सुनकर बुद्धिमें बुरा असर पडनेसे यह व्यवहार सम्यग्दर्शनसे गिर जायगा इसी तरह जो कुगुरुओंके भक्त नरनारी हैं उनकी भी संगति मना है क्योंकि वे अपनी बातोंसे इस श्रद्धालुका मन कुगुरुकी भक्तिमें प्रेरित करके इसी तरह स्त्री कथा, आहार कथा, देश कथा व राजा कथा, ऐसी चार विकथाको पुष्ट करनेवाले, संसारसे राग बढानेवाले शास्त्रोंको पढने सुननेकी संगति भी न करनी चाहिये, न इनके पढने व सुननेवालोंकी संगति करनी चाहिये।

परिणामोंमें शुद्ध सम्यग्दर्शन बना रहे इसलिये ऊपर लिखित छहों अनायतनोंसे बचना चाहिये। और जो सुदेव, सुगुरु व सुशास्त्र हैं व उनके सेवक हैं उनकी संगति रखनी चाहिये, जिससे ज्ञान व श्रद्धान व चारित्रकी दृढ़ता हो। यहां इतना ही प्रयोजन है कि धार्मिक भावोंमें शिथिलता आवे ऐसा व्यवहार नहीं रखना चाहिये। किंतु लौकिक लेन दैन व्यवहारकी यहां कोई मनाई नहीं है। प्रेम व एकता रखनेकी कोई मनाई नहीं है। जैसे एक ही घरमें चार भाई हों। दो तो शुद्ध मर्यादाका भोजन खाते हैं व दोको इसका कोई परहेज न हो तो वे जो शुद्ध भोजन करनेवाले हैं वे अपने दूसरे दोनों भाइयोंके साथ रहते हुए भी ऐसी सम्हाल जरूर रखते हैं कि उनके शुद्ध खानपानके नियममें बाधा नहीं आवे। इसी तरह सम्यग्दृष्टी जगतके मानवोंके साथ भाईपनेका व्यवहार रखता है। तौभी अपने श्रद्धान ज्ञान चारित्रको मलीन नहीं होने देता है। अपने रत्नत्रय धर्मकी भलेप्रकार रक्षा रहे इस तरह वर्तन करता है। यही प्रयोजन छः अनायतनसे बचनेका है। जो

अभव्य जीव ऐसी सम्हाल नहीं रखता है वह धीरे२ शिथिल अज्ञानी होता हुआ कुमार्गी बन जाता है और मिथ्यात्वकी कीचमें फंसकर नर्क चला जाता है।

श्लोक—अज्ञानी मिथ्यासंयुतं, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं।
शुद्धात्मा चेतना रूपं, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥ ३८८ ॥

अन्वयार्थ—(अज्ञानी) अज्ञानी जीव या शिथिलज्ञानी जीव (मिथ्यासंयुतं) मिथ्यात्व पोषक संगतिके कारण (शुद्ध दृष्टितं त्यक्तते) शुद्ध सम्यग्दर्शनको छोड़ बैठता है तथा (सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं शुद्धात्मा चेतना रूपं) यथार्थ ज्ञानमई निश्चल शुद्धात्माके चैतन्यमई स्वभावको भी छोड़ बैठता है।

विशेषार्थ—ज्ञानी जीव कुसंगतिके प्रभावसे जरा भी शिथिल हुआ कि श्रद्धानको मलीन कर सक्ता है। तब जहां व्यवहार सम्यक्त बिगड़ा तब निश्चय सम्यक्त भी बिगड़नेका अवसर आजाता है। रागभावकी अधिकता होनेसे शुद्धात्मानुभवकी रुचि घटती जाती है और यह उपशम या क्षयोपशम सम्यक्ती जीव अनन्तानुबन्धी तथा मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यात्वी होजाता है। परिणामोंकी विचित्र गति है। इससे बोधिदुर्लभ भावना भानी चाहिये कि जिस रत्नत्रयका लाभ बड़े ही भाग्यसे व बड़ी ही कठिनतासे मिला है। उस रत्नत्रयका सम्बन्ध बना रहे, वह हाथसे न निकल जावे ऐसी भावना भाते हुए सदा ही सम्यक्त भाव वर्द्धक संगतिमें रहना चाहिये। जैसे मदिरा व मांसत्यागीको व द्यूत रमण त्यागीको मदिरा व मांसकी व द्यूतकी व इनके सेवनवालोंकी ऐसी संगति बचाना उचित है जिससे वह उन व्यसनोंमें न उलझ जावे। सम्यक्तका मिलना बड़ा ही दुर्लभ है इससे भले प्रकार रक्षित रखना चाहिये।

श्लोक—मदाष्टं संशय अष्टं च, त्यक्तते भव्य आत्मना।
शुद्ध पदं ध्रुवं सार्थं, दर्शनं मल मुक्तयं ॥ ३८९ ॥

अन्वयार्थ—(मदाष्टं) आठ मद (संशय अष्टं च) आठ शंकादि दोष इन्हें (भव्य आत्मना त्यक्तते) भव्य आत्मा छोड़दें क्योंकि (शुद्ध पदं ध्रुवं सार्थं दर्शनं मल मुक्तयं) शुद्ध पद मय निश्चल यथार्थ सम्यग्दर्शन मल रहित ही शोभता है।

विशेषार्थ—तीन मूढता छः अनायतनके त्यागके साथ आठ प्रकारका मद न करे। जाति, कुल, धन, अधिकार, रूप, बल, विद्या व तप इन बातोंकी उत्तमता व अधिकता होनेपर भी सम्यक्ती इनका सम्बन्ध क्षणिक व कर्मजनित जानकर इनके संयोगसे अभिमान नहीं करता है। इन आठों मदोंसे बचकर मार्दव भाव व नम्रतासे व्यवहार करता है तथा आठ शंकादि दोषसे बचता है। जिनमतमें शंका नहीं रखता है व कोई भय मनमें लाकर जिनधर्मकी सेवा नहीं छोडता है। कोई प्रकार संसारके विषयभोगोंकी इच्छा करके धर्म सेवन नहीं करता है। किसीको दुःखी, रोगी, दलिद्री देखकर ग्लानि भाव नहीं लाता है। मूढताईसे कोई धर्मक्रिया नहीं करता है, अपने आत्मीक धर्मको बढ़ाता है, दूसरोंके औगुणोंको प्रगट करनेकी आदत नहीं रखता है, धर्ममें अपनेको व दूसरोंको दृढ़ रखता है। साधर्मी भाइयोंसे गौवत्स सम प्रेम रखता है तथा धर्मकी प्रभावना करता है। हर प्रकारसे उन्नतिका साधन मिलाता है।

इस तरह जो आठ अंग न पालें तो ये आठ दोष होजाते हैं। सम्यक्ती २५ दोषोंको भलेप्रकार टालकर सम्यक्तको निर्मल रखता है, यही दर्शनिक श्रावक पहली प्रतिमाके धारीका कर्तव्य है।

श्लोक—जे के वि मल संपूर्ण, कुज्ञानं त्रिरतो सदा।
एतानि संग त्यक्तंति, न किंचिदवि चिंतए ॥ ३९० ॥

अन्वयार्थ—(जे के वि मल संपूर्ण) जो कोई भी इन पचीस दोषोंसे पूर्ण हैं (सदा कुज्ञानं त्रिरतः) व हमेशा कुमति आदि तीन कुज्ञानमें रत हैं (एतानि संग त्यक्तंति) इनकी भी संगति नहीं करनी चाहिये (किंचिदपि न चिंतए) कुछ भी चिंतवन न करना चाहिये

विशेषार्थ—जैसे मल लिप्त कपडा शोभता नहीं वैसे मल लिप्त सम्यक्त शोभता नहीं। मल लिप्त वस्त्रवालेसे भेट करना, उससे मिलना जुलना, मिलनेवालेको भी मल लिप्त करनेवाला है उसी तरह हरएक सम्यक्तके रक्षकको उचित है कि वह इन ऊपर कथित २५ दोषोंको स्वयं अपनेमें न लगावे, निर्मल सम्यक्त रक्खे तथा जो कोई अन्य स्त्री या पुरुष मल सहित हैं, शंकाशील हैं, विषयोंकी आकांक्षावान हैं, मानी हैं, मूढताईसे कुधर्मको सेते हैं, परम निंदक हैं, धर्मप्रेम रहित हैं, कुसंगतिके धारी हैं तथा मिथ्यात्वकी बुद्धि रखते हैं व मिथ्या शास्त्रोंके व रागवर्द्धक पुस्तकोंके पाठी हैं व राग-

द्वेष लिप्त अधर्मका उपदेश देनेवाले हैं व कुअवधिज्ञान धारी हैं उन सबकी भी संगति नहीं करनी चाहिये न उनकी संगतिका विचार करना चाहिये। मन, वचन, कायसे मिथ्यात्वमें व तीव्र रागमें पटकनेवाली संगतिसे बचकर रहना चाहिये। अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व कर्मके उदय होनेवाले निमित्त कारणोंको बचाना चाहिये। क्योंकि बहुतसे कर्मोंका उदय बाहरी निमित्तके आधीन होता है। जिन निमित्तोंसे सम्यक्त भाव दृढ होता जावे उन हीका प्रसंग सदा मन, वचन, कायसे करना चाहिये। सम्यक्तमें बाधाकारक प्रसंगोंसे माध्यस्थ भाव रखना चाहिये। सम्यग्दर्शनकी निर्मलताका उपाय दर्शनप्रतिमाधारीको भलेप्रकार करना चाहिये।

श्लोक—मलमुक्तं दर्शनं शुद्धं, आराध्यते बुधजनैः।
सम्यग्दर्शन शुद्धं च, ज्ञानं चारित्रसंजुतं ॥ ३९१ ॥

अन्वयार्थ—(मलमुक्तं दर्शनं शुद्धं) मल रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है उसीको (बुधजनैः आराध्यते) बुद्धिमानोंको आराधन करना योग्य है (सम्यग्दर्शन शुद्धं च) जहां सम्यग्दर्शन शुद्ध है वहां (ज्ञानं चारित्र संजुतं) ज्ञान और चारित्र भी शुद्ध है।

विशेषार्थ—ज्ञान कितना भी हो यदि सम्यक्त शुद्ध नहीं है तो ज्ञान भी शुद्ध नहीं है। चारित्र कितना भी पाले, यदि सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं है तो चारित्र शुद्ध नहीं है। सम्यग्दर्शनके होते हुए ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यग्चारित्र नाम पाता है। नहीं तो ग्यारह अंग नौ पूर्व तकका ज्ञान तथा श्रावकका अनेक प्रकारका चारित्र व मुनियोंका आचरण व तप सर्व ही मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र है। जहां अंतरंगमें मिथ्यात्वकी वासना होगी–विषयाकांक्षा होगी, ख्याति लाभ पूजादिकी चाह होगी वहीं सर्व ज्ञान व चारित्र मिथ्या कहलायगा। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको दृढ़तासे रखे। उसके दृढ़ रहनेका उपाय यह है जैसा कि शांतिपाठमें कहा है—

शास्त्राभ्यासो जिनपदनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः, सद्वृत्तानां गुणगुणकथा दोषवादे च मौनं।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे। संपद्यंतां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ॥

भावार्थ—धर्मप्रेमी सम्यग्दर्शनके रक्षकको निरंतर यह भावना भानी चाहिये व ऐसा ही वर्ताव

रखना चाहिये कि जबतक मोक्ष न हो मैं हरएक जन्ममें इन सात बातोंका अभ्यास करता रहूँ— (१) नित्य प्रति सम्यक्त वर्द्धक शास्त्रोंको पढता रहूँ। (२) जिनेन्द्र भगवानके चरणोंकी भक्ति करता रहूँ। (३) सदा ही साधु पुरुषोंकी संगति करता रहूँ। (४) उत्तम चारित्रवान स्त्री पुरुषोंकी कथा करता रहूँ। (५) परके दोषोंको कहनेमें मौन रहूँ। (६) सर्वसे प्यारे हितकारी वचन बोलूँ। (७) तथा आत्माके स्वरूपकी भावना करता रहूँ। इन सात बातोंका अभ्यास सम्यक्तकी दृढता करनेवाला है। यदि इनके विरुद्ध वर्ता जायगा तौ सम्यक्तके छूटनेका अवसर आसक्ता है या सम्यक्त मलीन रहेगा। मेरा श्रद्धान पत्थरके खंभके समान अटल बना रहे ऐसी सम्हाल श्रावकको रखनी योग्य है।

श्लोक—दर्शनं यस्य हृदये शुद्धं, दोषं तस्य न पश्यते ।
विनाशं सकलं जानंते, स्वप्नं तस्य न दिष्टते ॥ ३९२ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य हृदये दर्शनं शुद्धं) जिसके हृदयमें सम्यग्दर्शन शुद्ध है (तस्य दोषं न पश्यते) उसके भीतर कोई दोष नहीं दिखलाई पडता है (सकलं विनाशं जानंते) वह सर्व जगतकी धन वस्त्रादि परिग्रहको विनाशीक जानता है (स्वप्नं तस्य न दिष्टते) उसको स्वप्नमें भी नाशवंत वस्तुका राग पैदा नहीं होता है।

विशेषार्थ—जहां शुद्धता होगी वहां मैल नहीं व जहां मैल होगा वहां शुद्धता नहीं। दोनोंका विरोध है। इसलिये जो कोई सम्यग्दर्शनको रखते हुए २५ मलोंमेंसे एक भी मलको नहीं लगाता है, सदा ही मूढतासे बचता है, किसी तरहका आभिमान नहीं करता है, परम दृढतासे आत्माकी भावना भाता है, धर्मात्माओंसे प्रेम रखता है, धर्मकी वृद्धिका यथाशक्ति उपाय करता है, उसके भीतर कोई दोष प्रवेश नहीं करसक्ते हैं। सम्यग्दृष्टी जीव, जितनी संसारकी परसंयोगजनित अवस्थाएं हैं उनको नाशवंत जानता रहता है इसीलिये उनमें राग द्वेष मोह नहीं करता है। वह जानता है कि शरीर, धन, यौवन, बल, पुस्तकोंके आश्रय विद्या, कुटुम्ब, सेवकोंका समागम तथा यह जीवन सर्व जलके बुद्बुदवत् चंचल हैं। देखते २ नष्ट होजाते हैं इसकारण इन क्षणिक पदार्थोंसे सदा ही उदासीन रहता है। सम्यग्दृष्टी चक्रवर्ती भी हो तौभी बाहरसे छः खण्डका राज्य करता दिखलाई पडता है, अंतरंगमें मात्र अपने आत्मीक राज्यको ही सम्हालता है। मेरा परमाणु मात्र भी

नहीं है ऐसी दृढ भावना सम्यक्तीके अंतरंगमें होती है। जैसे कोई न्यायवान गृहस्थ दूसरेकी वस्तुओंको कभी भी अपनी नहीं मानता है, उसी तरह सम्यक्ती शरीरादि परवस्तुओंको कभी भी अपनी नहीं मानता है। कभी स्वप्नमें भी उसका विचार नहीं होता है। जिस बातका संकल्प विकल्प स्वप्न रहित अवस्थामें हुआ करता है प्रायः स्वप्नमें वे ही सब बातें आया करती हैं। अथवा यहां यह बताया है कि उसको स्वप्न नहीं दीख पडते हैं। इसका भाव यह भी झलकता है कि वह ऐसा निश्चित होकर शयन करता है कि उसे गाढ निद्रा आजाती है। गाढ निद्रामें स्वप्न नहीं दिखता है। जब निद्रा ढीली होती है तब ही स्वप्न आते हैं। सम्यक्ती शुद्धात्माकी भावना करता हुआ ही शयन करता है व जब नींद खुल जाती है तब उसी शुद्धात्माकी भावनामें लगता है। ज्ञान वैराग्य व शुद्ध स्वरूपकी भावनाके प्रतापसे उसका शयनादि बडा ही शांत व क्षोभ रहित होता है इससे यदि अभ्यासके बलसे सम्यक्तीको स्वप्न न आवे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

श्लोक—सम्यग्दर्शनं शुद्धं, मिथ्या ज्ञानं विलीयते।
शुद्ध समयं उत्पादंते, रजनी उदय भास्करं ॥ ३९३ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्धं सम्यग्दर्शनं) जहां मल रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन है (मिथ्याज्ञानं विलीयते) वहां मिथ्याज्ञानका विलय होजाता है (शुद्ध समयं उत्पादंते) शुद्ध आत्मीक भाव पैदा होजाता है अथवा शुद्ध चारित्र झलक जाता है (रजनी उदय भास्करं) जैसे सूर्यके उदय होनेसे रात्रिका अंधकार विला जाता है और प्रभातका सुहावना प्रकाश फैल जाता है।

विशेषार्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शनके प्रकाशके सामने मिथ्याज्ञान उसी तरह नहीं ठहर सक्ता है जैसे सूर्यके उदय होनेसे रात्रि नहीं ठहर सक्ती है। सम्यक्तीके भीतर कुमति, कुश्रुति, कुअवधि कभी नहीं होते हैं। नारकीके भीतर सम्यग्दर्शनका प्रकाश होते हुए सर्व तीन ज्ञान सुन्दर मोक्ष प्राप्तिके अभिप्रायको लिये हुए होनेसे सुज्ञान रूप ही रहते हैं। सम्यग्दर्शनके होते हुए स्वरूपाचरण चारित्रका उदय होजाता है या शुद्धात्माका अनुभव प्रकट होजाता है। आत्मज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशमें फिर संसारका मोहतम कैसे रह सक्ता है। वह ज्ञानी शुद्ध नयकी दृष्टिका विशेष अभ्यास रखता है। उसको हरएक संसारी आत्माके भीतर भी पुद्गलसे भिन्न आत्माका दर्शन होता है। जैसे ज्ञानी

किसान धान्यके ढेरमें चावलोंको अलग व भूसीको अलग देखता है व तेली तिलोंके ढेरमें तेलको भूसीसे भिन्न देखता है व जौहरी खानसे निकले हुए माणिक-पन्नेके पाषाणमें रत्नको अलग व मैलको अलग देखता है व चतुर धोबी वस्त्रमें वस्त्रको अलग व मैलको अलग देखता है वैसे ही सम्यग्दर्शनधारी महात्मा आत्मासे अनात्माको भिन्न देखता हैं, सदा ही शुद्धात्माकी भावनामें दृढ रहता है। सूर्यसम तत्वज्ञानमें चमकता रहता है।

श्लोक—दर्शनं तत्व सर्धानं, तत्व नित्य प्रकाशकं।
ज्ञानं तत्व न वेदंते, दर्शनं तत्व सार्धयं ॥ ३९४ ॥

अन्वयार्थ—(तत्व सर्धानं दर्शनं) तत्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है (नित्य तत्व प्रकाशकं) अविनाशी शुद्ध तत्वका प्रकाश करनेवाला है। (ज्ञानं तत्व न वेदंते) सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान तत्वको अनुभव नहीं कर सक्ता है (दर्शनं तत्व सार्धयं) परन्तु सम्यग्दर्शन आत्म तत्वके अनुभवके साथ ही होता है।

विशेषार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे जीव आदि सात तत्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है परन्तु निश्चयनयसे शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जहांतक शुद्ध आत्म तत्वका प्रकाश नहीं होता है वहांतक ज्ञान मात्र तो है परन्तु सम्यक्त नहीं है। सम्यक्तके विना ज्ञानका कुछ भी मूल्य नहीं है। विना सम्यक्तके ज्ञान जान तो सक्ता है परन्तु स्वानुभव नहीं कर सक्ता है। जबतक स्वात्मामें थिरता न हो तबतक स्वाद नहीं आसक्ता है। अनंतानुबंधी कषायके उपशम होनेसे स्वरूपाचरण चारित्रका प्रकाश होता है, तब ही मिथ्यात्वके उपशमसे शुद्ध स्वरूपकी सच्ची रुचि होती है। यदि सम्यक्तके बाधक कर्मप्रकृतियोंका उदय हो तो कदापि शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होसक्ता है। इसीलिये सम्यग्दर्शनके लिये प्रयत्न कर्तव्य है। नित्य तत्वका विचार परम उपयोगी है। आत्मा रागादिसे, आठ कर्मादिसे, शरीरादि नौ कर्मोंसे भिन्न है ऐसा वारवार विचार करना चाहिये। सम्यक्तकी ज्योतिमें ही आत्मीक तत्वका अनुभव होता है।

श्लोक—सम्यग्दर्शनं शुद्धं, ॐ वं कारं च विंदते।
धर्मध्यानं उत्पायंते, ह्रियं कारण दिष्टते ॥ ३९५ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्धं सम्यग्दर्शनं) जब शुद्ध आत्माका अनुभव करानेवाला निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होजाता है तब ही (ॐ वं कारं च विंदते) ॐ का अनुभव होता है (धर्मध्यानं उत्पाद्यंते) धर्मध्यान पैदा होता है (ह्रियं कारेण दिष्टते) व ह्रीं मंत्रकी सहायतासे आत्माका दर्शन होता है।

विशेषार्थ—ॐ मंत्रमें अरहंतादि पांच परमेष्ठी गर्भित हैं उनका स्थूलपने विचार तो मिथ्यादृष्टीके भी होसक्ता है परन्तु उनका व्यवहारनयसे फिर निश्चयनयसे विचार व उनके भीतरसे शुद्ध आत्माको पहचानकर उसके अनुभवकी शक्ति सम्यग्दर्शनके द्वारा ही होसक्ती है। यद्यपि सम्यक्तके विना भी मुनिगण ध्यान लगाते,तपस्या करते, उपवास करते, ईर्यासमिति पालते, जीवोंकी रक्षाका ध्यान रखते, कठोर वचन नहीं कहते, शास्त्रानुसार सर्व आचरण पालते हैं तथा गृहस्थगण देवपूजा, स्वाध्याय, सामायिक, संयम, गुरुभक्ति व दानादि धर्मके कार्य करते हैं तथापि इन सर्व मुनि व श्रावककी क्रियाको धर्मध्यान सम्यग्दर्शनके विना नहीं कहा जासक्ता। क्योंकि सम्यक्तके उदय विना साधक मुनि व गृहस्थके भीतर किसी कषायका अभिप्राय रहता है। या तो मानवश या मायावश या इंद्रिय सुखके लोभवश या संसार भ्रमणके भयसे धर्मका साधन है–शुद्धात्माके अनुभवके लिये नहीं है। इसलिये उस सब साधनको धर्मध्यान नहीं कह सक्ते। जहां शुद्धात्मानुभवके अभिप्रायसे धर्म साधन होता है वहीं धर्मध्यान कहा जाता है। ह्रींमें चौवीस तीर्थंकर गर्भित हैं। इस मंत्र द्वारा भी तीर्थंकरोंके गुणोंका विचार होता है। परन्तु शुद्धात्माका अनुभव तब ही होगा तब सम्यक्त होगा। इस हेतु संसार तारक परमोपकारक सम्यग्दर्शनको बडी चेष्टाके साथ शुद्ध रखना चाहिये, उसमें कोई दोष नहीं लगाना चाहिये।

श्लोक—ॐ वं कारं ह्रींकारं च, श्रींकारं प्रतिपूर्णयं।
ध्यानं च शुद्ध ध्यानं च, अनुव्रतं सार्धं ध्रुवं ॥ ३९६ ॥

अन्वयार्थ—(ॐ वं कारं ह्रींकारं च) ॐ मंत्र, ह्रीं मंत्र तथा (श्रींकारं प्रतिपूर्णयं) श्रीं मंत्र इन तीन मंत्रोंकी पूर्णता सहित अर्थात् ॐ ह्रीं श्रीं द्वारा (ध्यानं च) ध्यान करना चाहिये तथा फिर (शुद्ध ध्यानं च) शुद्ध आत्माके ध्यानमें लवलीन होना चाहिये (अनुव्रतं सार्द्ध ध्रुवं) ऐसा ध्यान पांच अणुव्रतोंके साथ निश्चलतासे करना योग्य है।

विशेषार्थ—यहां यह बताया है कि दर्शन प्रतिमाधारी श्रावकका कर्तव्य है कि २५ दोष रहित सम्यक्तको पालते हुए व स्थूलपने पांच अणुव्रतोंका साधन करते हुए ॐ ह्रीं श्रीं मंत्रके द्वारा पांच परमेष्ठीका व चौवीस तीर्थंकरोंका स्वरूप विचार करे। दर्शन प्रतिमाधारीको उनके स्वरूपको फिर अपने आत्माके स्वरूपसे मिलान करना चाहिये। शुद्ध निश्चयनयसे अपनेको सिद्धरूप शुद्ध अनुभव करना चाहिये। केवल मात्र व्यवहार चारित्रमें ही लीन होकर व मात्र ज्ञानसे संतोष मानकर न बैठ रहना चाहिये किंतु प्रातःकाल और संध्याकाल अवश्य एकांतमें बैठकर सामायिकका अभ्यास करना चाहिये। शांत चित्त हो अनेक मंत्रोंके द्वारा पदस्थ ध्यानका व पृथ्वी आदि पांच धारणाओंके द्वारा पिंडस्थ ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। शुद्धात्माका अनुभव ही यथार्थमें धर्मका सच्चा अनुभव है। इसके अभ्यासके लिये अन्य सब चारित्र किया जाता है। ऐसा निश्चय रखके आत्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

श्लोक—आज्ञा वेदकश्चैवं, पदवी दुतिय आचार्यं।
ज्ञानं मति श्रुतं चिंते, धर्मध्यानरतो सदा ॥ ३९७ ॥

अन्वयार्थ—(आज्ञा वेदकश्चैवं) आज्ञा सम्यक्त तथा वेदक सम्यक्तको इस तरह पालते हुए (पदवी दुतिय आचार्यं) दूसरे पदका आचरण करना योग्य है (ज्ञानं मति श्रुतं चिंते) मतिज्ञान श्रुतज्ञानको चिंतवन करना योग्य है (धर्मध्यानरतो सदा) ऐसा दर्शन प्रतिमाधारी सदा धर्मध्यानमें रत रहता है।

विशेषार्थ—पहली पदवी अविरत सम्यक्तकी है उसके आगे दूसरी पदवी दर्शन प्रतिमाकी है। यद्यपि दर्शन प्रतिमावालेके सामान्यसे व्यवहार सम्यक्त तथा निश्चय सम्यक्त तीनों ही प्रकार संभव है-उपशम, वेदक व क्षायिक। परन्तु उस पंचमकालकी अपेक्षा विचारते हुए ग्रन्थकर्ताका ऐसा आशय सूचित होता है कि क्षायिक सम्यक्त तो अब संभव नहीं है तथा उपशम सम्यक्तकी स्थिति ही अन्तर्मुहूर्त है, अधिक काल ठहर नहीं सकता है-तब व्यवहार सम्यक्त तथा वेदक सम्यक्त ये ही दोनों दीर्घकाल तक इस समय इस भरतक्षेत्रमें ठहर सकते हैं। जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञा प्रमाण देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान तथा जीवादि सात तत्वोंका श्रद्धान रखना व्यवहार सम्यक्त है। इसीको यहां आज्ञा सम्यक्त कहा है। क्षयोपशम सम्यक्तको ही वेदक सम्यक्त कहते हैं वहां अनंतानुबन्धी

चार कषाय तथा मिथ्यात्व व सम्यक् मिथ्यात्वका तो उदय नहीं रहता है किंतु सम्यक्त प्रकृतिका उदय होता है जिसके उदयसे सम्यक्तमें कुछ मलीनता रहती है, सम्यक्त बना रहता है। इस सम्यक्तका काल बहुत है। दर्शन प्रतिमावालेको इस प्रकारके आज्ञा सम्यक्त व वेदक सम्यक्तकी दृढता रखते हुए दर्शन प्रतिमाका आचरण भलेप्रकार पालना चाहिये। मतिज्ञान व श्रुतज्ञानके द्वारा शास्त्रका विचार, मनन, चिंतवन करते रहना चाहिये तथा विवेकसे जगतमें व्यवहार करना चाहिये कभी दुर्बुद्धि चित्तमें न लाना चाहिये न मिथ्यात्व पोषक शास्त्रोंकी संगति करनी चाहिये। किंतु तत्व विचारके सहकारी शास्त्रोंका मनन करके धर्मध्यानकी शक्ति बढानी चाहिये तथा धर्मध्यानमें सदा लीन रहना चाहिये।

श्लोक—अनेयव्रत कर्तव्यं, तप संजमं च धारणं।
दर्शनं शुद्ध न जानंते, वृथा सकल विभ्रमः ॥ ३९८ ॥

अन्वयार्थ—(अनेयव्रत कर्तव्यं) जो अनेक व्रतोंका कर्तव्य करे (तप संजमं च धारणं) तप तथा संयमको भी धारण करे परन्तु (शुद्ध दर्शनं न जानंते) शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शनको न जाने न अनुभवे (वृथा) तो उसका व्रतादि वृथा है (सकल विभ्रमः) सर्व ही विपरीत है, मोक्षमार्ग नहीं है।

विशेषार्थ—यहां यह जोर देकर कहा है कि शुद्धात्माका अनुभव करानेवाला यदि शुद्ध सम्यक्त न हो तो सर्व ही चारित्र मिथ्या व संसार वर्द्धक है, मोक्षका मार्ग नहीं है। कोई श्रावक अपनेको व्यवहारमें श्रद्धावान समझकर कुदेव, कुगुरु, कुधर्मका सेवन न कर जैन तत्वोंको मनन करे, जिनेन्द्रकी भक्ति करे, व्यवहारमें पांच अणुव्रतोंको पाले, उपवास, अनोदर, रसत्याग आदि नाना प्रकार तप करे तथा इंद्रियसंयम व छः कायकी दयारूप प्राणिसंयम पाले, व्यवहार चारित्रमें कोई कमी न करे तौभी यदि उसके निश्चय सम्यक्त नहीं है, जिसके शुद्धात्माके अनुभवका लक्ष्य नहीं है तौ उसका यह सब आचरण मोक्षमार्ग नहीं होसक्ता है। वह मोक्षमार्गकी अपेक्षा मिथ्या है या विपरीत है-कुचारित्र है। जहां सर्व ही व्यवहार चारित्रके पालनका हेतु अंतरंग आत्मानुभवरूप चारित्रकी प्राप्ति है, वहां यह सर्व मोक्षमार्गमें निमित्त सहकारी होनेसे व्यवहारनयसे मोक्ष मार्ग कहे जासक्ते हैं। सम्यक्तीको यह दृढ निश्चय है कि शुद्धात्माका अनुभव ही वास्तवमें सम्यक्त है,

ज्ञान है व चारित्र है। व्यवहार धर्म तो वास्तवमें निमित्त कारण है। जहां शुद्धात्माके लाभकी दृष्टिसे व्रतादि पालन हो वही सफल है व मोक्षमार्गमें सहकारी है। जहां यह दृष्टि न हो वहां मात्र पुण्य बंध होता है, उस पुण्यसे सुगति व सुसामग्रीकी प्राप्ति होसक्ती है, परन्तु संसारका भ्रमण दूर नहीं होसक्ता है।

श्लोक—अनेकपाठ पठनं च, अनेक क्रिया संजुतं ।
दर्शनं शुद्ध न जानंते, वृथा दान अनेकधा ॥ ३९९ ॥

अन्वयार्थ—(अनेकपाठ पठनं च) अनेक पाठोंका पढना (अनेक क्रिया संजुतं) अनेक प्रकारे व्यवहारे चारित्रका पालना (अनेकधा दान) अनेक प्रकारका दान देना (वृथा) निरर्थक है, यदि (शुद्ध दर्शनं न जानंते) शुद्ध सम्यग्दर्शनको अनुभव नहीं किया जाय।

विशेषार्थ—यहांपर भी यही दृढ किया है कि सम्यग्दृष्टी ज्ञानीकी दृष्टि सदा ही शुद्धात्मापर रहनी चाहिये। केवल परिणामोंकी शुद्धिके लिये, कषायोंको घटानेके लिये वह शास्त्रोंको पढता है, पूजा व्रत उपवासादि क्रिया साधता है तथा चार प्रकारका दान देता है, तब ये सब बाहरी साधन उसके लिये शुद्धात्मापर लक्ष्य रखनेके लिये निमित्त होजाते हैं। ज्ञानी सम्यक्ती किसी विषयवासनाके अभिप्रायसे या किसी मान बडाई प्रसिद्धिके लिये या किसी मायाचारसे कोई धर्मकी क्रिया नहीं करता है। यदि शुद्धात्माकी तरफ लक्ष्य न रखके मात्र गृहस्थका बाहरी चारित्र पाला जावे, दानादि दिया जावे, अनेक शास्त्रोंका पठन पाठन किया जावे तो वह पुण्यबंध कारक तो होगा, परन्तु मोक्षमार्ग न होगा। मोक्षमार्ग तो निश्चयनयसे एक अभेद शुद्धात्माका अनुभव स्वरूप है। यही परमानन्दका कारण है। जबतक सम्यक्तीका उपयोग आत्माके ध्यानमें लगता है तबतक वह आत्माका ध्यान ही करता रहता है। जब उपयोगमें निर्बलता होजाती है तब विषय कषायोंसे बचनेके लिये तथा पुनः फिर शुद्धात्मध्यानमें पहुंचनेके लिये मंद-कषायके कारणरूप कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। अर्थात् पूजा, दान, व्रतादि करता है। तथापि उनको बंधका कारण जानता है, निश्चय मोक्षमार्ग नहीं मानता है।

श्लोक—दर्शनं यस्य हृदि दृष्टं सुयं ज्ञान उत्पाद्यते ।
कमठी दृष्टि यथा अंडं, स्वयं वर्धंति यं बुधैः ॥ ४०० ॥

अन्वयार्थ—(यस्य हृदि दर्शनं दृष्टं) जिसके मनमें सम्यग्दर्शन विद्यमान है (सुयं ज्ञानं उत्पाद्यते) वहां ही श्रुतज्ञान बढता जाता है (यथा कमठी दृष्टि अंडं स्वयं वर्धंति यं बुधैः) जैसे कछवीकी दृष्टिसे ही अंडा स्वयं बढता है इसी तरह बुद्धिमानोंका शास्त्रज्ञान बढता है ।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके होते ही जितना शास्त्र ज्ञान होता है वह सम्यक्ज्ञान नाम पाता है। तथा थोडेसे ही अभ्याससे व शुद्धात्माके अनुभवके प्रतापसे उसका शास्त्र ज्ञान दिनपर दिन बढता जाता है यहींपर दृष्टांत दिया है जैसे–कछुवीका अंडा होता है वह अंडा कछुवीकी दृष्टिसे ही बढता जाता है। इसका कारण यह है कि कछुवीका निरन्तर ध्यान अंडेकी तरफ रहता है। उसके इस संकल्पके निमित्तसे ही अंडा बढता जाता है। उसी तरह सम्यक्तीका ध्यान निरंतर तत्वके अभ्यासमें रहता है। उसकी गाढ रुचि आत्मीक चर्चापर रहती है इससे उसका शास्त्र ज्ञान दिनपर दिन उन्नति करता जाता है। वह अति रुचिपूर्वक शास्त्रोंको देखता भी है पढता भी है। उसका मन एकाग्र हो शास्त्ररूपी वनमें क्रीड़ा करता है इससे उसको शास्त्र बोध बहुत जल्दी होता है। यहां यह भी अभिप्राय है कि सम्यक्तीका श्रुतज्ञान आत्मध्यानके प्रतापसे इसलिये बढ जाता है कि उसके श्रुतज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होजाता है। सम्यक्ती साधु विना अभ्यासके ही द्वादशांगका पाठी होजाता है। यह सब सम्यक्तकी महिमा है। जब सम्यक्तके प्रभावसे केवलज्ञान होजाता है तब श्रुतज्ञानके लाभमें कोई विशेष कठिनाई नहीं है। शास्त्रका सेवन जैसे सम्यक्त होनेमें सहाई है वैसे सम्यक्त होनेके पीछे सम्यक्तकी दृढता व ज्ञानकी वृद्धिके लिये भी सहकारी है। सम्यक्तकी भले प्रकार रक्षा कर्तव्य है।

श्लोक—दर्शनं यस्य हृदि शुद्धं, सुयं ज्ञानं च संभवं ।
मच्छिका अंड जथा रेते, स्वयं वर्धंति यं बुधैः ॥ ४०१ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य हृदि शुद्धं दर्शनं) जिसके मनमें शुद्ध सम्यग्दर्शन है (सुयं ज्ञानं च संभयं) वहा ही

श्रुतज्ञानकी वृद्धि होती है (जथा रेते मच्छिका अण्ड) जैसे रेतीमें मछलीका अंडा (स्वयं वर्धति यं बुधैः) स्वयं बढता जाता है वैसे ज्ञानियोंका ज्ञान बढता जाता है।

विशेषार्थ—यहां दूसरा दृष्टांत दिया है। जैसे रेतीमें बडी रक्षाके साथ रखा हुआ मछलीका अण्डा स्वयं बढता जाता है, क्योंकि उस मछलीको निरन्तर अण्डेका ध्यान है, उसी तरह जहां शुद्ध व दोष रहित सम्यग्दर्शन होता है, शास्त्र ज्ञान बढता जाता है। यों तो हरएक आत्मा सहज शुद्ध पूर्ण ज्ञानमय है उसपर ज्ञानावरण कर्मका आवरण होनेसे वह बहुत कम जानता है। जितना२ आवरण हटता जायगा उतना२ ज्ञानका प्रकाश होता जाता है। आवरणके होनेका मूल कारण कषाय है। कषाय भावोंसे ही ज्ञानावरणादि कर्मका बंध अंतर्मुहूर्त या उससे अधिक स्थितिरूप पडता है। तब निःकषाय या वीतराग भावसे अवश्य ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है, अर्थात् ज्ञान बढता है। निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शनका अनुभव परिणामोंमें अपूर्व वीतराग भाव पैदा कर देता है। बस यही भावोंकी शुद्धता ज्ञानावरणका क्षयोपशम करानेवाली है, श्रुतज्ञानको बढानेवाली है। अतएव शुद्ध सम्यग्दर्शन सदा बना रहे ऐसा यत्न करना योग्य है।

श्लोक—दर्शनहीन तपं कृत्वा, व्रत संजम पढं क्रिया।
चपलता हिंडि संसारे, जल सरणि ताड़ किट्टका ॥ ४०२ ॥

अन्वयार्थ—(दर्शनहीन तपं कृत्वा व्रत संजम पढं क्रिया) जो सम्यग्दर्शनके बिना तप करते हैं, व्रत संयम पालते हैं, पठन पाठन करते हैं (चपलता) तथा चपलता या कषायभावका विकार अंतरंगमें रखते हैं वे (संसारे हिंडि) संसारमें भ्रमण करते हैं जैसे (जल सरणि ताड़ किट्टका) ताड वृक्षका मैल नाला आदिमें बहता है।

विशेषार्थ—जैसे ताड वृक्षका मैल नदी, नाले आदि जलके मार्गमें दूरतक वहकर भ्रमण करता है वैसे ही जो कोई मुनि या श्रावकका चारित्र ठीक पालें परन्तु अंतरंगमें चपल हो माया, मिथ्या, निदान किसी शल्य सहित हो, सम्यग्दर्शनसे शून्य हो, आत्मानुभवके अभ्याससे रहित हो, आत्मानन्दकी रुचि रहित हो, अंतरंगमें इंद्रिय सुखकी वासना सहित हो तो उसका वह बाहरी चारित्र मोक्षका कारण नहीं सक्ता। वह मंद कषायसे पुण्य कर्म बांध लेगा, देवगतिमें चला

जायगा, वहां विषयोंमें लीन होजायगा। वहांसे चयकर दूसरे स्वर्गतकका एकेंद्रिय व बारहवें स्वर्ग तकका पशु व आगेका अतिशय रहित मनुष्य जन्म कर सम्यक्त रहित अन्य२ गतियोंमें जाजाकर कष्ट ही भोगेगा, जन्म जरा मरणसे रहित नहीं होसक्ता है।

श्लोक—दर्शनं सुस्थिरं यस्य, ज्ञानं चारित्र सुस्थिरं।
संसारे त्यक्त मोहं यं, मुक्ति सुस्थिर सदा भवेत् ॥ ४०२ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य दर्शनं सुस्थिरं) जिसका सम्यग्दर्शन भलेप्रकार स्थिर है (ज्ञानं चारित्र सुस्थिरं) जिसका ज्ञान व चारित्र भलेप्रकार स्थिर है (संसारे त्यक्त मोहं यं) जिसने संसारसे मोह त्याग दिया है (मुक्ति सुस्थिरे सदा भवेत) उसको भलेप्रकार स्थिर मोक्ष अवश्य होगी।

विशेषार्थ—मोक्षका साधन निश्चय रत्नत्रयमई आत्माका अनुभव है। जिसके शुद्धात्माकी रुचि दृढ है, शुद्धात्माका ज्ञान दृढ है, शुद्धात्मामें थिरता दृढ है वह अवश्य मोक्षमार्गका अनुयायी है, वही श्रावक है। दर्शन प्रतिमाधारी श्रावकको व्यवहार व निश्चय सम्यग्दर्शन दृढतापूर्वक शुद्धतापूर्वक पालना चाहिये। तथा शास्त्र ज्ञान द्वारा आत्मज्ञानकी शक्ति बढानी चाहिये तथा अपने योग्य चारित्रके द्वारा मन, वचनकायकी थिरताको पाकर आत्मध्यानकी योग्यता बढानी चाहिये। इसतरह जो भेदविज्ञानी उत्तम प्रकारसे रत्नत्रयकी आराधना करता है उसके बंध थोडा होता है व निर्जरा अधिक होती है। सम्यग्दृष्टी उदासीन भावोंसे कर्मके उदयको भोग लेता है, सुखमें उन्मत्त नहीं होता है, दुःखमें घबडाता नहीं है। इससे कर्म फल देकर झड तो जाते हैं परंतु बंध बहुत ही अल्प होता है। इसके सिवाय आत्मानुभवके प्रतापसे बहुत अधिक अविपाक निर्जरा होती है। वश वह धीरे २ मुक्तिके मार्गमें चलता रहता है।

श्लोक—एततु दर्शनं दिष्टं, ज्ञानाचरण शुद्धए।
उत्कृष्टं व्रतं शुद्धं, मोक्षगामी न संशयः ॥ ४०४ ॥

अन्वयार्थ—(एततु दर्शनं दिष्टं) इसतरह सम्यग्दर्शनका महात्म्य विचारना चाहिये (ज्ञानाचरण शुद्धए) जिससे ज्ञान और चारित्रकी शुद्धता होजावे (उत्कृष्टं व्रतं शुद्धं) जिससे व्रत उत्कृष्ट व शुद्ध होता

चला जावे (मोक्षगामी न संशयः) ऐसा श्रावक मोक्षगामी है, इसमें संशय नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—जिसने दर्शन प्रतिमाके नियम पालने आरंभ किये हों उसको मुख्यतासे सम्यग्दर्शनकी भले प्रकार दृढता रखनी योग्य है। २५ दोष रहित सम्यक्त पालना योग्य है। अंतरंग शुद्धात्माका चिंतवन व ध्यान करना योग्य है। इसीके प्रतापसे उनका शास्त्र ज्ञान व चारित्र बढता चला जायगा व शुद्ध होता जायगा। जितनी २ कषाय मंद होगी उतना उतना ही ज्ञान व चारित्र उज्वल होगा। दर्शन प्रतिमावालेके अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यान कषायोंका उदय तो नहीं है। प्रत्याख्यान संज्वलन कषायोंका उदय है सो इसके आत्माभ्यासमे मंद मंद होता जाता है। इसी प्रयोगसे इसका चारित्र बढते २ ग्यारह प्रतिमा तक पहुंच जायगा फिर यह साधुके आचरणको, उत्कृष्ट महाव्रतोंको पालने लग जायगा। अवश्य कभी न कभी मोक्ष प्राप्त कर लेगा। सम्यक्त सहितके मोक्षलाभमें कोई शंका नहीं।

श्लोक—दर्शनं सार्द्धं यस्य, व्रतं तस्य यदुच्यते।
व्रत तप नियम संयुक्तं, सार्द्धं स्वात्मदर्शनं ॥ ४०५ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य दर्शनं सार्द्धं) जिसके साथ सम्यग्दर्शन है (तस्य यत् व्रतं उच्यते) उसीके व्रतोंका होना है या व्रत प्रतिमा कही जाती है। वह दूसरी प्रतिमा धारी व्रती (व्रत तप नियम संयुक्तं) अपनी श्रेणीके योग्य व्रत तप व नियम सहित होता है तथा (स्वात्मदर्शनं सार्द्धं) अपने आत्माके अनुभवको करनेवाला होता है।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें बहुत संक्षेपमें व्रत प्रतिमाका स्वरूप कहा है। उसका स्वरूप रत्नकरंड श्रावकाचारमें इस भांति है—

निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि शीलसप्तकं चापि। धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥ १३८ ॥

भावार्थ—जो पांच अणुव्रतोंको अतीचार रहित पाले तथा सात शीलोंको भी पाले, जो शल्य रहित होकर उनको पालता है वह श्रावक व्रत धारियोंमें व्रत प्रतिमावाला है।

पांच अणुव्रतका स्वरूप पहले कह चुके हैं। सात शील जो अणुव्रतके उपकारी हैं उनका स्वरूप यह है—

तीन गुण व्रत—जो पांच अणुव्रतोंके मूल्यको बढा देते हैं इसलिये गुणव्रत कहलाते हैं।

(१) दिग्विरति—दशोंदिशाओंमें जन्म पर्यंतके लिये लौकिक कार्यके हेतु इतनी इतनी दूरसे आगे न जाऊँगा न चीज मगाऊँगा न भेजूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा इच्छाको मिटानेवाली है।

(२) देशविरति—जो प्रतिज्ञा गमनागमनकी दिग्विरतिमें जन्म भरके लिये की थी, उसमेंसे प्रयोजनभर मर्यादा रोज सबेरे २४ घण्टेके लिये रखले, शेष स्थानका राग छोड दे सो देशविरति है।

(३) अनर्थदण्ड विरति—रखे हुए क्षेत्रके भीतर भी विना प्रयोजन मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको न करें, वे मतलब पाप न करें वे पांच तरहके होते हैं–

(१) पापोपदेश—दूसरोंको पाप करनेका उपदेश देना।

( ) अपध्यान—दूसरोंका अहित मनमें भावना।

(३) हिंसादान—हिंसाकारी बर्छी, ढाल, तलवार आदि किसीको मांगे देना।

(४) दुःश्रुति—धर्ममार्गसे हटानेवाली स्त्री, भोजन, आदिकी व श्रृंगाररसकी कथा करनी व ऐसी पुस्तकोंका पढना व सुनना आदि।

(५) प्रमादचर्या—प्रमादसे बेविचारसे व्यवहार करना, वृथा पानी फेंकना, वृक्ष काटना आदि

चार शिक्षाव्रत हैं। ये मुनिपदकी शिक्षा देते हैं।

(१) सामायिक—शांतभाव चित्तमें लाकर सबेरे व शाम ४८ मिनिट या थोड़ी देर भी आत्मध्यान व समताभाव करना–रागद्वेष छोडकर सम रहना।

(२) प्रोषधोपवास—प्रोषध जो अष्टमी चौदस पर्वका दिन उस रोज उपवास करना या एकभुक्त करना, धर्मध्यानमें मन लगाना।

(३) भोगोपभोग परिमाण—सत्रह नियम विचार लेना जिनका कथन पहले कर चुके हैं।

(४) अतिथि संविभाग—अपने लिये बने हुए भोजनमेंसे अतिथि जो मुनि उनको या आर्यिका, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक आदिको आहारदान देकर फिर भोजन करना।

सात शील और पांच अणुव्रत बारहव्रत कहलाते हैं इनको जो पाले वह व्रती श्रावक है। पांच अणुव्रतके पचीस अतीचार पूर्णपने बचावे, सात शीलोंके अतीचारोंके बचानेका यथाशक्ति

अभ्यास करे। तथा मेरा मरण समाधिभावसे शांतिके साथ हो ऐसी भावना सो सल्लेखणा है। इस १२ व्रत व समाधिमरण हरएकके पांच पांच अतीचार हैं।

अहिंसा अणुव्रतके—१ कषायवश होके मानव वा पशुको बंधनमें डाल देना सो बंध है, २—कषायके वश हो, लाठी चाबुकसे मारना सो वध है, ३—कषायके वश हो किसीके अंग व उपंग छेद डालना सो छेद है, ४—पशु, मानव आदिपर मर्यादा रहित अधिक बोझा लाद देना सो भी अतिभारारोपण है, ५—अपने आधीन मानव व पशुओंके अन्नपानको रोक देना अन्नपान निरोध है।

सत्य अणुव्रतके ५ अतीचार—

१—दूसरेको मिथ्या उपदेश देना सो मिथ्योपदेश है।

२—स्त्री पुरुषके एकांतकी बात कहना सो रहोभ्याख्यान है।

३—झूठा लेख कागज हिसाबादि लिखाना सो कूटलेख क्रिया है।

४—किसीके अमानत असत्य बोलकर लेना, उसके भूलसे कम मांगनेपर इतना ही तेरेकी है, ऐसा कहकर देना, हिसाब ठीक २ न बताना सो न्यासापहार है।

५—किसीकी सलाहको अंगके आकारसे जान कह देना साकार मंत्रभेद है।

३-अचौर्य अणुव्रतके ५ अतीचार—

१-चोरीका उपाय बताना—चोर प्रयोग है।

२-चोरीका लाया हुआ माल लेना—तदाहृता दान है।

३-विरुद्ध राज्य होनेपर—राज्य प्रबन्ध ठीक न होनेपर मर्यादा उल्लंघन करके लेनदेन करना, नीतिसे न चलना विरुद्ध राज्यातिक्रम है।

४-कमती तौलनाप करके देना—अधिक तौल नाप करके लेना हीनाधिक मानोन्मान है।

५-झूठा सिक्का चलाना व खरीमें खोटी वस्तु मिलाकर खरी कहकर विक्रय करना, प्रतिरूपक व्यवहार है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रतके ५ अतीचार—

१—अपने सम्बन्धी सन्तानोंके सिवाय अन्यकी सन्तानोंकी सगाई ढूंढना-परविवाहकरण।

३—विवाहिता व्यभिचारिणी स्त्रीसे हास्यादि व लेनदेन व्यवहार रखना–इत्वरिका परिग्रहीता गमन है।

२—विना विवाही वेश्यादि व्यभिचारिणी स्त्रियोंसे हास्यादिसे लेनदेन रखना सो। इत्वरिका अपारिग्रहीता गमन है।

४—काम सेवनके अंगोंको छोडकर अन्य अंगोंसे काम सेवन करना अनंग क्रीड़ा है।

५—काम सेवनकी तीव्र लालसा रखनी कामतीव्राभिनिवेश है।

परिग्रह प्रमाण अणुव्रतके पांच अतीचार—

१—क्षेत्र मकान—२ चांदी सोना, ३ धन धान्य, ४ दासी दास, ५ कपड़े वर्तन, इन दो दोमें जो प्रमाण किया हो उनमेंसे एकके प्रमाणको घटाकर दूसरेके प्रमाणको बढा लेना ऐसे ५ अतिचार होंगे।

दिग्विरतिके ५ अतीचार—

१—ऊपरकी मर्यादाको भूलसे उलंघ जाना ऊर्ध्व व्यतिक्रम है।

२—नीचेकी मर्यादाको भूलसे उलंघ जाना अधो व्यतिक्रम है।

३—आठ दिशाओंकी मर्यादाको उलंघ जाना तिर्यक् व्यतिक्रम है।

४—किसी तरफ क्षेत्रकी मर्यादाको बढाकर इसी तरफ घटा देना क्षेत्रवृद्धि है।

५—मर्यादाको याद न रखना, भ्रममें चले जाना स्मृतन्तराधान है।

देशविरतिके ५ अतीचार—

१—मर्यादाके क्षेत्रसे बाहरसे मंगाना आनयन है।

२—मर्यादासे बाहर भेजना प्रेष्य प्रयोग है।

३—मर्यादासे बाहर बात करना व शब्द भेजना शब्दानुपात है।

४—मर्यादासे बाहर रूप दिखाकर काम निकालना रूपानुपात है।

५—मर्यादासे बाहर पुद्गल फेंककर काम निकालना पुद्गल क्षेप है।

अनर्थदंड विरतिके ५ अतीचार—

१—भांड वचन बोलना कंदर्प है।

२—भांड वचनोंके साथ कायकी कुचेष्टा भी करनी कौत्कुच्य है।
३—वृथा बकबक करना मौखर्य है।
४—विना विचारे काम करना असमीक्ष्य अधिकरण है।
५—भोगोपयोग वृथा संग्रह करना भोगोपयोग अनर्थक्य है।

सामायिकके ५ अतीचार—

१—मनमें दुष्ट विचार करना मनः दुःप्रणिधान है।
२—वचनोंको संसारिक कामोंमें लगाना वचन दुःप्रणिधान है।
३—कायको आलस्यरूप रखना काय दुःप्रणिधान है।
४—सामायिक आदरसे न करना अनादर है।
५—सामायिक करना व उसका पाठादि भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

प्रोषधोपवासके ५ अतीचार—

१—विना देखे विना झाडे मलमूत्र करना व रखना अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग है।
२—विना देखे विना झाडे कुछ उठाना सो अ० अ० आदान है।
३—विना देखे विना झाडे चटाई आदि बिछाना सो अ० अ० संस्तरोपक्रमण है।
४—उपवासमें प्रेम न रखना अनादर है।
५—उपवास करना व धर्मकी विधिको भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

भोगोपयोग परिमाणके पांच अतीचार—

ये सचित्त वस्तु त्यागकी अपेक्षासे है—

१—सचित्त या हरी तरकारी फलादि जो छोडा हो भूलसे खालेना सचित्त है।
२—सचित्तपर रखी हुई व सचित्तसे ढकी हुई चीजें खाना सचित्त सम्बन्ध है।
३—सचित्तको अचित्तमें मिलाकर खाना सचित्त सन्मिश्र है।
४—कामोद्दीपक गरिष्ट पदार्थ खाना अभिषव है।
५—खराब पका हुआ व जो न पके उसे खाना दुःपक्वाहार है।

अतिथि संविभागके ५ अतीचार—

सचित्त त्यागी श्रावक व मुनिको आहार देते हुए—

१—सचित्तपर रक्खा हुआ देना सचित्त निक्षेप है।

२—सचित्तसे ढका देना सचित्त अभिधान है।

३—दूसरेको दान देनेको कहकर आप न देना परव्यपदेश है।

४—ईर्षा भावसे दान देना मात्सर्य है।

५—काल उल्लंघकरके देना कालातिक्रम है।

समाधिमरणके ५ अतीचार—

१—अधिक जीनेकी लालसा रखनी जीविताशंसा है।

२—जल्दी मरनेकी इच्छा करनी मरणाशंसा है।

३—मित्रोंसे प्रेम बताना मित्रानुराग है।

४—पिछले सुखोंको याद करना सुखानुबंध है।

५—आगे भोग मिले ऐसा चाहना निदान है।

यह व्रती श्रावक धर्म साधनमें बड़ा सावधान होता है व संतोषी होता है, शुद्ध भोजन मर्यादाका मौन सहित जीमता है जिससे शांत भाव रहे। लालसा न हो व भोजन पर ध्यान रखे तथा अंतरायोंको टालकर भोजन करता है।

ज्ञानानंद निजरस निभिर श्रावकाचारके अनुसार अंतराय इस भांति हैं—

१-मदिरा २-मांस ३-गीला हाड ४-काचा चमडा ५-चार अंगुल लोहूकी धारा ६-बडा पंचेंद्री मरा हुआ ७-भिष्टा मूत्र ८-चांडालादि। इसको आंखोंसे देख लेवे तो भोजन करते हुए छोड दे।

१-सूखा चमड़ा, २-नख, ३-केश, ४-ऊन, ५-पंख, ६-असंयमी स्त्री या पुरुष, ७-बड़ा पंचेंद्री तिर्यंच, ८-रितुवंती स्त्री, इनका स्पर्श हो तो अंतराय, ९-छोडी हुई चीजका भोजन, १०-मलमूत्रकी शंका, ११-मरदाका स्पर्शन, १२-थालीमें त्रस जंतु मरा निकले, १३-थालीमें बाल निकले,

१४-अपनेसे द्वेन्द्रियादिका घात होजावे तो अंतराय पाले। मरणादिक व भयानक दुःखमई रुदनके शब्द सुने, अग्नि लगी सुने, नगरादिमें मारनेका लूटनेका, धर्मात्माके उपसर्गका, मृतक मनुष्यका, कान नाक छेदनेका, चोरादिसे मार जानेका, लूट जानेका, चांडालके बोलनेका, जिनबिम्ब जिनमंदिरकी अविनयका, धर्मात्माके अविनयका शब्द सुने तो अंतराय। मनमें यह शंका हो कि यह भोजन मांस तुल्य है व ग्लानिरूप है तो अंतराय, इस तरह अंतराय पाले। यह व्रत प्रतिमाधारी बड़ा संतोषी होता है। अपने शुद्धात्माका मनन सामायिक द्वारा भले प्रकार करता है।

श्लोक—सामायिकं कृतं येन, समसम्पूर्ण सार्द्धयं।
ऊर्ध्वं च अधो मध्यं च, मनरोधो स्वात्मचिंतनं॥ ४०६॥

अन्वयार्थ—(येन सामायिकं कृतं) जो सामायिक तीन काल करे सो सामायिक प्रतिमाधारी है (सम सम्पूर्ण सार्द्धयं) जो समताभावसे पूर्ण सामायिक करे (ऊर्ध्व च अधो मध्यं च मनरोधो) जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक व मध्य लोक सबसे मनको रोक लेवे (स्वात्म चिंतनं) तथा अपने आत्माका चिंतवन करे।

विशेषार्थ—यहां तीसरी सामायिक प्रतिमाका कथन है। सामायिक दूसरी प्रतिमामें भी थी परंतु वहां अभ्यास रूप थी, कभी कोई कारणवश नहीं भी करे। यहां नियमसे प्रातः मध्याह्न व सायंकाल सामायिक करनी चाहिये सो भी ४८ मिन्ट या दो घडी प्रति समयसे कम नहीं। यदि कोई विशेष लाचारी हो तो ४८ मिनटसे कम अंतर्मुहूर्त भी कर सक्ता है। इस प्रतिमामें अतीचार रहित थिरतासे सामायिक करनी चाहिये। तीनों लोकमें किसी पदार्थसे राग नहीं करना चाहिये। निश्चयनयसे सर्व द्रव्योंको अपने स्वभावमें देखना चाहिये। व्यवहार दृष्टिको बंद कर देना चाहिये। तब अपना आत्मा भी शुद्ध ही दीखेगा व रागद्वेषका अभाव हो जायगा व परमसमता भाव प्राप्त हो जायगा। सामायिकके समय साधुके समान गृहस्थ श्रावकको भी निर्मोही रहना चाहिये व ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। रत्नकरंडमें कहा है—

चतुरावर्तत्रितयश्चतुःप्रणामस्थितो यथाजातः। सामयिको द्विनिषिद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवन्दी ॥ १३९ ॥

भावार्थ—जो चार आवर्तके हैं त्रितय जिसके अर्थात् एक२ दिशामें तीन२ आवर्तका करनेवाला इस तरह १२ है। अर्थात् जिसके चार हैं प्रणाम जिसके, कायोत्सर्ग सहित बाह्याभ्यंतर परि-

ग्रहकी चिंतासे रहित, दो हैं आसन जिसके, (खड्गासन व पद्मासन) तीनों योग हैं, शुद्ध जिनके तीनों कालोंकी संध्याओंमें अभिवंदन करनेवाला ऐसा व्रती सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है। सामायिककी विधि यह है कि पूर्व या उत्तरको मुख करके कायोत्सर्ग खडा हो ९ दफे णमोकार मंत्र पढ दंडवत् करे फिर सर्व त्यागकी प्रतिज्ञा जहांतक सामायिक करता हो लेले। फिर उसी दिशामें खडा हो तीन या ९ दफे नमोकार मंत्र पढकर हाथ जोड तीन आवर्त एक शिरोनति करे। जोडे हुए हाथ बाएंसे दाहने लावे यह आवर्त है, उसपर मस्तक झुकावे यह शिरोनति है। ऐसा ही अन्य तीन दिशामें तीन आवर्त व एक शिरोनति करे, फिर आसनसे बैठकर सामायिकपाठ पढे। जाप दे, ध्यान करे, अंतमें कायोत्सर्ग खडा हो, नौ दफे मंत्र पढकर दंडवत् करे। वास्तवमें सामायिक ही मोक्षमार्ग है। श्रावकको बडे प्रेमसे तीनों काल आत्मध्यान करना चाहिये व पहली दो प्रतिमाओंके सब नियम पालने चाहिये।

श्लोक—आलापं भोजनं गच्छं, श्रुतं शोकं च विभ्रमं।
मनो वचन कायं शुद्धं, सामाई स्वात्मचिंतनं ॥ ४०७ ॥

अन्वयार्थ—(सामाई) सामायिक करनेवाला (आलापं) वार्तालाप, (भोजनं) भोजन, (गच्छं) गमन (श्रुतं) सुनना, (शोकं) शोक (च विभ्रमं) तथा संदेह (मनो वचन कायं) व मन वचन कायका हलनचलन इनसे (शुद्धं) रहित हो (स्वात्म चिंतनं) मात्र अपने शुद्ध आत्माका चिंतवन करे।

विशेषार्थ—सामायिकका अर्थ ही आत्मा सम्बन्धी भाव है। समय आत्माको कहते हैं। इसलिये सामायिकके समय शांत चित्त हो मात्र एक अपने आत्माका ही चिंतवन करे, और कोई चिंता न करे, न किसीसे बातचीतका विचार करे और न बात करे न भोजनकी चिंता करे, न कहीं जाने आनेका विचार करे, न किसीकी बात सुननेमें उपयुक्त हो, न शोक करे न कोई संदेहकी बात मनमें लावे। मन, वचन, कायको निश्चल रखकर केवल निजात्मामें उपयोग जोडे। उस समय अपनेको शरीरादिसे रहित परम शुद्ध निर्विकार अनुभव करे। जैसे समुद्र या नदीमें स्नान करते हुए उसमें गोता लगाते हैं वैसे ही अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको ध्यानमें लेकर उसे नदीके समान समझकर

उसीमें अपने आपको मग्न करे। सच्ची सुख शांति पानेका उपाय यह सामायिक है जिसको सर्व कामोंकी चिंता छोडकर करे।

श्लोक—पोषह प्रोषधश्चैव, उपवासं येन क्रीयते।
सम्यक्तं यस्य शुद्धं च, उपवासं तस्य उच्यते ॥ ४०८ ॥

अन्वयार्थ—(पोषह प्रोषधश्चैव) पोषह रूप प्रोषध या पर्वके दिन (येन उपवासं क्रीयते) जो उपवास किया जावे तथा (यस्य शुद्धं सम्यक्तं च) जिसका सम्यग्दर्शन भी शुद्ध हो (तस्य उपवासं उच्यते) उसको प्रोषधोपवास प्रतिमा कहते हैं।

विशेषार्थ—दूसरी प्रतिमामें अष्टमी व चौदसको उपवासका नियम नहीं था, कभी कोई विशेष कारणसे नहीं भी करता था, या एकासन करता था व अतीचार भी नहीं बचाता था, व आरंभ त्याग नहीं भी करता था। यहां चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमामें वह मासमें दो दफे हरएक अष्टमी व चौदसको उत्कृष्ट १६ पहरका उपवास करेगा व धर्मध्यानमें समय बिताएगा, अतीचार रहित पालेगा। जैसा रत्नकरण्डमें कहा है—

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥ १०९ ॥
पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य, प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥ १४० ॥

भावार्थ—खाद्य स्वाद्य, लेह्य (चाटने योग्य) पेय चार तरहके आहारका त्याग उपवास है, एक दफे भोजन प्रोषध है, आरम्भ त्यागे सो प्रोषधोपवास है। एक मासमें चार पर्वोंमें अपनी शक्तिको न छिपाकर प्रोषधका नियम लेकर धर्मध्यान करे सो प्रोषधोपवास प्रतिमा है।

पहले दिन एक भुक्त तीसरे दिन भुक्त करे, १६ पहर धर्मध्यान करे, गमनागमन छोडे सो उत्कृष्ट है, यदि पहले दिन संध्याको आहारादि त्याग कर तीसरे दिन सवेरे पारणा करे, १२ पहर उपवास करे आरम्भ छोडे सो मध्यम है। यदि आरम्भ पहले दिन रातको न छोड सके व अष्टमी चौदसके सवेरे छोडे तो ८ पहरका प्रोषधोपवास है। वसुनंदि श्रावकाचारके अनुसार यह भी विधि है कि मध्यममें १६ पहर उत्कृष्टके समान धर्मध्यान करे परन्तु जल रखले, आवश्यक्तापर लेवे। जघन्य यह है कि जलके सिवाय बीचमें एक भुक्त भी करे, १६ पहर धर्मध्यान करे। इनमेंसे जैसी अपनी

शक्ति हो उसके अनुसार उपवास करे। यह उपवास मन, वचन, काय तथा अतिचारोंको शुद्ध करनेवाला है व आत्मध्यानकी शक्ति बढानेवाला है। सम्यग्दर्शनकी शुद्धता सहित तीन पहली प्रतिमाओंके सर्व नियम पालनेवाला ही चौथी प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

श्लोक—संसार विरचितं येन, शुद्ध तत्त्वं च सार्थयं ।
शुद्ध दृष्टी स्थिरीभूतं, उपवासं तस्य उच्यते ॥ ४०९ ॥

अन्वयार्थ—(येन संसार विरचितं) जिसने संसारसे राग छोड दिया है (शुद्ध तत्त्वं च सार्द्धयं) शुद्ध आत्मीक तत्वरूप होगया है (शुद्ध दृष्टी स्थिरीभूतं) शुद्ध दृष्टी स्थिर होगई है (उपवासं तस्य उच्यते) उसीके उपवास कहा जाता है।

विशेषार्थ—वास्तवमें जहां मन व इंद्रियोंके सर्व विषयोंसे उदासीन होकर आत्माके अनुभवमें व विचारमें तल्लीन रहा जावे वह उपवास है। ज्ञानी धीर वीर श्रावक प्रोषधके दिन जितनी देरको उपवास करते हैं उतनी देरके लिये १६ या १२ या ८ पहरके लिये बहुत ही एकांत स्थान वन, उपवन, जिनमंदिर, पर्वत आदिपर साधुके समान तिष्ठते हैं, शौचको जल व भूमि झाडनेको मुलायम कपडा व कमसे कम शरीरपर वस्त्र व एक चटाई या आसन रखकर आत्मध्यानका अभ्यास करते हैं, ध्यानमें मन न लगे तो शास्त्रका स्वाध्याय करते हैं। पांचों दोषोंको बचाते हुए साधुके समान वैराग्यवान व उपसर्ग परीषह सहते हुए अपना उपवासका काल विताते हैं। यदि स्वाध्यायमें मन कम लगे तो जिनमंदिरमें प्राशुक द्रव्योंसे पूजा भक्ति करते हैं, भजन भाव गाते हैं, धर्मचर्चा करते हैं-जिसतरह उपयोग धर्मध्यानमें लीन रहे वैसा साधन बनाते हैं। संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य बढानेको बारह भावनाका चिंतवन करते हैं।

श्लोक—उपवासं इच्छनं कृत्वा, जिन उक्तं इच्छनं यथा ।
भक्ति पूर्वं च इच्छंते, तस्य हृदये स मान्यते ॥ ४१० ॥

अन्वयार्थ—(उपवासं इच्छनं कृत्वा) उपवास करनेकी बडी रुचि रखना योग्य है (यथा जिन उक्तं इच्छनं) जैसा जिनेन्द्रने कहा है वैसा तत्वका स्वरूप विचार करे (भक्ति पूर्वं च इच्छंते) भक्तिपूर्वक जहां रुचि हो (तस्य हृदये स मान्यते) उसीके मनमें उपवासकी मान्यता है।

विशेषार्थ—उपवास बडे आदर व प्रेमसे करे, जिनेन्द्रके कहे अनुसार तप करे, तत्वोंमें प्रेम करे, आत्माकी विशेष रुचि रक्खे, भक्ति सहित उपवास करे, अपने जन्मको सफल माने। आज मैंने आरंभ त्याग करके धर्मध्यानमें अपना समय लगाकर सफल किया है ऐसा समझे। सर्व चिंताओंको छोड करके उपवास करे। यदि अधिक परिग्रहवान राजा मंत्री व्यापारी हो तो अपना सर्व कामकाज उपवासके दिन दूसरेके आधीन करदे व कहदे कि मैंने चिंता छोड दी है तुम सर्व प्रकारसे गृही कर्तव्य पालना, प्रजाकी रक्षा करना, मेरेसे कुछ पूछनेकी जरूरत नहीं है। मैंने तो सर्वसे उपवासके समय तक मोह त्याग दिया है। मेरे तो इस समय अरहंत सिद्ध आदि पांच परमेष्ठी ही शरण हैं, मैं तो इनहीका ध्यान करूंगा, इनहीके गुण गाऊंगा, अपने आत्माके विचारमें मगन रहूंगा, आत्मध्यानका अभ्यास करूंगा। ऐसा दृढ निश्चय करके एक नियत स्थानपर रहकर बडे ही शांत भावसे उपवास करे, शुद्धात्मामें परिणाम जमावे, आत्मानुभव करे। इस उपवासके कारण जो आत्मध्यानकी थिरता हो तो बहुत अधिक कर्मोंकी निर्जरा होजाती है। इसीसे उपवासको तपमें गिना गया है। बडे ही प्रेमसे करना योग्य है।

श्लोक—उपवासं व्रतं शुद्धं, शेष संसार त्यक्तयं।
पश्चात् त्यक्त आहारं, उपवासं तस्य उच्यते ॥ ४११ ॥

अन्वयार्थ—(उपवासं व्रतं शुद्धं) उपवासमें पंच पापके त्याग रूप व्रतकी शुद्धता करना है (शेष संसार त्यक्तयं) सर्व संसारका त्याग करना है (पश्चात् त्यक्त आहारं) फिर आहारको त्यागना है (तस्य उपवासं उच्यते) उसीके ही उपवास कहा जाता है।

विशेषार्थ—उपवास करनेवाला पहले अपने मनमें यह दृढ संकल्प करे कि मुझे हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म व परिग्रहका आज भुक्तिके समान त्याग करना है, इन सम्बन्धी सर्व विकल्पोंको हटाना है, उसे संसारके सर्व कामोंसे विरक्त रहना है, मुझे निश्चित हो मात्र एक शुद्धात्माका ही शरण लेना है, ऐसा निश्चय करके फिर जितने कालके लिये थिरता जाने उतने कालके लिये चार तरहका आहार या तीन तरहका आहार या यथाशक्ति विधिपूर्वक त्याग करें। आलस्य प्रमाद जीतनेके लिये व धर्मध्यानमें आसक्त होनेके लिये उपवास करे। जिस श्रावकको ऐसी उच्च भावना

है उसीको प्रोषधोपवास कहा जाता है। जितना अधिक आरंभ परिग्रहका निमित्त होता है उतना अधिक मन उनमें फंसा रहता है। तब ध्यानके करते समय भी वैसे ही विचार मनमें आजाते हैं। इसलिये मनकी निश्चलताके लिये यही उचित है कि आरंभ व परिग्रहका त्याग किया जावे। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी तो निरंतर साधु रूपमें रहनेकी आकांक्षा रखता है परंतु कषायके शमन न होनेसे गृहका त्याग नहीं कर सक्ता है तब वह प्रोषधोपवास धार करके नियमित कालके लिये साधुके समान आचरण करता है, परमानन्दके लाभमें आसक्त रहता है, मोक्षमार्गमें साक्षात् चलकर जन्मके समयको सफल करता है।

श्लोक—उपवास फलं प्रोक्तं, मुक्तिमार्गं च निश्चयं।
संसारदुःख नासंते, उपवासं शुद्धं फलं॥ ४१२॥

अन्वयार्थ—(उपवास फलं प्रोक्तं) उपवास करनेका फल यह कहा गया है कि (निश्चयं च मुक्तिमार्गं) निश्चय मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो। (संसार दुःखनासन्ते) संसारके दुःखोंका नाश हो (उपवासं शुद्धं फलं) व उपवाससे शुद्धभावकी प्राप्ति हो यह फल है।

विशेषार्थ—यद्यपि उपवास करना, आहार न करना, आरम्भ त्यागना, एकांतमें रहना यह सब व्यवहार चारित्र है परन्तु यह तब सफल है जब कि निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धात्माके श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्गका लाभ हो। शुद्ध भावोंकी प्राप्तिसे कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है जिससे संसारके दुःखोंका नाश होता है। व आत्माके शुद्धभावकी वृद्धि होती जाती है। उपवास करना बडा भारी तप है, परन्तु जिस उपवासमें आर्तध्यान होजावे, आदर न रहे, यह उपवास सफल नहीं होगा। जहां धर्मध्यानका दृढ उत्साह रहे, परिणाम वैराग्यमें आरूढ होते रहे, अध्यात्मिक-तत्वका ध्यान हो, असली मोक्षमार्ग मिले, वही उपवास सफल है। श्रावकोंको बडे ही प्रसन्न मनसे परिणामोंकी उज्वलताके हेतुसे ही प्रोषधोपवास करके आत्माका कर्म मैल छुडाना चाहिये।

श्लोक—सम्यक्त विना व्रतं येन, तपं अनादि कालयं।
उपवासं मास पाषं च, संसारे दुःखदारुणं॥ ४१३॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त विना) सम्यग्दर्शनके विना (येन अनादि कालयं व्रतं तपं) जिसने अनादिकालसे व्रत पाले हों, तप किया हो (मास पालं च उपवासं) एक मास या पंद्रह दिनका उपवास किया हो (संसारे दुःखदारुणं) वह सब संसारमें भयानक दुःखका ही कारण है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन मोक्षके मार्गका बीज है। सम्यग्दर्शनके विना जितना भी ज्ञान है वह कुज्ञान है, जितना भी चारित्र है, कुचारित्र है इसका कारण यही है कि मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायकी वासना नहीं छूटती है। इसलिये यदि मुनि या श्रावकका चारित्र भी पालता है, मास मास भरके या पंद्रह पंद्रह दिनके उपवास भी करता है तौ भी कोई न कोई कषायका अभिप्राय भीतर जमा रहता है। यातो मानवश, या मायावश, या लोभवश, चारित्र पाला जाता है। उत्तम गतियोंमें सुख मिले, दुर्गतिमें दुःख न मिले ऐसी भावना मिथ्यादृष्टीके भीतर बनी रहती है। इसलिये कठोर व्रत व तपश्चरण भी सच्ची वीतरागताको नहीं बढा सक्ता है क्योंकि बीज विना वृक्ष कैसे बढे। शुद्धात्माकी श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन बीज है। इसके होते हुए व्रत चारित्र तप आदि वीतरागताके वृक्षको बढाते हैं। यदि संसारसे वैराग्यकी श्रद्धाको जमानेवाला सम्यग्दर्शन नहीं है तो व्रत तपादि कुछ मंद कषायसे पुण्यका बंध कर देता है जिससे देवगतिमें या साताकारी मानव गतिमें जन्म लेता है वहां विषयभोगोंमें रंजायमान होकर नरक या पशु गतिमें चला जाता है या निगोदमें चला जाता है जहांसे निकलना दीर्घकालमें भी दुर्लभ है। संसारके भयानक दुःखोंको सहना पडता है। इसलिये यह उपदेश है कि श्रावककी श्रेणियोंको सम्यक्त सहित पालन करो। सम्यक्तके विना व्रत उपवास भूसीको पेलना है। सम्यक्त सहित चारित्र ही धान्यमेंसे चावल अलग करना है

श्लोक—उपवासं एक शुद्धं च, मन शुद्धं तत्व सार्द्धयं।
मुक्ति श्रियं पथं येन, प्राप्तं नात्र संशयः ॥ ४१४ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (एक उपवासं शुद्धं च) एक भी उपवास शुद्धतासे किया हो (मन शुद्धं) मनमें मैल न हो (तत्व सार्द्धयं) आत्मतत्वकी भावना सहित हो (मुक्ति श्रियं पथं प्राप्तं) उसने मोक्षलक्ष्मीके मार्गको पालिया (नात्र संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ—यहां कहते हैं कि उपवास चाहे जितने करो। हरएक उपवासमें शुद्धता होनी चाहिये। मनमें आर्तध्यान, रौद्रध्यान न होना चाहिये। तत्वोंकी भावना की जानी चाहिये। आत्माका अनुभव किया जाना चाहिये। ऐसा ही उपवास यथार्थ है। मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिका एक मार्ग है इसमें कोई शंका नहीं है। जहां शांतभाव, ज्ञानभाव, आनन्दभाव समय समय बढता रहे वहीं उपवास है। एक भी उपवास विधिपूर्वक व भावपूर्वक किया जाय तो अधिक फलदाई है। परन्तु जो अनेक उपवास किये जावे व आत्म शांति व आत्म विचार न हों तो वे मोक्षमार्ग नहीं है। प्रयोजन यह है कि चौथी प्रतिमाधारीको एक मासमें चार उपवास तो शुद्ध भावसे अवश्य ही करना योग्य है। जो सामायिक प्रति दिन तीन काल वह करता था, उपवासके दिन उसे बहुत अधिक कालतक साम्यभाव रखनेका अवसर मिलता है। उपवास धर्मध्यानका एक अच्छा अवसर प्राप्त कर देता है। उपवासके दिन परमात्म प्रकाश, समयसार, समाधिशतक आदि अध्यात्म ग्रंथोंका विशेष मनन करना चाहिये। ध्यानका अभ्यास जितना अधिक होसके किया जाना चाहिये। यह उपवास आत्मोन्नतिका विशेष उपकारी है।

श्लोक—सचित्तं चिंतनं कृत्वा, चेतयंति सदा बुधैः ।
अचेतं असत्य त्यक्तंते, सचित्त प्रतिमा उच्यते ॥ ४१५ ॥

अन्वयार्थ—(सचित्तं चिंतनं कृत्वा) सचित्त अर्थात् शुद्धात्माका चिंतवन करके (चेतयंति सदा बुधैः) सदा बुद्धिवान अनुभव करते हैं (अचेतं असत्य त्यक्तंते) अज्ञान व मिथ्या वस्तुको त्याग देते हैं (सचित्त प्रतिमा उच्यते) उसे सचित्त प्रतिमा कहते हैं।

विशेषार्थ—पांचमी सचित्त प्रतिमा या सचित्त त्याग प्रतिमा है। इस श्लोकमें निश्चयनयकी मुख्यतासे कथन है कि चेतना सहित जो शुद्धात्मा उसके गुणोंका चिंतवन करके उसका अनुभव बुद्धिमानजन करते हैं। किसी मूढ भक्तिका व असत्य तत्वका चिंतवन नहीं करते हैं और न अज्ञान स्वरूप पुद्गलादिका चिंतवन करते हैं न नाशवंत असत्य जगतकी क्षणभंगुर पर्यायोंका चिंतवन करते हैं। आर्त व रौद्रध्यानके सब विषय छोडकर धर्मध्यानमें भी एक आत्माको ही विषय करके जो

अनुभव करते हैं निरन्तर स्वरूपमें सावधान हैं वे निश्चयसे सचित्त प्रतिमाधारी श्रावक हैं। आत्मध्यानके अभ्यासकी उन्नति ही वास्तवमें प्रतिमाकी उन्नति है।

श्लोक—सचित्तं हरितं येन, त्यक्तंते न विरोधनं ।
सचित्त सन्मूर्छनं च, त्यक्तंते सदा बुधैः ॥ ४१६ ॥
सचित्त हरितं त्यक्तं च, अचित्त सार्द्धं च त्यक्तयं ।
सचेतं चेतना भावं, सचित्त प्रतिमा सदा ॥ ४१७ ॥

अन्वयार्थ-(येन) जो (सचित्तं हरितं त्यक्तंते न विरोधनं) सचित्त वनस्पतिका त्याग करे उनको (वृथा) तोडे व नाश न करे। (बुधैः सदा सचित्त सन्मूर्छनं च त्यक्तंते) बुद्धिमान जन सदा हरएक सचित्त एकेन्द्रिय सन्मूर्छनका त्याग करे (सचित्तं हरितं त्यक्तं च) सचित्त वनस्पतिका त्याग करके (अचित्त सार्द्धं च त्यक्तयं) अचित्तके साथ मिली हुई सचित्तका भी त्याग करे। (चेतनाभावं सचेतं) चैतन्य भावका अनुभव करे (सदा सचित्त प्रतिमा) उसके सदा सचित्त प्रतिमा होती है।

विशेषार्थ—इस पांचमी प्रतिमामें जीव सहित वस्तुको खानेका त्याग है। इसलिये एकेंद्रिय जल, पृथ्वी, वनस्पति आदिका सचित्त अवस्थामें यह आहार नहीं करेगा, उनको अचित्त अवस्थामें लेगा, कच्चा पानी न पीकर प्रासुक या गर्म पानी पीवेगा। तरकारी फल आदि पचाकर व सूखे व प्रासुक दशामें खाएगा, सचित्त अवस्थामें न खाएगा। अभी इसके आरम्भका त्याग नहीं है इसलिये इनको सचित्तके व्यवहारका व विराधनाका सर्वथा त्याग नहीं है। यह पानीको प्रासुक व गर्म कर सक्ता है व वनस्पतिको सचित्तसे अचित्त कर सक्ता है। यह सचित्त जल व वनस्पतिको कभी खाएगा नहीं तौभी वृथा जल व वनस्पतिका विराधन नहीं करेगा। दयावान होकर जितना कम आरम्भ सचित्तका होसके उतना करेगा। रत्नकरण्डमें कहा है—

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि। नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥ १४१ ॥

भावार्थ-जो कच्चे या अप्राशुक मूल, फल, शाक, शाखा, गांठ व केर, कंद, फल व बीज नहीं खाता है सो दयावान सचित्त प्रतिमाधारी है। प्राशुक करनेकी रीति यह है या प्राशुक किसे कहते हैं सो लिखा है-

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबलिलवणेहिं मिस्सियं दव्वं । जं जंते ण हि छण्णं तं सव्वं पासुयं भणियं ॥

भावार्थ—जो वस्तु सूखी है-पक गई हो जैसे फलका गूदा, गर्म की हुई या खट्टी लवणादि कसायली वस्तुसे मिली हुई हो व यंत्रसे छिन्न भिन्न की गई हो वह सब प्रासुक कही गई है। सूखी वह वनस्पति जो उगने लायक है वह भी योनिभूत सचित्त है, उसे भी सचित्त प्रतिमाधारी नहीं खाता है जैसे-सूखा चना, गेहूं। बहुल करके यह सूखी वस्तुओंको जरूरत पड़ने पर काममें लेता है जिनका ऊपर नाम लिया गया है। अपने हाथसे यदि अचित्त करना हो तो जिह्वा इंद्रियको वश करके जिसमें कम हिंसा हो उनही वस्तुओंको प्राशुक करके खाता है। जिह्वाके स्वाद वश अनन्त काय साधारण वनस्पतिका घात नहीं करता है। जैसे यह स्वयं सचित्त खाता नहीं है, पीता नहीं है वैसे यह दूसरोंको भी नहीं देता है। एकेंद्रियके आरंभसे व जिह्वा इंद्रियके स्वाद दोनोंसे विरक्त है। तथापि इस प्रतिमामें मात्र सचित्तके खाने पीनेका ही त्याग है, व्यवहारका नहीं। तथा यह श्रावक आत्माका ध्यान विशेष करता है इसलिये भी इसे सचित्त प्रतिमा कहते हैं। यह भोगोपभोग व्रतके पांच अतीचारोंको बचावेगा, सचित्त या हरे पत्तेपर रक्खा व उससे ढका व उससे मिली कोई अचित्त वस्तु भी नहीं खाएगा। निरंतर प्राणीसंयम व इंद्रिय संयमका साधक रहेगा।

श्लोक—अनुराग भक्ति दिष्टं च, राग दोषं न दिष्टते ।
अनुरागं तत्र उच्यते ॥ ४१८ ॥
मिथ्या कुज्ञान तिक्तं च, अनुरागं तत्र उच्यते ।
शुद्ध तत्वं च आराध्यं, असत्यं तस्य त्यक्तयं ।
मिथ्या शल्यं त्यक्तं च, अनुराग भक्ति सार्थयं ॥ ४१९ ॥

अन्वयार्थ—(अनुराग भक्ति दिष्टं च) अनुराग भक्तिको विचारना चाहिये जहां (राग दोषं न दिष्टते) राग द्वेष न दिखलाई पड़ें (मिथ्या कुज्ञान तिक्तं च) जहां मिथ्यात्व व मिथ्याज्ञान छूट गए हों (तत्र अनुरागं उच्यते) वहां अनुराग कहा जाता है (शुद्ध तत्वं च आराध्यं) शुद्ध तत्वकी भक्ति करना चाहिये (असत्यं तस्य त्यक्तयं) असत्य तत्वका त्याग करना चाहिये (मिथ्या शल्य त्यक्तं च) मिथ्या शल्यको छोड़ना चाहिये (अनुराग भक्ति सार्थयं) तब यथोचित अनुराग भक्ति छठी प्रतिमा है।

विशेषार्थ—यहां ग्रंथकारने छठी प्रतिमाका नाम अनुराग भक्ति लिया है। किनहीं आचार्योंने दिवा मैथुन त्याग लिया है। प्राचीन आचार्योंने रात्रि भुक्ति त्याग लिया है। कारण यही है कि रात्रिको भोजन त्याग ग्रंथकर्ताके मतमें पहली प्रतिमामें या उससे पहले ही होजाता है तब यहांपर रखना उनके परिणामोंमें ठीक नहीं दीखा होगा, इससे इसका नाम अनुराग भक्ति रख करके कहा है। जहां शुद्ध आत्मीक तत्वका अनुराग विशेष बढ जावे, संसारके कर्मोंमें राग द्वेष बहुत घट जावे, स्व स्त्री प्रसंग भी न सुहावे, गृहस्थके कार्योंसे बहुत उदासीनता आजावे, सिवाय शुद्ध आत्मीक तत्वकी प्राप्तिके और बात सब असत्य दीखती हो, संसारसे वैराग्य बढ गया हो, मोक्षमें तीव्र भक्ति होगई हो वह अनुराग भक्ति प्रतिमा है।

श्री समन्तभद्राचार्यने रात्रि भुक्ति त्याग छठी प्रतिमाका स्वरूप ऐसा कहा है—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्। स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥ १४२ ॥

भावार्थ—जो सर्व प्राणियोंके ऊपर दयाभावको रखनेवाला रात्रिको अन्न, पान, खाद्य व लेह्य (चाटने योग्य) ऐसे चारों प्रकारके सर्व आहारको नहीं खाता है वह रात्रि-भोजन त्यागी श्रावक है। यहांपर भाव यही है कि इस श्रेणीमें गृहस्थके ऐसी उदासी आजाती है कि वह रात्रिको न तो स्वयं खाता है न खिलाता है न भोजन सम्बन्धी आरम्भ क्रिया करता व कराता है न वार्तालाप करता है। भोजनके सर्व विचारोंसे छुटकर अधिकतर धर्मध्यानमें रक्त रहता है। इसके पहले यथाशक्ति रात्रि-भोजनका त्याग था। यहांपर अतीचार रहित पूर्ण त्याग होजाता है। इसके पहले रात्रिको यदि स्वयं न खाता था तौभी दूसरोंको खिलाता था। सम्यक्ती दयावान होता है। अविरत सम्यक्ती भी रात्रिको खाना पसन्द नहीं करता है। यदि उससे बने तो वह दिन हीमें खाता है, परन्तु गृहस्थी अनेक प्रकारके व्यवसायवाले होते हैं, किसीको कामसे छुट्टी ही न मिल सके, दूर जाता आता हो व और लाचारी हो इससे आचार्योंने छठी प्रतिमासे पहले अभ्यास बताया है जितना शक्य हो उतना छोडे, छठी प्रतिमामें पूर्ण त्याग होना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टी श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार जीवदयाको पालता हुआ रात्रि भोजन पहले भी नहीं करेगा परंतु यदि कोईके कोई लाचारी हो तो और व्रतों व प्रतिमाओंको पालता हुआ रहकर वह रात्रि भोजनका पूर्ण त्यागी छठी श्रेणीमें होगा। ऐसा अभिप्राय आचार्योंका दिखता है।

श्लोक—बंभं अबंभ त्यक्तं च, शुद्ध दिष्टि रतो सदा।
शुद्ध दर्शन समं शुद्धं, अबंभं त्यक्त निश्चयं ॥ ४२० ॥

अन्वयार्थ—(बंभं) ब्रह्मचर्य प्रतिमा सातमी है जहां (अबंभ त्यक्तं च) अब्रह्म या कुशीलका त्याग किया जावे (सदा शुद्ध दिष्टि रतः) सदा शुद्ध सम्यग्दर्शनमें लवलीन रह जावे (शुद्ध दर्शनं समं शुद्धं) शुद्ध सम्यग्दर्शनके समान शुद्धता भावोंकी रक्खी जावे (अबंभं त्यक्तं निश्चयं) ब्रह्मके सिवाय अब्रह्म ध्यान छोडा जावे सो निश्चय ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

विशेषार्थ—ब्रह्मचर्य प्रतिमाको धारते हुए श्रावक स्वस्त्रीका भी राग छोड देता है। मन, वचन, कायसे शील धर्म पालता है। शील धर्मके विरोधी निमित्तोंको बचाता है। ब्रह्मचर्य व्रतकी पांचों भावनाओंपर पूरा २ ध्यान रखता है। यह गृहस्थके राग योग्य वस्त्राभूषण त्याग देता है, उदासीन कपडे वैराग्य वर्द्धक पहनता है, सादा वस्त्र, सादा शुद्ध भोजन जहांतक सम्भव हो एक दफे करता है, एकांतमें शयन करता है, यदि घरमें रहे तो अलग कमरेमें सोता बैठता है, जहां स्त्रियोंका आगमन व कोलाहल न सुन पडे, अन्यथा घर छोडकर वैराग्यभाव धार देशाटन करता है। व्यवहार ब्रह्मचर्यको भलेप्रकार पालता हुआ निश्चय ब्रह्मचर्यको भी अच्छी तरह पालता है। शुद्ध आत्मीक तत्व जो आप स्वयं ब्रह्म स्वरूप है उनका ध्यान करता है। आत्मीक तत्वके सिवाय और तत्वका राग छोड देता है। अंतरंग बाहर शांत भाव व वैराग्यकी छटाको प्रकाश करता है। ब्रह्मरसका प्यासा होता है। रत्नकरण्डमें कहा है—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतगन्धिबीभत्सम्। पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥ १४३ ॥

भावार्थ—जो श्रावक अपने शरीरको व स्त्रीके शरीरको मलसे उत्पन्न, मलको उत्पन्न करनेवाला, मलोंको बहानेवाला, दुर्गंध व अशुचिसे भरा हुआ, ग्लानि योग्य विचारता है और काम भावसे विरक्त होता है वह ब्रह्मचारी है।

इस प्रतिमामें अभी आरंभका त्याग नहीं है। सातवीं प्रतिमाका धारी श्रावक पहलेके सर्व नियम पालता हुआ देशाटन करता हुआ, धर्मका प्रचार सुगमतासे कर सक्ता है। इसे वाहनका त्याग नहीं है। यह मध्यम पात्रमें भी मध्यम पात्र है। यदि गृहस्थ भक्तिपूर्वक निमंत्रण करें तो

शांत भावसे जो कुछ मिले आहार करके संतोष मानता है। स्वयं भी भोजनका प्रबन्ध कर सक्ता है व अपने घरमें भी जीम सक्ता है।

श्लोक—यस्य चित्तं ध्रुवं निश्चय, ऊर्ध अधो च मध्ययं।
यस्य चित्तं न रागादिः, प्रपंचं तस्य न पश्यते ॥ ४२१ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य चित्तं ध्रुवं निश्चय) जिस ब्रह्मचर्य प्रतिमाके धारीके चित्तमें निश्चयतासे अपने स्वरूपका निश्चय होता है (यस्य चित्तं ऊर्ध अधो च मध्ययं रागादिः न) जिसका चित्त ऊपर नीचे मध्यलोक तीनों लोकोंमें राग द्वेष मोहको प्राप्त नहीं होता है (तस्य प्रपंचं न पश्यते) उसके मनमें प्रपंच नहीं दिखलाई पड़ता है।

विशेषार्थ—सप्तम प्रतिमा धारीका चित्त वैराग्यमें बहुत अधिक लवलीन रहता है, उसको इन्द्र, अहमिंद्र, धरणेंद्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदिके सर्व ही भोग रोगके समान दीखते हैं जो तीन लोकमें किसी भी पदार्थकी इच्छा नहीं रखता है। केवल अपने शुद्ध आत्मीक स्वभावका ही प्रेमी है, वही मैं हूं ऐसा उसके दृढ श्रद्धान है, वह अंतरंगसे राग द्वेष मोह नहीं रखता है, बहुत ही सरलतासे या मोह रहितपनासे यदि घरमें रहे तो घरमें, यदि परदेश घूमे तो लोकमें व्यवहार करता है, ब्रह्मचर्यकी दृढता रखता है।

श्लोक—विकहा व्यसन उक्तं च, चक्र धर्णेन्द्र इंद्र यं।
नरेन्द्रं विभ्रमं रूपं, वर्णत्व विकहा उच्यते ॥ ४२२ ॥

अन्वयार्थ—(व्यसन उक्तं च विकहा) सात व्यसनोंके सम्बन्धमें रागवर्द्धक चर्चा विकथा है (चक्र धर्णेन्द्र इंद्र यं नरेन्द्र विभ्रमं रूप वर्णत्व विकहा उच्यते) तथा चक्रवर्ती, धरणेन्द्र, इंद्र, महाराजा आदिके मोहको उत्पन्न करने वाले भोगादिका वर्णन करना विकथा कही जाती है।

विशेषार्थ—ब्रह्मचारी खोटी कथाओंसे विरक्त रहता है। जूआ खेलन, मांस भक्षण, मदिरा सेवन, वेश्या सेवन, चोरी, शिकार खेलना, परस्त्री सेवन, इन सात व्यसनोंमें राग बढानेवाली कथाओंको यह न तो करता है और न सुनता है। तथा इन्द्र, धर्णेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रति-

नारायण, महामंडलीक, मंडलीक, महाराजा, राजा, धनवान आदिकी मोहवर्द्धक कथाओंको भी विकथा कहते हैं उनसे विरक्त होता है। न कहता है, न सुनता है, ऐसे नाटक खेल तमाशे नहीं देखता है, न करता है, जिनसे राग बढे। परिणामोंमें वैराग्य बढे ऐसे निमित्तोंको मिलाता है। स्त्री, भोजन, देश व राजाओंकी ऐसी कथाएं जिनसे स्त्रीमें राग बढे, भोजनमें राग बढे, जगतके आरंभ परिग्रहमें राग बढे, राज्यलक्ष्मीका लोभ उत्पन्न हो, उनको न सुनता है और न करता है। प्रमादवर्द्धक वार्तालाप आत्मविचारमें बाधक है, ऐसा जान उनसे विरक्त रहता है।

श्लोक—व्रतभंगं राग चिंतते, विकहा मिथ्यातरंजितं।
अबंभं त्यक्त बंभं च, बंभ प्रतिमा स उच्यते ॥ ४२३ ॥

अन्वयार्थ—(व्रतभंगं राग चिंतते) ब्रह्मचर्य व्रतको भंग करनेवाले राग भावकी चिंताओंको (विकहा) चारों विकथाओंको (मिथ्यात रंजितं) मिथ्यात्वमें रंजायमान होनेको (अबंभ) व अब्रह्मको (त्यक्तं च) त्याग करके (बंभं) जहां ब्रह्मचर्य पाला जावे (बंभ प्रतिमा स उच्यते) वही ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहलाती है।

विशेषार्थ—ब्रह्मचारी श्रावकको काम भोग आदिकी ऐसी चिंताएं पिछले भोगोंकी व आगेके भोगोंकी बिलकुल न करनी चाहिये जिससे परिणाम ब्रह्मचर्यसे डिग जावे व ब्रह्मचर्यका भंग होने लगे और न चार विकथाओंको करना चाहिये और न संसार शरीर भोगोंके मोहमें व मिथ्या वासना वासित धर्म क्रियामें रंजायमान होना चाहिये तथा मन, वचन, कायसे कुशीलको त्याग देना चाहिये। निरंतर निर्विकार भावोंको रखते हुए वैराग्य भावना भाते हुए ब्रह्मचर्य प्रतिमा पालनी चाहिये। पहली प्रतिमाओंके सर्व नियम यथेष्ट पालना चाहिये।

श्लोक—यदि बंभचारिनो जीवो, भावशुद्धं न दिष्टते।
विकहा राग रंजंते, प्रतिमा बंभगतं पुनः ॥ ४२४ ॥

अन्वयार्थ—(यदि बंभचारिनो जीवो) यदि ब्रह्मचारी जीवमें (भावशुद्धं न दिष्टते) भावकी शुद्धता नहीं दिखलाई पडे (विकहा राग रंजंते) विकथाके रागमें रंजायमान हो (पुनः प्रतिमा बंभगतं) तो उसकी प्रतिमा भंग होगई ऐसा समझना चाहिये।

विशेषार्थ—ब्रह्मचारी श्रावकको वैराग्यवान व आत्मानुभवी व निर्मल भावधारी होना योग्य है। अंतरंग व बहिरंग दोनों प्रकारसे ब्रह्मचर्य पालना योग्य है। अंतरंग ब्रह्मचर्य, आत्म समाधि व शुद्ध काम रहित शील भाव तथा बहिरंग शुद्धि वचनोंसे व कायसे कुशीलकी चेष्टाका सर्वथा त्याग, राग वर्द्धक कथाओंको न कभी करता है और न कभी सुनता है। यदि कोई ब्रह्मचारी होकर भी शुद्ध भाव न रक्खे, परिणामोंमें इंद्रिय विषयोंका राग रक्खे, राग सहित बात कहे, रागकी बातें सुने, जगतके प्रपंचोंमें अपनेको उलझावे, स्त्रियोंसे रागवर्द्धक वार्तालाप करे, एकांतमें स्त्रीका संगम करे, काम विकार होनेका निमित्त लावे, आत्माकी शुद्धिका ध्यान न रक्खे तो वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाका खंडन करनेवाला होगया ऐसा समझना चाहिये।

श्लोक—चित्तं निरोधितं येन, शुद्ध तत्वं च सार्थयं ।
तस्य ध्यानं स्थिरीभूतं, बंभ प्रतिमा स उच्यते ॥ ४२५ ॥

अन्वयार्थ—(येन चित्तं सार्थयं शुद्ध तत्वं निरोधितं) जिसने मनको यथार्थ शुद्ध आत्म तत्वके भीतर रोका हो (तस्य ध्यानं स्थिरीभूतं) व जिसका ध्यान स्थिर रहता हो उसीके (बंभ प्रतिमा स उच्यते) ब्रह्मचर्य प्रतिमा कही जाती है।

विशेषार्थ—सारांश यह है कि ब्रह्मचर्य प्रतिमामें अंतरंग शुद्धिकी मुख्यता है। अंतरंग परिणाम यदि निर्मल होंगे तो बाहरी क्रिया उसके विरुद्ध नहीं होसक्ती है। वह ब्रह्म स्वरूप शुद्ध आत्मीक तत्वमें अपने मनको रोकनेका अभ्यास करके आत्मध्यानकी विशेष थिरता करता है। निरंतर जिसकी लौ या लगन शुद्ध आत्माके स्वात्मानन्दके पानेमें लगी रहे व जो जगत मात्रकी आत्माओंको निश्चय नयके द्वारा समभावसे समान देखे, राग द्वेषका त्याग करे, सर्वका बंधुत्वभाव रक्खे, जिसको परमात्माका दर्शन हरएक संसारी प्राणीके भीतर शुद्ध नयके प्रतापसे होता हो, ब्रह्ममय जिसका भाव होरहा हो, ब्रह्मविचारमें ही जो रंजायमान हो, जिसकी वचन व कायकी चेष्टासे भी ब्रह्मरस टपकता हो, जो पांच इंद्रियोंका विजयी होकर वैराग्यवान हो, रस नीरस जो आहार प्राप्त हो उसमें संतोषी हो, अल्पाहारी हो, आरंभ यद्यपि कुछ करता है परंतु त्यागके सन्मुख हो, निरंतर मोक्षकी भावनामें वर्तता हो, प्राणी मात्रका हितैषी हो, परोपकारमें लीन हो, आत्मधर्म व

शील धर्मकी प्रभावना करनेवाला हो, वैराग्यमय वस्त्रोंका धारी हो, अल्पसे अल्प वस्त्र धारता हो वही ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारी श्रावक कहा जाता है।

श्लोक—आरंभे मन पसरस्य, दिष्ट अदिष्ट संजुते।
निरोधनं च कृतं येन, शुद्ध भावं च संजुतं ॥ ४२६ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसने (दिष्ट अदिष्ट संजुते आरंभे) देखे हुए व सुने हुए व संयोग प्राप्त आरंभोंमें (मन पसरस्य निरोधनं च कृतं) फैले हुए मनको निरोध किया हो (शुद्ध भावं च संजुतं) तथा शुद्ध भावोंका धारी हो वह आरम्भ त्याग प्रतिमा धारी श्रावक है।

विशेषार्थ—अब यहां आठमी आरम्भ त्याग प्रतिमाको कहते हैं। यद्यपि अभी परिग्रहका त्यागी नहीं है तौ भी अब यह अपने संयोगमें जो कुछ लौकिक आरम्भ करता था, व्यापार खेती लेन देन, गृहारंभ आदि उन सबको त्याग करके संतोषी होजाता है। मनसे वैराग्यवान होकर देखे सुने व अनुभव किये हुए आरम्भोंमें भी मनको नहीं उलझाता है। यदि घरमें रहे तो एकांतमें रहता है। अपने लिये कोई आरम्भ नहीं कराता है। जब भोजनके समय उसका कुटुम्बी पुत्र आदि कोई बुलाता है तब भोजन संतोषसे कर लेता है। वह स्वयं न बनाता है, न बनवाता है। दूसरे उसके कुटुम्बी उसकी आवश्यक्ताओंपर ध्यान रखकर उसको प्राशुक पानी आदि देते रहते हैं। यदि वह गृहत्यागी होता है तो दूसरे श्रावकगण उसकी सम्हाल रखते हैं। वह पहलेसे निमंत्रण तो मानता है परंतु मेरे लिये अमुक वस्तु बनाई जाय ऐसा जो सातमी प्रतिमा तक कह सक्ता था सो अब नहीं कहता है। यदि कोई पूछे क्या त्याग है तो जिस किसी रस या वस्तुका त्याग होता है उसको बता देता है। संतोषसे जो मिले उसको अल्पाहार करके शरीर रक्षा करता है तथा निरंतर एकांतमें बैठकर शुद्ध भावोंके लिये सामायिक, ध्यान, आध्यात्मिक ग्रंथोंका विचार व धर्म-ध्यान व धर्मोपदेश करता रहता है। परम वैराग्यवान हो आत्मीक उन्नतिका आरंभ करता रहता है। धर्म प्रभावनाका आरंभ करता है परंतु सांसारिक आरम्भसे पूर्णतया विरक्त होजाता है।

श्री रत्नकरंड श्रावकाचारमें इसका स्वरूप है—

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारंभतो व्युपारमति। प्राणातिपातहेतोर्योसावारंभविनिवृत्तः ॥ १४४ ॥

भावार्थ—जो सेवा खेती व्यापारादि आरंभोंसे विरक्त होजाता है क्योंकि इन सबसे प्राणोंका घात होता है वह आरंभत्यागी श्रावक है। यहां वह त्रस स्थावर दोनोंकी हिंसासे विरक्त होजाता है। सातमी प्रतिमा तक आरंभी हिंसाका पूर्ण त्याग न था मात्र अभ्यास था, यहीं पूर्ण त्याग कर देता है। यहां सचित्त जल व वनस्पतिको स्वयं अचित्त भी न करेगा, यहां वह हिंसाकारी वाहनोंपर नहीं चढेगा। अपने न जानते हुए गाडी घोडे, बैल आदि द्वारा बहुतसे त्रस प्राणियोंकी जो मार्गमें चलते हैं हिंसा होजाती है इसलिये वह हिंसाकारी वाहनोंपर नहीं चढके पैदल ही भूमि निरखकर चलता है। आरंभी हिंसाके त्यागकी अपेक्षा ही यह आठमी श्रेणी है। यही गृह त्यागी श्रावक संतोषसे देशाटन करता है। जहां आसपास ग्रामोंमें श्रावकोंके घर होंगे उसी प्रदेशमें भ्रमण करेगा। आरंभ करानेवाली यात्राओंको स्वयं न करेगा। यदि कोई संघ अपनेआप किसी तीर्थयात्राको जाता हो व संघवाले साथ ले जानेकी प्रार्थना करें तो साथ हो लेता है व पैदल ही गमन करता है। आत्मरसका मगन रहनेवाला परम संतोषी यह श्रावक होता है। यदि घरमें परिग्रहके भीतर हैं, पुत्रादि सब काम करते हैं, उनको वह किसी कामकी प्रेरणा नहीं करता है। जब वह किसी लौकिक कामकी सलाह पूछे तो उदासीन भावसे बता देता है।

श्लोक—अनृत अचेत असत्त्यं, आरंभं येन क्रीयते।
जिन उक्तं च न दिष्टंते, जिनद्रोही मिथ्या तत्परा ॥ ४२७ ॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसके द्वारा (अनृत अचेत असत्त्यं आरंभं क्रीयते) मिथ्या, अज्ञानमय व पीडाकारी आरम्भ किया जाता है (च जिन उक्त न दिष्टंते) व जो जिनेन्द्रकी आज्ञाका भी विश्वास नहीं रखता है वह (जिनद्रोही मिथ्या तत्परा) जिन आज्ञाका लोपी व मिथ्यात्वके आधीन है।

विशेषार्थ—यहां आरंभका स्वरूप कहते हैं। जो द्रव्य कमानेमें अति आशक्त होजाते हैं वे इस बातका विचार छोड देते हैं कि कौनसा आरंभ ठीक है या अयोग्य है, कौनसा मिथ्या वचनोंसे होता है, कौनसा सत्य वचनोंसे होता है। ज्ञानमय व अज्ञानमयका विचार नहीं रखता है। अति पीडाकारी आरंभ भी कर लेता है जैसे लकडी कटवाना, मादक वस्तु बनवाना, पशुओंका विक्रय, शास्त्र विक्रय आदि २ तथा आरंभमें सचाईसे नहीं वर्तता है। दूसरोंको ठग करके धन कमाता है।

जिनेन्द्रकी आज्ञा तो यह है कि सत्यताके साथ परको दुःख न पहुंचे इस तरह आजीविकाका साधन करके गृहस्थका कर्तव्य पालो। यह आरंभासक्त होकर न्याय अन्यायको भूलकर जिसतरह अधिक धन संचय हो वैसा करता रहता है, विश्वासघात भी कर लेता है, भोलोंको समझाकर लूट लेता है। ऐसा आरंभी मिथ्यादृष्टी है, जिन भगवानकी आज्ञाको न पालनेवाला हिंसक व पापी है व नरकादि कुगतिका बांधनेवाला है। अतएव आरंभका मोह त्यागना ही हितकर है।

श्लोक—अदेवं अगुरं यस्य, अधर्मं क्रियते सदा।
विश्वासं येन जीवस्य, दुर्गतिं दुःखभाजनं ॥ ४२८ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य सदा अदेवं अगुरं अधर्मं क्रियते) जो सदा ही मिथ्या देव, मिथ्या गुरु, मिथ्या धर्मकी सेवा किया करता है (येन जीवस्य विश्वासं) जिस जीवका विश्वास ही ऐसा होता है (दुर्गतिं दुःखभाजनं) वह कुगतिमें जाकर दुःखोंका भाजन होजाता है।

विशेषार्थ—आरंभ परिग्रहमें जो गृहस्थ आसक्त होजाता है, धनका लोलुपी होजाता है वह वैराग्यवर्द्धक जिनदेव, जिनगुरु व जिनधर्मकी श्रद्धा नहीं करता हुआ रागी द्वेषी देव, परिग्रहधारी गुरु, व हिंसामई धर्मकी श्रद्धा कर लेता है। उसको जब ऐसा उपदेश मिलता है कि अमुक देव देवीकी पूजा करनेसे धनलाभ पुत्रलाभ होगा, राज्यलाभ होगा। अमुक साधुकी भक्ति करनेसे धन, पुत्र, राज्यका संरक्षण रहेगा। अमुक पूजा पाठ, जप तप, यात्रा करनेसे धनादिका समागम होगा। तब यह आरंभी मोही जीव उनमें विश्वास करके उनहीकी भक्ति किया करता है तथा बहुधा मान्यता मानता है कि मेरा अमुक काम सिद्ध होजायगा तो मैं ऐसी भक्ति करूंगा, यह दान दूंगा इत्यादि। ऐसी मान्यता कर लेनेपर कदाचित् काम सिद्ध होगया तो यह ऐसा मान लेता है कि अमुक कुदेव, कुगुरु, व कुधर्मके प्रतापसे ही सिद्ध हुआ है। यद्यपि वह कार्य तो पुण्यके उदयसे हुआ है परंतु मिथ्यात्वीको मिथ्या माननेमें कुछ संकोच नहीं होता है। ऐसा मानकर वह और अधिक मिथ्या श्रद्धानी होजाता है। इसतरह धनका लोलुपी आरंभी होकर तीव्र पाप बांधकर नरकादिमें जाकर घोर दुःख उठाता है। आरंभका मोह संसार दुःखोंका हेतु है।

श्लोक—आरंभं परिग्रहं दिष्टं, अनंतानंत चिंतए ।
ते नरा ज्ञान हीनस्य, दुर्गतिगमनं न संशयः ॥ ४२९ ॥

अन्वयार्थ—(आरंभ परिग्रहं दिष्टं) आरंभ व परिग्रहको देखकर (अनंतानंत चिंतए) वह अनंतानंत परिग्रहकी प्राप्तिकी चिंता किया करता है (ते नरा ज्ञान हीनस्य) वे मानव सम्यग्ज्ञानसे शून्य हैं (दुर्गति गमनं न संशयः) उनका कुगतिमें गमन होगा इसमें कोई संशय नहीं है ।

विशेषार्थ—अज्ञानी देखी सुनी परिग्रहको विचार कर व देखे सुने आरम्भको जानकर निरंतर अधिकाधिक धनकी प्राप्तिकी चिंता किया करता है । कथाओंमें चक्रवर्तीकी सम्पदा पढ़कर व इंद्रकी विभूति जानकर व उनकी अमोघ शक्तिको सुनकर तथा परदेश या स्वदेशमें बड़े २ कोट्याधीश मानवोंकी सम्पत्ति सुनकर व उनका बड़ा भारी व्यापार जानकर यह चिंता किया करता है कि कब मैं ऐसा आरम्भ करूँ, कब मैं इतना बड़ा धनी होजाऊँ, कब मैं ऐसा काम करूँ जिससे चक्रवर्ती नारायण, प्रतिनारायण, राजा, महाराजा, इन्द्र, धर्णेन्द्र आदिके भोग सामग्रीको प्राप्त कर सकूँ, इस तरह अनंतानुबंधी कषायके उदयसे आरंभ परिग्रहकी घोर चिंता करके कुभावोंके अनुसार धन अल्प रहते हुए व अल्पारम्भ करते हुए भी तीव्र कर्म बांध लेता है । बहुधा नर्क आयु बांधकर नर्क चला जाता है । अतएव आरम्भ महान दुःखदाई है ।

श्लोक—आरंभं शुद्ध दिष्टं च, सम्यक्तं शुद्धं ध्रुवं ।
दर्शनं ज्ञान चारित्रं, आरंभ शुद्ध शाश्वतं ॥ ४३० ॥

अन्वयार्थ—ज्ञानीके (शुद्ध आरंभं दिष्टं च) शुद्ध भावके पानेका आरंभ देखा जाता है उसके (शुद्धं ध्रुवं सम्यक्तं) शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन होता है (दर्शनं ज्ञान चारित्रं) उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रत्नत्रयका (आरंभ शुद्ध शाश्वतं) आरंभ शुद्ध नित्य होता है ।

विशेषार्थ—आरंभत्यागी श्रावक सम्यग्दृष्टी होता है वह सर्व लौकिक आरंभको महा पापका कारण समझकर त्याग देता है, मात्र शुद्धात्मीक भावोंकी प्राप्तिका आरंभ अर्थात् धर्मध्यानका आरंभ करता रहता है । अपने निर्मल सम्यक्त भावके कारण वह रत्नत्रयकी शुद्धिका यत्न करता

रहता है। वह जानता है कि निश्चय रत्नत्रय स्वात्मानुभवको कहते हैं। उसके निरंतर स्वात्मानुभवका अभ्यास रहता है। जब आत्माके मननमें उपयोग नहीं लगाता है तब जिनवाणीका अभ्यास करता है-उसमें आध्यात्मीक शास्त्रोंपर विशेष लक्ष्य देता है, जो जो नियम पहलेसे हैं उनको भलेप्रकार पालता है। व्यवहार सम्यग्दर्शनके द्वारा निश्चय सम्यग्दर्शनको व्यववार सम्यग्ज्ञानके द्वारा निश्चय सम्यग्ज्ञानको व व्यवहार सम्यक्चारित्रके द्वारा निश्चय सम्यक्चारित्रको दृढतासे साधन करता है। शुद्ध नित्य आत्माके अनुभवमें उपयोगको जमानेका मुख्य आरंभ करता है, हिंसामई आरंभसे बचता है, अहिंसाके आरंभमें प्रवर्तता है।

श्लोक—आरंभं शुद्ध तत्वं च, संसार दुःख त्यक्तयं।
मोक्षमार्गं च दिष्टंते, प्राप्तं शाश्वतं पदं ॥ ४३१ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध तत्वं च आरंभं) शुद्ध आत्मीक तत्वका विचार (संसार दुःख त्यक्तयं) संसारके दुःखोंसे छुडानेवाला है (मोक्षमार्गं च दिष्टंते) मोक्षका मार्ग दिखानेवाला है (शाश्वतं पदं प्राप्तं) व अविनाशी पदको प्राप्त कराने वाला है।

विशेषार्थ—संसारीक कार्योंका आरम्भ संसारके भ्रमणका कारण है तब आत्म कार्यका आरंभ संसारके दुःखोंको छुडानेवाला है तथा मोक्ष प्राप्त करानेवाला है। अविनाशी निर्वाण पदका साधन स्वात्म ध्यान है, जहां शुद्ध आत्माका अनुभव है वहीं रत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है, आरंभ त्यागी श्रावक सर्व संकल्प विकल्प त्यागकर निश्चिंत होकर दिनरात आत्माके उद्धारमें ही दत्तचित्त रहता है। धार्मिक अंतरंगका इसके त्याग नहीं है इसलिये धर्मोन्नतिके कार्योंको करता रहता है, पूजा पाठ स्तुति करता रहता है। दानधर्म करता व कराता रहता है। अभी यह परिग्रहका स्वामी है, धनको शुभ कार्योंमें लगाकर सफल करता है। ज्ञानकी उन्नतिमें विशेष लक्ष्य देता है। यह बडा दयालु है, दुःखी प्राणियोंके दुःख मेटता है, जगतमें जीवदयाका प्रचार करता है, सर्वसे प्रेम भाव रखता हुआ धर्मकी प्रभावना करता है।

श्लोक—परिग्रहं पुद्गलार्थं च, परिग्रहं न चिंतए।
ग्रहणं दर्शनं शुद्धं, परिग्रह न विदिष्टते ॥ ४३२ ॥

अन्वयार्थ—(परिग्रहं पुद्गलार्थं च) परिग्रह धन धान्य आदि पुद्गल जो शरीर उसके लिये होती है। यह श्रावक (परिग्रहं न चिंतए) परिग्रहकी चिंता छोड देता है (शुद्धं दर्शनं ग्रहणं) इसके शुद्ध सम्यग्दर्शनका ग्रहण है (परिग्रह न विदिष्टते) और परिग्रह नहीं दिखलाई पडता है।

विशेषार्थ—अब नौमी परिग्रह त्याग प्रतिमाको कहते हैं। इस श्रेणीमें आकर वह श्रावक अपने पास सर्व सम्पत्तिको जिसे देना हो देदेता है। धर्मकार्योंमें व दान धर्ममें लगा देता है। अब अवश्य नियमसे घरको त्याग कर धर्मशालामें व उपवनमें, सर्वसाधारणके उपयोग योग्य स्थानमें जहां अपना स्वामीपना नहीं है वहां रहता है। शरीरसे ममता छोड दी है। मात्र शरीर रक्षाके हेतु कुछ वस्त्र व वर्तन रखता है। रुपया पैसा कुछ नहीं रखता है। निमंत्रण किये जानेपर जो आहार करावे उसे संतोषसे कर लेता है। यह अपना स्वामीपना अपने ज्ञान दर्शन आत्माके स्वभावमें ही रखता है। और सर्व तरहसे ममता दूर कर देता है। इसके निरंतर भावना मुनिपद धारनेकी रहती है। रत्नकरंड श्रावकाचारमें कहा है—

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः। स्वस्थः संतोषपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः ॥ १४९ ॥

भावार्थ—यह परिग्रह त्यागी श्रावक बाहरी १० प्रकारकी वस्तुओंसे ममता छोड देता है, उनका त्याग कर देता है, क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपडे, वर्तन, इन सबसे स्वामीपना हटा लेता है। परम वैराग्यमें लीन होकर आत्माके ध्यानमें तिष्ठता है। परम संतोष रखता है। तत्वविचारमें लगा रहता है व धर्मके स्वामी साधुओंकी संगति रखता है। ग्रामादिमें विहार करता हुआ स्वपर कल्याण करता है।

श्लोक—अनुमतिं न दातव्यं, मिथ्यारागादिदेशनं।
अहिंसा भावशुद्धं च, अनुमतिं न चिंतए ॥ ४३३ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यारागादिदेशनं अनुमतिं न दातव्यं) मिथ्या राग द्वेष सम्बन्धी भावको उपदेश करनेवाली सम्मति न देना चाहिये (अनुमतिं न चिंतए) न ऐसी सम्मति देनेकी चिंता ही करनी चाहिये (अहिंसा भावशुद्धं च) अहिंसाभाव व शुद्ध आत्मीक भाव सदा रखना चाहिये सो अनुमति त्याग श्रावक है।

विशेषार्थ—दसमी प्रतिमा अनुमति त्याग है। इस श्रेणीमें श्रावक धर्म सम्बन्धी चर्चाके सिवाय और कोई लौकिक चर्चा नहीं करता है। कोई लौकिक सम्मति गृहस्थके क्षणभंगुर मिथ्या कार्य सम्बन्धी व व्यापार सम्बन्धी व विवाहादि सम्बन्धी पूछे तो कुछ नहीं कहता है और न मनमें ही उस सम्बन्धी अच्छा या बुरा चिंतवन करता है। नौमी प्रतिमा तक तो यदि कोई सम्मति सांसारिक कार्य सम्बन्धी पूछता तो यह उदासीन भावसे मात्र उसके लाभ व हानि बता देता, प्रेरक रूपसे कुछ नहीं कहता। इस श्रेणीमें वह इन बातोंसे भी विरक्त होजाता है। आत्म-कल्याण सम्बन्धी व धर्मकी उन्नतिकारक बात ही कहता है व इसीमें सम्मति देता है। इसके परिणामोंमें अहिंसा भाव बहुत अधिक है। किंचित् भी उसके निमित्तसे हिंसा हो यह इसे पसंद नहीं है। इसीलिये यह श्रावक पहलेसे निमंत्रण नहीं मानता है। भोजनके समय कोई बुलावे चला जाता है, सदा शुद्ध आत्माके ध्यानका लक्ष्य रखता है। रत्नकरंडमें कहा है—

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा। नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥ १४६ ॥

भावार्थ—जो समभाव धारक ज्ञानी श्रावक बाहरी कायाके सम्बन्धमें आरम्भ करने व धनादि परिग्रह एकत्र करनेकी सम्मति नहीं देता है वह अनुमति त्याग श्रावक है ऐसा जानना चाहिये। यह मध्यम पात्रमें उत्तम गिना गया है।

श्लोक—उदिष्टं उत्कृष्ट भावेन, दर्शन ज्ञान संयुतं।
चरणं शुद्ध भावस्य, उदिष्टं आहार शुद्धये ॥ ४३४ ॥
अंतराय मनं कृत्वा, वचनं काय उच्यते।
मनशुद्धं वच शुद्धं च, उदिष्टं आहार शुद्धये ॥ ४३५ ॥

अन्वयार्थ—(उत्कृष्ट भावेन) श्रेष्ठ भावोंके साथ (दर्शन ज्ञान संयुतं चरणं उदिष्टं) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र पालनेका जिसके उद्देश्य हो ऐसे (शुद्ध भावस्य) शुद्ध भाव धारीके (उदिष्टं आहार शुद्धये) उद्दिष्टाहारका त्याग होता है। (मनं वचनं काय कृत्वा अंतराय उच्यते) मन, वचन, काय सम्बन्धी अंतरायको बचाना इसके लिये कहा गया है (मनशुद्धं वच शुद्धं च) इसका मन शुद्ध व वचन शुद्ध होता है सो (उदिष्टं आहार शुद्धये) उद्दिष्ट आहारका त्यागी श्रावक है।

विशेषार्थ—ग्यारहवीं प्रतिमा उद्दिष्टाहार त्याग है, इस श्रेणीमें यह उत्कृष्ट श्रावक होजाता है, साधु समान वैराग्यके भाव रखता है। यह नहीं चाहता है कि इसके उद्देश्यसे व इसको लक्ष्यमें लेकर कोई आहार बनाया गया हो उसे यह लेवे। जिस आहारको कुटुम्बी श्रावकने अपने ही कुटुम्बके लिये बनाया हो उसीमेंसे जो विभाग भिक्षावृत्तिसे जाते हुए मिले उसे ही लेकर यह संतुष्ट रहता है। यह मनमें भोजनकी लालसा नहीं रखता है न वचन ऐसा कहता है जिससे भोजनकी लालसा व याचना प्रगट हो। इसका उद्देश्य या प्रयोजन रत्नत्रय धर्मको परम समताभावसे पालना है। भोजनके अंतरायोंको मन, वचन, कायसे टालकर भोजन करता है।

रत्नकरण्डमें कहा है—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकंठे व्रतानि परिगृह्य। भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥

भावार्थ—जो गृहवाससे उदास हो मुनिराजके पास जाकर वनमें उनके समीप व्रतोंको लेकर उनके पास तपस्या करे व भिक्षासे भोजन करे व खंड वस्त्र रखे सो उत्कृष्ट प्रतिमाधारी है।

अनुमति त्याग प्रतिमा तक धर्मशालामें व एकांत घरमें व नसिया आदिमें ठहरकर धर्म साधन कर सक्ता था। ग्यारहवीं प्रतिमावाला मुनिराजकी संगतिमें रहेगा क्योंकि यह मुनि धर्म पालनेका अभ्यास करनेवाला होजाता है। जैसे मुनि वर्षाके चार मास सिवाय विहार करते हैं, शेष नगरके पास पांच दिन व ग्रामके पास एक दिन ही ठहरते हैं, पगसे विहार करते हैं, वैसे ही यह श्रावक करेगा। क्षुल्लक श्रावक एक खंड वस्त्र जिससे पग ढके तो मस्तक खुला रहे, मस्तक ढका हो तो पग खुला रहे व एक लंगोट रखता है। शरदी गर्मी दंस मशकादिकी बाधा सहनेका अभ्यास करता है। जीवदयाके लिये मोर पिच्छी व कमंडलमें शौचके लिये जल रखता है व कोई२ भिक्षा लेनेका पात्र भी रखते हैं, मुनिवत् भिक्षाको जाते हैं। जहांतक मनाई नहीं है वहांतक गृहस्थीके घर जाते हैं। भिक्षा लेनेका जो पात्र रखते हैं वे पात्रमें भोजन थोडासा लेकर अन्य निकट घरमें जाते हैं। इसतरह पांक्तिबंध ५–७ घरोंसे भोजन एकत्र करके अंतिम घरमें बैठकर भोजनपान करके पात्रको शुद्ध करके वनमें चले जाते हैं। जो एक घर लेनेवाले होते हैं वे एक ही घरमें बैठकर थालीमें संतोषसे भोजन कर लेते हैं। २४ घंटेमें एक ही दफे भोजन पान करते हैं, ये केशोंको कत-

राते हैं। इनमें एक भेद ऐलकोंका है, ये ऐलक एक लंगोट मात्र रखते हैं। ये मुनिके समान केशोंका लोंच करते हैं, काष्टका कमंडल रखते हैं, भिक्षासे एक घर बैठकर अपने हाथमें ही भोजन ग्रास रूप लेकर करते हैं, मुनिधर्मका अभ्यास करते हैं। ये दोनों क्षुल्लक ऐलक ग्यारह प्रतिमाओंके नियमोंको जो उत्कृष्ट चारित्रमें बाधक नहीं हैं खब पालते हैं, मुनिराज होनेकी भावना भाते हैं, आत्मध्यानका विशेष अनुराग रखते हैं। ऐलक विशेष विरक्त हैं, रात्रिको मौन रखकर ध्यान करते हैं, उद्दिष्टाहारके त्यागी इसीलिये होते हैं कि उनके आशयसे श्रावक कोई आरम्भ न करे। स्वयंके लिये आरम्भ करे उसीमेंसे दान रूप जो मिले उसीमें यह संतोष करे। यहांतक प्रत्याख्यानावरण कषायका जितना जितना मंद उदय होता जाता है उतना उतना बाहरी व अंतरंग चारित्र बढता जाता है।

श्लोक—प्रतिमा एकादशं येन, जिन उक्तं जिनागमे।
पालंति भव्यजीवानां, मन शुद्धं स्वात्मचिंतनं ॥ ४३६ ॥

अन्वयार्थ—(जिन आगमे जिन उक्तं) जिनागममें जिनेन्द्र भगवानके कथन प्रमाण (येन एकादशं प्रतिमा) जो यह ग्यारह प्रतिमा हैं (भव्य जीवानां पालंति) भव्य जीव पालते हैं (मन शुद्धं) मनको शुद्ध रखते हैं (स्वात्मचिंतनं) व अपने आत्माका ध्यान करते हैं।

विशेषार्थ—इन ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदेशित व ऋषि प्रणीत जिनागममें जैसा कहा गया है वैसा जानकर श्रावकोंको उचित है कि शुद्ध भावोंके साथ माया, मिथ्या, निदान तीन शल्य छोडकर पालें, मुख्यतासे शुद्धात्माके चिंतवनकी भावना रक्खें। निश्चयधर्म आत्माका अनुभव है उसकी उन्नति करते जावें, मात्र बाहरी चारित्र कार्यकारी नहीं है। बाहरी चारित्र सहायकारी है, निश्चय चारित्र ही परोपकारी है।

श्लोक—अनुव्रतं पंच उत्पादंते, अहिंसानृत उच्यते।
अस्तेयं ब्रह्म व्रतं शुद्धं, अपरिग्रहं स उच्यते ॥ ४३७ ॥

अन्वयार्थ—(अनुव्रतं पंच उत्पादंते) ये ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक पांच अणुव्रतोंको बढाते जाते

हैं वे (अहिंसानृत उच्यते) अहिंसा व्रत है, अनृत त्याग व्रत कहा जाता है (अस्तेयं) चोरीका त्याग है (शुद्धं ब्रह्म व्रतं) शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत है (अपरिग्रहं स उच्यते) वह परिग्रह त्याग व्रत कहा जाता है।

विशेषार्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पांच व्रतोंको एक देश पालनेका अभ्यास पहली दर्शनप्रतिमासे प्रारंभ होता है फिर बढता हुआ चला जाता है। महाव्रतोंमें कुछ ही कमी रह जाती है वहांतक उत्कृष्ट श्रावक ग्यारह प्रतिमाधारी होता है। ये पांच व्रत ही संवरके कारण हैं। अविरत भावसे जो कर्मोंका आस्रव बंध होता है वह इन व्रतोंके पालनेसे बंद होता जाता है, वीतरागता बढती जाती है।

श्लोक—हिंसा असत्य सहितस्य, रागदोष पापादिकं।
थावरं त्रस आरंभं, त्यक्तते ये विचक्षना: ॥ ४२८ ॥

अन्वयार्थ—(ये विचक्षनाः) जो चतुर श्रावक हैं वे (हिंसा असत्य सहितस्य) हिंसा व असत्य इन प्रयोजनोंको लेकर (रागदोष पापादिकं) राग द्वेषको व पाप आदिको (थावरं त्रस आरंभं) स्थावर व त्रसके आरम्भको (त्यक्तते) छोड देते हैं।

विशेषार्थ—अहिंसाव्रत यह बताता है कि पर पीडाकारी भाव व मिथ्या वचनोंके द्वारा परको ठगनेका भाव दिलसे निकाल डाला जावे तथा भाव हिंसा व द्रव्य हिंसा दोनोंसे बचा जावे। राग द्वेष क्रोधादि भाव व पाप करनेके परिणाम भाव हिंसा है, क्योंकि उनसे आत्माके शुद्ध ज्ञानादिका व शांत भावका घात होता है। तथा स्थावर व त्रस छः कायके प्राणियोंका घात द्रव्यहिंसा है। श्रावकोंके भाव ये ही रहने चाहिये कि हम भाव हिंसा व द्रव्य हिंसा दोनोंसे बचे। इस पूर्ण अहिंसाव्रतकी भावनाको दृढतासे रखते हुए ये श्रावकगण ग्यारह श्रेणियोंके द्वारा इस अहिंसाव्रतको यथाशक्ति प्रारंभ करते हुए अंतमें पूर्णताके निकट पहुंचा देते हैं, साधु होने तक पूर्ण अहिंसाके अभ्यासी होजाते हैं। अंतरंगमें वीतराग भाव बाहरमें आरंभकी कमी, ये ही उपाय अहिंसाके पालनेके हैं। धर्म अहिंसामय है, मेरे भाव भी निराकुल रहे व दूसरे भी प्राणी मेरे द्वारा कष्ट न पावे ऐसा दयाभाव श्रावकोंके भीतर रहना योग्य है।

श्लोक—अनृतं अनृतं वाक्यं, अनृत अचेत दिष्टते ।
अशाश्वतं वचन प्रोक्तं च, अनृतं तस्य उच्यते ॥ ४३९ ॥

अन्वयार्थ—(अनृतं) अनृत त्यागमें (अनृतं वाक्यं) मिथ्या वाक्योंका त्याग होता है । (अनृत अचेत दिष्टते) जो वचन मिथ्या है वे अज्ञानरूप कहे जाते हैं । (अशाश्वतं वचन प्रोक्तं च) जो नाशवंत पदार्थोंको थिर रखनेका वचन कहता है (तस्य अनृतं उच्यते) उसके भी असत्य वचन कहा जाता है ।

विशेषार्थ—दूसरा व्रत असत्य त्याग है व सत्य व्रत है। इस व्रतमें श्रावकोंको न तो असत्य वचन कहना चाहिये न मिथ्यात्व पोषक वचन कहना चाहिये न अज्ञान मूलक वचन कहना चाहिये। माया भाव चित्तमेंसे निकाल कर सरलतासे वचन कहना चाहिये जिसमें दूसरोंको धोखा न दिया जावे । जो वस्तु जैसी है उसको वैसी कहा जावे । वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है उसको एक ही धर्मरूप कहना असत्य है । जगतकी सर्व क्रियाएँ नाशवंत हैं उनको थिर कहना असत्य है । संसारमें राग बढानेवाला वचन व आरम्भ परिग्रहमें प्रेरक वचन भी असत्य है । कठोर मर्म छेदक अप्रिय व हिंसाकारी सत्य वचन भी असत्य है। जिनवाणीके प्रतिकूल कोई वचन कहना भी असत्य है। हरएक वचन जिन सूत्रकी दृढता करानेवाला बोलना ही सत्यव्रत है । आरम्भी वचन भी असत्य है । इस मात्र असत्यका त्याग वहांतक नहीं बना सक्ता है जहांतक आरम्भका त्याग न हो । आरम्भ त्यागीके आरम्भ करने कराने सम्बन्धी वचन भी नहीं निकलता है। श्रावकोंको अधिकतर मौन रहना चाहिये । प्रयोजनवश कुछ वचन योग्यतासे विचार पूर्वक बोलना चाहिये ।

श्लोक—अस्तेयं स्तेय कर्मस्य, चौर भावं न क्रीयते ।
जिन उक्तं वचनं शुद्धं, अस्तेयं लोप न कृतं ॥ ४४० ॥

अन्वयार्थ—(अस्तेयं) चोरीका त्याग अस्तेय व्रत यह है कि (स्तेय कर्मस्य चौर भावनं क्रीयते) चोरी कर्म व चोरीके भावको नहीं किया जावे। (जिन उक्तं वचनं शुद्धं लोप न कृतं अस्तेयं) जिनेन्द्र द्वारा कथित उपदेशको शुद्धतासे पाले व करे व कभी उसका लोप न करे सो अस्तेय व्रत है ।

विशेषार्थ—तीसरा अचौर्यव्रत यह है कि विना दिया हुआ किसीका गिरा पडा भूला विसरा

आदि मालको न लिया जावे। कभी भी चोरीका भाव दिलमें न लाया जावे न चोरी करने कराने सम्बन्धी वचन बोलना चाहिये न चोरीकी अनुमोदना करनी चाहिये। नीतिसे धर्मानुकूल धनादि ग्रहण किया जावे व आरम्भ त्यागीको शुद्धताके साथ अन्तराय व दोष टालकर शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये। जो धर्म साधनकी वस्तु है उसमें अपनापना कभी न मानना चाहिये। जिनेंद्रकी आज्ञा प्रमाण वस्तुका स्वरूप विचारना चाहिये। वैसा ही कहना चाहिये व वैसा ही पालना चाहिये। जो जिनकी आज्ञाके विरुद्ध सोचते कहते व करते वे जिनाज्ञालोपी चोरीके दोषके भागी होते हैं। शुद्ध मन, वचन, काय रखके कपट त्यागके वर्तन करना ही अचौर्यव्रत है।

श्लोक—ब्रह्मचर्यं च शुद्धं च, अबंभं भाव त्यक्तयं।
विकहा राग मिथ्यात्वं, त्यक्तं बंभ व्रतं ध्रुवं ॥ ४४१ ॥

अन्वयार्थ—(ब्रह्मचर्यं च शुद्धं च) शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत पालना चाहिये (अबंभं भाव त्यक्तयं) अब्रह्म या कुशीलके भावको त्याग देना चाहिये। (विकहा राग मिथ्यात्वं त्यक्तं) विकथाका राग व मिथ्यात्वको छोडना चाहिये। तब (बंभ व्रतं ध्रुवं) ब्रह्मचर्य व्रत निश्चल होता है।

विशेषार्थ—चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। छठी प्रतिमातक श्रावक एकदेश पालता है, सातमी प्रतिमासे फिर पूर्ण पालता है। कुशीलके भावको त्यागना ब्रह्मचर्यव्रत है, स्पर्श इंद्रियके विषयकी चाहको रोकना, मनको ब्रह्म-स्वरूप आत्माके मननमें लगाना ब्रह्मचर्य व्रत है। स्त्री, भोजन, देश व राजाकी खोटी रागवर्द्धक कथाओंको त्यागना व संसारासक्ति रूप अग्रहीत मिथ्यात्वका भाव त्यागना व सदा वैराग्यकी भावना भाना। विषयोंको विषके समान समझना, ये सब साधन ब्रह्मचर्यकी रक्षाके हैं। बाहरमें सर्व स्त्री मात्रको माता, बहिन, पुत्रीके समान देखना। अंतरंगमें शुद्ध स्वरूपका मनन करना ब्रह्मचर्यव्रत है। यह ब्रह्मचर्यव्रत वीर्यका परम रक्षक है। मन, वचन, कायकी सर्व शक्तियोंका रक्षा करनेवाला है। आत्मध्यानका परम सहायक है। ध्यानका परम मित्र है। मोक्षमार्गमें बडा उपकारी है। श्रावकोंको उचित है कि इसके पालनमें दृढतासे वर्तन करें।

श्लोक—मनवचन कायं शुद्धं, शुद्धसमयं जिनागमं।
विकहा काम सद्भावं, त्यक्तते ब्रह्मचारिना ॥ ४४२ ॥

अन्वयार्थ—(मनवचन कायं शुद्धं) ब्रह्मचारीको मन, वचन, कायको अब्रह्मके संसर्गसे शुद्ध रखना चाहिये। (शुद्ध समयं जिनागमं) शुद्ध आत्मा व जिनवाणीका मनन करना चाहिये (ब्रह्मचारिना) ब्रह्मचारीको (विकहा काम सद्भावं) खोटी कथा जिनमें कामभावका अस्तित्व हो (त्यक्तवे) छोड देना चाहिये।

विशेषार्थ—ब्रह्मचर्यकी रक्षाके हेतु ब्रह्मचारीको मनमें भी कामभावको व रागभावको न लाना चाहिये। हास्यजनक, रागवर्द्धक, कामोत्पादक वचनोंको भी नहीं बोलना चाहिये, न शरीरकी कोई कुचेष्टा करना चाहिये, शुद्ध समय जो शुद्ध आत्मा उसपर लक्ष रखना चाहिये, उसका ध्यान करना चाहिये। जब आत्माके स्वरूपमें उपयोग स्थिर न होसके तब जिनवाणीका अभ्यास पठन पाठन मनन करना चाहिये। श्रुतका विचार मनको ज्ञान वैराग्यमें रमानेका बडा भारी अपूर्व आलम्बन है। काम भावको जागृति करनेवाली विकथा व काम कथा व शृंगार कथा न कभी करनी चाहिये और न कभी सुननी चाहिये। ब्रह्मचर्यकी रक्षाके साधनोंको जोडना चाहिये।

श्लोक—परिग्रहं प्रमाणं कृत्वा, पर द्रव्यं न दिष्टते ।
अमृत असत्य त्यक्तं च, परिग्रह प्रमाणं तथा ॥ ४४३ ॥

विशेषार्थ—(परिग्रहं प्रमाणं कृत्वा) इस प्रकारके परिग्रहका प्रमाण करके (पर द्रव्यं न दिष्टते) उसके सिवाय परके द्रव्यपर दृष्टि न डाले (अमृत असत्य त्यक्तं च) मिथ्या भाव व मिथ्या वचन व मिथ्या आचरण छोडे (तथा परिग्रह प्रमाणं) इस तरह परिग्रह प्रमाण व्रतको पाले।

विशेषार्थ—श्रावकोंका पांचवा व्रत परिग्रह प्रमाण है। इस व्रतको प्रारंभ करते हुए जन्मपर्यंतके लिये क्षेत्र मकान आदि परिग्रहका प्रमाण अपनी इच्छाके अनुसार करले। फिर आगे जितनी जितनी इच्छा घटे घटाता जावे। ११ वीं प्रतिमा तक सर्व इच्छा मिट जानेसे एक लंगोट मात्र परिग्रह रह जाती है। ऐसा श्रावक अपने पुण्य योगसे प्राप्त सम्पत्तिमें संतोष रखे, परके द्रव्यकी चाह न करे और न मिथ्या संकल्प धनके कमानेका करे न वचन कहकर धन कमावे न मिथ्या अन्यायरूप व्यवहार करके धन कमावे। परिग्रह प्रमाण व्रती बहुत ही संतोषसे रहे। अपने धनकी मर्यादा पूरी करनेके लिये अन्यायसे धन संग्रहका विचार भी न करे। आवश्यक्तानुसार परिग्रह रखते हुए भी अन्तःकरणसे निर्मोही रहे।

श्लोक—एता तु क्रिया संयुक्तं, सम्यक्तं सार्द्धं ध्रुवं ।
ध्यानं शुद्ध समयस्य, उत्कष्टं श्रावकं ध्रुवं ॥ ४४४ ॥

अन्वयार्थ—(एता तु क्रिया संयुक्तं) इन ऊपर लिखित क्रियाओंको जो भलेप्रकार पालता हुआ उन्नति करे (ध्रुवं सम्यक्तं सार्द्धं) निश्चल सम्यग्दर्शन साथमें रक्खे (शुद्ध समयस्य ध्यानं) तथा शुद्ध आत्माका ध्यान करे (ध्रुवं उत्कष्टं श्रावकं) वही निश्चयसे उत्कृष्ट श्रावक होता है ।

विशेषार्थ—ग्यारह प्रतिमाओंकी क्रिया बताई हैं उन सबको यथायोग्य साधन करता हुआ तथा पांच अहिंसादि अणुव्रतोंकी भलेप्रकार उन्नति करता हुआ जो श्रावक शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित वर्ते। न सम्यक्तमें अतीचार लगावे, न बारह व्रतोंमें अतीचार लगावे। मुख्य लक्ष्य शुद्धात्माके ध्यान पर रक्खे। वही उत्कृष्ट श्रावक है। यही श्रद्धा रक्खे कि बाहरी चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है किंतु अंतरंग निश्चय मोक्षमार्गका निमित्त साधक होनेसे उसे भी व्यवहार मोक्षमार्ग कह देते हैं। वह श्रावक शुभोपयोग रूप व्यवहार चारित्रको हेय समझता हुआ उपादेय न समझता हुआ मात्र आलम्बन जानके सेवता है परंतु जो निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मध्यानको ही मोक्षमार्ग समझ उसीका ही निरंतर अभ्यास रखता है। परिणामोंमें वीतरागता आवे शुद्धात्मानुभव हो उसीको समझता है कि मैंने जो कुछ मोक्ष मार्ग वास्तवमें साधन किया है। आत्मज्ञान व आगम ज्ञानकी निर्मलतासे ही उत्कृष्ट श्रावककी महिमा है। यह उत्कृष्ट श्रावक देशाटन करता हुआ अपने जीवनमें अनेक जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देता हुआ मोक्षमार्गी बनाता है, धर्म रस आप पीता है तथा औरोंको पिलाता है, मुनि तुल्य भावना भाता है।

साधुका चारित्र ।

श्लोक—साधुओ साधयं लोके, रत्नत्रयं च संयुतं ।
ध्यानं तिअर्थ शुद्धं च, अबद्धं ते न दिष्टते ॥ ४४५ ॥

अन्वयार्थ—(साधुओ) साधु महाराज (लोके) इस लोकमें (रत्नत्रयं च संयुक्तं) व्यवहार रत्नत्रय सहित (ति अर्थ शुद्धं च ध्यानं) निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध ध्यानको (साधयं) साधन करते हैं (तेन) इस कारणसे वे (अबद्धं) बंध रहित व वीतरागी (दिष्टते) दिखाई पडते हैं।

विशेषार्थ—जो व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्रके द्वारा निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध आत्मध्यानका साधन करते हैं वे साधु हैं। ये साधु सर्व परिग्रह रहित होते हैं मात्र पीछी कमण्डल रखते हैं। वीतरागमय ही उनकी सर्व चेष्टा दिखलाई पडती है। वे समताभावसे वर्तन करते हैं। निंदा व प्रशंसामें सम भाव रखते हैं। उपसर्ग व परीषहोंको शांतभावसे सहते हैं। जगतके प्रपंचसे बिलकुल उदासीन हैं। ख्यातिलाभ पूजादिकी चाह रहित शुद्ध धर्म पालते हैं। अवसर पाकर धर्मोपदेश देकर भव्य जीवोंको सुमार्ग पर आरूढ करते हैं।

श्लोक—ज्ञान चारित्र संपूर्णं, क्रिया त्रेपन संजुतं।
पंचव्रत पंच समतिं, गुप्ति त्रय प्रतिपालकं ॥ ४४६ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञान चारित्र संपूर्णं) साधु सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे परिपूर्ण हैं (त्रेपन क्रिया संजुतं) त्रेपन श्रावककी क्रिया सहित हैं (पंचव्रत पंच समतिं) पांच महाव्रत पांच समिति (गुप्ति त्रय प्रतिपालकं) और तीन गुप्तिके पालनेवाले हैं।

विशेषार्थ—निर्ग्रंथ जैन साधु शास्त्र ज्ञाता व आत्मज्ञानी होते हैं। पूर्ण चारित्रके अभ्यासी होते हैं। जहांतक श्रावक थे चारित्र अपूर्ण था। श्रावककी त्रेपन क्रिया साध चुके हैं, मुनिपदमें भी जो जो योग्य हैं, उनको अब भी साधते हैं। वे ५३ क्रियाएँ हैं=८ मूलगुण + १२ व्रत + १२ तप + समताभाव + ११ प्रतिमा + ४ दान + जल गालन + रात्रि भोजन त्याग + रत्नत्रय धर्म तीन कुल ५३।

इनमें १२ तप, समताभाव, रात्रिभुक्ति त्याग, रत्नत्रय इनका अभ्यास साधुपदमें भी रहता है। दानमें ज्ञानदान व अभयदान साधु देते हैं। शेष नियम आरम्भ त्याग होनेसे आवश्यक नहीं हैं। उनमेंसे जो आवश्यक हैं, वे तेरहप्रकार साधुके चारित्रमें गर्भित हैं। पांच महाव्रत १–अहिंसा—स्थावर व त्रस सर्व जन्तुओंकी पूर्णपने रक्षा करना। कोई आरम्भी क्रिया भी नहीं करना। २–सत्य—सदा शास्त्रोक्त वचन स्वपर हितकारी कहना। प्राण जानेपर भी असत्य न कहना। ३–

अचौर्य—विना दी हुई वस्तु जल आदि भी व वृक्षका पत्ता आदि भी कभी नहीं लेना। ४-ब्रह्मचर्य—मन, वचन, काय कृतकारित, अनुमोदनासे ९ प्रकार शीलव्रत पालना। देवी, तिर्यंचनी, मनुष्यणी व काष्ठ चित्रामकी स्त्रियोंसे पूर्णपने वैरागी रहना। उनकी संगतिसे बचना जिससे कामविकार हो। ५-परिग्रह त्याग—क्षेत्र, मकान, वस्त्रादि परिग्रहका त्याग कर नग्न होकर तप करना, मात्र धर्म साधक उपकरण रखना। जैसे जीव रक्षा हेतु मोरपिच्छिका, शौचके लिये काष्ठके कमण्डलमें जल व ज्ञानके लिये शास्त्र।

पांच समिति-ईर्या—चार हाथ भूमि निरखकर दिनमें रौंदे हुए मार्गमें समभावसे गमन करना। २-भाषा—शुद्ध मिष्ठ अल्प वचन कहना। ३-एषणा—शुद्ध भोजन जो उनके उद्देश्यसे न बनाया हो, गृहस्थने अपने लिये बनाया हो उसमेंसे भिक्षाविधिपूर्वक दिये जानेपर संतोषसे दिनमें एकवार लेना, हाथमें ही ग्रास लेना। ४-आदाननिक्षेपण—अपना शरीर, पीछी, कमण्डल, शास्त्रादि देखकर उठाना व धरना। ५-प्रतिष्ठापना—मल मूत्रादि शरीरका मल निर्जंतु भूमिपर क्षेपण करना।

तीन गुप्ति-मन—में धर्मध्यान रखना, आर्त व रौद्रध्यानसे व सांसारिक चिंतासे बचाना। वचन—मौन रहना, यदि कहना पडे तो धर्म साधक वचन कहना। काय—शरीरका निश्चल रखना, देख करके व झाड करके आसन बदलना, आलस्यरूप न रहना, दो घडीसे अधिक लगातार न सोना इन १३ प्रकार चारित्रको साधुगण भलेप्रकार पालते हैं।

श्लोक—चारित्रं चरणं शुद्धं, समय शुद्धं च उच्यते।
संपूर्ण ध्यान योगेन, साधओ साधु लोकयं ॥ ४४७ ॥

अन्वयार्थ—(साधु लोकयं) साधु महाराज (शुद्धं चारित्रं चरणं) शुद्ध निर्दोष व्यवहार व निश्चय चारित्रको पालते हैं (समय शुद्धं च उच्यते) निश्चय चारित्र शुद्ध आत्मा रूप कहा जाता है (संपूर्ण ध्यान योगेन साधओ) उसे पूर्णपने ध्यान समाधि द्वारा साधन करते हैं।

विशेषार्थ—निर्ग्रंथ साधुगण तेरह प्रकार चारित्रको निर्दोष पालते हुए मुख्य शुद्ध आत्माके अनुभव रूप स्वरूपाचरण या निश्चय चारित्रपर ध्यान रखते हैं। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यानके अभ्याससे नाना प्रकार कठिन स्थानोंमें तिष्ठकर परम वैराग्यके साथ निज आत्माका अनु-

भव करते हैं। उपसर्ग परीषहोंको शांत भावसे सहन करते हैं। ध्यानके द्वारा निश्चय चारित्रकी पूर्णता करते हैं ऐसा साधन करते हैं। धर्मध्यानको पूर्ण करके फिर श्रेणी चढनेकी योग्यता होनेपर उपशम या क्षपकश्रेणी पर चढके शुक्लध्यानका अभ्यास करते हैं। अरहंत पदपर जाकर सिद्ध होनेकी भावना साधुगण सदा रखते हैं।

श्लोक—सम्यग्दर्शनं ज्ञानं, चारित्रं शुद्ध संयमं।
जिनरूपं शुद्ध द्रव्यार्थं, साधओ साधु उच्यते ॥ ४४८ ॥

अन्वयार्थ—जो (सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्रको (शुद्ध संयमं) शुद्ध संयमको (जिनरूपं) जिनेन्द्रके स्वरूपको (शुद्ध द्रव्यार्थं) शुद्ध आत्म द्रव्यके भावको (साधओ) साधन करते हैं वे (साधु उच्यते) साधु कहलाते हैं।

विशेषार्थ—जो साधन करे वह साधु है। मोक्षकी सिद्धिके लिये जो मोक्षमार्ग साधे वह साधु है जिसके और कोई लौकिक किसी पदार्थकी सिद्धिकी भावना नहीं है। इन्द्र अहमिंद्र चक्रवर्ती आदि क्षणभंगुर पदोंसे जो उदास है। सिद्ध होनेके लिये वे साधु दृढतासे अपने श्रद्धानको शुद्ध दोष रहित रखते हैं वह सम्यग्दर्शनका साधन है। शास्त्रोंका रहस्य वह भावसे विचारते रहते हैं। ज्ञानकी उन्नति करते रहते हैं। वह सम्यग्ज्ञानका साधन है। तेरह प्रकार चारित्रको दोष रहित पालते हैं यह सम्यक्चारित्रका साधन है। पांच इंद्रिय व मनका दमनरूप इंद्रिय संयम तथा छः कायके जीवोंकी रक्षारूप प्राणि संयम इन दो प्रकार संयमको अथवा सामायिक, छेदोपस्थापना आदि संयमको शुद्धताके साथ साधन करते हैं। जिनेन्द्रका स्वरूप ध्यानमें लेकर उसी तरह आप वर्तन करते हुए अरहंत होनेकी भावना करते हैं तथा शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके आलम्बनसे शुद्ध आत्माका मनन करते करते शुद्धोपयोगमें जमनेका साधन करते हैं। जो इतनी क्रिया साधे वह साधु है।

श्लोक—ऊर्द्ध अधो मध्यं च, लोकालोक विलोकितं।
आत्मानं शुद्धात्मानं, महात्मा महाव्रतं ॥ ४४९ ॥

अन्वयार्थ—(ऊर्द्ध अधो मध्यं च) ऊपर नीचे व मध्यमें सब तीन लोकमें (लोकालोक विलोकितं) लोक

व अलोकको देखनेवाले (आत्मानं) आत्माको (शुद्धात्मानं) अर्थात् शुद्धात्माको जो ध्यावे वही (महात्मा महाव्रतं) महान आत्मा साधुका महाव्रत है।

विशेषार्थ—व्रत नाम प्रतिज्ञाका है। साधुओंके यही दृढ प्रतिज्ञा है कि वे शुद्धात्माको ध्यावे। जो सर्वज्ञ वीतराग प्रभु हैं, उस रूप अपने आत्माको द्रव्य दृष्टिसे जानकर निज आत्माको एकाग्र हो ध्यान करे। तीन लोकमें भरे हुए सर्व आत्माओंको शुद्ध नयके बलसे जो शुद्धात्मा देखें। सर्व जगतके जीवोंको एक आत्मामय देखें। परम समताभावमें लय होजावे यही परमसामायिक है व यही निश्चय महाव्रत है। यदि यह महाव्रत न हुआ और मात्र बाहरी पांच महाव्रत पाले गए तो मोक्षका साधन नहीं हुआ। वास्तवमें शुद्धात्माके अनुभवको ही मोक्षका साधन कहते हैं यही साधुका चारित्र है। इसको जो साधे वही साधु है।

श्लोक—धर्मध्यानं च संयुक्तं, प्रकाशनं धर्म शुद्धयं।
जिन उक्तं यस्य सर्वज्ञं, वचनं तस्य प्रकाशनं ॥ ४५० ॥

अन्वयार्थ—(धर्मध्यानं च संयुक्त) वे साधु धर्मध्यान सहित रहते हैं (शुद्धयं धर्म प्रकाशनं) शुद्ध दोष रहित धर्मका प्रकाश करते हैं। (सर्वज्ञ वचनं) सर्वज्ञ भगवानका कथन (यस्य जिन उक्तं) जिसको जितेन्द्रिय साधुओंने कहा हो, गणधरोंने बताया हो (तस्य प्रकाशनं) उसीका ही प्रकाश करते हैं।

विशेषार्थ—जैनके साधु बडे विनयवान हैं, वे जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार चलनेवाले होते हैं। आप स्वयं चार प्रकार धर्मध्यान ध्याते हैं।

१-आज्ञा विचय—जिनेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार छः द्रव्य पांच, अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थका विचय करना। २-अपाय विचय—अपने रागादि दोषोंका व जगतके प्राणियोंके मिथ्यात्वादि दोषोंका किस तरह नाश हो यह विचारना। ३-विपाक विचय—अपनेमें व दूसरोंमें साता व असाताकारी अवस्थाओंको देखकर कौनसे कर्मका विपाक है या फल है ऐसा विचारना। ४-संस्थान विचय—तीन लोकका स्वरूप, सिद्ध लोकका स्वरूप व अपने ही आत्माका ध्यान करना। पिंडस्थादि चार ध्यान इस संस्थानविचय धर्मध्यानमें गर्भित हैं। जैसे वे साधु स्वयं निर्दोष धर्मका साधन करते हैं वैसे ही वे जगतके प्राणियोंको प्रकाश करते हैं। जिन वचनोंपर उनका विश्वास है

कि यह श्री सर्वज्ञ वीतराग अर्हंत भगवानकी परम्परासे कहा हुआ यथार्थ है उसी हीका वे उपदेश देते हैं। परम साम्यभावसे व मायाचार न करके जो जिनेन्द्रकी आज्ञा है उसीके अनुसार कथन करते हैं वे ही जैनके साधु हैं।

श्लोक—मिथ्यात्वं त्रय शल्यं च, कुज्ञानं त्रिति उच्यते।
रागदोषादि येतानि, त्यक्तंते शुद्ध साधवः॥ ४५१॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्वं) मिथ्यादर्शनको (त्रय शल्यं च) तीन शल्य, माया मिथ्या निदानको (कुज्ञानं त्रिति उच्यते) तीन कुज्ञान कहे जाते हैं उनको (रागदोषादि) रागद्वेषादि विभावोंको (येतानि) इन सबको (शुद्ध साधवः) शुद्ध साधु महाराज (त्यक्तंते) छोड़ देते हैं।

विशेषार्थ—निर्दोष साधुका चारित्र पालनेवालेके भीतर न तो बहिरंग न अंतरंग मिथ्यात्व है न वहां कोई मायाचार व निदानका भाव होता है। वह कपट रहित व भोगोंकी इच्छा रहित होकर साधु धर्म पालता है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि तीन कुज्ञान नहीं होते हैं। सम्यक्तके प्रभावसे उसका सब ज्ञान सुज्ञान रूप होता है, रागद्वेषादि भावोंको जीतता हुआ साधु जिनधर्मको पालकर आत्माकी उन्नति करता है।

श्लोक—अप्पं च तारणं शुद्धं, भव्यलोकैकतारणं।
शुद्धं च लोक लोकांतं, ध्यानारूढं च साधवः॥ ४५२॥

अन्वयार्थ—(अप्पं च तारणं शुद्धं) अपने आपको शुद्धतासे जो तारनेवाले हैं (भव्यलोकैकतारणं) तथा भव्य जीवोंके भी वे तारनेवाले हैं (लोकांतं शुद्धं च लोकं) लोक पर्यंत शुद्ध द्रव्यको ही देखनेवाले हैं (ध्यानारूढं च साधवः) ऐसे साधु ध्यानमें आरूढ रहते हैं।

विशेषार्थ—निर्ग्रंथ साधु तारणतरण होते हैं। जैसे जहाज आप तैरता है व बैठनेवालेको तार लेजाता है वैसे ही साधु स्वयं अपने आत्माका साधन करते हैं और अपने उपदेश व शिक्षासे अनेक भव्योंको मार्गमें लगा देते हैं, जो परम समताभावके धारी हैं, सर्व ही लोकमें भरी आत्माओंको शुद्ध रूपसे एकाकार देखनेवाले हैं तथा जो ध्यानका अभ्यास उत्तम प्रकारसे करते रहते हैं।

श्लोक—मननं शुद्ध भावस्य, शुद्ध तत्वं च दिष्टते ।
सम्यग्दर्शनं शुद्धं, शुद्धं तिअर्थ संयुतं ॥ ४५३ ॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध भावस्य मननं) वे साधु शुद्ध आत्मीक भावका मनन करते हैं (शुद्ध तत्वं च दिष्टते) शुद्ध आत्म तत्वका अनुभव करते हैं (सम्यग्दर्शनं शुद्धं) जिनके निर्दोष वीतराग सम्यग्दर्शन होता है। (शुद्धं तिअर्थ संयुतं) वे तीनों रत्नत्रय सहित शुद्ध भावके धारी होते हैं ।

विशेषार्थ—निर्ग्रंथ साधुका मुख्य ध्यान आत्माकी तरफ रहता है, वे अध्यात्मीक ग्रन्थोंका विशेष मनन करते रहते हैं तथा शुद्धात्माके ध्यानको भलेप्रकार अनुभवमें लाते हैं। शुद्ध सम्यक्तको रखते हुए शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप आत्मीक भावको ध्याते हैं। जैनके साधु परम निस्पृही व परम वीतरागी होते हैं। शुद्धात्माकी चर्चा सिवाय और चर्चा जिनको नहीं सुहाती है। वे आत्मरसके रसीले होते हैं। वे भलेप्रकार मोक्षमार्गपर चलते हैं।

श्लोक—रत्नत्रय शुद्ध संपूर्ण, संपूर्ण ध्यानारूढयं ।
रिजु विपुलं उत्पादंते, मनःपर्ययज्ञानं ध्रुवं ॥ ४५४ ॥

अन्वयार्थ—(रत्नत्रय शुद्धं संपूर्ण) वे साधु शुद्धतासे रत्नत्रय धर्मकी पूर्ति करते हैं। (संपूर्ण ध्यानारूढयं) पूर्ण प्रकारसे ध्यानमें लगे रहते हैं। जिसके प्रतापसे (रिजुं मनःपर्यय ज्ञानं ध्रुवं विपुलं उत्पादंते) साधु रिजु मनःपर्यय ज्ञानको व निश्चल विपुल मति मनःपर्यय ज्ञानको पालेते हैं।

विशेषार्थ—आत्मध्यानके प्रतापसे साधुको बडी बडी ऋद्धियां सिद्ध होजाती हैं। शुद्ध ध्यान जहां होता है वहां किसी साधुको ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान पैदा होजाता है जिसके प्रतापसे साधु प्रत्यक्ष रूपसे दूसरोंके मनमें तिष्ठे हुए वर्तमानके सूक्ष्म विषयको जान लेता है। यह मनःपर्यय ज्ञान छूट भी सक्ता है। किसी साधुके ध्यानके बलसे विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान होजाता है यह छूटता नहीं है। केवलज्ञानको अवश्य उत्पन्न करता है। तद्भव मोक्षगामीके ही यह विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान होता है। यह दूसरेके मनमें तिष्ठे हुए वर्तमान कालके व भूत व भाविष्य कालके भी पदार्थोंको जान सक्ता है।

श्लोक—वैराग्यं त्रितयं शुद्धं, संसारं त्यक्तयं तृणं।
भूषण रत्नत्रयं शुद्धं, ध्यानारूढ स्वात्मदर्शनं ॥ ४५५ ॥

अन्वयार्थ—(वैराग्यं त्रितयं शुद्धं) जिन साधुओंके वैराग्य संसार शरीर भोगोंसे तीन तरहका निर्मल है (संसारं तृणं त्यक्तयं) संसारका मोह तृणके समान जानके जिन्होंने छोड़ दिया है (भूषण शुद्धं रत्नत्रयं) जिनका आभूषण निर्दोष रत्नत्रयका सेवन है (ध्यानारूढ स्वात्मदर्शनं) ऐसे साधु ध्यानमें आरूढ रहते हुए अपने आत्माका अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ—संसार असार है दुःखोंका घर है, जन्म जरा रोगसे पीड़ित है। शरीर अशुचि है। नाशवंत है, राग योग्य नहीं है, भोग रोगके समान आतापके बढ़ानेवाले हैं कभी तृप्ति देनेवाले नहीं हैं। ऐसा समझकर जिनके भावोंमें इन तीनोंसे पूर्ण वैराग्य है तथा जो संसारके पदार्थोंका सम्बन्ध तृणके समान तुच्छ समझते हैं, अकिंचित्कर जानते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रको जिन्होंने अपने आत्माका आभूषण बनाया है जो निरन्तर ध्यानमें आरूढ होकर आत्माका आनन्द लेते हैं वे ही सच्चे साधु हैं।

श्लोक—केवलं भावनं कृत्वा, पदवी अर्हंत सार्थयं।
चरणं शुद्ध समयं च, भावनानंत चतुष्टयं ॥ ४५६ ॥

अन्वयार्थ—(केवलं भावनं कृत्वा) साधु महाराज केवलज्ञानकी प्राप्तिकी भावना भाते हैं (भावनानन्त चतुष्टयं) तथा अनन्त चतुष्टयकी भावना करते हैं (पदवी अर्हंत सार्थयं) यथार्थ अर्हंतपदका उद्देश्य रखते हैं इसीलिये (शुद्ध समयं च चरणं) शुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ—साधुओंके मात्र यही भावना है कि हम अर्हंत परमात्माका पद प्राप्त करें। जिससे अनंत दर्शन, अनंतज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य इन चार अनंत चतुष्टयका प्रकाश होजावे। इसीलिये वे शुद्ध आत्माका निश्चय चारित्र पालते हैं। अर्थात् शुद्धोपयोगमें तल्लीन रहते हैं, धर्मध्यान करते हैं, फिर शुक्लध्यान ध्याते हैं जिससे चार घातीय कर्मोंका नाश कर सकें।

श्लोक—साधओ साधुलोकेन, तव व्रत क्रियासंजुतं।
साधओ शुद्ध ज्ञानस्य, साधओ मुक्तिगामिनो ॥ ४५७ ॥

अन्वयार्थ—(साधुलोकेन) साधु महाराज (क्रिया संजुतं तव व्रत साधओ) क्रिया सहित तप व व्रतको साधनेवाले हैं व (शुद्ध ज्ञानस्य साधओ) शुद्ध ज्ञानके साधनेवाले हैं। (साधओ मुक्तिगामिनो) ऐसे साधु मोक्षगामी हैं।

विशेषार्थ—निर्ग्रंथ साधु शास्त्रोक्त मार्गसे विधि सहित अनशनादि बारह व्रतोंका तथा पंच महाव्रतोंका साधन करते हैं। व्यवहार चारित्रके बलसे शुद्धात्माका ध्यान बढाते हैं। ध्यानके बलसे ज्ञानकी उन्नति करते चले जाते हैं। ऐसे ही साधु अवश्य मोक्षका लाभ करते हैं।

श्लोक—अर्हंतं अर्हं देवं, सर्वज्ञं केवलं ध्रुवं।
नंतानंत दिष्टं च, केवल दर्शन दर्शनं ॥ ४५८ ॥

अन्वयार्थ—(अर्हंतं अर्हं देवं) अरहंत भगवान ही पूजने योग्य देव हैं (सर्वज्ञं केवलं ध्रुवं) सर्वज्ञ हैं स्वाधीन हैं, निश्चल हैं (नन्तानन्त दिष्टं च) अनन्तानन्त लोकालोकके सर्व पदार्थोंको जाननेवाले हैं (केवल दर्शन दर्शनं) केवल दर्शन व सम्यक्तके धारी हैं।

विशेषार्थ—साधु महाराज जिस पदकी भावना भाते हैं वह शरीर सहित जीवन्मुक्त परमात्माका पद अर्हन्तपद है। जहां निर्मल ज्ञान स्वाधीन लोकालोक प्रकाशक व निर्मल दर्शन स्वाधीन लोकालोक दर्शक प्रगट होजाता है। सर्व ही गणधर देव, मुनिराज व चक्रवर्ती, महाराजा, राजा इन्द्र धरणेन्द्र उन ही की पूजा भक्ति करते हैं। उनके आत्मीक गुण अनंतकालके लिये प्रगट होगए हैं। उनपर पुनः आवरण नहीं आनेका है। आयुप्रमाण शरीरमें हैं फिर अवश्य सिद्ध होजावेंगे।

श्लोक—सिद्धं सिद्धि संयुक्तं, अष्ट गुणं च संयुतं।
अनाहतं त्यक्तरूपेण, सिद्धं शाश्वतं ध्रुवं ॥ ४५९ ॥

अन्वयार्थ—(सिद्धं) सिद्ध भगवान (सिद्ध संयुक्तं) आत्माकी सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं (अष्ट गुणं च संयुतं) आठ गुणों करके भूषित हैं (अनाहतं) अव्याबाध हैं (त्यक्तरूपेण सिद्धं) व्यक्त रूपसे प्रगटपने सिद्ध हैं (शाश्वतं) अविनाशी हैं (ध्रुवं) निश्चल हैं।

विशेषार्थ—अर्हन भगवानके चार अघातीय कर्म, नाम, गोत्र, वेदनी, आयु शेष रहते हैं वे इन कर्मोंको नाश करके सर्व देहादि रहित मात्र शुद्ध आत्मा रूप रह जाते हैं। उनके आठ प्रसिद्ध गुण प्रगट होजाते हैं। सम्यग्दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अव्याबाध पना, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु। इनके सिवाय वचनातीत अनन्तगुण धारी सिद्ध हैं। कोई प्रकारकी बाधा जिनको नहीं होसक्ती है। जिनकी आत्मा प्रकाशमान होगई है। फिर कभी उनकी आत्मापर परदा नहीं आएगा। वे सदा ही शुद्ध रहेंगे। व आवागमन रहित सिद्धालयमें लोकके अग्रभागमें विराजमान रहेंगे। साधु महाराज ही ध्यानके बलसे ऐसे सिद्ध पदको पासक्ते हैं।

श्लोक—परमेष्ठी शरणं कृत्वा, शुद्ध सम्यक्त धारिनः।
ते नरा कर्म क्षपयंति, मुक्तिगामी न संशयः ॥ ४६० ॥

अन्वयार्थ—(परमेष्ठी शरणं कृत्वा) जो पांच परमेष्ठीका शरण ग्रहण करके (शुद्ध सम्यक्त धारिनः) शुद्ध सम्यग्दर्शनके धारी हैं (ते नरा) वे मानव (कर्म क्षपयंति) कर्मोंका नाश करते हैं। (मुक्तिगामी न संशयः) व मोक्ष जानेवाले हैं इसमें संशय नहीं है।

विशेषार्थ—मोक्ष प्राप्तिका मुख्य मूल साधन यह है कि अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय तथा साधु इन पांच परमेष्ठीकी भक्ति पूजा वंदना स्तुति व उनके गुणोंका मनन भलेप्रकार किया जावे तथा शुद्धात्माका पक्का श्रद्धान करके शुद्ध सम्यक्त प्राप्त किया जावे। शुद्ध सम्यक्त ही आत्मध्यानको बढानेवाला है और शनैः शनैः गुणस्थानोंके क्रमसे शुद्ध करता हुआ सिद्ध परमात्मा बना देता है, यह निःसंदेह है।

श्लोक—त्रिविधि ग्रंथं च प्रोक्तं च, सार्थं ग्यानमयं ध्रुवं।
धर्मार्थं काम मोक्षं च, प्राप्तं परमेष्ठिनं नमः ॥ ४६१ ॥

अन्वयार्थ—(त्रिविधि ग्रंथं च प्रोक्तं च) तीन प्रकार ग्रंथ कहा गया है (सार्थं ग्यानमयं ध्रुवं) शब्द रूप अर्थ रूप व ज्ञानमय सो ध्रुव है (धर्मार्थं काम मोक्षं च) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका बतानेवाला है (प्राप्तं परमेष्ठिनं) व पांच परमेष्ठी पदको प्राप्त करानेवाला है (नमः) उसको नमस्कार हो।

विशेषार्थ—ग्रन्थकर्ता प्रवाहरूपसे अनादिसे चले आए हुए जिन आगमको नमस्कार करते हैं। जिन आगम तीन प्रकार है-शब्दागम, अर्थागम, ज्ञानागम। अक्षरोंका समूह जिनमें पदार्थोंका स्वरूप लिखा गया हो वह शब्दागम है। इनमें जो पदार्थ समूह वर्णित है वह अर्थागम है। उन पदार्थोंका जो ज्ञान है वह ज्ञानागम है। ऐसे जिन आगमके द्वारा धर्मका उपाय मालूम होता है जिस धर्मकी सहायतासे ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधुके पद भी इसी आगमके अनुसार चलनेसे प्राप्त होते हैं। यह जिनागम परम कल्याणकारी है। जिनको सुखकी इच्छा हो व मानव जन्मको सफल करना हो उनके लिये उचित है कि वे चित्त लगाकर जिनागमका भलेप्रकार अभ्यास करें।

श्लोक—परमानंद आनंदं, जिन उक्तं शाश्वतं पदं।
एकोदेश उपदेशं च, जिनतारण पंथं श्रुतं ॥ ४६२ ॥

अन्वयार्थ—(जिन उक्तं शाश्वतं पदं) जिनेन्द्र भगवान कथित अविनाशी सिद्ध पद (परमानंद आनंदं) परमानन्दसे भरपूर है (एकोदेश उपदेशं च) उसको एकदेश किंचित् उपदेश करनेवाला (जिनतारण पंथं श्रुतं) यह संसारसे तारनेवाला जिन मार्गरूपी शास्त्र है अथवा जिनभक्त तारणतरण रचित यह शास्त्र है।

विशेषार्थ—शास्त्रके कहनेका उद्देश्य यही है कि प्राणियोंको अविनाशी सिद्ध पदकी प्राप्ति हो, उसीका जिसमें उपदेश हो वही शास्त्र है। जिन तारणतरण स्वामी रचित यह शास्त्र है इसमें थोड़ासा उपदेश मोक्षप्राप्तिका कहा गया है। जो कोई भव्य जीव इस शास्त्रको पढ़ेंगे, मनन करेंगे उनको संसारसे उद्धारक मोक्षमार्गका ज्ञान होगा। इस ग्रंथमें मुख्यतासे श्रावकाचारका कथन है इसी कारण इसमें एकोदेश मार्गका या अणुव्रतोंका उपदेश है। मोक्षका पूर्ण साधक साधुधर्मका उपदेश है उसकी इसमें गौणता है।

इति श्रावकाचार ग्रंथकी जिन तारणतरण विरचित हिन्दी टीका पूर्ण की, मिती आश्विन सुदी १० रविवार वीर सं० २४५८ विक्रम सं० १९८८ ता० ९ अक्टूबर १९३१ सागर (सी० पी०)

ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

टीकाकारका परिचय।

अग्रवाल कुल वैश्यमें, गोयल गोत्र महान।
लक्ष्मणपुर अवधहिं वसे, नगर सुभूत धन वान ॥ १ ॥

लाला मक्खनलालजी, पुत्र तृतीय जिनदास।
विक्रम उन्निस पैनिसा, जन्म सुकार्तिक मास ॥ २ ॥

सीतल नाम धरै सुभग, करै सुविद्याभ्यास।
बत्तिस वय अनुमानमें, तज गृह हो वृषदास ॥ ३ ॥

भ्रमत धरत श्रावक सुव्रत, पालत चित उमगाय।
जैन शास्त्रको पढत नित, धर्म ध्यान उर ध्याय ॥ ४ ॥

विक्रम उन्निस शतक पर, नव्वासी शुभ जान।
वर्षाकाल विताइयो, सागर नगर महान ॥ ५ ॥

मध्य प्रान्त विच राज ही, गिरि मंडल दरम्यान।
सागर सम सर शोभता, ता तट पुर यह जान ॥ ६ ॥

जैनी जन बहु वसत हैं, कर वाणिज्य प्रधान।
जिन मंदिर शोभैं महा, शिषरबंद बहु जान ॥ ७ ॥

आठ बडे बाजारमें, कटरामें त्रय जान।
काका गंज शनीचरी, निली माहिं त्रय मान ॥ ८ ॥

तारणतरण समाज कृत, चैत्यालय सुखदाय।
धरत शास्त्र वेदीन पर, पूजत पढत स्वाध्याय ॥ ९ ॥

मोराजी पर राजती, संस्कृत शाला एक।
परदेशी बहु छात्र तहं, पंडित बनत अनेक ॥ १० ॥

वर्णी न्यायाचार्य हैं, नाम गणेशप्रसाद।
दयाचन्द पंडित प्रवर, देत ज्ञान अप्रमाद ॥ ११ ॥
गोलापूरव तीनसौ, परवारोंके साठ।
जाति समैया तीस घर, गोलालारे आठ ॥ १२ ॥
पन्द्रह विनैकवालके, जैन दिगम्बर धर्म।
सेवत शक्ति प्रमाण हैं, जानत धर्म अधर्म ॥ १३ ॥
सिंघई कुन्दनलालजी, रतनलाल सुवकील।
पण्डित मुन्नालालजी, हुकमचन्द धनवीर ॥ १४ ॥
धर्मचन्द मोदी लसैं, मुन्शी भइयालाल।
पूरणचन्द बजाज हैं, सिंघई मुन्नीलाल ॥ १५ ॥
नाथूलाल विशाखिया, मूलचन्द सुखवान।
नन्हेंलाल बजाज हैं, मोहनलाल सुजान ॥ १६ ॥
हुकमचन्द हैं जौंहरी, पण्डित हैं मूलचन्द।
डालचन्द सिंघई लसैं, शिक्षक हैं मूलचन्द ॥ १७ ॥
परोपकार व्रत धारते, हैं मथुरा परसाद।
बालचन्द कोछल लसैं, और गणेशप्रसाद ॥ १८ ॥
भजनानन्दी आत्म-प्रिय, नाथूराम गृहस्थ।
वृषधारीके संगमें, रहा सदा हो स्वस्थ ॥ १९ ॥
भविजिन तारणतरण कृत, श्रावकाचार महान।
ताकी भाषा वचानिका, लिखी धर्म रुचि आन ॥ २० ॥
पढो विचारो जैनगण, शुद्ध कथन सुखकार।
जैन दिगम्बर धर्मधर, मुनिवर वच अनुसार ॥ २१ ॥

अध्यातम रस पूर्ण है, है मिथ्यात्व कृपान।
जो बांचैं मन लायके, पावैं आतमध्यान ॥ २२ ॥

बुद्धि नहीं पर धर्म रुचि, तावश टीका कीन।
भूलचुक जो हो सुधी, करो शुद्ध रुष हीन ॥ २३ ॥

मंगल श्री अरहन्त हैं, मंगल सिद्ध महान।
मंगल श्री आचार्य हैं, मंगल हैं उवझान ॥ २४ ॥

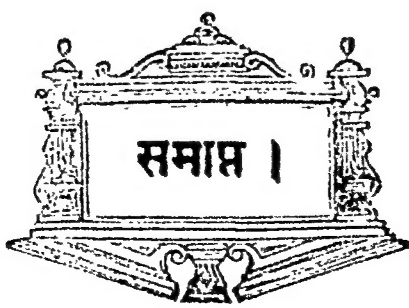
मंगल साधु महंत हैं, मंगल है जिनधर्म।
मन वच तन सेवा करत, भागत है सब भर्म ॥ २५ ॥

मङ्गल हो या नगरको, सुखी रहैं सब लोक।
आत्म ज्ञानको पायके, करैं स्वहित परलोक ॥ २६ ॥

सब साधर्मी जननमें, बाढै प्रेम अपार।
धर्म अहिंसा जगमगै, हो प्रभावना सार ॥ २७ ॥

विद्याका विस्तार हो, अर्थ काम वृष पाल।
"सुखसागर" में लीन हों, कटैं दुःख जंजाल ॥ २८ ॥

आश्विन सुद दशमी दिना, है रविवार महान।
ग्रन्थ पूर्ण तादिन कियो, श्री जिनवर कर ध्यान ॥ २९ ॥



इति-

श्री तारणतरण श्रावकाचार।